

श्रीविद्यानंदस्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

तत्त्वार्थचिंतामणिटीकासहितः

(द्वितीयखंडः)

अथ सम्यग्दर्शनविमतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाह—

अब इसके अनन्तर आदिके सूत्रमें कहे गये पहिले सम्यग्दर्शन गुणके लक्षणमें पडे हुए अनेक विवादोंकी निवृत्ति करनेके लिये सूत्रकार श्रीउमास्वामी महाराज दूसरा सूत्र कहते हैं—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

तत्त्वरूपसे निर्णीत किये गये वास्तविक अर्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

ननु सम्यग्दर्शनशब्दनिर्वचनसामर्थ्यादेव सम्यग्दर्शनस्वरूपनिर्णयादशेषतद्विप्रतिपत्तिनिवृत्तेः सिद्धत्वात्तदर्थं तल्लक्षणवचनं न युक्तिमदेवेति कस्यचिदारेका, तामपाकरोति—

यहां शंका है कि सम्यक् और दर्शन शब्दोंकी निरुक्तिकी सामर्थ्यसे ही सम्यग्दर्शन गुणके स्वरूपका निर्णय करना हो जावेगा और उसमें नाना प्रतिवादियोंके पडे हुए विवादोंका भी उसी निरुक्तिसे निवारण हो जाना सिद्ध है, फिर उसके लिए उमास्वामी महाराजका सम्यग्दर्शनके लक्षणको कहनेवाला सूत्र बोलना युक्त नहीं है। ज्ञान और चारित्रका लक्षण भी लक्षणसूत्रोंके बनाये विना ही केवल निरुक्तिसे ही आप जैन इष्ट कर लेते हैं, फिर सम्यग्दर्शनमें ही ऐसी कौनसी विशेषता है कि जिसके लिए एक स्वतंत्र सूत्र बनाया जा रहा है ? अत्यंत आवश्यकता पडनेपर अधिक उदात्त अर्थको थोडे शब्दोंमें कहनेवाला नवीन सूत्र रचा जाता है। वैयाकरण तो आधी मात्राके ही लाघव हो जानेसे पुत्रजन्मके समान उत्सव मानते हैं। इस प्रकार किसीका अनुनयसहित आक्षेप है। उसका पूज्यचरण श्रीविद्यानंदस्वामी निराकरण करते हैं।

सम्यक्शब्दे प्रशंसार्थे दृशावालोचनस्थितौ ।
न सम्यग्दर्शनं लभ्यमिष्टमित्याह लक्षणम् ॥ १ ॥

सूत्रकारोऽत्र तत्त्वार्थश्रद्धानमिति दर्शनम् ।
धात्वनेकार्थवृत्तित्वाद् दृशेः श्रद्धार्थतागतेः ॥ २ ॥

सम् उपसर्ग पूर्वक अञ्चु धातुसे क्विप् प्रत्यय करनेपर सम्को समि आदेश करके सम्यक्शब्द व्युत्पादित होता है। उसका अर्थ प्रशंसा है और दृशिर्प्रेक्षणे धातुसे ल्युट् प्रत्यय करनेपर दर्शन शब्द निष्पन्न होता है, इसका अर्थ आलोचन (सामान्य देखना) है। ऐसा स्थित होनेपर हमारा अभीष्ट पारिभाषिक सम्यग्दर्शनका अर्थ लब्ध नहीं हो पाता है। निरुक्तिसे तो अच्छा देखना रूप दर्शनोपयोग अर्थ निकलता है, जो कि एकेन्द्रिय अभव्य जीवोंके भी ज्ञानके पहिले नियमसे होता है। या निरुक्तिसे चाक्षुषप्रत्यक्ष अर्थ किया जा सकता है। इस कारण उस अनादि पारिभाषिक अर्थका निर्णय करनेके लिए सूत्र बनानेवाले श्रीउमास्वामी महाराजने इस प्रकार सम्यग्दर्शनका लक्षण सूत्र यहां कहा है कि तत्त्व करके निर्णीत माने गये अर्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। धातुओंकी अनेक अर्थोंमें वृत्ति है, इस कारण दृशि धातुका अर्थ श्रद्धान करना जान लिया जाता है। धातुओंसे तिप्, तस्, झि और ल्युट्, अच् आदि प्रत्यय आते हैं, किंतु अनुकरण कर कर्त्ता, कर्म आदिकी विवक्षा होनेपर सु आदि प्रत्यय भी उतरते हैं। सु, औ, जस् आदि विभक्तियोंके लानेके पहिले इक् और श्तिप् निर्देश कर लिए जाते हैं। यहां दृश् धातुसे इक् निर्देश करके दृशि नाम बना लिया गया है। उसका षष्ठीके एक वचनमें दृशेः बन जाता है।

सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः क्व्यन्तो वेति वचनात् प्रशंसार्थोऽयं सम्यक् शब्दः सिद्धः, प्रशस्तनिःश्रेयसाभ्युदयहेतुत्वाद्दर्शनस्य प्रशस्तत्वोपपत्तेर्ज्ञानचारित्रवत् ।

सम्यक् इस प्रकारका अनादिकालसे लक्षणसूत्रोंके विना ही बनाया निपात शब्द है, जिसका कि अर्थ प्रशंसा होता है। अथवा सम् पूर्वक अञ्चु धातुसे अन्तमें " क्वि " प्रत्यय करके व्युत्पत्तिके द्वारा व्याकरणके लक्षणसूत्रोंसे व्युत्पादित कराया गया सम्यक् कृदन्त शब्द है। इसका अर्थ भी प्रशंसा है। अव्युत्पन्न पक्षमें शब्दोंको अनादिसे वैसा ही सिद्ध हो रहा मानकर अपरिमित अर्थ उनपर लदा हुआ कहना यही मुख्य सिद्धान्त अच्छा है, तभी तो मंत्रके शब्दोंमें और बीजाक्षरोंमें अनन्तशक्ति है। किन्तु प्रकृति प्रत्यय लाकर शब्दोंका पेट चीरकर खण्ड करनेसे परिमित अर्थ निकालना, गौण व्युत्पन्न पक्ष है। खनिको एक बार ही तोड मरोड डालनेसे उतना धन नहीं मिलता है, जितना कि उसे वैसा ही अक्षुण्ण रहने देनेसे अमित अर्थ प्राप्त होता रहता है। छेदको नहीं प्राप्त कराई गई मुर्गी अनेक अंडोंकी जननी है। इस प्रकार प्राचीन ऋषियोंकी आम्नायके वचनसे यह सम्यक् शब्द प्रशंसा अर्थको कहता हुआ सिद्ध हो रहा है। प्रशंसनीय हो रहे मोक्ष और स्वर्गका हेतु हो जानेके कारण दर्शनको प्रशंसनीयपना युक्तियोंसे सिद्ध है, जैसे कि सामान्य ज्ञान और सामान्य चारित्र तो मोक्ष तथा विशेष स्वर्ग अनुदिश आदिके कारण नहीं हैं, किंतु जो ज्ञान, चारित्र प्रशंसनीय होकर सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्र हो गये हैं, वे अवश्य मोक्ष और विशिष्ट स्वर्ग, विजय आदि विमानके कारण बन जाते हैं।

दृशेश्चालोचने स्थितिः प्रसिद्धा, दृशिर् प्रेक्षणे इति वचनात्। तत्र समन्तात् पश्यत्यनेनेत्यादिकरणसाधनत्वादिव्यवस्थायां दर्शनशब्दनिरुक्तेरिष्टलक्षणं सम्यग्दर्शनं न लभ्यत एव ततः प्रशस्तालोचनमात्रस्य लब्धेः। न च तदेवेष्टमतिव्यापित्वादभव्यस्य मिथ्यादृष्टेः प्रशस्तालोचनस्य सम्यग्दर्शनप्रसङ्गात्। ततः सूत्रकारोऽत्र "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इति तल्लक्षणं ब्रवीति, तद्वचनमन्तरेणातिव्याप्तेः परिहर्तुमशक्तेः।

दृश् धातुकी सामान्यसे देखना रूप आलोचन अर्थमें स्थिति होना बाल गोपालोंतकमें प्रसिद्ध है। व्याकरणशास्त्रमें भी इसी प्रकार दृशिर् धातु देखने अर्थमें कही गयी है। वहां सम्यग्दर्शन शब्दकी करणमें ल्युट् प्रत्यय करके सिद्ध करनेकी व्यवस्था होनेपर "समीचीन देखता है जिस करके" ऐसा निर्वचन करनेपर स्याद्वादसिद्धान्तके अनुसार सम्यग्दर्शनका अभीष्ट लक्षण प्राप्त नहीं होपाता है। और भले प्रकार जो देखता है या भले प्रकार जो देखा जाता है, अथवा भले प्रकार देखना, ऐसी कर्ता, कर्म और भाव आदि अर्थोंको साधनेवाली निरुक्तियोंसे भी व्यवस्थिति करनेपर शब्दकी सामर्थ्य करके सांकेतिक अर्थ कैसे भी नहीं निकलता है। उस ल्युट् प्रत्ययान्त शब्दसे तो केवल प्रशंसनीय देखना ही अर्थ लब्ध होता है। यदि कोई यों कहे कि शब्दकी निरुक्तिसे जो अर्थ निकलता है, उसको ही आप स्याद्वादी लोग इष्ट कर लेवें, ऐसा करनेपर लक्षण सूत्र न बनाना पडनेसे लाघव भी हो जावेगा। और प्रसिद्ध अर्थकी रक्षा भी हो जावेगी। इस पर आचार्य कहते हैं कि सो ऐसा हम इष्ट नहीं कर सकते हैं। क्यों कि इसमें अतिव्याप्ति दोष होगा। मिथ्यादृष्टि अभव्यके प्रशस्त देखना होनेके कारण सम्यग्दर्शन होजानेका प्रसंग हो जावेगा अर्थात् सर्व ही दार्शनिकोंने अनेक शब्द पारिभाषिक माने हैं। ऐसा माने विना किसी भी विचारशील पुरुषका कार्य नहीं चल सकता है। व्याघ्र शब्दका निरुक्तिसे अर्थ विशेषरूप करके चारों ओरसे सूंघनेवाला है। वि-विशेषेण आसमन्तात् जिघ्रतीति व्याघ्रः। गौ शब्दका अर्थ गमन करनेवाला है, गच्छति इति गौः। इन अर्थोंसे धोखा खाकर कतिपय हृदयशून्य वैयाकरण अनेक क्लेशोंको पा चुके हैं। कुशल शब्दका अर्थ घास काटनेवाला है। किंतु ऐसे अर्थ करनेसे पंडिताईको भारी धक्का पहुंचता है। दूसरी बात यह है कि जब प्रयोजन ही नहीं बना तो ऐसी दशामें लाघव करना केवल तुच्छता है। सेर भर अन्न खानेवाले पुरुषको एक ग्रास (कौर) खानेसे लाघव तो हो जाता है किंतु हृदयको तृप्ति नहीं होती है। इस कारण इस ग्रंथमें सूत्र बनानेवाले श्रीउमास्वामी महाराज तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, इस प्रकार उसके लक्षण सूत्रको कह रहे हैं। उस सूत्रके कहे विना कोरी निरुक्तिसे होनेवाले अतिव्याप्ति दोषका परिहार करना अशक्य है, न्यायवेत्ता विद्वानोंका लक्ष्य अर्थकी ओर रहता है। कोरे शब्द आडम्बरपर नहीं। तभी तो संख्यात शब्दोंसे अनंत अर्थ निकल पडता है।

शब्दार्थातिक्रमः श्रद्धानार्थत्वाभावाद् दृशेरिति चेत्, अनेकार्थत्वाद्धातूनां दृशेः श्रद्धानार्थत्वगतेः। कथमनेकस्मिन्नर्थे सम्भवत्यपि श्रद्धानार्थस्यैव गति रितिचेत्, प्रकरणविशेषात्। मोक्षकारणत्वं हि प्रकृतं तत्त्वार्थश्रद्धानस्य युज्यते नालोचनादेरर्थान्तरस्य।

यहां कोई कहता है कि दृशि धातुका श्रद्धानरूपी अर्थ कैसे भी नहीं होता है। फिर आप श्रद्धान अर्थ कर रहे हैं, यह आपका स्वाभाविक शद्बशक्तिसे प्राप्त अर्थका उल्लंघन करना है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। क्योंकि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं। सम्यक् शब्दके उपपद लग जानेसे दृशि धातुका श्रद्धान करना अर्थ जाना जाता है। भावार्थ—जैसे कि "हृञ्हरणे" धातुसे घञ् प्रत्यय करनेपर हार शब्द बनता है। किन्तु वि, आङ्, सम्, प्र, परि, उत् और अप् उपसर्गोंके लग जानेपर भिन्न भिन्न विहार, आहार, संहार, प्रहार, परिहार, उद्धार और अपहार अर्थ हो जाते हैं। श्रत् उपपदके पहिले होनेपर धारण, पोषण अर्थवाले "धा" धातुसे युट् करनेपर श्रद्धान शद्बका विश्वास करना अर्थ होजाता है। मा[illegible] [illegible]को कहते हैं। घोष शद्बके साथमें रहनेवाले गंगा शद्बका लक्षणावृत्तिसे गंगाका किनारा अर्थ हो जाता है।

दृश् धातुके अनेक अर्थोंके सम्भव होनेपर भी श्रद्धानरूप अर्थकी ही ज्ञप्ति क्यों होती है? अन्य अर्थकी क्यों नहीं, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि विशेष प्रकरण होनेसे श्रद्धान अर्थ ही लिया गया है। जैसे ककडी खाते समय सैन्धवका अर्थ लवण किया जाता है, घोडा नहीं। चूंकि मोक्षका कारणपना प्रकरणमें पडा हुआ है। अतः तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना अर्थ ही युक्त होगा। दृश् धातुके दूसरे आलोचन, दर्शन, आदि अर्थ करना युक्त नहीं है। केवल दो हजार धातुओंसे अरबों, खरबों, संखों, शब्द बन गये हैं। उन संख्यात शद्बोंसे ही असंख्यात प्रमेय वाच्य होजाता है और परम्परासे असंख्यातका अविनाभावी अनंत अर्थ भी जानलिया जाता है। आसत्ति, योग्यता, प्रकरण, यौगिक, रूढि, अभिधा, लक्षणा, संकेतग्रहण आदिकी प्रक्रियासे एक शद्ब अनेक अर्थोंको कह देता है।

भगवदर्हदाद्यालोचनस्य मोक्षकारणत्वोपपत्तेस्तत्प्रकरणादपि न तन्निवृत्तिरिति चेत्, तत्त्वार्थश्रद्धानेन रहितस्य मोक्षकारणत्वेऽतिप्रसंगात्। तेन सहितस्य तु तत्कारणत्वे तदेव मोक्षस्य कारणं तदालोचनाभावेऽपि श्रद्धानस्य सद्भावाविरोधात्।

यहां कोई यों कहे कि भगवान् अर्हंत परमेष्ठी, साधु, तीर्थ, आदिका चक्षुःके द्वारा दर्शन करनेको भी मोक्षकारणपना सिद्ध है। अतः उस मोक्षमार्गके प्रकरणसे भी देखना रूपी अर्थ युक्त हो जाता है। फिर उस प्रसिद्ध अर्थ कहे गये देखनेकी निवृत्ति क्यों करते हो? प्रतिमाजीके दर्शनसे भी मोक्षमार्गकी पुष्टि होती है। अतः आलोचन अर्थ भी सुरक्षित रहने दो। अब ग्रंथकार समझा रहे हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम स्याद्वादी पूंछते हैं कि तत्त्वार्थोंके श्रद्धानसे रहित होरहे अर्हंतदर्शनको

मोक्षका कारण मानोगे ? या तत्त्वार्थश्रद्धानसे सहित होते हुए अर्हत, साधु, तीर्थ, आदिके भक्तिसहित देखनेको मोक्षका कारण मानते हो ? बताओ। यदि तत्त्वार्थश्रद्धानसे रहित कोरे देखनेको मोक्षमार्ग कहोगे तब तो अतिप्रसंग हो जावेगा अर्थात् अभव्योंके भी मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो जावेगी। वे भी प्रतिमाजी, तीर्थ, आचार्य, मुनि आदिका दर्शन करते हैं। कतिपय स्तोत्रोंमें जिनेंद्रदेवके दर्शनका अनेक वार होना बतलाया है। " आकर्णितोपि महितोपि निरीक्षितोपि " इत्यादि। किंतु भावशून्य होनेके कारण सम्यग्दर्शनका बीज नहीं हो सका है। द्रव्यलिङ्गी, अभव्य समवसरणके श्रीमण्डपमें साक्षात् अर्हत देवका दर्शन नहीं कर पाते हैं। किंतु अन्य स्थलोंपर प्रतिमाजी, मुनि, तीर्थ आदिका दर्शन करते हैं। यदि दूसरे पक्षके अनुसार उस तत्त्वार्थश्रद्धानसे सहित होरहे चाक्षुष प्रत्यक्षको उस मोक्षका कारण मानोगे तो वह तत्त्वार्थ–श्रद्धान ही मोक्षका कारण सिद्ध हुआ। उस तीर्थ आदिके दर्शन विना भी यदि तत्त्वार्थश्रद्धान विद्यमान है तो उसे मोक्षमार्गपना होनेमें कोई विरोध नहीं है। तत्त्वार्थ–श्रद्धान रूप कारणके साथ मोक्षरूप कार्यका अन्वय व्यतिरेकसे कार्यकारणभाव है और चाक्षुषप्रत्यक्षके साथ मोक्षमार्गपनेका कार्यकारणभाव करनेमें अन्वयव्यभिचार, व्यतिरेकव्यभिचार दोनों दोष आते हैं। भले ही पूज्य पंचपरमेष्ठीका ही नेत्रोंसे दर्शन क्यों न हो।

अर्थग्रहणतोऽनर्थश्रद्धानं विनिवारितम्।
कल्पितार्थव्यवच्छेदोऽर्थस्य तत्त्वविशेषणात् ॥ ३ ॥
लक्षणस्य ततो नातिव्याप्तिर्दृग्मोहवर्जितम् ॥
पुंरूपं तदिति ध्वस्ता तस्याव्याप्तिरपि स्फुटम् ॥ ४ ॥

सम्यग्दर्शनके लक्षण सूत्रमें अर्थपदका ग्रहण करनेसे अवस्तुभूत अनर्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बननेका विशेषरूप करके निवारण कर दिया गया है। और अर्थका विशेषण तत्त्व लगा देनेसे कल्पित अर्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन हो जानेकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। यद्यपि काव्यों या प्रशंसावाक्योंमें स्वरूप कथन करनेवाले भी विशेषण देदिये जाते हैं। जैसे कि वह राजा दानी है, कुलीन है, विद्वान है। इन पदोंसे भले ही कुछ साधारण पुरुषोंसे राजाकी व्यावृत्ति हो जावें। किन्तु वे अमुक राजाके असाधारण धर्म नहीं है। अन्य राजाओं और सेठोंमें भी पाये जाते हैं। किन्तु लक्षणको कहनेवाले वाक्यमें जो विशेषण दिये जाते हैं वे व्यर्थ नहीं होते हैं। अलक्ष्योंसे लक्ष्यकी व्यावृत्ति करदेना उन विशेषणोंके देनेका फल है। तिस कारण सम्यग्दर्शनके लक्षणको अतिव्याप्ति दोष नहीं लगा। वह सम्यग्दर्शन गुण तो दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे रहित हुए आत्माका स्वाभाविक स्वरूप है। इस कारण तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें लक्षणके चले जानेसे उस लक्षणका अव्याप्ति दोष भी स्पष्टरूपसे नष्ट हो जाता है।

श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युच्यमानेऽनर्थश्रद्धानमपि तत्स्यादित्यतिव्याप्तिर्लक्षणस्य माभूत् अर्थग्रहणात् । न चार्थानर्थविभागो दुर्घटः । प्रमाणोपदर्शितस्यार्थत्वसिद्धेरितरस्यानर्थत्वव्यवस्थानात् ।

श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है यदि इस प्रकार ही लक्षण कहा जावेगा तो मिथ्याज्ञानोंसे ग्रहण किये गये अनर्थोंका श्रद्धान करना भी वह सम्यग्दर्शन बन बैठेगा, इसलिये लक्षणकी अतिव्याप्ति न होवे, अतः अर्थग्रहण किया है, अर्थात् अर्थके ग्रहण करनेसे उस अतिव्याप्तिका वारण हो जाता है । यदि यहां कोई यों कहे कि संसारमें कौन अर्थ है, और कौनसा अनर्थ है ? ऐसा विभाग करना ही अत्यन्त दुस्साध्य कार्य है । एकके लिए जो अर्थ है, वही दूसरेके लिए अनर्थ हो जाता । ऊंटको नीमके पत्ते अच्छे लगते हैं । आम्रवृक्षके नहीं । पित्तप्रकृतिवाले मनुष्यको दही अच्छा लगता है, वातप्रकृतिवालेको नहीं । लालचीको धन अच्छा लगता है, साधुको नहीं । अतः अर्थ और अनर्थ का विभाग करना घटित नहीं हो पाता है । आचार्य कहते हैं कि सो नहीं समझना । क्यों कि प्रमाण के द्वारा निर्णीत किये गये पदार्थको अर्थपना प्रसिद्ध है । और शेष अन्य पदार्थोंको अनर्थपना व्यवस्थित हो रहा है । जो कि प्रमाणोंद्वारा नहीं प्रदर्शित किये गये हैं ।

सर्वो वाग्विकल्पगोचरोऽर्थ एव प्रमाणोपदर्शितत्वादन्यथा तदनुपपत्तेः, प्रमाणोपदर्शितत्वं तु सर्वस्य विकल्पवाग्गोचरत्वान्यथानुपपत्तेः ततो नानर्थः कश्चिदित्यन्ये ।

यहां कोई दूसरे कहरहे हैं कि शद्बके द्वारा कहेजाने योग्य और विकल्पज्ञानोंके द्वारा जाने गये विषय, ये सभी अर्थ ही हैं । क्योंकि प्रमाणोंके द्वारा दिखलाये गये हैं । अन्यथा अर्थात् शद्ब और ज्ञानके विषय न होते तो वे प्रमाणोंके द्वारा दिखलाये गये नहीं बन सकते थे । सभी पदार्थोंको प्रमाणोंसे जाना गयापन तो यों सिद्ध हो जाता है कि वे विकल्पज्ञानके ज्ञेय और शद्बके वाच्य हो रहे हैं । यदि वे प्रमाणोंके द्वारा निर्णीत किये हुए नहीं होते तो ज्ञान और शब्दके विषय नहीं हो सकते थे । तिस कारण संसारमें कोई भी पदार्थ अनर्थ कहलाने योग्य ही नहीं है और हम किसी पदार्थको अनर्थरूपसे जान भी नहीं सकते हैं । जो जाना और कहा जावेगा, वह अर्थ अवश्य हो जायगा । जो अर्थ नहीं, वह कहा और जाना नहीं जावेगा । प्रमाणोपदर्शितत्व और वाग्विकल्पगोचरत्व इन हेतु और साध्यमें समव्याप्ति है । जिसको एकका ज्ञान है, वही अज्ञात होरहे दूसरेका अनुमान करलेता है । जिसको दोनोंका ज्ञान नहीं है, उसको तीसरे उपायसे अर्थपनेका निर्णय करा दिया जावेगा । सरल उपाय यह है कि विकल्पवाग्गोचरपनेसे प्रमाणोपदर्शितको जानलो और प्रमाणोपदर्शितपनेसे अर्थपनेका ज्ञान कर लो । यहांतक अन्योंका कहना है । अब आचार्य समझाते हैं कि—

तेऽप्येवं प्रष्टव्याः । सर्वोऽनर्थ एवेति पक्षोऽर्थः स्याद्वा न वा ? स्याच्चेत्सर्वस्यार्थत्वव्याघातो दुर्निवारः, न स्याच्चेतेन व्यभिचारी हेतुर्वाग्विकल्पगोचरत्वेन प्रमाणोपदर्शितत्वस्या-

र्थत्वमन्तरेणापि भावात्। यदि पुनः प्रमाणोपदर्शित एव न भवति तदा विकल्पवाग्गोचरत्वं तेनानैकान्तिकं साध्याभावेऽपि भावात्। यदि पुनः सर्वोनर्थ एवेति पक्षो विकल्पवाग्गोचरो न भवतीति ब्रुवते तदा स्ववचनविरोधः।

अनर्थोंको नहीं माननेवाले उन प्रतिवादियोंसे भी हमको इस प्रकार पूंछना है कि किसीने एक प्रतिज्ञावाक्य यह बोला या ज्ञान उत्पन्न किया कि " सर्व अनर्थ ही हैं " इस प्रकारका पक्ष ग्रहण करना वास्तविक वाच्य अर्थके होनेपर होगा ? अथवा न होनेपर भी हो सकेगा ? बताओ। यदि अर्थके होनेपर मानोगे तब तो सबको अर्थपना माननेका व्याघात हुआ अर्थात् सब अनर्थ ही हैं इसका वाच्यार्थ सबको अनर्थपना सिद्ध करना है और आपने पहिलेसे ही सबको अर्थपनेका एकांत पकड रखा है। अतः पूर्वापर विरुद्ध हो जानेके कारण इस व्याघातदोषका वारण करना आपको अतीव कष्टसाध्य हुआ। यदि द्वितीय पक्षके अनुसार आप यों मानेंगे कि " सब अनर्थ ही हैं, " ऐसा कहना और जानना कुछ भी अर्थको नहीं रखता है, तब तो आपका शद्ब और विकल्प ज्ञानका विषयपना हेतु तिस करके व्यभिचारी हुआ अर्थात् सब अनर्थ ही हैं, इस पक्षमें शद्ब, विकल्पके विषयपने करके प्रमाणसे जाना गयापन रूप हेतु अर्थपने साध्यके विना भी विद्यमान रहता है, साध्यके न रहनेपर हेतुका रहना ही व्यभिचार दोष है। यदि फिर आप यों कहोगे कि " सब अनर्थ ही हैं " यह पक्ष तो प्रमाणोंसे जाना गया ही नहीं है। तब तो आपका प्रमाणसे जाने गयेपन रूप साध्यके लिए दिया विकल्पज्ञान और शद्बका विषयपना हेतु उसी पक्ष करके व्यभिचारी हुआ। क्योंकि साध्यके विना भी वहां रह जाता है। आपने विकल्पवाग्गोचरत्व हेतुसे प्रमाणोपदर्शितपनेकी सिद्धी की थी और प्रमाणोपदर्शितपनेसे सबको अर्थपनेकी सिद्धी की थी। यदि फिर आप यों कहें कि सब अनर्थ ही हैं, इस प्रकारका पक्ष लेना विकल्पज्ञान और वाणीका विषय ही नहीं होता है। तब दोनों व्यभिचारोंका वारण तो अवश्य हो जावेगा। क्योंकि अर्थपनेका व्याप्य प्रमाणोपदर्शितपना है और प्रमाणोपदर्शितपनेका व्याप्य विकल्प, शद्ब, गोचरपना है। जहां जिसके व्याप्यका व्याप्य ही नहीं है, वहां वह अर्थपना भला कैसे रह सकता है ? यानी नहीं। यों ठीक है, किंतु आपको अपने वचनोंसे ही विरोध होना यह बडा भारी दोष हुआ। जब कि सब अनर्थ हैं, यह शद्ब भी बोला जा रहा है। और विकल्पज्ञान भी किया जा रहा है। फिर यह कहना कि वह विकल्प और शद्बका विषय नहीं है ऐसा स्ववचनबाधित कहना कैसे भी युक्त नहीं है।

कुतश्चिदविद्याविशेषात् सर्वोनर्थ इति व्यवहारो न तात्त्विक इति चेत्, स तर्ह्यविद्याविशेषोऽर्थोऽनर्थो वा ? यद्यर्थस्तदा कथमेतन्निबन्धनो व्यवहारोऽतात्त्विकः स्यात्सर्वोर्थ एवेति व्यवहारवत्। सोऽनर्थश्चेत्, कथं सर्वोर्थ एवेत्येकान्तः सिध्येत् ?

वे ही पुनः कहरहे हैं कि " सब अनर्थ हैं " इस प्रकारका व्यवहार किसी विशिष्ट अविद्यासे हो रहा है, किन्तु वह वास्तविक नहीं है। ऐसा कहोगे, तब तो हम जैन पूंछते हैं कि वह विशिष्ट

अविद्या क्या वस्तुभूत अर्थ है ? अथवा क्या अवस्तुरूप अनर्थ है ? बतलाइये । यदि अविद्याको वास्तविक अर्थ मानोगे, तब इस अविद्याको कारण मानकर होनेवाला व्यवहार भला अवास्तविक कैसे हो जावेगा ? जैसे कि " सब अर्थरूप ही हैं ", इस प्रकार आपके एकान्तका व्यवहार वस्तुस्पर्शी है, वैसे ही वस्तुभूत अविद्यासे उत्पन्न हुआ सब अनर्थ ही हैं, यह व्यवहार भी परमार्थभूत होगा ! यदि आप दूसरे पक्षअनुसार उस अविद्याविशेषको अनर्थरूप मानोगे तो सब अर्थ ही हैं, इस प्रकारका एकान्त कैसे सिद्ध होगा ? कहिये, क्योंकि इसी समय आप अविद्याको अनर्थरूप कह चुके हैं । इस प्रकार बडी दक्षताके साथ आचार्य महाराजने अनर्थको न मानकर सबको अर्थ माननेवाले एकांतवादीका मंतव्य खण्डन कर दिया है ।

सर्वोनर्थ एवेत्येकांतोपि न साधीयान्, तद्व्यवस्थापकस्यानर्थत्वे ततस्तत्सिध्द्ययोगादर्थत्वे सर्वानर्थैकांतहानेः ।

उक्त एकान्तसे सर्वथा विपरीत किसीका यह एकान्त है कि सर्व ही पदार्थ संसारमें अनर्थरूप हैं। किसीसे भी किसीका स्वार्थ नहीं सधता है। विचार करनेपर अन्तमें सब झूंटे पडते हैं। फिर किस का श्रध्दान करोगे ? आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकारका एकान्त भी अच्छा नहीं है । क्योंकि सब अनर्थ ही हैं। इसकी व्यवस्था करनेवाले उस प्रमाणको या वाक्यको भी अनर्थरूप मानोगे तो निरर्थक उस प्रमाण या वाक्यसे उस अनर्थपनेके एकांतकी सिध्दि न हो सकेगी । और यदि उस अनर्थपनेकी व्यवस्था करनेवाले प्रमाणको परमार्थस्वरूप मानोगे तब तो सबको अनर्थपना माननेके एकांतकी हानि होती है। क्योंकि अभी आपने उसके व्यवस्थापकको अर्थ मान लिया है । " इतो व्याघ्र इतस्तटी " एक ओरसे व्याघ्र आ रहा है और दूसरी ओर गहरी नदी है, इस नीतिके अनुसार आपका स्वपक्षमें स्थिर रहना असम्भव है ।

संविन्मात्रमर्थानर्थविभागरहितमित्यपि न श्रेयः, संविन्मात्रस्यैवार्थत्वात्ततोन्यस्यानर्थत्वसिद्धेः । सर्वस्याप्यर्थानर्थविभागसिद्धेरवश्यंभावाद्युक्तमर्थग्रहणमनर्थश्रद्धाननिवृत्त्यर्थम् ।

शुध्दज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि संसारमें न कोई अर्थ है और न कोई अनर्थ है। केवल शुध्द संवेदन (विज्ञान) ही है। वह अर्थ और अनर्थके विभागसे रहित है अर्थात् उसको अर्थरूप या अनर्थरूप कुछ भी नहीं कह सकते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार कहना भी कल्याणकारी नहीं है। क्योंकि यों तो आपका माना हुआ केवल संवेदन ही अर्थ हो जाता है और उससे अन्य घट, पट आदि द्वैतोंको अनर्थपना सिध्द हो जावेगा । इस कारण सभी पदार्थोंको विवक्षासे अर्थपने और अनर्थपनेका विभाग करना अवश्य ही सिध्द हो जाता है, अथवा सर्व ही वादियों करके अभीष्ट पदार्थको अर्थपनेकी और अनिष्ट पदार्थोंके अनर्थपनेकी व्यवस्था मानी जाती है । अतः मूलसूत्रकारने मिथ्याज्ञानोंसे जाने गये अनर्थोंके श्रध्दानकी निवृत्तिके लिये सम्यग्दर्शनके निर्दोष लक्षणमें अर्थका

ग्रहण किया है यह युक्तिपूर्ण है। भावार्थ—प्रमाणोंके द्वारा जाने गये अर्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अनर्थोंका श्रद्धान करते बैठना सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु मिथ्यादर्शन है।

कल्पितार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमेवं स्यात्ततः सैवातिव्याप्तिरिति चेत् न, तत्त्वविशेषणात्।

इस प्रकार तो कल्पना किये गये पदार्थोंका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन ही होजावेगा। अर्थ कहनेसे कल्पित अर्थ भी पकडे जासकते हैं। इस कारण फिर भी वही अतिव्याप्ति दोष बना रहा। ऐसा तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि लक्षणमें अर्थका विशेषण " तत्त्व " दे रखा है अर्थात् वास्तविक रूपपनेसे तत्त्व निर्णीत हैं, उनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। कल्पना किये गये अतत्त्वरूप अर्थोंका श्रद्धान करना तो मिथ्यादर्शन है।

नन्वर्थग्रहणादेव कल्पितार्थनिवृत्तेस्तस्यानर्थत्वाद्व्यर्थं तत्त्वविशेषणमिति चेत् न, धनप्रयोजनाभिधेयविशेषाभावानामर्थशब्दवाच्यानां ग्रहणप्रसङ्गात्, न च तेषां श्रद्धानं सम्यग्दर्शनस्य लक्षणं युक्तं, धर्मादर्थो धनमिति श्रद्दधानस्याभव्यादेरपि सम्यग्दर्शनप्रसक्तेः।

यह आक्षेप सहित शंका है कि जब अकेले अर्थके ग्रहण करनेसे ही कल्पित अर्थोंका निवारण होजाता है। क्योंकि वह कल्पित अर्थ वास्तविक अर्थ नहीं है। किंतु अनर्थ है, तो फिर उसके निवारण करनेके लिये अर्थका तत्त्व विशेषण देना व्यर्थ ही है। सिध्दान्ती कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अर्थ शद्बके वस्तुके सिवाय धन, प्रयोजन, वाच्य, विशेष, अभाव (निवृत्ति) भी कई वाच्यार्थ होजाते हैं। यदि अर्थका विशेषण तत्त्व न लगाया जावेगा तो केवल अर्थशद्बसे धन आदिकके ग्रहण करनेका भी प्रसंग हो जावेगा और उन धन आदिका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका लक्षण बनाना युक्त नहीं है। क्योंकि धर्मसे अर्थ यानी धन प्राप्त होता है, इस प्रकार नीति वाक्य द्वारा धनका श्रद्धान करते हुए अभव्य, दूर भव्य अथवा मिथ्यादृष्टिओंके या सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि इन भव्योंके भी सम्यग्दर्शन हो जानेका प्रसंग होगा।

" कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः " इति प्रयोजनवाचिनोऽर्थशद्बात् प्रयोजनं श्रद्दधतोऽपि सद्दृष्टित्वापत्तेः।

नीतिपुस्तकमें लिखा हुआ है कि ऐसे उत्पन्न हुए पुत्रसे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? जो कि विद्वान् नहीं है और धार्मिक भी नहीं है। यहां प्रयोजनको कहनेवाले अर्थ शद्बसे प्रयोजनरूप अर्थका श्रद्धान करनेवाले जीवको भी सम्यग्दृष्टिपना प्राप्त हो जावेगा। जो कि वह आपत्ति इष्ट नहीं है। हां ! रत्नत्रयको या संयमको आत्मसंबन्धी धन माननेका अथवा केवलज्ञान या मोक्षको अपना प्रयोजन माननेका श्रद्धान करता तो कुछ सम्यग्दृष्टिपनमें सहायता भी प्राप्त हो सकती थी। किंतु रागद्वेषवर्धक पदार्थोंमें धन, प्रयोजनका विश्वास करना तो मिथ्यादर्शन है, ऐसा सभी मानते हैं।

धनप्रयोजनयोरर्थाभिप्रायो मोहोदयादवास्तव एव प्रक्षीणमोहानामुदासीनानामिव ममेदं स्वं धनं प्रयोजनं चेति संप्रत्ययानुपपत्तेः । सुवर्णादेर्देशकालनरान्तरापेक्षायां धनप्रयोजनत्वाप्रतीतेर्वस्तुधर्मस्य तदयोगात्सुवर्णत्वादिवदिति केचित् ॥

यहां कोई कह रहे हैं कि धन और प्रयोजनमें अर्थ समझ लेनेका अभिप्राय रखना मोहनीय कर्मके उदयसे होता है । अतः वास्तविक ही नहीं है । उदासीन साधु मुनियोंके जैसे यह मेरा अपना धन है, यह मेरा प्रयोजन है, इस प्रकार ज्ञान होना नहीं बनता है, तैसे ही जिनका दर्शनमोहनीय कर्म उपशम या क्षयोपशम रूपसे नष्ट हो गया है ऐसे चौथे पांचवे आदि गुणस्थानवाले जीवोंके भी यह मेरा धन और मेरा प्रयोजन, ऐसे ज्ञानोंका बनना भले प्रकार युक्तिसिध्द नहीं है । दूसरी बात यह है कि किसी किसी देशमें सुवर्ण, चांदी आदि द्रव्योंको धनपना और प्रयोजनपना नहीं प्रतीत किया जाता है अर्थात् दरिद्र देशोंमें पुण्यहीन व्यक्तियोंकी अपेक्षासे सुवर्णको धन माना गया है । भोगभूमियोंमें या सुदर्शन मेरुपर जानेवाले जीवोंकी तथा देवोंकी दृष्टिमें सुवर्णका विशेष मूल्य नहीं है । मरुस्थलमें दुष्काल पडनेपर कई अवसरोंमें चांदी, सोना सुलभ हो गया था । किंतु दुर्लभ हो रहे अन्न—जलके विना सहस्रों मनुष्य मृत्युमुखमें प्राप्त हो गये थे । कई धनके स्थलोंपर या भूमिमें चींटा चींटी धनके ऊपर चलते बैठते हैं । वे उन रुपयों, भूषणों, पांसोंको धन ही नहीं समझते हैं । हां, संचित अन्नकणोंको पूर्ण धन मानते हैं । तथा किन्हीं दूसरे समयोंमें यानीं सुषमसुषम, सुषम, सुषमदुःषमं इन भोगभूमि कालोंमें यहां भी सुवर्ण धन नहीं माना जाता था । एवं अब भी यहां अतीव पुण्यशाली पुरुष या दुसरे न्यारे वीतराग साधु आत्माओंकी अपेक्षासे सुवर्णको धनपना और प्रयोजनपना प्रतीत नहीं होता है । अब भी अनेक पदार्थ ऐसे हैं, जो कि कूडेके समान फेंक दिये जाते हैं । किंतु दूसरे देश, काल और व्यक्तियोंकी अपेक्षासे वे अधिक मूल्यके हैं । वनमें रहनेवाली भीलनी गज-मुक्ताओंका तिरस्कार कर गोंगचियोंसे अपने आभूषण बनाती हैं । जिन हजारों आमकी गुठलियोंको हम यों ही कूडेमें फेंक देते हैं, किसी समय दस रुपया व्यय करनेपर भी वह प्राप्त नहीं होती है । नीमके पत्ते यहांपर बहुत मिलते हैं, किंतु देशान्तरोंमें वे मूल्यसे पुडियोंमें बेचे जाते हैं । जंगलमें सैकडों जडी, बूटियां खडी हुई हैं जिनको कि पशु पक्षी भी भक्षण नहीं करते हैं, वे ही न जाने किन किन रोगोंको दूर करनेकी शक्तियां रखती हैं । सुवर्ण आदि रसायन बनानेमें भी उनका उपयोग हो सकता है । यदि वे सहस्रों रुपये तौले बिकें तो भी उनका मूल्य न्यून ही है । जो खेतकी मिट्टी, गेहूं, चना, जौ, फल, फूल, खाण्ड आदिको पैदा कर सकती है और जो जलवायु योंही इधर उधर बिखर रहे हैं, वे रसायन शास्त्रकी दृष्टिसे सुवर्ण, हीरा, माणिक, पन्नासे भी अधिक मूल्यके हैं । सुवर्णसे भूख दूर नहीं होती, प्यास नहीं बुझती, प्राण-वायु नहीं बनती है, अन्न भी नहीं उपजता है । अतः वस्तुके धर्मोकी अपेक्षासे विचारा जावे तो धन और प्रयोजनपना उस वस्तुका स्वभाव नहीं है, जैसे कि सुवर्णका सुवर्णपना या रस, गन्ध

आदि स्वभाव हैं, वैसे धनपना उसका स्वभाव नहीं है। कतिपय धनाढ्य सुवर्णके विद्यमान होनेसे ही डांकुओंके द्वारा मार दिये जाते हैं, जिसके कि वे चोरोंको पहिचानकर दण्ड न दिला सके। यदि वे निर्धन होते तो वनमें भी उनको किसी प्रकारका भय न था। अनेक निरपेक्षजीव सुवर्णको अपना प्रयोजन [स्वार्थ] भी नहीं समझते हैं। जहां भूमिमें लखोंका धन गढा हुआ है वहां चूहे, चींटे, योंही डोलते रहते हैं। उन्हें तो अन्न या खांड चाहिये, रुपया म्होरोंकी आकांक्षा नहीं है। फिर आप जैन बलात्कारसे अर्थ शब्दका वाच्य अर्थ धन और प्रयोजन कहकर अतिव्याप्तिका वारण करनेके लिए अर्थका तत्त्व विशेषण क्यों लगाते हैं ? सूत्रका व्यर्थ बोझ बढानेसे क्या लाभ है ? भावार्थः—धन और प्रयोजनको वास्तविक अर्थपना नहीं है। अतः तत्त्वपदके विना केवल अर्थ-पदसे ही अतिव्याप्तिका वारण हो जावेगा। इस प्रकार कोई पंडित कह रहे हैं। अब आचार्य महाराज इसका उत्तर देते हैं कि—

तेषां क्रोधादयोऽप्यात्मनः पारमार्थिका न स्युर्मोहोदयनिबन्धनत्वाद्धनप्रयोजनयोरर्थाभिप्रायवत् तेषामौदयिकत्वेन वास्तवत्वमिति चेत्, अन्यत्र समानम् ।

उनके यहां क्रोध, अभिमान, लोभ आदि भी आत्माके वस्तुभूत स्वभाव नहीं हो सकेंगे। क्योंकि मोहके उदयको कारण मानकर क्रोध आदिक उत्पन्न होते हैं। जैसे कि धन और प्रयोजनमें अर्थ समझनेका अभिप्राय करना मोहके उदयसे जन्य होनेके कारण वस्तुधर्म नहीं है, ऐसा होनेपर क्रोधको आत्माका भाव समझनेवाला पुरुष सम्यग्दृष्टि न बन सकेगा। किंतु क्रोध आदि तो नौवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं, अतः चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले भाव भी आत्माके स्वतत्त्व रूप पारमार्थिक भाव हैं। शुद्ध आत्मद्रव्यके क्रोध आदिक भाव नहीं हैं। एतावता सांसारिक अशुद्ध आत्मद्रव्यके भी क्रोध आदिक वस्तुभूत परिणाम नहीं हैं, यह नहीं कह बैठना चाहिये। केवल समयसारजीका अपेक्षा लगाये विना स्वाध्याय करनेसे निश्चयकी ओर (तरफ) झुक जानेवाले पुरुषको प्रमाणके विषयभूत वस्तुके परनिमित्तसे होनेवाले वास्तविक परिणामोंको नहीं भूल जाना चाहिये। तभी तो जैनसिद्धान्तमें औपशमिक आदि पांचों भाव आत्माके स्वकीय तत्त्व माने गये हैं। यदि कोई यों कहे कि क्रोध आदिक तो कर्मोंका उदय होनेपर उत्पन्न हो जानेवाले आत्माके भाव हैं। क्रोध, मान, रति आदि भावोंके निमित्तकारण कर्म हैं और आत्मा उनका उपादानकारण है। अतः वे वस्तुभूत हैं, यों उनका जानना तो पारमार्थिक अर्थोंका जानना ही है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कहते हैं कि ऐसा वास्तविकपना तो दूसरे स्थानोंमें भी समानरूपसे लागू हो जाता है अर्थात् सुवर्ण मेरा धन है, सुवर्ण प्राप्त करना मेरा प्रयोजन है। ऐसे प्रत्यय होना भी चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे जन्य भाव हैं। अतः ये भी आत्माके वस्तुभूत परिणाम हैं। शुद्धजीवद्रव्यका क्रोध परिणाम नहीं है। यह एकदेशीय निश्चय नयका विषय है। किंतु वस्तु तो द्रव्य और पर्यायोंका समुदाय है। वह प्रमाणका ही विषय है। कर्म और नोकर्मसे बन्धको प्राप्त हुए जीवकी क्रोध कर्मके उदय होनेपर

क्रोधरूप परिणति हो जाती है। वह क्रोध आत्माके चारित्रगुणका विभाव परिणाम है। आत्माका क्रोधपर्यायके साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। द्रव्य और पर्याय इन दोनोंके पिण्डरूप वस्तुको मुख्यरूपसे जाननेवाले प्रमाण करके आत्मा क्रोधी जाना जा रहा है। भले ही किसी देश तथा अन्य कालमें और वीतराग व्यक्तिको सुवर्णमें धनपने और प्रयोजनपनेका ज्ञान न हो, किंतु जिस मोही जीवको बढे हुए रागके कारण सुवर्णमें ममत्व हो रहा है, वह रागभाव तो आत्मासे दूर नहीं किया जासकता है। परनिमित्तसे होनेवाले भाव किसी संसारी जीवके दूसरे प्रकारसे उत्पन्न होते हैं। अन्य मुक्तोंके विभाव भाव होते ही नहीं हैं। तीसरे संसारीजीवोंके तीसरे प्रकारके ही भाव होते हैं अर्थात् गजमुक्ताको छोडकर गोंगचीमें धनपनेके भाव हो जाते हैं। अखण्ड ब्रह्मचर्य महाव्रत होनेके कारण वारिषेण मुनि महाराजके स्वकीय सुन्दरस्त्रियोंमें भी पुंवेद जन्य भाव नहीं हुए और पुष्पडालके कुरूप एकाक्षिणी स्त्रीके निमित्तसे पुंवेदका तीव्र उदय होनेपर रागभाव हो गये थे। इस प्रकार निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध अचिन्त्य है। किंतु जो भी कुछ राग, क्रोध भाव होते हैं, वे आत्माके वास्तविक परिणाम तो अवश्य ही कहे जावेंगे। स्वाभाविक न सही, आत्माके अतिरिक्त उनका उपादानकारण अन्य कोई नहीं है।

वस्तुस्वरूपं धनं प्रयोजनं वा न भवतीति चेत्, सत्यं, वैस्रसिकत्वापेक्षया तस्य वस्तुरूपत्वव्यवस्थानासम्भवात्; परोपाधिकृतत्वेन तु तस्य वास्तवत्वमनिषिद्धमेवेति नानर्थत्वं, येनार्थग्रहणादेव तन्निवर्तनं सिध्येत् ॥

यदि वे कोई यों कहें कि जीवोंकी रागद्वेषसे सुवर्णमें धनपने और प्रयोजनपनेकी बुद्धि भले ही हो जावे और तदनुसार रागद्वेष परिणाम भी आत्माके तदात्मक उत्पन्न हो जावें, किन्तु सुवर्ण द्रव्य तो वास्तविक स्वरूपसे धन और प्रयोजनरूप नहीं हो जाता है। सुवर्ण तो सुवर्ण है, रसवान् है, गन्धवान् है, पौद्गलिक है, यदि सुवर्णका धनपना वस्तुभूत अंग होता तो वीतराग भी उसको धन समझ लेते। अन्यथा उनके मिथ्याज्ञान होनेका प्रसंग आता। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि इस प्रकार कहोगे तो आपका कहना बहुत ठीक है। सुवर्णको केवल सुवर्णके ही वस्तुपनेसे विचारा जावे तो स्वाभाविक परिणामकी अपेक्षासे उस सुवर्णके धनपने और प्रयोजनपनेको वस्तुरूपताकी व्यवस्था होना असम्भव है। हां! दूसरे निमित्तोंसे किये गये परिणामोंकी अपेक्षासे तो उस सुवर्णके प्रयोजनपने और धनपनेकी वास्तविकताका निषेध नहीं है। दूसरे निमित्तोंसे जल उष्ण हो जाता है, वह उष्णता जलका अर्थ है। जलके स्पर्शगुणका परिणाम है। अतः जलकी गृहीत गांठकी सम्पत्ति है। ऐसे ही दूसरे निमित्तोंसे होनेवाले भाव भी तद्रूप हैं। शरीरभेद हो जानेसे ही स्त्रीकी आत्मा भिन्न है और पुरुषकी आत्मा भिन्न है। स्त्रीको मोक्षका अधिकार नहीं, पुरुषको है। इस रीतिसे एक ही आत्माकी पहिले पीछेकी स्त्री, पुरुष, पर्यायोंमें महान् अन्तर है। दरिद्रके भाव धनवान्से निराले हैं।

एक ही आत्माके निर्धन अवस्थासे धनिक बन जानेपर भावोंमें बडा परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार वह धनपना और प्रयोजनपना अनर्थ नहीं है, किंतु अर्थरूप ही है जिससे कि केवल अर्थके ग्रहण करनेसे ही उस धन और प्रयोजनरूप अर्थकी निवृत्ति हो जाना सिद्ध हो जाता। भावार्थ—धन और प्रयोजन अर्थ हैं। इनका श्रद्धान करनेवाला भी सम्यग्दृष्टि बन जावेगा। इस अतिव्याप्तिके वारण करनेके लिये अर्थपदका विशेषण तत्त्व देना चाहिये। अब हम भी कहते हैं कि ये अर्थ तो हैं, किंतु मोक्षोपयोगी और तात्त्विकनेसे ये धन आदिक तत्त्वार्थ नहीं हैं।

तथाभिधेये विशेषे अभावे चार्थे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनस्य लक्षणमव्यापि प्रसज्यते, सर्वस्याभिधेयत्वाभावाद्व्यञ्जनपर्यायाणामेवाभिधेयतया व्यवस्थापितत्वादर्थपर्यायाणामाख्यातुमशक्तेरननुगमनात् सङ्केतस्य तत्र वैयर्थ्याद् व्यवहारासिद्धेर्नाभिधेयस्यार्थस्य श्रद्धानं तल्लक्षणं युक्तम्।

तैसे ही अर्थ शब्दके वाच्य यदि अभिधेय (कहने योग्य) या विशेष अथवा अभाव ये अर्थ किये जावेंगे और इन अर्थोंमें श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा जावेगा तो अव्याप्ति दोष हो जानेका प्रसंग होगा। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव जब शब्दसे न कहने योग्य अर्थपर्यायोंका श्रद्धान कर रहा है, उस समय वह सम्यग्दृष्टि न कहा जावेगा। क्योंकि वह शब्दसे कहने योग्य अभिधेय पदार्थोंका श्रद्धान नहीं कर रहा है। संसारके सभी पदार्थ शब्दोंके द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं। अनन्तानन्त पदार्थोंमेंसे अनन्तवें भाग पदार्थ शब्दोंसे कहे जाते हैं। व्यञ्जनरूप मोटी मोटी पर्यायोंका ही शब्दोंसे निरूपण होना व्यवस्थित किया गया है। सूक्ष्म अर्थपर्यायोंको कहनेके लिये शब्दोंकी शक्ति नहीं है। कारण कि अनुगम नहीं हो पाता है अर्थात् " वृत्तिर्वोधामपरसदृशी " अन्य पदार्थोंके सादृश्यको लेकर शब्दोंकी प्रवृत्ति हुआ करती है। जैसे कि बालकके सन्मुख किसी वृद्ध पुरुषने दूसरे व्यक्तिको यों कहा कि घडेको ले जाओ और गौको ले आओ! इस शब्दको सुनकर ले जाना और ले आना रूप क्रियाओंसे युक्त द्रव्योंका परामर्श कर वह बालक घट शब्दकी वाचक शक्तिको बडा पेट और छोटी ग्रीवावाले मिट्टीके पात्रमें ग्रहण कर लेता है तथा गौ शब्दकी सींग, सास्ना (गल कम्बल चर्म) वाले पशुमें वाचकशक्तिको ग्रहण कर लेता है। वही बालक दूसरे स्थानोंपर भी उस गौके सदृश अन्य गौओंमें भी गो शब्दका प्रयोग कर लेता है। शब्द बोलनेका फल भी दूसरे सदृश व्यक्तियोंके जाननेमें उपयोगी है, जैसे कि रसोई घरमें देखे गये अग्निके साथ व्याप्तिको रखते हुए धूमका ग्रहण कर लेना, पर्वत आदि स्थानोंमें वह्निज्ञान करानेमें उपयोगी है। रसोई घरमें तो वह्नि और धूम दोनोंका प्रत्यक्ष हो ही रहा है। तैसे ही संकेतकालमें ग्रहण किया हुआ वाच्यवाचकसम्बन्ध भी भविष्यमें व्यवहारके समय उन सदृश व्यक्तियों या उसीकी स्थूल व्यञ्जनपर्यायोंके शाब्दबोध करानेमें उपयोगी है। संकेतकालमें तो पदार्थोंका प्रत्यक्ष ही हो रहा है। इस उक्त कथनसे सिद्ध होता है कि शब्दोंकी प्रवृत्ति सदृशपर्यायोंमें और पहिले जाने हुए वाच्यकी स्थूल पर्यायोंमें चलती है। जिन सूक्ष्म अर्थपर्या-

योंका प्रतिक्षण विलक्षण ही परिणमन होता है तथा संकेतकालमें जिन सूक्ष्मपर्यायोंका हमको प्रत्यक्ष ही नहीं है, उनमें शब्दकी योजनाका ग्रहण हम कैसे कर सकते हैं ? । एक काली गौमें गो शब्दका संकेत कर धौली, पीली, चितकबरी, कपिल, खण्ड, मुण्ड, शावलेय आदि गौ व्यक्तियोंमें भी यह गौ है, यह भी गौ है, और यह भी गौ ही है, इस प्रकार गौ शब्दोंकी प्रवृत्तिरूप अनुगम हो रहा है। किन्तु अनन्तसुख, सम्यग्दर्शन, चारित्र, अविभागप्रतिच्छेद, अधःकरण, एकत्ववितर्क आदि अर्थपर्यायोंका उन्हींमें या उनके सदृश दूसरी पर्यायोंमें ठीक अर्थको कहनेवाले शब्दोंका अन्वय रूपसे अनुगम करना नहीं होता है । उन अर्थपर्यायोंमें "इस शब्दसे यह अर्थ समझ लेना चाहिये" ऐसा संकेतग्रहण करना भी व्यर्थ पडेगा । जैसे कि कोई बाल्य अवस्था या युवावस्थाके सुखोंका शब्दके द्वारा ठीक ठीक (न न्यून न अधिक) निरूपण करना चाहे तो बडा पोथा बनाकर भी उसका प्रयत्न व्यर्थ जावेगा । सामायिक करते समय साधु महाराजको कैसा आनन्द प्राप्त होता है, वह शब्दोंसे नहीं कहा जाता है । तीर्थ यात्रा करके, पात्रदान करके, अध्ययन करके जो अनिर्वचनीय सुख मिला है, कञ्जूस या मूर्खके सन्मुख उस सुखका निरूपण सहस्रजिह्वावाला भी नहीं कर सकता है। उसका कारण यही है कि उन अर्थ पर्यायोंके वाचक शब्द ही संसारमें नहीं हैं। यदि बलात्कारसे कोई संकेतग्रहण करेगा तो उन वाच्य अर्थोंकी तली तक नहीं पहुंच सकता है । एक चार वर्षकी बालिका अपनी युवती बहिनसे प्रश्न करे कि तुमको पतिगृहमें क्या विशेष आनन्द प्राप्त होता है ? इसका उत्तर केवल चुप हो जाना ही है या " तू स्वयं समय पर अनुभव कर लेगी " यह हो सकता है । एवं सन्निपात रोगवाला अपने शारीरिक परम दुःखका किसी भी प्रकार शब्दोंसे निरूपण नहीं कर सकता है । तभी तो शरीरप्रकृति उसकी वचनशक्तिको मानो रोक देती है। अतः निर्णीत हुआ कि शब्दके द्वारा मुख्य रूपसे कहे जाने योग्य संख्यात अर्थ और गौणरूपसे कहे जाने योग्य असंख्यात अर्थोंसे अतिरिक्त अनन्तानन्त प्रमेयोंमें वाच्यवाचक व्यवहार होना सिद्ध नहीं है । इस कारण अभिधेयरूप अर्थके श्रद्धानको उस सम्यग्दर्शनका लक्षण करना युक्त नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जिस समय अपने आत्माका अनुभव करता है या अवाच्य अर्थपर्यायोंका विचार कर रहा है, उस समय उक्त लक्षण न घटनेसे अव्याप्ति दोष हो जावेगा ।

नापि विशेषस्य सामान्यश्रद्धानस्य दर्शनत्वाभावप्रसंगात् ।

तथा अर्थ शब्दका विशेषण यदि तत्त्व न दिया जावेगा तो विशेषरूप अर्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन होगा। ऐसी दशामें सामान्य अर्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शनपनेके अभावका प्रसंग होजायगा। यहां भी अव्याप्ति दोष हुआ । क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव विशेषधर्मोके समान सामान्य अर्थोंका भी श्रद्धान करता है। कारण कि सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तुके तदात्मक अंश हैं ।

तथैवाभावस्यार्थस्य श्रद्धानं न तल्लक्षणं भावश्रद्धानस्यासंग्रहादव्याप्तिप्रसक्तेः ।

उसी प्रकार अभावरूप अर्थका श्रद्धान करना भी उस सम्यग्दर्शनका निर्दोष लक्षण नहीं है। क्योंकि यों तो भावोंके श्रद्धान करनेका संग्रह न हो सकेगा। वस्तुस्वरूप अभाव और भाव– पदार्थोंका भी सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धान करता है। इस भावके श्रद्धानमें लक्षण न जानेसे अव्याप्ति दोष होनेका प्रसंग होगा।

नन्वेवमर्थग्रहणादिव तत्त्ववचनादपि कथमभिधेयविशेषाभावानां निवृत्तिस्तेषां कल्पितरूपाभावादिति चेत् न, अभिधेयस्य शब्दनयोपकल्पितत्वाद्विशेषस्य ऋजुसूत्रोपकल्पितत्वादभावस्य च धनप्रयोजनवत्कल्पितत्वसिद्धेस्तावन्मात्रस्य सकलवस्तुत्वाभावाद्वस्त्वेकदेशतया स्थितत्वात्।

यहां कटाक्ष सहित यह शंका है कि इस प्रकार अकेले अर्थ ग्रहण करनेसे जैसे अभिधेय, विशेष और अभावोंका निवारण नहीं हो सकता है, उसी प्रकार अर्थका "तत्त्व" ऐसा विशेषण देनेसे भी अभिधेय आदिका निराकरण कैसे हो जावेगा? क्योंकि अभिधेय आदि भी तो वास्तविक तत्त्व हैं। वे कल्पित पदार्थ नहीं हैं। इस कारण तत्व शब्दके कहनेपर भी अव्याप्ति दोष बना रहता है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यदि ऐसी शंका करोगे सो ठीक नहीं। क्योंकि शब्दका वाच्यरूप अभिधेय तो शब्दनयके द्वारा अपेक्षापूर्वक कल्पना किया गया है और सामान्य द्रव्यसे रहित माना गया कोरा विशेष भी ऋजुसूत्रनयसे कल्पित किया गया है तथा अभाव भी परचतुष्टयकी अपेक्षासे नास्तित्व धर्मरूप कल्पित भंग है। सप्तभंगीके विषय होरहे धर्म कल्पित होते हैं। प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें विरोधरहित अनेक धर्मोंकी कल्पनाको सप्तभङ्गी कहते हैं। अतः धन और प्रयोजनरूप अर्थोंको जैसे कल्पितपना है अर्थात् किसी गृहमें गुप्तधन गडा हुआ है, उसमें रहनेवाले निर्धन मनुष्योंकी सुवर्ण, रूपये, आदिमें अतीव धनतृष्णा लगी हुयी है। किन्तु उस रखे हुए धनके पास दिनरात घूमनेवाले चूहे, चींटोंको मौहर आदिमें अणुमात्र भी धनबुद्धि नहीं है। प्रत्युत उनके स्वतन्त्र भ्रमण करनेमें वे धनके भरे हुए हण्डे, विघ्नरूप होरहे हैं और प्रयोजनमें भी ऐसा ही विपरीतपना देखा जाता है। पूर्वकी ओरसे आनेवाली रेलगाडीमें बैठे हुए आतुर मनुष्य पश्चिमकी ओरसे आयी हुयी रेलगाडीमें आनेवाले मनुष्योंको अच्छा समझते हैं और पश्चिमसे आनेवाले आततायी मनुष्य पूर्वदिशासे आनेवालोंको अच्छा समझते हैं कि इन्हींके समान उस देशमें हम भी होते तो हम आने जानेके क्लेशको क्यों उठाते? हमारा प्रयोजन बहुत समय पहिले ही सिद्ध हो चुका होता। वैसे ही अभिधेय, विशेष, और अभावको भी कल्पितपना सिद्ध है। यहां कल्पनासे अवस्तु पकडी जाती होय सो नहीं समझना। जैन सिद्धान्तमें समीचीन कल्पनाओंको वस्तुके अंशोंका स्पर्श करनेवाली माना है। हां! केवल उतना ही संपूर्ण वस्तुतत्त्व नहीं है। किन्तु अर्थोंमें अभिधेयपना वस्तुका एकदेश है। क्योंकि उससे अनन्तगुणा अनभिधेयतत्त्व पदार्थोंमें पडा हुआ है और विशेष भी वस्तुका एकदेश है। अभाव अंश भी वस्तुका एकदेश होकर प्रमाणोंसे प्रसिद्ध हो रहा है। अतः

अर्थका तत्त्व विशेषण लगानेसे अभिप्रेय आदिका निवारण होते हुए अव्याप्ति दोष दूर हो जाता है। क्योंकि वे पूर्णमुख्यत्व होते हुए अर्थ नहीं है। तत्त्व शद्बसे समभिव्याहार करनेपर अर्थ शद्बद्वारा जीव आदिक तत्त्व ही ग्रहण किये जाते हैं।

तत्त्वश्रद्धानमित्यस्तु लघुत्वादतिव्याप्त्यव्याप्त्योरसम्भवादित्यपरः। सोऽपि न परानुग्रहबुद्धिस्तत्त्वशब्दार्थे सन्देहात्। तत्त्वमिति श्रद्धानं, तत्त्वस्य वा तत्त्वे वा, तत्त्वेन वेत्यादिपक्षः संभवेत्, क्वचिन्निर्णयानुपपत्तेः। न हि तत्त्वमिति श्रद्धानं तत्त्वश्रद्धानमित्ययं पक्षः श्रेयान् " पुरुष एवेदं सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन " इति सर्वैकत्वस्य तत्त्वस्य, ज्ञानाद्वैतादेर्वा श्रद्धानप्रसंगात्।

यहां किसी अन्यका कहना है कि तत्त्व शब्दसे यदि धन आदि अर्थोंका निवारण हुआ है तो तत्त्वोंका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन होजाओ। अर्थ शब्द लगाना व्यर्थ है। ऐसा कहनेसे सूत्रमें एक दो मात्राओंका लाघव भी है तथा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, दोषोंके होनेकी सम्भावना भी नहीं है। आचार्य कहते हैं कि जो भी ऐसा कोई दूसरा कह रहा है वह भी लाघव और दोषोंका अभाव दिखलाता हुआ अपनेको परोपकारी कहलानेका बिना विचारे साहस करता है। वस्तुतः उसकी बुध्दि दूसरोंका उपकार करनेमें नहीं प्रवर्त रही है। जहां अनेक संशयोंके उत्पन्न होनेका अवसर मिल जावें, ऐसे लाघव करनेसे क्या लाभ ?। यदि अकेला तत्त्व शब्द ही बोला जावेगा तो तत्त्व शब्दके अर्थमें अनेक प्रतिवादियोंको संशय उत्पन्न हो जावेगा। देखिये, " तत्त्व है " इस प्रकार श्रध्दान करना सम्यग्दर्शन है या " तत्त्वका श्रध्दान करना " अथवा " तत्त्वमें श्रध्दान करना " किंवा तत्त्व करके श्रध्दान करना " सम्यग्दर्शन है, इत्यादिक कई पक्ष सम्भवते हैं। किसी एक ही अर्थमें निर्णय करना कैसे भी नहीं बन सकता है। पहिले पक्षके अनुसार यदि तत्त्वश्रद्धानका अर्थ " तत्त्व है " इस प्रकार श्रद्धान करना माना जावेगा तो यह पक्ष कल्याणकारी श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्मरूप ही है। यहां नाना (अनेक) पदार्थ कोई भी नहीं हैं। देशभेद, कालभेद, आकारभेद और व्यक्तिभेद आदि सब झूंठे हैं। इस प्रकार सबका एकपना ही वस्तुभूत तत्त्व पदार्थ है। बौद्ध लोग कहते हैं कि क्षणिक ज्ञानपरमाणुरूप ज्ञानाद्वैत ही अकेला तत्त्व है। इसके अतिरिक्त घट, पट आदिक कोई भी तत्त्व नहीं है और शद्बाद्वैतवादी पण्डित तो शद्बको ही अकेला तत्त्व मानते हैं। इत्यादिक अनेक प्रकारोंसे; अपने अभीष्ट तत्के भावको तत्त्व मान रहे हैं। उन तत्त्वोंके श्रद्धान करनेको भी सम्यग्दर्शन हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। सो अतिव्याप्ति दोष होगा।

नापि तत्त्वस्य, तत्त्वे, तत्त्वेन, वा श्रद्धानमिति पक्षाः सङ्गच्छन्ते कस्य कस्मिन् वेति प्रश्नाविनिवृत्तेः। तत्त्वविशेषणे स्वर्थे श्रद्धानस्य न किञ्चिदवद्यं दर्शनमोहरहितस्य पुरुषस्वरूपस्य वा तत्त्वार्थश्रद्धानशब्देनाभिधानात् सरागवीतरागसम्यग्दर्शनयोस्तस्य सद्भावादव्याप्तेः स्फुटं विध्वंसनात्।

तथा अर्थ पदके न देनेसे तत्त्वश्रद्धानके षष्ठी तत्पुरुष सप्तमी व " या भा व " करनेपर तत्त्वोंका श्रद्धान, तत्त्वमें श्रद्धान, और तत्त्वकरके श्रद्धान ये दूसरे, तीसरे, चौथे, पक्ष भी भले प्रकार घटित नहीं होते हैं। क्योंकि किस तत्त्वका और किस तत्त्वमें तथा किस तत्त्वकरके इस प्रकारके प्रश्नोंकी विशेषरूपसे निवृत्ति नहीं होने पाती है। किन्तु अर्थके कह देनेपर और उस अर्थका तत्त्व विशेषण लगानेसे तत्त्वकरके निर्णीत अर्थका श्रद्धान करना यदि सम्यग्दर्शनका लक्षण सूत्रकारने कह दिया है, तब कोई भी दोष नहीं है। दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे रहित हो रहे आत्माके स्वाभाविक स्वरूपको तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना इस शब्दसे कहा गया है। यह निर्दोष लक्षण सभी सम्यग्दर्शनोंमें घटित हो जाता है। प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन गुणोंसे प्रकट होने योग्य सराग सम्यग्दर्शनमें तत्त्वार्थश्रद्धान है और केवल स्वानुभूतिके साथ रहनेवाले आत्मविशुद्धिरूप वीतरागसम्यग्दर्शनमें भी वह तत्त्वार्थ-श्रद्धान विद्यमान है। अतः स्पष्टरूपसे अव्याप्ति दोषका सर्वथा नाश हो जाता है और अतिव्याप्तिका वारण हम पूर्वमें कर ही चुके हैं। इस प्रकार सूत्रकारने निर्दोष स्वरूपसे सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है। व्यर्थके आक्षेप उठाना न्यायोचित नहीं है।

कथं तर्हि तत्त्वेनार्थो विशेष्यते ? इत्युच्यते—

यहां कोई विनीत शिष्य प्रश्न करता है, तो आप बतलाइये कि तत्त्वरूप विशेषण करके अर्थ किस प्रकारसे विशिष्ट हो जाता है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं—

यत्त्वेनावस्थितो भावस्तत्त्वेनैवार्थमाणकः ।
तत्त्वार्थः सकलोन्यस्तु मिथ्यार्थ इति गम्यते ॥ ५ ॥

जिस जिस स्वभाव करके जीव आदिक भाव व्यवस्थित हो रहे हैं उस ही स्वभाव करके गम्यमान या ज्ञायमान होते हुए वे सभी तत्त्वार्थ हैं। अन्य असत् और कल्पित स्वभावों करके जाने गये अर्थ तो झूंठे अर्थ हैं। यह तात्पर्यसे जान लिया जाता है। सूत्रकारके शब्द अत्यन्त गम्भीर हैं। एक एक पदमें लाखों मन अर्थ भरा हुआ है। विद्वान् अनेक टीका ग्रंथोंको उसी छोटे सूत्रमेंसे निकाल लेते हैं। फिर भी बहुतसा अर्थ सूत्रमें अवशेष रह जाता है। प्रकृत सूत्रमें पड़े हुए तत् शब्दका अर्थ अतीव उदात्त है। यत् और तत्का नित्य सम्बन्ध है। तत्के भावसे ही निर्णीत किया गया अर्थ तत्त्वार्थ है।

तदिति सामान्याभिधायिनी प्रकृतिः सर्वनामत्वात्। तदपेक्षत्वात्प्रत्ययार्थस्य भावसामान्यसम्प्रत्ययस्तत्त्ववचनात्, तस्य भावस्तत्त्वमिति, न तु गुणादिसंप्रत्ययस्तदनपेक्षत्वात् प्रत्ययार्थस्य ।

जिस धातु या नामसे सुप्, तिङ्, ङी, टाप्, अण्, सुट् आदि प्रत्यय आते हैं, उसको प्रकृति कहते हैं और धातु या मूलसे जो विधान किया जाता है, वह प्रत्यय है। तत्त्व शब्दमें तत् ऐसी सामान्य रूपसे सब पदार्थोंको कहनेवाली प्रकृति है। क्योंकि तत् शब्द विचारा सर्व आदि गणमें पडा हुआ है और सर्व आदि शब्द तो जगत्के सभी पदार्थोंमें प्रवृत्त होते हैं। उस प्रकृतिकी अपेक्षासे प्रत्यय अपना अर्थ प्रगट कर देता है। तद्धित वृत्ति करके तत् शब्दसे भावमें त्व प्रत्यय हुआ है। अतः तत्त्व इस पदके कहनेसे सामान्यरूप करके भावका भले प्रकार ज्ञान हो जाता है। तत् यानी उस विवक्षित पदार्थका जो भाव अर्थात् परिणाम है, वह तत्त्व है। यों तत्त्व शब्दसे सामान्य भावोंका ज्ञान होता है। किंतु गुण, अर्थपर्याय, व्यञ्जन पर्याय आदि विशेषोंका ज्ञान नहीं हो पाता है। क्योंकि प्रत्ययके भावरूप अर्थको सर्वनामवाची सामान्य तत् शब्दकी अपेक्षा है। विशेषको कहनेवाले गुण व्यतिरेक आदिकी अपेक्षा नहीं है। अर्थात् भले ही भविष्यमें सामान्यसे विशेषोंका ज्ञान हो जावे, क्योंकि विशेषोंको छोडकर सामान्य रहता नहीं है। अतः परिशेषसे विशेषोंका ज्ञान हो जावेगा। किंतु महासत्ताके समान तत्त्व शब्द बडे पेटवाला है।

तत्र तत्त्वेनार्यमाणस्तत्त्वार्थ इत्युक्ते सामर्थ्याद्गम्यते यत्त्वेनावस्थित इति, यत्तदो-र्नित्यसम्बन्धात्। तेनैतदुक्तं भवति, यत्त्वेन जीवादिस्तेनावस्थितः प्रमाणनयैर्भावस्तत्त्वेनैवा-र्यमाणस्तत्त्वार्थः सकलो जीवादिर्न पुनस्तदंशमात्रमुपकल्पितं, कुतश्चिदिति।

वहां तत्त्वार्थ शब्दकी वृत्ति करनेके प्रकरणमें तत्पने करके जो गमन करे या गम्य होवे अथवा जाना जावे, वह तत्त्वार्थ है ऐसा कहचुकनेपर विना कहे हुए अर्थापत्तिके बलसे ही यह समझ लिया जाता है कि जिसपनेसे जो पदार्थ स्थित हो रहा है उसपनेसे गम्य होवे। क्योंकि इस प्रकार यत् शब्द और तत् शब्दका सदा ही सम्बन्ध रहता है। जो कहनेसे सो का आक्षेप हो जाता है और सो कह देनेसे जो का अन्वय हो जाता है। इस कारणसे पूरे वाक्यका अर्थ यह कहा गया हो जाता है कि जिन जीव आदि स्वभावों करके पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो रहे हैं उन्हीं स्वभा-वोंसे प्रमाण नयोंके द्वारा जाना गया जो भाव है वह तत्त्वार्थ है। अतः सभी जीव अजीव, आस्रव आदि पदार्थोंका संपूर्ण वास्तविक शरीर तत्त्वार्थ माना गया है। किन्तु फिर उनका कल्पना किया गया केवल अनित्यपन आदि एक एक अंश किसी भी प्रकारसे तत्त्वार्थ नहीं है। यहांतक यह बात सिद्ध हुई।

ततोऽन्यस्तु सर्वथैकान्तवादिभिरभिमन्यमानो मिथ्यार्थस्तस्य प्रमाणनयैस्तथार्य-माणत्वाभावादिति स्वयं प्रेक्षावद्भिर्गम्यते किं नश्चिन्तया।

उन अपने अङ्ग उपाङ्गोंसे परिपूर्ण हो रहे जीव आदिक तत्त्वार्थोंसे भिन्न जो पदार्थ सर्वथा एकान्तवादी पुरुषोंके द्वारा अभिमानपूर्वक माने गये हैं, वे तो सब झूंठे अर्थ हैं। क्योंकि उन अर्थोंको

तैसी वस्तुस्थितिके अनुसार प्रमाणनयोंके द्वारा ज्ञायमानपना नहीं है, इस बातको विचारशाली विद्वान् अपने आप जान लेते हैं। व्यर्थमें हम इस विषयके लिये चिन्ता क्यों करें। भावार्थ—जो थोडी भी विचार बुद्धि रखते हैं वे तत्त्वोंकी परीक्षा सुलभतासे कर लेते हैं कि वस्तुके वास्तविक स्वभाव ये हैं, अन्यवादियोंके द्वारा कल्पित किये गये धर्म वास्तविक नहीं है, सर्वथा क्षणिकपना, सर्वथा नित्यपना सभी प्रकारोंसे एकपना आदि वास्तविक तत्त्व नहीं हैं। इस बातको आचार्य महाराजने पहिले ग्रंथमें भले प्रकार स्पष्ट कर दिया है। जिस वस्तुभूत अनेकान्तको हम हथेलीपर रक्खे हुए आंवलेके समान वस्तुभूत सिद्धकर चुके हैं विचारशाली पुरुष उसको सर्वत्र देख रहे हैं, यों हम निश्चिन्त हैं।

मोहारेकाविपर्यासविच्छेदात्तत्र दर्शनम्।
सम्यगित्यभिधानात्तु ज्ञानमप्येवमीरितम् ॥ ६ ॥

मोह, संशय, विपर्यास इन तीनों मिथ्यादर्शनोंके व्यवच्छेदसे जो उन तत्त्वार्थोंमें दर्शन हुआ है, वही सम्यग्दर्शन है, जैसे कि बुरे आचार और मूर्खताको दूर करके जो ज्ञान हुआ है, वही अच्छी पण्डिताई है। यह समीचीनपना तो " सम्यक् " इस शब्दसे कहा जाता है। इसी प्रकार ज्ञानमें भी सम्यक् शब्द लगादेनेसे संशय विपर्यय और अज्ञानका व्यवच्छेद करना कहा गया समझलेना चाहिये।

तत्र तत्त्वार्थे कस्यचिदव्युत्पत्तिर्मोहोऽध्यवसायापाय इति यावत्। चलिता प्रतिपत्तिरारेका, किमयं जीवादिः किमित्थमिति वा धर्मिणि धर्मे वा क्वचिदवस्थानाभावात्। अतस्मिंस्तदध्यवसायो विपर्यासः। इति संक्षेपतस्त्रिविधमिथ्यादर्शनव्यवच्छेदादुपजायमानं सम्यगिति विज्ञापयते।

उस तत्त्वार्थमें किसी किसी जीवके तीन प्रकारके मिथ्यादर्शन हो सकते हैं। पहिला अविवेक नामका मिथ्यादर्शन है। यह जीवका मोहनीय कर्मके उदय होनेपर मोहरूप भाव है। अव्युत्पन्न जीवको हित अहित नहीं सूझता है। इसका फलितार्थ यह हुवा कि तत्त्वोंके निर्णीत विश्वास करनेका नाश हो जाना। दूसरा मिथ्यादर्शन आरेका यानी संशय है। एक विषयमें दृढ ज्ञान न होकर चलायमान कई अवान्तर ज्ञप्तियोंके होनेको संशय कहते हैं जैसे कि यह जीव है ? या अजीव अथवा ठूंठ है या पुरुष ? इत्यादि प्रकारसे धर्मीमें संशय करके किसी भी एक कोटिमें अवस्थित (दृढ) हो न रहना अथवा क्या जीव नित्य है ? अथवा अनित्य ? और इस ढंगसे व्यापक है या अव्यापक ? इस प्रकार संशय करते हुए किसी भी एक धर्ममें निश्चित रूपसे अवस्थित न होना संशय है। तीसरा मिथ्यादर्शन अतत्में तत्रूपसे विपरीत निर्णय करना है, उसको विपर्यास कहते हैं। भावार्थ—सीपमें चांदीका ज्ञान कर लेना। इस प्रकार संक्षेपसे तीन प्रकारके मिथ्यादर्शनोंका व्यवच्छेद हो जानेपर उत्पन्न हुआ श्रद्धान समीचीन है, ऐसा सम्यक् पदसे जाना जाता है। अर्थात् तत्त्वार्थोंके श्रद्धान करने

में भी दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे तीन प्रकारके मिथ्यादर्शन हो जाते हैं, उनका निवारण सम्यक् पदसे हो जाता है। कहीं कहीं सहज और अधिगमज भेदसे दो प्रकारका मिथ्यादर्शन माना है तथा अन्यत्र एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान ऐसे पांच प्रकारका माना है। विस्तार करनेपर मिथ्यात्वके संख्यात और असंख्यात तथा व्यक्तिभेदसे अनन्त भेद भी हो जाते हैं। इन सबका सम्यक् शब्दसे व्यवच्छेद हो जाता है। सम्यक्पद इसी बातको समझाता है।

ज्ञानमप्येवमेव सम्यगिति निवेदितं, तस्य मोहादिव्यवच्छेदेन तत्त्वार्थाध्यवसायस्य व्यवस्थापनात्। तर्हि सूत्रकारेण सम्यग्ज्ञानस्य लक्षणं कस्माद्भेदेन नोक्तम् ?—

इसी प्रकार ज्ञान भी सम्यक् इस विशेषणसे विशिष्ट है, ऐसा निरूपण कर दिया गया है। क्योंकि मोह, संशय, विपर्यासके व्यवच्छेद करके तत्त्वार्थोंका अध्यवसाय करनेवाले उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञानपना व्यवस्थित है। ज्ञानके मोह आदि दोष न्यारे हैं और श्रद्धानके मोह आदि दोष भिन्न हैं। यहां नाम एक होनेसे अर्थ एक नहीं है। हां, निरूपण करनेकी प्रक्रिया एकसी होजाती है।

तब तो बतलाइये कि सम्यग्दर्शनके लक्षणके समान सम्यग्ज्ञानका लक्षण भी सूत्र बनानेवाले श्रीउमास्वामी महाराजने भिन्न रूपसे क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर श्रीविद्यानन्द आचार्य देते हैं—

सामर्थ्यादादिसूत्रे तन्निरुक्त्या लक्षितं यतः।
चारित्रवत्ततो नोक्तं ज्ञानादेर्लक्षणं पृथक् ॥ ७ ॥
यथा पावकशब्दस्योच्चारणात् सम्प्रतीयते।
तदर्थलक्षणं तद्वज्ज्ञानचारित्रशब्दनात् ॥ ८ ॥
ज्ञानादिलक्षणं तस्य सिद्धेर्यत्नान्तरं वृथा।
शब्दार्थाव्यभिचारेण न पृथग्लक्षणं क्वचित् ॥ ९ ॥

जिस कारणसे कि उस यथार्थनामा चारित्र शब्दकी निरुक्तिसे ही बहिरंग और अंतरंग क्रियाओंकी निवृत्तिरूप चारित्रका लक्षण कर दिया गया है, उस ही के समान अन्वर्थसंज्ञावाले ज्ञान शब्दकी सामर्थ्यसे ही आदि सूत्रमें कहे गये सम्यग्ज्ञानका भी लक्षण कर दिया गया है। इस ही कारणसे ज्ञान, चारित्र, जीव, अजीव आदिका लक्षण सूत्रकारने पृथक् रूपसे नहीं कहा है। जैसे कि पावक शब्दके उच्चारण करनेसे ही लोकमें पवित्र करानेवाली अग्निका सुलभतासे ज्ञान हो जाता है। क्योंकि उस शब्दका धातु प्रकृति प्रत्ययसे जो अर्थ निकलता है। वही पावकका पवित्र कराना अर्थ है और वही उसका लक्षण है। उसीके समान ज्ञान और चारित्र शब्दकी निरुक्तिके कथनसे ही इनका लक्षण ध्वनित हो जाता है। ज्ञान और चारित्र इन दोनोंका जैसा नाम है, वैसा ही गुण

है । अतः स्वपरको जानना और परके त्यागपूर्वक स्वांशोंमें निष्ठा (स्थिरता) करना ये दोनों ही ज्ञान और चारित्रके लक्षण हैं । जब उपदेश मात्रसे ही लक्षण करना सिद्ध हो जावे तो पुनः लम्बे चौडे सूत्रके बनानेका दूसरा प्रयत्न करना व्यर्थ है । जहां अपने वाचक शब्दके अर्थसे स्वका व्यभिचार होता है, वहां नामकथनके अतिरिक्त लक्षण बनाया जाता है । जैसे कि घट शब्दका अर्थ चेष्टा करना है और हितको ग्रहण करना, अहितको छोडनेकी क्रिया करनेको चेष्टा कहते हैं । यह अर्थ जडस्वरूप घटमें घटता नहीं है । इस कारण कम्बुग्रीवा यानी शंखके समान ग्रीवावाला बडे पेटवाला आदि घडेका लक्षण किया जाता है । किंतु जहां अपनेको कहनेवाले वाचक शब्दके अर्थके साथ व्यभिचार नहीं है, वहां इस कारण कहीं भी लक्षण सूत्र पृथक् नहीं कहा जाता है । जैसे पाचक, पाठक, दुग्ध आदि यौगिक शब्दोंका अर्थ व्यभिचार नहीं है ।

नन्वेवं मत्यादीनां पृथग्लक्षणसूत्रं वक्तव्यं शब्दार्थव्यभिचारादिति न चोद्यं, कारणादिविशेषसूत्रैस्तदर्थव्यभिचारस्य परिहृतत्वात् ।

यहां विक्षेपपूर्वक शङ्का है कि यों जिन शब्दोंका अपने वाच्यार्थके साथ व्यभिचार होरहा है, उनके लक्षण करनेका पृथक् सूत्र बनाया जाता है । ऐसा कहनेपर तो मति, अवधि, अवग्रह आदिका भी लक्षण बनाकर कहना चाहिये । क्योंकि यहां भी अपने वाचक शब्दके अर्थका व्यभिचार होरहा है । जिससे विचार किया जावे, उसको मति कहते हैं । यह यौगिक लक्षण इन्द्रियप्रत्यक्षोंमें नहीं जाता है । क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान विचार करनेवाला नहीं है । मर्यादा करनेको अवधि कहते हैं, वृष्टिके विघातको अवग्रह कहते हैं या चारों ओरसे ग्रहण करनेको अवग्रह कहते हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकारका कुतर्क नहीं करना चाहिये । क्योंकि उनके कारण, भेद, अधिकरण आदि विशेषताओंको कहनेवाले सूत्रों करके उन वाच्यार्थोंके व्यभिचारका परिहार करदिया जाता है । अर्थात् मतिज्ञानके कारण इन्द्रिय और अनिन्द्रिय बतलाये हैं, अवग्रह आदि भेद किये हैं । इससे सिद्ध है कि वह विचार करना ही मति नहीं है, किन्तु इन्द्रिय, मनसे होनेवाला ज्ञान मति है, जो कि विचाररूप व्याप्तिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान आदिसे अभिन्न है और नहीं विचार करनेवाले रासनप्रत्यक्ष, चाक्षुषप्रत्यक्ष आदिरूप भी है । ऐसे ही भवप्रत्यय, अनुगामी, विशुद्धि, स्वामि, आदिके निरूपणसे अवधि शब्दका अर्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादाको लिये हुए प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान होता है । तथा अर्थ और व्यञ्जनके बहु आदि भेदोंको विषय करनेवाले अवग्रहका भी अर्थ यह होता है कि इन्द्रिय और अर्थके योग्य देशमें स्थित होनेपर पैदा हुए सत्ताका आलोचन करनेवाले दर्शनके पीछे अवान्तरसत्ता-विशिष्ट वस्तुके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको अवग्रह कहते हैं ।

सम्यग्दर्शनस्य लक्षणसूत्रमनर्थकमेवं स्यात् कारणविशेषसूत्रादेव तच्छब्दार्थस्य व्यभिचारपरिहरणादिति चेन्न, निसर्गाधिगमकारणविशेषस्य प्रशस्तालोचनेऽपि भावाद्-

भिचारस्य तदवस्थानात् । न हि परोपदेशनिरपेक्षं निसर्गजं प्रशस्तालोचनं न सम्भवति परोपदेशापेक्षं वाधिगमजं प्रशस्तालोचनवदिति युक्तं सम्यग्दर्शनस्य पृथग्लक्षणवचनं शब्दार्थव्यभिचारात्, तदव्यभिचारे तद्वचान्यस्य मत्यादेर्ज्ञानचारित्रवदेव ।

चोद्यको उठानेवाला कहरहा है कि इस प्रकार तो सम्यग्दर्शनका लक्षण कहनेवाला सूत्र भी व्यर्थ हो जावेगा । क्योंकि सम्यक्त्वके निसर्ग और अधिगमरूप दो विशेष कारणोंको बतलानेवाले अग्रिमसूत्रसे ही या द्वितीय अध्यायमें कहे गये सम्यक्त्वके उपशम, क्षयोपशम आदि भेद तथा छठे अध्यायमें वैमानिक देवोंकी आयुष्यबन्धके कारण आदि प्रकरणोंसे सम्यग्दर्शन शब्दके उस समीचीन प्रकारसे देखनारूप अर्थका व्यभिचार दूर हो जाता है । अतः ज्ञान और चारित्रके लक्षणसूत्र जैसे नहीं कहे हैं वैसे ही सम्यग्दर्शनका लक्षणसूत्र भी नहीं कहना चाहिये । आचार्य कहते हैं कि शंकाकारका यह कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि सम्यग्दर्शनके निसर्ग और अधिगमरूप विशेष कारणोंके कहदेनेसे सम्यग्दर्शनका लक्षण नहीं हो सकता था । क्योंकि भले प्रकार देखनेमें भी परोपदेशसे होनापन और परोपदेशके विना होनापन विद्यमान है । अतः शब्दके अर्थका व्यभिचार दोष होना वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा । क्या दूसरोंके उपदेशकी नहीं अपेक्षा करके स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ बढिया चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं संभव है ? अर्थात् अवश्य होता है । जैसे कि दूसरोंके उपदेशसे पर्वत, नदी, प्रासाद आदिको प्रशंसनीयपनेसे लोग देखते हैं, अनेक प्रेमी पुरुष दूसरोंके कहनेसे मनोहर भव्य दृश्योंको भले प्रकार देखा करते हैं, ऐसे ही परोपदेशकी अपेक्षा करके अधिगमजन्य चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । तथा विना उपदेशके हुए चाक्षुष प्रत्यक्षमें भी उदयाभावी क्षय, सदवस्थारूप उपशम एवं क्षयोपशमरूप परिणति देखी जाती है । पूज्य तीर्थोंका, श्रीअर्हन्तदेवके प्रतिबिम्बका और मुनि महाराजोंका चाक्षुषप्रत्यक्ष (समीचीन देखना) भी देवायुके आस्रवका कारण है । सम्यग्दर्शनके समान चाक्षुषप्रत्यक्षका स्वामी भी वही आत्मा है । बढिया आलोचन माने गये चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शनमें भी उक्त कथन समानरूपसे लागू हो जाता है । अतः सम्यक्त्वका लक्षण किये विना कारण, स्वामी, आदिके प्रकरणोंसे ही अभीष्ट अर्थ नहीं निकलता है । इस कारण वाचक शब्दके वाच्य अर्थका व्यभिचार हो जानेसे सम्यग्दर्शनका लक्षण पृथक् रूपसे कहना युक्त है । और जहां उस अपने वाच्य अर्थके साथ व्यभिचार नहीं होता है वहां उस सम्यग्दर्शनके लक्षण निरूपणके सदृश (व्यतिरेक दृष्टांत) अन्य मति, अवधि आदिका लक्षण सूत्र नहीं कहा जाता है । जैसे कि ज्ञान और चारित्रके न्यारे लक्षणसूत्र कहे ही नहीं गये हैं (अन्वय दृष्टांत) । जिन अर्थोंके संज्ञा वाचक शब्द ही अपने अर्थको बढिया प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं, उसके लिये लक्षण बनाना व्यर्थ है । " अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् " यदि उदररोगको दूर करनेके लिये अकौआमेंसे ही पुष्परस प्राप्त हो जावे तो पर्वतपर जानेका कष्ट क्यों उठाया जावे ? ।

इच्छा श्रद्धानमित्येके तदयुक्तममोहिनः ।
श्रद्धानविरहासक्तेर्ज्ञानचारित्रहानितः ॥ १० ॥

एक प्रकारकी भली इच्छाको श्रद्धान कहते हैं । इस प्रकार कोई एक कह रहे हैं, वह उनका कहना तो युक्तियोंसे रहित है । क्यों कि यदि श्रद्धानका अर्थ इच्छा करना होगा तो मोहरहित साधुओंके श्रद्धानसे रहितपनेका प्रसङ्ग होगा । इच्छा तो मोहकी पर्याय है । जिन वीतरागोंके मोहका उदय नहीं है, उनके इच्छारूप श्रद्धानके भी नहीं होनेका प्रसङ्ग होता है । जब सम्यग्दर्शन ही नहीं रहा तो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी भी हानि हो जावेगी । तथा च रत्नत्रयके विना उनकी मोक्ष भी कैसे होगी ? वे ऐसी दशामें इच्छावाले मोही जीवोंसे अच्छे मोक्ष—मार्गमें लगे हुए नहीं कहे जायेंगे ।

न ह्यमोहानामिच्छास्ति तस्या मोहकार्यत्वादन्यथा मुक्तात्मनामपि तद्भावप्रसङ्गात् ।

जिन महाशयोंके मोह नहीं है उनके इच्छा भी नहीं है । क्योंकि वह इच्छा होना मोहका कार्य है । अन्यथा यानी इच्छाको मोहका कार्य न मानकर आत्माका स्वभाव मानोगे तो मुक्त आत्माओंके भी उस इच्छाके सद्भावका प्रसंग होगा ।

हेयोपादेययोर्जिहासोपादित्सा च विशिष्टा श्रद्धा वीतमोहस्यापि सम्भवति तस्या मनःकार्यत्वादिति चेन्न, तस्या मनस्कार्यत्वे सर्वमनस्विनां तद्भावानुषङ्गात् ।

त्याग करने योग्य पदार्थोंके छोडनेकी इच्छा ऐसी विशिष्ट इच्छाको हम श्रद्धान कहते हैं । वह श्रद्धा तो मोहरहित साधुओंके भी सम्भवती है । क्योंकि वह विशिष्ट प्रकारकी इच्छा मोहका कार्य नहीं है, किंतु वह तो विचार करनेवाले मनका कार्य है । यदि आप कोई ऐसा कहेंगे, सो तो ठीक नहीं है । क्योंकि यदि उस इच्छाको मनका कार्य माना जावेगा तो साधुओंके समान मनवाले सभी जीवोंके छोडने योग्य व्यभिचार, असत्य, अभक्ष्यभक्षण, मद्य, मांस आदिके छोडनेकी वह इच्छा होनी चाहिये और ग्रहण करने योग्य ब्रह्मचर्य, सत्य, शुद्ध भोजन, संयम आदिके ग्रहण करनेकी इच्छाके सद्भावका प्रसंग होगा, किंतु ऐसा देखा नहीं जाता है । कोई विरल, उदासीन विचारशाली भव्यजीव ही हेय उपादेयमें हान, उपादानकी इच्छा रखते हैं । शेष जीवोंकी तो अनर्गल प्रवृत्ति हो रही है ।

ज्ञानापेक्षं मनः कारणमिच्छाया इति चेन्न, केषांचिन्मिथ्याज्ञानभावेप्युदासीनदशायां हेयेषूपादित्सानवलोकनात् उपादेयेषु च जिहासाननुभावात्, परेषां सम्यग्ज्ञानसद्भावेऽपि हेयोपादेयजिहासोपादित्साविरहात् ।

सर्व ही मनस्वी जीवोंके मनका कार्य इच्छा नहीं है किन्तु सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाले मनरूप कारणका कार्य विशिष्ट श्रद्धा करना है। अतः सभी मनस्वियोंके हेय उपादेयकी इच्छा होनेका प्रसंग नहीं है। ऐसा कहोगे सो भी ठीक नहीं है। क्यों कि किन्हीं किन्हीं मिथ्यादृष्टी जीवोंके मिथ्याज्ञानके होते हुए भी उदासीन अवस्था हो जानेपर हेय पदार्थोंमें ग्रहण करनेकी अभिलाषा नहीं देखी जाती है और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंमें छोडनेकी इच्छा नहीं जानी जा रही हैं अर्थात् मिथ्याज्ञानके होते हुए भी वे उदासीन अन्य लोग झूंठ, चोरी, व्यभिचार आदि छोडने योग्य भावोंमें छोडनेकी इच्छा रखते हैं और ग्रहण करने योग्य ब्रह्मचर्य, सत्संगति, उपेक्षा आदि भावोंमें ग्रहण करनेकी इच्छा रखते हैं। अतः सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाले मनके साथ इच्छाका कार्य कारण भाव बनानेमें व्यतिरेक व्यभिचार आता है। तथा दूसरे सम्यग्दृष्टी धनी कुटुम्बी श्रावकोंके सम्यग्ज्ञान के होनेपर भी रागद्वेषकी तीव्रता होनेपर छोडने योग्य कुटुम्ब, धन और आरम्भसे हुई हिंसा तथा सूक्ष्म झूंठ, आदिमें त्यागनेकी इच्छा नहीं है और ग्रहण करने योग्य दीक्षा लेना, अखण्ड ब्रह्मचर्य, अचौर्य महाव्रत, शुक्लध्यान आदिमें ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं देखी जाती है। इसलिए कारणके होनेपर भी कार्यके न होनेसे इच्छा और ज्ञानापेक्ष मनके कार्यकारण भावमें अन्वय व्यभिचार भी हुआ।

विषयविशेषापेक्षान्मनसस्तदिच्छाप्रभव इत्यपि न युक्तं, तदभावेऽपि कस्याचिदिच्छोत्पत्तेस्तद्भावेऽपि चेच्छानुद्भवात्।

यहां कोई यों कहे कि विशेष विषयोंकी अपेक्षा रखनेवाले मनसे उस इच्छाकी उत्पत्ति होती है अर्थात् संसारसे वैराग्य करानेवाले विलक्षण विषयोंका सहकारी रखते हुए मनःसे वह श्रद्धानरूप इच्छा उत्पन्न हो जाती है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह भी कहना युक्तियोंसे रहित है। क्यों कि किसीके उस कारणके न होते हुए भी इच्छा उत्पन्न हो जाती है और कारणके होनेपर भी अन्य किसी जीवके वह इच्छा उत्पन्न नहीं होती है। यहां भी अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार दोष विद्यमान हैं। सांसारिक विषयोंमें उपेक्षा [उदासीन] रखनेवाले मनसे इच्छाकी उत्पत्ति मानने पर भी उक्त दोनों व्यभिचार दोष हो जाते हैं। कभी कभी किसी पुण्यशाली राजा, महाराजाको वैराग्य हो जाने पर भी धर्मकी, राज्यकी और कुटुंबकी तथा धर्मायतनोंकी व्यवस्था करनेके लिए गृहस्थ-अवस्थामें रुका रहना पडता है। इनका ठीक प्रबन्ध हो जानेपर वे जिनदीक्षा को धारण करते हैं। राज्य आदिका सञ्चालन करते हुए भी पांचवां गुणस्थान बना रहता है। किन्तु मुनि अवस्थामें तीन शल्यके हो जानेपर छटवां सातवां तो दूर रहा, पांचवां चौथा गुणस्थान भी नहीं रक्षित रहता है। तथा बाहुबलिस्वामीके संपूर्ण साम्राज्यका विजय करनेपर भोगोपभोग हो जानेसे एकदम इतना वैराग्य होगया कि पुत्रको राज्य देना आदि व्यवस्थाके लिए भी इच्छा न हुई और तत्क्षण महाव्रती बन गये।

कालादयोऽनेनैवेच्छाहेतवो विध्वस्ताः, तेषां सर्वकार्यसाधारणकारणत्वाच्च नेच्छाविशेषकारणत्वनियमः ।

विशिष्ट समय, विलक्षण क्षेत्र, आकाश आदि पदार्थ तो इच्छाके सहकारी कारण हो जाते हैं, यह बात भी इस व्यभिचार दोष हो जानेके कारण ही खण्डित कर दी गयी है। क्योंकि वे काल आदिक तो सम्पूर्ण कार्योंके प्रति साधारण कारण हैं । अतः उनके साथ हेय, उपादेयकी विशिष्ट इच्छाके कारणपनेका नियम नहीं हो सकता है । जो सभी कार्योंके साधारण कारण हैं वे विशिष्ट कार्यके होनेमें नियामक नहीं हो सकते हैं ।

स्वोत्पत्तावदृष्टविशेषादिच्छाविशेष इति चेत्, भावादृष्टविशेषाद् द्रव्यादृष्टविशेषाद्वा ? प्रथमकल्पनायां न तावत् साक्षात् भावादृष्टस्यात्मपरिणामस्येच्छाव्यभिचारित्वात् । परम्परया चेत्तर्हि द्रव्यादृष्टादेव साक्षादिच्छोत्पत्तिस्तच्च द्रव्यादृष्टं मोहनीयाख्यं कर्म पौद्गलिकमात्मपारतन्त्र्यहेतुत्वादुन्मत्तकरसादिवदिति मोहकार्यमिच्छा कथममोहानामुद्भवेत् ? यतस्तल्लक्षणं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तेषां स्यात् । तदभावे न सम्यग्ज्ञानं तत्पूर्वकं वा सम्यक्चारित्रमिति क्षीणमोहानां रत्नत्रयापायान्मुक्त्यपायः प्रसज्येत । ततस्तेषां तद्व्यवस्थामिच्छता नेच्छा श्रद्धानं वक्तव्यम् ।

पूर्वपक्षवाले कहते हैं कि अपनी उत्पत्तिमें विशेष पुण्य, पापसे विशिष्ट इच्छाके उत्पन्न होनेका नियम कर लिया जावेगा । जैसे कि विशिष्ट ज्ञानके होनेका नियामक विशिष्ट क्षयोपशम है। या रोगी नीरोग, धनी निर्धन, मूर्ख पण्डित, आदिकी व्यवस्था करनेवाला अन्तरंग पुण्य पाप कर्म माना जाता है । संसारके सभी विशेष कार्योंमें अदृष्ट नियामक है । ग्रंथकार बोलते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम पूंछते हैं कि कर्मोंके उदयसे होनेवाले अज्ञान, लोभ, असाता, सुभगता, साता रूप सुख, राग, आदि जो कि आत्माके विभाव परिणाम माने गये हैं, ऐसे भावकर्म विशेषसे इच्छाकी उत्पत्ति मानोगे या पौद्गलिक द्रव्यकर्मविशेषसे इच्छा होनेकी व्यवस्था करोगे ? बताओ। तिनमें पहिली कल्पना करनेपर तो भाव कर्मोंका और इच्छाका अव्यवहितरूपसे कार्यकारणभाव होना ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि भावकर्म आत्माका परिणाम है, वह इच्छाके साथ व्यभिचारी है अर्थात् आत्मामें कर्मका फल होनेपर अव्यवहित उत्तरकालमें कभी कभी इच्छा उत्पन्न होती हुयी नहीं देखी जाती है और कभी कभी इच्छाके अनुकूल कर्मका उदय स्थूलरूपसे न होनेपर भी इच्छा उत्पन्न हो जाती है । इच्छा स्वयं भाव है । वह द्रव्य कर्मोदयका साक्षात् कार्य है । भावकर्म का परम्परासे कार्य औदयिक भाव हो सकता है । साक्षात् कार्य नहीं । भावकर्मसे पौद्गलिक द्रव्यकर्मका बंध होगा । उसके उदय कालमें इच्छा उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः विचारा जाय तो इच्छाकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण आत्माका पुरुषार्थ माना गया है । दैव गौण कारण है । यदि अव्यवहितरूपसे कार्यकारण भाव न मानकर भावका इच्छाके साथ परम्परासे कार्यकारणभाव मानोगे तब तो द्रव्यकर्मसे ही अव्य-

बहिलकालमें इच्छाकी उत्पत्ति हुयी ! यह द्वितीयपक्षका खण्डन किया ! अस्तु, यह द्रव्यकर्म तो मोहनीय नामक कर्म है, आत्माका गुण नहीं है। जैसा कि वैशेषिक वादी अदृष्टको आत्माका गुण मानते हैं, आत्माका गुण स्वयं आत्माको पराधीन करनेका हेतु नहीं हो सकता है। अतः अनुमान करते हैं कि वह आत्मासे बंधा हुआ मोहनीय कर्म पुद्गल द्रव्यका बना हुआ है। क्योंकि आत्माको पराधीन करनेका कारण है जैसे कि उन्माद करानेवाले धतूरेका रस, अहि-फेन, मद्य, भंग आदि पौद्गलिक हैं। इस कारण इच्छा करना मोहनीय कर्मका ही कार्य सिद्ध हुआ। ऐसी इच्छा उन मोहरहित साधुओंके भला कैसे उत्पन्न हो सकेगी ? भला तुम ही विचारो, जिससे कि इच्छास्वरूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका लक्षण हो सके, और वह वीतरागोंके पाया जा सके। अर्थात् ग्यारहवें बारहवें या तेरहवें गुणस्थानोंमें इच्छारूप सम्यग्दर्शन नहीं पाया जा सकेगा, और जब सम्यग्दर्शन ही न होगा तो उसको पूर्ववर्त्ती कारण मानकर उत्पन्न होनेवाले सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रगुण भी वहां नहीं पाये जावेंगे। इस प्रकार मोहको क्षय करनेवाले बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती मुनि महाराजोंके रत्नत्रय न होनेके कारण मुक्तिके अभाव होनेका प्रसंग हो जावेगा। जिनके रत्नत्रयरूप कारण नहीं है उनके मोक्षरूपी कार्य भला कैसे हो सकता है ? तिस कारण उन मोहरहित जीवोंके उस रत्नत्रयकी व्यवस्थाको चाहनेवाले विद्वानोंकरके इच्छाको श्रद्धान नहीं कहना चाहिये। किन्तु श्रद्धान करना आत्माका विशेष गुण है। प्रतिपक्षी कर्मोंके दूर होजानेपर विभाव परिणाम हटते हुये आत्मामें स्वभावरूपसे स्वयं उत्पन्न हो जाता है। अतः सूत्रकारको सम्यग्दर्शनका पारिभाषिक लक्षण करना न्याय्य मार्ग है। यही धर्म है।

निर्देशाल्पबहुत्वादिचिन्तनस्याविरोधतः।
श्रद्धाने जीवरूपेऽस्मिन्न दोषः कश्चिदीक्ष्यते ॥ ११ ॥

तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना आत्माका स्वभाविक स्वरूप है। ऐसा माननेपर भविष्यमें कहे जानेवाले निर्देश स्वामित्व, सत्संख्या आदि सूत्रोंके अनुसार नामकथन करना, थोडा बहुतपन बतलाना, साधन, स्वामी, अधिकरण आदिके विचार करनेका कोई विरोध नहीं पडता है। और सम्यग्दर्शनके इस लक्षणमें अव्याप्ति आदि कोई लक्षणका दोष भी नहीं दीखता है तथा लक्षणवाक्यको ज्ञापकहेतु बनानेपर हेतुके व्यभिचार आदि दोषोंकी भी सम्भावना नहीं है।

न हि निर्देशादयो दर्शनमोहरहितजीवस्वरूपे श्रद्धाने विरुध्यन्ते तथैव निर्देशादिसूत्रे विवरणात्, नाप्यल्पबहुत्वसंख्याभेदान्तरभावाः पुरुषपरिणामस्य नानात्वसिद्धेः।

सम्यग्दर्शनके प्रतिपक्षी होरहे दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे रहित जीवका स्वाभाविकरूप श्रद्धानको माननेपर निर्देश, स्थिति, भाव, अन्तर आदि द्वारा श्रद्धानका निरूपण करना विरुद्ध नहीं होता है। क्योंकि इस प्रकारसे ही भविष्यके निर्देश, स्वामित्व, और सत्संख्या आदि सूत्रोंमें श्रद्धानका

स्पष्टीकरण किया है। तथा थोडापन और बहुतपना संख्यात असंख्यातरूप संख्याओंके भेद अथवा विवक्षित गुणको छोडकर पुनः उसकी प्राप्ति करनेतकका विरहकालरूप अन्तर या औपशमिक क्षायिक आदि भाव ये भी विरुद्ध नहीं पडते हैं। क्योंकि आत्माके श्रद्धानस्वरूप परिणामोंको नानापन, अल्पपन, कर्मोंके उपशमसे होनापन आदि अनेक धर्म सहितपना सिद्ध है। भावार्थ—भविष्यके सूत्रोंकी घटना श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन माननेसे ठीक बनजाती है तथा भविष्यसूत्रोंके अनुसार भी सम्यग्दर्शनका श्रद्धान लक्षण करना अनुकूल पडता है।

पुरुषरूपस्यैकत्वात् तत्र तद्विरोध एवेति चेन्न, दर्शनमोहोपशमादिभेदापेक्षस्य तस्यैकत्वायोगात्। अन्यथा सर्वस्यैकत्वापत्तिः कारणादिभेदस्याभेदकत्वात्। क्वचित्तस्य भेदकत्वे वासिद्धः पुरुषस्य स्वभावभेदः। इति जीवद्रव्याद्भेदेन निर्देशादयस्तत्र साधीयांसोऽल्पबहुत्वादिवदिति वक्ष्यते।

किसीका कहना है कि सम्यग्दर्शन जब आत्माका स्वभाव मान लिया गया है और आत्माका स्वरूप एक ही है, ऐसी दशामें अल्पपना, बहुपना औपशमिकपना, क्षायिकपना, विरह होना आदि उन भावोंके होनेका उस श्रद्धानमें विरोध ही है। आचार्य समझाते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि हम स्याद्वादी सभी प्रकारोंसे आत्माको एकरूप नहीं मानते हैं। दर्शनमोहनीयके उपशम या क्षय तथा चौथे गुणस्थान, सातवें गुणस्थान, देवपर्यायमें स्थिति, उपशम सम्यक्त्वमें स्थिति, आदि भेदोंकी अपेक्षासे उस आत्माको एकपना सिद्ध नहीं है। अन्यथा यानी भेदकोंके होनेपर भी आत्माको सर्वथा एक मानलिया जावेगा। तब तो सर्व ही आत्मायें या जीव, पुद्गल, आकाश, काल, आदि अनेकद्रव्य भी एक हो जावेंगे, यह आपत्ति हुई। क्योंकि कारणोंका भेद, गुणोंका भेद, व्यक्तिभेद, आकारभेद आदिको तो आपने भेद करनेवाला इष्ट किया ही नहीं है। ऐसी दशामें तो ब्रह्माद्वैतवाद या जडका अद्वैत छा जावेगा। इस दोषका धारण करनेके लिये यदि कहीं उन कारण आदिके भेदोंको पदार्थोंका भेद करनेवाला मानोगे तब तो आत्माके भी औपशमिक आदि स्वभावोंका भेद हो जाना सिद्ध हो जाता है। यों सर्वथा भेद तो जड और चेतनमें भी नहीं है। सत्पनेसे, वस्तुपनेसे और द्रव्यपनेसे तथा संग्रहनयकी अपेक्षासे सभी अभिन्न हैं। सर्व पदार्थ सत्स्वरूप हैं। आत्मा भेदाभेदरूप है। एकानेक स्वरूप है। इस प्रकार जीव द्रव्यसे श्रद्धान गुणकी भेदविवक्षा करनेपर उसमें निर्देश, स्वामित्व, आदिक बहुत अच्छे प्रकारसे साधु सिद्ध हो जाते हैं। जैसे कि थोडापन, बहुतपना, साधन, अधिकरण आदि धर्म श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनमें बन जाते हैं। इस बातको ग्रन्थकार आगे स्वयं कहेंगे।

कर्मरूपत्वेऽपि श्रद्धानस्य तद्विरोध इति चेन्न, तस्य मोक्षकारणत्वाभावात्, स्वपरिणामस्यैव तत्कारणत्वोपपत्तेः। कर्मणोऽपि मुक्तिकारणत्वमविरुद्धं स्वपरनिमित्तत्वान्मोक्षस्येति चेन्न, कर्मणोन्यस्यैव कालादेः परनिमित्तस्य सद्भावात्।

फिर शंकाकारका कहना है कि श्रद्धानको पुद्गलका बना हुआ कर्मरूप भी माना जावे तो भी ये निर्देश, अल्पपना, बहुपना आदि बन सकते हैं, कोई विरोध नहीं है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि कर्मको मोक्षके कारणपनेका अभाव है। आत्माके निज स्वाभाविक परिणामको ही उस स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्षकारणपना सिद्ध है। यदि कोई यों कहे कि पौद्गलिक कर्मको भी मोक्षका कारणपना होनेमें कोई विरोध नहीं दीखता है, क्योंकि मोक्ष स्व यानी आत्मा और पर यानी दूसरे द्रव्योंके निमित्तसे होनेवाला कार्य है। आचार्य उत्तर देते हैं कि इस प्रकार नहीं कह सकते हो। क्योंकि मोक्षरूपी कार्यमें आत्मा उपादान कारण है और अन्य निमित्त कारण हैं। यहां पर शब्दसे काल, आकाश, तीर्थस्थान आदि निमित्त कारणोंका ही विद्यमान होना माना गया है। इससे भिन्न होरहे कर्मको मोक्षमें निमित्तपना नहीं है। यथार्थमें पूंछो तो ज्ञानावरण आदि कर्म प्रत्युत संसारके कारण हैं। कर्मोका नाश करनेके लिये ही तो मुमुक्षुका प्रयत्न है। जिस पदार्थका नाश करना है, वह उस कार्यमें क्या सहायता कर सकता है ? घटके ध्वंस करनेमें घटको कारणता इस प्रकार भी इष्ट नहीं है कि घट नहीं होता तो ध्वंस किसका किया जाता ? क्योंकि कार्यकालमें एक क्षण पहिलेसे रहते हुए कार्योत्पत्तिमें सहायता करनेवाले अर्थको निमित्त-कारण कहते हैं। घटके ध्वंसमें मुद्गर पाषाण आदिका अभिघात कारण है।

ननु च यथा मोक्षो जीवकर्मणोः परिणामस्तस्य द्विष्ठत्वात् तथा मोक्षकारणश्रद्धानमपि तदुभयविवर्तरूपं भवत्विति चेन्न, मोक्षावस्थायां तदभावप्रसंगात्, स्वपरिणामिनोऽसत्त्वे परिणामस्याघटनात्, पुरुषपरिणामादेव च कर्मसामर्थ्यहननात्तस्य कर्मरूपत्वायोगात्। ततो न कर्मरूपं सम्यग्दर्शनं निःश्रेयसप्रधानकारणत्वादहेयत्वात्सम्यग्ज्ञानवत्। निःश्रेयसस्य प्रधानं कारणं सम्यग्दर्शनमसाधारणस्वधर्मत्वाच्चद्वत्। असाधारणः स्वधर्मः सद्दर्शनं मुक्तियोग्यस्य ततोऽन्यस्यासम्भवात्तद्वत्। इति जीवरूपे श्रद्धाने सद्दर्शनस्य लक्षणे न कश्चिद्दोषोऽसम्भवोऽतिव्याप्तिरव्याप्तिर्वा समीक्ष्यते।

यहां और भी आक्षेपसहित शंका है कि जैसे मोक्षरूपी कार्य जीव और कर्म इन दोनोंमें रहनेवाली पर्याय है, क्यों कि वह मोक्ष यानी दोनोंका छूट जाना दोमें रहनेवाला धर्म है। मुक्त अवस्थामें आत्मा स्वतंत्र हो जाता है। कर्म भी आत्मासे अपना पिण्ड छुडाकर स्वतंत्र हो जाता है। किंतु वह स्कन्ध है। अतः अशुद्ध है तथा जड है, इसलिए प्रशंसा नहीं पाता है। वास्तवमें मोक्षपर्याय दोनोंमें रहती है। जैसे कि संयोग, विभाग, द्वित्व त्रित्व संख्या ये दो आदिमें रहनेवाले धर्म हैं, इस ही प्रकार मोक्षका कारण श्रद्धान गुण भी उन जीव और पुद्गल दोनोंका पर्यायस्वरूप हो जाना चाहिए। कार्यके अनुरूप ही कारण हुआ करते हैं। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि श्रद्धानगुणको भी बन्धके समान यदि जीव और पुद्गल दोनोंका परिणाम माना जावेगा तो मोक्षदशामें उस श्रद्धान

गुणके अभाव हो जानेका प्रसंग होगा। जब कि परिणमन करनेवाला कर्म ही नहीं रहा तो श्रद्धान रूप पर्याय भला मोक्षमें कैसे बन सकेगी? अपने परिणामीके न होनेपर परिणामका होना नहीं घटित होता है। तथा आत्माके रत्नत्रयस्वरूप परिणामोंसे ही उस कर्मकी आत्माका विभावपरिणाम करनेवाली शक्तिका नाश कर दिया जाता है। तब ज्ञानावरण आदिमें कर्मरूपपना ही नहीं रहता है, जैसे कि शाणके द्वारा मणिके मलका पृथक्करण कर देनेपर उसका मलपना ही नष्ट हो जाता है। अग्निद्वारा सुवर्णके कीट, कालिमाका मलपना नष्ट कर दिया जाता है। कालान्तरमें दूसरे पदार्थोंके साथ संसर्ग होनेपर भले ही वह मल बन जावे, किंतु वर्तमानमें शुभभावोंके निर्जराको प्राप्त हुए कर्मोंकी कर्मपनारूप पर्याय और कार्मणवर्गणारूप पर्यायका तो ध्वंस कर दिया जाता है। यों पुद्गलद्रव्य किसी न किसी पर्यायकी अवस्थामें तो रहेगा ही, प्रकृतमें जब आपका माना हुआ कर्म-पर्यायी ही न रहा तो सम्यग्दर्शनको उस कर्मकी पर्याय कैसे कहते हो? समझो तो सही। इस कारण अनुमान बनाकर आचार्य महाराज कहते हैं कि सम्यग्दर्शन गुण (पक्ष) पौद्गलिक कर्मरूप नहीं है (साध्य) मोक्षका प्रधानकारणपना होनेसे (पहिला हेतु) क्योंकि आत्माका स्वाभाविक परिणाम होनेके कारण वह सम्यग्दर्शन गुण त्यागने योग्य नहीं है (दूसरा हेतु), जैसे कि सम्य-ग्ज्ञान (दृष्टान्त) है अर्थात् सम्यग्ज्ञानके समान सम्यग्दर्शन मोक्षका प्रधान कारण है। आत्मीय भाव ही मोक्षके प्रधान कारण हो सकते हैं। सर्वथा विजातीय परद्रव्य नहीं, तथा ज्ञान, सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणोंका पिण्डरूप ही आत्मद्रव्य है। यदि गुणोंको द्रव्य छोड देता होता तो मूलसे ही द्रव्य नष्ट हो चुका होता, किंतु ऐसा नहीं है। अतः तीनों कालोंमें इनको नहीं छोड सकता है। यहां कोई हेतुके असिद्ध हो जानेकी सम्भावना न कर बैठे इसलिये उक्त अनुमानमें दिये गये हेतुको साध्य कोटिमें लाकर सिद्ध कर देते हैं कि सम्यग्दर्शन (पक्ष) मोक्षका प्रधान कारण है (साध्य) आत्माका अन्यमें सर्वथा न पाया जावे ऐसा अपना असाधारण धर्म होनेसे (हेतु) जैसे कि वही सम्यग्ज्ञान (दृष्टान्त) है, इस अनुमानके हेतुको भी साध्य बनाकर पुष्ट करते हैं कि सम्यग्दर्शन गुण (पक्ष) असाधारण होकर आत्माका निजधर्म है (साध्य) क्योंकि मोक्षके सर्वथा योग्य उससे भिन्न कोई दूसरा कारण आत्मामें विद्यमान नहीं है (हेतु) जैसे कि वही सम्यग्ज्ञान (दृष्टान्त)। इस प्रकार यहांतक सम्यग्दर्शनका लक्षण जीवका स्वाभाविक परिणाम श्रद्धान है इसको सिद्ध कर दिया गया है। इस सम्यग्दर्शनके सर्वाङ्ग सुन्दर लक्षणमें कोई भी असम्भव, अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्तिरूप दोष नहीं देखे जाते हैं। अतः सूत्रकारके द्वारा किया गया सम्यग्दर्शनका लक्षण निर्दोष है।

सरागे वीतरागे च तस्य सम्भवतोंजसा।
प्रशमादेरभिव्यक्तिः शुद्धिमात्रा च चेतसः॥ १२॥

जो लक्षण अपने लक्ष्योंमें व्यापकरके घटित हो जाता है वह समीचीन लक्षण है। प्रकृतमें उस सम्यग्दर्शनका निर्दोष लक्षण भी सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्वमें शीघ्र स्पष्ट रूपसे संभवता है। प्रशम आदि यानी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यसे शुभरागसहित जीवोंमें रहनेवाले सराग सम्यग्दर्शनकी प्रकटता हो जाती है और रागरहित जीवोंमें आत्माकी केवल चित्तविशुद्धिसे ही वह वीतरागसम्यग्दर्शन लक्षित हो जाता है।

यथैव हि विशिष्टात्मस्वरूपं श्रद्धानं सरागेषु संभवति तथा वीतरागेष्वपीति तस्याव्याप्तिरपि दोषो न शंकनीयः।

जैसे ही दर्शन मोहनीयके उदयरहित विशिष्ट आत्माका स्वाभाविकस्वरूप श्रद्धान ठीक सराग सम्यग्दृष्टियोंमें सम्भवता है, इसी प्रकार वीतरागजीवोंमें भी स्वाभाविकपरिणामरूप श्रद्धान विद्यमान है। इस कारण उस सम्यग्दर्शनके लक्षणमें अव्याप्ति दोष होनेकी भी शंका नहीं करनी चाहिये। लक्ष्यके पूरे भेद प्रभेदोंमें जो लक्षण व्यापता है वह अव्याप्त नामका लक्षणाभास नहीं है। जिस शंकाकारने अव्याप्तिदोष देनेका ही प्रकरण उठाया है, उसके यहां अतिव्याप्ति और असम्भव दोषकी सम्भावना तो पहिलेसे ही नष्ट हुई समझना चाहिये। अतः यह लक्षण निर्दोष है।

कुतस्तत्र तस्याभिव्यक्तिरिति चेत्, प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्येभ्यः सरागेषु सद्दर्शनस्य वीतरागेष्वात्मविशुद्धिमात्रादित्याचक्षते।

अब आप जैन जन यह बतलाइये कि उन सम्यग्दृष्टि जीवोंमें उस सम्यग्दर्शनका प्रगटपना कैसे जाना जाता है ?, इस प्रकार प्रश्न होनेपर श्रीविद्यानंद आचार्य स्पष्टरूपसे यह कथन करते हैं कि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार स्वभावोंसे रागी जीवोंमें सम्यग्दर्शनकी ज्ञप्ति हो जाती है और वीतराग जीवोंमें केवल आत्माकी विशुद्धिसे ही सम्यग्दर्शन व्यक्त हो जाता है।

तत्रानन्तानुबन्धिनां रागादीनां मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्चानुद्रेकः प्रशमः।

उन चार भावोंमेंसे पहिले प्रशमका लक्षण यह है कि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियोंके उदयसे होनेवाले रागद्वेष स्वरूप अचारित्र आदिकोंका उद्रेक न होने, और मिथ्यात्व तथा सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतियोंका उदय न होने तथा उदीरणा भी न होवे, ऐसी दशामें होनेवाली आत्माकी उत्कृष्ट शांतिको प्रशम कहते हैं। यह प्रशमका लक्षण चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके सम्यग्दृष्टियोंमें घट जाता है और पहिले, दूसरे, तीसरे गुणस्थानोंमें अतिव्याप्ति भी नहीं हो पाती है। क्योंकि अनंतानुबंधीके उदय एवं उदीरणाका निषेध हो जानेसे दूसरे गुणस्थानके और मिथ्यात्वका उदय रोकदेनेसे पहिलेके तथा सम्यङ्मिथ्यात्वके उदयको रोकदेनेसे तीसरे गुणस्थानके भावोंको प्रशमपनेका निवारण कर दिया गया है, ऐसा प्रशम तो अभव्य, दूरभव्य, और द्रव्यलिङ्गीके नहीं पाया जाता है।

द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरिवर्तनरूपात् संसाराद्भीरुता संवेगः।

नोकर्मवर्गणा और कार्माणवर्गणाओंका उतनी ही संख्यामें पुनः उन्हींका आत्मासे बन्ध होनेके अन्तरालकालतक संसारमें परिभ्रमण करना एक द्रव्यपरिवर्तन है। भावार्थः—जिनके यहां हजारों रुपयोंका आना जाना बना रहता है उनकी दुकानपर आजके नियत वे के वे ही रुपये आ जावेंगे। किन्तु लाखों वर्ष लगेंगे, मुद्रापरिवर्तन और मुद्राओंकी पूर्ण संख्या मालुम हो जानेपर गणितके अनुसार लाखों वर्षोंकी ठीक संख्या भी निकाली जा सकती है। तैसे ही अतीन्द्रियदर्शी सर्वज्ञदेवने अनन्त जीव और पुद्गलोंकी ठीक संख्याको जानकर घूमते हुए चक्रमें पुनः उन्हींके दुबारा सन्मुख आनेकी मर्यादा बतला दी है। उतने कालको हम द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। केवलीको उस कालका हथेलीके समान प्रत्यक्ष है। सुमेरुपर्वतके ठीक बीच जडमें जो आकाशके आठ प्रदेश हैं, वे ही सम्पूर्ण अलोकाकाश या लोकाकाशके ठीक बीचले प्रदेश हैं। वे आत्माकी सबसे छोटी अवगाहना घनाङ्गुलके असंख्यातवें भागरूप असंख्यातप्रदेशवाली है। इससे कम नहीं। अतः उन आठ प्रदेशोंको अपने शरीरके बीचमें देकर घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग सूक्ष्म अवगाहनाके प्रदेशोंकी संख्या बरोबर असंख्यात बार शरीरोंको धारण करता हुआ जन्म लेवे। उसके अनंतर एक एक प्रदेशको अधिक बढाता हुआ सम्पूर्ण लोकको अपना जन्मक्षेत्र बना लेवे। उतने समय तकके संसारपरिभ्रमणको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। यदि एक प्रदेश भी आगे पीछे जन्म होजावेगा तो वह नहीं संभाला जावेगा, जिस नियत एक प्रदेशकी अधिकतासे जन्म लेनेका यथाक्रम आरहा है उसी क्रमसे जन्म चाहिये। लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं, उतनी बार कठिन यथाक्रमको पूरा करना है। अतः घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग बार तक सूक्ष्म अवगाहनासे ही जन्म लिया जावेगा, एक एक यथाक्रमके आनेमें असंख्याते जन्म हो जावेंगे, उनकी लेकरीख्या गणना नहीं की जाती है। उत्सर्पिणीके पहिले समयमें उत्पन्न होकर कोई जीव अपनी आयुको भोगकर मर गया, फिर अनेक भवोंको भोगकर उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ। यदि पहिले और तीसरे समयमें उत्पन्न होगा तो यह यथाक्रम (नम्बर) हाथसे निकल जावेगा। यों ठीक क्रमके अनुसार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सम्पूर्ण समयोंके जन्मकी निरन्तरता और मरणकी निरन्तरतासे निकालते हुए जितने कालतक भवभ्रमण होता है उसको कालपरिवर्तन कहते हैं। एक एक यथाक्रमके मध्यमें हुए असंख्याते इधर उधर समयोंके जन्म मरणोंकी गणना नहीं होती है। क्रमप्राप्त ठीक समयके जन्म मरणोंको संभालकर ही कल्पकालको पूरा करना है। इसमें असंख्याते कल्पकाल बीचमें लग जाते हैं, अनन्त भी लग जाते हैं, किन्तु यह बात अठीक नहीं, सत्य है। अनादिसे अनन्ततक काल बहुत लम्बा है। नरकगतिमें दशसहस्र वर्षकी जघन्य आयुके जितने समय हैं उतनी बार प्रथम नरकमें जघन्य आयुसे जन्म लेवे और क्रमसे एक एक समय बढाता हुआ तेतीस सागरपर्यंत स्थितिको सातों नरकोंमें पूर्ण कर देवे, यथाक्रममें आये हुए से एक समय भी कमती बढती होगा तो वह संभाला

नहीं जावेगा । फिर जब कभी ठीक होगा सो गिना जावेगा । इसी प्रकार तिर्यग्गतिमें श्वासके अठारहवें भागरूप असंख्याते बार क्षुद्रभवोंको ग्रहण करता हुआ क्रमसे उत्तम भोगभूमिके तीन पल्योंकी स्थितिको धारण करे, ऐसे ही मनुष्यगतिमें क्रमसे परिवर्तन करे। तथा देवगतिमें भी नारकियोंके समान परिवर्तन करे, किंतु उत्कृष्ट स्थिति यहांपर इकतीस सागरतककी समझना । क्यों कि नौ अनुदिश और पांच पंचोत्तरके निवासी देवोंका संसार अत्यल्प रह जाता है । वे अनुदिश और अनुत्तर विमानोंसे च्युत होकर कर्मभूमिके मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनमेंसे कोई संयमको प्राप्तकर सौधर्म और ईशान स्वर्गमें उत्पन्न होकर फिर मनुष्य भवको प्राप्त कर लेते हैं, और संयमकी आराधना कर फिर भी विजयादिकोंमें उत्पन्न हो जाते हैं. वहांसे मनुष्य भव लेकर पुनः अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, कोई दूसरे जन्ममें ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । सर्वार्थसिद्धिके देव तो नियमसे एक भवतारी हैं, इन चारों गतियोंके उक्त क्रमसे किये गये परिभ्रमणको भवपरिवर्तन कहते हैं। कभी कभी कोरी शंका करनेवालोंकी बुद्धिमें ऐसे तर्क उठते हैं कि भवपरिवर्तनसे कालपरिवर्तनका और कालपरिवर्तनसे क्षेत्र परिवर्तनका समय बढा हुआ है। द्रव्य, क्षेत्र, काल,का क्रम प्रसिद्ध होरहा है । इस कारण ग्रन्थोंमें उसी क्रमसे संसारपरिभ्रमणके लक्षण लिखे हैं । देखिये, भवपरिवर्तनमें चारों गतियोंकी आयुः पूरी करनी पडती है, चारों गतियोंकी आयुःकालके चौंसठ सागर और छह पल्यके समयोंसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके बीस कोटाकोटी सागरके समय बहुत अधिक होते हैं। भावार्थ—चौंसठ सागर छह पल्यके जितने समय हैं, उतने बार यथाक्रम (ठीक ठीक नम्बर) से भवपरिवर्तनमें जन्म लेने पडते हैं और काल परिवर्तनमें बीस कोटाकोटी सागरके जितने समय हैं, उतने बार ठीक (नम्बर बार) जन्म लेने पडते हैं, अतः भवपरिवर्तनसे कालपरिवर्तन बडा है । दूसरी बात यह है कि सिद्धान्त गाथाके अनुसार कालपरिवर्तनमें जन्मके समान मरण भी यथाक्रमसे विवक्षित हैं । अतः बीस कोटाकोटीके समयोंकी संख्यावार मरण करना भी गिना जावेगा यों कालपरिवर्तनका समय वैसे ही दूना हो गया । तीसरी बात यह है कि छोटे समुदायका क्रम बडे समुदायक्रमसे अतिशीघ्र आ जाता है । कहां चौंसठ सागर छह पल्यका व्यवधान और कहां बीस कोटाकोटी सागरके बाद क्रम आना यह बहुत बडा है । इसी प्रकार काल परिवर्तनसे क्षेत्र परिवर्तनका समय भी अधिक प्रतीत होता है । क्योंकि काल परिवर्तनमें केवल बीस कोटाकोटी सागरके जितने समय हैं, उतने बार जन्म मरण धारण करने पडते हैं, और क्षेत्रपरिवर्तनमें तीनों लोकोंमें जितने प्रदेश हैं उतने बार जन्म लेने पडते हैं । सूच्यंगुलके असंख्यातवे भागमें जितने आकाशके प्रदेश हैं वे असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके समयोंसे कहीं असंख्यात गुणे अधिक हैं । सूच्यंगुलसे असंख्यात गुणा प्रतरांगुल है । तथा प्रतरांगुलसे घनांगुल, श्रेणी, जगत्प्रतर, और लोक ये उत्तरोत्तर असंख्यात असंख्यात गुणे हैं । कहां केवल सूच्यङ्गुलके असंख्यातवे भागरूप बीस कोटाकोटि सागरका व्यवधान और कहां लोकका व्यवधान, बडा भारी अन्तर है । तथा सम्भव है इससे भी द्रव्यपरिवर्तन बडा होवे। क्योंकि

द्रव्यपरिवर्तनमें अनन्तबार अगृहीतोंका ग्रहण कर पुन अनन्तबार मिश्रोंका ग्रहण कर फिर मध्यमें गृहीत पुद्गलोंका अनन्तबार ग्रहण कर पुनः वे के वे ही पुद्गल उस जीवके नोकर्मपनेको प्राप्त होते हैं। असंख्यातसे अनन्तसंख्या बहुत अधिक है। कदाचित् ऐसे पूर्वोक्त प्रकारसे भाव हृदयमें उत्पन्न हो जाते हैं, किंतु श्री गोमट्टसारजीकी टीकामें पांचों परिवर्तनोंको उत्तरोत्तर अनन्तगुणा कालवाला बतलाया है। अतः उक्त शंका करना प्रशस्त मार्ग नहीं है। एक भावपरिवर्तनके समयमें अनन्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं और अनन्तानन्त कालपरिवर्तन हो जाते हैं, तथा उससे अनंतगुणे क्षेत्र परिवर्तन और उससे भी अनंतगुणे द्रव्यपरिवर्तन हो जाते हैं। त्रिकाल त्रिलोकदर्शी सर्वज्ञ केवलज्ञानीके आम्नायानुसार चले आये हुए आगमसे जो निर्णीत हुआ है वही सत्यार्थ है। आगमके अनुसार चलनेवाली युक्तियां सुयुक्तियां हैं। और आगमके प्रतिकूल युक्तियोंको कुयुक्तियां कहते हैं। द्रव्यपरिवर्तनके अनंतकालसे क्षेत्रपरिवर्तनका काल अधिक है। क्योंकि तीन लोकमें थोडेसे स्थानपर स्थित होकर जन्म मरण करता हुआ भी अनेक द्रव्यपरिवर्तन कर सकता है। किंतु आकाशके प्रदेशोंपर यथाक्रमसे जन्म लेनेमें बहुत अधिक समय लगेगा। तीन लोकमें निगोद शरीरको धारण करता हुआ जन्म लेना सुलभ है, परंतु उत्सर्पिणीके समयोंका व्यवहार रखते हुए जन्म, मरण, करना विलम्बसाध्य कार्य है, तथा लोकाकाशके क्रमानुसार आये हुए प्रदेशोंपर तो दूसरीही आगेकी पर्यायमें जन्म लेना सम्भव है। किंतु कालपरिवर्तनमें तो एकबार जन्म ले चुकनेपर बीस कोटा कोटीसागरका अंतर डालना आवश्यक है। तब कहीं अग्रिम समयमें जन्म लेनेका नम्बर आ सकता है, एवं इसकी भी अपेक्षा उत्कृष्ट रूपसे केवल दो सहस्र सागरतक ठहरनेवाली त्रस व्यवहारराशिमें आकर मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यञ्चोंमें निगोद या स्थावरको छोडकर शेष तिर्यञ्चोंके जन्म लेना विलम्बसाध्य है। किसी भी देव, तिर्यंच, आदिकी पर्यायमें जन्म लेकर कल्पकालके समयोंको यथाक्रमसे पूरा किया जा सकता है। किंतु भवपरिवर्तनमें तो विवक्षित एक ही गतिमें उसके योग्य सभी जन्मोंको लेना पडेगा, तब दूसरी गतिका नम्बर प्रारम्भ किया जायगा। धवल आदि सिद्धांतग्रन्थोंके अध्ययनका जिनको अधिकार है वे विद्वान् इसका अधिक युक्तियोंसे निर्णय कर लेवें। हम इससे अधिक और क्या कहें कि आगमप्रमाणसे निर्णीत किये विषयोंमें अधिक युक्तियोंकी आवश्यकता नहीं है। इन सबसे भी बडा भावपरिवर्तन प्रसिद्ध ही है। जिसमें कि श्रेणीके असंख्यातवें भाग योग असंख्यातलोकप्रमाण कषायबंधाध्यवसायस्थान और उससे भी असंख्यातलोकगुणे अधिक अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थानोंपर पूर्वोक्त क्रमसे संज्ञी जीवके अन्तःकोटाकोटी प्रमाण कर्मोंकी स्थितिसे लेकर ज्ञानावरणकी तीस कोटाकोटी सागर तककी स्थिति समयाधिकक्रमसे पूर्ण की जाती है, इसी प्रकार कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त आठमुहूर्त्त आदिसे लेकर उत्कृष्टस्थिति पर्यंतवाली मूलप्रकृति और संपूर्ण एक एक उत्तरप्रकृतियोंका परिवर्तन करना पडता है। अनंतवर्षोंमें पूर्ण होनेवाले इस संपूर्ण संसरणका नाम भावपरिवर्तन है। इसमें भी जघन्य स्थितिके जितने समय हैं उतनी बार जघन्य स्थितिवाले कर्म बांधने पडेंगे, तभी

एक एक स्थितिबंध पूर्ण हो सकेगा । यहां भी सर्व व्यवस्था पूर्वके समान यथाक्रम (नंबर वार)
समझ लेना । इस प्रकार पांच परिवर्तनरूप संसारसे डरते रहनेको संवेग कहते हैं । यद्यपि सम्य-
ग्दृष्टि जीवके ईति, भीति आदिक कोई भय नहीं होता है, उसको अपनी मृत्युसे भी रंच मात्र भय
नहीं है, किंतु पाप कर्मोंसे डरता रहता है । अतः कुत्सितक्रियाओंकी निवृत्तिमें उपयोगी होरहा
ऐसा भय सम्यग्दृष्टिके माना है । इसको वैराग्य भी कहा जा सकता है । भय कर्मके उदय या
उदीरणासे होनेवाला यह भय नहीं है ।

त्रसस्थावरेषु प्राणिषु दयानुकम्पा । जीवादितत्त्वार्थेषु युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धेषु याथात्म्योपगमनमास्तिक्यम् ।

कहीं कहीं द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, आत्माओंको प्राणी और वनस्पतिकायिकोंको भूत
तथा पञ्चेन्द्रियोंको जीव एवं शेष आत्माओंको सत्व शद्बसे कहा है, किंतु ये सब त्रस और स्थावरोंमें
गर्भित हैं । अतः त्रस और स्थावर कायके जीवोंमें दयाभाव रखना अनुकम्पा गुण है । तथा समी-
चीन युक्ति और आगमके द्वारा अविरुद्ध रूपसे निर्णीत किये गये जीव, कर्म, स्वर्ग, मोक्ष, पुण्य,
पाप, आदि तत्त्वार्थोंमें वास्तविकपनेको स्वीकार करना आस्तिक्य गुण है । शद्बशास्त्रसे भी आस्तिक्य
शद्बकी निरुक्ति इस प्रकार है कि परलोक, पुण्य, पाप, मोक्ष आदि अतीन्द्रिय तत्त्वोंके माननेमें
जिसकी श्रद्धा है, उसको आस्तिक कहते हैं " अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः " आस्ति परलोक इत्येवं मति-
र्यस्य स आस्तिकः । आस्तिक पुरुषके भावको आस्तिक्य कहते हैं ।

एतानि प्रत्येकं समुदितानि वा स्वस्मिन् स्वसंविदितानि, परत्र कायवाग्व्यवहार विशेषलिंगानुमितानि सरागसम्यग्दर्शनं ज्ञापयन्ति, तदभावे मिथ्यादृष्टिष्वसम्भवित्वात्, सम्भवे वा मिथ्यात्वायोगात् ।

आत्माका स्वाभाविकगुण सम्यग्दर्शन तो परोक्ष है । सर्वज्ञसे अतिरिक्त जीवोंको उसका अनु-
मानसे ज्ञान होसकता है । प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य इनमेंसे एक एक गुण या ये
चारों ही एकत्रित होकर अपनी आत्मामें स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जाने जारहे हैं, वे ज्ञापक हेतु अपनेमें
सम्यग्दर्शनगुणका अनुमान करा देते हैं और अपनेमें साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति ग्रहणकर जानलिये
गये विलक्षण शरीरकी चेष्टा, वचनव्यवहार, प्रशान्तक्रिया, आदि विशेष ज्ञापक लिङ्गोंसे दूसरे आत्मा-
ओंमे प्रशम आदि गुणोंका अनुमान करलिया जाता है और फिर अनुमानसे जानेगये प्रशम आदि
ज्ञापक हेतु दूसरोंकी आत्मामें सरागसम्यक्त्वका अनुमान करादेते हैं । यह अनुमितानुमान है। प्रशम
आदि गुणोंकी सम्यग्दर्शन गुणके साथ समव्याप्ति है। व्यस्त और समस्त भी प्रशम आदि गुण ज्ञापक
हेतु हैं। परोक्ष सम्यग्दर्शनगुण साध्य है। सम्यग्दर्शनगुण अतीन्द्रिय है। यदि अतीन्द्रिय नहीं होता तो
प्रशम आदिक साध्यको सिद्ध करनेके लिये सम्यग्दर्शन भी हेतु होसकता था। क्योंकि समव्याप्तिवाले
साध्य और हेतुमेंसे कोई भी ज्ञात होकर दूसरे अज्ञातका ज्ञापक हेतु होसकता है । इसीलिये तो

प्रकरणमें प्रशम आदिसे सम्यग्दर्शनका अनुमान किया है। उस सम्यग्दर्शनगुणके न होनेपर मिथ्या-दृष्टि जीवोंमें प्रशम आदि गुणोंका होना असम्भव है। यदि वहां प्रशम आदि गुणोंका सम्भव होना मानोगे तो मिथ्यादृष्टिपना नहीं सम्भवेगा। भावार्थ—जहां प्रशम आदि एक, दो, तीन या चारों हैं, वहां सम्यग्दर्शन अवश्य है। चौथे गुणस्थानसे लेकर उपरिमगुणस्थानोंमें उक्तगुण पाये जाते हैं।

मिथ्यादृशामपि केषाञ्चित्क्रोधाद्यनुद्रेकदर्शनात् प्रशमोऽनैकान्तिक इति चेन्न, तेषा-मपि सर्वथैकान्तेऽनन्तानुबन्धिनो मानस्योदयात्। स्वात्मनि चानेकान्तात्मनि द्वेषोदयस्याव-श्यंभावात् पृथिवीकायिकादिषु प्राणिषु हननदर्शनाच्च।

कोई आक्षेपक दोष उठारहा है कि किन्हीं किन्हीं मिथ्यादृष्टियोंके भी क्रोध आदिकका तीव्र उदय नहीं देखा जाता है। इस कारण उनकी आत्मामें शान्ति, क्षमा, उदासीनता आदिरूप प्रशम विद्यमान हैं। किन्तु सम्यग्दर्शन नहीं हैं। अतः आपका सम्यग्दर्शनको सिद्ध करनेमें दिया गया प्रशम रूपहेतु व्यभिचारी हुआ। अनेक यवन, (मौलवी) ईसाई, (पादरी) त्रिदण्डी आदि पुरुषोंमें भी उत्कृष्ट शान्ति पायी जाती है। देशसेवकलोग मन्दकषायी होते हैं। यहांतक कि उनको मारा पीटा भी जावे तो चूंतक नहीं करते हैं। तभी तो पञ्चाध्यायीकारने प्रशम आदि चारोंको मिथ्यादृष्टि और अभव्योंमें भी स्वीकार किया है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहोगे तो सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि शान्तिका बाना पहिने हुए उन मिथ्यादृष्टियोंके भी अपने माने हुए सर्वथा एकान्त मतोंमें अनन्तानु-बन्धी मानका तीव्र उदय होरहा है कि हमारा मत ही संसारमें सबसे बढिया है और वास्तविक स्वरूपसे मानीगयी आत्मामें तथा अनेकान्तस्वरूप वस्तुको माननेवाले स्याद्वादसिद्धान्तमें अवश्य तीव्र द्वेषका उदय होरहा है। यों अनेकान्त आत्मक निजआत्मामें उनको द्वेष उपजरहा है। एवं पृथिवी-कायिक, जलकायिक, अग्निकायिक आदि जीवोंकी हिंसा करना भी उनमें देखा जाता है, अर्थात् ऊपरसे शान्ति प्रकृतिके प्रतीत होते हुए उन भद्रपुरुषोंमेंसे अनेक पुरुष तो पृथिवी, जल, आदिमें ही जीवको नहीं मानते हैं। कोई कोई तो कीट, पतङ्ग, मत्स्य, सिंह, सर्प, आदिकी यहांतक कि सभी पशु, पक्षियोंतककी हिंसाको हिंसा नहीं समझते हैं। जैनसिद्धान्तमें अहिंसाका जितना उच्च आदर्श माना है, उतना और किसी अन्य मतमें नहीं है। मन वचन, कायसे कृत, कारित, अनुमोदनासे दूसरोंको पीडा पहुंचानेकी प्रवृत्ति न करना चाहिये। अपनी आत्मामें राग, द्वेष, परि-णामोंका होजाना ही अपने स्वाभाविक अहिंसा, क्षमा आदि गुणोंकी हत्या करना है। मद्य, मांस, मधुमें भी सर्वदा उसी रूप अनेक जीवप्रतिक्षण उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। बालका अग्रभाग भी जीवोंकी उत्पत्तिका योनिस्थान है। चून, मैदा, दूध, मसाला, रोटी आदि पदार्थ मर्यादासे भक्षण करने चाहिये। मर्यादाके बाहिर उनमें जीव उत्पन्न होजाते हैं अतः अभक्ष्य हैं। दो घडी पीछे जलको पुनः छानना चाहिये चित्रकी जीवमूर्तिको भी छिन्न भिन्न करना महादोष है, इत्यादि विचार उन मिथ्यादृष्टियोंके नहीं होसकते हैं। अतः व्यक्त और अव्यक्तरूपसे अनन्तानुबन्धी क्रोध मानरूप

तीव्र राग और तीव्र द्वेषके विद्यमान होनेसे उन मिथ्यादृष्टियोंके प्रशमगुण नहीं है। प्रशमाभास है। अनन्तानुबन्धीके उदय होनेपर भला सम्यग्दर्शनगुण कैसे सम्भव है? कभी नहीं। अतः हमारा सम्यग्दर्शनके सिद्ध करनेमें दिया गया प्रशम हेतु व्यभिचारी नहीं है। कोई भोले जीव बहिरंग लक्षणमें ही न फंसजावें, एतदर्थ पञ्चाध्यायीकारने ऊपरी दिखाऊ शान्तिको प्रशम कहकर मिथ्यादृष्टिओंमें प्रशमका सम्भव बतलाया है, किंतु स्वानुभूतिके साथ रहनेवाला वस्तुभूत प्रशम तो सम्यग्दृष्टिके ही पाया जासकता है ऐसा स्पष्ट किया है।

एतेन संवेगानुकम्पयोर्मिथ्यादृष्टिष्वसम्भवकथनादनैकान्तिकता हता। संविग्नस्यानुकम्पावतो वा निःशंकप्राणिघाते प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, सदृष्टेरप्यज्ञानात्तत्र तथा प्रवृत्तिरिति चेत्, व्याहतमिदं " सदृष्टिश्च जीवतत्त्वानभिज्ञश्चेति " तदज्ञानस्यैव मिथ्यात्वविशेषरूपत्वात्।

प्रशम हेतुका व्यभिचार दूर करनेवाले इस कथनसे संवेग और अनुकम्पा इन दोनों गुणोंका भी मिथ्यादृष्टियोंमें असम्भव होना कह दिया गया है। जो मिथ्यादृष्टि संसारसे उद्विग्न हो रहे हैं उनको भी परभवसंबंधी भोग, सुख, यश आदिकी आकांक्षायें लग रही हैं। शुद्ध आत्मतत्त्वको वे नहीं जान सके हैं। जीव–समास योनि–स्थानोंको जाने विना पूर्ण दया नहीं पलती है। अतः संवेग और अनुकम्पा हेतुओंमें भी व्यभिचार दोष नष्ट कर दिया गया समझ लेना चाहिये। जो संवेग-गुणधारी संसारसे भयभीत है तथा जो अनुकम्पागुणधारी दया–मूर्ति हो रहा है, उनकी शंका रहित होकर प्राणियोंके घात करनेमें निरर्गल प्रवृत्ति होना नहीं बन सकता है। यदि कोई यों कहे कि सम्यग्दृष्टिके भी अज्ञानके वशसे वहां जीवोंको घात करनेमें इस प्रकार शंकारहित प्रवृत्ति होती हुयी देखी जाती है। चौथे गुणस्थानमें त्रस–हिंसा और स्थावर–हिंसाका त्याग नहीं है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि यह कहना ही व्याघातदोषसे युक्त है जो सम्यग्दृष्टि है, वह जीव तत्त्वको अवश्य जानता है। अतः उन जीवोंके ऊपर अवश्य दया करेगा। सम्यग्दृष्टि होते हुए जीवतत्त्वोंको न जाने इस कथनमें वदतोव्याघात दोष है। उद्देश्य दल ठीक है तो विधेयदल ठीक नहीं, और यदि विधेयदल सत्य है तो उद्देश्य दल झूंठा है। वह जीवतत्त्वमें अज्ञान होना ही मिथ्यात्वका एक विशेष स्वरूप है। पांच प्रकारके मिथ्यात्वोंमेंसे अज्ञान नामका मिथ्यात्व भी अधिक बलवान् है। अतः संवेग और अनुकम्पावाले जीवोंके अवश्य सम्यग्दर्शन होगा और वे शंकारहित होकर जीवोंकी निरर्गल हिंसा नहीं करते हैं, अतः हमारे हेतुमें व्यभिचार दोष नहीं है।

परेषामपि स्वाभिमततत्त्वेष्वास्तिक्यस्य भावादनैकान्तिकत्वमिति चेत् न, सर्वथैकान्ततत्त्वानां दृष्टेष्टबाधितत्वेन व्यवस्थानायोगादनेकान्तवादिनां भगवदर्हत्स्याद्वादश्रद्धानविधुराणां नास्तिकत्वनिर्णयात्। तदुक्तं, " त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आत्माभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते " इति।

इसी प्रकार अस्तिक्य गुण भी सम्यग्दर्शन गुणका निर्दोष ज्ञापक हेतु है। यदि कोई यों कहे कि दूसरे नैयायिक, सांख्य, आर्यसमाज, मोहमदानुयायी, ईशावादी आदि जनोंके भी अपने अपने अभीष्ट तत्त्वोंमें आस्तिकपना विद्यमान है और आपने सम्यग्दर्शन गुण उनमें माना नहीं है। अतः सम्यग्दर्शनको सिद्ध करनेके लिए दिया गया आस्तिक्य हेतु व्यभिचारी हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उनके द्वारा श्रद्धान किये गये सर्वथा एकांतरूप तत्त्वोंकी प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधित हो जानेके कारण व्यवस्था नहीं हो सकती है। अतः भगवान् श्रीअर्हन्त देव और उनके द्वारा उपदिष्ट वस्तुभूत स्याद्वाद सिद्धांत इन दोनोंके श्रद्धानसे परान्मुख होरहे उन एकांतवादियोंके नास्तिकपनेका निर्णय हो चुका है। उसी बातको पूज्य स्वामी श्रीसमंतभद्राचार्यने देवागम स्तोत्रमें इस प्रकार कहा है कि हे ! जिनेंद्र देव ! तुम्हारे मतरूपी अमृतसे बहिर्भूत हो रहे और सर्वथा एकांतोंको बकनेकी लत रखनेवाले तथा अपनी ढपली और अपना रागके अनुसार मानी हुयी कल्पित आत्माके या स्वकीय तत्त्वोंके अभिमानसे जले हुए पुरुषोंका अपना अभीष्ट पदार्थ प्रत्यक्षप्रमाणसे ही बाधित हो जाता है अथवा मैं ही यथार्थ वक्ता हूं इस आप्तपनेकी अभिमान-अग्निमें जो जले जा रहे हैं उनका इष्टतत्त्व दृष्ट प्रमाणसे बाधित हो जाता है। भावार्थ—जो पुरुष अग्निसे झुरस गया है और उसकी अव्यर्थ औषधि माने गये अमृतका सेवन वह नहीं करता है। उसको अपनी अभीष्ट नीरोगताकी प्राप्ति नहीं हो पाती है। बालगोपाल भी उसकी इस मूर्खतापर उपहास करते हैं, तैसे ही कई एकांतवादी तो आत्माको ही नहीं मानते हैं। कोई आत्माके ज्ञान, सुख आदिको निजका गुण नहीं मानते हैं। कोई मतवाले वादी अन्य मतानुयायियोंको मारनेतकका उपदेश देते हैं, इत्यादि प्रकारसे प्रामाणिक तत्त्वोंका तिरस्कारकर अप्रामाणिक सिद्धान्तोंका बोझ ढोनेवाले एकान्तवादियोंके यहां आत्मा, परलोक, पुण्य, मोक्ष, आदिकी व्यवस्था ठीक नहीं है। अतः इनको आस्तिकपना नहीं है। ठीक आस्तिकपना सम्यग्दृष्टिमें ही पाया जावेगा।

तदनेन प्रशमादिसमुदायस्यानैकान्तिकत्वोद्भावनं प्रतिक्षिप्तम् ।

इस कारण इस उक्त कथनके द्वारा प्रशम आदि यानी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चारोंके समुदायरूप हेतुका व्यभिचार दोष उठाना भी खण्डित करदिया गया है। जब अकेले, अकेले प्रशम आदि गुणोंको हेतु बनानेपर व्यभिचारदोष नहीं है उनका समुदाय करनेपर तो कैसे भी अनैकान्तिक दोष नहीं हो सकता है। क्योंकि हेतुके शरीरमें अधिक विशेषण लगा देनेसे उसकी व्याप्यता बढ जाती है। अर्थात् वह हेतु पहिलेसे और भी थोडे स्थलमें पहुंच पाता है। हेतुको अधिक स्थान मिलनेपर व्यभिचार दोषको सहायता भी प्राप्त होवे, किन्तु चारों गुणोंको एकत्रित कर हेतु बनानेसे बडी सुलभतासे दोषोंका वारण हो जाता है। वस्तुके स्वरूपको न समझनेवाले साधारण अजैन जनोंके संवेग, अनुकम्पा आदि गुण यथार्थ नहीं हैं, गुणाभास हैं। कोरे दिखाऊ हैं ।

ननु प्रशमादयो यदि स्वस्मिन् स्वसंवेद्याः श्रद्धानमपि तत्त्वार्थानां किम स्वसंवेद्यम् ? यतस्तेभ्योऽनुमीयते । स्वसंवेद्यत्वाविशेषेऽपि तैस्तदनुमीयते न पुनस्ते तस्मादिति कः श्रद्धीतान्यत्रापरीक्षकादिति चेत्, नैतत्सारं, दर्शनमोहोपशमादिविशिष्टात्मस्वरूपस्य तत्त्वार्थश्रद्धानस्य स्वसंवेद्यत्वानिश्चयात् । स्वसंवेद्यं पुनरास्तिक्यं तदभिव्यञ्जकं प्रशमसंवेगानुकम्पावत् कथंचित्ततो भिन्नं तत्फलत्वात् । तत एव फलतद्धेतोरभेदविवक्षायामास्तिक्यमेव तत्त्वार्थश्रद्धानमिति, तस्य तद्व्यञ्जकत्वसिद्धेस्तद्धेतुत्वेऽपि न विरुध्यते ।

यहां शंका है कि प्रशम आदि चारों गुण अपनी आत्मामें यदि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जाने जाते हैं तो तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना भी क्यों नहीं स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जान लिया जावे, जिससे कि आप जैन उन प्रशम आदिकोंसे उस श्रद्धानका अनुमान करते हैं अर्थात् श्रद्धान और प्रशम आदिक दोनों ही आत्माके परिणाम हैं । अतः सीधे ही स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे सम्यग्दर्शनके स्वरूप होरहे श्रद्धानका ज्ञान हो जाना चाहिये । पहिले स्वसंवेदनसे प्रशम आदिकोंको जानें और पुनः प्रशम आदिक हेतुओंसे श्रद्धानका अनुमान करें । व्यर्थ ही यह परम्परापरिश्रम क्यों कराया जाता है । जब कि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जानागयापन दोनोंमें विशेषताओंसे रहित होकर समान है । फिर भी उन प्रशम आदिकोंसे उस श्रद्धानका अनुमान किया जावे, किन्तु फिर उस श्रद्धानसे उन प्रशम आदिकोंका अनुमान न किया जावे इस पक्षपात रखनेवाली बातको परीक्षा नहीं करनेवाले अन्धश्रद्धानीके अतिरिक्त भला कौन विचारशील श्रद्धान कर सकेगा ? यानी कोई नहीं । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार किसीका यह कहना तो साररहित है । क्योंकि द्रव्योंमें अनेक गुण (भाव) ऐसे होते हैं जिनका कि प्रत्यक्ष हो जाता है और अनेक भावोंका छद्मस्थोंको अनुमान ही होता है । शरीरमें नाडीका स्पार्शन प्रत्यक्ष हो जाता है और नाडीकी गतिसे अविनाभावी रोगोंका अनुमान कर लिया जाता है । घोडे, हाथी, आम, चावल, मनुष्य आदिके शुभ अशुभ लक्षणोंसे उनके गुणोंका अनुमान कर लेते हैं । इसी प्रकार दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ आत्माके विशिष्ट स्वरूप माने गये तत्त्वार्थश्रद्धानका स्वसंवेदनसे जानागयापन निश्चित नहीं होता है । क्योंकि तत्त्वार्थ–श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन वस्तुतः अत्यन्त सूक्ष्मगुण है । वह सामान्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय नहीं है, ऐसी दशामें मतिज्ञानके भेदस्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे वह नहीं जाना जा सकता है । भले ही स्वसंवेदनके द्वारा पुद्गलसे भिन्न आत्माकी अनुभूति हो जावे, किन्तु सम्यग्दर्शनका स्वयं अपनेको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । हां ! फिर उस श्रद्धानसे अविनाभाव रखता हुआ और स्वसंवेदनसे जान लिया गया ऐसा आस्तिक्यपरिणाम उस श्रद्धानका प्रगट करनेवाला ज्ञापक हेतु होजाता है, जैसे कि प्रशम, संवेग, और अनुकम्पास्वरूप परिणाम उस श्रद्धानके ज्ञापक हेतु हो जाते हैं । ये प्रशम आदिक चारों ही स्वभाव उस श्रद्धानसे किसी अपेक्षा करके भिन्न हैं । क्योंकि वे चारों गुण उस श्रद्धानके फल हैं । करणसे फल कथञ्चित् भिन्न

होता है, और कथञ्चित् अभिन्न भी होता है। तिस ही कारणसे फल और उस फलवाले करणकी अभेद विवक्षा करनेपर आस्तिक्य गुण ही तत्त्वार्थश्रद्धान कह दिया जाता है। भावार्थ—कहीं आस्तिक्य गुणको ही सम्यग्दर्शनपनेका व्यवहार कर दिया जाता है। इस प्रकार उस आस्तिक्यके समान उस श्रद्धानकी भी स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे सिद्धि हो जाती है। आस्तिक्यका प्रत्यक्ष अधिक विशद है। अतः उस संवेद्य होरहे आस्तिक्यसे श्रद्धानका अनुमान द्वारा जानागयापन भी विरुद्ध नहीं पडता है। जैसे कुछ कुछ प्रत्यक्ष होते हुए भी हिताहितमें प्रवृत्तिनिवृत्ति क्रियारूप सदाचार से सज्जनताका और भी दृढरूपसे अनुमान कर लिया जाता है।

मतान्तरापेक्षया च स्वसंविदितेऽपि तत्त्वार्थश्रद्धाने विप्रतिपत्तिसद्भावात्तन्निराकरणाय तत्र प्रशमादिलिंगादनुमाने दोषाभावः। सम्यग्ज्ञानमेव हि सम्यग्दर्शनमिति केचिद्विप्रवदन्ते, तान् प्रति ज्ञानाद् भेदेन दर्शनं प्रशमादिभिः कार्यविशेषैः प्रकाश्यते।

दूसरी बात यों है कि इस वार्तिकमें सम्यग्दर्शनका प्रशम आदिकसे अनुमान किया गया है। उसका प्रयोजन यह है कि स्वयंको तो श्रद्धानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो जाता है। पञ्चाध्यायीकारने श्रद्धानका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हो जाना माना है। किंतु फिर भी अन्यमतोंकी अपेक्षा करके तत्त्वार्थश्रद्धानमें अनेक प्रकारके विवाद होना पाया जाता है। उन विवादोंकी निवृत्तिके लिए उस सरागसम्यग्दृष्टिमें प्रशम आदिक हेतुओंसे श्रद्धानका अनुमान करा दिया जाता है, ऐसा माननेपर शंकाकारकी ओरसे उठाया गया कोई दोष नहीं आता है। कोई इस प्रकार विवाद करते हैं कि सम्यग्ज्ञान गुण ही निश्चयसे सम्यग्दर्शन गुण है। श्रद्धान करना ज्ञानरूप ही पडता है, सम्यग्ज्ञानसे अतिरिक्त सम्यग्दर्शन कोई स्वतंत्रगुण नहीं है। उन विवादियोंके प्रति ज्ञान गुणसे भिन्नता करके सम्यग्दर्शनको प्रशम आदिक विशेषफलोंसे प्रकाशित करा दिया जाता है। अर्थात् अतीन्द्रिय माने गये रूप, चेतना, दहनशक्ति, आदि गुणोंका जैसे नीला, पीला, घटज्ञान, पटदर्शन, ईंधन दाह आदि फलस्वरूप क्रियाओंसे अनुमान कर लिया जाता है अथवा सन्मुख ही खडे हुए पेडमें बेल, झाडीके विवादको दूर करनेके लिए शिंशपापन स्वभाव हेतुसे वृक्षपनेका अनुमान करा दिया जाता है, वैसे ही प्रशम आदि फलोंसे स्वतंत्र सम्यग्दर्शन गुणका अनुमान कर लिया जाता है। सम्यग्दृष्टि जीवके विशिष्ट प्रशम आदि कार्य अवश्य होते हैं।

ज्ञानकार्यत्वात्तेषां न तत्प्रकाशकत्वमिति चेन्न, अज्ञाननिवृत्तिफलत्वात् ज्ञानस्य। साक्षादज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञानस्य फलं, परम्परया प्रशमादयो हानादिबुद्धिवदिति चेत्, तर्हि हानादिबुद्धिवदेव ज्ञानादुत्तरकालं प्रशमादयोऽनुभूयेरन्, न चैवं ज्ञानसमकालं प्रशमाद्यनुभवनात्।

यदि कोई यों कहे कि वे प्रशम आदि क्रियाविशेष तो सम्यग्ज्ञानके कार्य हैं। अतः वे सम्यग्ज्ञानके ही ज्ञापक होंगे, उस सम्यग्दर्शनका प्रकाशन नहीं कर सकेंगे, सो यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञानका अव्यवहित फल अज्ञानकी निवृत्ति करना है, प्रशम आदि नहीं। एक गुणके

साक्षात् फल दो चार नहीं हुआ करते हैं, किन्तु एक ही फल होता है। तभी तो भिन्न भिन्न कार्योंको भिन्न भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेका नियम है। यदि फिर कोई यह कहे कि ज्ञानका अव्यवहित फल तो अज्ञानकी निवृत्ति होना है। किन्तु ज्ञानके परम्परासे फल प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यभाव होता है, जैसे कि ज्ञानके परम्परासे फल हेयपदार्थमें त्यागबुद्धि करना आदि और उपादेयका ग्रहण करना, तथा उपेक्षणीय तत्त्वकी उपेक्षा करना है। यों एक करणके परम्परासे अनेक भी फल होसकते हैं, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो ज्ञानके ठीक उत्तर कालमें त्याग–बुद्धि, ग्रहण–बुद्धि, और उपेक्षाबुद्धिके समान ही प्रशम आदिक भी अनुभवमें आने चाहिये, किन्तु ऐसा होता हुआ नहीं देखा जाता है। हां! इसके विपरीत ज्ञानके समान कालमें ही प्रशम आदि गुणोंका अनुभव होता है। जो जिसका परम्परासे होनेवाला फल है वह उसके कुछ समय पीछे होता हुआ जाना जासकता है। उसी क्षणमें नहीं। अतः ज्ञानके फल प्रशम आदिक नहीं होसकते हैं। किन्तु सम्यग्दर्शनके फल हैं।

पूर्वज्ञानफलत्वात् प्रशमादेः सांप्रतिकज्ञानसमकालतयानुभवनमिति चेत्, तर्हि पूर्वज्ञानसमकालवर्तिनोऽपि प्रशमादेस्तत्पूर्वज्ञानफलत्वेन भवितव्यमित्यनादित्वमसक्तिरविरथा ज्ञानस्य।

यहां कोई पुनः कहते हैं कि वर्तमानज्ञानके समकालमें जो प्रशम आदिक अनुभूत हो रहे हैं वे उससे पहिले समयोंमें उत्पन्न हो चुके ज्ञानोंके फल हैं, जैसे कि वर्तमानकालमें हम किसी नूतन वस्तुको जान रहे हैं, उस समय हमारी हेय और उपादेय बुद्धि भी हो रही है और छोडना, ग्रहण करना, फल भी हो रहा है। ये सब वर्तमानज्ञानके फल नहीं है। किन्तु पहिले हो चुके ज्ञानोंके फल हैं। पहिली भोगी हुयी खाद्य, पेय, सामग्रीसे आजका शरीर बना है। आजकी सामग्रीसे कलका बनेगा। एवं पूर्वके व्यापारिक लाभसे अब व्यापार करते हैं, इसका फल पुनः प्राप्त होगा। तथा कलके भोज्य, पेय, से आजकी लार और पित्ताग्नि बन गयी। इस लार और पित्ताग्निके बलपर आज खावेंगे। यह धारा आगे भी चलती रहेगी। तैसे ही पहिले ज्ञानोंके फलस्वरूप प्रशम आदिकोंका वर्तमानज्ञानके समकालवृत्तिपने करके अनुभव हो जाता है। आचार्य समझाते हैं कि ऐसा कहोगे तो पूर्वज्ञानके समानकालमें होनेवाले भी प्रशम आदिकोंको उससे भी पहिले कालके ज्ञानोंका फलपना होना चाहिये। इस प्रकार सम्यग्ज्ञानको अनादिपनेका प्रसंग होता है। भावार्थ—सम्यग्दर्शनके समयमें जीवोंके प्रशम आदिक गुण अवश्य होते हैं। यदि वे प्रशम आदिक गुण सम्यग्ज्ञानके परम्परासे होनेवाले फल माने जावेंगे तो सम्यग्दर्शन गुणके पहिले भी सम्यग्ज्ञानका होना मानना पडेगा। उस सम्यग्ज्ञानके समय भी सम्यग्दर्शन गुण अवश्य होगा। क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना सम्यग्ज्ञान होता नहीं, तब तो उस सम्यग्दर्शनके भी समयमें प्रशम आदिक अवश्य होंगे। उनको भी आप सम्यग्ज्ञानका परम्पराफल कहेंगे। इस प्रकार फिर भी उसके पहिले सम्यग्ज्ञान गुणका सद्भाव मानना

पड़ेगा और सम्यग्ज्ञान होगा तो सम्यग्दर्शन भी अवश्य होगा, प्रशम आदिक भी अवश्य होवेंगे, उनको फिर पहिले सम्यग्ज्ञानका दूरवर्ती फल माना जावेगा । इस प्रकार कहींपर भी स्थिति न हो सकनेके कारण अवितथ ज्ञान यानी सम्यग्ज्ञानको अनादिपना आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है ।

सम्यग्दर्शनसमसमयमनुभूयमानत्वात् प्रशमादेस्तत्फलत्वमपि माभूत् इति चेन्न, तस्य तदभिन्नफलत्वोपगमात्तत्समसमयवृत्तित्वाविरोधात्, ततो दर्शनकार्यत्वाद्दर्शनस्य ज्ञापकाः प्रशमादयः सहचरकार्यत्वात्तु ज्ञानस्येत्यनवद्यम् ।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि कारणसे उत्तरकालमें फल हुआ करते हैं, आप जैनोंने प्रशम आदि चारोंको सम्यग्दर्शका फल माना है, जब कि सम्यग्दर्शनके समान कालमें प्रशम आदिकोंका अनुभव हो रहा है । ऐसी दशामें सम्यग्दर्शनके भी फल न हो सकेंगे । भावार्थः—सम्यग्ज्ञानको अनादिपनेके प्रसङ्गके समान आपके सम्यग्दर्शनको भी अनादिपनेका प्रसंग आये विना न रहेगा, क्योंकि सम्यग्दर्शनके समानकालवाले प्रशम आदिकोंको उसके पूर्व समयवर्ती सम्यग्दर्शनका फल मानोगे । किंतु पूर्व सम्यग्दर्शनके समयमें भी प्रशम आदिक होवेंगे उनको उससे भी पहिले समयमें हुए सम्यग्दर्शनका फल मानोगे । इस प्रकार अनादिपनेकी धारा बढ़ जावेगी । आचार्य शिक्षा देते हैं कि यह कहना तो समुचित नहीं है । क्यों कि हमने उन प्रशम आदिकोंको उस सम्यग्दर्शनका अभिन्न फल होना स्वीकार किया है । जो अभिन्न फल होते हैं वे कारणके समान समयमें भी वर्तते हैं, कोई विरोध नहीं है, जैसे कि अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानके समकालमें होती है । ऐसा नहीं है कि ज्ञान उत्पन्न हो जावे और उस समय अज्ञान भी बैठा रहे । दीपकके प्रज्वलित होते ही उसका फल अन्धेरेका नाश उसी क्षण हो जाता है । तैसे ही सम्यग्दर्शनके समयमें उसके अभिन्न फल माने गये प्रशम आदिकोंका भी तत्क्षणमें अनुभव हो जाता है, अतः सम्यग्दर्शनके अनादिपनेका प्रसंग दूर हो जाता है । तिस कारणसे अबतक सिद्ध हुआ कि दर्शनके कार्य हो जानेसे प्रशम आदिक हेतु तो सराग सम्यग्दर्शनके ज्ञापक हैं और सम्यग्ज्ञानरूप साध्यके साथ रहने वाले सम्यग्दर्शन गुणके कार्य हो जानेसे तो वे प्रशम आदिक सम्यग्ज्ञानके भी ज्ञापक हेतु हो जाते हैं । सम्यग्दर्शनको साध्य बनानेपर प्रशम आदि कार्यहेतु हैं और सम्यग्ज्ञानको साध्य बनानेपर तो वे सहचरकार्य हेतु हैं । सम्यग्ज्ञानका साथी सम्यग्दर्शनगुण न्यारा है । दस कारणोंके कार्य एक समयमें दस होरहे हैं । प्रत्येकका विवेक करना परीक्षकोंको सुलभ है । इस प्रकार प्रशम आदिकसे सम्यग्दर्शनके अनुमान करनेमें कोई दोष नहीं है । प्रशम आदिक हेतु सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव रखते हुए निर्दोष हैं ।

परत्र प्रशमादयः संदिग्धासिद्धत्वान्न सद्दर्शनस्य गमका इति चेन्न, कायवाग्व्यवहारविशेषेभ्यस्तेषां तत्र सद्भावनिर्णयस्योक्तत्वात्, तेषां तद्व्यभिचारान्न तत्सद्भावनिर्णयहेतुत्वमिति चेन्न, सुपरीक्षितानामव्यभिचारात्, सुपरीक्षितं हि कार्यं कारणं गमयति नान्यथा ।

कोई पण्डित दोष उठाता है कि आप जैनोंने दूसरी आत्माओंमें भी प्रशम आदिकसे सराग सम्यग्दर्शनका अनुमान कराना बताया है, इसपर हमारा यह कहना है कि अपनी आत्मामें तो प्रशम, संवेग, आदिकोंका भले प्रकार निर्णय होजाता है, किन्तु दूसरोंमें प्रशम, संवेगका निर्णय नहीं होपाता है। माता पिता और गुरुजन क्रोध अवस्थामें भी प्रशान्त बने रहते हैं। कपटी पुरुष दिखाऊ शान्तिको धारण करता हुआ भी चित्तमें अशान्त है। भरतचक्रवर्ती भोगोंको भोगते हुए भी वैरागी थे। अनेक मोही जीवोंको मसानमें थोडी देरके लिये वैराग्य होजाता है आदि संदेहक व्यवहारोंके देखनेसे दूसरी आत्माओंमें प्रशम आदिके सद्भावका संदेह होजाता है। अतः संदिग्धासिद्ध होजानेके कारण प्रशम आदिक गुण दूसरी आत्माओंमें सम्यग्दर्शनके ज्ञापकहेतु नहीं हो सकते हैं। आचार्य उत्तर देते हैं कि इस प्रकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थोंका निर्णय करनेके लिये उपाय हैं। यों तो स्थूल बुद्धिसे धुआं, भाप और गगन–धूलिके भेदको नहीं समझनेवाला पुरुष अग्निको सिद्ध करनेमें धूम हेतुको भी संदिग्धासिद्ध कर देवेगा, हां! विचार किये गये शरीर–चेष्टा और वचनव्यवहार, और मुखाकृति, दया करना, संयम पालना, आदि अविनाभावी विशेषोंसे उन प्रशम आदिकोंके विद्यमान रहनेका दूसरी आत्माओंमें निर्णय होजाता है, ऐसा हम पहिले कह चुके हैं। यदि आप यों कहें कि उन कायचेष्टा आदिकोंका उन प्रशम, संवेग आदिकसे अविनाभाव न होना व्यभिचार यानी निर्दोषमें दूषितपना देखा जाता है, विशेष शान्तपुरुष भी बक–भक्तोंके सदृश प्रतीत होजाते हैं। अधर्म प्रवृत्तिको रोकनेके लिये धर्मके आवेशमें आकर शान्तपुरुष भी क्रोधी होजाते हैं, अतः दूसरोंमें उन प्रशम आदिकोंकी सत्ताका निर्णय करानेवाला कोई बढिया हेतु नहीं है। व्यभिचारी हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा तो नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अच्छी तरह परीक्षा करलिये गये कायचेष्टा आदिकोंका कहीं भी कभी व्यभिचार नहीं होता है। शंकाकार जो यह कहरहे हैं कि शान्त भी जीव क्रोधी सदृश दीखते हैं, रागी पुरुष भी अन्तरङ्गमें विरक्त हैं, ऊपरसे बकभक्त भी अनेक देखेजाते हैं, इससे ही जाना जाता है कि शङ्काकारके पास प्रशम आदिकके निर्णय करनेका उपाय अवश्य है। तभी तो उन्होंने ज्ञातकर उक्त बातोंको कहा है। कहीं निर्णय किये बिना दूसरे स्थलपर संशय करना नहीं होसकता है। अतः निश्चय कर भले प्रकार परीक्षा करलिया गया कार्यहेतु अपने कारणरूप साध्यको ज्ञापक होकर समझा देता है। अन्यथा यानी बिना परीक्षा किया हुआ कार्य अपने कारण रूप साध्यका ज्ञापक नहीं माना गया है।

यदि पुनरतीन्द्रियत्वात् परमप्रशमादीनां तद्भावे कायादिव्यवहारविशेषसद्भावोऽशक्यो निश्चेतुमिति मतिः, तदा तदभावे तद्भाव इति कथं निश्चीयते ?।

यदि फिर आप आक्षेपकार यों कहें कि दूसरे आत्माओंके प्रशम आदि गुण अतीन्द्रिय हैं, किसी इन्द्रियसे उनका ज्ञान होता नहीं है, अतः उन गुणोंके होनेपर अविनाभाव रूपसे होनेवाले

कायचेष्टा, वचनव्याहार, मुखाकृति, इनकी विशेषताओंके विद्यमान रहनेका भी निर्णय नहीं किया जा सकता है, अर्थात् ऐसी कोई विशेषचेष्टा या विशेष वचननिर्णीत नहीं किया जा सकता है, जो कि प्रशांत और संवेगी जीवोंके ही पाये जावें। नृत्यशालामें अनेक पात्र नाना ढंगोंके रूपक दिखलाते हैं और दर्शकोंको वे अभिनय सत्यार्थ मुख्यराजा आदिकोंके सदृश प्रतीत भी होते हैं। किंतु विचारनेपर वे सब दृश्य दिखाऊ ही हैं। अतः वेश, आसन, बहिरंगशरीर, वचनकी प्रवृत्ति और व्यापारोंसे अन्य जीवोंमें पाये जारहे संवेग, आस्तिक्य, शांति, और दयाभावोंका निर्णय करना अशक्य है। आपका ऐसा मन्तव्य होनेपर तब तो हम जैन आपसे यह पूंछते हैं कि उन प्रशम आदि गुणोंके न होनेपर भी वह शरीर आदिका वैसा विशेष व्यवहार विद्यमान रहता है, यह भी आप कैसे निर्णीत कर लेते हैं ? बताओ। अर्थात् जो मनुष्य प्रशम आदिकोंके होनेपर होनेवाले शरीर आदिके व्यवहारका निश्चय नहीं कर सकता है, वह प्रशम आदिके न होनेपर उन व्यवहारोंकी सत्ताका भी निर्णय नहीं कर सकता है, तो फिर व्यभिचार देना कैसा ? । यानी जब तुमको उन विशेषताओंका ज्ञान ही नहीं है तब प्रशम आदिकोंके न होनेपर भी विशिष्ट कायचेष्टाका हो जाना रूप व्यभिचार दोष भी नहीं उठा सकोगे।

तत एव संशयोऽस्त्विति चेन्न, तस्य क्वचित्कदाचिन्निर्णयमन्तरेणानुपपत्तेः स्थाणुपुरुषसंशयवत्। स्वसंताने निर्णयोऽस्तीति चेत्, तर्हि यादृशाः प्रशमादिषु सत्सु कायादिव्यवहारविशेषाः स्वस्मिन्निर्णीतास्तादृशाः परत्रापि तेषु सत्स्वेवेति निर्णीयताम्। यादृशास्तु तेष्वसत्सु प्रतीतास्तादृशाः तदभावस्य गमकाः कथं न स्युः ? संशयितस्वभावास्तु तत्संशयहेतव इति युक्तं वक्तुम्।

आक्षेपकार कहता है कि इस ही कारणसे संशय हो जाओ, क्योंकि जब हम लोगोंके पास दूसरोंके प्रशम आदिको जाननेके लिए कोई निर्णीत उपाय नहीं है। शरीरकी चेष्टा, वचन बोलना आदि प्रशम आदिके होनेपर भी और न होनेपर भी एकसे होते हुए देखे जाते हैं। अतः " एकांतनिर्णयाद्वरं संशयः " इस नीतिके अनुसार संशय ही बना रहे। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि किसी स्थानपर किसी कालमें उन धर्मोंका निश्चय किये बिना उस आक्षेपकको संशय हो जाना भी नहीं बनता है। जैसे कि ठूंठ और पुरुषका संशय उसी जीवको होगा जिसने कि पहिले कभी कहींपर ठूंठ और पुरुषका निर्णय कर लिया होगा। यदि आप बौद्ध यों कहें कि हमने सन्तानस्वरूप अपनी आत्मामें उन प्रशमादिकोंके साथ होनेवाले शरीरचेष्टा आदिकोंका निर्णय कर लिया है, उन धर्मोंके सद्भाव और असद्भावका दूसरी आत्माओंमें संशय कर लेते हैं, ऐसा कहनेपर तो हम स्याद्वाद सिद्धान्तियोंको यही कहना पडेगा कि जैसे जैसे कायव्यवहार, वचनव्यवहार, चेष्टा आदि विशेष वे प्रशम आदि गुणोंके विद्यमान होनेपर अपनी आत्मामें निर्णीत किये गये हैं तिन ही व्यवहारविशेषोंके सदृश दूसरी शरीरचेष्टा आदिकी विशेषतायें

अन्य आत्माओंमें भी उन प्रशम आदिकोंके होते सन्ते ही हो रही हैं, इस बातका भी निर्णय कर लो। और जैसी शरीरव्यवहार आदिकी विशेषतायें तो अपनी आत्मामें उन प्रशम आदिकोंके न होनेपर प्रमाणों द्वारा जान ली गयी हैं तैसी ही विशेषतायें दूसरी आत्माओंमें भी देखी जावेंगी तो वे उन प्रशम आदिकोंके अभावकी समझानेवाली क्यों न हो जावेंगी ?। तथा जो शरीरके व्यवहारोंकी या वचनोंकी विशेषतायें संशय पडे हुए स्वभावोंसे युक्त हैं यानी प्रशान्त या क्रोधी दोनों प्रकारके जीवोंमें पायी जाती हैं, वे प्रशम आदिके संशयज्ञान करानेका कारण हो जावेंगी। संदिग्धविशेषताओंसे प्रशम आदिकोंका निर्णीत ज्ञान न हो पायेगा। सर्व ही सम्यग्दृष्टिओंको अवश्य जान लो, यह कोई अनिवार्य कार्य नहीं है। इस प्रकार युक्तियोंसे हम कह सकते हैं। भावार्थ— प्रशम आदिकोंके भाव और अभावको निर्णय करनेका उपाय तथा संशयका उपाय विद्यमान है।

नन्वेवं यथा सरागेषु तत्त्वार्थश्रद्धानं प्रशमादिभिरनुमीयते तथा वीतरागेष्वपि तत्तैः किं नानुमीयते ? इति चेन्न, तस्य स्वस्मिन्नात्मविशुद्धिमात्रत्वात् सकलमोहाभावे समारोपानवतारात् स्वसंवेदनादेव निश्चयोपपत्तेरनुमेयत्वाभावः। परत्र तु प्रशमादीनां तल्लिंगानां सतामपि निश्चयोपायानां कायादिव्यवहारविशेषाणामपि तदुपायानामभावात्।

यहां फिर शंका है कि इस प्रकार तो जैसे रागसहित सम्यग्दृष्टि जीवोंमें प्रशम आदि गुणोंके द्वारा तत्त्वार्थोंके श्रद्धानका अनुमान कर लिया जाता है, तैसे ही वीतरागसम्यग्दृष्टियोंमें भी वह सम्यग्दर्शन उन प्रशम आदिकोंके द्वारा क्यों नहीं अनुमित हो जाता है ? बताओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि वह वीतरागजीवोंका तत्त्वार्थ–श्रद्धान तो अपनेमें केवल आत्म–विशुद्धिरूप है। छद्मस्थ जीवोंको आत्माकी विशुद्धियोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही निर्णय होना बनता है। सम्पूर्ण दर्शनमोहनीय कर्मके अभाव हो जानेपर ही उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनरूप विशुद्धिमें कोई संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, और अज्ञानरूप समारोपोंका अवतार नहीं है। संशय आदि तो मोहके उदय होनेपर हो सकते थे। मोहके अभावमें नहीं। अतः प्रत्यक्ष–गम्य हो जानेके कारण ही वीतराग सम्यक्त्वमें अनुमानसे जानागयापन नहीं है। वीतरागपुरुष अपने वीतरागसम्यक्त्वको स्वसंवेदनसे जान लेते हैं। दूसरी आत्माओंमें रहनेवाले वीतराग सम्यग्दर्शनको जाननेका तो हमारे पास कोई उपाय नहीं है। दूसरे वीतराग सम्यग्दृष्टियोंमें भले ही उस सम्यग्दर्शनके ज्ञापक लिंग माने गये प्रशम आदिक उपाय विद्यमान हैं और शरीर, वचन आदिकी चेष्टायें भी विद्यमान हैं, किन्तु फिर भी वे वीतराग सम्यक्त्वको निर्णय करानेवाले उपाय नहीं हैं। विशेषकर वीतराग सम्यक्त्वके होनेपर ही होनेवाली उन काय, वचन आदिकी चेष्टाओं और विशिष्ट प्रशम आदिकोंके भी जाननेका उपाय छद्मस्थ जीवोंके पास नहीं है, जो कि उस वीतराग सम्यक्त्वको जाननेके उपाय मान लिये गये हैं, जिससे कि दृष्टान्तमें व्याप्तिका ग्रहण होसके। अतः वीतराग सम्यक्त्वका स्वयंको

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है या वह केवलज्ञानके द्वारा जाना जाता है। दूसरेके वीतराग सम्यक्त्वका अनुमान नहीं हो सकता है।

कथमिदानीमप्रमत्तादिषु सूक्ष्मसांपरायान्तेषु सद्दर्शनं प्रशमादेरनुमातुं शक्यम्? तन्निर्णयोपायानां कायादिव्यवहारविशेषाणामभावादेव। न हि तेषां कश्चिद्व्यापारोऽस्ति वीतरागवत्, व्यापारे वा तेषामप्रमत्तत्वादिविरोधादिति कश्चित्। सोऽप्यभिहितानभिज्ञः, सर्वेषु सरागेषु सद्दर्शनं प्रशमादिभिरनुमेयम् इत्यनभिधानात्। यथासंभवं सरागेषु वीतरागेषु च सद्दर्शनस्य तदनुमेयत्वमात्मविशुद्धिमात्रत्वं चेत्यभिहितत्वात्।

यहां कोई कहता है कि तो बताओ! इस समय सातवेंसे आदि लेकर दशवें सूक्ष्मसांपराय पर्यन्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शनका प्रशम आदिकसे कैसे अनुमान किया जासकता है? सरागसंयमके समान सरागसम्यग्दर्शन भी दशवें गुणस्थानतक पाया जाता है। सातवें सातिशय अप्रमत्तसे लेकर ऊपरके गुणस्थानोंमें ध्यान अवस्था होजाती है। चलना, बोलना, मुखकी आकृति करना, शरीर चेष्टा करना आदि विशेष व्यवहारोंका वहां सर्वथा अभाव ही है, जो कि उस सम्यक्त्वका निर्णय करानेके उपाय बतलाये गये हैं। अप्रमत्त आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंके शरीर आदिका बहिरङ्गक्रियारूप कोई व्यापार नहीं होता है, जैसे कि ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवाले वीतराग जीवोंके कोई शरीरका व्यापार नहीं होता है। यदि अप्रमत्त आदिमें भी शरीर या वचनका व्यापार मानोगे तो उनको अप्रमत्तपनेसे आदि लेकर सूक्ष्मसांपरायपने पर्यन्तका विरोध हो जावेगा। इस कारण शरीर-चेष्टा आदिके न होनेसे वहां प्रशम आदिकोंका अनुमान नहीं हो सकेगा, और प्रशम आदिकोंका अनुमान किये विना अप्रमत्त आदि जीवोंमें सम्यग्दर्शनका अनुमान नहीं किया जासकता है। यहांतक कोई कहरहा है। आचार्य कहते हैं कि वह भी हमारे कहे हुए अभिप्रायको ठीक नहीं समझता है। क्योंकि सम्पूर्ण सरागसम्यग्दृष्टि जीवोंमें सम्यग्दर्शनका प्रशम आदि हेतुओंके द्वारा अनुमान कर ही लिया जाता है, ऐसा नियम हमने नहीं कहा है, जैसे कि धूम हेतुसे सभी अग्नियां नहीं जान ली जाती हैं। किन्तु जहां जैसा सम्यग्दर्शनके जाननेका उपाय सम्भव है, उन सराग जीवोंमें और वीतराग पुरुषोंमें सम्यग्दर्शनका उन प्रशम आदिकोंसे अनुमेयपना और केवल आत्म-विशुद्धि रूपपना है, ऐसा हमने कहा है।

तत एव सयोगकेवलिनो वाग्व्यवहारविशेषदर्शनात् सूक्ष्माद्यर्थविज्ञानानुमानं न विरुध्यते।

इस ही कारणसे यानी यथासम्भवका अनुमान होना माननेपर आठवें, नौवें गुणस्थानके सम्यक्त्वका ज्ञान नहीं होपाता है, किन्तु तेरहवें गुणस्थानके केवलज्ञानका अनुमान हो जाता है। पूर्णज्ञानका अविनाभावी ज्ञापकहेतु होनेसे ही सयोगकेवली भगवान्के विशेष वचनव्यवहार देखनेसे सूक्ष्म, अन्तरित, दूरार्थ आदि और शेष स्थूल अर्थोंका विज्ञान है, ऐसा अनुमान करना भी विरुद्ध नहीं पडता है। अर्थात् सर्वभाषामय अर्धमागधी भाषा या सर्वजीवोंको कल्याण करानेवाले द्वादशांग ज्ञानको कहनेवाले विशिष्ट वचनोंके द्वारा भगवान्की सर्वज्ञताका अनुमान करलिया जाता है।

प्रधानस्य विवर्तोऽयं श्रद्धानाख्य इतीतरे ।
तदसत्पुंसि सम्यक्त्वभावासंगात्ततो परे ॥ १३ ॥

तत्त्वोंका श्रद्धान करना नामका यह भाव सत्त्व गुण, रजोगुण और तमो गुण इन तीन गुणोंकी साम्यअवस्थारूप प्रकृतिका परिणाम है, इस प्रकार अन्य सांख्यमती कह रहे हैं। सो उनका कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेपर उस प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न माने गये आत्मामें सम्यक्त्वका सद्भाव नहीं हो सकता है, अर्थात् आत्मामें सम्यक्त्वके अभावका प्रसंग हो जावेगा। प्रकृतिका बना हुआ श्रद्धान उससे सर्वथा भिन्न हो रहे आत्मामें सम्यग्दर्शन गुणको व्यवस्थापित नहीं कर सकता है।

न हि प्रधानस्य परिणामः श्रद्धानं ततोऽपरस्मिन् पुरुषे सम्यक्त्वमिति युक्तं लक्ष्यलक्षणयोर्भिन्नाश्रयत्वविरोधादग्न्युष्णत्ववत् ।

सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना है। यहांपर श्रद्धानको नियमसे प्रधानका परिणाम माना जावे और उस प्रधान (प्रकृति) से सर्वथा भिन्न कहे गये दूसरे तत्त्व आत्मामें सम्यग्दर्शन गुण माना जावे। इस प्रकारका कहना युक्तियोंसे सहित नहीं है। क्योंकि लक्ष्यवचन और लक्षणवचनोंके वाच्यार्थोंका सामानाधिकरण्य होता है। जैसे कि चेतन और आत्माका। तभी तो न्यायदीपिकामें नैयायिकके द्वारा लक्षणके लक्षणमें असाधारणधर्मके वचनका आग्रह करनेपर ग्रंथकारने सामानाधिकरण्यके न होनेका प्रसंग दिया है। लक्ष्य तो कहना ही है, उद्देश्य दलमें यदि लक्षण धर्म भी कहना आवश्यक पड गया तो लक्ष्य और लक्षणका शब्द सामानाधिकरण्य नहीं बन पायगा। नैयायिक कहते हैं कि असाधारणधर्मको बोलो, तब लक्षण होगा। आत्माका धर्म ज्ञान है और अग्निका उष्णता है। यदि ज्ञान कहेंगे तो " ज्ञानं आत्मा " कहना पडेगा, तब तो ज्ञान रहता है आत्मामें, और आत्मा शरीरमें रहता है, यह लक्ष्य और लक्षणमें व्यधिकरण दोष हुआ। जैनोंके सदृश कथञ्चित् अभेदको नैयायिक मानते नहीं हैं। यदि ज्ञानवान् आत्मा कहते हैं तो शब्दका या अर्थका सामानाधिकरण्य बन गया, किंतु असाधारण धर्मका कथन न हो सका, ज्ञानवान् तो धर्मी है धर्म नहीं। अतः असाधारण धर्मको लक्षण भले ही कहो, किंतु धर्मको बुलवानेका आग्रह न करो। ऐसे ही अग्निकी उष्णतापर भी लगा लेना। यों लक्ष्यधर्मी वचनका लक्षणधर्म कथनके साथ समानाधिकरणपना नहीं बननेसे नैयायिकके यहां असम्भव दोष आता है। लक्षणको कहनेका आग्रह ढीला भी करदिया जाय, तो भी दण्डादि लक्षणोंमें अव्याप्ति और लक्षणाभास माने गये अव्याप्तमें अतिव्याप्ति आ जावेगा। हां! अनेकांत मतमें तो अभेददृष्टिसे अग्नि और उष्णताका एक ही अधिकरण हो जाता है, अन्य मतोंके अनुसार माना गया लक्ष्य कहींपर रहे और लक्षण कहीं अन्यत्र रहे, इस प्रकार लक्ष्य और लक्षणके भिन्न भिन्न अधिकरण होनेका विरोध है, जैसे कि जहां ही अग्निपना, वहीं उष्णपना है। तभी तो अग्नि उष्ण है ऐसी समानाधिकरणता होनेपर लक्ष्यलक्षणभाव बन जाता

है । श्रद्धानको प्रकृतिकी पर्याय कहना और सम्यग्दर्शनको आत्माका गुण कहनेमें वैयधिकरण्य दोष है । यहां तो वही किंवदन्ती चरितार्थ होती है कि " बाबा सोवें जा घरमें और पांव पसारे वा घर में " । इसलिये श्रद्धानको आत्माका ही गुण मानना चाहिये, प्रकृतिका नहीं ।

प्रधानस्यैव सम्यक्त्वाच्चैतन्यं सम्यगिष्यते ।
बुद्ध्यध्यवसितार्थस्य पुंसा संचेतनाद्यदि ॥ १४ ॥
तदाहंकारसम्यक्त्वात् बुद्धेः सम्यक्त्वमस्तु ते ।
अहंकारास्पदार्थस्य तथाप्यध्यवसानतः ॥ १५ ॥
मनः सम्यक्त्वतः सम्यगहंकारस्तथा न किम् ।
मनःसंकल्पितार्थेषु तत्प्रवृत्तिप्रकल्पनात् ॥ १६ ॥
तथैवेन्द्रियसम्यक्त्वान्मनः सम्यगुपेयताम् ।
इन्द्रियालोचितार्थेषु मनःसंकल्पनोदयात् ॥ १७ ॥
इन्द्रियाणि च सम्यञ्चि भवन्तु परतस्तव ।
स्वाभिव्यञ्जकसम्यक्त्वादिभिः सम्यक्त्वतः किमु ॥ १८ ॥
अर्थस्वव्यञ्जकाधीनं मुख्यं सम्यक्त्वमिष्यते ।
इन्द्रियादिषु तद्वारस्यात् पुंसि तत्परमार्थतः ॥ १९ ॥

यहां कपिल मतानुयायी कहते हैं कि आत्माके वास्तविक स्वरूप शुद्ध चैतन्यमें समीचीनपना और मिथ्यापना कुछ नहीं है, किन्तु संसार अवस्थामें आत्माके साथ प्रकृतिका संसर्ग लगरहा है, अतः प्रकृतिके ही समीचीनपनेसे चैतन्य भी समीचीन मानलिया जाता है । जैसे कि डंक की चमकसे रत्नमें चमक आजाती मानी गयी है । बुद्धिके धर्मोका आत्मामें उपचार करनेका निमित्त यह है कि बुद्धि करके समीचीन रूपसे निश्चित करलिये गये अर्थका आत्माके द्वारा समीचीन चेतन (अनुभव) होजाता है । इस कारण प्रकृतिरूप बुद्धिकी ओरसे औपाधिक भाव आत्मामें आजाते हैं अर्थात् वैयधिकरण्य दोषके निवारणके लिये श्रद्धानके समान सम्यक्त्वको भी हम प्रधानका परिणाम मानते हैं। आचार्य समझाते हैं कि यदि सांख्य इस प्रकार कहेंगे उसपर हम आपादन करते हैं कि तब तो तुम्हारे मतमें बुद्धिका भी समीचीनपना उसकी गांठका न माना जावे, आपके मतानुसार माना गया बुद्धिके परिणाम अहंकारकी समीचीनतासे महत्तत्त्वरूप बुद्धिको समीचीनपना प्राप्त होजावेगा । क्योंकि जैसे बुद्धिसे समीचीन निर्णीत किये हुए अर्थकी संचेतना कहनेसे पुरुषके चैतन्यको सम्यक्त्व प्राप्त

होगया था, तैसे ही अहंकारके विषयभूत अर्थोंको भी बुद्धिके द्वारा निर्णीत होजानेके कारण बुद्धिको भी समीचीनता प्राप्त होजावेगी। बुद्धिमें गांठकी समीचीनता न मानी जाय। भावार्थ—मैं कर्त्ता हूं, मैं विद्वान् हूं, मैं सुखी हूं, इत्यादि अहङ्कारमें समीचीन रूपसे आरूढ हुए अर्थोंका बुद्धिके द्वारा निर्णय हुआ है, पुत्रने अपनी सम्पत्ति माताको सौंपदी और माताने भोक्ता पुरुषको देदी। तथा इसी प्रकार अहंकारके परिणामस्वरूप मनकी समीचीनतासे ही अहंकारका भी समीचीनपना औपाधिक भाव क्यों न मानलिया जावे, अहंकारकी गांठका समीचीनपना न होवे। क्योंकि मनके द्वारा संकल्प किये गये स्थानभूत अर्थोंमें ही उस अहंकारकी प्रवृत्ति होनेकी सांख्योंने बढिया कल्पना की है। भोजन करनेके लिये मैं मित्रके घरपर जाऊंगा, वहां दही होगा या गुड मिलेगा अथवा मोदक आदि बने होंगे, इस प्रकारका मनके द्वारा सङ्कल्प होनेपर ही मैं उनको खाऊंगा, मैं खाऊंगा, ऐसे अहंकारभाव उत्पन्न हुआ करते हैं तथा और भी सुनिये कि मनमें भी अपने घरका समीचीनपना न मानो, किन्तु मनसे अधिष्ठित मानी गयी पांच ज्ञानेन्द्रियोंकी समीचीनतासे मनमें औपाधिक समीचीनताको स्वीकार कर लो, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियोंसे समीचीन आलोचना किये गये पदार्थोंमें ही मनके द्वारा संकल्प होना उत्पन्न होता है। तैसे ही इन्द्रियोंके भी स्वयं अपना गांठका समीचीनपना मत मानो। तुम्हारे मतके अनुसार इन्द्रियोंको भी समीचीनपना दूसरे पदार्थोंसे आया हुआ क्यों न मान लिया जावे? क्योंकि हम कह देंगे कि अपने प्रगट करनेवाले कारणोंकी समीचीनता, निर्मलता, इन्द्रियवृत्ति, अदृष्ट, आदिके द्वारा इन्द्रियोंमें भी समीचीनता बाहरसे औपाधिक आ गयी है। ऐसा ही क्यों न माना जावे? क्योंकि इन्द्रियोंके प्रगट करनेवाले अर्थोंकी अपनी मुख्य समीचीनता आदिसे ही इन्द्रियोंमें समीचीनता आ जावेगी। आप सांख्योंने तो यह मार्ग पकड लिया है कि जबतक ऋण लेनेसे कार्य चले तब लौ घरका पैसा कौन व्यय करे। अपनेको दरिद्र ही पुकारना अच्छा है। इस प्रकार आपके द्वारा मानी हुयी तत्त्व–मालामें समीचीनताका निर्णय करानेवाला कोई उपाय न रहा। यदि आप इन्द्रिय आदि यानी मन, अहंकार, बुद्धि और प्रधान, इनमें अपने व्यञ्जक अर्थोंसे समीचीनताको न लाकर अपनी अपनी गांठकी स्वाधीन मुख्य समीचीनताको मानोगे, अथवा पूर्व पूर्वके प्रकृत तत्त्वोंमें उत्तरवर्ती विकृत तत्त्वोंसे समीचीनपनेको न लाकर स्वयं अपना ही घरका सम्यक्पना मानोगे तो उन ही प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन, ज्ञानेन्द्रियां और अर्थोंके समान आत्मामें भी वास्तविकरूपसे गांठका वह समीचीनपना माना जावे। अतः सिध्द हुआ कि आत्माका सम्यक्त्व गुण स्वयं निजका है। जड प्रकृतिकी ओरसे आया हुआ नहीं है।

एवं प्रधानसम्यक्त्वाच्चैतन्यसम्यक्त्वेऽभ्युपगम्यमानेऽतिप्रसञ्जनमुक्तम्। तत्त्वतस्तु–

इस प्रकार सांख्योंके विचारानुसार प्रधानके समीचीनपनेसे आत्म–संबंधी चैतन्यको समीचीनपना स्वीकार करनेपर अतिप्रसंग दोष आवेगा। ऐसा हम जैन विद्वान् सांख्योंके प्रति आपादन करना कह चुके हैं। वास्तविक रूपसे देखा जावे तब तो यह बात है कि—

न च प्रधानधर्मत्वं श्रद्धानस्य चिदात्मनः।
चैतन्यस्यैव संसिध्येदन्यथा स्याद्विपर्ययः॥ २०॥

चैतन्य आत्मक (स्वरूप) श्रद्धानको प्रकृतिका परिणामपना सिद्ध नहीं होता है। किंतु चेतन-स्वरूप आत्माका ही परिणाम श्रद्धान है, यह बात भले प्रकार सिद्ध हो जाती है। स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे श्रद्धान करनेको चेतनपना सिद्ध हो रहा है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारोंसे प्रमाणविरुद्ध बातोंको मानोगे तो विपर्यय भी क्यों न हो जावे। अर्थात् प्रकृतिका परिणाम चैतन्य हो जावो और आत्माका परिणाम ज्ञान हो जावो। अतः " विनिगमनाविरह " हो जानेके कारण आपका मन्तव्य सिद्ध नहीं होगा, किंतु श्रद्धानको चेतन आत्माका ही स्वभाव कहना प्रमाण–सिद्ध हो चुका है। आत्माका चैतन्य गुण प्रगट है, साकार है, वह संपूर्ण गुणोंमें अन्वितरूपसे रहता है। अतः श्रद्धान गुणपर भी चैतन्यका लेप (चाशनी) चढा हुआ है। आत्माके अभिन्न संपूर्ण गुणोंका एक दूसरेमें प्रतिफलन हो जाता है अर्थात् परस्परमें बाईना बट जाना है। अस्तित्व गुणसे द्रव्यत्व गुणका सद्भाव है और द्रव्यत्वगुण अनुसार अस्तित्व गुणका भी प्रतिक्षण द्रवण होता रहता है।

चिदात्मकत्वमसिद्धं श्रद्धानस्येति चेन्न, तस्य स्वसंवेदनतः प्रसिद्धेर्ज्ञानवत्, साधितं ज्ञानादीनां चेतनात्मकत्वं पुरस्तात्।

श्रद्धानको चैतन्य स्वरूपपना असिद्ध है, इस प्रकार कापिलोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्यों कि उस श्रद्धानको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे चेतनात्मकपनेकी प्रसिद्धि हो रही है, जैसे कि ज्ञान चेतनस्वरूप है। आत्माके ज्ञान, श्रद्धान, दर्शन, आदिका चेतनस्वरूपपना हम पहिले प्रकरणमें प्रसिद्ध कर चुके हैं। आत्माके संपूर्ण गुणोंमें चैतन्यसे अन्वितपना पाया जाता है। अखण्ड आत्माके गुणोंका परस्परमें तदात्मक एक रस हो रहा है।

न श्रद्धत्ते प्रधानं वा जडत्वात्कलशादिवत्।
प्रतीत्याश्रयणे त्वात्मा श्रद्धातास्तु निराकुलम्॥ २१॥

अथवा सांख्य मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य महाराज अनुमान करते हैं कि सत्त्वरजस्तमोगुणरूप प्रधान तो [पक्ष] श्रद्धान नहीं करता है [साध्यदल] क्योंकि वह स्वभाव से जड है [हेतु] जैसे कि घट, पट आदिक अर्थात् घट भींत आदिक पदार्थ अज्ञानस्वरूप जड होनेके कारण जीव, अजीव आदिक तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं करते हैं [अन्वय दृष्टान्त] सांख्योंका माना गया प्रधान भी अचेतन होनेके कारण जड है [उपनय] अतः वह पदार्थोंका श्रद्धान नहीं कर सकता है (निगमन) यदि लोकप्रसिद्ध प्रतीतियोंका अवलम्ब लोगे, तब तो जीवात्मा ही

श्रद्धान करनेवाला सिद्ध होगा। अतः आकुलतारहित होकर निर्दोषरूपसे श्रद्धानको आत्माका ही गुण मानलो। यहां वहां व्यर्थ भटकनेसे कोई लाभ नहीं।

न हि श्रद्धाताहमिति प्रतीतिरचेतनस्य प्रधानस्य जातुचित्सम्भाव्यते कलशादिवत्। यतोयमात्मैव श्रद्धाता निराकुलं न स्यात्।

मैं श्रद्धान करनेवाला हूं इस प्रकारकी प्रतीति होना अचेतन प्रधानके कभी भी सम्भावित नहीं है। जैसे कि घट आदिक जड पदार्थोंके श्रद्धान करना नहीं सम्भवता है, जिससे कि यह आत्मा ही श्रद्धान करनेवाला निर्द्वन्द्वरूपसे सिद्ध न हो सके। भावार्थ—आत्मा ही श्रद्धान करनेवाला है, त्रिगुणात्मक प्रकृति नहीं।

भ्रान्तेयमात्मनि प्रतीतिरिति चेन्न, बाधकाभावात्। नात्मधर्मः श्रद्धानं भङ्गुरत्वाद्घटवदित्यपि न तद्बाधकं ज्ञानेन व्यभिचारित्वात्। न च ज्ञानस्यानात्मधर्मत्वं शुक्तमात्मधर्मत्वेन प्रसाधितत्वात्। ततः शुक्तमात्मस्वरूपं दर्शनमोहरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनस्य लक्षणमिति।

आत्मामें श्रद्धान गुणको सिद्ध करानेवाली यह पूर्वोक्तप्रतीति भ्रमरूप है, ऐसा तो नहीं कहना। क्योंकि जिस बुद्धिके उत्तरकालमें बाधक प्रमाण उत्थित हो जाता है वह भ्रांत मानी जाती है। किंतु आत्मामें श्रद्धानको सिद्ध करनेवाली प्रतीतिका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। बाधकोंके असम्भव होनेसे प्रमाणताकी प्रतीति हो जाती है। यहांपर सांख्य अपने मतकी पुष्टि करनेके लिए एक अनुमान बोलते हैं कि श्रद्धान करना (पक्ष) आत्माका धर्म नहीं है (साध्य) क्योंकि तत्त्वोंका श्रद्धान करना नाश होनेवाला भाव है (हेतु) जैसे कि घट उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, अतः आत्माका स्वभाव नहीं है, वैसे ही कूटस्थनित्य माने गये आत्माका स्वभाव नष्ट होनेवाला श्रद्धान नहीं हो सकता है। नित्य वस्तुके स्वभाव भी नित्य ही होते हैं। यों यह सांख्योंका अनुमान भी उस प्रतीतिका बाधक नहीं है, क्योंकि अनुमानमें दिये गये भङ्गुरत्व हेतुका ज्ञान करके व्यभिचार होता है अर्थात् विनाशीकपना ज्ञानमें है, वहां आत्माका धर्म न होना रूप साध्य नहीं है। कारण कि ज्ञान आत्माका स्वाभाविक धर्म है। यदि कापिल यों कहें कि ज्ञान भी आत्मासे भिन्न कही गयी प्रकृतिका धर्म है। आत्माका नहीं, सो यह कहना युक्तियोंसे शून्य है, क्योंकि ज्ञानको आत्माके धर्मपना स्वरूपकरके हम पहिले भले प्रकार सिद्ध कर चुके हैं। इस कारण हमने यह बहुत अच्छा कहा था कि दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे रहित हुए आत्माका स्वभाव, तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना है और वह सम्यग्दर्शनका लक्षण है। यहांतक इस प्रकरणको समाप्त कर दिया है।



द्वितीय सूत्रका सारांश

इस द्वितीय सूत्रका संक्षेपसे विवरण यों है कि निरुक्तिसे सम्यग्दर्शनका अर्थ भले प्रकार देखना होता था, किन्तु वह इष्ट नहीं है। अतः सम्यग्दर्शनके स्वतन्त्र लक्षणको मूल सूत्रकारने कण्ठोक्त कहा, जिससे कि तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन होसकता है। यौगिकसे रूढि और रूढिसे पारिभाषिक अर्थ बलवान् होता है। इस श्रद्धानके होते हुए ही भगवान् अर्हन्त देवका दर्शन करना भी मोक्ष–मार्गमें उपयोगी होजाता है। अन्यथा नहीं। सबके अर्थरूप और अनर्थरूपपने इन दो एकान्तोंका खण्डन करते हुए तथा काल्पित अर्थके श्रद्धानका वारण करते हुए अर्थ पदकी सार्थकता दिखलायी है। धन प्रयोजन, निवृत्ति आदिक रूप अर्थोंके श्रद्धान करनेसे सम्यग्दर्शन नहीं होपाता है, वास्तवमें विचार जावे तो असत्रूप, पदार्थ है भी नहीं, गौ भैंस आदि भी धन हैं। किन्तु साधुका धन निर्ग्रन्थता और तपस्या है। इष्ट अनिष्ट व्यवस्था कल्पित है। कल्पित व्यवहारोंसे माने गये वस्तुके सद्भूत अंश उसके एक देश हैं। किन्तु पूर्ण वस्तुरूप तत्त्वको जाननेपर जीव, पुद्गलका भेद-विज्ञान करनेवाला सम्यग्दृष्टि होता है अकेले अर्थ और अकेले तत्त्वका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन नहीं है। जिन वास्तविक स्वभावों करके पदार्थ व्यवस्थित होरहा है उन्हीं स्वभावों करके श्रद्धान किये जानेपर वह तत्त्वार्थ है। एकान्तवादियोंके द्वारा माना गया अर्थ मिथ्या है। सम्यक् पदके कहनेसे मूढश्रद्धान और संदिग्ध तथा विपरीत श्रद्धानोंका वारण करदिया है। श्रद्धान और ज्ञानमें विशेष अन्तर है। ये दोनों स्वतन्त्र गुण हैं। ज्ञान और चारित्रके मूललक्षण सूत्रोंकी आवश्यकता नहीं है, निरुक्ति, कारण, विधान, आदिसे ही उनका लक्षण टपक पडता है। इसके आगे श्रद्धानको विश्वासरूप इच्छा माननेवालोंका खण्डन किया है कि यों तो इच्छारहित निर्ग्रन्थ मुनियों और पूज्य अर्हन्तों तथा सिध्दोंके सम्यग्दर्शनके अभाव होजानेसे मोक्षका भी अभाव होजावेगा, यह प्रसङ्ग इष्ट नहीं है। श्रध्दानको आत्माका धर्म माननेपर अल्प, बहुत्व आदिकी व्यवस्था बन जाती है। सम्यग्दर्शन आत्माका ही गुण है। जीव और कर्म इन दोनों द्रव्योंका एक गुण नहीं होसकता है तथा कर्मोंके गुणसे कर्मोंका नाश भी नहीं होसकता है। जो जिसका गुण होता है वह उसकी रक्षा ही करता है पराधीनताको नहीं।

सम्यग्दर्शनके सराग और वीतराग दो भेद हैं। सरागसम्यक्त्व चौथे गुणस्थानसे दसवें गुणस्थानतक और वीतराग सम्यक्त्व सिध्द अवस्थातक पाया जाता है। सराग सम्यक्त्वका प्रशम आदि चार गुणोंसे अनुमान करलिया जाता है। प्रशम आदि चार गुण सम्यग्दृष्टियोंके ही हो सकते हैं। श्री पञ्चाध्यायीके अनुसार अभव्योंमें या भव्योंके भी पहिले, दूसरे, तीसरे गुणस्थानोंमें प्रशम

आदि गुणोंको स्वीकार करना आचार्य महाराजको इष्ट नहीं है। इस सिध्दान्तको बहुत अच्छे लक्षणों करके श्रीविद्यानन्द आचार्यने पुष्ट किया है जिसका कि आनन्द ग्रन्थराजके अध्ययनसे प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शनका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे पूर्णतया अनुभव नहीं होपाता है। हां, उसके प्रशम आदि कार्योंका अनुभव होता रहता है। सम्यग्दृष्टि जीवके प्रशम आदिकगुण अवश्य पाये जावेंगे, दोनोंमें समव्याप्ति है। पञ्चाध्यायीकारके अनुसार मानी गयी विषमव्याप्ति नहीं स्वीकार की गयी है। प्रशम आदिकोंके निर्णयका उपाय भी भले प्रकार बतला दिया है। सर्व ही सराग सम्यग्दर्शनोंका अनुमान हो ही जावे यह नियम नहीं है, वीतराग सम्यग्दर्शनका ज्ञान कर लेना तो अतीव दुस्साध्य है। प्रत्यक्षदर्शी उसको जानते हैं। श्रध्दान जड पदार्थोंका गुण नहीं है। किन्तु ज्ञानके समान चेतनात्मक होनेसे आत्माका स्वभाव सम्यग्दर्शन है। आत्मद्रव्य नित्य है, किन्तु उसके सभी परिणाम उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे युक्त हैं। श्रध्दान, सुख, ज्ञान, चारित्र आदि ये सब आत्माके सहभावी और क्रमभावी अंश हैं। कालत्रयवर्ती नित्य गुणोंको सहभावी अंश (पर्याय) कहते हैं और ऊर्ध्वांश कल्पनारूप स्वभावोंको क्रमभावी अंश (पर्याय) कहते हैं। ये दोनों पर्यायार्थिक नयके विषय हैं।

अनन्तभवसन्तानध्वांतनिर्नाशने पटुः ।
सम्यग्दर्शनभास्वान्नः पुनीतात्प्रशमोत्करैः ॥

अब सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके कारणोंको कहनेवाले सूत्रका अवतरण उठाते हैं—

न सम्यग्दर्शनं नित्यं नापि तन्नित्यहेतुकम् ।
नाहेतुकमिति प्राह द्विधा तज्जन्मकारणम् ॥

सम्यग्दर्शन नित्य नहीं है, क्योंकि संसारी जीवोंके किसी किसी विशेष कालमें उत्पन्न होता है। और उस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न करानेवाले कारण भी नित्य नहीं हैं। क्योंकि कभी कभी होनेवाले काललब्धि, उपशम आदि कारणोंसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तथा सम्यग्दर्शन गुण अपने उत्पादक कारणोंसे रहित भी नहीं है। क्योंकि जो सत् हेतुओंसे रहित होता है, वह अनादिसे अनंततक रहनेवाला नित्य हो जाता है, किंतु संसारी जीवोंके विशेष समयमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। तिनमें प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न होकर कुछ कालके पश्चात् नष्ट हो जाते हैं और क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञानी या श्रुतकेवली मुनिके निकट उत्पन्न होकर अनंतकालतक ठहरता है। अतः सम्यग्दर्शन हेतुओंसे रहित नहीं है, किंतु हेतुमान् है। इस सिद्धांतको पुष्ट करनेके लिए ही सूत्रकार उमास्वामी महाराज उस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके कारणोंको दो प्रकाररूपसे अग्रिम सूत्र द्वारा अच्छीतरह स्पष्ट कहते हैं— सुनिये ।

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

वह प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन तो परोपदेशके विना अन्य अभ्यन्तर और बहिरंग कारणोंका समुदायरूप स्वभावसे अथवा श्रेष्ठ आगमके आश्रित होरहे परोपदेशसे उत्पन्न हुए अधिगमरूप ज्ञानसे उत्पन्न होता है ।

उत्पद्यत इति क्रियाध्याहारान्न नित्यं सम्यग्दर्शनं ज्ञायत इति । नोत्पद्यत इति क्रियाध्याहारान्नित्यं तदिति चेत्, द्रव्यतः पर्यायतो वा ? द्रव्यतश्चेत् सिध्दसाध्यता । पर्यायतस्तु तस्य नित्यत्वे सततसंवेदनप्रसङ्गः ।

मूलसूत्रमें पञ्चमी विभक्तिवाले दो पद कहे गये हैं, इस कारण उत्पन्न हो जाता है ऐसी क्रियाका अध्याहार करलिया जाता है। जो पद सूत्रोंमें नहीं होते हैं वे दूसरे सूत्रोंसे भी ले लिये जाते हैं। और अस्ति (है), भवति (होता है), उत्पद्यते (उपजता है) वर्तते (वर्ते है), आदि क्रियायें किसी भी आगे पीछेके सूत्रोंमें नहीं मिलती हैं, उन गम्यमान क्रियाओंका योग्यता और तात्पर्यके बलसे शाब्दबोध करानेके लिये अध्याहार करलिया जाता है। प्रकृतमें उपयोगी होरहे शाब्दबोधके लिये गम्यमान क्रियाओंका और पदोंका बाहिरसे आयोजन करलेना अध्याहार कहलाता है। जब कि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें निसर्ग और अधिगम ये दो कारण बतलाये जारहे हैं, ऐसी दशामें सम्यग्दर्शनका नित्यपना नहीं जाना जासकता है। यहां कोई शंका करता है कि जैसे आपने " उत्पद्यते " क्रियाका अध्याहार किया है, उसीके समान यदि " नोत्पद्यते " यानी सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम इन दोनों कारणोंसे उत्पन्न नहीं होता है, हमारे द्वारा ऐसी क्रियाका अध्याहार करनेपर तो वह सम्यग्दर्शन नित्य हो जावेगा। आपकी " उत्पद्यते " क्रियाका अध्याहार तो किया जावे, और हमारी " नोत्पद्यते " क्रियाका अध्याहार न किया जावे, इसका नियामक आप जैनोंके पास कुछ नहीं है। ऐसा कटाक्ष करनेपर तो सम्यग्दर्शनको नित्य माननेवाले वादीसे हम जैन पूंछते हैं कि आप सम्यग्दर्शनको द्रव्यरूपसे नित्य कहते हो अथवा पर्यायरूपसे ? बताओ। यदि द्रव्यदृष्टिसे सम्यग्दर्शनको नित्य कहोगे तब तो हमको भी इष्ट है। भावार्थ—सम्यग्दर्शनभाव जिस अखण्ड द्रव्यका अंश है वह आत्मद्रव्य नित्य है। अंशीसे अंश अभिन्न है, इसलिये सम्यग्दर्शन भी नित्य है, ऐसा माननेपर आपके ऊपर सिध्दसाधन दोष है। क्योंकि जिस सिद्धान्तको हम मानरहे हैं उसीको पुष्ट करनेसे या उसीके अनुरूप कटाक्ष करनेसे क्या लाभ ? और दूसरे पक्षके अनुसार यदि पर्यायार्थिक नयसे उस सम्यग्दर्शनको नित्य मानोगे तब तो सदाकाल ही सम्यग्दर्शनके संवेदन होते रहनेका प्रसंग होगा, क्योंकि आपके मतानुसार सम्यग्दर्शन पर्याय सर्वदा विद्यमान है। किन्तु उस सम्यग्दर्शन पर्यायका सर्वदा संवेदन तो होता नहीं है। अतः सम्यग्दर्शनपर्यायको नित्य नहीं मानना चाहिये ।

नित्यं तदनन्तत्वाज्जीवद्रव्यवदिति चेन्न, केवलज्ञानादिभिर्व्यभिचारात्। तेषामपि पक्षीकरणे मोक्षस्य नित्यत्वप्रसक्तेः क संसारानुभवः ?।

फिर भी शंकाकार यदि वह सम्यग्दर्शन (पक्ष) नित्य है (साध्य) क्योंकि अनन्त काल तक विद्यमान रहता है। (हेतु) जैसे कि जीवद्रव्य (अन्वयदृष्टान्त), इस अनुमानसे सम्यग्दर्शनको नित्य सिद्ध करेगा, सो तो ठीक नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान, अनन्तसुख, सिद्धत्व, आदि स्वभावों करके व्यभिचार हो जावेगा। ये सब उत्पन्न हुए पीछे अनन्तकालतक आत्मामें विद्यमान रहते हैं। किन्तु अनादि कालसे आये हुए नहीं है। अतः नित्य नहीं माने गये हैं। यदि शंकाकार उन केवलज्ञान आदि क्षायिक भावोंको भी पक्षकोटिमें करेंगे अर्थात् उनको भी नित्यपना सिध्द करनेका प्रयत्न करेंगे तो मोक्षको भी नित्यपनेका प्रसंग होजावेगा। जो अनादिसे अनन्तकालतक उन्हीं भावोंसे बना रहता है उसको नित्य कहते हैं, जब कि केवलज्ञान आदि भाव जीवके अनादिसे अनन्तकालतक रहेंगे तो ऐसी दशामें राग, द्वेष, अज्ञान, दुःखरूप संसारका अनुभव करना कहां रहा ? सभी अनादिकालसे मुक्त होचुके व बैठेंगे।

न च मोक्षकारणस्य सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकस्यानित्यत्वेऽपि मोक्षस्यानित्यत्वमुपपद्यते, मोक्षस्यानन्तत्वेऽपि च सादित्वे सम्यक्त्वादीनामनन्तत्वेऽपि सादित्वं कथं न भवेत् ? ततो नोत्पद्यत इति क्रियाध्याहारविरोधः।

मोक्षके कारण माने गये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों पर्यायोंके तदात्मक स्वभावको अनित्यपना होते हुए भी मोक्षको अनित्यपना नहीं बनता है। अर्थात् मोक्ष अनंतकाल तक रहेगी। क्योंकि आत्माका परद्रव्यसे सम्बन्ध करानेवाले मिथ्यादर्शन आदि हेतुओंका मूलसहित ध्वंस हो गया है। तथा मोक्षके अनंतकालतक विद्यमान रहते हुए भी मोक्षको सादिपना जैसे अविरुध्द है वैसे ही सम्यग्दर्शन आदिकोंको क्षायिक होनेके कारण अनंतकालतक ठहरते हुए भी सादिपना कैसे न होगा ?। भावार्थ—सादि होते हुए भी सम्यग्दर्शन और मोक्ष अनंतकालतक विद्यमान रहते हैं। अतः सम्यग्दर्शनको नित्य नहीं मानना चाहिए। किंतु वह अपने कारणोंसे उत्पन्न होता है। इस कारण " नोत्पद्यते " इस क्रियाके अध्याहार करनेका विरोध है। सम्यग्दर्शन, चेतना और चारित्रगुण नित्य हैं। किंतु इनके सम्यक्त्व, केवलज्ञान, यथाख्यातचारित्र ये परिणाम अनित्य हैं। इनका सदृश परिणाम एकसा अनंतकालतक होता रहेगा, यों मोक्ष अवस्था या सिध्दपर्याय भी सादि अनन्त है।

एतेनाहेतुकं सद्दर्शनमिति निरस्तम्। नित्यहेतुकं तदित्यप्ययुक्तं, मिथ्यादर्शनस्यास्वसद्भावप्रसङ्गात् तत्कारणस्य सद्दर्शनकारणे विरोधिनि सर्वदा सति सम्भवादनुपपत्तेः, येन च तन्नित्यं नापि नित्यहेतुकं नाहेतुकम्।

इस पूर्वोक्त कथनसे सम्यग्दर्शनको हेतुरहितनेपका भी खण्डन कर दिया गया, समझ लेना चाहिए। जो वादी सम्यग्दर्शनको नित्य मान रहा था, वह वादी सम्यग्दर्शनको उत्पादक हेतुओंसे रहित मानता है जब कि वैशेषिकोंके माने गये ध्वंसके समान हम मोक्षको और क्षायिक सम्यग्दर्शनको सादि और अनंत मानते हैं, ऐसी दशामें सम्यग्दर्शनको हेतुरहित सत्पदार्थ नहीं मानना चाहिए, जो सत् होकर अकारणवान् होगा, वह नित्य होगा, किंतु जो कारणवान् है वह नित्य नहीं। और उस सम्यग्दर्शनका कारण नित्य ही है यह कहना भी युक्तियोंसे शून्य है। क्योंकि ऐसा माननेपर मिथ्यादर्शनका आत्मामें सद्भाव न रह सकेगा यह अनिष्ट प्रसंग आता है। जब कि उस मिथ्यादर्शनके कारण कहे गये मिथ्यात्व कर्मका विरोधी हो रहे सम्यग्दर्शनके उपशम आदि कारण सर्वदा आत्मामें विद्यमान हैं तो ऐसी दशामें मिथ्यादर्शनके उत्पन्न होनेका अवसर ही नहीं प्राप्त होगा, जैसे कि अग्निके होनेपर शीत–स्पर्शका सम्भव नहीं है। अतः विद्यमान माने गये मिथ्यादर्शनके सद्भावकी सिध्दि न हो सकनेके कारण सम्यग्दर्शन नित्य हेतुवाला नहीं है। जिससे कि वह सम्यग्दर्शन नित्य हो सके, अर्थात् मिथ्यादर्शनका सद्भाव भी संसारी जीवोंमें पाया जाता है। इससे सिध्द है कि वह सम्यग्दर्शन नित्य नहीं है। और सम्यग्दर्शनके कारण भी नित्य नहीं हैं। तथा कभी कभी हेतुओंसे उत्पन्न हुआ वह सम्यग्दर्शन निर्हेतुक भी नहीं है। तभी तो आचार्य महाराजने निसर्ग और अधिगमसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना बताया है। जिस कारणसे कि सम्यग्दर्शन ऐसा नहीं है—(इस वाक्यका अन्वय आगेकी कारिकामें जोड लेना)

तेन नानादिता तस्य सर्वदोत्पत्तिरेव वा ।
नित्यं तत्सत्त्वसम्बद्धात्प्रसज्येताविशेषतः ॥ १ ॥

तिस कारणसे उस सम्यग्दर्शनको अनादिपनेका प्रसंग नहीं होता है। क्योंकि एकान्त रूपसे हम सम्यग्दर्शनको अनाद्यनन्तरूप नित्य नहीं मानते हैं। और उस सम्यग्दर्शनकी सब कालोंमें उत्पत्ति ही होते रहनेका भी प्रसंग नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके कारणोंका हम नित्य विद्यमान रहना नहीं मानते हैं, यों सम्यग्दर्शन नित्यहेतुक नहीं है। कारण कि काललब्धि, अधःकरण, प्रतिपक्षी कर्मोंका उपशम, आदि कारणोंके मिलनेपर वह सम्यग्दर्शन कभी कभी उत्पन्न होता है। सर्वदा उत्पन्न नहीं हो पाता है। तथा अनेक कालोंमें संसारी आत्माओंके मिथ्यादर्शनके विद्यमान होनेका सम्बन्ध हो रहा है। अतः सम्यग्दर्शनके नित्यपनेका भी प्रसङ्ग नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनको हम अहेतुक नहीं मानते हैं। अथवा आत्मामें उस सम्यग्दर्शनकी सत्ताका सम्बन्ध सहितपना होनेके कारण सामान्यरूपसे नित्यपनेका प्रसंग दिया जा सकता था। किन्तु सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मामें सर्वदा सम्यग्दर्शन विद्यमान नहीं माना है। जब सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होनेके कारण मिलेंगे

तभी सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा, आगे पीछे नहीं। अन्य घट, पट, मिथ्यादर्शन आदि कार्योसे सम्यग्दर्शनमें कार्यपनेकी कोई विशेषता नहीं है अर्थात् जैसे कि वे घट, पट आदिक नित्य, नित्यहेतुक, या अहेतुक नहीं हैं तैसे ही सम्यग्दर्शन भी ऐसा नहीं है। इस प्रकार नित्यपना, नित्यहेतुकपना और अहेतुकपना न माननेके कारण सम्यग्दर्शनको अनादिता, सर्वदा उत्पत्ति और नित्यसम्बन्धीपनेका प्रसंग नहीं हो सकता है।

ननु च मिथ्यदर्शनस्य नित्यत्वाभावेऽपि नानादित्वव्यवच्छेदो दृष्ट इति चेन्न, तस्यानादिकारणत्वात्। न च तत्कारणस्यानादित्वान्नित्यत्वप्रसक्तिः सन्तानापेक्षयानादित्ववचनात् पर्यायापेक्षया तस्यापि सादित्वात्, तस्यानाद्यनन्तत्वे वा सर्वदा मोक्षस्याभावापत्तेः।

यहां आक्षेपपूर्वक शंका है कि जैसे मिथ्यादर्शनको नित्यपना न होते हुए भी अनादिपनेका निराकरण होना नहीं देखा गया है अर्थात् मिथ्यादर्शन अनादिसे चला आ रहा है और नित्य नहीं है। तैसे ही नित्यपना न होते हुए भी सम्यग्दर्शनकी अनादिताका खण्डन नहीं हो सकता है, फिर आपने कारिकामें सम्यग्दर्शनको नित्यपना न होनेके कारण अनादिता नहीं है, यह कैसे कहा है? बताओ। हम तो कहते हैं कि नित्य न होते हुए भी मिथ्यादर्शनके समान सम्यग्दर्शनको भी अनादि कालसे आया हुआ मान लो। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि व्यक्तिरूपसे मिथ्यादर्शन अनादिकालका नहीं है, किंतु उस मिथ्यादर्शनका कारण मिथ्यात्व कर्म अनादिकालसे प्रवाहित होकर चला आ रहा है। अतः मिथ्यादर्शनको अनादिपना कहना ठीक नहीं है। हां, वह मिथ्यादर्शन धाराप्रवाहरूपसे अनादिकारणवाला है। स्वयं अनादि नहीं। अतः हम मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन दोनोंको भी नित्यपना न होनेके कारण अनादिपनेका निराकरण कर सकते हैं। यदि कोई यों कहे कि जब उस मिथ्यादर्शनका कारण अनादिकालसे चला आ रहा है तब तो मिथ्यादर्शनको नित्यपना प्राप्त हो जावेगा अर्थात् मिथ्यादर्शन अनादिपनेके साथ साथ नित्य भी हो जावेगा, जो कि मिथ्यादर्शनका नित्यपना हम तुम दोनोंको इष्ट नहीं है सो यह प्रसंग देना ठीक नहीं है। क्योंकि संतान (धाराप्रवाह) की अपेक्षासे मिथ्यात्वकर्मको अनादिपना हमने कहा है। पर्यायकी अपेक्षासे तो उन कर्मोंको और कर्मोंसे जनित भावोंको भी हम सादि मानते हैं। जैसे कि भारतवर्षमें अनादिसे अनंतकालतक मनुष्य पाये जाते हैं यह कथन संतान प्रतिसंतानकी अपेक्षासे है, किंतु एक विवक्षित मनुष्य तो कुछ वर्षोंसे अधिक जीवित नहीं रह सकता है, तैसे ही एक बारका उपार्जित किया हुआ मिथ्यात्वद्रव्य अधिकसे अधिक सत्तर कोटाकोटी सागरतक स्थित रहता है, फिर भी इन कर्मोंका प्रवाह (सिलसिला) अनादि कालसे चला आया है। अतः सिद्ध हुआ कि मिथ्यादर्शन नित्य नहीं है। इस कारण अनादि भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि उस मिथ्यादर्शनको अनादिसे अनंतकालतक विद्यमान मानोगे तो सदा ही मोक्ष न होनेका आपादन हो जावेगा, यानी सर्वदा मिथ्यादर्शनके विद्यमान होनेपर मोक्ष नहीं हो सकती है। यहांतक सम्यग्दर्श-

नको नित्यपना न होनेके कारण अनादिताका निराकरण सिद्ध कर दिया है। कारिकाके प्रथम पादका विवरण हो चुका।

नित्यहेतुकत्वाभावे सर्वदोत्पत्तिव्यवच्छेदोऽनुपपन्नः केषाञ्चित्संसारस्य तादृशत्वेऽपि सर्वदोत्पत्तिदर्शनादिति चेन्न, तस्य नित्यहेतुसन्तानत्वात्।

अब सम्यग्दर्शनके नित्यहेतुकपनेके खण्डनार्थ विचार चलाते हैं। तहां शंकाकारकी ओरसे पूर्वपक्ष उठाया जाता है कि आप जैनोंने कारिकाके द्वितीयपादमें सम्यग्दर्शनको नित्यहेतुकपना न मानते हुए यह कहा है कि यदि सम्यग्दर्शनका हेतु (कारण) नित्य माना जावेगा तो उस सम्यग्दर्शनकी सर्वदा उत्पत्ति होती रहेगी। किंतु सम्यग्दर्शनका हेतु नित्य नहीं है। अतः सर्वदा उत्पत्ति ही होते रहनेका प्रसंग नहीं होता है, यह आप जैनोंका कहना हमको अच्छा नहीं लगा। क्योंकि सम्यग्दर्शनको नित्यहेतुकपना (नित्य विद्यमान रहता है ज्ञापक हेतु जिसका, इस बहुव्रीहि समासमें " कप् " प्रत्यय किया है) न माननेपर आपका इष्ट किया गया सर्वदा उत्पत्तिका व्यवच्छेद (निषेध करना) सिद्ध नहीं हो पाता है, कारण कि जो जो नित्यहेतुक नहीं हैं वे वे सर्वदा उत्पत्तिवाले नहीं हैं, इस व्याप्तिमें व्यभिचार दोष है। देखिये, किन्हीं अभव्य जीवोंके संसारको नित्यहेतुकपना नहीं है। तैसा होते हुए भी उनके संसारकी सर्वदा उत्पत्ति होना देखा जाता है ग्रंथकार उत्तरपक्ष बोलते हैं कि शंकाकारका ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उन जीवोंके संसारके हेतुकी नित्यरूपसे संतान बनी रहती है। अर्थात् संतानरूपसे नित्यहेतुकपना होते हुए ही संसारकी सर्वदा उत्पत्ति हो रही है। उत्पत्तिका निरोध नहीं होने पाता है। अतः हम जैनोंने यह ठीक कहा था कि नित्यहेतुकपना न होनेके कारण ही सम्यग्दर्शनकी सर्वदा उत्पत्तिका व्यवच्छेद है, यानी सदा उत्पत्ति नहीं होने पाती है। यहांतक सम्यग्दर्शनके नित्यहेतुकपना न होनेके कारण सर्वदा उत्पत्ति होते रहनेका निराकरण हुआ सिद्ध कर दिया है। कारिकाके द्वितीय पादका विवरण हो चुका।

प्रागभावस्याहेतुकत्वेऽपि नित्यत्वसत्त्वयोरदर्शनान्नाहेतुकत्वे सम्यग्दर्शनस्य तत्प्रसंगो येन तन्निवृत्तये तस्य सहेतुकत्वमुच्यत इति चेन्न, प्रागभावस्याहेतुकत्वासिद्धेः।

अब सम्यग्दर्शनके अहेतुकपनेके खण्डनार्थ विचार चलाते हैं। तहां शंकाकारकी ओरसे पूर्वपक्ष उठाया जाता है कि आप जैनोंने कारिकाके तृतीय पादमें सम्यग्दर्शनको अहेतुकपना न मानते हुए यह कहा है कि यदि सत् रूपसे विद्यमान माने गये सम्यग्दर्शनका उत्पादक कोई हेतु न माना जावेगा तो वह सम्यग्दर्शन नित्य हो जावेगा और आत्माको उसकी सत्तासे सदा सम्बन्धित रहनेका प्रसंग आवेगा, किंतु सम्यग्दर्शनके हेतुओंका अभाव नहीं है, तिस ही कारण सत् सम्यग्दर्शनके नित्य ही विद्यमान रहनेका और नित्य ही उसकी सत्ताके सम्बन्धका प्रसंग नहीं है। यह वार्तिकका उत्तरार्ध हमको अच्छा नहीं लगा, क्योंकि सम्यग्दर्शनको अहेतुकपना न माननेपर आपका इष्ट किया गया सर्वदा ही नित्यपनेके निषेधका होना नहीं बनता है। कारण कि जो जो अहेतुक होते हैं, वे वे सर्वदा

सत्तासे सम्बद्ध होजानेके कारण नित्य होजाते हैं, इस व्याप्तिमें व्यभिचार देखा जाता है। कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्वसमयतक अनादि कालसे चले आये हुए प्रागभावको अहेतुकपना होते हुए भी नित्यपना और सत्पना नहीं देखा जाता है, कार्यके उत्पन्न होजानेपर प्रागभाव नष्ट होजाता है। अतः प्रागभाव त्रिकालवर्ती नित्य नहीं है और चार अभावोंमेंसे प्रागभाव एक अभाव पदार्थ है। अतः द्रव्य, गुण और कर्मके समान सत्ता जातिवाला नहीं है। तथा सामान्य, विशेष, और समवायके समान स्वरूपसत्ता (अस्तित्व) वाला भी नहीं है, अतः असत् है। जब अहेतुक (नहीं है हेतु जिसका) माने गये प्रागभावको नित्यपना और सत्पना नहीं देखा जाता है, तिसी कारण अहेतुक सम्यग्दर्शनको भी वह नित्य ही सत्ता बने रहनेका प्रसंग न होगा, जिससे कि आप जैन उस नित्यपनेकी निवृत्तिके लिये उस सम्यग्दर्शनका सहेतुकपना कहते हैं। भावार्थ—प्रागभावके समान अहेतुक सम्यग्दर्शन भी नित्य न होगा, व्यर्थका भय करनेसे क्या लाभ है ? । अब आचार्य कहते हैं कि शंकाकारको समीचीन व्याप्तिका प्रागभावमें उक्त व्यभिचार देना तो उचित नहीं है। क्योंकि प्रागभावको अहेतुकपना सिद्ध नहीं है। अतः हमारी " जो जो अहेतुक होता है वह वह नित्य होता है जैसे कि आत्मा, आकाश आदि द्रव्य हैं, इस व्याप्तिमें व्यभिचार नहीं है। इस कारण सम्यग्दर्शन अहेतुक न माना गया, अतः नित्यपनेका प्रसंग नहीं आया। हम प्रागभावको सहेतुक मानते हुए ही नित्य नहीं मान सके हैं।

स हि घटोत्पत्तेः प्राक् तद्विविक्तपर्यायपरम्परारूपो वा द्रव्यमात्ररूपो वा ? प्रथमपक्षे पूर्वपूर्वपर्यायादुत्पत्तेः कथमसौ कार्योत्पत्तिपूर्वकालभावी पर्यायकलापोऽहेतुको नाम यतः कार्यजन्मनि तस्यासत्त्वं पूर्वं सतोपि विरुध्यते तदा वाऽसत्वेपि पूर्वं सत्त्वं न घटते। द्वितीयपक्षे तु यथा प्रागभावस्याहेतुकत्वं तथा नित्यं सत्त्वमपि द्रव्यमात्रस्य कदाचिदसत्त्वायोगात्।

प्रागभावको अहेतुक और अनादि माननेवाले वैशेषिकोंके प्रति हम प्रश्न उठाते हैं कि घटकी उत्पत्तिसे पहिले रहनेवाला वह प्रागभाव किस स्वरूप है ? बताओ। क्या उस घट पर्यायसे रहित मानी गयी पहिलेकी कुशूल, कोष, स्थास, छत्र, शिवक आदि अनेक पूर्वकालवर्ती पर्यायोंकी परम्परा रूप है या वह प्रागभाव केवल द्रव्यरूप है ? कहिए। पहिला पक्ष स्वीकार करनेपर तो वह प्रागभाव कैसे अहेतुक हो सकेगा ? क्योंकि घटरूप कार्यकी उत्पत्तिके पहिले कालमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंका समुदायरूप प्रागभाव उनसे पहिले पहिलेकी पर्यायोंसे उत्पन्न होरहा है अर्थात् मिट्टीकी चूर्णपर्यायसे जलका निमित्त मिलनेपर शिवक पर्याय हुयी, शिवकसे छत्र, छत्रसे स्थास, स्थाससे कोष, और कोषसे कुशूल यों पर्यायें उत्पन्न होती हैं। इनसे चिरकाल पूर्वकी पर्यायोंमें भी यही धारा चली आरही है, ऐसी दशामें पूर्व पर्यायोंकी परम्परारूप प्रागभावको आप वैशेषिक अहेतुक भला कैसे मान सकते हैं ? जिससे कि कार्यका जन्म होजाने पर पहिले कालोंमें विद्यमान होते हुए भी उस प्रागभावकी कार्यकालमें असत्ता विरुद्ध पड जाती। अर्थात् वैशेषिकोंको यह भय लगा हुआ

था कि प्रागभावको अभावरूप न मानकर भावरूप मानलिया जावेगा तो कार्यके उत्पन्न हो जानेपर भी उस प्रागभावकी सत्ता बनी रहेगी। भावकी सत्ताको कौन रोक सकेगा। वैशेषिकोंको यह भय हृदयसे निकालदेना चाहिये। क्योंकि जैन सिद्धान्तके अनुसार पूर्वपर्याय सहित उपादानका क्षय हो जाना ही उत्तर उत्तरपर्यायसहित उपादेयकी उत्पत्ति है। उपादान कारण ही उपादेयरूप परिणमता है। इसका भाव भी यही है कि पूर्व पूर्व पर्यायें उत्तर उत्तर कालमें होनेवाले कार्योंकी प्रागभाव रूप हैं। अतः कार्यके पहिले तो प्रागभाव था, किन्तु कार्यके उत्पन्न हो जानेपर पूर्वपर्यायोंका समुदायरूप प्रागभाव नहीं विद्यमान है। वर्तमानकार्यके समयमें पहिली पर्यायें पर्यायरूपसे स्थिर नहीं रह सकती हैं। एक समयमें एक पर्यायका होना ही सम्भव है। इसके साथ इस भयको भी हृदयसे निकाल देना चाहिये कि उस कार्यकी उत्पन्नता हो जानेके समयमें प्रागभाव नहीं विद्यमान है तो कार्यके पहिले कालोंमें भी प्रागभावका विद्यमान रहना नहीं घटित होगा, क्योंकि स्याद्वादमतमें पूर्वपर्यायोंका समुदायरूप प्रागभाव मान लिया है। वह कार्यके उत्पन्न हो जाने पर न भी रहे किन्तु उससे पहिले अनादिकालसे पूर्वपर्यायमालारूप प्रागभाव विद्यमान रह चुका है। अतः पहिला पक्ष मानने पर तो जैन सिद्धान्तकी ही पुष्टि होती है। आपका प्रागभावको अनादिकालसे एकसा और अहेतुक मानना सिद्ध नहीं हुआ। दूसरा पक्ष मानने पर तो प्रागभावको जैसे अहेतुकपना है तैसे नित्य ही सत्पना भी है। क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्योंकी किसी भी समयमें असत्ता नहीं हो सकती है। अर्थात् प्रागभावको द्रव्यरूप माननेपर अनादिपना, अहेतुकपना और अनन्तपना, नित्य सत्पना स्वीकार करना पडेगा। आप पूर्वके दो धर्मोको मानते हैं, किन्तु प्रागभावमें अनन्तपना और नित्यसत्त्वपना स्वीकार नहीं करते हैं। बन्धुजन, प्रागभावको द्रव्य माननेपर तो त्रिकालवर्ती नित्यपना भी आपको मानना पडेगा। क्योंकि द्रव्य अनादिसे अनन्त कालतक सत्रूप रहता है। सत्द्रव्योंका नाश और असत् द्रव्योंका उत्पाद नहीं होता है। मुहम्मद मतानुयायियोंके खुदाकी इच्छाके अनुसार आत्मा आदि द्रव्योंकी उत्पत्तिको और चाहे जिस द्रव्यके विनाशको प्रामाणिक जैनदर्शन नहीं मानता है। हां! पर्यायोंका उत्पाद, विनाश होता रहता है। जडवाद विज्ञान (साइन्स) भी जैनोंके समान इस सिद्धान्तको स्वीकार करता है।

कार्योत्पत्तौ कार्यरहितत्वेन प्राच्येन रूपेण द्रव्यमसदेवेति चेत्, नन्वेवं कार्यरहितत्वमेव विशेषणमसत्र पुनर्द्रव्यं तस्य तन्मात्रस्वरूपत्वाभावात्।

वैशेषिक कहते हैं कि कार्यकी उत्पत्ति हो जानेपर द्रव्यका पूर्वकाल सम्बन्धी कार्य रहितपना नहीं रहता है, अतः पहिले कार्यरहितत्वरूप करके वर्तमानमें द्रव्य असत् ही है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन आपके प्रति अवधारण करते हुए कहेंगे कि उस प्रकार केवल कार्यरहितपना विशेषण ही द्रव्यमें विद्यमान नहीं है। अनन्तगुण, पर्याय, स्वभाव, अविभागप्रतिच्छेदरूप अंशोंका पिण्डस्वरूप द्रव्य तो तीनों कालों तो सत् है। द्रव्य फिर कैसे भी असत् नहीं हो सकता है। द्रव्यका

केवल वह कार्यरहितपना ही पूरा स्वभाव (पूरा शरीर) नहीं है। यदि ऐसा होता तो कार्य रहितपनेके नष्ट हो जानेपर कार्य सहित दशामें द्रव्य भी असत् हो जाता, किन्तु द्रव्य अनादिसे अनन्तकाल तक नित्य गुणोंका पिण्डस्वरूप अक्षुण्णरूप करके बना रहता है। विशेषण या पर्याय ही बदलते रहते हैं, ये सभी द्रव्यके अंश हैं।

तुच्छः प्रागभावो न भावस्वभाव इति चायुक्तं, तस्य कार्योत्पत्तेः पूर्वमेव सत्त्वविरोधात् कार्यकाले चाऽसत्त्वायोगात्, सत्त्वासत्त्वविशेषणयोर्भावाश्रयत्वदर्शनात्। तथा च न प्रागभावस्तुच्छः सत्त्वासत्त्वविशेषणाश्रयत्वात् द्रव्यादिवत् विपर्ययप्रसंगो वा विशेषाभावात्।

और भी वैशेषिक कहते हैं कि पर्यायसमुदायरूप या द्रव्यरूप प्रागभाव नहीं है, यहां पर्युदासपक्ष हमको इष्ट नहीं है, किन्तु प्रसज्यपक्षके अनुसार भावोंसे सर्वथा भिन्न माना गया प्रागभाव है, वह भावरूप नहीं है तथा कार्यता, कारणता, आधेयता, आधारता आदि विशेषणोंसे रहित होरहा वह प्रागभाव तुच्छ (निरुपाख्य) है, आचार्य कहते हैं कि यह कहना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि ऐसा माननेपर कार्यकी उत्पत्तिसे पहिले ही (भी) उस प्रागभावकी सत्ता माननेका विरोध होगा। और कार्यके विद्यमान रहनेके समयमें प्रागभावकी असत्ता भी न बन सकेगी। क्योंकि कोई वस्तु होवे तो उसकी सत्ता या असत्ता मानी जावे, अश्वके शृंग समान तुच्छ पदार्थमें सत्ता और असत्तारूप विशेषण नहीं ठहरते हैं। पहिले कालमें सत्ता और कार्यकालमें असत्ता आदि विशेषण तो भावरूप आधारमें रहते हुए देखे जाते हैं। तिस कारणसे हम अनुमान बनाकर सिद्धांत करते हैं कि वैशेषिकोंसे माना गया प्रागभाव (पक्ष) तुच्छ पदार्थ नहीं है (साध्य) सत्ता और असत्तारूप विशेषणोंका आधार होनेसे (हेतु) जैसे कि वैशेषिकोंसे माने गये द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, आदि पदार्थ सत्ता और असत्ताके आश्रय होनेसे तुच्छ नहीं हैं (अन्वयदृष्टान्त)। किन्तु वास्तविक अनेक स्वभाववाले भाव हैं। यदि अनेक परमार्थभूत विशेषणोंके आधारभूत पदार्थको भी आप तुच्छ मानोगे तो आप वैशेषिकोंको अपने सिद्धान्तसे विपरीत होरहे मन्तव्यको स्वीकार करनेका यह प्रसंग होगा कि द्रव्य, गुण, कर्म आदि भी (पक्ष) तुच्छ पदार्थ हैं (साध्य) सत्ता और असत्तारूप विशेषणोंके आधार होनेसे (हेतु) जैसे कि प्रागभाव (दृष्टांत) छह भाव पदार्थोंमें जैसे अपने धर्मोंकी सत्ता और अन्यके धर्मोंकी असत्ता रहती है, वैसे ही प्रागभावमें भी स्वरूप सत्ता और अन्यके धर्मोंकी असत्ता अथवा पहिले, पीछे, वे दोनों रहती हैं, कोई विशेषता (अन्तर) नहीं है। ऐसी दशामें एकको भाव मानना और दूसरेको तुच्छ अभाव मानना पक्षपाती या अन्धश्रद्धालुओंका कदाग्रह मात्र है। वास्तवमें देखा जावे तो संसारमें कोई तुच्छ पदार्थ ही नहीं है।

कदाचित्सत्त्वमसत्त्वं च विशेषणमुपचारात्प्रागभावस्येति चेत्, तर्हि न तत्त्वतः कदाचित्सत्त्वं पुनरसत्त्वमहेतुकस्यापि भवतीति सर्वदा सत्त्वस्यासत्त्वस्य वा निषृत्तये सद्दर्शनस्याहेतुकत्वं व्यवच्छेदव्यमेव नित्यत्वानित्यहेतुकत्ववत्।

यदि वैशेषिक यों कहें कि कभी (कार्यके पहिले) सत्ता रहना और कभी (कार्यके उत्पन्न होजानेपर) असत्ता रहना ये विशेषण तो प्रागभावके उपचारसे मानलिये गये हैं, वास्तवमें देखा जावे तो तुच्छ प्रागभावमें कोई विशेषण नहीं रहता है । ऐसा कहनेपर तब तो हम जैन कहेंगे कि वास्तविक रूपसे प्रागभावमें कभी सत्त्व भी न रहा और कभी असत्त्व भी न रहा, किन्तु वस्तु मानलेनेपर अहेतुक भी प्रागभावके या तो सब कालोंमें सत्त्व रह सकेगा या तुच्छ माननेपर फिर सदा असत्त्व ही रह सकेगा, इन दोनोंकी निवृत्ति करनेके लिये आप वैशेषिकोंको भी प्रागभावके अहेतुकपनेका आग्रह छोड देना चाहिये । और प्रकृतमें यदि सम्यग्दर्शनगुण अहेतुक माना जाता तो आत्मामें नित्य ही उसकी सत्ताका संबन्ध होजानेका प्रसंग होजाता अथवा तुच्छ प्रागभावके समान सम्यग्दर्शनकी सत्ता ही आत्मामें कभी नहीं मिलती । इन दोनों प्रसङ्गोंकी निवृत्तिके लिये सम्यग्दर्शनके अहेतुकपनेका व्यवच्छेद करना ही न्याय्य है । जैसे कि नित्यपना और नित्यहेतुकपना सम्यग्दर्शनमें नहीं है । यहांतक जैसे नित्यपना न होते हुए भी मिथ्यादर्शनके अनादित्वका व्यवच्छेद नहीं होता है और नित्यहेतुकपना न होते हुए भी संसारकी सर्वदा उत्पत्तिका व्यवच्छेद होना नहीं देखा जाता है तथा अहेतुकपना होते हुए भी प्रागभावका नित्य सत्त्व नहीं देखा जाता है, यानी अहेतुकत्वके न होनेपर ही आप जैन सम्यग्दर्शनके नित्यसत्त्वका निषेध करते थे सो नहीं है । प्रागभावकी अहेतुक होते हुए भी नित्यसत्ता नहीं देखी जाती है । तैसे ही कारिका द्वारा कहे गये इन तीनों दोषोंका सम्यग्दर्शनमें भी प्रसंग नहीं होपाता है । इस प्रकार इन मिथ्यादर्शन, संसार और प्रागभावका दृष्टान्त लेकर सम्यग्दर्शनको भी नित्यपना, नित्यहेतुकपना और अहेतुकपना माननेवाले अन्यमतियोंका निराकरण करके निसर्ग और अधिगमसे कभी कभी सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके सूत्रोक्त सिद्धान्तको पुष्ट कर दिया है ।

निसर्गादिति निर्देशो हेतावधिगमादिति ।
तच्छब्देन परामृष्टं सम्यग्दर्शनमात्रकम् ॥ २ ॥

सूत्रमें निसर्गात् ऐसा और अधिगमात् ऐसा पञ्चमीविभक्तिके एक वचनका प्रयोग किया है, कारक सूत्रोंके अनुसार यहां हेतुरूप अर्थमें पञ्चमी विभक्ति हुई है । इस कारण तत् शब्दके द्वारा केवल सम्यग्दर्शनका ही परामर्श किया जाता है । भावार्थ—पूर्वमें कहे गये पदार्थका तत् शब्द करके स्मरण और प्रत्यभिज्ञानके लिए उपयोगी परामर्श (खेंचना) किया जाता है । यहां मोक्षमार्ग, ज्ञान और चारित्रको छोडकर तत् शब्दने सम्यग्दर्शनका ही संकलन कराया है । क्यों कि निसर्ग और अधिगमरूप दोनों हेतुओंसे उत्पत्ति होना सम्यग्दर्शनमें ही घटता है । मोक्षमार्ग आदिमें नहीं ।

सूत्रेऽस्मिन्निसर्गादिति निर्देशोऽधिगमादिति च हेतौ भवन् सम्यग्दर्शनमात्रपरामर्शित्वं तच्छब्दस्य ज्ञापयति तदुत्पत्तावेव तयोर्हेतुत्वघटनात्, ज्ञानचारित्रोत्पत्तौ तयोर्हेतुत्वे सिद्धान्तविरोधान्न मार्गपरामर्शित्वमुपपन्नम् ।

" तन्निसर्गादधिगमाद्वा " इस सूत्रमें निसर्गात् और अधिगमात् इस प्रकार हेतु अर्थमें हो रहे पञ्चमी विभक्तिवाले पदोंका कथन करना तो तत् शब्दके द्वारा अकेले सम्यग्दर्शनको परामर्श करनेवालेपनको ज्ञापन कर रहा है, क्यों कि उस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें ही उन निसर्ग और अधिगम दोनोंको हेतुपना घटित हो जाता है, ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्तिमें यदि उन निसर्ग और अधिगम हेतु माना जावेगा तो सिद्धान्तसे विरोध होगा। जैन सिध्दांतमें प्रत्येक ज्ञानको निसर्ग और अधिगम दोनोंसे उत्पन्न हुआ नहीं माना है, जो ज्ञान निसर्गज है वह अधिगमज नहीं है और जो ज्ञान अधिगमसे जन्य है वह निसर्गसे उत्पन्न हुआ नहीं है । चारित्र तो सबके सब अधिगमसे ही जन्य हैं। किंतु सम्यग्दर्शनमें यह बात नहीं है, प्रत्येक सम्यग्दर्शन दोनों कारणोंसे पैदा हो जाता है। तथा इस ही कारणसे तत् शब्द के द्वारा मोक्षमार्गका परामर्श करना भी साधक प्रमाणोंका कथन करना रूप युक्तिसे सिद्ध नहीं हो जाता है, अर्थात् मोक्षमार्गकी भी दोनों कारणोंसे उत्पत्ति माननेमें सिध्दांतसे विरोध है। तत् इस नपुंसक लिंग शब्दका प्रयोग करनेसे पुल्लिंग मार्गका परामर्श हो भी नहीं सकता है, अतः तत् शब्द से अकेले सम्यग्दर्शनका ही ग्रहण होता है।

सम्यग्ज्ञानं हि निसर्गादेरुत्पद्यमानं निःशेषविषयं नियतविषयं वा ? न तावदादिविकल्पः केवलस्य सकलश्रुतपूर्वकत्वोपदेशान्निसर्गजत्वविरोधात् सकलश्रुतज्ञानं निसर्गादुत्पद्यते इत्यप्यसिद्धं, परोपदेशाभावे तस्यानुपपत्तेः।

आचार्य महाराज पूंछते हैं कि क्यों जी ? सम्यग्ज्ञानको भी यदि आप अवश्य निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न होता हुआ मानेंगे ? तो बताओ ! सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाले सम्यग्ज्ञानको अथवा नियमित परिमित विषयोंको जाननेवाले सम्यग्ज्ञानको दोनोंसे उत्पन्न हुआ मानते हो ? कहिये। तिन दोनों विकल्पोंमेंसे पहिले आदिका विकल्प होना तो ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानकी उत्पत्ति तो पूर्ववर्त्ती पूर्ण द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानरूप कारणसे होती हुयी मानी है। बारहवें गुणस्थानके आदिमें ही पहिले हीसे उपशम श्रेणी और क्षपकश्रेणीमें पूर्ण द्वादशांगका ज्ञान हो जाता है। उपशम श्रेणीमें शुक्लध्यान है और चतुर्विध शुक्लध्यानके पहिले दो पाये तो पूर्ववितर्कके होते हैं, किंतु जघन्यरूपसे वहां पञ्चसमिति, तीन गुप्तियोंके प्रतिपादक आठ प्रवचन मालाओंका ज्ञान है, दूसरी बात यह है कि किसी किसी निर्ग्रन्थ साधुके बारहवें गुणस्थानमें अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान हैं, किन्तु बारहवेंमें उपयोग श्रुतज्ञानरूप ही है। वास्तवमें श्रुतज्ञान ही पूर्वापर पर्यायोंका पिण्ड होता हुआ ध्यान बन जाता है। केवलज्ञानमें अत्युपयोगी श्रुतज्ञान है। अवधि मनःपर्यय, नहीं है। किसी साधुके तो अवधि मनःपर्यय होते ही नहीं और केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। हां, बारहवें गुणस्थानकी आदिमें पूर्ण श्रुतज्ञान अवश्य है। आर्षशास्त्रोंमें सम्पूर्ण श्रुतज्ञानपूर्वक ही केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेका उपदेश लिखा हुआ है। अतः पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान तो अधिगमजन्य ही हुआ, निसर्गसे उत्पन्न हुआ नहीं है। यों

निसर्गसे उपजनेका विरोध है। दूसरे विकल्प अनुसार तत् शब्दसे सम्यग्ज्ञानका भी आकर्षण करने वाले आप लोग यदि यों कहें कि सम्पूर्ण पदार्थोंको परोक्षरूपसे विषय करनेवाला सम्पूर्ण श्रुतज्ञान तो निसर्गसे उत्पन्न हो जाता है पहिले विकल्पके अनुसार आप केवलज्ञानको न पकडकर पूर्ण द्वादशांग श्रुतज्ञानको पकडेंगे, सो यह कहना भी आपका सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि दूसरे आप्त पुरुषोंके उपदेश विना उस पूर्ण श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति भी सिद्ध नहीं होती है। आत्मा और कर्मके सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन करचुकनेपर अथवा पांच समितियोंके, तीन गुप्तियोंके, प्रतिपादक शास्त्रोंका मनन करचुकनेपर ही पूर्ण श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। यह दूसरी बात है कि किसीको आप्तके उपदिष्ट शास्त्रोंका अध्ययन करनेपर बहुत काल पीछे अथवा अनेक जन्मोंके पश्चात् पूर्ण श्रुतज्ञान हो और किसी अञ्जन चोर, शिवभूति आदिको कतिपय मुहूर्तोंमें ही पूर्ण श्रुतज्ञान हो जावे। किन्तु पूर्ण श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें आप्तोंके आम्नायसे प्राप्त हुये लिखित या मौखिक उपदेश साक्षात् या परम्परासे कारण अवश्य माने गये हैं। सौधर्म इन्द्र, सर्वार्थ सिद्धिके देव इन सबके उक्त कारण विद्यमान हैं।

स्वयंबुद्धश्रुतज्ञानमपरोपदेशमिति चेन्न, तस्य जन्मान्तरोपदेशपूर्वकत्वात् तज्जन्मापेक्षया स्वयंबुद्धत्वस्याविरोधात्।

यदि यहां कोई यों कहे कि जो मुनि बोधित बुद्ध हैं, उनको श्रुतज्ञान दूसरे आप्तोंके उपदेशसे भले ही होवे, किन्तु जो मुनिमहाराज स्वयंबुद्ध हैं अर्थात् अपने आप ही अध्यवसाय करके जिन्होंने पूर्ण श्रुतज्ञानको पैदा करलिया है, उन मुनियोंका श्रुतज्ञान तो परोपदेशकी अपेक्षा नहीं करता है, अतः उसको निसर्गसे जन्य सम्यग्ज्ञान कह देना चाहिये, सो ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उन प्रत्येकबुद्ध (स्वयंबुद्ध) मुनियोंके भी इस जन्मसे पहिलेके दूसरे जन्मोंमें जाने हुए हुए आप्त महाराजके उपदेशको कारण मानकर ही इस जन्ममें पूर्ण श्रुतज्ञान हो सका है। इस जन्मकी अपेक्षासे उनको स्वयंबुद्धपना होनेमें कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—वर्तमान जन्ममें दूसरोंके उपदेश विना जिन्होंने श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है वे, स्वयंबुद्ध हैं यानी प्रत्येकबुद्ध हैं और जिन्होंने विवक्षित जन्ममें दूसरोंके उपदेशको ग्रहणकर श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है वे बोधित बुद्ध हैं। यदि दूसरे जन्मोंमें ग्रहण किये हुए उपदेशोंका भी लक्ष्य रखा जावेगा तो सर्व ही मुनिजन बोधितबुद्ध कहे जावेंगे। अतः स्वयंबुद्ध मुनिके उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान भी अधिगमसे जन्य है। निसर्गसे नहीं।

देशविषयं मत्यवधिमनःपर्ययज्ञानं निसर्गादेरुत्पद्यत इति द्वितीयविकल्पोऽपि न श्रेयान् तस्याधिगमजत्वासम्भवात् द्विविधहेतुकत्वाघटनात्। किञ्चिन्निसर्गादपरमधिगमादुत्पद्यते इति ज्ञानसामान्यं द्विविधहेतुकं घटत एवेति चेत् न, दर्शनेपि तथा प्रसंगात्। न चैतद्युक्तं प्रतिव्यक्ति तस्य द्विविधहेतुकत्वप्रसिद्धेः। यथा औपशमिकं दर्शनं निसर्गादधिगमाच्चोत्पद्यते तथा क्षायोपशमिकं क्षायिकं चेति सुप्रतीतम्।

आचार्य महाराज पूंछते हैं कि प्रत्यक्षरूपसे सबको विषय करनेवाले केवलज्ञानको और परोक्षरूपसे सर्व द्रव्य और थोडी पर्यायोंको जाननेवाले श्रुतज्ञानको न लेकर यदि आप लोग नियत पदार्थोंको विषय करनेवाले यानी थोडे द्रव्य और अल्प पर्यायोंको जाननेवाले मतिज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञानको निसर्ग आदि यानी निसर्ग और अधिगम दोनोंसे उत्पन्न होनेका दूसरा पक्ष ग्रहण करेंगे, इस प्रकार दूसरा पक्ष लेना भी उत्तम नहीं है। क्योंकि ये तीनों ज्ञान निसर्गसे ही उत्पन्न होते हैं। अधिगमसे जन्य ज्ञान तो अकेला श्रुतज्ञान ही है। अधिगमसे जन्यपना उन तीनोंमें नहीं सम्भव है। अतः उन तीनोंके भी निसर्ग और अधिगम दोनों हेतुओंसे उत्पन्न होनापन नहीं घटित होता है। यदि सम्यग्ज्ञान भी दोनों कारणोंसे हो जावें इस आग्रहकी रक्षाके लिए आप यों कहेंगे कि कुछ मति, अवधि, मनःपर्यय ये सम्यग्ज्ञान तो निसर्गसे उत्पन्न होते हैं, और श्रुतज्ञान केवलज्ञान रूप दूसरे सम्यग्ज्ञान अधिगमसे उत्पन्न होते हैं इस प्रकार सामान्यपने करके सम्यग्ज्ञानके दोनों प्रकार निसर्ग और अधिगम हेतु घटित हो ही जाते हैं, सो इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि यों तो सम्यग्दर्शनमें भी तैसा ही व्याख्यान करनेका प्रसंग आवेगा, अर्थात् सम्यग्दर्शन भी कोई तो अकेले निसर्गसे होगा और कोई दूसरा सम्यग्दर्शन अकेले अधिगमसे उत्पन्न होगा, किंतु यह कहना तो युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि उस सम्यग्दर्शनकी प्रत्येक व्यक्तिको दोनों ही प्रकारके हेतुओंसे उत्पन्न हो जाना प्रसिद्ध है। जिस प्रकार कि भिन्न भिन्न जीव व्यक्तियोंमें निसर्ग और अधिगम दोनोंसे औपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तैसे ही व्यक्तिभेद या कालमें क्षयोपशम और क्षायिक सम्यग्दर्शन भी निसर्ग और अधिगम दोनोंसे उत्पन्न होते हुए भले प्रकार प्रतीत हो रहे हैं। पहिली, दूसरी, तीसरी, पृथिवियोंमें उपदेश और निसर्गसे उपशम तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व हो जाते हैं, चौथे, पांचवें आदि नरकोंमें अकेले निसर्गसे ही उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व होते हैं। तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंमें भी दोनों कारणोंमेंसे चाहे जिससे दो सम्यक्त्व हो जाते हैं। किन्हीं कर्मभूमियां द्रव्यमनुष्योंको केवली श्रुतकेवलीके निकट उपदेशसे और उपदेशके विना भी क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है। इस कारण तीनों ही सम्यग्दर्शन दोनों कारणोंसे उत्पन्न हो सकते हैं। यह बात सम्यग्ज्ञानमें विशेष व्यक्तिरूपसे नहीं पायी जाती है यानी प्रत्येक ज्ञान दोनों ही कारणोंसे उत्पन्न नहीं होता है।

चारित्रं पुनरधिगमजमेव तस्य श्रुतपूर्वकत्वात्तद्विशेषस्यापि निसर्गजत्वाभावाच्च द्विविधहेतुकत्वं सम्भवतीति न त्रयात्मको मार्गः सम्बध्यते, अत्र दर्शनमात्रस्यैव निसर्गाधिगमाद्वोत्पत्त्यभिसम्बन्धघटनात्।

हां, चारित्र तो फिर अधिगमसे ही जन्य है। निसर्ग (परोपदेशके विना अन्य कारणसमूह) से उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि प्रथम ही श्रुतज्ञानसे जीव आदि तत्त्वोंका निर्णय कर चारित्रका पालन किया जाता है। यों श्रुतज्ञानपूर्वक ही चारित्र है। उस चारित्रके विशेष कहे गये महाव्रत, परिहार-

विशुद्धि, सामायिक आदि विशेषोंको भी निसर्गसे उत्पन्न होजानापन नहीं है, स्वयं या दूसरोंके द्वारा शास्त्रोंका अभ्यास कर चुकनेपर चारित्र पाला जाता है। अतः चारित्रका निसर्ग और अधिगम इन दोनों प्रकारके हेतुओंसे उत्पन्न होजानापन नहीं सम्भवता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों स्वरूप मार्ग भी तत् शब्दके द्वारा सम्बन्धित नहीं होपाता है। क्योंकि तीनमेंसे ज्ञान और चारित्रको तो व्यक्तिरूप करके निसर्ग और अधिगम दोनोंसे जन्यपना नहीं घटता है, ऐसी दशामें तीनोंके समुदायरूप मोक्षमार्गमें दोनोंसे जन्यपना नहीं बन सकता है। इस प्रकरणमें केवल सम्यग्दर्शनकी ही चाहे जिस व्यक्तिमें निसर्ग अथवा अधिगमसे उत्पत्ति होनेका सम्बन्ध अच्छा घटित होता है। अतः तत् शद्बसे सम्यग्दर्शनका ही परामर्श (पूर्वका स्मरण) करना चाहिये।

नन्वेवं तच्छब्दोऽनर्थकः सामर्थ्याद्दर्शनेनात्राभिसम्बन्धसिद्धेरिति चेत् न, शाब्दन्यायान्मार्गेणाभिसम्बन्धप्रसक्तेः।

यहां कटाक्ष पूर्वक शंका है कि इस प्रकार तो तत् शद्बका प्रयोग करना सूत्रमें व्यर्थ ही रहा, क्योंकि निसर्ग और अधिगम इन दोनोंको हेतु बनानेकी सामर्थ्यसे ही दर्शनके साथ यहां सम्बन्ध होजाना तत्शद्बके विना भी अपने आप भी सिद्ध होजाता है। गुरुजी समझाते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि शद्बसम्बन्धी व्याकरणशास्त्रके अनुसार शद्बकी नीतिका विचार करनेपर मोक्षमार्गके साथ सुन्दर सम्बन्ध होनेका प्रसंग प्राप्त है। अतः सम्यग्दर्शनको आकर्षण करनेवाले तत् शद्बके विना मोक्षमार्गका सम्बन्ध हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

प्रत्यासत्तेस्ततोपि दर्शनस्यैवाभिसंबन्ध इति चेन्न, मार्गस्य प्रधानत्वात् दर्शनस्यास्य तदवयवत्वेन गुणभूतत्वात्, प्रत्यासत्तेः प्रधानस्य बलीयस्त्वात्, सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोः सन्निकृष्टे सम्प्रत्ययः इत्येतस्य गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्यय इत्यनेनापोदितत्वात् सार्थक एव तच्छद्बो मार्गाभिसम्बन्धपरिहारार्थत्वात्।

यहां पुनः आक्षेप है कि निसर्ग और अधिगमसे सम्यग्दर्शनके साथ सम्बन्ध किया जावे या मोक्षमार्गके साथ सम्बन्ध किया जावे ? ऐसा विवाद होनेपर अत्यन्त निकट होनेसे इस कारण भी सम्यग्दर्शनका ही पञ्चम्यन्त पदोंकी ओर सम्बन्ध होगा, व्यवधान होनेके कारण मोक्षमार्गका ग्रहण न होसकेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहोगे, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां मोक्षमार्गकी ही प्रधानता है। उस त्रयात्मक मोक्षमार्गका एक अंश होनेके कारण इस सम्यग्दर्शनको गौणपना है। विधेय दलमें पडा हुआ और स्वतन्त्रताको कहनेवाली प्रथमा विभक्तिको धारण करता हुआ विशेष्य दल प्रधान होता है और उद्देश्य दलमें पडे हुए विशेषण अप्रधान होते हैं। अत्यन्त निकटके गौण पदार्थसे दूरवर्ती भी प्रधान पदार्थ अतीव बलवान् होता है। किसी राजाका वर्णन करते हुए मन्त्री, सेना, नगर, उद्यान, प्रजाजनका वर्णन कर चुकनेपर भी पीछेसे वीर धर्मात्मा दयालु आदिक शद्ब प्रधान राजाके साथ ही अन्वित होवेंगे। साधारण मनुष्यके लिये नहीं। " प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः "

इस व्याकरणकी परिभाषाका यही भाव है। अत्यन्त निकट और विप्रकृष्ट यानी कालदेशका व्यवधान पडे हुए अर्थका प्रकरण उपस्थित होनेपर निकटवर्ती पदार्थमें ही भले प्रकार प्रतीत होगी, दूरवर्तीकी नहीं, व्याकरणकी इस परिभाषाका गौण और मुख्य पदार्थका समान प्रकरण होनेपर मुख्यमें ही समीचीन ज्ञान किया जावेगा, यों इस परिभाषासे अपवाद (बाधा) हो जाता है। सामान्य राजमार्गसे कही गयी उत्सर्ग विधियां अपवाद विषयोंको टालकर प्रवर्तती हैं। पहिले अपवाद विषयोंको स्थान मिलेगा, उसके प्रतिकूल उत्सर्गोंको दूर करदिया जाता है, जैसे कि राजमार्ग (सडक)में सम्पूर्ण प्रजाओंको समान रूपसे चलनेका अधिकार है किन्तु विशेष उत्सवके दिन परिकरसहित राजाके गमन करते समय सामान्यजनोंके चलनेका राजमार्गमें अधिकार नहीं है। अर्थात् तत् शद्बके न देनेपर प्रधानरूप मोक्षमार्गका ही सम्बन्ध होजाता। अतः मार्गके साथ अभिमुख सम्बन्ध होजानेका परिहार करनेके लिये सूत्रमें तत् शद्बका प्रयोग करना सार्थक ही है।

ननु च दर्शनवन्मार्गस्यापि पूर्वप्रक्रान्तत्वप्रतीतेः तच्छद्बस्य च पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शित्वात् कथं शाद्बन्यायाद्दर्शनस्यैवाभिसम्बन्धो न तु मार्गस्येति चेत् न, अस्मात्सूत्राद्दर्शनस्य मुख्यतः पूर्वप्रक्रांतत्वात्परामर्शोपपत्तेः मार्गस्य पूर्वप्रक्रांतत्वादुपचारेण तथा भावात् परामर्शाघटनात्।

पुनः आक्षेपकर्ताका अवधारण है कि तत् शद्बके देनेपर भी मोक्षमार्गका संबन्ध हो जावेगा, कोई रोकनेवाला नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शनके समान मोक्षमार्गको भी पहिले प्रकरणमें प्राप्त होनापन प्रतीत हो रहा है, जबकि तत् शद्बको पहिले प्रकरणमें प्राप्त हुए पदार्थका परामर्शकपना है, ऐसी दशामें मोक्षमार्ग भी पूर्वप्रकरणमें आ चुका है। अतः शद्बशक्तिके अनुसार भी सम्यग्दर्शनका ही उद्देश्य दलकी ओर सम्बन्ध क्यों होगा ? किन्तु मार्गका क्यों नहीं होगा ? ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार कहना तो उचित नहीं है, क्योंकि इस सूत्रसे पूर्व प्रकरणमें प्राप्त होनापन मुख्यरूपसे सम्यग्दर्शनको ही है, अतः तत् शद्ब करके दर्शनका परामर्श होना युक्तिसिद्ध होता है। मोक्षमार्ग तो पूर्व प्रकरणमें प्राप्त होरहे सम्यग्दर्शनके भी पूर्वमें है, अतः पितामहमें पितापनके उपचार समान मोक्षमार्गमें पूर्वपनेका इस प्रकार उपचार है। मुख्यरूपसे पूर्ववस्तुके मिलनेपर उपचारके द्वारा कल्पित किये गये पूर्वका यानी पूर्वसे पूर्वका तत् शद्ब करके परामर्श होना नहीं घटता है। मोक्षमार्गका ही तत्से आकर्षण होना आचार्य महाराजको यदि इष्ट होता तो तत् शद्बके कहनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि प्रधानरूपसे मोक्षमार्गका सम्बन्ध हो ही जाता, ऐसी दशामें तत् शद्ब व्यर्थ पडकर आर्षमार्गके अनुसार ज्ञापन करता है कि यह सम्यग्दर्शन ही निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न होता है।

तदिति नपुंसकलिंगस्यैकस्य निर्देशाच्च न मार्गस्य पुल्लिंगस्य परामर्शो नापि बहूनां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामिति शाब्दान्न्यायादार्थादिव सद्दर्शनं तच्छब्देन परामृष्टमुन्नीयते।

सूत्रमें तत् ऐसा नपुंसक लिंगके एक वचनका निर्देश होरहा है, इस कारणसे भी पुल्लिङ्ग शब्द मानेगये मोक्षमार्गका परामर्श होना नहीं बनता है और एक वचन होनेके कारण मोक्षमार्ग-रूप फैले हुए बहुतसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रोंका भी परामर्श नहीं होने पाता. है। इस प्रकार शब्द सम्बन्धी न्यायसे व्याकरण शास्त्रके अनुसार भी तत् शब्द करके सम्यग्दर्शनका ही परामर्श किया गया जाना जाता है, जैसे कि सूत्रके अर्थपर विचार करनेसे दोनों कारणोंसे जन्यपना प्रत्येक सम्यग्दर्शनमें घट जाता है, इस अर्थ सम्बन्धी न्यायसे तत् शब्द करके सम्यक्त्वका ही परामर्श होता है। भावार्थ—शब्दपर विशेष लक्ष्य देनेवाले शब्द शास्त्र और अर्थांशपर लक्ष्य देकर शाब्दबोधकी प्रणालीको बतानेवाले अर्थशास्त्रकी नीतिसे तत् शब्दके द्वारा सम्यग्दर्शनका ही परामर्श हुआ विचारा जाता है। नैयायिक जैसे ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिसे दूरस्थ चन्दनमें सुगन्धका प्रत्यक्ष ज्ञान करलेते हैं, वैसे ही इतस्ततः ऊपरके प्रकरणोंसे ऋषि आम्नायके अनुसार सूत्रोंका अर्थ निर्णीत किया गया है।

कः पुनरयं निसर्गोऽधिगमो वा यस्मात्तदुत्पद्यत ? इत्याह:—

यहां किसीका प्रश्न है कि फिर आप बतलाइये ! यह निसर्ग अथवा अधिगम क्या पदार्थ हैं ? जिनसे कि वह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानंद आचार्य उत्तर कहते हैं।

विना परोपदेशेन तत्त्वार्थप्रतिभासनम् ।
निसर्गोधिगमस्तेन कृतं तदिति निश्चयः ॥ ३ ॥
ततो नाप्रतिभातेऽर्थे श्रद्धानमनुषज्यते ।
नापि सर्वस्य तस्येह प्रत्ययोधिगमो भवेत् ॥ ४ ॥

दूसरोंके लिखित या मौखिक उपदेशके विना अन्य जिनबिम्बदर्शन, वेदना आदि कारणोंसे जो तत्त्वार्थोंका प्रतिभास होना है वह निसर्ग है। और दूसरोंके उस उपदेशसे किया गया तत्त्वार्थोंका वह प्रतिभास करनारूप निश्चय है वह अधिगम है। इस परोपदेशके विना और परोपदेशसे होनेवाला निश्चय तो सम्यग्दर्शनका कारण है। इस कारण नहीं प्रतिभास किये गये अर्थमें श्रद्धान होनेका प्रसंग नहीं होता है और सर्व ही जीवोंके सम्यग्दर्शन हो जानेका प्रसंग भी नहीं होता है। क्योंकि जिन जीवोंको तत्त्वार्थोंका प्रतिभास नहीं है उनका अन्य विषयोंमें हुआ मिथ्याज्ञान यहां (इस प्रकरणमें) अधिगम नहीं माना गया है। मोक्षमार्गके उपयोगी समीचीन निश्चयरूप ज्ञानको अधिगम कहते हैं।

न हि निसर्गः स्वभावो येन ततः सम्यग्दर्शनमुत्पद्यमानमनुपलब्धतत्त्वार्थगोचरतया रसायनवन्नोपपद्येत। ततः परोपदेशनिरपेक्षे ज्ञाने निसर्गशब्दस्य प्रवर्तनान्निसर्गतः शूरः

सिंहः इति यथा स्वकारणविशेषाद् भवदपि हि तस्य शौर्यं परोपदेशानपेक्षं लोके नैसर्गिकं प्रसिद्धं तद्वत्तत्त्वार्थश्रद्धानमपरोपदेशमत्यादिज्ञानाधिगते तत्त्वार्थे भवन्निसर्गाच्च विरुध्यते ।

इस सूत्रमें पडे हुए निसर्ग शब्दका अर्थ स्वभाव नहीं है जिससे कि उस स्वभावसे ही उत्पन्न हो रहा सत्ता सम्यग्दर्शन नहीं जाने हुए तत्त्वार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षासे रसायनके समान वह सम्यग्दर्शन ही न बन सके, अर्थात् रसायनके तत्त्वोंको न समझ करके क्रिया करनेवाले पुरुषके जैसे रसायनकी सिद्धि नहीं हो पाती है। यहां एक कथानक है कि एक लोभी लक्षपति सेठने अपना सम्पूर्ण रुपया किसी तापसीकी सेवामें व्यय कर दिया, उसके प्रतिफलमें तापसीसे एक रसायनका गुटका उस सेठको मिला, जिसमें कि अनेक धातु, उपधातुओंके बनानेकी तथा शुद्ध करनेकी क्रियाएं लिखी हुयीं थी। तदनुसार क्रिया करते हुए सेठने तांबेसे सुवर्ण बनाना प्रारम्भ कर दिया, किंतु रसायनकी सिद्धि नहीं हुयी। अतः प्रतारित तिरस्कृत और क्षुब्ध होकर दरिद्र होचुके सेठने तापसीके दिये हुए गुटकेके साथ नीचताका व्यवहार किया। किसी चौराहेके निकट बैठकर पथिकोंसे गाली दिला और थुकवा करके अपनी क्रोध ज्वालाको शांत करता रहा। दैवयोगसे एक दिन वह तापसी भी वहीं आ निकला। वह अपने गुटका और सेठको पहिचान गया और मनमें विचारने लगा कि यह मेरा दिया हुआ ही गुटका है, उस सेठने अन्य जनोंके समान गुटकेका तिरस्कार करनेके लिये तापसीसे भी कहा। तिरस्कारका कारण पूंछनेपर सेठने सर्ववृत्तांत कह सुनाया। वह तापसी कुछ औषधियों, फलों, के सहित सेठको भी साथ लेकर तांबा गलानेवाले कसेरेके स्थानपर पहुंचा और सेठसे कहा कि गुटकेके लिखे अनुसार क्रिया करो! सेठने गुटकेके अनुसार क्रिया की, किंतु जब नींबूको चाकूसे काटकर डालने लगा, इस प्रकरणमें तापसीने सेठको दो थप्पड मारे और कहा कि गुटकेमें नींबूको चाकूसे काटना कहां लिखा है? लोहेके सम्बन्धसे रसायन क्रिया प्रतिकूल हो जाती है। सेठने हथेलीसे नींबूको निचोड कर तांबेमें डाला तो उसी समय दो मन तांबा सोना हो गया। सेठको उसके रुपयोंका सोना देकर अपना अमूल्य गुटका पुनः लौटा लिया और कहा कि—" नो वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्। यथा किराती करिकुम्भलब्धां मुक्तां परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाम् ॥ १ ॥ जो जिसके गुणको नहीं पहिचानता है, वह उसकी सदा निंदा किया करता है। जैसे कि भीलनी गजमोतियोंको छोडकर गोंगचीके गहनोंको पहनती है। वस्तुतः देखा जावे तो ज्ञानके विना क्रिया करना व्यर्थ है। तैसे ही कारणोंके विना यों ही स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनकी भी तत्त्वार्थोंको न जाननेवाले जीवोंमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः निसर्गका अर्थ स्वभाव नहीं है, किंतु परोपदेशके अतिरिक्त जातिस्मरण, वेदना, विभवप्राप्ति आदिसे उत्पन्न हुआ ज्ञानस्वरूप कारण ही निसर्गका अर्थ है। तिस कारण परोपदेशकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले ज्ञानमें निसर्ग शब्दकी प्रवृत्ति हो रही है यों जैसे कि स्वभावसे ही सिंह शूर वीर होता है। यद्यपि कारणोंके विना शूर वीरता नहीं होती है, जगत्का कोई भी

कार्य कारणोंके बिना नहीं होता है। सिंहका शरीर, हड्डी, बडा मस्तक, शक्तिशाली डाढ, दांत, पञ्जे, जन्मपरंपरासे चले आ रहे अभिप्रायके विचार, नामकर्मकी विशेषतायें आदि अपने विशेष कारणोंसे उत्पन्न हो भी रही उस सिंहकी शूरवीरता परोपदेशकी नहीं अपेक्षा रखनेके कारण लोकमें स्वभावसे होती हुयी प्रसिद्ध हो रही है। तिसीके समान देवविभूति, जिनमहिमा आदिका चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा पूर्वके भव, धर्मपालन आदिका स्मरण और सुख या दुःखोंका तीव्र अनुभवरूप मानस-प्रत्यक्ष एवं स्वार्थानुमान आदि मतिज्ञान या विभङ्गज्ञान इन ज्ञानोंसे जाने गये तत्त्वार्थोंमें परोपदेशके विना ही उत्पन्न हो रहे सम्यग्दर्शनको निसर्गसे उत्पन्न हुआ कहना विरुद्ध नहीं है। अर्थात् कोई विद्यार्थी श्रीप्रमेयकमलमार्तण्ड, श्री अष्टसहस्री आदि पाठ्यग्रंथोंको गुरुमुखसे अध्ययन करके आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सप्तभङ्गीतरङ्गिणी आदि ग्रंथोंको अपने आप (निसर्ग) लगा लेता है। काव्य, साहित्यके चार पांच उच्च ग्रंथोंको पढकर पहिले देखे सुने नहीं ऐसे कतिपय काव्य और पुराणोंको अपने आप लगा लेता है। यहां अपने आपका अर्थ दूसरेके उपदेश (अध्यापन) की नहीं सहायता लेना है। निमित्तके विना ही हो जाना निसर्गका अर्थ नहीं है। किंतु वह छात्र क्षयोपशम, व्युत्पत्ति, मनोयोग लगाना, व्याकरण, कोश, आदिका बल इन कारणोंसे ही अश्रुतपूर्व ग्रंथोंका अध्ययन करता है। कोई कोई व्युत्पन्न जीव तो अध्ययन किये बिना भी पहिले जन्मके संस्कारोंसे ही उत्कृष्ट बुद्धिमत्ताके कार्योंको कर देते हैं, ये कार्य भी निसर्गसे किये हुए समझे जाते हैं। हां ! जिन कार्योंमें परोपदेशकी आवश्यकता है, उन कार्योंको दूसरे भेदमें गिना गया है। जगत्‌के असंख्य कारणोंमें परोपदेश ही एक ऐसा विशिष्ट कारण है जो कि असंख्य कारणोंकी बराबरीमें अकेला गिना जा सकता है। " गुरु विना ज्ञान नहीं " इसकी धारा आजतक चली आ रही है। कवि लोगोंने गुरुके विना मुख्य सिद्धांतोंको न जाननेका मयूरके नृत्यमें गुह्य अंगका दीख जाना दृष्टांत दिया है। वचनोंके द्वारा प्रतिपाद्यविषयोंकी अपेक्षासे देखा जावे तो यह ठीक है, किंतु शब्दोंके द्वारा अवाच्य (न कहा जावे) ऐसा अनन्तानन्त प्रमेय तो उपदेशके विना ही अन्य कारणोंसे जान लिया जाता है। तथा अनन्तानन्त कार्योंमेंसे अनंतवें भाग कार्य ही उपदेशसे किये जाते हैं, बहुभाग कार्य निसर्गसे ही हो जाते हैं। बाल्य, युवा अवस्थाओंमें उपदेशके बिना ही स्वोचित अनेक क्रियाएं स्वतः ज्ञात हो जाती हैं। अतः परोपदेशके विना स्वभावसे ही उत्पन्न हुयी सिंहकी शूरवीरता, वृक (भेडिया) की क्रूरता, मृगया बकरीकी भयभीतता, दुर्जनकी नीचता, आदि हुयी देखी जा रही हैं। हां, भगे हुए कतिपय सैनिकोंके प्रति सेनापति करके ओजस्वी वचनों द्वारा शूरताका उत्साह दिलाया जाता है, वह उपदेशजन्य है। अतः परोपदेशके विना ही तत्त्वार्थोंको मति आदि ज्ञानों द्वारा जान चुकनेपर स्वतः होरहा सम्यग्दर्शन निसर्गसे हुआ कहा गया, इसमें कोई विरोध नहीं है।

नन्वेवं मत्यादिज्ञानस्य दर्शनेन सहोत्पत्तिर्विहन्यते तस्य ततः प्रागपि भावादिति चेन्न,सम्यग्दर्शनोत्पादनयोग्यस्य मत्यज्ञानादेर्मतिज्ञानादिव्यपदेशाद्दर्शनसमकालं मत्यादिज्ञानोत्पत्तेः।

यहां शंका है कि आप जैनोंने अभी कहा है कि मतिज्ञान (सुमति ज्ञान) से जाने हुए तत्त्व अर्थमें निसर्गसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है, किन्तु यह बात सिद्धान्तसे विरुद्ध पडती है। क्यों कि सम्यग्दर्शनके साथ ही सुमति या सुश्रुत अथवा अवधिज्ञानकी उत्पत्ति मानी गई है। पूर्वकालमें नहीं, किंतु आप जैनोंने उस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेसे पहिले भी मतिज्ञान (सुमतिज्ञान) आदिकी सत्ता मानली है । अतः दर्शनके साथ मतिज्ञानकी उत्पत्तिके सिद्धान्तका विघात होता है। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है । क्यों कि यद्यपि सम्यग्दर्शनसे पहिले कालमें रहनेवाला ज्ञान सुमतिज्ञान या अवधिज्ञान नहीं है। फिर भी सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करानेकी योग्यतावाला पूर्वसमयवर्ती सामान्यज्ञान या कुमति आदि ज्ञान उपचारसे सुमति और अवधिरूप हैं ऐसा व्यवहार है। वास्तवमें तो सम्यग्दर्शनके समान कालमें ही सुमति और अवधि आदि की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक कार्यकी पूर्ववर्ती पर्यायोंको उपचारसे तद्रूप कहनेमें कोई क्षति नहीं हैं। सहारनपुरके निकट स्थान भी सहारनपुर समझा जाता है। एक कम लक्ष रुपयोंको भी लक्ष रुपया कह सकते हैं। सामायिकमें स्थित गृहस्थको भी महाव्रतीके समान माना है। केवलज्ञानके उत्पादक बारहवें गुणस्थानके पूर्ण श्रुतज्ञानका केवलज्ञानका व्यपदेश है, जैसे कि कमलको उत्पन्न करनेवाली बीजसहित कीचडकी अन्तिम अवस्था कमलरूप ही है। उस कमलसे ही दूसरे समयमें कमल उत्पन्न हो गया है, कोरी कीचड से नहीं। अतः साक्षात् या परम्परासे क्षयोपशम आदि चार लब्धियोंके पीछे होनेवाले चारित्रगुणके विभावरूप अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तकरणकी अवस्थाओंमें हो रहे मिथ्याज्ञानको मतिज्ञानपना और अवधिज्ञानपना अभीष्ट है। वास्तवमें देखा जावे तो तीनों करणोंके समयोंमें मिथ्यात्वकर्मका उदय है। अतः सम्यग्दर्शन गुणका मिथ्यात्वरूप विभाव परिणाम है तथा चारित्रगुणकी करणत्रयरूप परिणति है। किंतु इस अन्तर्मुहूर्तमें सम्यग्दर्शनकी कारणसामग्री एकत्रित हो चुकी है तथा प्रतिपक्षी कर्मोंके अनुभाग काण्डक, स्थितिकाण्डकोंको घात और गुणसंक्रमण तथा गुणश्रेणी निर्जराकी विधि भी अपूर्वकरण अवस्थामें हो जाती है। उसके पहिले अधःकरणदशामें अनन्तगुणी विशुद्धिकी वृद्धि, स्थितिबन्धापसारण, प्रशस्त प्रकृतियोंका प्रति समय अनन्तगुणा बढता हुआ गुड, खांड, मिश्री और अमृत सदृश अनुभाग होना तथा अप्रशस्त प्रकृतियोंका निम्ब कांजीर सदृश अनुभागवाला होना ये चार आवश्यक बातें हो चुकी हैं। अनिवृत्तकरणरूप परिणाम तो उत्तरकालमें सम्यग्दर्शनको उत्पन्न ही करते हैं। अतः उपशम सम्यक्त्वके उत्पादक सामग्रीमें पडे हुए ज्ञानको समीचीन ज्ञान ही कल्पित किया है। और क्षयोपशम सम्यक्त्वके पूर्ववर्ती ज्ञानको भी उपचारसे समीचीनज्ञानपना है। परीक्षा देकर उत्तीर्ण हो जानेवाला छात्र उत्तर कापियोंके लिखे जानेपर ही उत्तीर्ण हो चुका, किंतु फल प्रकाशित होनेके पहिले कुछ कालतक वह निर्णीतरूपसे उत्तीर्ण नहीं कहा जा सकता है। मिथ्यात्व गुणस्थानके आदिवर्त्ती या मध्यवर्ती मिथ्याज्ञानमें और अन्तवर्ती मिथ्याज्ञानमें भारी अंतर है, द्रव्य-

निक्षेपसे वह अन्तिम मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है। किंतु वास्तविकरूपसे तो सम्यग्दर्शनके समयमें ही मतिज्ञान उत्पन्न होता है। पहिले समयोंमें मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेसे वे ज्ञान मिथ्या सहचरित हैं।

तर्हि मिथ्याज्ञानाधिगतेऽर्थे दर्शनं मिथ्याप्रसक्तमिति चेन्न, ज्ञानस्यापि मिथ्यात्वप्रसंगात्, सत्यज्ञानस्यापूर्वार्थत्वान्न मिथ्याज्ञानाधिगतेऽर्थे प्रवृत्तिरिति चेन्न, सर्वेषां सत्यज्ञानसन्तानस्यानादित्वप्रसंगात्।

तब तो मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमें प्रवृत्त हुए सम्यग्दर्शनको भी मिथ्यापनेका प्रसंग होगा, इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि यों तो मिथ्याज्ञानके पीछे होने वाले समीचीन ज्ञानको भी मिथ्यापनेका प्रसंग हो जावेगा अर्थात् सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पहिले मिथ्याज्ञान था, उस मिथ्याज्ञानके उत्तर कालमें ही सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होगया है। अत मिथ्याज्ञानके पीछे होने वाले दर्शनको जिस प्रकार मिथ्यापनेका आप प्रसङ्ग देते हैं वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीवके पूर्ववर्ती मिथ्याज्ञानसे पीछे होनेवाले उपादेयरूप सम्यग्ज्ञानको भी सुलभतासे मिथ्यापनेका प्रसंग हो जावेगा। यदि आप यों कहें कि प्रमाणस्वरूप सत्यज्ञान गृहीतग्राही नहीं है जिससे कि वह मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमें प्रवृत्ति करे, किन्तु सत्यज्ञान तो नवीन नवीन अपूर्व अर्थोको ग्रहण करता है इस कारण मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थोमें सम्यग्ज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं होती है। वह तो अपनेको और अर्थको जाननेवाला एक नवीन प्रमाणज्ञान है, सो यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि सभी प्राचीन सम्यग्दृष्टि और नवीन सम्यग्दृष्टियोंके सम्यग्ज्ञानकी सन्तानको अनादिपनेका प्रसंग होजावेगा। अर्थात् मिथ्याज्ञानसे जानेहुए अर्थमें अपूर्व अर्थको जाननेवाले सम्यग्ज्ञानकी प्रवृत्ति होना आप मानते नहीं है। तब तो परिशेषसे निकल आया कि वह सम्यग्ज्ञान अपने पूर्ववर्ती सत्यज्ञानसे उत्पन्न हुआ है और वह सत्यज्ञान भी उससे पहिलेके सत्यज्ञानसे उत्पन्न हुआ होगा, इस प्रकार सत्यज्ञान अनादिका ठहर जावेगा तभी मिथ्याज्ञानका सम्बन्ध छूट सकेगा, किन्तु सम्यग्ज्ञानकी अनादिसे सन्तान चले आना किसीको इष्ट नहीं है।

सत्यज्ञानात्प्राक् तदर्थे मिथ्याज्ञानवत्सत्यज्ञानस्याप्यभावान्न तस्यानादित्वप्रसक्तिरिति चेन्न, सर्वज्ञानशून्यस्य प्रमातुरनात्मत्वप्रसंगात्, न चानात्मा प्रमाता युक्तोऽतिप्रसङ्गात्।

यदि फिर कोई यों कहे कि सम्यग्दर्शनके समान कालमें हुए सम्यग्ज्ञानसे पहिले उस सम्यग्ज्ञानके विषयमें मिथ्याज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं थी और उसी प्रवृत्तिके समान सत्यज्ञानकी भी प्रवृत्ति नहीं थी। अर्थात् सम्यग्ज्ञानके पहिले उस विषयमें जीवको न मिथ्याज्ञान था और न सम्यग्ज्ञान ही था, इस कारण उस सम्यग्ज्ञानके अनादिपनेका प्रसंग नहीं आता है। आचार्य समझाते हैं कि सो यह कहना तो ठीक नहीं है, क्यों कि सभी मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानोंसे रहित मानलिए गये समीचीन ज्ञाता आत्माको अनात्मा (जड) पनेका प्रसंग हो जावेगा और ज्ञानोंसे रहित हो रहे जडरूप पदार्थको प्रमातापना युक्त नहीं है। क्यों कि यों तो जडरूपसे इष्ट किये गये घट, पट, आदिको

भी प्रमातापनेका अतिप्रसंग है। आत्माका लक्षण ज्ञान है, किसी भी अवस्थामें क्यों न हो आत्माके लब्धिरूप या उपयोगरूप ज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा लक्षणके न रहनेसे लक्ष्यका भी अभाव हो जावेगा। गुणके न रहने पर द्रव्य भी स्थिर रह नहीं सकता है।

सत्यज्ञानात्पूर्वं तद्विषये ज्ञानं न मिथ्या सत्यज्ञानजननयोग्यत्वात्, नापि सत्यं पदार्थयाथात्म्यपरिच्छेदकत्वाभावात्, किं तर्हि ? सत्येतरज्ञानविविक्तं ज्ञानसामान्यं, ततो न तेनाधिगतेऽर्थे प्रवर्तमानं सत्यज्ञानं मिथ्याज्ञानं मिथ्याज्ञानाधिगतविषयस्य ग्राहकं। नापि गृहीतग्राहीति चेत्, तर्हि कथञ्चिदपूर्वार्थे सत्यज्ञानं न सर्वथेत्यायातम् । तथोपगमे सम्यग्दर्शनं तथैवोपगम्यमानं कथं मिथ्याज्ञानाधिगतार्थे स्यात् ? सत्यज्ञानपूर्वकं वा ? यतस्तत्समकालं मतिज्ञानाद्युपगमाविरोधः।

फिर भी कोई कहता है कि सम्यग्ज्ञानसे पहिले उसके ज्ञेय विषयमें जो ज्ञान था वह मिथ्या नहीं था, क्यों कि वह ज्ञान सत्यज्ञानको उत्पन्न करनेकी योग्यता रखता है। जो ज्ञान सत्यज्ञानका बाप बननेके लिए समर्थ हो रहा है, वह मिथ्या नहीं हो सकता है। और सम्यग्ज्ञानके पूर्ववर्ती वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है। क्यों कि उस समय सम्यग्दर्शन न होनेके कारण और मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय होनेसे वह ज्ञान पदार्थोंका वास्तविक रूपसे प्रतिभास करनेवाला नहीं है। कोई पूंछे कि सम्यग्दर्शनके पूर्व समयमें रहनेवाला वह ज्ञान जब सम्यग्ज्ञान भी नहीं और मिथ्याज्ञान भी नहीं, तब तो फिर कैसा ज्ञान है ? बताओ। इस पर हमारा यह उत्तर है कि वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानसे रहित होता हुआ सामान्य ज्ञान है। तिस कारण उस सामान्य ज्ञानसे जाने हुए अर्थमें पीछेसे प्रवृत्ति करता हुआ सत्यज्ञान विचारा सम्यग्ज्ञान ही है, मिथ्याज्ञान नहीं है। और मिथ्याज्ञानसे जाने हुए विषयका ग्राहक भी नहीं है। क्योंकि वह तो सामान्य ज्ञानसे जाने हुए विषयमें प्रवृत्ति कर रहा है। तथा वह गृहीत विषयका ग्राही भी नहीं है। अतः हमारे ऊपर तीनों दोषोंके आनेका प्रसंग नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार कहोगे तब तो यह सिद्धांत आया कि वह सत्यज्ञान किसी अपेक्षासे स्यात् अपूर्व अर्थको विषय करता है, सर्वथा ही अपूर्व अर्थको विषय नहीं करता है, क्योंकि अपने ही सामान्य ज्ञानसे जाने हुए विषयमें सम्यग्ज्ञानकी प्रवृत्ति होना माना है। जब सम्यग्ज्ञानको कथञ्चित् अपूर्वार्थग्राही आप मान लेते हैं तो तैसे ही सम्यग्दर्शनको भी तिस ही प्रकार स्वीकार करते हुए आप मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमें सम्यग्दर्शनकी प्रवृत्तिका कटाक्ष कैसे कर सकेंगे ?। तथा सम्यग्ज्ञानके पूर्वमें ही सम्यग्ज्ञानकी सत्ताका प्रसंग भी कैसे दे सकेंगे ? जिससे कि उस सम्यग्ज्ञानके समानकालमें मतिज्ञान आदि यानी मतिज्ञान और अवधिज्ञानके स्वीकार करनेका विरोध हो सके। भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंके पहिले सामान्य ज्ञान था और सम्यग्दर्शनके समयमें वही ज्ञान समीचीन मतिज्ञान और अवधिज्ञानरूप परिणत हो जाता है। जैसे कि सासादन गुणस्थानमें अव्यक्तरूपसे अतत्त्वरुचि है। मिथ्यात्वमें आनेपर वही असत्त्वरुचि व्यक्त हो जाती है।

सर्वं सद्दर्शनमधिगमजमेव ज्ञानमात्राधिगते प्रवर्तमानत्वादिति चेन्न, परोपदेशापेक्षस्य तत्त्वार्थज्ञानस्याधिगमशब्देनाभिधानात् । नन्वेवमितरेतराश्रयः सति सम्यग्दर्शने परोपदेशपूर्वकं तत्त्वार्थज्ञानं तस्मिंश्च सति सम्यग्दर्शनमिति चेन्न, उपदेष्टृज्ञानापेक्षया तथाभिधानादित्येके समादधते । तेपि न युक्तवादिनः परोपदेशापेक्षत्वाभावादुपदेष्टृज्ञानस्य, स्वयंबुद्धस्योपदेष्टृत्वात्, प्रतिपाद्यस्यैव परोपदेशापेक्षतत्त्वार्थज्ञानस्य सम्भवात् ।

कोई कहता है कि सम्पूर्ण सम्यग्दर्शन अधिगमसे जन्य ही हैं, निसर्गसे जन्य नहीं, क्योंकि सामान्य ज्ञानसे जाने गये पदार्थमें सम्यग्दर्शन होनेकी प्रवृत्ति हो रही है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकरणमें अधिगम शब्द करके परोपदेशकी अपेक्षा रखता हुआ तत्त्वार्थोंका ज्ञान कहा जाता है। परोपदेशके बिना अतिरिक्त कारणोंको निसर्ग माना है। यहां कोई शङ्का करे कि इस प्रकार माननेपर तो कारक पक्षका अन्योन्याश्रय दोष हो जावेगा। क्योंकि सम्यग्दर्शनके हो चुकनेपर तो परोपदेशको कारण मानकर तत्त्वार्थोंका समीचीन ज्ञान होवे और तत्त्वार्थोंका ज्ञान हो चुकनेपर उससे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होवे, अर्थात् सम्यग्दर्शनका कारणभूत तत्त्वज्ञान समीचीन होगा तभी सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करा सकेगा और ज्ञानमें समीचीनता सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होती है। कोई कहते हैं कि इस प्रकार परस्पराश्रय दोष देना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उपदेष्टा वक्ताके ज्ञानकी अपेक्षासे वैसा कह दिया गया है। भावार्थ—उपदेष्टाका ज्ञान ही परोपदेशसे उत्पन्न हुआ है और उपदेष्टाके ज्ञानसे शिष्यके अधिगमजन्य सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है। अतः अन्योन्याश्रय दोषका वारण होगया, ऐसा कोई एक विद्वान् समाधान करते हैं। आचार्य कहते हैं कि वे विद्वान् भी युक्तिपूर्वक कहनेवाले नहीं हैं। क्योंकि उपदेष्टाका ज्ञान परोपदेशकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं है। पदार्थोंका स्वयं अनुमनन किये हुए विद्वान् स्वयंबुद्धको उपदेशकपनकी व्यवस्था है। जो विद्वान् दूसरे गुरुसे पढकर उपदेशक हुआ है वह भी कुछ समयतक पदार्थोंका अभ्यास कर चुकनेपर ही पुनः उपदेशक बन सकता है। द्रव्यलिंगी मुनिके उपदेशसे भी अनेक भव्य जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेते हैं। उन द्रव्यलिंगी मुनियोंके भी जीवादिक तत्त्वोंका अच्छा अभ्यास है। सम्यग्दर्शन न होनेसे शुद्धात्माका अनुभव नहीं है। इस विषयको प्रतिपाद्य शिष्य नहीं जान सकता है। वे स्वयं भी नहीं जानते हैं। उपदेश देने सुननेमें इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। निमित्त नैमित्तिकभाव अचिन्त्य है। एक कामी राजाने अपने प्रिय छोरहे जारके निकट शीघ्रतासे जाती हुयी कामिनीको बुलाया, स्त्रीने राजासे कहा कि " समय है थोडा, और मुझे जाना है दूर " इन शब्दोंको स्त्रीने साधारण अभिप्रायसे कहा था। किन्तु इस वाक्यको सुनकर और परमार्थको विचार कर राजा कुकर्मोंसे उदासीन होगया, वह विचारता है कि मैंने पापक्रियामें अपने आयुष्यका बहुभाग निकाल दिया है अब समय थोडा अवशिष्ट है और मुझे आत्मीय स्वाभाविक गुणोंकी प्राप्तिके लिए दूर तक चलना है। बादलोंको विलीन देखनेसे कई राजाओंको वैराग्य उत्पन्न होगया है। पहिले उन्होंने अनेक बार

बादल देखे थे तब कुछ नहीं हुआ था। और अनेक रागी जीव बादलोंसे शृंगार रसको उत्पन्न कर लेते हैं, अतः सिद्ध होता है कि न जाने कब किस निमित्तसे कौनसा नैमित्तिक उत्पन्न हो जावे, छात्रोंको पढानेमें भी गुरुका प्रयत्न अधिक प्रेरक नहीं है। विद्यार्थियोंका क्षयोपशम ही प्रधान कारण है, अन्यथा एक गुरुके पढाये बीस छात्रोंमें व्युत्पत्तिका इतना बडा अन्तर न देखा जाता, किन्तु गुरुकी अध्यापनदक्षता भी यों ही उपेक्षणीय नहीं है। अन्यथा विद्यार्थियोंके कृतघ्नता दोष का प्रसंग होगा। रत्नभण्डार (खजाना) की तालीको गुरुसे लेकर उनके उपकारोंको भूल जाना नीचता है। प्रकृतमें हमको यह विचारना है कि सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करानेवाले उपदेशका प्रवर्त्तक वक्ता स्वयंबुद्ध है। हाँ ! प्रतिपादन करने योग्य शिष्यके ही तत्त्वार्थज्ञानको परोपदेशकी अपेक्षा होना सम्भव है। अतः उन कोई एक विद्वानोंके द्वारा अन्योन्याश्रय दोषका वारण करना युक्तियोंसे नहीं हो सका। अब कोई अन्य पंडित समाधान करना चाहते हैं कि—

यदैव प्रतिपाद्यस्य परोपदेशात्तत्त्वार्थज्ञानं तदैव सम्यग्दर्शनं तयोः सहचारित्वात् ततो नेतरेतराश्रय इत्यन्ये तेऽपि न प्रकृतज्ञाः। सद्दर्शनजनकस्य परोपदेशापेक्षत्वात् तत्त्वार्थज्ञानस्य प्रकृतत्वात् तस्य तत्सहचारित्वाभावात् सहचारिणस्तदजनकत्वात्।

जिस समय ही शिष्यको परोपदेशसे तत्त्वार्थोंका ज्ञान हुआ है उसी समय सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगया है। क्योंकि वे दोनों ही तत्त्वार्थ–ज्ञान और सम्यग्दर्शन साथ साथ रहने वाले हैं, तिस कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है। भावार्थः—जैसे बैलके सीधे और डेरे सींग साथ उत्पन्न होते हैं इनमें एक दूसरेका आश्रय लेना नहीं है, तैसे ही समानकाल में होनेवाले तत्त्वार्थ-ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें भी परस्पराश्रय नहीं है, अपने अपने उपादान कारणोंसे वे उत्पन्न हो जाते हैं, इस प्रकार अन्य कोई विद्वान् समाधान करते हैं। वे भी प्रकरणमें प्राप्त हो रहे विषयको समझनेवाले नहीं हैं। क्योंकि परोपदेशकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ सम्यक्दर्शनका जनक ऐसा तत्त्वार्थ–ज्ञान यहां प्रकरणमें प्राप्त है। वह ज्ञान सम्यग्दर्शनका सहचारी नहीं है। हां जो ज्ञान सम्यग्दर्शनका सहचारी है वह उस सम्यग्दर्शनका जनक नहीं है। भावार्थः—शिष्यके सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रथम जो तत्त्वार्थज्ञान परोपदेशसे उत्पन्न हुआ है, वह तत्त्वार्थ-ज्ञान सम्यग्दर्शनसे पूर्व समयमें रहता है। तभी सम्यग्दर्शनका कारण हो सकता है। कार्यसे पूर्व समयमें कारण रहना चाहिये। अतः इस ढंगसे भी अन्योन्याश्रयका वारण अन्य जन नहीं कर सकते हैं। अभीतक अन्योन्याश्रय दोष तदवस्थ है।

परोपदेशापेक्षस्य तत्त्वार्थज्ञानस्य सम्यग्दर्शनजननयोग्यस्य परोपदेशानपेक्षतत्त्वार्थज्ञानवत्सम्यग्दर्शनात्पूर्वं स्वकारणादुत्पत्तेर्नेतरेतराश्रयणमित्यपरे सकलचोद्यानामसम्भवादागमाविरोधात्।

परोपदेशकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला तत्त्वार्थोंका ज्ञान जैसे सम्यग्दर्शनसे पहिले अपने नियत कारणों करके उत्पन्न हो जाता है, तैसे ही परोपदेशकी अपेक्षा रखता हुआ और सम्यग्दर्शनको उत्पन्न

करनेकी योग्यतावाला तत्त्वार्थज्ञान भी सम्यग्दर्शनसे पहिले अपने अपेक्षणीय क्षयोपशम आदि कारणोंसे उत्पन्न हो चुका है । अर्थात् सम्यक्पने और मिथ्यापनेसे नहीं निर्णीत किये गये पूर्व समयवर्ती तत्त्वार्थज्ञानसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है । इस प्रकार माननेपर अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है, ऐसा दूसरे विद्वान् कह रहे हैं। इस कथनमें सभी कुचोद्योंका होना नहीं सम्भवता है । अर्थात् कोई भी शंका खडी नहीं रहती है । आगमसे भी कोई विरोध नहीं आता है । इनका अभिप्राय है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिमें निमित्त कारण पूर्व समयवर्ती ज्ञान है और उस ज्ञानका निमित्त कारण क्षयोपशम है। इसमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है । श्रीविद्यानन्द स्वामीको भी यह समाधान इष्ट है ।

सर्वं सम्यग्दर्शनं स्वाभाविकमेव स्वकाले स्वयमुत्पत्तेर्निःश्रेयसवदिति चेन्न, हेतोरसिद्धत्वात्, सर्वथा ज्ञानमात्रेणाप्यनधिगतेऽर्थे श्रद्धानस्यासिद्धेः ।

यहांतक सभी सम्यग्दर्शनोंको अधिगमजन्य माननेवालोंके एकान्तका निरास कर दिया है । अब सभी सम्यग्दर्शनोंको स्वाभाविक माननेवाले निरासार्थ प्रयत्न करते हैं । पूर्वपक्षीका कहना है कि सर्व ही सम्यग्दर्शन निसर्ग यानी स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं । क्योंकि जो जिसका योग्य काल है, वह अपने समयमें अपने आप उत्पन्न हो जाता है जैसे कि मोक्ष । अर्थात् दस जन्म पीछे होनेवाली मोक्ष प्रयत्न करनेपर भी दो या चार जन्म पीछे नहीं हो सकती है अथवा उपेक्षा करनेसे पचास जन्म पीछे होनेके लिये नहीं हट सकती है । नियत समयमें ही मोक्षका होना अनिवार्य है । जो होनहार है सो होता ही है । कारणोंके मिलानेसे क्या लाभ है ? योग्य कालमें वनस्पतियां फलती, फूलती हैं । तैसे ही अपने नियत कालमें सम्यग्दर्शन भी स्वभावसे उत्पन्न होजाता है । ग्रन्थकार समझाते हैं कि ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वपक्षीके द्वारा दिया गया स्वयं उत्पत्तिरूप हेतु किसी अधिगमजन्य होरहे सम्यग्दर्शनमें न रहनेके कारण भागासिद्ध हेत्वाभास है अथवा सभी प्रकारोंसे सामान्य ज्ञानके द्वारा भी नहीं जाने हुए अर्थमें श्रद्धान होना प्रसिद्ध नहीं है । अर्थात् परोपदेशसे या स्वयं जान लिये गये अर्थमें श्रद्धान होना बन सकता है। अतः कारणोंकी अपेक्षासे होनेवाले सम्यग्दर्शनके दो भेद कर दिये गये हैं । उन दोनों सम्यग्दर्शनरूप पक्षमें नहीं रहता है, अतः हेतु स्वरूपासिद्ध है । अपने कालमें भी विना कारकोंके कोई कार्य नहीं होजाता है । हां, अन्य कारणोंके समान काल भी एक कारण है। अकेला काल ही किसी कार्यका पूर्णरूपसे कारण नहीं है । अपने कालमें कार्य होते हैं, इसका अर्थ यही है कि सामग्री मिलने पर अपने कालमें कार्य होते हैं । यदि सामग्री न मिले तो कोरा काल क्या कर सकता है ? । कर्मोंका उदयकाल आनेपर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न होनेसे कर्मोंका फल नहीं होने पाता है । नारकियोंके अनेक पुण्य प्रकृतियोंका अपने उचित कालमें उदय आता है। किन्तु क्षेत्रसामग्री न होनेसे विना फल दिये हुए वे प्रकृतियां झड जाती हैं । पूरी आयुःको रखनेवाले जीवोंके अपवर्तनका कारण माने गये शस्त्रघात, विषभक्षण, ग्रन्थिक सन्निपात (प्लेग), विशूचिका (हैजा), आदिके मिल जानेपर मध्यमें ही आयुः कर्मका

ह्रास होजाता है। यदि कदलीघातके कारण न मिलते तो वे कर्मभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्च अधिक काल तक अवश्य जीवित रहते। जो भवितव्य है, वह अवश्य ही होवेगा। इसका तात्पर्य यही है कि कारणोंके मिलनेपर ही वह कार्य हो सकेगा. यदि ऐसा नहीं माना जावेगा तो पुरुषार्थ करना व्यर्थ पडता है। व्यापार, अध्ययन, विवाह आदि कारणोंके मिलाये विना धनप्राप्ति, विद्वत्ता, सन्तति आदि कार्य नहीं हो सकते हैं। हां, कभी तीव्र कर्मका उदय होजानेपर पुरुषार्थ व्यर्थ होजाता है। प्लेग, सन्निपात रोगोंसे सताये गये भी औषधिओंके विना ही कोई जीव चंगे होजाते हैं, किन्तु यह राजमार्ग नहीं है। एक मनुष्यका सन्निपात रोग दही खानेसे दूर होगया, इतनेसे ही वह दही खाना सन्निपातकी चिकित्सा नहीं। वास्तवमें कारणोंके मिलनेपर ही कार्य हुआ है, स्वयं अपने आप नहीं। केवल दैववादका पक्ष लेकर पुरुषार्थको न करनेवाले जीव आलसी और एकान्ती हैं। मोक्ष अपने समयमें होती है, इसका अभिप्राय भी यही है कि अतीन्द्रियदर्शीने परोक्ष मोक्षका जिस नियत कालमें होना बताया है, उसको मोक्षके पूर्ववर्त्ती कारण माने गये मनुष्यपर्याय, दीक्षा लेना, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षपकश्रेणी, चारों शुक्लध्यानरूप सामग्रीका होना भी अत्यावश्यक प्रतीत होकर दीख गया है, अतः मोक्षका दृष्टान्त लेकर सभी सम्यग्दर्शनोंको अपने कालमें स्वयं उत्पत्ति होनेसे स्वाभाविकपना सिद्ध करना ठीक नहीं है। जो कार्य अपने कारणोंके मिलनेपर नियत समयमें होगा वही उसका काल है, फिर अपने कालमें अपने आप होगा इस निःसार बातमें क्या तत्त्व निकला ? कुछ भी नहीं। जैसे कि कोई ईश्वरवादी कह देते हैं कि एक एक दानेमें छाप लग रही है, जो दाना जिस प्राणीका है उसीको मिलेगा। क्योंजी इसमें छाप मोहर, लगानेकी क्या बात है ? हम कहते हैं कि बैल गाडी या मोटर गाडीकी उडती हुई धूल या हवा, या जलकण मेघ बिन्दुऐं जिसके अंग पर लगती हैं, सबपर छाप लगी कहो। बात यह है कि देश, काल अनुसार वह वस्तु प्राप्त हो जाती है। सामग्री बदलनेपर परिवर्तन भी हो सकता है, एकान्त करना ठीक नहीं है, प्रकरणमें यह कहना है कि किसी भी प्रकारसे ज्ञान सामान्यके द्वारा भी अर्थको न जाना जावेगा तो ऐसे अर्थमें श्रद्धान होना कैसे भी नहीं बन सकता है।

वेदार्थे शूद्रवत्तत्स्यादिति चेन्न, भारतादिश्रवणाधिगते शूद्रस्य तस्मिन्नेव श्रद्धान दर्शनात्, स प्रत्यक्षतः स्वयमधिगते मणौ प्रभावादिना सम्भवानुमानाभिर्णीते कस्यचिद्भक्तिसम्भवादन्यथा तदयोगात्।

कोई यदि यों कहे कि वेदके अर्थमें विना जाने हुए भी जैसे शूद्रको श्रद्धान हो जाता है अर्थात् " स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम् " इस श्रुतिके अनुसार स्त्री और शूद्रको वेदके अध्ययन करनेका अधिकार नहीं है। फिर भी वेदमें विहित किये गये यज्ञ, आत्मविज्ञान, आदिक अर्थोंमें शूद्रको गाढ श्रद्धान देखा जाता है। इसीके समान ज्ञानके द्वारा नहीं जाने हुए अर्थमें भी सम्यग्दृष्टिको श्रद्धान हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि वेदव्यासके बनाये हुए

महाभारत, भागवत और वाल्मीकिके बनाये हुए रामायण आदि शास्त्रोंके सुननेसे जान लिए गए उस वेदमें ही शूद्रको श्रद्धान होना देखा जाता है। महाभारत आदिमें लम्बे चौडे प्रकरणोंके द्वारा वेदकी स्तुति गायी गयी है और इन प्रमाणोंके सुननेका अधिकार शूद्रको प्राप्त है। अतः सामान्यरूपसे जाने हुए वेदमें ही शूद्रकी भक्ति और श्रद्धान हो सकता है। किसी समय रत्नकी परीक्षा नहीं करनेवाले पुरुषोंके भी मार्गमें पडे हुए अथवा किसी धनिकके घरमें रखे हुए माणिक्य, हीरा, मरकत आदि किसी भी मणि (रत्न) को प्रत्यक्ष प्रमाणसे अपने आप ज्ञात कर लेनेपर और प्रभाव, चाकचक्य आदि हेतुओं करके सम्भवते हुए अनुमानसे निर्णय कर चुकनेपर ही उन रत्नोंमें किसीकी भक्ति होना सम्भव है। अन्यथा यानी कुछ कुछ प्रत्यक्षसे या सम्भवते हुए अनुमानसे मणिको न जाना जावेगा तो बालक, चूहा, चिडिया आदिके समान उन पुरुषोंको रत्नोंमें वह भक्ति या रागका योग नहीं हो सकता है। जैसे कि मूर्ख भिल्लिनीको गज–मुक्ताओंमें राग नहीं होता है, वह गज–मोतियोंको छोडकर गोंगचियोंके भूषण बनाकर हर्षसहित पहिनती हैं। भूमिमें गडे हुए रत्नोंके निकट मूसे यों ही डोलते हैं। उन रत्नोंका वास्तविक ज्ञान न होनेके कारण उनको आभिमानिक सुख प्राप्त नहीं होता है। तभी तो वे सुवर्ण या रत्नको यों ही इतस्ततः फेंक देते हैं।

साध्यसाधनविकलत्वाच्च दृष्टान्तस्य न स्वाभाविकत्वसाधनं दर्शनस्य साधीयः। न हि स्वाभाविकं निःश्रेयसं तत्त्वज्ञानादिकतदुपायानर्थकत्वापत्तेः। नापि स्वकाले स्वयमुत्पत्तिस्तस्य युक्ता तत एव। केचित् संख्यातेन कालेन सेत्स्यन्ति भव्याः, केचिदसंख्यातेन केचिदनन्तेन, केचिदनन्तानन्तेनापि कालेन न सेत्स्यन्तीत्यागमान्निःश्रेयसस्य स्वकाले स्वयमुत्पत्तिरिति चेत् न, आगमस्यैवंपरत्वाभावात्। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसात्मीभावे सति संख्यातादिना कालेन सेत्स्यन्तीत्येवमर्थतया तस्य निश्चितत्वात्, दर्शनमोहोपशमादिजन्यत्वाच्च न दर्शनं स्वकालेनैव जन्यते यतः स्वाभाविकं स्यात्।

एक बात यह भी है कि सम्यग्दर्शनको स्वाभाविकपना सिद्ध करनेमें दिया गया मोक्षरूपी दृष्टान्त तो स्वाभाविकपना साध्य और अपने कालमें अपने आप उत्पत्ति हो जाना रूप हेतुसे रहित है। अतः सम्यग्दर्शनको स्वाभाविकत्व सिद्ध करनेके लिये दिया गया वह दृष्टान्त बहुत अच्छा नहीं है। सुनिये, प्रथम ही दृष्टान्तका साध्यरहितपना अनुमानसे सिद्ध करते हैं कि मोक्ष (पक्ष) स्वाभाविक नहीं है (साध्य) तत्त्वज्ञान, दीक्षा, ध्यान, आदि उसके उपायोंको व्यर्थपनेका प्रसंग हो जानेसे (हेतु)। अर्थात् जो उपायोंसे साध्य है वह कारणोंके विना यों ही स्वभावसे ही उत्पन्न हो जानेवाला नहीं है। तथा मोक्षरूपी दृष्टान्तमें हेतु भी नहीं रहता है। देखिये, उस मोक्षकी (पक्ष) अपने आप ही अपने समयमें उत्पत्ति हो जाना भी युक्त नहीं है (साध्य) क्योंकि उस ही पूर्वोक्त हेतुसे यानी विशिष्ट समयोंमें ही होनेवाले तत्त्वज्ञान आदिक उपाय व्यर्थ पड जावेंगे (हेतु)। यहां कोई शंका उठाता है कि कितने ही भव्य जीव संख्यात कालके बीत जाने पर सिद्धिको प्राप्त करेंगे

और अन्य कितने ही भव्यजीव असंख्यात कालसे (के पीछे) सिद्ध होवेंगे तथा अन्य कतिपय जीव अनन्त वर्षोंके पीछे सिद्धिलाभ करेंगे। कुछ अभव्य और दूर भव्य जीव ऐसे भी हैं जो अनन्तानन्त कालमें भी सिद्ध अवस्थाको न प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार -आगमके वाक्योंसे मोक्षकी अपने नियत कालमें अपने आप उत्पत्ति होना सिद्ध है। फिर आप जैनोंने मोक्षरूप दृष्टान्तको साधनसे रहित कैसे कहा था ? बतलाइये। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह शंका तो ठीक नहीं है। क्योंकि आप आगमका जैसा अर्थ कर रहे हैं उस आगमकी इस प्रकार अर्थ करनेमें तत्परता नहीं है। यानी आप जैसा अर्थ करते हैं वह आगमका अर्थ नहीं है। उसका ठीक अर्थ यह है कि मोक्षके नियतकारण माने गये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनका आत्माके साथ तदात्मक एक रस हो जानेपर कोई संख्यात आदि कालोंसे सिद्धिलाभ करेंगे। हां कोई अनन्तकालमें भी सिद्ध न बन सकेंगे। इस प्रकारके अर्थसहितपने करके उस आगमका निश्चय हो रहा है। कारणोंके एकत्रित हो जानेपर ही कार्य हो सकेगा। दूसरी बात यह है कि यह सम्यग्दर्शन तो दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम क्षयोपशम और क्षयरूप आदि हेतुओंसे जन्य है। अतः जब ये हेतु मिलेंगे तभी उत्पन्न होगा, चाहे जिस अपने कालमें ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होजाता है जिससे कि वह स्वाभाविक यानी विना कारणोंके ही निसर्गसे होनेवाला हो सके। अर्थात् यहां सम्यग्दर्शनमें साधनके न रहनेसे स्वाभाविकपना साध्य भी नहीं रहता है। इस कारण तीनों ही सम्यग्दर्शनोंके निसर्ग और अधिगम ये दो कारण मानना समुचित हैं।

अन्तर्दर्शनमोहस्य भव्यस्योपशमे सति।
तत्क्षयोपशमे वापि क्षये वा दर्शनोद्भवः ॥ ५ ॥
बहिः कारणसाकल्येप्यस्योत्पत्तेरपीक्षणात्।
कदाचिदन्यथा तस्यानुपपत्तेरिति स्फुटम् ॥ ६ ॥

दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम या क्षयोपशम अथवा उसके क्षयरूप भी अन्तरङ्ग कारणोंके होनेपर किसी भव्य जीवके सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना देखा जाता है, तथा जिनमहिमाका दर्शन, जातिस्मरण, वेदनासे दुःखित होना, अधिगम, (धर्मश्रवण) अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तकरण आदि बहिरंग कारणोंकी भी सम्पूर्णता मिलनेपर ही इस सम्यग्दर्शनकी कभी कभी उत्पत्ति होना भी देखा जाता है। अन्यथा यानी बहिरंग और अन्तरङ्ग कारणोंकी पूर्णता न होनेपर उस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना असिद्ध है। यह बात सबके सन्मुख स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाती है।

ततो न स्वाभाविकोस्ति विपरीतग्रहक्षयः स्याद्वादिनामिवान्येषामपि तथानभ्युपगमात्।

तिस कारणसे सिद्ध होता है कि विपरीत अर्थका ग्रहण कर श्रद्धान करनारूप मिथ्यात्वका क्षय मात्र स्वभावसे ही होनेवाला नहीं है। स्याद्वादियोंके समान अन्य नैयायिक मीमांसक आदि वादियोंने भी तैसा स्वीकार नहीं किया है। अर्थात् मिथ्याज्ञानरूप शनिग्रहको क्षय करनेवाला सम्यग्ज्ञानका अविनाभावी सम्यग्दर्शन अपने कारणोंसे ही विशिष्ट समयमें उत्पन्न होता है। कारणोंके विना स्वभावसे ही चाहे जब वह उत्पन्न नहीं हो जाता है।

पापापायाद्भवत्येष विपरीतग्रहक्षयः।
पुंसो धर्मविशेषाद्वेत्यन्ये संप्रतिपेदिरे ॥ ७ ॥

अतत्त्वोंको तत्त्वरूपसे ग्रहण करनेरूप विपर्यय ज्ञानका यह क्षय (उद्देश्यदल) पाप कर्मोंके नाशसे होता है (विधेय)। अथवा आत्माके विशेष पुण्य कर्मोसे उत्पन्न हुए विशिष्ट धर्मोसे मिथ्याज्ञानका क्षय होता है। इस प्रकार अन्य नैयायिक, मीमांसक, आदि प्रतिवादी लोग भी भले प्रकार ज्ञात कर चुके हैं। भावार्थः—मिथ्याग्रहणके क्षयकी कारणोंसे उत्पत्ति होना सभी दार्शनिकोंने स्वीकार की है। वह स्वाभाविक नहीं है। अन्यथा सभी जीवोंके सर्वदा उसका मित्र सम्यग्ज्ञान पाया जाता। तीव्र पिशाचको दूर करनेके लिये सामग्री एकत्रित करनी पडती है। कोरे ढोंगसे काम नहीं चलता है। सूत्रमें कहे गये निसर्गपदका अर्थ भी उपदेशके अतिरिक्त होरहे शेष कारण हैं। कोरा स्वभाव नहीं मान बैठना।

ननु च यदि दर्शनमोहस्योपशमादिस्तत्त्वश्रद्धानस्य कारणं तदा स सर्वस्य सर्वदा तज्जनयेत् आत्मनि तस्याहेतुकत्वेन सर्वदा सद्भावात्, अन्यथा कदाचित्कस्यचिन्न जनयेत् सर्वदाप्यसत्त्वात् विशेषाभावादिति चेन्न, तस्य सहेतुकत्वात्प्रतिपक्षविशेषमन्तरेणाभावात्।

यहां किसीकी दूसरी शंका है कि दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदिको आप जैन लोग यदि तत्त्वश्रद्धानके कारण मानेंगे, तब तो वे उपशम आदि कारण सभी जीवोंके सम्पूर्ण कालोंमें उस सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करा देवें। क्योंकि वह मोहनीय कर्मका उपशम आदि होना अपनी उत्पत्तिमें किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं रखता है। अतः वह आत्मामें सर्वदा विद्यमान है ही। अन्यथा यानी उपशम आदिको आत्मामें सर्वदा विद्यमान नहीं कहकर अन्य प्रकारसे मानोगे तो किसी भी समय किसी जीवके वे उपशम आदि सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करा सकेंगे, कारण कि उपशम आदिक सदा भी आत्मामें हैं ही नहीं। उपशम आदि न होनेकी अपेक्षासे कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् किसी समयमें किसी आत्माके उपशम आदिकका न होना तो सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करादे और अन्य समयमें अन्य किसी आत्माके उपशम आदिका न होना सम्यग्दर्शनको उत्पन्न न करा सके, इस व्यवस्थाका नियामक कोई विशेष हेतु आप जैनोंके पास नहीं है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकारकी शंका तो ठीक नहीं है। क्योंकि वे उपशम, क्षय, क्षयोपशम तो अहेतुक

नहीं हैं, किन्तु हेतुओंसे सहित हैं। दर्शनमोहनीयकर्मके नाश करनेवाले काललब्धि, ध्यान, अधः-करण, आदि विशेष प्रतिपक्षिओं (शत्रुओं) के विना उपशम आदि कभी नहीं उत्पन्न होते हैं। भावार्थ— विशेष व्यक्तिके विशेष समयमें कर्मोंके प्रतिपक्षी कारणोंके मिलनेपर ही उपशम, क्षय और क्षयोपशम होते हैं। अतः सम्यग्दर्शनकी सर्वदा उत्पत्ति और सर्वदा अनुत्पत्तिका प्रसंग नहीं आता है।

कथं प्रतिपक्षविशेषाद्दर्शनमोहस्योपशमादिरित्युच्यते।

कर्मोंके शत्रुरूप विशेष प्रतिपक्षियोंसे दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षयोपशम और क्षय कैसे हो जाते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज कहते हैं——

दृग्मोहस्तु क्वचिज्जातु कस्यचिन्नुः प्रशाम्यति।
प्रतिपक्ष्यविशेषस्य सम्पत्तेस्तिमिरादिवत् ॥ ८ ॥
क्षयोपशममायाति क्षयं वा तत एव सः।
तद्धेतुकेति तत्त्वार्थश्रद्धानं स्यात्स्वहेतुतः ॥ ९ ॥

यहां तीन अनुमान बनाये जाते हैं कि किसी स्थानपर किसी समय योग्यता मिलनेपर किसी आत्माके दर्शनमोहनीय कर्मका प्रशस्त उपशम हो जाता है। अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टिके अनन्तानुबन्धी चार और मिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियोंका तथा किसी सादि मिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व सहित उक्त सात प्रकृतियोंका उपशम हो जाता है। पहिले, चौथे, पांचवें, छठे, सातवें गुणस्थानमें सम्यक्त्व और मिश्र प्रकृतिका संक्रमण हो जानेपर अथवा तीसरे, चौथे आदि गुणस्थानोंमें फल देकर या कहीं भी नहीं फल देकर दोनोंकी स्थितिबन्धके पूर्ण हो जानेपर सादि मिथ्यादृष्टिके भी पांच प्रकृतियोंका उपशम होता है [प्रतिज्ञा] क्योंकि उस मोहनीय कर्मके नाश [उपशम] करनेवाले विशेष प्रतिपक्षियोंकी आत्मामें तदात्मक रूपसे प्राप्ति होगयी है [हेतु] जैसे कि आंखोंमें लगे हुए तमारा, फुली, मोतियाबिन्दु, जाला आदि दूषित पदार्थोंका अञ्जन आदि प्रतिपक्षी औषधियोंसे कुछ दिनोंतकके लिए उपशम हो जाता है। दूसरा अनुमान यह है कि वह दर्शनमोहनीय कर्म [पक्ष] कहीं कभी किसी जीवके क्षयोपशम अवस्था को प्राप्त हो जाता है, यानी छह प्रकृतियोंके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभावरूप क्षय तथा उदीरणाको रोक रहा इनही प्रकृतियोंका सदवस्थारूप उपशम और देशघाती सम्यक्त्व कर्मका उदय बना रहता है (साध्य) क्योंकि तैसा ही कारण होनेसे अर्थात् कर्मबन्धके प्रतिपक्षी और स्वाभाविक गुणके प्रापक काललब्धि, जिनबिम्ब दर्शन आदि विशेष हेतुओंकी सम्प्राप्ति हो रही है [वही हेतु] दृष्टान्त भी वही है। अर्थात् जैसे नेत्रमें उपयोगी हो रही औषधके सेवनसे कुछ देरके लिए प्रकृष्ट दोषोंका फल न

देना रूप क्षय और छोटे छोटे दोषोंका सद्भाव बना रहता है। अथवा तिसरा अनुमान यह है कि वह दर्शन मोहनीय कर्म [पक्ष] कहीं [श्रुतकेवली या केवलीके निकट] कभी [कुछ मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कमती दो कोटि पूर्व वर्षसे अधिक तेतीस सागर तक अधिकसे अधिक संसारमें रहना शेष रहनेपर] किसी निकट भव्य जीवके क्षयको प्राप्त हो जाता है [साध्यदल] क्योंकि दर्शनमोहनीयकर्मको बंध, उदय सत्त्वरूपसे समूल चूल क्षय करनेवाले प्रतिपक्षी कारण आत्मामें जुट गये हैं [हेतु] उसी दृष्टांतके समान अर्थात् जैसे कि आंखोंके तमारा, रतोंध आदि दोषोंको जडमूलसे काटनेवाली औषधिके मिलने पर उन दोषोंका सर्वदाके लिये क्षय हो जाता है। इस प्रकार तीनों अनुमानोंसे उपशम, क्षय, क्षयोपशमोंको कारण सहितपनेका निरूपण कर दिया है। उन्हींके समान तत्त्वार्थश्रद्धान भी अपने कारण माने गये उपशम आदिसे विशेषव्यक्तिके विशेष समयमें कारणोंके अनुरूप उत्पन्न हो जाता है। यह समझ लेना चाहिये।

यः कश्चित्कदाचित् कस्यचिदुपशाम्यति, क्षयोपशममेति, क्षीयते वा, स स्वप्रतिपक्षप्रकर्षमपेक्षते यथा चक्षुषि तिमिरादिः तथा च दर्शनमोह इति नाहेतुकस्तदुपशमादिः।

जो पदार्थ कहीं कभी किसीके भी उपशान्त होता है या क्षयोपशमको प्राप्त होता है अथवा क्षयको प्राप्त हो जाता है। (व्यापिका हेतु) वह पदार्थ अपने प्रतिपक्ष होरहे पदार्थकी वृद्धिको सहकारीपनेकी अपेक्षासे चाहता है। (व्याप्तिका साध्य)। जैसे कि चक्षुमें तमारा, कामल, आदि रोग तभी नाशको प्राप्त होवेंगे, जब कि उन दोषोंके उत्पादक कारणोंका प्रकर्षशक्तिवाला प्रतिपक्ष (नाशक) अञ्जन, ममीरा, भीमसेनी कर्पूर, मोती आदि औषधिओंका समुदाय प्राप्त हो जावेगा। (अन्वय दृष्टांत)। और तैसा ही तिमिर आदिके समान उपशम आदिको प्राप्त होनेवाला दर्शनमोहनीय कर्म है। (उपनय) अतः अपने प्रतिपक्षीका अपेक्षक है। (निगमन) इस प्रकार उस कर्मके उपशम आदि होना अहेतुक नहीं है, यानी हेतुओंसे कर्मोंके उपशम, क्षय, और क्षयोपशम होते हैं। तब तो सम्यग्दर्शन भी कारणसहित ठहरा।

प्रतिपक्षविशेषोऽपि दृङ्मोहस्यास्ति कश्चन।
जीवव्यामोहहेतुत्वादुन्मत्तकरसादिवत् ॥ १० ॥

मोहनीय कर्मके प्रतिपक्ष पडनेवाले विपक्षीको अनुमानसे सिद्ध करते हैं कि दर्शनमोहनीय कर्मका कोई न कोई विशेष प्रतिपक्षी भी है (प्रतिज्ञावाक्य)। जीवके स्वाभाविक गुणोंको विशेषरूप करके मोहित करनेका कारण होनेसे (हेतु); जैसे कि उन्मत्त करनेवाले मद्य, भंग, धतूरा, आदिके रसका तथा अहिफेन, गांजा, आदि उन्मत्त बनानेवाले पदार्थोंकी शक्तिका ध्वंस करनेवाले प्रतिपक्ष शीतजल, दधि, खटाई, हींगडा आदि पदार्थ हैं (अन्वय दृष्टान्त)।

यो जीवस्याभिमोहहेतुस्तस्य प्रतिपक्षविशेषोऽस्ति यथोन्मत्तकरसादेः । तथा च दर्शन-मोह इति न तस्य प्रतिपक्षविशेषस्य सम्प्राप्तिरसिद्धा ।

जो पदार्थ जीवको चारों ओरसे विशेष मोहित करनेका कारण है उस पदार्थका नाश करने-वाला प्रतिपक्षी पदार्थ भी कोई अवश्य है । जैसे कि उन्मत्तताको करनेवाले मद्य रस, धतूरा आदिकी शक्तियोंको नष्ट करनेवाले विरोधी पदार्थ हैं । जिन कारणोंसे ज्वर, श्लेष्म, खांसी आदि रोग उत्पन्न होजाते हैं उनके प्रतिपक्षी निदानोंसे वे रोग दूर भी होजाते हैं । आत्माको मूढ बनानेवाले अहिफेन, कुमंत्र आदि पुद्गल द्रव्यके निवारक प्रतिपक्षी पदार्थ संसारमें विद्यमान हैं । और वैसा ही आत्माको तत्त्वार्थोंके श्रद्धानमें न लगाकर कुतत्त्वोंकी ओर (तरफ) झुकानेवाला मोहक मोहनीय कर्म है । इस प्रकार उस कर्मके नाश करनेवाले द्रव्य, या अनिवृत्तिकरण, आदि विशेष प्रतिपक्षियोंकी किसी समय किसी आत्मामें अच्छी प्राप्ति होजाना असिद्ध नहीं है, सो सुनिये ।

स च द्रव्यं भवेत् क्षेत्रं, कालो भावोऽपि वाङ्गिनाम् ।
मोहहेतुसपत्नत्वाद्विषादिप्रतिपक्षवत् ॥ ११ ॥

मोहनीय कर्मके प्रतिपक्षको अनुमानसे सिद्ध करते हैं कि जीवोंके मोहनीय कर्मका वह प्रति-पक्षी पदार्थ (पक्ष) विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र और काल है तथा भाव भी है (साध्य) क्योंकि उन द्रव्य आदिकोंको मोहनीय कर्मके मिथ्या आयतन, रौद्रध्यान, आदि हेतुओंका शत्रुपना है । (हेतु) जैसे कि विष, अधिक भोजन, आदिके प्रतिपक्ष माने गये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंके मिलनेपर विष और अधिक भोजनके दोषोंका नाश होजाता है । (अन्वय दृष्टान्त) अधिक भोजनके दोषोंका वडवानल चूर्ण, पञ्चसकार चूर्ण आदि द्रव्यसे, समीचीन जल वायुके प्रदेशमें टहलनेसे, प्रातःकाल व्यायाम, डेरे करवटसे लेटना आदि क्रियाओंसे नाश होजाता है, विषका भी द्रव्य आदिकसे नाश होजाता है, तैसे ही द्रव्य आदि कारणकूटसे मोह कर्मका नाश होजाता है ।

मोहहेतोर्हि देहिनां विषादेः प्रतिपक्षो वन्ध्यकर्कोट्यादि द्रव्यं प्रतीयते, तथा देवताय-तनादि क्षेत्रं, कालश्च मुहूर्तादिः, भावश्च ध्यानविशेषादिस्तद्वद्दर्शनमोहस्यापि सपत्नो जिने-न्द्रबिम्बादि द्रव्यं, समवसरणादि क्षेत्रं, कालश्चार्धपुद्गलपरिवर्तनविशेषादिर्भावश्चाधाप्रवृत्तिक-रणादिरिति निश्चीयते । तदभावे तदुपशमादिप्रतिपत्तेः, अन्यथा तदभावात् ।

जिस कारणसे कि प्राणियोंको मोहके कारण होरहे विष आदि पदार्थोंके प्रतिपक्षी द्रव्य तो वन्ध्य, (विषकी शक्तिको निष्फल करनेवाली कोई विशेष औषधि) ककोंटी, (विशेष फल, जडी, बूटी) यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, गारुडि, आदि प्रतीत हो रहे हैं, तथा विष, शरीर वेदना, बावले कुत्ते, और लोबटीके काटनेका पागलपनको नाश करनेवाले क्षेत्र भी सुदेवोंके स्थान, धर्मशाला, मन्त्रशाला

कसौटी आदि हैं । तथा शुभ मुहूर्त, दीपावलीका दिवस, पुष्य नक्षत्र आदि काल हैं । एवं धनञ्जय सेठके समान ध्यान विशेष करना, नीरोगताकी भावना, मंत्र जपना आदि भाव हैं । तैसे ही दर्शन-मोहनीय कर्मकी भी शक्तिको नष्ट करनेवाले प्रतिपक्षी द्रव्य तो जिनेंद्र प्रतिमा, देव ऋद्धि आदि हैं । और समवसरण या तीर्थस्थान एवं पञ्चकल्याणोंके स्थान आदि क्षेत्र हैं । तथा अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल संसारमें अवशेष रहना या तीर्थङ्करोंके पञ्चकल्याणकोंकी तिथियां, विशेष पर्वदिन, आदि काल रूप सामग्री है । और प्रायोग्य, अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, आदि भाव हैं । इस प्रकार दर्शनमोहनीयके प्रतिपक्षी द्रव्य आदि पदार्थ निश्चित किये जाते हैं । सम्पूर्ण कर्मोंके सम्राट् समझे गये उस मोहनीय कर्मके अभाव होनेपर ही उसके उपशम, क्षयोपशम, और क्षय होनेकी प्रतिपत्ति हो रही है । दूसरे प्रकारोंसे उन उपशम आदिके होनेका अभाव है ।

तत्सम्पत्सम्भवो येषां ते प्रत्यासन्नमुक्तयः ।
भव्यास्ततः परेषां तु तत्सम्पत्तिर्न जातुचित् ॥ १२ ॥

उस दर्शन मोहके प्रतिपक्षी कहे गये उपशम आदि भावोंकी या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी सम्पत्ति जिन जीवोंके सम्भवती है तिस कारणसे वे जीव निकटभव्य हैं उनकी मोक्ष होना अति निकट है । और उनसे दूसरे अभव्य जीव या दूरातिदूर भव्य जीवोंके तो उस उपशम या द्रव्य आदि सम्पत्तिकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकेगी । अति विलम्बसे मोक्षको प्राप्त करनेवाले जीवोंके भी अधःकरण आदिकी सम्पत्ति बहुत दिनोंके पीछे प्राप्त होगी । सम्पत्तिका अर्थ गुणके साथ प्रेम रखते हुए एक रस हो जाना है । षोडशकारण भावनाओंमें विनयसम्पन्नता दूसरी भावना है । अन्य पन्द्रहोंसे विनय भावनामें यह विशेषता है कि जैसे कृपणधनी अपनी धन सम्पत्तिको सदा छातीसे लगाये रहता है वैसे ही विनीत पुरुषके मन, वचन, तन आत्मामें विनयगुण सना रहना चाहिये । विनयको अपनी मूलसम्पत्ति समझकर सदा गुरु जनोंके प्रति आदर करे । जैसे ऐंठैल धनाढ्यकी प्रत्येक क्रियामें धनवत्ताकी बास आती है तैसे ही आत्माके प्रत्येक व्यवहारमें विनयकी सुगन्ध बहती रहनी चाहिये । अतः विनयगुणके साथ सम्पन्नता लगाकर दूसरी भावना भावित होती है ।

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः सम्पद्यते नान्येषां कदाचित्कारणासन्निधानात्, इति मुक्त्यासन्नभव्यादिविभागः सद्दर्शनादिशक्त्यात्मकत्वेपि सर्व-संसारिणाम् ।

जिन आत्माओंको मोक्ष होना अतीव निकट है उन भव्योंके ही दर्शनमोहनीय कर्मके प्रतिपक्ष सामग्रीकी प्राप्ति होजाती है । अन्य जीवोंके किसी कालमें उस सम्पत्तिकी प्राप्ति नहीं होती है । क्योंकि अन्य आत्माओंके कभी भी ऐसे कारण पासमें नहीं आते हैं और कारणके बिना कार्य होता

नहीं है । इस प्रकार जीवोंका निकटभव्य, दूरभव्य, दूरातिदूरभव्य आदि और अभव्य ऐसा जाति-विभाग करना युक्तियोंसे सहित है । भले ही सम्पूर्ण संसारी जीवोंके द्रव्यरूपसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों तदात्मक शक्तियां विद्यमान हैं तो भी भेद करना आवश्यक है । भावार्थ:—इन तीनों शक्तियोंका अभव्योंके सदा ही विभाव परिणाम होता रहता है या यों कहिये कि इन तीनों स्वाभाविक पर्यायोंकी व्यक्ति अभव्यमें नहीं हो पाती है । अभव्योंके केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञानरूप परिणमन करनेकी योग्यताको रखनेवाली चेतना शक्ति विद्यमान है, किन्तु मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणका सदा उदय बना रहनेसे वह शक्ति कभी व्यक्त नहीं होने पाती है । कोई मूंग शीघ्र पक जाती है, कोई कुछ देरमें पकती है, तथा किसी सडी गली मूंगको तो पकानेके कारण अग्नि, जल और पात्र ही नहीं मिल पाते हैं । तथा कुडरू जातिकी मूंग तो हजारों मन लक्कड जलानेपर भी नहीं पक सकती है । तीन चार भवोंमें मोक्ष जानेवाला नितान्त आसन्न भव्य है । थोडे भवोंमें मोक्ष जानेवाला निकट भव्य है । अनन्तानन्त कालकी अपेक्षासे अर्धपुद्गलपरिवर्तन उसका अनन्तानन्तवां भाग होनेसे बहुत थोडा काल है । जिस जीवको मोक्ष जानेके लिये इतना काल अवशेष रहा है वह भी निकटभव्य कहा जाता है। पांच परावर्तनोंमें सबसे छोटा द्रव्यपरिवर्तन है । इसके नोकर्म, कर्म ये दो भेद हैं । सबसे छोटा नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन है, इसके आधे कालको अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं। इससे अधिक कालमें या अनेक पुद्गल परिवर्तनोंके पीछे जो मोक्ष जानेवाले हैं वे दूरभव्य हैं । और जिन भव्योंको शक्ति होनेपर भी सम्यग्दर्शनके व्यक्त होनेके लिये कभी कारण ही न मिलेंगे उनको दूरातिदूरभव्य कहते हैं । ऐसे परमाणु अनन्त पडे हुए हैं जो आजतक स्कन्धरूप नहीं हुए और आगे भी न होवेंगे, उनमें जघन्य गुण ही परिणत होते रहते हैं जो कि बन्धके कारण नहीं है । कोई अभव्य जीव हैं जो कि निमित्त मिलनेपर भी दर्शनमोहनीयका उपशम नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार संसारी जीवोंकी चार प्रकार की जातियां हैं ।

सम्यग्दर्शनशक्तेर्हि भेदाभावेऽपि देहिनाम् ।
सम्भवेतरतो भेदस्तद्व्यक्तेः कनकाश्मवत् ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके सम्यग्दर्शनरूपी शक्तिका भेद न होनेपर भी व्यक्त होनेकी सम्भावना और सम्यग्दर्शनके नहीं प्रगट होनेकी सम्भावनासे अवश्य भेद है, जैसे कि सुवर्णका पाषाण (दृष्टान्त) अर्थात् जिनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुण व्यक्त हो जावेंगे, वे भव्य हैं । और जिनके ये गुण कैसे भी प्रगट न होवेंगे, वे अभव्य हैं । तथा जिनको कारण ही न मिलेंगे वे दूरातिदूर भव्य भी अभव्य सारिखे हैं । सुवर्णपाषाणमेंसे अग्नि, तेजाब निमित्त मिलानेपर सौटंच सुवर्ण प्रगट होजाता है और अन्ध पाषाणसे निमित्त मिलानेपर भी सुवर्ण व्यक्त नहीं होता है । यद्यपि सुवर्ण दोनों पाषाणोंमें विद्यमान है । बादाम, पिस्ता, सरसों और तिलोंसे तैल निकल आता

है। गेहूं, जौ, चनामें से कठिनतासे तेल निकलता है। चिकनी मट्टी, तुस से नहीं। हां, मट्टी आदिमें भी अव्यक्त रूपसे तैल विद्यमान रहता है। कहीं तिल आदिमें निमित्त ही नहीं मिलपाते हैं। हां, बालूमें से तेल निकलता ही नहीं है।

यथा किञ्चित्कनकाश्मादि सम्भवत्कनकभावाभिव्यक्तिकमचिरादेव प्रतीयते, अपरं चिरतरेणापि कालेन सम्भवत्कनकभावाभिव्यक्तिकमन्यदसम्भवत्कनकभावाभिव्यक्तिकं, शश्वत्कनकशक्त्यात्मकत्वाविशेषेऽपि सम्भाव्यते, तथा कश्चित् संसारी सम्भवदासन्नमुक्तिरभिव्यक्तसम्यग्दर्शनादिपरिणामः, परोनन्तेनापि कालेन सम्भवदभिव्यक्तसद्दर्शनादिरन्यः शश्वदसम्भवदभिव्यक्तसद्दर्शनादिस्तच्छक्त्यात्मकत्वाविशेषेऽपि सम्भाव्यते।

जैसे कि किसी कनकपाषाण या रसायनप्रयोग द्वारा सम्पादन किया गया तांबा, सीसा, लोहाका अग्नि तेजाब नागफणी आदि पदार्थोंका निमित्तोंके मिलानेपर अल्प ही कालमें निर्दोष सुवर्ण स्वरूपसे प्रगट होना सम्भव होरहा है। और दूसरे सुवर्णकी खानका पाषाण या रसायन बनानेकी प्रक्रियामें पड़ा हुआ तांबा आदि द्रव्य तो विशेष लम्बे काल करके भी सुवर्णरूपसे प्रगट होते हुए सम्भव रहे हैं। तीसरे जातिके अन्य अन्ध पाषाण या विशिष्ट तांबा आदिका सुवर्णरूपसे प्रगट होना असम्भव ही है। यद्यपि उक्त पाषाण आदि धातुओंमें सुवर्णरूपसे परिणमन होनेकी शक्ति तदात्मक होकर विशेषताओंसे रहित यानी एकसी सदा विद्यमान है। फिर भी शीघ्र सोना बन जाना, विलम्बसे सोना बन जाना और कभी भी सोना न बनना इन परिणतियोंसे जैसे शक्तियुक्त द्रव्यके तीन विभाग कर दिये सम्भव जाते हैं। वैसे ही कोई संसारी जीव तो अल्पदिनोंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणों (परिणामों) को प्रगट करता हुआ निकट मोक्ष-गामी सम्भव है। और दूसरा दूरभव्य अनन्तकालसे भी सम्यग्दर्शन आदि गुणोंको सम्भवतः प्रगट कर सकेगा। अतः वह दूरभव्य सम्भव रहा है। इनसे भिन्न तीसरा सर्वदा ही सम्यग्दर्शन आदिको प्रगट न कर सकेगा। अतः उसकी मुक्ति होना असम्भव है यह अभव्यजीव है। तीनों ही प्रकारके जीवोंमें भले ही शक्तिरूपसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, की तदात्मकतायें अन्तररहित विद्यमान हैं, फिर भी शीघ्रभव्यता, दूरभव्यता, और अभव्यता, से विभाग करना सम्भावित होरहा है। दूरातिदूर भव्यपना भी इन्हींमें गर्भित होजाता है। भावार्थ—द्रव्यमें गुण नये नहीं गढ़े जाते हैं। जो ही भव्योंमें गुण हैं वैसे ही अभव्योंमें गुण हैं, केवल स्वाभाविक पर्यायोंका होजाना या सम्भावित होना और विभाव पर्यायोंका होना इतना ही भव्य और अभव्यमें अन्तर है। अकेले पञ्चाध्यायीकारके मतानुसार जीवोंमें भव्यत्व और अभव्यत्व गुणोंके सद्भावसे भी अन्तर है।

इति नासन्नभव्यदूरभव्याभव्यविभागो विरुध्यते बाधकाभावात् सुखादिवत्। तत्र प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भव्यस्य दर्शनमोहोपशमादौ सत्यन्तरङ्गे हेतौ बहिरंगादपरोपदेशात्तत्त्वार्थज्ञानात् परोपदेशापेक्षाच्च प्रजायमानं तत्त्वार्थश्रद्धानं निसर्गजमधिगमजं च प्रत्येतव्यम्।

इस प्रकार युक्ति और दृष्टान्तोंकी सामर्थ्यसे जीवोंका निकट भव्य, दूरभव्य और अभव्यरूप करके विभाग करना विरुद्ध नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है, (हेतु) जैसे–सुख, दुःख, पुण्य, पापकी सत्ता माननेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात् देवदत्तका सुख या दुःख उसको स्वसंवेद्य है, वह मोक्षकी तरह अपने सुख दुःखोंको प्रत्यक्ष द्वारा दूसरे छद्मस्थोंको नहीं जता सकता है, किन्तु बाधक प्रमाणोंके न होनेसे सुख आदिककी सत्ता मानी जाती है। तैसे ही जीवोंमें अतीन्द्रिय भव्यपनेकी व्यवस्था माननी पडती है। उन तीन या चार प्रकारके जीवोंमेंसे पहिले अति निकट सिद्धिवाले भव्यजीवके दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम आदिक अन्तरंग हेतुओंके विद्यमान रहनेपर और परोपदेशको छोडकर शेष ऋद्धि दर्शन, जिनबिम्ब दर्शन, वेदना, आदि बहिरंग कारणोंसे पैदा हुए तत्त्वार्थज्ञानसे उत्पन्न हुआ तत्त्वार्थ–श्रद्धान तो निसर्गज समझ लेना चाहिए। और अन्तरंग कारण माने गये दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय, और क्षयोपशम तथा बहिरंग कारण परोपदेशसे बढिया ढंगपर उत्पन्न हो रहे तत्त्वार्थ–श्रद्धानको अधिगमज निर्णीत कर लेना चाहिए। इस प्रकार वर्तमान सूत्रकी तीसरी, चौथी, वार्तिकके प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया है।

तृतीयसूत्रका सारांश

इस सूत्रके प्रकरणोंका संक्षेप विवरण यह है कि प्रथम ही सम्यग्दर्शनके नित्यपने, नित्यहेतुकपने और अहेतुकपनेका निराकरण किया है। यहां अन्य मतियोंके द्वारा मिथ्यादर्शन, संसार, प्रागभाव, करके दिये गये व्यभिचार विशेषविद्वत्तासे आचार्य महाराजने वारण किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये आत्मीयगुणोंकी स्वाभाविक पर्यायें हैं, अतः ये भाव अनित्य हैं। किन्तु इनका परिणामी द्रव्य तो नित्य है। प्रागभावको जैनसिद्धान्तमें निश्चयनयसे अव्यवहित एक पूर्व पर्यायरूप माना गया है और व्यवहारनयसे पूर्ववर्ती अनेक पर्यायरूप स्वीकार किया है। तुच्छ प्रागभावको हमने स्वीकार नहीं किया है। सूत्रमें उत्पद्यते क्रियाको शाब्दबोध करनेके लिये जोड लेना चाहिए। सूत्रके तत्पदसे सम्यग्दर्शनका ही परामर्श हो सकता है। क्योंकि व्यक्तिरूपसे सभी सम्यग्दर्शनोंके निसर्ग और अधिगम दोनों हेतु बन जाते हैं। ज्ञान, चारित्र और मोक्षमार्गके व्यक्तिरूपसे दोनों कारणोंका होना नहीं सम्भवता है। व्याकरण शास्त्रसे भी मोक्षमार्गका परामर्श न कर सम्यग्दर्शनका ही तत् शब्दसे स्मरण हो सकता है। परोपदेशके बिना जिनबिम्ब आदिसे हुए तत्त्वार्थज्ञानको अधिगम निर्णीत किया है। इन दो कारणोंसे दो प्रकारके सम्यग्दर्शन हो जाते हैं। निसर्गका अर्थ स्वभाव नहीं है। सम्यग्दर्शनके पूर्ववर्ती ज्ञानको सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानसे भिन्न सामान्यज्ञान माना गया है। यहां आचार्य महाराजने भारी विद्वत्तासे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी समीचीनताको परिपुष्ट किया है। अन्योन्याश्रय दोषका वारण अतीव प्रशंसनीय है। इसके आगे सभी सम्यग्दर्शनोंके

स्वाभाविकपने (निसर्गज) के एकान्तका निराकरण किया है। कारणोंके विना मोक्ष, सुख, सम्यग्दर्शन, आदि कोई भी कार्य निष्पन्न नहीं होता है। सम्यग्दर्शनके अन्तरंग और बहिरंग कारणोंका व्याख्यान करके अनुमानके द्वारा उपशम आदिकको सिद्ध किया है। मद्य आदिका दृष्टान्त देकर पुद्गल द्रव्यके बने हुए कर्मोंकी शक्तियोंका नाश हो जाना बतलाया है। विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावरूप निमित्तोंसे अनेक योग्य नैमित्तिक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जिनबिम्ब, तीर्थस्थान आदि कारण भी आत्मामें छिपे हुए अनेक गुणोंको व्यक्त कर सकते हैं। निकटभव्य, दूरभव्य, अभव्य, जीवोंको सुवर्ण पाषाण, और अन्धपाषाणके दृष्टान्तसे अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। पारिणामिकभाव रूप भव्यपना सिद्ध अवस्था उत्पन्न होनेके पूर्व समयतक बना रहता है। पीछे नहीं, यह बात स्वयं सूत्रकारने दशवें अध्यायमें कही है। इस प्रकार निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न हुए श्रद्धान गुणकी प्रतीति कर लेनी चाहिये।

" सम्यग्दर्शनकी दुर्लभता "

(टीकाकार द्वारा)

इस परिवर्तन शील अनादि संसारमें कर्मफल चेतनाके वश होकर अक्षय अनंतानंत जीव नारक, निगोद आदि अवस्थाओं और जन्म, जरा, मृत्यु, भूख, रोग, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोगज आदि अनेक विपत्तियोंको प्रतिक्षण भुगत रहे हैं। उनमें बहुभाग प्राणी तो दुःखसे छूटनेके उपायोंको ही नहीं जानते हैं। हां, मात्र असंख्याते विचारशाली जीव दुःखसे छूटकर वास्तविक सुखको प्राप्त करनेके लिये अभिलाषुक होरहे प्रतीत होते हैं।

अनुभव करनेपर परीक्षित होता है कि—यथार्थ सुख तो कर्म, नोकर्मके सम्बन्धसे वियुक्त हो रही परमात्म अवस्थामें है। और मोक्षकी प्राप्तिका अव्यर्थ कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रोंकी परिपूर्णता हो जाना है।

सबसे प्रथम माने गये सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना जीवोंको अत्यन्त दुर्लभ है। यद्यपि तत्त्वज्ञान और चारित्र भी अतीव दुष्प्राप्य हैं। किन्तु अर्धपुद्गलपरिवर्त्तन नामक अनन्तवर्षोंके छोटेसे कालमें ही मोक्ष सुखमें धर देनेवाले सम्यग्दर्शनकी दुर्लभता बढी चढी है। अतः आज हम इसीपर जिनागमानुकूल थोडासा प्रतिपादन करते हैं।

नारकी, देव, और संज्ञी तिर्यंचोंमें असंख्यासंख्यात जीव सम्यग्दृष्टि हैं, जो कि उनकी नियत संख्याके असंख्यातवें भाग हैं, यानी तीन गतियोंमें प्रत्येकमें असंख्याते, असंख्याते जीवोंके पीछे केवल एक एक ही सम्यग्दृष्टि जीव आंकडोंमें बैठता है। हम तीनों गतियोंके सम्यग्दृष्टियोंका विचार नहीं करके केवल मनुष्यगति सम्बन्धी जीवोंके सम्यग्दर्शनका ही विचार चलाते हैं।

तेरस कोडी देसे बावण्णा सासणे मुणेदव्वा।
मिस्साविय तद्दुगुणा असंजदा सत्तकोडिसयं॥ ६४१ ॥

सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झाय संजदा सव्वे ।
अंजलि मौलिय हत्थो तियरणसुद्धे णमंसामि ॥ ६३२ ॥

(गोम्मटसार जीवकाण्ड)

प्रसन्नताकी बात है कि हम आप मनुष्योंमें सम्यग्दृष्टियोंकी संख्या हमारी नियत संख्याके संख्यातवें भाग ही है । अर्थात् ७९ उन्यासी आदि उन्तीस अंक प्रमाण ७९२२८१६२५१, ४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ सम्पूर्ण पर्याप्त मनुष्योंमें मात्र (७२१९९९९९७) सात अरब इक्कीस करोड निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौसौ सत्तानवे मनुष्य सम्यग्दृष्टि हैं । जो कि अपनी संख्याके वर्तमान इकाई, दहाई, को आदि लेकर दश संखतक प्रसिद्ध होरहीं संख्यानुसार सौसंखवें भाग हैं । भावार्थ—कुल इकाई, दहाई, सैकडा, हजार, दशहजार, लाख, दश लाख, करोड, दश करोड, अरब, दश अरब, खरब, दशखरब, नील, दशनील, पदम, दश पदम, संख, दश संख, इस गणनाके अनुसार स्थूलरूपसे सौसंख मनुष्योंमें केवल एक मनुष्य सम्यग्दृष्टि है । अथवा सत्ताईस अंक प्रमाण मनुष्य माने जांय तो एक संख मनुष्योंमें एक सम्यग्दृष्टि पाया जायगा । अवगाहना शक्त्यनुसार उन्तीस अंक प्रमाण, या सत्ताईस अंक प्रमाण मनुष्य इस पैंतालीस लाख योजनके नरलोकमें पाये जाते हैं ।

भरतक्षेत्रसंबंधी आर्यखंडके कई हजारवें भागमें यह वर्तमान वैज्ञानिकोंका समझा हुआ, यूरोप, एशिया, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा और भी अन्य छोटे प्रदेश, अथवा समुद्रीय जल भागसे घिरा हुआ भूमण्डल है । इसमें मात्र कई अरब मनुष्य हैं ।

एसिया महाद्वीपके इस भारतवर्षमें वीर निर्वाण संवत् २४५८ में जैनोंकी संख्या तेरह लाख मानी जाती है । इसमें श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तथा बालक, बालिकायें, और मिथ्यादृष्टि, सप्तव्यसनसेवी आदि भी सम्मिलित हैं । इनमें यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान करनेवाले, सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी प्रतीति करनेवाले, भेदविज्ञानी, सम्यग्दृष्टि कितने हैं ? इसका विचार आवश्यक है ।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् । त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥

(स्वामी समन्तभद्राचार्यः)

सर्वज्ञदेवने पच्चीस दोषोंको टालकर परमार्थ आप्त, आगम, और गुरुओंका अष्टांग श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा है । अनंतानुबंधी चार, और दर्शनमोहत्रिक, के उपशम, क्षय, या क्षयोपशमसे होनेवाली आत्मविशुद्धिको सम्यग्दर्शन माना है । जो कि सूक्ष्म है, अव्यक्त है, और प्रत्यक्षज्ञानियोंके गम्य है । हां, प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य, अथवा संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, प्रशम, जिनभक्ति, वात्सल्य, अनुकंपा गुणोंसे अन्वित हो रहा सरागसम्यक्त्व तो स्वपरसम्वेद्य भी है ।

इस अंगी सम्यग्दर्शनके निःशंकित, निःकांक्षित, आदि आठ अंग माने गये हैं। बुद्धिमान् पुरुष अंगोंको देखकर अंगीका अनुमान कर लेते हैं। गोम्मटसारकी प्ररूपणासे बीस अंक परिमित सौ संख या अठारह अंक प्रमाण एक संख मनुष्योंमें ढोटळ अनुसार एक ही मनुष्य सम्यग्दृष्टि हो सकता है। २४ अंक प्रमाण पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या होनेपर भी तो १० नील मानवोंमें एक ही सम्यग्दृष्टि बननेका अधिकारी रहजाता है।

इस त्रिलोक, त्रिकाल, अबाधित, अखण्ड, सर्वज्ञोक्त, सिद्धान्तकी सत्यताका युक्तिपूर्ण अनुमान भी इस अप्रिमविवेचनपर अवलंबित है।

उस सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये निःशंकित आदि आठ गुणोंके प्रतिपक्ष होरहे शंकादि आठदोष आजकल अस्मदादि मनुष्योंमें कितने कैसे पाये जाते हैं ? इसकी निष्पक्ष, खरी, आलोचना करनी पडती है। जो मनुष्य सर्वज्ञोक्त आगममें शंका कर रहा है, अथवा वीतराग धर्मका बहिरंग श्रद्धालु होकर भी भोगोपभोगोंकी आकांक्षा कर रहा है, मुनियोंके पवित्र शरीरमें घृणा करता है, जैनमत-बाह्य दार्शनिकोंके गुणाभासोंकी प्रशंसा स्तुतिओंके पुल बांधता है, वह दीन विचारा निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सादि गुणोंको बिल्कुल भी नहीं पाल सकता है। सुनिये।

बात यह है कि नाना प्रकारके संकल्प, विकल्पोंमें फंसे हुये प्राणियोंके इस कालमें सम्यक्त्व होना अतीव दुर्लभ है, असंभव तो नहीं है। जब कि असंख्यात योजन चौडे अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीपकी परली ओरके अर्धभागमें असंख्याते तिर्यंच, देशव्रती, पांचवे गुणस्थानवाले पाये जाते हैं, तो जिनालय, जिनागम, तीर्थस्थान, गुरुसंगति, संयमी, सत्संगादि अनेक अनुकूलताओंके होते हुए यहां भरत क्षेत्रसंबंधी आर्यखण्डके मध्यप्रान्तमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाना असंभव नहीं कही जा सकता है।

सूक्ष्म विचारके साथ पर्यवेक्षण किया जाय तो करोडों, अरबों जीवोंमें एक, दो जीवके ही शंकायें करता नहीं मिलेगा, शेष सभी जीव प्रायः हृदयमें व्यक्त, अव्यक्त रूपसे शंका पिशाचियोंसे ग्रसित होरहे हैं। परलोक है या नहीं ? बडे, बडे स्नेही जीव भी मरकर पुनः अपने प्रेम पात्रोंको आकर नहीं संभालते हैं ? अत्याधिक प्यार करनेवाले माता पिता भी मरकर पुनः अपनी सन्तानकी कोई खबर नहीं लेते हैं, । आखिर कोई तो उनमेंसे देव देवी हुये ही होंगे, जो कुछ भी उपकार कर सकते हैं ? । तीव्र क्रोधी भी परलोकसे आकर अपने शत्रुओंको त्रास देते हुये नहीं सुने जाते हैं ? क्वचित् भवस्मरणकर पूर्वभवकी कुछ, कुछ बातोंको कहनेवाले लडकी, लडका, सुने जाते हैं। किन्तु उनसे भरपूर संतोष नहीं होता है।

कोई पुरुष अभिमानके साथ उपकार या अपकार करनेकी प्रतिज्ञा कर मरते हैं, वे भूतकालमें लीन हो जाते हैं। पद्मपुराणमें लिखा है कि एक भैंसाने मरकर व्यंतर होकर अयोध्यावासियोंको अनेक त्रास दिये थे। । किन्तु आजकल हजारों, लाखों, गायें बकरियें कत्ल कर दी जाती हैं। युद्धोंमें अनेक मनुष्य मार दिये जाते हैं, लेकिन कोई भी जीव पुनः अपने घातकोंको दुःख

देता हुआ नहीं सुना गया है यों अनेक जीव परलोकके विषयमें या सर्वज्ञ, ज्योतिषचक्र, सूक्ष्मगणमें शंकित हो रहे हैं।

चींटी, मक्खी, भोंरी, मकडी आदिके मानसिक विचारपूर्वक किये गये चमत्कारक कार्योंकी आलोचना कर नैयायिकोंके अभिमत समान चींटी आदिमें भी मनइन्द्रियके होनेकी शंकायें बनाये रखते हैं। इसी प्रकार जैन धर्मात्माओं, या तीर्थस्थानों, अथवा जिनबिंब, जिनागम, आदिके ऊपर कई प्रकारकी विपत्तियां आ रहीं जानकर भी असंख्याते सम्यग्दृष्टि देव या जिनशासन रक्षक देवोंके होते हुये कोई एक भी देव यहां आर्यखण्डमें दिगंबर जैनधर्मका चमत्कार क्यों नहीं दिखाता है ? स्वर्ग, मोक्ष, असंख्यात द्वीप, समुद्र भला कहां हैं ? कुछ समझमें नहीं आता है ? आदि शंकायें बहुतोंके मनमें चुभरही हैं। जब पुण्य, पापकी व्यवस्था है, तो अनेक पापी जीव सुखपूर्वक जीवन बिताते हुए और अनेक धर्मात्मापुरुष क्लेशमय जीवनको पूराकर रहे क्यों देखे जाते हैं ? वेश्याओंकी अपेक्षा कुलीन विधवायें महान् दुःख भोग रही हैं ? शिकार खेलनेवाले, या धीवर, वधिक,बहेलिया, शाकुनिक, मांसभक्षी आदिको कोई भी जीव पुनः आकर नहीं सताता है। कतिपय बडे बडे धर्मात्मा मरते समय अनेक क्लेशोंको भुगतते हैं, जब कि अनेक पापी जीव सुखपूर्वक मर जाते हैं। धर्मका रहस्य अंधकारमें पडा हुआ है। यों अनेक संशय उपज बैठते हैं।

इसी प्रकार दूसरे अंगके प्रतिपक्ष दोषके अनुसार बडे बडे धर्मात्माओंको भी आकांक्षायें हो जाती हैं। नीरोगशरीर, दृढसुंदरशरीर, पुत्र, स्त्री, धनी, कुलप्राप्ति, प्रभुता, यशः, लोकमान्यताका मिलना; प्रकृष्टज्ञान, बल, राजप्रतिष्ठाकी पूर्णता आदिमेंसे जिस किसी भी महत्त्वाधायक पदार्थकी त्रुटि रहजाती है उसीकी आकांक्षा आजकलके जीवोंको क्वचित् कदाचित् हो ही जाती है। दिनरात कलह करनेवाली स्त्रीसे मनुष्यका जी ऊब जाता है, विचारा कहांतक संतोष करे। कुरूप, रोगी, क्रोधी, आजीविकाहीन, दरिद्र, मूर्खपतिमें सुन्दरी युवतीका चित्त कहांतक रमण कर सकता है ? इनको स्वानुकूल पत्नी या पतिकी आकांक्षा कदाचित् हो ही जाती है। चक्रवर्ती, विद्याधर, देव, इन्द्र, अहमिन्द्रोंके सुखोंको सुनकर अनेक भद्र पुरुषोंके मुखमें पानी आजाता है। आतुर विद्यार्थीका चित्त अच्छे व्याख्याताके व्याख्यानको सुनकर व्याख्याता बननेके लिये, एवं चित्रकार, अभिनेता, व्यापारी, शासक, आदि बननेके लिये जैसे लालायित हो जाता है, उसी प्रकार कतिपय दानी, पूजक, पुरुषोंका भी चित्त अन्य विभूतियोंको देखकर अधीनतासे बाहर हो जाता है।

तीसरे विचिकित्सा दोषपर भी यह कहना है कि कितने ही बहिरंग धर्मात्माओंमें घृणाके भाव पाये जाते हैं। कितने पुरुष दुःखी जीवोंपर करुणा करते हैं ? या बीमार धार्मिक पुरुषोंके मल, मूत्र धोकर उनकी परिचर्यामें जा लगते हैं ? बताओ ? घृणा और भयके मारे कितने जीव अन्य पुरुषोंकी निःस्वार्थचिकित्सा या समाधिमरण करानेके लिये उद्युक्त रहते हैं ? स्यात् हजारों, लाखोंमेंसे कोई एक आध ही होगा।

सम्यग्दर्शनके चौथे, पांचवे अतीचार अनुसार जैनेतर पुरुषोंकी प्रशंसा और स्तुति करना अनेक भद्रपुरुषोंमें भी पाया जाता है। हां, कोई उदासीन श्रावक, या मुनि इस अतिचारसे बच गया होय, किन्तु बहुतसे जीवोंमें यह दोष अधिकतया पाया जाता है। जैनपण्डितों, ब्रह्मचारी, मुनियोंकी सन्मुख प्रशंसाकरनेवाले जैन सदस्य ही पीछे उन्हींकी निन्दा करते हुये देखे जाते हैं। और वे ही मिथ्यादृष्टियोंकी उल्लासके लिये बिना प्रशंसाके गीत गाते रहते हैं। जैनोंद्वारा व्यवहारमें अनेक अजैन प्रतिष्ठा प्राप्त होरहे हैं। जैनोंको जैन अधिकारियोंके यहां ही उन अजैनोंकी टहल या खुशामद करनी पडती है, तब कहीं जीविकाका निर्वाह हो पाता है।

भले सम्यग्दृष्टि कहे जानेवालोंके घरमें भी एक न एक मिथ्यादृष्टि पुरुष उच्चकोटिकी प्रशंसा स्तुतियोंको पारहा है। अजैन राजवर्ग, या प्रभुओंकी अथवा देशनेताओंकी प्रशंसा करते हुये लोग अघाते नहीं हैं। जब कि साधर्मी भाईसे " जयजिनेन्द्र " या सहानुभूतिसूचक दो एक शब्द कहनेमें ही उनके ऊपर डलियाओंभर आलस्य चढ बैठता है।

यही दुर्दशा अमूढदृष्टि गुणकी है। लोकमूढता, देवमूढता, गुरुमूढताओंके फन्देमें अनेक जैन, स्त्री, पुरुष फंस जाते हैं। प्रकट, अप्रगट रूपसे वे उन कार्योंमें आसक्ति कर बैठते हैं। रामलीला, नाटक, सिनेमा, कहानियां, गंगास्नान, कुतपस्विदर्शन, देवताराधन, यंत्र, तंत्र, मंत्र, क्रियायें आदि उपायों द्वारा कितने ही श्रोता मूढदृष्टि प्रकरणोंमें सम्मति दे बैठते हैं।

पांचवे उपगूहन अंगकी भी यही विकटस्थिति है। साम्यवादके युगमें दोषोंका छिपाना दोष समझा जाता है। खोटी टेवोंको धार रहे अनेक ठलुआ पुरुष जब दूसरोंके असद्भूत दोषोंको प्रसिद्धिमें ला रहे हैं, तो सद्भूत दोषोंको प्रगट करनेमें उनको लज्जा क्यों आने लगी ?। साधर्मियोंके अल्पीयान् दोषोंका परोक्षमें या एकान्तमें त्रियोगसे छिपा लेना बडा भारी पुरुषार्थ पूर्वक किया गया गुरुतर कार्य हो गया है। निंदा किए बिना चुपका बैठा नहीं जाता है। परितोष देनेपर भी जनता बुराई करनेसे नहीं चूकती है। भले ही उल्टा हमसे कुछ ले लो। किन्तु दूसरोंके सद्भूत, असद्भूत दोषोंकी निन्दा करनेकी हमारी कण्डूया (खाज) को बुराई कर लेने द्वारा मिट जाने दो, ऐसी उनकी अभ्यर्थना रहती है।

छठा अंग स्थितीकरण करना भी बडा कठिन होरहा है। अजैनोंके लिये, राजवर्गके लिये अथवा यशःसम्बन्धी कार्योंमें धन लुटानेको अनेक धनिक भाई थैलियोंके मुंह खोले हुये हैं। किन्तु निर्धन, धार्मिकोंको या दरिद्रविधवाओं अथवा दीन छात्रोंके उदरपोषणार्थ स्वल्प व्यय करदेनेका उनके आयव्ययके चिट्ठे (बजट) में सौकर्य (गुंजाइश) नहीं है। तथा व्रती पुरुष भी जैनत्वके बढाने और स्थितीकरण करनेमें उतने उद्योगी नहीं है जितने कि होने चाहिये।

सातवां अंग वात्सल्य परिणाम भी हीयमान होरहा है। अपने साधर्मियोंके साथ निष्कपटप्रतिपत्ति करनेका व्यवहार क्वचित् ही पाया जाता है। भलेसे भला मनुष्य भी यदि किसी व्यक्तिसे

बातचीत करता है, तो उस व्यक्तिको प्रथम ही भान होता है कि यह कोई स्वार्थसिद्धिके लिये कपट व्यवहार कर मुझको आर्थिक, मानसिक, क्षति पहुंचानेका प्रयत्न कररहा है। यों विश्वासपात्रता और वात्सल्यदृष्टियां न्यून होती जारही हैं। जैनधर्मानुयायियोंमें परस्पर गाय और बछडेके समान अनुराग होना चाहिये था।

नामतः स्थापनातो वा जैनः पात्रायतेतराम्। स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभिः ॥

श्रावकाचारोंमें नाम जैन, स्थापना जैन को ही बहुत बडा पात्र कहा है। द्रव्यजैन और भावजैनका समागमतो अतीव पुण्योदयका फल बतलाया है। जैन भाइयोंके साथ स्नेह करनेका, स्वर्गप्राप्तिपूर्वक मोक्षलाभ होजाना फल कहा है। मोक्षमार्गमें प्रवर्तनेवाले मुनियों, व्रतियों और, आर्यिकाओंकी श्रेष्ठ भक्ति जैनोंमें परिपूर्ण नहीं पाई जाती है। अतः हमारे जैनबंधुओंको उचित है कि " गुणिषु प्रमोदं " के अनुसार त्यागी, ब्रह्मचारी विद्वानों और विद्यार्थियोंका आदर करें। जहांतक जैनोंको आश्रय देने दिलानेका सौभाग्य प्राप्त होय, उस विषयमें अभिमान रक्खें। जैन स्कूलोंमें प्रधानाध्यापक जैन ही होना चाहिये। विद्यालयों, पाठशालाओं, दूकानों, में भी साधर्मियोंकी प्रतिष्ठा बढी रहनी चाहिये। कोई २ भोले भाई कहदेते हैं कि जैन लोग काम करना नहीं जानते हैं। किन्तु यह उनका कथन अलीक है। प्रथम तो यह बात है कि जैनोंमें अब सभी विषयोंके ज्ञाता उपलब्ध होरहे हैं। दूसरे अपने लडका, लडकियोंको काम करना सिखाया जाता है, तब वे योग्य बनजाते हैं। मात्र स्वकी निंदा और परकी प्रशंसा करदेनेसे काम नहीं चल सकता है।

श्रावकाचारोंमें कहा गया है कि—**समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान् धिनुयात्। दानादिना यथोत्तरगुणरागात्सद्गृही नित्यम्** ॥ प्रत्येक जैन पुरुषका कर्तव्य होना चाहिये था कि जैन विद्वान्, लोकोपकारक, शास्त्रज्ञ, शास्त्रार्थ करनेवाले पण्डित, व्रतधारी, गृहस्थाचार्य, इनको उत्तरोत्तर अधिक भक्ति, गुणानुराग करते हुये दान, मान, सन्मान, निष्कपट भाषण, आदि व्यवहारोंसे परितृप्त करें। जैनको देखकर हृदय कमल खिल जाय। वात्सल्य या अवात्सल्यके ऊपर अन्वय, व्यतिरेक रूपसे पर्याप्त विवेचन हो चुका है। अलम्।

आठवें ठोस प्रभावना अंगका पालना तो विरले पुरुषोंमें ही पाया जाता है। यशःकी प्राप्ति और कुछ धर्मलाभका लक्ष्य रखकर यद्यपि कतिपय सभायें, प्रतिष्ठायें, तीर्थयात्रायें, जिनपूजा, तपश्चरण आदि कार्य होते देखे जाते हैं। फिर भी निर्दोष, परमपवित्र जिनशासनके माहात्म्यका प्रकाश करना अभी बहुत दूर है। यदि दश वर्षतक भी ठोस प्रभावनाएं होती रहें तो साढेबारह लाख जैनोंकी संख्या बढकर कई गुनी अधिक हो सकती है, और ये साढेबारह लाख भी पक्के जैन बन जावें।

जैनोंके अनेक पुत्री, पुत्र अपनी जिनागम शिक्षासे अरुचिकर धर्महीन पुस्तकोंको बडे चावसे पढते हैं। उनमें परीक्षोत्तीर्ण होकर अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। तथा श्रोताओंके कलुषित आशय और वक्ताओंकी वचन अकुशलतासे भी जिनशासनकी यथेच्छ प्रभावना नहीं होने पाती है।

तात्पर्य यह है कि अष्टांगसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अतीव दुर्लभ है। हां, असंभव नहीं है। क्षयोपशमसम्यक्त्व और उपशमसम्यक्त्व कभी कभी आधुनिक धर्मात्मा जैनोंको हो जाते हैं। उस समय थोडी देरके लिये निःशंकित आदि गुण भी चमक जाते हैं। हां, पुनः मिथ्यात्वका उदय आजानेपर शंका आदि दोष उपज जाते हैं। हमने उक्त विवेचन किसी व्यक्ति या समाजका हृदय दुखानेके लिये द्वेषवश नहीं लिखा है। अनेक जीव इन दोषोंसे रहित भी हैं। किंतु हमें विवश होकर श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके सर्वज्ञ आम्नाय प्राप्त गाथानुसार संख मनुष्योंमें एक ही सम्यग्दृष्टि जीव होनेके अखण्ड सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिये अप्रिय सत्य समालोचना करनी पडी है। हमारे उक्त प्ररूपणसे कोई भाई कुपित नहीं होवें। क्योंकि मैं भी आप लोगोंमेंसे एक व्यक्ति हूं। और उक्त दोषोंसे घिरा हुआ हूं।

धर्मप्राण भाइयो ! आठ काठके विना खाट जैसे तैयार नहीं हो पाती है उसी प्रकार व्यस्त या समस्त रूपसे आठ अंगोंके विना सम्यग्दर्शन आत्मलाभ नहीं कर सकता है।

आजकल हम आदि कितने ही जैनोंमें ज्ञान, कुल, जाति, पूजा, बल, ऋद्धि, तपस्या और शरीरका कितना गर्व है यह किसीसे छिपा हुआ नहीं है। लेख बढ गया है। अतः इन आठ अभिमानोंको प्रसिद्ध चर्चाको बढाना आवश्यक नहीं दीखता है। तीन मूढता और छः अनायतन ये दोष भी गुप्त और प्रसिद्ध रूपसे स्त्रियों, पुरुषों, बालक, बालिकाओंमें बहुभाग अनुप्रविष्ट होरहे हैं।

सम्यग्दृष्टिका भयसे रहित होना शास्त्रोंमें वर्णित है। आजकलके मनुष्योंको आत्मा, धन, प्रतिष्ठा, कुटुंब आदिकी रक्षाके लिए सतत भयग्रस्त रहना पडता है। विशेषतया युद्धके युगमें तो अनेक भयोंके मारे चैन ही नहीं पडता है। अतः सात भयोंसे रहित और सहितपनेकी पाठक आप अपने हृदयमें विवेचना कर लेवें। कहना यह है कि अंतरंग सम्यग्दर्शन या असली जैनधर्मका सर्वस्व इन बहिरंग आडम्बरोंमें निहित नहीं है। कठिन अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण होकर शुद्ध स्वर्ण प्रकट होता है। शास्त्रोंमें लिखा भी है कि बहिरंगमें जिनलिंगके धारी और उनके उपासक ऐसे भेद विज्ञानहीन अनेक जीव नरक गये और जायेंगे भी।

हम और आप लोगोंने संभव है कि अनंत बार मुनिव्रत धारणकर अनंती पोतें अहमिंद्रपद प्राप्त किया होय। यथार्थमुनिपना तो बत्तीसवें बारमें मोक्षकी प्राप्ति करा ही देता है। अतः कोरे बाहरके रूपकपर लट्टू नहीं हो जाना चाहिये। अंतरंगमोहनीयकर्मके मंदोदयपर लक्ष्य रखिये। पंचाध्यायीमें सम्यग्दर्शनको आत्माका नितान्त सूक्ष्म, अप्रतिपाद्य अनुजीवी गुण कहा है। मति, श्रुत और देशावधिज्ञान द्वारा सम्यक्त्व नहीं जाना जा सकता है। अन्य सिद्धान्त अथवा न्यायग्रंथोंमें संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य गुणोंसे सम्यग्दर्शनका प्रकट होना कहा गया है। " तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं " सूत्रका भाष्य करते समय श्लोकवार्तिक ग्रंथमें शंका उठाई गई है कि मिथ्यादृष्टियोंके भी क्रोध आदिकी न्यूनता देखी जाती है। वैराग्यके परिणाम भी हो रहे हैं। दयाभाव भी पाये

जाते हैं। ऐसी दशामें प्रशम, आदिको सम्यग्दर्शनका अभिव्यंजक हेतु मानने पर व्यभिचार दोष
आता है। श्रीविद्यानंदि स्वामीने इस शंकाका बढिया उत्कट उत्तर यों दिया है कि उन मिथ्या-
दृष्टियोंके अनंतानुबंधी मान, या माया, लोभ अवश्य हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, आदि प्राणि-
योंकी हिंसा उनमें पायी जाती है। अन्य भी कतिपय दोष हैं। सूक्ष्म गवेषणा करो।

उपर्युक्त निरूपणसे यही श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीका सिद्धान्त पुष्ट होता है कि जब
संख मनुष्योंमें एक सम्यग्दृष्टि गणनामें आता है, तब आजकलके तेरह लाख जैनोंमें तो स्यात्
कोई ही सम्यग्दृष्टि होय? अथवा जिनपूजन, आत्मध्यान, स्वाध्याय, आदि करनेवालोंके पूरे जन्ममें
दो, चार बार कुछ मिनिटोंके लिए होगये उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्वका हिसाब लगा लिया जाय
तो अतिशयोक्ति अनुसार दश बीस या कुछ अधिक व्यक्ति सम्यग्दृष्टि कह दिये जांय। गणितज्ञ
पाठकोंको सौ संख या १० नील मामकी संख्या और तेरह लाख जैन तथा उनकी सत्तर, अस्सी
वर्षकी अवस्थाका लक्ष्य रख त्रैराशिक बनानी चाहिये।

वियोगान्त नाटकके सदृश इस वक्तव्यको हम दुःखान्त समाप्त नहीं करना चाहते हैं। अतः
पाठकजन भविष्य विवेचनपर भी गंभीरदृष्टि डालें।

जैन बंधुओंको धार्मिक क्रियाओंमें और शांति, वैराग्य, आदि शुभ परिणामोंमें, निःशंकित
आदि गुणोंमें अपनी प्रवृत्ति शिथिल नहीं कर देनी चाहिये। प्रत्युत धार्मिक प्रवृत्तियोंको बढाते
रहना चाहिये। हमें अपने धार्मिक संस्कारोंको दृढ करना है। अपनेको व्यवहार सम्यग्दृष्टि
माने रहनेका विश्वास और तदनुसार धार्मिक वृत्तिको बताते रहना चाहिये।

बात यह है कि सिद्धपरमात्माओंमें जो अनन्तगुण प्रकट हो गये हैं, वे शक्तिरूपसे प्रत्येक
संसारी आत्मामें भी छिपे हुये हैं। निमित्तोंके मिलानेपर वे गुण व्यक्त हो सकते हैं। एक दो बारमें
ही छोटासा साधन मिला देनेपर कोई गुण झट प्रकट नहीं हो जाता है किन्तु विद्यार्थीके समान
हजारोंबार अभ्यास करते करते संभवतः कोई गुण प्रकट होसकता है। छोटेसे वाणिज्य कर्म, टैनिस,
पोलो खेलना, व्याख्यान देना आदि लौकिक कलाओंकी प्राप्तिके लिये जब अत्यधिक परिश्रम, अभ्यास
आवश्यक है तो अलौकिक, सर्वोत्तम, मोक्षोपयोगी, सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी प्राप्ति तो हजारों,
लाखों बार किये गये पुरुषार्थोंका फल निःसंदेह होना ही चाहिये।

आप दृढ विश्वास रक्खें कि वर्तमान जैनोंके देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान या प्रशम आदि
कर्तव्य व्यर्थ नहीं जायेंगे। प्रत्युत ये भविष्यके अव्यभिचारी हेतु होरहे प्रशम आदिमें गहरे संस्कार
जमा देंगे, जिससे कि अग्रिम जन्मोंमें तो सम्यग्दर्शन हो सकेगा।

देवगतिमें तो असंख्याते सम्यग्दृष्टि हैं। तेरह लाख या तेरह सौ लाख भी भारतवर्षीय जैन
यदि सम्यग्दर्शनके कारणोंका अभ्यास करें तो परभवमें जन्म लेते हुये सम्यग्दृष्टि देवोंकी संख्यामें
केवल असंख्यातवां भाग बढ जायगा। अतः मैं प्रत्येक साधर्मीजनसे प्रेरणा करूंगा कि वे जैसे

भविष्य जन्ममें तीर्थंकर पदकी प्राप्तिके लिये अब षोडशकारण—भावनाओंको प्रतिदिन या विशेष रूपसे भाद्रपदमासमें पूजन कर भावते रहते हैं, उसी प्रकार वीतरागसम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये पच्चीस दोषोंको टालकर अष्टांग सम्यग्दर्शनके कारणोंका अभ्यास निरालस होकर तत्परतासे करें ।

षोडशकारण भावनायें भी हमें आज ही यहां तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव नहीं करा देती हैं । न जाने कितने जन्मोंसे हम षोडशकारण भावनाओंकी पूजन करते चले आ रहे हैं । और आगे भी न जाने केवलिद्वय अनेक जन्मोंतक भावना भावनी पडें, तब कहीं कर्मभूमिके सम्यग्दृष्टि मनुष्यको केवलिद्वयके निकट तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो सकेगा । यदि कारणोंमें कमी रह गई तो यह सब विडम्बना व्यर्थ जायगी । मात्र थोडासा पुण्यबंध करा देगी । हां, समर्थकारण आपके अभीष्ट कार्यको निःसंशय सिद्धि कर देगा । जिस प्रकार नरक, तिर्यञ्च, देव इन गतियोंमें असंख्याते सम्यग्दृष्टि जीव वर्तमानमें उपस्थित हैं, उसी प्रकार आजकल तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर चुके भी असंख्याते जीव नरकगति, और देवगतिमें विद्यमान हैं । " तिरिये ण तित्थसत्तं " तिर्यग्गतिमें तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सत्ता नहीं पायी जाती है । आप बीसकोटाकोटिसागरके एक कल्पकालको ही लेलीजियेगा । पूरे कल्पकालमें पांच मेरु संबंधी पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्रोंमें मात्र चार सौ अस्सी तीर्थंकर जन्म लेते हैं । किन्तु एक सौ साठ विदेह क्षेत्रोंमें निकटकोटि पूर्ववर्षकी स्थितिवाले नाना असंख्यात तीर्थंकर एक कल्पकालमें हो जाने आवश्यक हैं । भावार्थ—दशकोटाकोटिसागर प्रमाण अवसर्पिणीकालके एक कोटाकोटिसागर स्थितिवाले चतुर्थ दुःषम सुषम कालमें अथवा उत्सर्पिणीके इतने ही परिमाणवाले तीसरे दुःषम कालमें विदेह क्षेत्रमें असंख्यात तीर्थंकर वर्त जाते हैं ।

यदि हम अवसर्पिणी कालके दशवें भागरूप चौथे कालके समयवर्ती विदेहक्षेत्रोंके लिये आवश्यक होरहे तीर्थंकरोंका ही ख्याल करें तो वर्तमानमें तीर्थंकर प्रकृतिबंधका टिकट ले चुके विद्यमान महाशयोंसे पूरा नहीं पडसकता है । अधिकसे अधिक इनसे तेतीस सागरतकका काम चलालो । यद्यपि इतने कालके लिये भी मध्यमें बहुतसे तीर्थंकर प्रकृतिका टिकट लेनेवालोंकी जरूरत पडेगी । फिर भी भविष्यमें खरबों, नीलों गुणे जीव तीर्थंकर प्रकृतिको बांधेंगे । तब कहीं एक कोटाकोटिसागरकेलिये नियत तीर्थंकर भरपूर होसकेंगे ।

उक्त विदेह क्षेत्रोंमें बीससे लेकर एक सौ साठतक तीर्थंकरोंका शाश्वत बना रहना जरूरी है । विदेह क्षेत्रकी उत्कृष्ट आयुः कोटिपूर्ववर्ष यानी सात हजार छप्पनसंख ७०५६०००००००००००००००० वर्षोंसे दो कोटाकोटिसागरकाल असंख्यातगुणा है ।

छः महिने आठ समयमें छः सौ आठ जीव मोक्षको आवश्य जाते ही हैं ।

यो असंख्यातों वर्षवाले एक कल्पकाल या एक अवसर्पिणी कालमें असंख्याते जीवोंका ढाई

द्वीपसे मोक्ष जाना अनिवार्य है। इस हमारे भरतक्षेत्रसे इस अवसर्पिणीकालमें तीर्थंकर तो चौबीस ही मोक्ष गये हैं। किन्तु सामान्य केवलीगत चौथे कालमें इस भरतक्षेत्रसे असंख्याते मोक्ष जा चुके हैं।

निर्वाण काण्डमें गिनाई गई सिद्धक्षेत्रों और मुक्तजीवोंकी नियत संख्या तो मात्र आरातीय थोडेसे चौथे कालकी है। पूरे दुःषमसुषम कालके सिद्धक्षेत्रों और केवलज्ञानियोंको यदि गिना जाय तो उससे कहीं संख्यातगुणे, और असंख्यातगुणे गणना प्राप्त होंगे। इसी प्रकार जम्बूद्वीपके बत्तीस विदेहक्षेत्रोंसे गत चौथे कालमें असंख्याते सामान्य केवली और उनसे कम असंख्यात तीर्थंकर महाराज मुक्तिलाभ कर चुके हैं। तब तो एक कल्पकाल या उत्सर्पिणी कालकेलिये असंख्याते तीर्थंकरोंके होजानेकी आवश्यकता है, जो कि तेरहवें गुणस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिका उदय होजानेपर समवसरणमें उपदेश देते रहें।

पहिले, दूसरे, तीसरे, नरक, या वैमानिक देवोंसे आकर पन्द्रह कर्मभूमियोंमें तीर्थंकर महाराज जन्म लेते हैं। नरकोंके एक, तीन, सात, सागर या वैमानिक देवोंके दो आदि तेतीस सागर ये सब कोटिपूर्व वर्षसे असंख्यातगुणे अधिक हैं और कल्पकाल इन सागरोंसे मात्र संख्यातगुणा बढा हुआ है, अर्थात् पांच, छह नील या लगभग पचास साठ, नीलगुणा अधिक है।

यों मानना पडता है कि इस समय भी असंख्याते जीव तीर्थंकर नामकर्म बंधकी टिकट लेकर तीन नरकों या मनुष्य भोगभूमियों और वैमानिक देवोंमें प्लेटफार्मपर विराज रहे हैं। यह टिकट विदेहक्षेत्रसे आजकल भी बट रहा है, और भविष्यमें भी अनवरत बटेगा। कल्पकालके लिये भविष्यमें भी जीव तीर्थंकर प्रकृतिको बांधेंगे। किन्तु इस समय भी जीव भंडारमें तीर्थंकर प्रकृतिको बांधे हुये अनेक आत्मायें विद्यमान हैं। जो कि वहांसे चयकर कर्मभूमिमें मनुष्यजन्मरूपी रेलगाडीमें बैठकर तपस्याद्वारा घातिकर्मोंका नाशकर असंख्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हुये परमेष्ठ स्थानलाभ करेंगी। भोगभूमिवालोंको देव होनेके पश्चात् उक्त अवस्था प्राप्त होगी। यहां हमें कहना यह है कि हमारे आपके परलोकगत पिताजी, बाबाजी, पडबाबा, बुआ, माता, दादी, पडदादी आदि पूर्वज [पुरिखा] जनोंने अनेक बार षोडशकारण भावनाओंकी पूजाकर यदि सम्यग्दर्शन सहित होकर यहांसे मृत्यु प्राप्त की थी होय, तब तो वे वैमानिकदेव होकर पुनः तीसरे जन्ममें विदेहक्षेत्रोंमें या यहां ही केवलिद्वयके निकट तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवकी योग्यता प्राप्त कर लेंगे। और यदि षोडशकारण भावनाओंका अभ्यासकर उन्होंने पुनः मिथ्यात्व अवस्थामें प्राणत्याग किया होय तब तो संभवतः न्यूनतम अगले जन्ममें ही विदेह क्षेत्रमें जन्म लेकर केवली श्रुतकेवलीके निकट वे तीर्थंकरप्रकृति बंधकी योग्यता प्राप्त कर चुके होंगे।

जो शुभकार्य पुरिखाओंने किये हैं, आप भी उनके पदोंपर चले चलिये। आज्ञाप्रधानी और परीक्षाप्रधानी जिनभक्तोंको यह व्यवस्था दृढतया गांठ बांध लेनी चाहिये कि जिस प्रकार " सोलह कारण भाय तीर्थंकर जे भये " " कंचनझारी निर्मलनीर " दरशविशुद्धि धरै जो कोई " यजाम्यहं

षोडशकारणानि " इत्यादि रूपसे पूजन करनेवालोंके संस्कार उस नितान्त दुर्लभ तीर्थंकर प्रकृतिका आस्रव करानेके लिये प्रतिदिन बढते जाते हैं, कुछ काल पीछे भवान्तरोंमें वे अपने मनोरथ सिद्धिकी शिखरपर पहुंच जावेंगे । उसी प्रकार ततोप्यधिक प्रकाण्ड दुर्लभ हो रहे सम्यग्दर्शनके परंपराकारणोंका अभ्यास करते करते हम और आप अपने मनोवांछित सम्यग्दर्शन गुणको प्राप्त कर लेवेंगे । किसी भी कार्यके लिये जल्दी मचाना अच्छा नहीं है ।

अनादि कालकी अविद्यापूर्ण अक्षय अनंतताको विचारिये ? और इस समय पूर्व जन्मके पुण्यवश प्राप्त होगये श्रेष्ठकुल, पंचेंद्रिय, जिनालय, जिनागम, सत्संग, प्रवचन, श्रद्धान आदि सहकारी सामग्रीपर लक्ष्य दो । यह संस्कारवर्धक लाभ भी क्या थोडा है ? शनैः शनैः दुर्लभ सम्यग्दर्शन भी प्राप्त हो ही जायगा । विचारशीलोंको इतनेसे ही संतोष कर लेना चाहिये । भद्रमस्तु ।

नैसर्गिकीं श्रुतिमधिष्ठितोखिल– (जनौ । चा–) श्राम्योपदेशात्तवपुर्गुणेश्वरः ।।
सम्यक्त्वमापूर्य गुणाब्जसंहतौ । सवृद्दष्टिभानुर्जगति प्रवर्धताम् (प्रकाशताम्) ।।१।।

अब अग्रिम सूत्रके लिये अवतरण उठाते हैं—

किं तत्त्वं नाम येनार्यमाणस्तत्त्वार्थ इष्यते ।
इत्यशेषविवादानां निरासायाह सूत्रकृत् ॥—

तत्त्वार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । यहां प्रश्न है कि वह तत्त्व भला कौनसा पदार्थ है ? जिस करके कि निर्णीत किया गया अर्थ तत्त्वार्थ माना जाता है । इस प्रकार सम्पूर्ण विवादोंका निराकरण करनेके लिये सूत्रकार उमास्वामी महाराज तत्त्वोंके प्रतिपादक सूत्रको कहते हैं—

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं । तत्त्व शब्द भाववाची है, फिर भी पर्याय और पर्यायीका अभेद होनेके कारण भाववान्के साथ उसका समानाधिकरण हो जाता है । स्याद्वाद सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं आता है ।

तत्त्वस्य हि संख्यायां स्वरूपे च प्रवादिनो विप्रवदन्ते, तद्विप्रतिपत्तिप्रतिषेधाय सूत्रमिदमुच्यते । तत्र जीवादिवचनात्:—

जिस कारणसे कि तत्त्वोंकी संख्यामें और तत्त्वके स्वरूपमें अनेक प्रवादी लोग अपनी अपनी प्रकर्षताको बखानते हुए विवाद कर रहे हैं, तिस कारण उन विवादोंका निषेध करनेके लिये यह सूत्र कहा जाता है । तहां सूत्रमें जीव आदिकोंको ही तत्त्व कहनेसे:— (इसका अन्वय अग्रिम वार्तिकसे जोड लेना)

सप्त जीवादयस्तत्त्वं न प्रकृत्यादयोऽपरे ।
श्रद्धानविषया ज्ञेया मुमुक्षोर्नियमादिह ॥ १ ॥

यहां मोक्षमार्गके प्रकरणमें जीव आदिक ही सात तत्त्व समझने चाहिये । प्रकृति, महान्, अहङ्कार, आदि सांख्योंके माने हुए पच्चीस तत्त्व नहीं है और नैयायिकोंसे माने गये प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह तत्त्व भी नहीं हैं तथा वैशेषिकोंसे माने गये द्रव्य, गुण, कर्म, आदिक भी सात तत्त्व नहीं है । इस प्रकार बौद्ध, मीमांसक, आदिके माने हुए इनसे भिन्न विज्ञान आदि तत्त्व भी मोक्षाभिलाषी जीवको नियमसे श्रद्धानके विषय नहीं समझना चाहिये ।

तथा चानन्तपर्यायं द्रव्यमेकं न सूचितम् ।
तत्त्वं समासतो नापि तदनन्तं प्रपञ्चतः ॥ २ ॥
मध्यमोक्त्यापि तद्व्यादिभेदेन बहुधा स्थितम् ।
नातः सप्तविधात्तत्त्वाद्विनेयापेक्षितात्परम् ॥ ३ ॥

और इस ही कारणसे यानी मोक्षमार्गके प्रकरणमें मोक्षके उपयोगी होरहे पदार्थोंके निरूपणकी आवश्यकता होनेसे ही सूत्रकारने अनन्त पर्यायवाला द्रव्य ही एक तत्त्व है ऐसा सूत्र द्वारा अत्यन्त संक्षेपसे सूचन नहीं किया है । अर्थात् अनन्त पर्यायवाला द्रव्य ही एक तत्त्व नहीं माना है । विचारा जावे तो ऐसा माननेमें बहुत लाघव था, किन्तु मोक्षमें उपयोगी नहीं पडता । और वे द्रव्य अनन्त हैं, ऐसा भी अत्यन्त विस्तारसे सैकडों द्रव्योंका नाम लेकर सूत्र नहीं रचा है । तथा अतिसंक्षेप नहीं, अतिविस्तारसे भी नहीं, ऐसे मध्यम रुचिवाले शिष्योंकी अपेक्षासे कथन करके भी यह सात प्रकारके तत्त्वोंका निरूपण नहीं है, क्योंकि मध्यम कथन करनेसे तो दो, तीन, चार, पांच या आठ, नौ, दस आदि भी वे बहुत प्रकारसे तत्त्वभेद व्यवस्थित किये जासकते हैं । ज्ञान और ज्ञेय या जीव और अजीव अथवा मूर्त अमूर्त इन दो भेदोंमें ही सर्व तत्त्व गर्भित होजाते हैं । अथवा बुद्धि, शब्द और अर्थ या द्रव्य, गुण और पर्याय इन तीन भेदोंमें ही सब तत्त्व गर्भित होसकते हैं । एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव या नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इन चारोंमें ही सम्पूर्ण तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हैं । सातसे अधिक तत्त्व भी मध्यम रुचिसे माने जा सकते हैं । जैसे कि जीवसमासोंके एक, दो, तीन, आदि भेदसे अट्ठानवें (९८) भेद तक हो जाते हैं । इससे भी अधिक भेद हो सकते हैं । इनमें पुद्गल, धर्म आदिकोंके संग्रहके लिये एक भेद जड और मिला दिया जावेगा । जडके भी मूर्त, अमूर्त आदि अनेक भेद हो सकते है । चौदह मार्गणा, चौदह गुणस्थान, सिद्धपरमेष्ठी, और अचेतन इस प्रकार तत्त्वोंके तीस भेद भी हो सकते हैं । पांच महाव्रत, उत्तमक्षमा आदिक दस

धर्म, तीन गुप्ति आदि जीवके भेदोंसे तथा अणु, संख्यातवर्गणा, असंख्यातवर्गणा आदि पुद्गलके भेदोंके साथ चार धर्म आदिकोंको मिलादेनेपर सौ, दो सौ भी भेद हो सकते हैं। अतः दो, तीन, चार तथा आठ, तीस, सौ आदि मध्यम भेदोंको टालकर सात ही प्रकारके तत्त्व बतलाना कुछ रहस्य रखता है। वास्तवमें मोक्षके अभिलाषुक शिष्यको मोक्षके उपयोगी इन सात तत्त्वोंका ही श्रद्धान करना चाहिए। विनीत शिष्यको मोक्षके लिए ये सात तत्त्व ही अपेक्षित हैं। इन सात प्रकारके तत्त्वोंसे भिन्न निरर्थक तत्त्वोंका श्रद्धान करना उपयोगी नहीं है। यही सूत्रकारका हार्दिक अभिप्राय है।

प्रकृत्यादयः पञ्चविंशतिस्तत्त्वमित्यादिसंख्यान्तरनिराचिकीर्षयापि संक्षेपतस्तावदेकं द्रव्यमनन्तपर्यायं तत्त्वमित्येकाद्यनन्तविकल्पोपायादौ तत्त्वस्य मध्यमस्थानाश्रयमपेक्ष्य विनेयस्य मध्यमाभिधानं सूरेः संक्षेपाभिधाने सुमेधसामेवानुग्रहाद्विस्तराभिधाने चिरेणापि प्रतिपत्तेरयोगात्। सर्वानुग्रहानुपपत्तिरित्येके।

१ प्रकृति, २ महान्, ३ अहंकार, ४ स्पर्शन इन्द्रिय, ५ रसना, ६ घ्राण, ७ चक्षुः, ८ श्रोत्र, ९ मन, १० वचनशक्ति [जवान], ११ हाथ, १२ पांव, १३ गुदास्थान, १४ जननेन्द्रिय, १५ शब्दतन्मात्रा, १६ स्पर्शतन्मात्रा, १७ रूपतन्मात्रा, १८ रसतन्मात्रा, १९ गन्धतन्मात्रा, २० आकाश, २१ वायु, २२ तेज, २३ जल, २४ पृथिवी, और २५ पुरुष [आत्मा] ये पच्चीस तत्त्व कापिलोंकरके माने गये हैं। तथा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, परतन्त्रता, शक्ति और नियोग ये आठ तत्त्व प्रभाकर मीमांसकोंने इष्ट किये हैं। नवीन प्रभाकर तो परतन्त्रताके स्थानपर समवाय और नियोगके स्थानपर संख्याको तत्त्व मानते हैं। इत्यादि प्रकारसे अनेक प्रतिवादियोंकी दूसरी दूसरी तत्त्वसंख्याओंके निराकरण करनेकी अभिलाषासे भी आचार्य महाराजने सात तत्त्वोंकी इयत्ता करनेवाले सूत्र कहा है। सबसे प्रथम यद्यपि अन्य वादियोंकी संख्याका निराकरण अति संक्षेपसे अनन्तपर्यायरूप द्रव्य ही एक तत्त्व है, इससे भी हो सकता है। तथा अतिविस्तारसे अनन्त भेदोंका निरूपण करना अतीव दुस्साध्य कार्य है, किन्तु उपायसे होसकता है। और मध्यके दो, तीन, आठ, नौ, सौ, पांचसौ, आदि तत्त्वोंके विकल्प करनेके उपाय हैं। इनसे भी अन्य मतोंकी तत्त्वसंख्याका खण्डन होसकता था, ऐसा होते हुए भी तत्त्वके मध्यमस्थानके आश्रयकी अपेक्षासे शिष्यके प्रति आचार्यका मध्यमरूप सात ही प्रकारसे कथन करना समुचित है। दो, छह, आठ, सौ भी कह देते तो भी पुनः कटाक्ष होते रहते। अतः झगडेका अन्त करनेके लिये सात तत्त्वोंका निरूपण किया है। अत्यन्त संक्षेपसे कहनेपर तो अधिक प्रतिभाशाली थोडेसे विद्वानोंका ही उपकार होता। और अधिक विस्तारसे कथन करनेपर लाखों, करोडों, असंख्य तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति चिरकालसे भी नहीं होसकती थी, और होती भी तो कतिपय जीवोंको ही तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति होती, सम्पूर्ण मुमुक्षु जीवोंका उपकार होना नहीं बन सकता था, और सात प्रकारके तत्त्वोंका निरूपण करनेसे तो सभी

मन्दबुद्धि, सूक्ष्मबुद्धि, वाले श्रोता भव्यजीवोंका उपकार होजाता है। इस प्रकार कोई एक विद्वान् कहरहे हैं। कोई कोई श्रीअकलङ्क देवका अभिप्राय भी श्रीराजवार्तिक ग्रन्थ द्वारा ऐसा ही निकालते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है।

ते न सूत्रकाराभिप्रायविदः। सप्तानामेव जीवादीनां पदार्थानां नियमेन मुमुक्षोः श्रद्धेयत्वज्ञापनार्थत्वादुपदेशस्य मध्यमरुचिविनेयानुरोधेन तु संक्षेपेणैकं तत्त्वं प्रपञ्चतश्चानन्तं मा भूत् सूत्रयितव्यम्। मध्यमोक्त्या तु द्रव्यादिभेदेन बहुप्रकारं कथनं सूत्रयितव्यं विशेषहेत्वभावात्। सप्तविधतत्त्वोपदेशे तु विशेषहेतुरवश्यं मुमुक्षोः श्रद्धातव्यत्वमभ्युपाप्येत परैः। कथम्?।

अब श्री विद्यानंद आचार्य कहते हैं कि वे व्याख्याता जन तो सूत्रकार श्री उमास्वामीके अभिप्रायको जाननेवाले नहीं हैं। भगवान् श्रीउमास्वामी महाराजने सात ही तत्त्वोंका उपदेश दिया है। इससे सिद्ध है कि मोक्षाभिलाषी सम्यग्दृष्टीको जीव आदिक सात पदार्थोंका ही नियमसे श्रद्धान करना उचित है। मोक्षके अनुपयोगी हो रहे ग्राम, नगर, खाद्य पेय, खेलना, आर्त्तध्यान, सुमेरु, घर्मा, स्वयम्भूरमण, महास्कन्ध वर्गणा आदि वस्तुभूतपदोंके श्रद्धानकी आवश्यकता नहीं है। यदि किसी विशिष्ट ज्ञानीको उक्त ग्राम आदिका ज्ञान हो भी जावे तो वह मोक्षके मार्गमें विशिष्ट उपयोगी नहीं पडता है, किन्तु इन सात तत्त्वोंका ही श्रद्धान करना मोक्षोपयोगी है। इस बातको सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि तत्त्वोंकी देशनाका विकल्प मोक्षमार्गमें उपयोगी तत्त्वोंकी अपेक्षासे है। अतः जीव आदिक सात तत्त्वोंको ही आवश्यक रूपसे श्रद्धान करने योग्य समझानेके लिये सूत्रकारने उपदेश दिया है। मध्यम रुचिवाले शिष्योंके अनुरोधसे तो अत्यन्त संक्षेपसे एक ही तत्त्व है और अतीवविस्तारसे मनुष्य, तिर्यञ्च, सिद्ध, वैमानिक, आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, द्वीप, समुद्र प्रभृतिके भेद प्रभेद आदि अनन्त तत्त्व हैं। इस प्रकार तो भले ही सूत्र न किया जावे किन्तु मध्यम कथन करके दो, तीन, आठ, दस, बीस, तीस आदि भेद करके बहुत प्रकारके कथन सूत्र द्वारा किये जा सकते थे, तो फिर मध्यम रुचिवाले प्रतिपाद्यके लिये पूर्वोक्त एक महाशय विद्वानके अनुसार सात ही तत्त्वोंको निरूपण करनेमें कोई विशेष कारण दीखता नहीं है अर्थात् मध्यम रुचिवालोंके लिये छह द्रव्योंमें या दस, ग्यारह आदि भेदोंमें सब तत्त्वोंको गर्भित करनेवाला सूत्र भी बनाया जा सकता था। किन्तु सूत्रकारने सात ही प्रकारके तत्त्वोंका उपदेश दिया है, इसमें अवश्य कोई विशेष कारण है। और वह यही है कि मोक्षके चाहनेवाले जीवको इन ही सात प्रकारके तत्त्वोंका सब ओरसे श्रद्धान करना चाहिये। न्यून या अधिकका नहीं। अन्य प्रवादियों करके भी मोक्षके उपयोगी ही तत्त्वोंका श्रद्धान करना समझ लेना चाहिये। अधिकका हो भी नहीं सकता, और इनको छोडकर अन्य अनुपयोगी पदार्थोंका श्रद्धान हुआ भी तो बैलके ऊपर पाण्डित्यसम्पादनार्थ पुस्तकोंका बोझ लादनेके

समान व्यर्थ पडेगा। मोक्षके उपयोगी श्रद्धान करनेके विषयकी योग्यता जीव आदिक सात तत्त्वोंमें ही कैसे है ? सो सुनिये। अग्रिम वार्तिकोंमें इसीका समाधान है।

मोक्षस्तावद्विनेयेन श्रद्धातव्यस्तदर्थिना।
बन्धश्च नान्यथा तस्य तदर्थित्वं घटामटेत् ॥ ४ ॥

सबसे पहिले उस मोक्षके अभिलाषी विनीत शिष्य करके मोक्षतत्त्वका श्रद्धान करना तो आवश्यक है और बन्धतत्त्व भी श्रद्धान करने योग्य है। अन्यथा वर्तमानमें उन कर्मोंसे बन्धे हुए शिष्यकी उस मोक्षके लिए अभिलाषा करना घटित न हो सकेगा, अर्थात् जो जीव अपनेको बन्धे हुएका विश्वास नहीं करता है, वह अनंत सुखवाली मोक्षका इच्छुक नहीं हो सकता है, अतः मोक्ष और बन्धतत्त्व तो श्रद्धान करने योग्य सिद्ध हुए।

आस्रवोऽपि च बन्धस्य हेतुः श्रद्धीयते न चेत्।
काहेतुकस्य बन्धस्य क्षयो मोक्षः प्रसिध्यति ॥ ५ ॥

और यदि बन्धके कारण हो रहे आस्रवका भी श्रद्धान न किया जावेगा तब तो हेतुओंसे रहित माने गये बन्धका क्षय होना भला मोक्षपदार्थ कहां प्रसिद्ध हो सकेगा ?। अर्थात् बन्धतत्त्व पहिले ही श्रद्धान करने योग्य मान लिया है। यदि उसका कारण आस्रवतत्त्व न माना जावेगा तो बन्ध नित्य हो जावेगा। क्योंकि जो सत् पदार्थ अपने जनक कारणोंसे रहित हैं, वह द्रव्य दृष्टिसे नित्य है, तब तो जीव आकाश आदि द्रव्योंके समान बन्ध भी नित्य हो जावेगा। ऐसी दशामें बन्धका क्षय न हो सकेगा और मोक्ष भी न हो सकेगी। अथवा यदि पर्याय दृष्टिसे बन्धका कोई कारण नहीं है तो बन्ध असत् हुआ। अश्वविषाणके समान असत् पदार्थका क्षय भी असत् है। तब तो बन्धका क्षय मोक्ष भी असत् है। असतके लिए किया गया यत्न फलवान् नहीं होता है, अतः बन्धके हेतु आस्रव तत्त्वका भी श्रद्धान करना चाहिए।

बन्धहेतुनिरोधश्च संवरो निर्जरा क्षयः।
पूर्वोपात्तस्य बन्धस्य मोक्षहेतुस्तदाश्रयः ॥ ६ ॥
जीवोऽजीवश्च बन्धस्य द्विष्ठत्वात्तत्क्षयस्य च।
श्रद्धेयो नान्यदाफल्यादिति सूत्रकृतां मतम् ॥ ७ ॥

और बन्धके कारणोंका रुकजाना रूप संवर तथा पूर्वकालमें इकट्ठे किये बन्धका एक एक देशरूप क्षय होना निर्जरा ये दोनों मोक्षके कारण हैं। अतः इन संवर और निर्जरा तत्त्वोंका श्रद्धान

करना भी आवश्यक हुआ। और उन पूर्वोक्त सर्व तत्त्वोंके आश्रय (आधार) हो रहे जीव, अजीव तत्त्व भी श्रद्धान करने योग्य हैं। क्योंकि बन्ध और उस बन्धका क्षय होना रूप मोक्ष ये दोनों तत्त्व दोमें ठहरते हैं। अर्थात् जो व्यासज्यवृत्ति धर्मसे अवच्छिन्न पदार्थ होते हैं, वे संयोग, द्वित्वसंख्या, त्रित्वसंख्या, बन्ध, विभाग, पृथक्त्व, मोक्ष आदि पदार्थ दो आदि पदार्थोंमें रहते हैं, अकेलेमें नहीं। जैसे कर्म, नोकर्मके दूर हो जानेसे आत्माकी मोक्ष हुयी है वैसे ही आत्माके दूर हो जानेसे कर्म नोकर्मकी भी मोक्ष हो गयी है। कर्म, नोकर्म भी अपनी बन्ध अवस्थाकी परिणतियोंको छोडकर अन्य अबंध अवस्थाकी परिणतियोंमें आ गये हैं। पीछे कुछ समयोंके बाद भले ही निमित्तोंके द्वारा आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, तेजो वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा रूप परिणति कर चुकनेपर अन्य आत्माके योगबलसे आकर्षित होकर पुनः कर्मनोकर्म रूप हो जावें। किन्तु कुछ समयोंतक वे पुद्गलद्रव्य भी मोक्ष अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं। मणि या सुवर्णसे जो मल दूर हो जाता है उसका भी छुटकारा हुआ कहना चाहिये। जड पुद्गलमें सुख और ज्ञानके न होनेसे उनके मोक्ष होनेकी कोई प्रशंसा नहीं समझी जाती है। दूसरी बात यह भी है कि उन पुद्गलोंके अन्तरंगमें बँधने योग्य पांच वर्गणायें रूप बननेकी शक्ति विद्यमान है। थोडी देर पीछे वे पुनः बन्धने योग्य हो जा सकते हैं। अतः ऐसी क्षणिक मोक्षके प्राप्त करनेमें कोई सार नहीं है। बन्ध जैसे दो जीव अजीव (पुद्गल) पदार्थोंमें रहता है, मोक्ष भी वैसे ही उन दोनोंमें रहती है। संयोग और विभाग दोमें रहते हैं, जैसे भूतलमें घटका संयोग है, वह संयोग अनुयोगिता सम्बन्धसे भूतलमें रहता है, और प्रतियोगिता सम्बन्धसे घटमें रहता है। षष्ठी विभक्तिका अर्थ प्रतियोगिता है, सप्तमी विभक्तिका अर्थ अनुयोगिता होता है। यद्यपि जैनसिद्धान्तके अनुसार दो द्रव्योंका एक गुण नहीं होता है। किन्तु संयुक्त या बद्ध अवस्था हो जानेपर दो गुणोंका या दो पर्यायोंका एकपनेसे उपचार कर दिया गया है। दो पत्रोंके बीचमें लगा दिया गया गोंद दो अंशोंसे युक्त है, वह पीठकी ओरसे एक पत्रपर चुपटा है और छातीकी ओरसे दूसरे पत्रसे चुपटा रहता है। जैन मतमें संयोगकी अपेक्षा विभागका क्रम नैयायिकोंसे निराला है। बन्ध और मोक्ष दो में रहते हैं। अतः जीव अजीव ये दोनों तत्त्व भी श्रद्धान करने योग्य हैं। इन सातोंसे अतिरिक्त अन्य पदार्थ श्रद्धान करने योग्य नहीं है। निष्फल हो जानेसे (हेतु)। इस प्रकार सात ही तत्त्वोंको कहनेमें सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजका मन्तव्य यानी स्वरस यों है।

ननु च पुण्यपापपदार्थावपि वक्तव्यौ तयोर्बंधव्यत्वाद्बन्धफलत्वाद्वा तदश्रद्धाने बन्धस्य श्रद्धानानुपपत्तेरसम्भवादफलत्वाच्चेति कश्चित्, तदसदित्याह―

यहां कोई और शंका करता है कि जब मुमुक्षुको मोक्षके उपयोगी तत्त्वोंका ही श्रद्धान करना आवश्यक है तो पुण्य और पाप दो पदार्थ भी प्रकृत सूत्रमें कहने चाहिये। क्योंकि वे दोनों ही पदार्थ बन्ध होने योग्य हैं और बन्धके फल भी हैं। यदि उनका श्रद्धान न किया जावेगा तो पूरे बन्ध-

तत्त्वका श्रद्धान होना नहीं बन सकता है और पुण्य पापके अतिरिक्त बन्धतत्त्वका होना ही असम्भव है। बन्ध होवे किसका ? तथा पुण्यपापबन्धके बिना बन्धतत्त्व ही व्यर्थ (फलरहित) है। अर्थात् द्रव्यकर्मबन्धसे उत्पन्न हुए अज्ञान, राग, द्वेष, मोह अनुत्साह आदि भावकर्मबन्ध हैं। सौ प्रकृतियां पापरूप हैं और अडसठ (६८) प्रकृतियां पुण्यरूप हैं पुद्गलविपाकी कही गयीं स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, की उत्तरभेदरूप बीस प्रकृतियां जीवको अनुकूल होनेसे पुण्यमें गिनी जाती हैं और अपने प्रतिकूल होनेसे पापोंमें परिगणित हैं। काला रंग अच्छा है, बुरा भी है। तीर्थङ्कर महाराज भी कोई काले रंगके होते हैं। अधिक गोरापन भी बुरा है। काले नमकका रस किसीको अच्छा लगता है और किसीको बुरा। मूलीके पत्तोंमें या हींगडामें किसीको सुगन्ध आती है, दूसरेको दुर्गन्ध प्रतीत होती है। बात प्रकृतिवालेको उष्ण पदार्थ अच्छा लगता है, पित्त प्रकृतिवालेको नहीं। दांतवाले युवाको कठोर सुपारी अच्छी लगती है, पोपले वृद्धको नहीं आदि। अतः पुण्य पाप पदार्थोंको भी पृथक् रूपसे तत्त्वोंमें कहना चाहिये, इस प्रकार कोई कह रहा है। वह कहना प्रशंसनीय नहीं है, इस बातको श्रीविद्यानन्द आचार्य स्पष्टकर कहते हैं।

पुण्यपापपदार्थौ तु बंधास्रवविकल्पगौ।
श्रद्धातव्यौ न भेदेन सप्तभ्योतिप्रसंगतः ॥ ८ ॥

पुण्य, पाप ये पदार्थ तो बन्ध और आस्रव तत्त्वके भेदोंमें प्राप्त हो चुके हैं, अतः सात तत्त्वोंसे भिन्नपने करके श्रद्धा करने योग्य नहीं हैं। यदि प्रत्येक तत्त्वके प्रकारोंका भी श्रद्धान किया जावेगा तो अतिप्रसंग दोष होगा, अर्थात् जीवतत्त्वके भी संसारी और मुक्त तथा अजीवतत्त्वके भी पुद्गल, आकाश, आदि एवं संवरतत्त्वके गुप्ति, समिति, आदि विकल्पोंका भी श्रद्धान करना आवश्यक पड जावेगा जो कि तुमको भी इष्ट नहीं है। इस ढंगसे तो तत्त्वसंख्याकी इयत्ताका निर्णय करना ही अतिकठिन पडेगा।

न हि पुण्यपापपदार्थौ बंधव्यौ जीवाजीवबंधव्यवत्, नापि बन्धफलं सुखदुःखाद्यनुभवनात्मकनिर्जरावत्।

शंकाकारने पहिले कहा था कि पुण्य पाप पदार्थ बन्धने योग्य हैं, सो ऐसा नहीं है जैसे कि जीव (संसारी) और अजीव (पांच वर्गणारूप पुद्गल) बन्धने योग्य हैं। तथा पुद्गल द्रव्योंमें योग्यता मिलनेपर अनेक परमाणु और स्कन्ध परस्परमें बन्धने योग्य हैं। भावार्थ—जीव दूसरे जीवसे नहीं बन्धता है। पुद्गलका सजातीय अन्य पुद्गल द्रव्यसे बंध हो जाता है। जीवका सजातीयसे बन्ध नहीं होता है, अतः जीव और पुद्गल जैसे बन्धते हैं, तैसे पुण्यपाप पदार्थ बन्धने योग्य नहीं हैं। जैनसिद्धांतके अनुसार सिद्धराशिसे अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनंतगुणी कार्मण वर्गणायें एक जीवके प्रतिक्षण बन्ध होने योग्य हैं। उनमें पहिले से ही कोई पुण्य, पाप भेद नहीं है।

किन्तु जीवके परिणाम माने गये कषायोंको निमित्त पाकर पीछेसे पुण्य, पाप नानाभेदरूप बटवारा हो जाता है जैसे कि मेघजलका उन उन निम्ब, आम, अमरुद, केला, आदि वृक्षोंमें प्राप्त होकर वैसा परिणमन हो जाता है। अतः बन्धने योग्य अशुद्धजीव और अशुद्ध पुद्गल द्रव्य ही मानना चाहिये। पुद्गलका पुद्गलके साथ बन्ध होनेमें शुद्ध पुद्गलपरमाणु भी बन्धने योग्य माना गया है। क्यों कि शुद्ध भी परमाणुद्रव्यके अन्तरंगमें अशुद्धताका कारण हो रही स्पर्श गुण संबंधी स्निग्ध रूक्ष पर्यायोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अधिकता पडी हुयी है और शुद्ध आत्मद्रव्यमें अशुद्धताके कारण बनरहे कषाय, योग, अविरति आदि कारण विद्यमान नहीं हैं, उनका अनन्त कालतकके लिये क्षय होजाता है। दूसरी बात शंकाकारने यह कही थी कि बंधके फल भी पुण्य, पाप, हैं। सो भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि बन्धका सुख, दुःख, अज्ञान, मूढपना आदिका अनुभव करना स्वरूप भाव—निर्जरा होजाना फल है। गहरा घुसकर विचार किया जावे तो बन्ध, उदय, फलका एक ही काल प्रतीत होता है। बन्धे हुए कर्मोंकी उपशम अवस्थासे फल देनेकी अवस्थामें निराली परिणति है। ठीक बन्ध उसीको कहना चाहिये जहां दोनोंके गुणोंकी च्युति हो जावे, जिन कर्मोंका पहिलेसे बन्ध होकर असंख्य समयोंकी स्थिति पड जाती है, वहां भी भावबन्धका लक्षण उनका उदय होते समय ही घटता है। अतः उसी समय सुख दुःख, आदि रूप फल देकर कर्म झड जाते हैं। यही बन्धका फल है, पुण्य पाप ये दोनों बन्धके फल नहीं हैं। किन्तु बन्धे हुए कर्मोंकी अवस्था विशेष हैं। आत्माको उत्तर कालमें सुख दुःख आदि फल भुगवानेकी शक्तिवाले पौद्गलिक द्रव्यको पुण्य पाप कहदिया जाता है।

किं तर्हि ? बन्धविकल्पौ। पुण्यपापबन्धभेदेन बंधस्य द्विविधोपदेशात्। तद्धेत्वास्रवविकल्पौ वा सूत्रितौ। ततो न ताभ्यां जीवादिभ्यो भेदेन श्रद्धातव्यौ तथा तयोः श्रद्धानेतिप्रसंगात्। संवरविकल्पानां गुप्त्यादीनां निर्जराविकल्पयोश्च यथाकालौपक्रमिकानुभवनयोः संवरनिर्जराभ्यां भेदेन श्रद्धातव्यतानुषंगात्।

तब तो पुण्य, पाप क्या वस्तु हैं ? बतलाइये। ऐसी जिज्ञासा होनेपर हम जैन उत्तर देते हैं कि वे बन्धके भेद हैं। पुण्यबन्ध और पापबन्धके भेदसे बन्धतत्त्वका आर्ष ग्रन्थोंमें दो प्रकार रूप उपदेश दिया है। अथवा उस बन्धके कारण माने गये आस्रव तत्त्वके ये पुण्य पाप दो भेद हैं, ऐसा उन दोनोंको प्राचीन सूत्रोंमें प्रतिपादन किया है। जिन आस्रवरूप शुभ योगोंसे आकर्षित हुयीं प्रकृतियोंके बहुभागमें प्रशस्त अनुभाग पडगया है, वे योग पुण्यरूप आस्रव हैं और जिन अशुभ योगोंसे खिंचकर बहुभाग प्रकृतियोंमें कषाय द्वारा अप्रशस्त अनुभाग बन्ध पड गया है वे योग पापास्रव हैं। यों तो नौवें दशवें गुणस्थानोंमें शुभयोगसे भी ज्ञानावरण आदि पापोंका आस्रव हो रहा है और पहिले गुणस्थानमें भी अशुभ योगसे कुछ पुण्य प्रकृतियां आती रहती हैं। किन्तु विशुद्धि और संक्लेशसे युक्त हो रहीं कषायोंके आधीन होनेवाले अनुभाग बन्धकी विशेषतासे यह कथन है। तथा अपने इष्ट होरहे लौकिक सुखोंके लिये अनुकूल पडनेवालीं प्रकृतियोंके बन्धको पुण्यरूपबन्ध

कहते हैं और अपने अनिष्ट माने गये दुःखोंके लिये सहायक होनेवालीं प्रकृतियोंके बन्धको पापबन्ध कहते हैं। आस्रवके द्रव्यास्रव और भावास्रव तथा बन्धके द्रव्य, भाव और उभय तीन भेद करनेपर भी पुण्य, पापका इन पांचोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। विशिष्ट योगोंसे नियमित कर्मोंके योग्य पुद्गलके आगमनको द्रव्यास्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, आदिसे युक्त होरहे योगोंको भावास्रव कहते हैं। आगत कर्मोंमें ज्ञान, दर्शन, आदिको घातनेकी शक्तिका पड़ जाना द्रव्यबन्ध है। सञ्चित कर्मोंके उदय होनेपर होनेवाले तथा आये हुए कर्मोंकी स्थिति आदिके कारण होगये क्रोध, अज्ञान, असंयम, अचारित्र आदि भावोंको भावबन्ध कहते हैं। आत्मप्रदेशोंका और कर्मनोकर्मोंका दूध, बूरेके समान एकरस सरीखा हो जाना उभयबन्ध कहलाता है। खेंचना, आना, बन्ध जाना, ये सब एक समयमें होनेवाले कार्य हैं, जैसे कि चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें तेरह कर्मप्रकृतियां विद्यमान हैं, चौदहवेंके अन्तिम समयके उत्तर समयमें कर्मोंका नाश १, सात राजू ऊर्ध्वगमन करना २, और ऊपर तनुवात वलयमें स्थित हो जाना ३, ये कार्य एक समयमें ही सम्पन्न हो जाते हैं। प्रकृतमें यह कहना है कि पुण्य और पाप स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं। तिस कारण पुण्य और पाप पदार्थोंका जीव आदिक सात तत्त्वोंसे भिन्नपने करके श्रद्धान नहीं करना चाहिये। भावार्थ—वे दोनों आस्रव और बन्धतत्त्वमें अन्तर्भूत हैं। भिन्न नहीं हैं। तत्त्वोंके अवान्तर भेदोंका भिन्नतत्त्वपनेका श्रद्धान नहीं किया जाता है। यदि इसप्रकार उन दोनोंका श्रद्धान किया जावेगा तो तत्त्व व्यवस्थाको अतिक्रमण करनेवाला अतिप्रसंग दोष होगा। क्योंकि यों तो संवरके भेद माने गये गुप्ति, समिति, धर्म, आदिकोंका और संवरके प्रभेद होरहे मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, उत्तम क्षमा आदिका तथा निर्जराके प्रकार कही गयीं यथायोग्य समयमें कर्मोंका उदय होनेपर फल देनारूप यथाकाल निर्जरा और भविष्यमें आनेवाले कर्मोंका प्रयोगके द्वारा वर्तमानकालमें उदय लाकर अनुभव करना रूप औपक्रमिक निर्जरा, इनका भी संवर और निर्जरातत्त्वसे भिन्न तत्त्वपने करके श्रद्धान करने योग्यपनेका प्रसंग हो जावेगा। इस प्रकार तो किसीके मतमें भी तत्त्वोंकी नियमित संख्याकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अनेक पदार्थोंके भेद, प्रभेद, शाखायें, उपशाखायें बहुत हैं।

नन्वेवं जीवाजीवाभ्यां भेदेन नास्रवादयः श्रद्धेयास्तद्विकल्पत्वात् अन्यथातिप्रसंगादिति न चोद्यं, तेषां तद्विकल्पत्वेपि सार्थकत्वेन भिदा श्रद्धेयत्वोपपत्तेः।

यहां पुनः शंका है कि तत्त्वोंके भेदप्रभेदरूप विकल्पोंके भिन्नतत्त्वपने करके श्रद्धान करनेको यदि आप जैनलोग अनुचित कहते हो, तब तो इस प्रकार जीव और अजीव तत्त्वसे भिन्नपने करके आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षका भी श्रद्धान नहीं करना चाहिये। क्योंकि आस्रव आदि भी तो उन जीव और अजीव तत्त्वके ही विकल्प हैं। अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे भेद प्रभेदरूप पदार्थोंका भी श्रद्धान करना मानोगे तो आप जैनोंके ऊपर भी अतिप्रसंग दोष होगा। गुप्ति, धर्म आदि भेद प्रभेदोंका भी श्रद्धान करना आवश्यक हो जावेगा, जो कि

आपको इष्ट नहीं है। और यदि आस्रव आदिको जीव अजीवसे भी सर्वथा भिन्न स्वतन्त्रतत्त्व मानोगे तो ऐसी दशामें आस्रव आदिक सत् पदार्थ ही न होसकेंगे। अश्वविषाणके समान असत् हो जावेंगे। कारण कि जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ जीव और अजीव इन दोमें ही गर्भित हैं। अब आचार्य समझाते हैं कि, इस प्रकार कुतर्क करना ठीक नहीं है। क्योंकि यद्यपि उन आस्रव आदिकोंको उन जीव, अजीव तत्त्वका विकल्पपना है तो भी सम्पूर्ण मुमुक्षु जीवोंके लिये आस्रव आदिक हित रूप हैं। इस कारण भिन्न तत्त्वपने करके आस्रव आदिकका स्वतन्त्र उपदेश दिया है। उनको जीव अजीवसे कथञ्चित् भेदकी विवक्षा करके न्यारा मानते हुए स्वतन्त्र श्रद्धान करने योग्यपना सिद्ध हो जाता है। लोकमें भी देखा जाता है कि सामान्यरूपसे कह देनेपर भी विशेष प्रयोजनके लिये विशेषोंका स्वतन्त्र रूपसे कथन कर देते हैं। सर्व भोज्य पदार्थ आ गये हैं, लड्डू भी आ गये हैं। जिस विषयका जो उत्कट अभिलाषी है, उसको उस विषयके कारण, स्थान, प्रतिबन्धक आदिकी प्रतिपत्ति कर लेना चाहिए। कपडेके व्यापारीको कपडेको आयव्यय स्थानका और विशिष्ट ऋतुओंमें उन उन कपडोंके उपयोगका विशेषरूपसे परिज्ञान होना आवश्यक है। सेवकको सेवा वृत्तिके लिए उपयोगी प्रयोगोंका जानना अनिवार्य है। न्यायशास्त्रके अध्यापकको दार्शनिक तत्त्वोंका निर्णय कर लेना विशेष रूपसे श्रद्धेय है। पाचकको रसोई (भोज्य) बनानेके उपयोगी उपकरणों और लवण, घृत आदिकके न्यून आधिक्यका विशेषरूपसे विचार करना आवश्यक है। पाचकको इन प्रश्नोंके निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं कि भोजन करनेवाला पुरुष काला है या गोरा ? विद्वान् है ? या मूर्ख ? वैश्य है या ब्राह्मण ? क्योंकि पाक कलाके ज्ञानकी सफलताको प्राप्त करनेमें उक्त प्रश्नोंका उत्तर उपयोगी नहीं है। रोगीको अपनी औषधिके अनुपान, परिणाम, नियत समय, आदिका श्रद्धान करना उपयोगी है। अन्य थोथी बातोंका नहीं। ऐसे ही जिन भव्योंको मोक्ष प्राप्त करनेकी हृदयसे लगन लग रही है, उनके लिये आस्रव आदि तत्त्वोंका श्रद्धान करना हित मार्ग है। तभी तो वे आस्रव और बन्धका त्याग करके संवर और निर्जराको प्राप्त कर मोक्षकी सिद्धि कर सकेंगे। अतः मोक्षरूपी कार्यको सिद्ध करना जिनका लक्ष्य है उन भव्योंको जीव अजीव तत्त्वोंसे भिन्नतत्त्वपने करके उन जीव अजीवकी परिणतियों रूप आस्रव आदि तत्त्वोंका श्रद्धान कर लेना चाहिये। यह युक्ति जच गयी है।

बन्धो मोक्षस्तयोर्हेतू जीवाजीवौ तदाश्रयौ।
ननु सूत्रे षडेवैते वाच्याः सार्वत्ववादिना ॥ १ ॥

इस कारिकाके द्वारा पुनः कोई शंका करता है कि सबीके लिये हितको चाहनेवाले स्याद्वादी वादीको अपने प्रकृत सूत्रमें ये छह ही तत्त्व कहने चाहिये। १ बन्ध, २ मोक्ष, तथा उन दोनोंके दो हेतु यानी ३ बन्धका कारण, ४ मोक्षका कारण, ५ और उनके आधारभूत दो जीव, ६ अजीव अर्थात् उक्त छह तत्त्वोंके कहनेमें मोक्षके लिए विशेष उपयोगीपना दीख रहा है।

" जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वमिति सूत्रं वक्तव्यं सकलप्रयोजनार्थसंग्रहात्, बन्धस्य हि हेतुरास्रवो मोक्षस्य हेतुर्द्विविकल्पः संवरनिर्जराभेदादिति न कस्यचिदसंग्रहस्त त्त्वस्य मोक्षहेतुविकल्पयोः पृथगभिधाने बन्धास्रवविकल्पयोरपि पुण्यपापयोः पृथगभिधान-प्रसंगादिति चेत् ।

शंकाकारके अभिमतको कहनेवाली वार्तिकका भाष्य करते हैं कि जीव और अजीव तथा बन्ध और मोक्ष एवं उन-बन्ध और मोक्ष दो तत्त्वोंके दो कारणरूपी तत्त्व इस प्रकार छह तत्त्वोंको निरूपण करनेवाला सूत्र कहना चाहिए । क्यों कि ऐसा कहनेसे सम्पूर्ण प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले अर्थोंका संग्रह हो जाता है । कोई भी मोक्षोपयोगी तत्त्व शेष नहीं रह जाता है । कारण कि बन्धका हेतु छह पदार्थोंमें एक स्वतंत्र तत्व हमने कहा है। ऐसा कहनेसे आस्रव तत्त्वका संग्रह हो जाता है तथा मोक्षका हेतु भी एक स्वतंत्र तत्त्व है । वह संवर और निर्जराके भेदसे दो प्रकारका है । अतः मोक्ष हेतु तत्त्वमें संवर और निर्जराका संग्रह हो जाता है । इस प्रकार आपके माने हुए सात तत्त्वोंका इन छह तत्त्वोंमें संग्रह हो जाता है किसी भी तत्त्वका असंग्रह नहीं । यानी कोई शेष नहीं बचता है । सात तत्त्वोंसे एक संख्या घटाकर छह तत्त्वोंके माननेमें उपस्थितिसे किया गया लाघवगुण है । अन्य भी बचे हुये कतिपय तत्त्वोंका संग्रह होजाता है । और मोक्षकी प्रक्रिया सुलभतासे जानी जाती है। अतः अर्थसे किया गया लाघव गुण है । तथा अठारह स्वरवाले सूत्रसे " जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वम् " इस चौदह स्वरवाले सूत्रके बनानेमें परिमाणसे किया गया लाघव गुण है । एवं लम्बा समास न होनेके कारण यह सूत्र सुलभतासे शाब्दबोध करा देता है। अतः गुणसे किया गया लाघव भी है । व्याकरण शास्त्र और न्यायशास्त्र जाननेवालोंको इन गुणोंका उल्लंघन नहीं करना चाहिये। मोक्षके कारण मानेगये संवर और निर्जरा विकल्पों (प्रकारों) को यदि आप जैन पृथक्-रूपसे कथन करेंगे तो बन्ध और आस्रवके विकल्परूप होरहे पुण्य, पाप तत्त्वोंका भी स्वतन्त्र रूपसे तत्त्वोंमें पृथक् कथन करनेका प्रसंग होगा । न्याय्य विषयको कहनेमें लांच नहीं खाना चाहिये । यदि शंकाकार इस प्रकार कहेंगे ? तो हम जैन बोलते हैं कि—

सत्यं किंत्वास्रवस्यैव बन्धहेतुत्वसंविदे ।
मिथ्यादृगादिभेदस्य वचो युक्तं परिस्फुटम् ॥ १० ॥

शंकाकारका कहना कुछ देरके लिये ठीक है जबतक कि हम उत्तर नहीं देते हैं । किन्तु उत्तर देनेपर तो जीर्ण वस्त्रके समान खण्डित हो जावेगा । बन्धका हेतु आस्रव ही है, इस बातको समझानेके लिये मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये हैं भेद जिसके ऐसे आस्रवका अधिक स्पष्टरूपसे तत्त्वोंमें स्वतन्त्र तत्त्वपने करके कथन करना युक्त ही है । अर्थात् यदि बन्धहेतु नामका ही तत्त्व माना जावेगा तो बन्धका हेतु आस्रव ही है, यह निर्णय नहीं हो सकता है। देखो,

अन्य वादियोंने बन्धका कारण मिथ्याज्ञानको भी माना है और कोई अविद्या और तृष्णाको बन्धका कारण मानते हैं। बन्धहेतु नामका तत्त्व कहनेसे उस तत्त्वका ठीक पता नहीं चलता है। अतः स्वतन्त्ररूपसे आस्रव तत्त्व कहना चाहिये। सिद्धान्त तत्त्वोंका निरूपण पोले ढोंगसे नहीं होता है। निर्णीत किये गये पदार्थोंको "बावन तोले पाव रत्ती" के न्यायानुसार ठीक ठीक कहना पडता है। जैसे कि बावन तोले तांबेमें पाव रत्ती पारद भस्म डाल देनेसे बावन तोले पाव रत्ती रसायन (सुवर्ण) बन जाती है। तिस प्रकार आस्रवसे ही बन्ध होता है अविद्या, तृष्णासे नहीं। अविद्या तृष्णा अथवा मिथ्याज्ञान दूरवर्ती पदार्थको खैंच नहीं सकते हैं। धन या धानके जान लेने मात्रसे या इच्छासे वह हमारे पास खिंचकर नहीं आ सकता है, आकर्षण करनेके लिये प्रेरक कारण चाहिये। वह योगरूप आस्रवतत्त्व ही हो सकता है। अतः स्वतन्त्र रूपसे कण्ठोक्त कहा है। योगमें आकर्षण करनेका इतना बल है कि लोकमें नीचे ठहरे हुए तनुवात वलयके वायुकायका जीव लोकके सबसे ऊपर तनुवातवलयमें फैली हुयीं कर्म, नोकर्म, वर्गणाओंको खींचकर अपने शरीररूप बना लेता है। अजगर सांप स्थूल जन्तुओंको सौ गजसे खींच लेता है। अधिक प्यास लगनेपर एक लोटा जल आधे विपलमें पी लिया जाता है। थोडी प्यास लगनेपर उदराग्निके द्वारा उतना नहीं खिंचता है। श्वास लेनेमें या छींक लेनेके प्रथम भी कुछ दूरके छोटे छोटे स्कन्ध खिंचे हुए चले आते हैं। लोकमें योगके लिये कोई स्थान दूर नहीं है। कभी कभी अपनी आत्माके निकट संयुक्त हो रहीं वर्गणाओंका या विस्रसोपचयका आस्रवण हो जाता है, योगमें बडी प्रबलशक्ति है। यदि संसारी जीवोंमें योग नामकी पर्यायशक्ति न होती तो सर्व जीव सिद्ध भगवान् बन जाते। अतः कर्मनोकर्म बन्धका प्रधानकारण योग (आस्रव) स्वतन्त्र रूपसे कहा गया है।

मोक्षसंपादिके चोक्ते सम्यक् संवरनिर्जरे।
रत्नत्रयादृतेन्यस्य मोक्षहेतुत्वहानये ॥ ११ ॥
तेनानागतबन्धस्य हेतुध्वंसाद्विमुच्यते।
सञ्चितस्य क्षयाद्वेति मिथ्यावादो निराकृतः ॥ १२ ॥

मोक्षकी भले प्रकार उत्पत्ति करानेवाले संवर और निर्जरातत्त्व कहे गये हैं, जब कि रत्नत्रयके विना अन्यको मोक्षके कारणपनकी हानि है। इसलिये रत्नत्रयस्वरूप संवर और निर्जरातत्त्वोंका स्वतन्त्र रूपसे कहना ठीक है। भावार्थ—मोक्षहेतु नामका तत्त्व कह देनेसे यह निर्णय नहीं हो सकता है कि मोक्षका असाधारण और अव्यवहित पूर्वसमयवर्ती रत्नत्रय ही है। किन्हीं वादियोंने मोक्षका हेतु तत्त्वज्ञान ही माना है। कोई कोई तो गंगास्नान, या कर्मनाशा नदीके जलस्पर्शसे मोक्ष होना स्वीकार करते हैं। किन्तु वास्तवमें देखा जावे तो मोक्षका हेतु रत्नत्रय ही है। संवर और निर्जरातत्त्व

चारित्ररूप हैं। किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उनके अन्तरंगमें प्रविष्ट होरहा है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सहित होरही बहिरंग और अन्तरंग क्रियाकी निवृत्ति होकर हुई स्वात्मनिष्ठाको सम्यक्चारित्र कहा है। वह संवर और निर्जरातत्त्व रूप पडती है। अतः इस कथन करके इस मिथ्यावादका भी खण्डन करदिया जाता है कि भविष्यमें आनेवाले कर्म बन्धका बन्धहेतुओंके नाश होजानेसे जीव मुक्त होजाता है। अथवा पूर्वमें एकत्रित हुए कर्मोका क्षय करदेनेसे मोक्ष होजाती है। वस्तुतः यह एकान्तवाद मिथ्या है। यद्यपि यह बात जैन सिद्धान्तसे मिलती जुलती है तो भी इन दो बातोंको क्रमसे होती हुयीं माननेवाला एकान्तवादी है। जैनसिद्धान्तमें इन दोनोंके युगपत् रहते ही मोक्ष मानी गयी है। तथा किसी जीवकी बन्ध हेतुओंके (संवर) ध्वंससे ही मोक्ष होती है। अन्यकी संचित कर्मोंके क्षय (निर्जरा) से ही मोक्ष होती है, यह मिथ्यावाद है । वस्तुतः प्रत्येक मोक्षगामी जीवकी दोनों ही कारणोंसे मोक्ष होसकती है। यदि मोक्षके हेतुओंका तत्त्वोंमें स्वतन्त्ररूपसे नाम न लिया जावेगा तो उक्त मिथ्यावादीका खण्डन न हो सकेगा। यद्यपि बन्धके हेतुओंका रोध संवररूप है और संचित कर्मोका क्षय निर्जरा है, किन्तु रत्नत्रयके विना कोरे ध्वंसरूप संवर और निर्जरा किसी भी कामके नहीं हैं तथा हो भी नहीं सकते हैं। अतः रत्नत्रयसे तादात्म्य रखनेवाले संवर और निर्जरा ही भविष्यके बन्धको रोकते हैं और संचित कर्मोका क्षय करदेते हैं। तभी मोक्ष होने पाती है।

सञ्चितस्य स्वयं नाशादेष्यद्बन्धस्य रोधकः।
एकः कश्चिदनुष्ठेय इत्येके तदसंगतम् ॥ १३ ॥
निर्हेतुकस्य नाशस्य सर्वथानुपपत्तितः।
कार्योत्पादवदन्यत्र विस्रसा परिणामतः ॥ १४ ॥

कोई किन्हीं एक वादियोंका यह कहना है कि संचित कर्मोका तो अपने आप नाश हो जाता है। हां ! भविष्यमें आने योग्य कर्मबन्धको रोकनेवाले किसी एक मोक्षहेतुका अनुष्ठान करना चाहिये। भावार्थ—मोक्षहेतु नामके तत्त्वसे एक ही संवरतत्त्व मान लेना चाहिये। निर्जरा या रत्नत्रयकी आवश्यकता नहीं। अब आचार्य कहते हैं कि सो उनका कहना असंगत है। क्योंकि हेतुओंके विना संचित कर्मोका स्वयं नाश होना सभी प्रकारोंसे नहीं बन सकता है, अर्थात् बौद्ध लोग मानते हैं कि क्षणिकपना वस्तुका स्वभाव है। क्षणक्षणमें नाश करनेके लिये कारणोंकी आवश्यकता है, इसपर हम कहते हैं कि कार्योके उत्पाद जैसे हेतुओंसे होते हैं उसीके सदृश नाश भी हेतुओंसे ही होता है। यदि ऐसा न माना जावे तो संसारका ध्वंस या कर्मोका ध्वंस भी सब जीवोंके विना प्रयत्नसे ही हो जावेगा। फिर बौद्धलोग मोक्षके हेतु आठ अंगोंको क्यों मानते हैं ? स्वभावसे होने-

वाले परिणामोंके अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ हेतुओंसे जन्य हैं। स्वाभाविक परिणामोंमें भी पूर्वपर्याय-रूप उपादान कारण और प्रतिबन्धकोंका नाश निमित्तकारण तथा कालाणुओंरूप उदासीन कारण इनकी आवश्यकता पडती है। अतः संवरके समान निर्जरातत्त्वको भी मोक्षका कारण मानना चाहिये। निर्जराके विना सञ्चित कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता है।

यतश्चानागताघौघनिरोधः क्रियतेऽमुना।
तत एव क्षयः पूर्वपापौघस्येत्यहेतुकः ॥ १५ ॥
सन्नप्यसौ भवत्येव मोक्षहेतुः स सम्वरः।
तयोरन्यतरस्यापि वैकल्ये मुक्त्ययोगतः ॥ १६ ॥

जिस कारणसे कि उस संवर तत्त्वकरके भविष्यमें आनेवाले पापोंके समुदायका निरोध कर दिया जाता है, तिस ही कारणसे पूर्वसञ्चित पापोंके समुदायका भी क्षय कर दिया जावेगा। इस कारण कर्मोंका क्षय होना अन्य कारक हेतुओंसे रहित है। इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी ज्ञापक हेतुओंसे रहित है। क्योंकि भविष्य कर्मोंको रोकनेवाले रत्नत्रयके स्वरूपका नाम संवर है और संचित कर्मोंका क्षय करनेवाले रत्नत्रयका स्वरूप निर्जरा है। इस कारणसे हो रहा वह कर्मोंका क्षय भी मोक्षका हेतु ही है और वह संवर भी मोक्षका हेतु है। उन दोनोंमेंसे एकके भी विकल (रहित) होनेपर मोक्ष होनेका योग नहीं बनता है।

एतेन संचिताशेषकर्मनाशे विमुच्यते।
भविष्यत्कर्मसंरोधापायेपीति निराकृतम् ॥ १७ ॥
एवं प्रयोजनापेक्षाविशेषादास्रवादयः।
निर्दिश्यंते मुनीशेन जीवजीवात्मका अपि ॥ १८ ॥

इस कथन करके किसीके इस सिद्धान्तका भी निराकरण हो गया है कि भविष्यमें आनेवाले कर्मोंका निरोध नहीं करते हुए भी केवल संचित सम्पूर्ण कर्मोंका नाश हो जानेपर ही जीव मुक्त हो जाता है। भावार्थ—किसी वादीने मोक्षहेतु नामके तत्त्वसे केवल निर्जराको ही पकडा है। संवरकी आवश्यकता नहीं। इसपर स्याद्वादियोंका कहना है कि यदि आनेवाले कर्मोंका द्वार न रोका जावेगा तो कर्मोंका आना सतत बना रहेगा। ऐसी दशामें सञ्चित कर्मोंका नाश होनेपर भी मोक्ष न हो सकेगी। अनेवाले कर्मोंका सञ्चय सर्वदा बना ही रहेगा तब तो किसी भी जीवकी मोक्ष न हो सकेगी। अतः मोक्षहेतु नामका तत्त्व न कहकर स्पष्टरूपसे मोक्षके कारण माने गये संवर और निर्जराका स्वतंत्र रूपसे तत्त्वोंमें कण्ठोक्त प्रतिपादन करना चाहिये। छह द्रव्योंके कहनेसे सम्पूर्ण मोक्षोपयोगी तत्त्वोंका

संग्रह नहीं होने पाता है। कहीं सम्यग्दर्शन छूट जाता है, कहीं सम्यक्चारित्रका ग्रहण नहीं होने पाता है तथा किसी मतके अनुसार संवरका ग्रहण नहीं होने पाता है और किसीके मतानुसार मोक्षके अत्यावश्यक कारण हो रहे निर्जरातत्त्वका ग्रहण नहीं होने पाता है। जो लाघव संशयको उत्पन्न करा देवे अथवा पूर्ण कार्यको ही न होने दे तो वे उपस्थिति, परिमाण, अर्थ और गुणसे किये गये लाघव कोरी लघुता [ओछापन] है। इस प्रकार यद्यपि सातों ही तत्त्व जीव, अजीव, दो स्वरूप है, तो भी विशेष प्रयोजनकी अपेक्षासे मुनियोंके स्वामी श्री उमास्वामी आचार्यने आस्रव आदिक तत्त्व स्वतंत्ररूपसे कण्ठद्वारा कथन किये हैं। यहांतक सात प्रकार तत्त्वोंके निरूपण करनेका बीज सिद्ध कर दिया है।

बन्धमोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वमिति सूत्रं वाच्यं जीवाजीवयोर्बन्धमोक्षोपादानहेतुत्वादास्रवस्य बन्धसहकारिहेतुत्वात् संवरनिर्जरयोर्मोक्षसहकारिहेतुत्वात् तावता सर्वतत्त्वसंग्रहादिति येप्याहुस्तेप्यनेनैव निराकृताः। आस्रवादीनां पृथगभिधाने प्रयोजनाभिधानात्, जीवाजीवयोश्चानभिधाने सौगतादिमतव्यवच्छेदानुपपत्तेः।

जो भी कोई वादी यह कहरहे हैं कि चार ही तत्त्व मानने चाहिये। १ बन्ध, २ मोक्ष, ३ बन्धका कारण और ४ मोक्षका कारण, इस प्रकार चार ही तत्त्वोंको निरूपण करनेवाला " बन्धमोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वम् " ऐसा दस स्वरवाला सूत्र श्रीउमास्वामी महाराजको कहना चाहिये था। जीव और अजीव तत्त्वोंका बन्ध और मोक्षके प्रति उपादान कारण होनेसे बन्धहेतु और मोक्षहेतु तत्त्वमें गर्भ होजाता है। तथा बन्धका सहकारी कारण होनेसे आस्रवका भी बन्धहेतु नामके तत्त्वमें अन्तर्भाव होजाता है। तथैव मोक्षके प्रति सहकारी कारण होनेसे संवर और निर्जराका मोक्षहेतु तत्त्वमें संग्रह होजाता है। अतः तिन चार प्रकार तत्त्वोंके भेद करनेसे सम्पूर्ण प्रकारके तत्त्वोंका संग्रह होजाता है। सातके कहनेसे चारके कहनेमें लाघव भी है। आचार्य समझारहे हैं कि इस प्रकार जो भी वादी कहरहे हैं वे भी इस उक्त कथन करके ही निराकृत होजाते हैं। क्योंकि अभी हमने बडी अच्छी युक्तियोंसे आस्रव आदिकोंके पृथक् पृथक् कहनेमें विशिष्ट प्रयोजनको कहदिया है। छह तत्त्वोंकी अपेक्षा चार तत्त्वोंको कहनेवाले लघुताके याचक वादियोंको यह भारी दोष उपस्थित होगा कि जीव और अजीव, तत्त्वका स्वतन्त्र रूपसे कथन न करनेपर सौगत, चार्वाक, ब्रह्माद्वैतवादी आदिके मतोंका निराकरण न बन सकेगा। क्योंकि सौगतजन बन्धहेतु (बन्धके कारण) तत्त्वमें अविद्या और तृष्णाको लेलेंगे। आत्माको वे मानते नहीं हैं। अतः बन्धके उपादान कारण आत्माका स्वीकार करना अनिवार्य न होगा। चार्वाक तो जीव, कर्म, बन्ध, और मोक्षको मानते ही नहीं है। न बन्ध है, न मोक्ष है। राजा, रईसोंके स्थान ही स्वर्ग हैं। कारागृह, रोगशय्या, दरिद्रकुटी ही नरक हैं। जन्मसे मरणपर्यन्त ही चैतन्यशक्ति विना उपादान कारणोंके पृथिवी आदि सहकारियोंसे उत्पन्न होजाती है। इसी प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी बन्धका कारण अविद्या या

पापोंको मानते हैं। बन्ध होने योग्य अजीव पुद्गल द्रव्यको स्वीकार नहीं करते हैं। वे अजीव तत्त्वको मानते ही नहीं हैं। सब संसार जीवमय है। अतः पौद्गलिक कर्म, नोकर्म, को माननेके लिये अद्वैतवादी बाध्य न किये जासकेंगे। इस कारण नौ या छह अथवा चार तत्त्वोंको न मानकर जीव आदिक सात तत्त्व ही श्रद्धान करने योग्य हैं। मोक्षमें उपयोगी सात तत्त्व ही ठीक होसकते हैं न्यून या अधिक नहीं। यहांतक सूत्रकी पहिली वार्तिकके अनुसार उठाये गये प्रकरणका समीचीन अकाट्य युक्तियोंसे उपसंहार करदिया गया है।

जीवादीनामिह ज्ञेयं लक्षणं वक्ष्यमाणकम्।
तत्पदानां निरुक्तिश्च यथार्थानतिलंघनात् ॥ १९ ॥

इस सूत्रमें कहे गये जीव, अजीव, आदि तत्त्वोंका निर्दोष लक्षण स्वयं ग्रन्थकारके द्वारा भविष्य ग्रन्थमें कहा जावेगा, सो समझ लेना चाहिये। द्वितीय अध्यायमें जीवका लक्षण उपयोग है ऐसा कहनेवाले हैं। पांचवेंमें अजीवोंका लक्षण कहा जावेगा। छठे, सातवें, अध्यायमें आस्रवका, आठवेंमें बन्धका, नौवेंमें संवर और निर्जराका तथा दशवें अध्यायमें मोक्षका लक्षण और विवरण कण्ठोक्त रूपसे ग्रन्थकार कहेंगे। तथा जीव आदिक पदोंका धातु, नाम, प्रत्यय, समास, इनके द्वारा निर्वचन करना भी वास्तविक अर्थका उल्लंघन न करनेसे (न करते हुए) समझ लेना चाहिये। भावार्थ—जीव आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति इस ढंगसे करना जिससे कि मुख्य अभीष्ट अर्थका अतिक्रमण न हो जावे और त्रुटि भी न रह जावे।

जीवस्य उपयोगलक्षणः सामर्थ्यादजीवस्यानुपयोगः, आस्रवस्य कायवाङ्मनःकर्मात्मको योगः, बन्धस्य कर्मयोग्यपुद्गलादानं, संवरस्यास्रवनिरोधः, निर्जरायाः कर्मैकदेशविप्रमोक्षः, मोक्षस्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष इति वक्ष्यमाणं लक्षणं जीवादीनामिह युक्त्यागमाविरुद्धमवबोद्धव्यम्।

मिले हुए पदार्थोंमेंसे जाननेके लिये विवक्षित पदार्थको पृथक् करनेवाला धर्म लक्षण कहा जाता है। जीवका लक्षण उपयोग है। जीवका लक्षण उपयोग करनेसे विना कहे हुए प्रकरणकी सामर्थ्य करके अर्थापत्तिके द्वारा ही यह ज्ञात हो जाता है कि अजीवका लक्षण अनुपयोग है अर्थात् जिसमें ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग शक्ति अथवा व्यक्तिरूपसे नहीं पाये जाते हैं वह अजीव है। आस्रवका लक्षण योग है। आत्माके साथ बन्धनेवाली और शरीर, वचन, मन के लिये उपयोगी होरहीं कारणरूप आहारवर्गणा या कार्माणवर्गणा और भाषावर्गणा या मनोवर्गणा इनका तथा पहिली सञ्चित वर्गणाओंसे बने हुए शरीर, वचन, मन, का अवलम्ब लेकर आत्माके प्रदेशकम्पस्वरूप योग उत्पन्न होता है, यह द्रव्ययोग है। तेजसवर्गणाओंमें स्वतन्त्र योग पैदा करानेकी योग्यता नहीं है। जैसे हाथ, पाद छाती स्वतन्त्र रूपसे चलनेमें कारण होते हैं, नाक, ग्रीवा, कान,

तो पिछलगा होकर खिसटते जाते हैं। योगसे कर्म खिच आते हैं जैसे कि मोरके पंखको पुस्तकमें भींचकर खींच देनेसे आकर्षणशक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह पंख छोटे तृण, पत्र, आदिको खींच लेता है, तैसे ही आत्माके प्रदेशोंमें कम्प हो जानेसे कर्म, नोकर्म, का आकर्षण हो जाता है। इस द्रव्ययोगको आस्रव कहते हैं। तथा आत्माकी कर्म नोकर्मको आकर्षण करनेवाली शक्तिको भावयोग कहते हैं। अनादि कालसे प्रारम्भ कर तेरहवें गुणस्थान तक भावयोग नामकी पर्याय-शक्ति जीवमें बन बैठती है।

ज्ञानावरण आदि कर्मरूपपरिणत होने योग्य कार्माणवर्गणारूप पुद्गलको ग्रहण करना बन्धका लक्षण है। नोकर्मके बन्धकी यहां विवक्षा नहीं है। आस्रवका रुक जाना संवरका लक्षण है। सञ्चित कर्मोका सदाके लिये और प्रागभाव रहित होकर एकदेश एकदेश रूपसे अच्छा क्षय हो जाना निर्जराका लक्षण है। सम्पूर्ण कर्मोका वर्तमानमें और भविष्यके लिए भी ध्वंस हो जाना मोक्षका लक्षण है। इस प्रकार जीव आदिकोंके लक्षण इस शास्त्रके अग्रिम अध्यायोंमें कहे जावेंगे। वे लक्षण सभी युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हैं। अतः उन उन प्रकरणोंमें समझ लेना चाहिये। विशेष यह है कि कर्मोके समान नोकर्मके भी आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा, और मोक्ष होते हैं, किंतु सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये नोकर्मका क्षय विशिष्ट उपयोगी नहीं है। कर्मोका क्षय हो जानेसे नोकर्मका ध्वंस तो स्वतः ही हो जाता है। क्योंकि शरीर, वचन और मनके बनानेमें औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, अंगोपाङ्ग, स्वर, आदि नाम कर्मोके उदय कारण हैं। कारणके अभाव होनेपर भविष्यके कार्यका भी अभाव हो जावेगा। संचितका नाश तो सुलभतासे हो ही रहा है। मनुष्य और तिर्यञ्चोंके एक बार मर जानेपर भी पूरे औदारिक शरीरका मोक्ष हो जाता है। कमसे कम दस सहस्र (हजार) वर्ष और अधिकसे अधिक तेतीस सागर पीछे वैक्रियिक शरीरका सर्वथा मोक्ष हो जाता है उस समय शरीरका एक अंश भी शेष नहीं रहता है। आहारक शरीरका अन्तर्मुहूर्तमें और तैजस शरीरका छ्यासठ (६६) सागरमें ध्वंस हो जाता है। हां, भारतवर्षमें मनुष्योंकी धाराके समान तैजसकी धारा बनी रहेगी अर्थात् वर्तमानके तैजस शरीरका एक टुकडा भी छ्यासठिसागर पीछे नहीं मिलेगा निराला ही तैजस शरीर दीख पडेगा। कार्माणशरीर ही प्रवाहरूप करके अना-दिसे सम्बद्ध हो रहा है। विग्रह गतिमें जीवके पास केवल तैजस और कार्मणशरीर रह जाते हैं। सब सांसारिक सुख दुःखोंका मूल कारण कार्मणशरीर ही है। अतः कर्मोके ही आस्रव, बन्ध, आदिका वर्णन किया है। यों तो प्रतिदिनके खाद्य, पेय, वायु, पदार्थोमें भी आस्रव आदिकी व्यवस्था है। बुभुक्षित जीव भोजन करता है (जीव) बहुभाग आहारवर्गणायें जिनमें मिली हुयी हैं ऐसे मोदक, चावल, रोटी, दाल, दुग्ध, घृत, फल, घास, अमृत, मिट्टी, आदि पौद्गलिक पदार्थोका भोजन किया जाता है (अजीव)। मुखके द्वारा भोज्य पदार्थोका आहार करता है, कवलाहारके अतिरिक्त लेप, ओज आदि आहारोंको शरीरके अन्य अवयवोंके द्वारा भी ग्रहण करता है (आस्रव)। आहार

किये गये पदार्थका शरीरमें भीतर जाकर बन्ध हो जाता है, बन्ध हुए विना मोदक आदि पदार्थोंके रस, रुधिर आदि नहीं बन सकते हैं। चांदीकी चौअन्नी या पैसेको लील जानेसे मनुष्यमें उसके रस, रुधिर, आदिक नहीं बन पाते हैं। क्योंकि उनका उदरमें बन्ध नहीं हुआ है, सांपके विषको पसोमें भर भी लिया जावे, तो, संयोगमात्रसे वह मूर्छा करने रूप अपने कार्यको नहीं करता है। हाथमें थोडीसी सुई प्रविष्ट कर दी जावे तो रक्तके साथ विषका बन्ध हो जानेसे बडी भारी क्षति हो जाती है। कोई कोई पदार्थ इतने शक्तिशाली होते हैं कि संयोग होते ही बन्ध जाते हैं और अपना फल दे देते हैं। अभिप्राय यह है कि जो भोज्य पदार्थ शरीरमें संयुक्त होनेके पीछे बन्ध जावेगा, उस पदार्थका फल अवयव बनाना या सुख, दुःखका अनुभव कराना हो जावेगा। संयोग और बन्धमें भारी अन्तर है। श्री सिद्ध भगवान्के साथ सिद्धक्षेत्रमें फैली हुई कार्मणवर्गणाओंका संयोग है। बन्ध नहीं है। कपोत (कबूतर) आदि पक्षियों करके खायी हुयी कक्कडी और पथरीसे भी रस रुधिर आदिक बन जाते हैं। कोई कोई जीव लोहे चांदी आदिका आहार कर अपना शरीर बना लेते हैं। भिन्न भिन्न जीवोंका आहार्य पदार्थ भिन्न प्रकारका है, किंतु उन सबमें आहार वर्गणायें अवश्य हैं (बन्ध)। खाद्य या आहार्य पदार्थका कुछ समयों तक आस्रव होना रुक भी जाता है। वृक्ष, चींटी, मक्खी, डांस, पक्षी, मनुष्य, देव, नारकी जीव भी कुछ देर तक स्थूल खानेको रोक देते हैं (संवर)। उदराग्निसे पचाकर निस्सार भागका एक देश क्षय होना भी होता है (निर्जरा)। मल, मूत्र, आदिके द्वारोंसे विशेष अवयवोंमें एकत्रित हुआ वह निस्सार खाद्य पदार्थ पूर्ण निकल जाता है। मृत्युके समय तो सम्पूर्ण स्थूल शरीरकी मोक्ष हो जाती है (मोक्ष)। यही क्रम भाषा वर्गणा तथा आहार वर्गणाके कुछ भागसे बने हुए वचन और श्वासमें भी लागू हो जाता है। किंतु स्वात्मलब्धिरूप मोक्षके प्रकरणमें कर्मोंके आस्रव, बन्ध आदिक तत्त्व ही प्रधानरूपसे लिये गये हैं। कर्मोंके संवर, निर्जरा, और मोक्ष होनेपर ही नोकर्मके संवर आदि भी ठीक हैं, अन्यथा किसी कामके नहीं।

निर्वचनं च जीवादिपदानां यथार्थानतिक्रमात्। तत्र भावप्राणधारणापेक्षायां जीवत्य जीवीज्जीविष्यतीति वा जीवः, न जीवति नाजीवीत् न जीविष्यतीत्यजीवः।

जीव आदिक पदोंका व्याकरण द्वारा प्रकृति प्रत्ययसे प्रयोग साधन तो यथार्थ आर्षमार्गका अतिक्रमण न करते हुए कर लेना चाहिए। तिनमें सबसे पहिले जीव शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है कि सुख, चैतन्य, सत्ता स्वरूप भावप्राणोंके धारण करनेकी अपेक्षा करते हुए जो जी रहा है जीवित रह चुका है और भविष्यमें जीवेगा वह जीव है। इस प्रकार " जीव प्राणधारणे " इस भ्वादि गणकी धातुसे कर्तामें क प्रत्यय करनेपर जीव शब्द निष्पन्न होता है। दस प्रकारके द्रव्य प्राणोंमेंसे यथायोग्य चार, छह, सात, आठ, नौ, दस प्राणोंका धारण करना यदि जीवका लक्षण कहा जाता तो अव्याप्ति दोष आता है। किन्तु भावप्राणोंको धारण करना लक्षण करनेसे सिद्ध भगवानोंके भी जीवका लक्षण घटित हो जाता है। जीवसे भिन्न तत्त्व कहे गये अजीवका लक्षण यह

है कि जो भावप्राणोंको नहीं धारण करता हुआ नहीं जी रहा है, न जी चुका है, और न जीवेगा इस कारण वह अजीव है। जीव शब्दके साथ नञ् पदका तत्पुरुषसमास करके अजीव शब्द बनाया गया है।

आस्रवत्यनेनास्रवणमात्रं वास्रवः, बध्यतेऽनेनबन्धमात्रं वा बन्धः, संव्रियतेनेन संवरणमात्रं संवरः, निर्जीर्यतेनया निर्जरणमात्रं वा निर्जरा, मोक्ष्यतेऽनेन मोक्षणमात्रं वा मोक्ष इति करणभावापेक्षया।

आस्रव आदि शब्दोंकी निरुक्ति तो करण और भावकी अपेक्षासे है। आत्मा जिस परिणाम करके कर्मोंका आस्रव करता है उसको या कर्मोंके केवल आनेको आस्रव कहते हैं। आङ् उपसर्गपूर्वक " स्रु गतौ " इस भ्वादिगणकी धातुसे अच् प्रत्यय करनेपर आस्रव शब्द बनता है। यह लक्षण भावास्रव और द्रव्यास्रव दोनोंमें चला जाता है। जिन परिणामों करके जीव बांधता है अथवा कर्म और जीवका क्षीरनीरके समान बन्धजाना ही बन्ध है। इस निरुक्तिसे भावबन्ध और उभयबन्धमें लक्षण घटित हो जाता है। " बन्ध बन्धने " इस क्र्यादि गणकी धातुसे करण या भावमें घञ् प्रत्यय करनेपर बन्ध शब्द गढा जाता है। संवरण किया जाय जिस करके अथवा संवरण यानी आनेवाले कर्मोंका रुक जाना मात्र संवर है। सम् उपसर्ग पूर्वक " वृञ् वरणे " इस स्वादि गणकी धातुसे करण या भावमें अप् प्रत्यय करनेपर संवर शब्द बना लिया जाता है, भाव संवर और द्रव्य संवर दोनों इसके लक्ष्य हैं। जिस परिणाम करके कर्मोंकी निर्जरा होती है अथवा आत्मासे कर्मोंका झडजाना मात्र निर्जरा है। निर् उपसर्ग पूर्वक " जृष् वयोहानौ " इस दिवादि गणकी धातुसे करण या भावमें अङ् प्रत्यय करनेपर स्त्रीत्वकी विवक्षामें टाप् प्रत्ययकर निर्जरा शब्द व्युत्पन्न होता है। यहां भी आत्माके परिणामरूप भावनिर्जरा तथा आत्मा और कर्म दोनोंमें रहनेवाले विभाग रूप द्रव्यनिर्जराका संग्रह हो जाता है। " मोक्ष असने " इस चुरादि गणकी धातुसे करण या भावमें घञ् प्रत्यय करनेपर मोक्षपद बनता है आत्माके जिन रत्नत्रयरूप परिणामों करके आत्मा मुक्तिलाभ कर लेता है वह मोक्ष है। अथवा प्रकृत जीव और पुद्गलद्रव्यका पूर्णरूपसे छूट जाना मात्र मोक्ष है। इस प्रकार आस्रव आदि शब्दोंकी करण और भावकी अपेक्षासे निरुक्ति करदी गयी है। शास्त्र परिपाटीसे चले आये हुए अर्थ इन शब्दोंके वाच्य हैं। प्रकृति, प्रत्यय, से जो कुछ आर्ष मार्गके अनुकूल अर्थ निकल आवे वह मध्यमें सेंतमेंतका लाभ है। रूढि और पारिभाषिक शब्दोंमें व्याकरणके अनुसार निरुक्ति करना केवल शब्दोंकी साधुताका प्रयोजक है। अर्थसे उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् जीव आदिक शब्द बिगडे हुए या अपभ्रंश नहीं हैं। किन्तु व्याकरण शास्त्रसे संस्कार किये गये संस्कृत शब्द हैं।

क्रमो हेतुविशेषात्स्याद्द्वन्द्ववृत्ताविति स्थितेः।
जीवः पूर्वं विनिर्दिष्टस्तदर्थत्वाद्वचोविधेः ॥ २० ॥

अनेक शब्दोंका परस्परमें समास करनेपर समासविधायक सूत्रोंमें प्रथमा विभक्तिसे कहे गये पद पूर्वमें प्रयोग किये जाते हैं, जैसा कि चौराद् भयं=चौरभयं यहां " पञ्चमी भयेन " इस सूत्र से प (तत्पुरुष) समास हुआ है। सूत्रमें प्रथमा विभक्तिसे का (पञ्चमी) कही गयी है। अतः का विभक्तिवाला चौर शब्द प्रथम बोला जावेगा, किन्तु द्वन्द्वसमासमें समान विभक्ति वाले ही अनेक पद होते हैं। सबका परस्परमें समास (मिल जाना) है। ऐसी दशामें वहां किस शब्दका पहिले प्रयोग किया जावे इसके लिये व्याकरणमें अनेक विशेषसूत्र बनाये गये हैं, जैसे कि अल्प अच्वाला पद या स्यन्त (घ्यन्त) अथवा पूज्य पद पूर्वमें प्रयोग किया जावेगा। एक घडेमें जौ, चना, कङ्कडी और ज्वारके फूला डालकर पुनः उस घडेको हिलाकर सब पदार्थोंको मिला दिया जावे, ऐसी दशामें भारी पत्थर या कंकडी सबसे नीचे मिलेगी। उससे हलकी वस्तु उसके ऊपर मिलेगी, सबसे ऊपर फूला मिलेंगे, यह वस्तुस्थिति है। इसी प्रकार जीव, अजीव आदिक पदोंका द्वन्द्वसमास (एकत्र कर संचालन कर देना) कर देनेपर पहिले किस पदका प्रयोग करना चाहिये ? इसकेलिये आचार्य महाराज यों व्यवस्था करते हैं कि व्याकरण शास्त्रमें वृत्तियां पांच प्रकारकी मानी गयी हैं। कृत्, तद्धित, समास, धातु, एकशेष। यहां प्रकृतमें द्वन्द्वसमास नामक वृत्ति है। जीव और अजीव और आस्रव और (च) बन्ध और संवर और निर्जरा और मोक्ष ऐसा या आस्रव और बन्ध और जीव और मोक्ष और अजीव आदि रूप चाहे जैसा अंटसंट आगे पीछे पदोंका प्रयोग करनेपर ऐसी स्थितिमें विशेष हेतुओंकी सामर्थ्यसे सूत्रमें लिखे अनुसार पदोंकी आनुपूर्वीका ही क्रम ठीक बैठेगा। भोजन करते समय खीर, खिचडी, आम, अंगूर आदि आगे पीछे चाहे जितने पदार्थ जीमलें, पचते समय पेटमें ठीक ठीक क्रम बन जावेगा। घडेमें भरे हुए भिन्न पदार्थोंका भारीपन और लघुपन होनेके कारण पदार्थ शक्तिका जैसे उल्लंघन नहीं हो पाता है। कवि सम्प्रदायके अनुसार पुरुषका वर्णन ऊपरके अंगोंसे लेकर पावोंतक किया जाता है और काव्य पुराणोंमें स्त्रियोंका वर्णन पावोंसे लेकर उत्तमाङ्ग (सिर) पर्यन्त किया जाता है, इसमें भी ज्ञाता द्रष्टाओंके परिणामानुसार व्यवस्था समझनी चाहिये। उत्तम पुरुषको पुरुष देखे या स्त्री देखे, उनकी दृष्टि सबसे प्रथम ऊपरके अङ्ग मस्तक, मुख, वक्षःस्थलपर जाती हुयी नीचे अंगोंतक पीछे पहुंचेगी। तथा स्त्रीजनोंको पुरुष देखे या स्त्री देखे, उन सबकी दृष्टि स्त्रीके पगोंकी ओर सबसे प्रथम जावेगी। पीछे नीचेसे प्रारम्भकर ऊपरके अवयवोंका चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा। वैसे ही पदोंका संकलन करनेपर शब्द शक्तिके अनुसार विशेष कारणोंसे उन पदोंका शास्त्रोक्त क्रम घटित हो जाता है। कोई पोल नहीं है कि चाहे जिस पदको अपनी इच्छानुसार चाहे जहां आगे पीछे बोल दिया। बुद्धिशाली पुरुषोंके उच्चारण किये गये आगे पीछेके वाक्योंमें रहस्य भरा रहता है। प्रकरणमें यह बात है कि सातों तत्त्वोंका द्वन्द्वसमास करनेपर सबसे पहिले जीव तत्त्वका विशेष रूपसे कथन किया गया है। क्योंकि सम्पूर्ण वचनोंकी या शास्त्रोंकी प्रवृत्ति होना उस जीवके लिये ही

है। सार्थक वचन जीवके समझानेके लिये ही कहे जाते हैं। अजीव, आस्रव, आदिकी विधि भी जीव नामक प्रभुके लिये ही है।

तदुपग्रहहेतुत्वादजीवस्तदनन्तरम् ।
तदाश्रयत्वतस्तस्मादास्रवः परतः स्थितः ॥ २१ ॥
बन्धश्चास्रवकार्यत्वात्तदनंतरमीरितः ।
तत्प्रतिध्वंसहेतुत्वात्संवरस्तदनन्तरम् ॥ २२ ॥
संवरे सति सम्भूतेर्निर्जरायास्ततः स्थितिः ।
तस्यां मोक्ष इति प्रोक्तस्तदनन्तरमेव सः ॥ २३ ॥

उस जीवके शरीर, मन, श्वासोच्छ्वास, गमन, स्थिति, अवगाह, वर्त्तना, रूप उपकारोंका कारण होनेसे उस जीवके अनन्तर अजीवका कथन किया है। यहां उपकार्य उपकारकभाव सम्बन्ध है। उन जीव और अजीवके आश्रयपनेसे आस्रव होता है। तिस कारण अजीवसे परली ओर आस्रव पद ठहरा हुआ है। यहां आश्रयण आश्रयिभाव सम्बन्ध है। तथा आस्रवका कार्य बन्ध है अतः सूत्रमें उस आस्रवके अनन्तर बन्ध कहा गया है आस्रव और बन्धमें कार्यकारण भाव संगति है। आस्रवके प्रतिकूल उस आस्रवके ध्वंसका अथवा बन्धके अभावका कारण होनेसे उस बन्धके पीछे संवरका प्रयोग किया गया है। यहां प्रतिनारायण नारायणके समान अथवा राम रावणके सदृश प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भावसम्बन्ध है। संवरके हो जानेपर मोक्षके उपयोगी होरहा निर्जरातत्त्व भले प्रकार उत्पन्न होता है। तिस कारण तिस संवरके पीछे निर्जरा कही गयी है। यहांपर पूर्वापरभाव या प्रयोज्य प्रयोजकभाव सम्बन्ध व्यवस्थित है। उस निर्जराके हो जानेपर मोक्ष होती है। इस कारण उसके अनन्तर ही प्रसिद्ध मोक्ष तत्त्व कहा गया है। यहां कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार सात तत्त्वोंके क्रमसे कथन करनेमें सूत्रकारका स्वरस (अभिप्राय) प्रगट कर दिया है ।

जीवादिपदानां द्वन्द्ववृत्तौ यथोक्तः क्रमो हेतुविशेषमपेक्षतेऽन्यथा तन्नियमायोगात् । तत्र जीवस्यादौ वचनं तत्त्वोपदेशस्य जीवार्थत्वात् ।

जीव आदि पदोंकी द्वन्द्वसमास नामक वृत्तिके होनेपर शास्त्रमें यथार्थरूपसे कहा गया जो क्रम है (पक्ष) है सो विशेष हेतुओंकी अपेक्षा रखता है (साध्य) यदि ऐसा न माना जाकर दूसरे प्रकारसे माना जावेगा तो पदोंके ठीक ठीक आगे पीछे बोलनेका नियम नहीं नहीं बन सकेगा (हेतु)। अर्थात् कोई भी पद कहीं भी बोला जासकेगा। कुछ भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। एक व्याख्याता या वाक्कील (वकील) भी अपने वक्तव्य प्रमेयको ठीक संदर्भसे बोलता हुआ ही सुनने वालोंपर प्रभाव जमा सकता है। मोतियोंकी कण्ठीमें या रत्नमालामें योजना समीचीन होनी चाहिये।

तद्वत् शब्दसामर्थ्यसे उन जीव आदिक पदोंके उच्चारण करनेपर सबके आदिमें जीवका कथन करना होगा। क्योंकि जितना कुछ भी तत्त्वोंका उपदेश है वह सब जीवके लिये उपयोगी है। भावार्थ—तत्त्वोंके कहनेका, सुननेका और पालन करनेका अधिकार और स्वामित्व सब जीव तत्त्वको ही प्राप्त है।

प्रधानार्थस्तत्त्वोपदेश इत्ययुक्तं, तस्याचेतनत्वात् तत्त्वोपदेशेनानुग्रहासम्भवात् (दू) घटादिवत्। सन्तानार्थः स इत्यप्यसारं, तस्यावस्तुत्वेन तदनुग्राह्यत्वायोगात्। निरन्वयक्षणिकचित्तार्थस्तत्त्वोपदेश इत्यप्यसम्भाव्यं, तस्य सर्वथा प्रतिपाद्यत्वानुपपत्तेः, संकेतग्रहणव्यवहारकालान्वयिनः प्रतिपाद्यत्वप्रतीतेः।

यहां कापिल (सांख्य) कहते हैं कि तत्त्वोंका उपदेश करना आत्माकोलिये नहीं है। किन्तु सत्त्वरजस्तमोरूप प्रकृतिके लिये है। प्रकृति ही उपदेश देती है। प्रकृति ही उपदेशको सुनती है। और प्रकृति ही अपनेमें ज्ञानको उत्पन्न करती है, फिर आप जैनोंने तत्त्वोपदेशको आत्माके लिये कैसे कहा? बताओ। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार सांख्योंका कहना युक्तियोंसे शून्य है। क्योंकि वह प्रकृति अचेतन (जड) है। तत्त्वोपदेशसे जड पदार्थका उपकार होना घट, पट आदिके समान असम्भव है। वास्तवमें जीवके लिये ही उपदेश देना उपयोगी है।

बौद्ध कहते हैं कि वह तत्त्वोपदेश क्षणिक चित्तोंकी सन्तान (लडी) के लिये उपयोगी है। भले ही व्यक्तियां नष्ट होजावें, किन्तु सन्तान तो बनी रहेगी। देशके सेवक अपने लिये नहीं किन्तु भविष्य सन्तानके लिये परोपकारमें लगरहे हैं। आचार्य बोलते हैं कि बौद्धोंका इस प्रकार कहना भी साररहित है। क्योंकि उस सन्तानको बौद्धोंने वास्तविक अर्थ नहीं माना है। अनेक पहिले पीछे उत्पन्न हुए और होनेवाले क्षणोंका समुदाय सन्तान है, किन्तु सौगत लोगोंने एक क्षणवर्ती स्वलक्षण या विज्ञानको ही वास्तविक तत्त्व माना है। अतः सन्तानको अवस्तुपना हो जानेके कारण उसको उपकार्यपना नहीं बनता है जो अश्वविषाणके समान है ही नहीं, उपकारक तत्त्वोपदेश उस असत्का भला क्या उपकार कर सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। पुनः बौद्ध कहते है कि कुछ भी अन्वय नहीं रहते हुए क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाले विज्ञानरूप चित्तके लिये तत्त्वोपदेश है। ग्रन्थकार बतलाते हैं कि यह कहना भी नहीं सम्भवता है। क्योंकि केवल एक समय ही जीवित रहनेवाले उस चित्तको प्रतिपाद्यपना (श्रोतापना) सभी प्रकारोंसे सिद्ध नहीं होता है। जो श्रोता संकेतकालसे लेकर व्यवहार कालतक अन्वयरूपसे विद्यमान रहता है, उसको समझाने योग्यपना (शिष्यत्व) प्रतीत होरहा है। भावार्थ—अनुभवी वृद्धके निकट अन्य उपायोंसे "इस शब्दके द्वारा यह अर्थ समझ लेना चाहिये" इस प्रकार शब्द और अर्थके साथ वाच्यवाचक सम्बन्धको ग्रहण करनेका समय संकेतकाल कहा जाता है और संकेतग्रहणके अनुसार उस शब्दके द्वारा पीछे समयोंमें व्यवहार करनेको व्यवहारकाल कहते हैं। जिस मनुष्यने श्रृंग [सींग], सासना [गलकम्बल] वाली व्यक्तिमें

गो शब्दकी प्रवृत्ति होनेका संकेत किया है वह पुरुष व्यवहार करते समय विद्यमान होगा, तब तो गो शब्दसे गौ रूप अर्थकी प्रतीति हो सकेगी। किन्तु संकेतकर शीघ्र मरजानेवाले मनुष्यको पीछे उस शब्दसे अर्थकी प्रतीति नहीं होती है। देवदत्तके संकेत ग्रहणसे यज्ञदत्तको अर्थकी प्रतीति नहीं होपाती है। अतः सिद्ध होता है कि अनेक क्षणोंतक ठहरनेवाले आत्माके लिये ही तत्त्वोपदेश उपयोगी है।

चैतन्यविशिष्टकायार्थस्तत्त्वोपदेश इति चेत्, तच्चैतन्यं कायात्तत्त्वान्तरमतत्त्वान्तरं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, बन्धं प्रत्येकतामापन्नयोः कायचैतन्ययोर्व्यवहारनयाज्जीवव्यपदेशसिद्धेः, निश्चयनयात्तु चैतन्यार्थ एव तत्त्वोपदेशः, चैतन्यशून्यस्य कायस्य तदर्थत्वाघटनात्। द्वितीयपक्षे तु कायानर्थान्तरभूतस्य चैतन्यस्य कायत्वात्काय एव तत्त्वोपदेशेनानुगृह्यत इत्यापन्नं, तच्चायुक्तमतिप्रसंगात्। ततो जीवार्थ एव तत्त्वोपदेश इति नासिद्धो हेतुः।

अब कोई चार्वाकका पक्ष लेते हुए कहते हैं कि चैतन्यसे सहित हो रहे शरीरके लिए तत्त्वोपदेश होता है। अतः शरीररूप अजीव तत्त्वका सूत्रमें सबसे पहिले प्रयोग करना चाहिये। जीवका नहीं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि आप शरीरको जिस चैतन्यसे सहित कह रहे हैं वह चैतन्य क्या शरीरसे भिन्न निराला स्वतंत्र तत्त्व है ? या शरीररूप ही चैतन्य है, अन्य तत्त्व नहीं ? बताओ। यदि आप पहिला पक्ष स्वीकार करेंगे तो आपके ऊपर सिद्धसाधन दोष होता है क्योंकि बन्धके प्रति एकताको प्राप्त हो रहे शरीर और चैतन्य दोनोंको व्यवहारनयसे जीव ऐसा नामकथन सिद्ध होरहा है। भावार्थ—जितने संसारी जीव हैं वे सभी शरीर और आत्मा दो द्रव्योंसे मिलकर बना हुआ अशुद्ध द्रव्यरूप पदार्थ है। दो द्रव्योंका बन्ध हो जानेपर दोनों अपने स्वभावसे च्युत हो जाते हैं और तीसरी ही दही, गुडके पिण्ड समान अवस्थाको धारण कर लेते हैं। सिद्धांत ग्रन्थोंमें कहा है कि 'बन्धं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स णाणत्तं' बन्धकी अपेक्षासे दोनों द्रव्य एक हैं और लक्षणसे या निश्चय नयसे दोनों न्यारे न्यारे द्रव्य हैं। सिद्ध भगवान् शरीर न होनेके कारण न तो उपदेश देते हैं और वे उपदेशका श्रावण प्रत्यक्ष भी नहीं करते हैं। केवल ज्ञान द्वारा सबके ज्ञाता हैं। अतः शरीर सहित संसारी जीव ही उपदेश सुननेके पात्र हैं। संसारी जीवके कान, मन, संकेतको ग्रहण करना, आदि विद्यमान हैं। यों जैनसिद्धान्तके अनुसार चैतन्यविशिष्ट शरीरके लिए तत्त्वोपदेश करना होता है, यह हमको इष्ट है। अतः आप चार्वाक सिद्धका ही साधन कर रहे हैं [यह दोष हुआ] । हां ! निश्चयनयसे विचार किया जावे तब तो चैतन्य (आत्मा) के लिये ही तत्त्वोपदेश है। जो मृतशरीर चैतन्यसे रहित है उसकेलिये उपदेश सुननेकी योग्यता नहीं घटित होती है। अतः जीवके लिये ही तत्त्वोपदेश उपयोगी है। तभी तो जीवका आदिमें प्रयोग किया है। यदि आप चार्वाक दूसरा पक्ष लेंगे यानी चैतन्य और शरीरको अभिन्न मानेंगे तब तो कायसे अभिन्न मान लिये गये चैतन्यको ही कायपना होनेके कारण काय ही तत्त्वोप-

देशके द्वारा उपकृत होती है ऐसा कहना प्राप्त हुआ किन्तु वह कहना तो युक्त नहीं है। क्योंकि अतिप्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—जड शरीरके लिये ही तत्त्वोपदेश यदि उपयोगी होगा तो मृत शरीर अथवा घट, पट, गृह आदि भी उपदेशको प्राप्त करनेके पात्र बन जावेंगे। जो कि दोनों ओरसे उपदेशके योग्य नहीं माने गये हैं। तिस कारण सिद्ध होता है कि जीवके लिये ही तत्त्वोंका उपदेश होता है इस प्रकार जीव पदको आदिमें कहनेकेलिये दिया गया हमारा हेतु असिद्ध नहीं है। तत्त्वोपदेश जीवके लिये ही है यह बात अच्छे प्रकारसे सिद्ध कर दी गयी है।

जीवादनन्तरमजीवस्याभिधानं तदुपग्रहहेतुत्वात्। धर्माधर्माकाशपुद्गलाद्यजीवविशेषा असाधारणगतिस्थित्यवगाहवर्तनादिशरीराद्युपग्रहहेतवो वक्ष्यन्ते।

जीवसे अव्यवहित पीछे अजीवका कथन है। क्योंकि उस जीवका उपकार करनेवाला कारण अजीव पदार्थ है। जीवके पीछे अजीवको कहनेमें उपकार्य उपकारक भाव सम्बन्ध प्रयोजक है। अजीवके विशेष भेद तो धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और आदि पदसे काल ये पांच हैं। कालद्रव्यके असंख्यात और पुद्गलके अनन्त ये अवान्तर भेद हैं। धर्म द्रव्यका असाधारण उपकार जीव और पुद्गलकी गति करनेमें उदासीन कारण होता है। और अधर्म द्रव्यका असाधारण उपकार जीव आदि दो अथवा छहों द्रव्योंकी स्थिति रखनेमें उदासीन कारणपना है। तथा आकाश द्रव्यका उपकार सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाह देना है। कालद्रव्यका उपकार सम्पूर्ण द्रव्योंकी वर्त्तना कराना है। सम्पूर्ण द्रव्य स्वभावसे वर्त्तन करते हैं, किन्तु चाकके घूमनेमें कीलके समान सब द्रव्योंके वर्तनमें उदासीन प्रेरक काल द्रव्य है। प्रत्येक समयमें अपनी सत्ताका अनुभव करती हुयी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, से रहित होरहे द्रव्योंकी प्रत्येक पर्यायका परिवर्तनरूप परिणतिको वर्तना कहते हैं। परिणाम (अपरिस्पन्द) क्रिया (परिस्पन्द) परत्व, अपरत्व, (आयुष्यसे किया गया बडा छोटापन) ये भी काल (व्यवहार काल) के उपकार हैं, यह आदि पदका अर्थ समझा जाय। शरीर, वचन, आठ पत्तोंसे विकसित हुये कमलके समान हृदयमें बना हुआ द्रव्यमन, श्वास उत्श्वास, सुख दुःख आदि उपकार तो पुद्गलद्रव्यके द्वारा जीवको प्राप्त होते हैं। इन उपकारोंके कारण धर्म आदिक द्रव्य पांचवें अध्यायमें ग्रन्थकारके द्वारा स्वयं स्पष्टरूपसे निरूपित किये जावेंगे।

द्रव्यास्रवस्याजीवविशेषपुद्गलात्मककर्मास्रवत्वादजीवानन्तरमभिधानं, भावास्रवस्य जीवाजीवाश्रयत्वाद्वा तदुभयानन्तरम्।

पांचप्रकारके अजीवोंमें एक विशेषद्रव्य पुद्गल है। कर्म नोकर्मका आगमनरूप द्रव्यास्रव पुद्गल रूप है। कर्म, नोकर्म, पुद्गलरूप हैं। उनका आना उन्हींका पर्याय है। जैसे कि देवदत्तका आना देवदत्तका ही परिणाम है। पर्यायीसे पर्याय अभिन्न है। इस कारण अजीवके अनन्तर आस्रवतत्त्वका कथन किया है। और मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय अथवा काययोग, वचनयोग, मनोयोग ये भावास्रव हैं। जीव और अजीव दोनों द्रव्योंका आश्रय लेकर उक्त भाव उत्पन्न होते हैं इस कारणसे

भी उन जीव और अजीव दोनोंके अनन्तर आस्रवका निरूपण है। अजीवके पीछे आस्रवतत्त्वको कहनेमें एकदेश तदात्मक सम्बन्ध घटक है, अथवा आश्रयाश्रयीभाव सम्बन्ध है।

सत्यास्रवे बन्धस्योत्पत्तेस्तदनन्तरं तद्वचनं, आस्रवबन्धप्रतिध्वंसहेतुत्वात् संवरस्य तत्समीपे ग्रहणम्।

आस्रवके होनेपर बन्धकी उत्पत्ति होती है, अतः आस्रवके अव्यवहित पीछे बन्ध तत्त्वका प्ररूपण है। यहां कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। यद्यपि आस्रव और बन्धका एक समय है, फिर भी आगे पीछे होनापन है। विस्रसोपचयका या आत्माके उसी देशमें पडी हुई कार्मणवर्गणाओंका भी आस्रव होकर ही बन्ध हो पाता है, समान समयमें भी दीप और प्रकाशके समान कार्यकारणभाव कथंचित् मान लिया है। आस्रव और बन्ध इन दोनोंके नाशका कारण होनेसे उनके समीपमें संवर तत्त्वका ग्रहण किया है। यहां संयोगिकत्व या प्रतिकूलत्व सम्बन्ध योजक है।

सति संवरे परमनिर्जरोपपत्तेस्तदन्तिके निर्जरावचनं, सत्यां निर्जरायां मोक्षस्य घटनात्तदनन्तरमुपादानम्।

साधारणनिर्जरा भले ही चाहे जब हो जावे अथवा संवरके विना भी हो जावे किन्तु परमनिर्जरा तो संवरके होनेपर ही सिद्ध होती है, इस कारण उस संवरके निकट निर्जराका वचन किया है, यहां अन्यथानुपपत्ति दोनों तत्त्वोंका घटकावयव (संयोजिका) है। विशिष्ट निर्जराके ही होनेपर मोक्षकी प्राप्ति घटित होती है। अतः उस निर्जराके पीछे मोक्षका ग्रहण किया है, यहां कार्यकारणप्रत्यासत्ति है।

मोक्षपरमनिर्जरयोरविशेष इति चेतसि मा कृथाः, परमनिर्जरणस्यायोगकेवलिचरमसमयवर्तित्वात्तदनन्तरसमयवर्तित्वाच्च मोक्षस्य। य एवात्मनः कर्मबन्धविनाशस्य कालः स एव केवलत्वाख्यमोक्षोत्पादस्येति चेत् न, तस्यायोगकेवलिचरमसमयत्वविरोधात् पूर्वस्य समयस्यैव तथात्वापत्तेः, तस्यापि मोक्षत्वे तत्पूर्वसमयस्येति सत्ययोगकेवलिचरमसमयो व्यवतिष्ठेत, न च तस्यैव मोक्षत्वे अतीतगुणस्थानत्वं मोक्षस्य युज्यते चतुर्दशगुणस्थानान्तःपातित्वानुषङ्गात्।

यहां किसी की शंका है कि मोक्ष और परमनिर्जरामें कोई अन्तर नहीं है, सम्पूर्ण कर्मोंका झड जाना परमनिर्जरा है और मोक्ष भी सम्पूर्णकर्मोंका ध्वंस होजानारूप है। अतः इन दोनों तत्त्वोंमें कोई भिन्नता नहीं दीखती है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकारकी शंकाको चित्तमें नहीं करना, क्योंकि अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें परमनिर्जरा वर्ते है और उस समयके अव्यवहित पीछे समयमें मोक्ष वर्तती है। भावार्थ——चौदहवेंके अन्तमें परमनिर्जरा होती है और गुणस्थानोंके समयका अतिक्रमण कर पीछे झट मोक्ष होजाती है। परम निर्जरा और मोक्षमें एक समयका अन्तर है। निर्जरा कारण है और मोक्ष कार्य है। निर्जरा गुणस्थानोंमें होती

है और मोक्ष गुणस्थानोंसे अतीत है। यदि कोई यों कहे कि जो ही आत्मा सम्बन्धी कर्मबन्धोंके क्षयका काल है और वही काल तो पुद्गलसे सर्वथा भिन्न होकर अकेले केवल आत्माका रह जाना नामक मोक्षके उत्पादका भी है, अतः यों तो निर्जरा और मोक्षका एक ही समय सिद्ध होता है। आपने दो समय कैसे कहे ? बताओ। आचार्य समझाते हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेपर उस परमनिर्जराको अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें वर्तनेका विरोध हो जावेगा। शंकाकारके कथनानुसार चौदहवेंके अन्तमें यदि मोक्ष होना माना जावे तो उसके पूर्व समयको ही यानी उपान्त्य समयको ही तिस प्रकार परमनिर्जराका काल कहनेका प्रसंग हो जायगा। यदि उस उपान्त्य समयमें होनेवाली परमनिर्जराको भी मोक्ष कहा जावेगा तो उससे भी पहिले समयमें परमनिर्जरा कहनी पडेगी। क्योंकि कार्यसे कारण एक समय पूर्वमें रहना चाहिये। प्रतिबन्धकोंका अभावरूप कारण भले कार्यकालमें रहता होय, किन्तु प्रेरक या कारक कारण तो कार्यके पूर्व समयमें विद्यमान होने चाहिये, इस प्रकार द्विचरम, त्रिचरम, चतुश्चरम आदि समयोंमें मोक्ष होनेका प्रसंग हो जावेगा, कुछ भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अतः यही व्यवस्था होना ठीक है कि अयोगकेवलीका चरम समय ही परम निर्जराका काल है और उसके पीछेका समय (काल) मोक्षका है। यदि चौदहवेंके उस अन्त समयको ही मोक्षका काल कह दिया जावेगा तो मोक्षका भी चौदहवें या चौदह गुणस्थानोंके भीतर पड जानेका प्रसंग होगा। गुणस्थानोंसे अतिक्रान्तपना मोक्षको युक्त न हो सकेगा। परन्तु सिद्धान्तमें मोक्षका समय गुणस्थानोंसे बाहिर माना गया है। गोमट्टसार जीवकाण्डमें लिखा हुआ है कि " गुणजीवठाणरहिया सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा। सेस णव मग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति " सिद्ध अवस्था ही मुक्त अवस्था है।

लोकाग्रस्थानसमयवर्तिनो मोक्षस्यातीतगुणस्थानत्वं युक्तमेवेति चेत्, परमनिर्जरातोन्यत्वमपि तस्यास्तु निश्चयनयादस्यैव मोक्षत्वव्यवस्थानात्। ततः सूक्तो जीवादीनां क्रमो हेतुविशेषः।

आक्षेपकार कहता है कि लोकमें सबसे ऊपर अग्रिम स्थान तनुवातवलयमें सवा पांचसे (५२५) धनुष मोटा और पैंतालीस लाख लम्बा चौडा गोल सिद्ध लोक है, मनुष्य लोकसे जाकर उस स्थानमें पहुंचनेका काल मोक्षका काल है। अतः मोक्षको गुणस्थानोंसे अतिक्रान्तपना युक्त ही है, हम भी मानते हैं। आचार्य बोलते हैं कि यदि इस प्रकार कोई कहेंगे तो इसी कारण उस मोक्षको परम निर्जरासे भिन्नपना भी हो जाओ। वास्तवमें देखा जावे तो निश्चय नयसे लोकके अग्रभागमें विराजमान होते समय ही मोक्षपनेकी व्यवस्था की गयी है और वह परम निर्जराके समयसे पीछे समयमें होनेवाला कार्य है। अतः परमनिर्जरासे मोक्ष तत्त्व भिन्न है, तिस कारण जीव आदिक सात तत्त्वोंके क्रमसे कथन करनेमें विशेषरूप करके हेतु अच्छे प्रकार कह दिये हैं। यहांतक उक्त चार वार्तिकोंका विवरण कर दिया है।

किं पुनस्तत्त्वमित्याह:—

फिर कोई शिष्य जिज्ञासा करता है कि वह तत्त्व क्या वस्तु है ? समझाइये, इस प्रकार प्रश्नकर्ताकी सविनय अभिलाषा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं—

तस्य भावो भवेत्तत्त्वं सामान्यादेकमेव तत् ।
तत्सामान्याश्रयत्वेन जीवादीनां बहुत्ववाक् ॥ २४ ॥
भावस्य तद्वतो भेदात् कथञ्चिन्न विरुध्यते ।
व्यक्तीनां च बहुत्वस्य ख्यापनार्थत्वतः सदा ॥ २५ ॥

सब पदार्थोंमें सामान्यपनेसे वर्तनेवाले सर्वादिगणमें तत् शब्द कहा गया है । तत् शब्दसे कोई भी विवक्षित अर्थ पकडा जाता है । उसका भाव (परिणमन) है वह तत्त्व कहा जाता है । सामान्य अपेक्षासे वह तत्त्व एक ही है । व्याकरण शास्त्रमें और लोकमें भावको एकपना माना गया है, जैसे देवदत्त जिनदत्त और इन्द्रदत्तका जाना यहां व्यक्ति तो अनेक हैं, किन्तु उनका गमन करना एक समझा जाता है। अनेक छात्रोंका अध्ययन करना एक समझा जाता है, तैसे ही व्यक्तिरूपसे उन अनेक पदार्थोंका भावतत्त्व भी एक है । तत्त्व शब्द नपुंसकलिंग है, प्रथमा विभक्तिका एक वचन है, उसके सामान्यरूपसे आशय होजानेके कारण या समानाधिकरणपनेसे जीव, अजीव आदि अनेकोंके बहुपनेको कहनेवाले प्रथमा विभक्तिके जस् प्रत्ययसे युक्त पदका प्रयोग किया गया है । अच्छी बात तो यह है कि वचन, लिंग, और विभक्ति इन तीनोंका ही उद्देश्य और विधेय दलोंमें सामानाधिकरण्य बन जावे, जैसे कि देवाश्चतुर्णिकायाः, द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः । किन्तु जो शब्द अजहल्लिंग हैं यानी बहुव्रीहिसमासके अतिरिक्त कहीं भी अपने लिंगको छोडते नहीं हैं अथवा भावप्रत्ययान्त शब्द हैं, जो कि प्रायः एकवचन ही बोले जाते हैं, उस स्थलपर वचन और लिंगके समानाधिकरणपनेका नियम नहीं घट सकता है । हां ! समान विभक्ति अवश्य होनी चाहिये । यहां उद्देश्य और विधेय दलमें प्रथमा विभक्ति पडी हुयी है । किन्तु उद्देश्य वाक्य पुल्लिंग है और विधेयपद नपुंसकलिंग है तथा उद्देश्य बहुवचन है और विधेय एक वचन है । प्रकृत सूत्रमें भावकी भाववान्से कथञ्चित् अभेदविवक्षा करनेपर समानाधिकरणपना विरुद्ध नहीं पडता है । अन्य स्थानोंमें यही प्रसिद्ध नियम लागू होगा कि भावका भावके साथ समानाधिकरणपना है जैसे कि " सम्यग्ज्ञानत्वं प्रमाणत्वम् " औष्ण्यमग्नित्वम् " अर्थात् सम्यग्ज्ञानपना ही प्रमाणपना है । उष्णता ही अग्निपना है । तथा भाववान्का भाववान्के साथ समानाधिकरण्य है । जैसे कि ज्ञानवान् आत्मा है, सींग सास्नावाली गौ है । जहां ही आत्मा है, वहां ही ज्ञानवान् है । जिस भूतलरूप अधिकरणमें गौ है उसी भूतलमें सींग सास्नावाली व्यक्ति भी है। स्याद्वादके विना धर्म और धर्मीका सामानाधिकरण्य नहीं बनता है । जैसे कि ज्ञान आत्मामें है और आत्मा शरीरमें है । उष्णता अग्निमें है और अग्नि

चूल्हेमें है, किन्तु जैनसिद्धान्तमें नैयायिकोंके समान भाव और भाववान्‌में सर्वथा भेद नहीं माना जाता है। अतः उष्णता और अग्निका तथा ज्ञान या आत्माका भी एकार्थ (समानाश्रयत्व) पना बन जाता है। तैसे ही भाववाची तत्त्व शब्दका भाववान्‌को कहनेवाले जीव आदिके साथ समानाश्रयता हो जाती है। कोई भी विरोध नहीं है। द्रव्यके गुण, पर्याय और स्वभाव उस आश्रयभूत द्रव्यसे अभिन्न हैं। फिर भी कथञ्चित् भेद है। घटत्व, पटत्व, आत्मत्व, आदि जातियां एकपनेसे ही प्रसिद्ध होरही हैं। अतः विधेय दलके तत्त्वशब्दको एक वचनान्त कहा है और देवदत्त, इन्द्रदत्त, घट, पट, पुस्तक आदि व्यक्तियें बहुतरूपसे सदा प्रसिद्ध हैं। इस कारण व्यक्तियोंका बहुपना प्रसिद्ध करनेके प्रयोजनकी अपेक्षासे समासके अन्तमें पडे हुए मोक्षपदको बहुवचन कहा है।

तस्य भावस्तत्त्वमिति भावसामान्यस्यैकत्वात्समानाधिकरणतया निर्दिश्यमानानां जीवादीनां बहुत्ववचनं विरुध्यत इति चेत् न, भावतद्वतोः कथञ्चिद्भेदादेकानेकयोरपि समानाधिकरण्यदर्शनात् सदसती तत्त्वमिति जातेरेकत्ववत् । सर्वदा व्यक्तीनां बहुत्वख्यापनार्थत्वाच्च तयोरेकवचनबहुवचनाविरोधः प्रत्येतव्यः ।

यहां कोई शंका करता है तिस अर्थका जो भाव है वह तत्त्व है। इस प्रकार जातिरूप समानपना भाव एक हुआ, अतः सामान्यवाची एक तत्त्वके समानाधिकरणपनेसे सूत्रमें कहे गये जीव आदिकोंका बहुत्व प्रतिपादक बहुवचनान्तपना कहना विरुद्ध हो जाता है। आचार्य बताते हैं कि ऐसा कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि भाव और भाववान्‌में कथञ्चित् भेद करनेसे एक और अनेक पदार्थोंमें भी समानाधिकरणपना देखा जाता है। जैसे कि सत् (भाव) और असत् (अभाव) दो ही तत्त्व हैं, यहां वैशेषिकोंने उद्देश्यदलमें द्विवचनान्त शब्द कहा है। और विधेयको एकवचनान्त कहा है। मीमांसकोंने " वेदाः प्रमाणम् " यहां चार वेदोंको उद्देश्य दलमें और सामान्यरूपसे एक प्रमाणको विधेयदलमें कहा है। इस प्रकार जैसे जातिमें एकपना अभीष्ट है, गेहूं अच्छा है, चना मन्दा है, पाप बुरा है, इस धनिकके पास पैसा है। सभीने यहां जातिकी अपेक्षासे एकवचन इष्ट किया है। तभी तो तत्त्वका एकवचनान्त प्रयोग है। उसीके समान घोडा, भैंसा आदि व्यक्तियोंका सदा बहुतपना है। उसी बातको समझानेके लिये जीव आदिकोंका बहुवचनान्त कहा है। उन उद्देश्य और विधेयको एकवचन तथा बहुवचन होनेसे जैनसिद्धांतके अनुसार कोई विरोध नहीं आता है। इस बातका विश्वास कर लेना चाहिये, यही बात पहिले सूत्रमें भी समझ लेनी चाहिये।

जीवत्वं तत्त्वमित्यादि प्रत्येकमुपवर्ण्यते ।
ततस्तेनार्यमाणोऽयं तत्त्वार्थः सकलो मतः ॥ २६ ॥

जीवका जो आत्मीय सम्पूर्ण परिणाम है वह जीवत्व तत्त्व है। अजीवका जो परिणमन है वह अजीवत्व है, इत्यादि। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्वमें वर्णन कर लेना चाहिये। तिस कारण उस

जीवत्व आदि तत्त्व करके प्राप्त करने योग्य या जानने योग्य यह जीव आदि अर्थ हैं । सो सम्पूर्ण ही तत्त्वार्थ माना गया है । जीवका स्वांश छूटना नहीं चाहिये । और परद्रव्यका बालाग्र भी ग्रहण न होना चाहिये ।

तस्य जीवस्य भावो जीवत्वं, अजीवस्य भावो अजीवत्वं, आस्रवस्य भावः आस्रवत्वं, बन्धस्य भावो बन्धत्वं, संवरस्य भावः संवरत्वं, निर्जरायाः भावो निर्जरात्वं, मोक्षस्य भावो मोक्षत्वम् । तत्त्वमिति प्रत्येकमुपवर्ण्यते, सामान्यचोदनानां विशेषेष्ववस्थानप्रसिद्धेः । तथा च जीवत्वादिना तत्त्वेनार्यत इति तत्त्वार्थो जीवादिः सकलो मतः श्रद्धानविषयः ।

उस जीवरूप तत्का भाव जीवत्व है । अजीवका स्वभाव अजीवत्व है । आस्रवका परिणाम आस्रवत्व है । बन्धकी परिणति बन्धत्व है । संवरका भाव संवरपना है । निर्जराका पर्याय होना निर्जरात्व है । और मोक्षका सामान्य भाव मोक्षत्व है । तत्पना ऐसा प्रत्येक पदार्थमें कह दिया जाता है । सामान्यके लिये कहे गये प्रेरक वाक्योंका विशेष व्यक्तियोंमें अवस्थित होकर चरितार्थ होना प्रसिद्ध हो रहा है । विद्यार्थी विनीत होते हैं, इस कथनसे भिन्न भिन्न विद्यार्थियोंमें विनय गुण प्रतिष्ठित किया जाता है और वैसा होनेपर फलितार्थ यह निकलता है कि जीवत्व, अजीवत्व आदि तत्त्वों करके जो गम्य होता है यों वह तत्त्वार्थ है । इस निरुक्ति करके संपूर्ण जीव आदिक सात तत्त्व सम्यग्दृष्टि जीवके श्रद्धानके विषय माने हैं । दूसरे सूत्रके आदि भागका भी यही निष्कर्ष (सार) है ।

जीव एवात्र तत्त्वार्थ इति केचित्प्रचक्षते ।
तदयुक्तमजीवस्याभावे तत्सिध्ययोगतः ॥ २७ ॥
परार्था जीवसिद्धिर्हि तेषां स्याद्वचनात्मिका ।
अजीवो वचनं तस्य नान्यथान्येन वेदनम् ॥ २८ ॥

इस प्रकरणमें अकेला जीव ही तत्त्वार्थ है, ऐसा कोई वादी प्रकर्षताके साथ बखान रहे हैं । उस ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना युक्तियोंसे रहित है, क्योंकि अजीव तत्त्वका अभाव मानने पर उस जीव तत्त्व (परब्रह्म) की सिद्धि होनेका अयोग है । अद्वैतवादी अपने मनमें स्वयं जीव रूप बनकर तो सन्तोष कर नहीं सकता है । अपने अन्य शिष्य और श्रोताओंको भी ब्रह्माद्वैतकी सिद्धि करानेके लिये और उनको तदात्मक होनेके लिये प्रयत्न अवश्य करेगा । अन्यथा उसके गुरु, माता, पिता, शिष्य जन, आदिमें (को) तद्रूप ब्रह्मकी सिद्धि न हो सकेगी । अतः उन ब्रह्माद्वैतवादियोंकी दूसरोंके लिये जीवतत्त्वकी ही सिद्धि करना वचनस्वरूप ही होगी । उसका वचन तो अजीव (जड) पदार्थ है अन्यथा यानी वचनको भी जीवरूप माना जावेगा तो अन्य आत्माओंके

द्वारा शब्दोंका ज्ञान न हो सकेगा। क्योंकि चेतनात्मक पदार्थ तो सर्वज्ञके अतिरिक्त विवक्षित एक ही आत्मा करके स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाने जाते हैं कान, चक्षु आदिकसे नहीं। जो बहिरिन्द्रियोंसे जाने गये हैं वे चेतनात्मक नहीं हैं। अचेतन पदार्थोंपर अनेक जीवोंको समानरूपसे जाननेका अधिकार प्राप्त है, चेतनात्मक पदार्थोंपर नहीं। देवदत्तके चेतनात्मक ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, चारित्र, ब्रह्मचर्य, सत्यव्रत आदिकोंका ज्ञान या अनुभव स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे देवदत्तको ही होता है, जिनदत्तको उनका प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान या आगमज्ञान भले ही कोई कर लें। सर्वज्ञ भी केवलज्ञानसे उनको भले ही जान लेवें। किन्तु स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे नहीं जान पाते हैं। अतः घट, पट, वचन आदि पदार्थ पौद्गलिक हैं। तभी तो अनेकोंके द्वारा प्रत्यक्षसे जाने जा रहे हैं।

अस्त्यजीवः परार्थजीवसाधनान्यथानुपपत्तेः। परार्थजीवसाधनं च स्यादजीवश्च न स्यादिति न शंकनीयं, तस्य वचनात्मकत्वाद्वचनस्याजीवत्वात् जीवत्वे परेण संवेदनानुपपत्तेः। स्वार्थस्यैव जीवसाधनस्य भावात्।

अजीव पदार्थ (पक्ष) है (साध्य) दूसरोंके लिए जीवकी सिद्धि करना अजीवके विना नहीं बन सकता है (हेतु)। यहां कोई साध्य और साधनमें अनुकूल तर्कका अभावरूप दोष उठाता है कि अन्योंके लिए जीव पदार्थकी सिद्धि हो जावे यानी हेतु रह जावे और अजीव पदार्थ न मानना पडे, अर्थात् साध्य न रहे। आचार्य समझाते हैं कि यह शंका तो नहीं करनी चाहिये। क्योंकि अन्योंके प्रति जीवको सिद्ध करानेवाला वचन (शब्द) रूप ही पदार्थ है और वह वचन अजीव पदार्थ है। यदि वचनको भी जीवतत्त्व माना जावेगा तो दूसरोंके द्वारा संवेदन होना न बन सकेगा। केवल अपने ही लिए जीव स्वरूप पदार्थ (वचन) से जीवकी सिद्धि होती रहेगी, जो कि व्यर्थ है। चेतनस्वरूप पदार्थ उसी एक ही जीवको ज्ञान करा सकते हैं, अन्यको नहीं। घट अचेतन है, पुष्पकी गन्ध अचेतन है। तभी तो अनेक जीव उनका चाक्षुष या घ्राणज प्रत्यक्ष कर लेते हैं। देवदत्तके सुखका, इच्छाका सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य जीव प्रत्यक्ष क्यों नहीं कर पाते ? इसका कारण यही है कि सुख आदिक परिणाम चेतनस्वरूप हैं। अतीन्द्रियदर्शी या स्वयं ही सुख आदिकोंका प्रत्यक्ष कर पाता है। इतर आत्मामें उनका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं।

परार्थं जीवसाधनमसिद्धमिति चेत्, कथं परेषां तत्त्वमत्यायनम् ? तदभावे कथं केचित्प्रतिपादकास्तत्त्वस्य परे प्रतिपाद्यास्तेषामिति प्रतीतिः स्यात्।

यदि कोई यों कहे कि दूसरोंके लिए जीवको सिद्ध करना असिद्ध है। यानी यह हेतु अजीव रूप पक्षमें नहीं वर्तता है, हमें दूसरोंके लिये जीवको सिद्ध ही नहीं करना है, ऐसा कहनेपर तो अद्वैतवादियोंके प्रति हमें कहना है कि तब दूसरेके प्रति अपने अभीष्ट होरहे ब्रह्मतत्त्वको कैसे समझाओगे ? बताओ। सभी लोग पेटमेंसे निकलते ही तो ब्रह्माद्वैतको स्वयं नहीं समझ लेंगे। अन्तमें वचन ही तो सबके समझानेका मुख्य उपाय है। उस समझाने और समझनेका भी अभाव यदि

आप मानेंगे तो कोई व्यास, गुरु, पिता, आदि तो ब्रह्मतत्त्वके बखाननेवाले प्रतिपादक हैं, शेष दूसरे अल्पबुद्धि शिष्य उनके उत्पन्न करने योग्य प्रतिपाद्य हैं, इस प्रकारकी प्रतीति उन अद्वैत वादियोंको कैसे होयगी ? जिससे कि वे नियत व्यक्तियोंको प्रतिपादक और कतिपय नियत जीवोंको प्रतिपाद्य कह सकें।

न जीवा बहवः सन्ति प्रतिपाद्यप्रतिपादकाः।
भ्रान्तेरन्यत्र मायादिदृष्टजीववदित्यसत् ॥ २९ ॥

अद्वैतवादी कहते हैं कि जगत्में जीवतत्त्व बहुत नहीं हैं। समझाने योग्य प्रतिपाद्य और समझानेवाले प्रतिपादक ऐसे भिन्न भिन्न जीव कोई नहीं हैं। भ्रमरूप विपर्ययज्ञानमें भले ही भेद दीखे या भिन्न जीव न्यारे न्यारे जाने जावें, जैसे कि तमारारोग वालेको एक आकाशके कैई पिण्डरूप खण्ड दीखते हैं, किन्तु वस्तुतः आकाश एक ही है। तैसे ही भ्रांतिज्ञानके अतिरिक्त समीचीन ज्ञानोंमें ब्रह्माद्वैत ही प्रतीत होता है। संसारी जीवोंके अविद्या लगी हुयी है। इन्द्रजालिया या हस्तकौशलसे मायाचारी पुरुष जैसे एक ही कटोरेमें रखे हुए फलको किसीके लिये रुपया समझा देता है, अन्यको वडी, बिच्छू, गहना, आदिका ज्ञान करा देता है। स्वप्नमें या ग्रहावेश होनेपर एवं तीव्र रोगकी अवस्थामें भिन्न भिन्न अनेक असत् पदार्थ दीख जाते हैं। यों माया आदिसे दिखा दिये गये वे जीव जैसे नाना नहीं हैं वैसे ही इन्द्रदत्त, देवदत्त, आदि भी न्यारे न्यारे जीवतत्त्व नहीं हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार अद्वैतवादियोंका कहना प्रशंसनीय नहीं है। असत्य है।

एक एव हि परमात्मा प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपतयानेको वा प्रतिभासते अनाद्यविद्याप्रभावात्। न पुनर्बहवो जीवाः सन्ति भ्रान्तेरन्यत्र मायास्वप्नादिजीववत् तेषां पारमार्थिकतानुपपत्तेः। तथाहि। जीवबहुत्वप्रत्ययो मिथ्या बहुत्वप्रत्ययत्वात् स्वप्नादिदृष्टजीवबहुत्वप्रत्ययवदिति कश्चित्, तदनालोचितवचनम्।

उक्त कारिकाका भाष्य इस प्रकार है कि जिस कारण वह परमात्मा ब्रह्म एक ही है। किन्तु अनादि कालकी लगी हुयी अविद्याके प्रभावसे प्रतिपाद्य प्रतिपादक अथवा पितापुत्र, कार्यकारण, आदि रूपों करके अनेक होता हुआ जाना जा रहा है, जैसे कि अखण्ड एक आत्मामें " मेरे सिरमें पीडा है " " मेरे उदरमें सुख है " आदि खण्डकल्पनायें कर ली जाती हैं, वैसे ही अविद्याके वश जीवोंने एकमें अनेकपना मान लिया है। वास्तवमें फिर विचारा जावे तो जीव बहुत नहीं हैं। सिवाय भ्रमके, अर्थात् भ्रान्तिसे अतिरिक्त ज्ञानोंमें जीव एक ही सिद्ध है। जैसे माया, इन्द्रजाल, स्वप्न, मंत्रमुग्ध, मत्त आदि अवस्थाओंमें जीव अनेक जाने जाते हैं किन्तु यह सब धोका है, क्योंकि माया, इन्द्रजाल आदिको और उनसे जाने गये पदार्थोंको वास्तविकपना नहीं बन सकता है। माया आदि या भ्रमज्ञान ये सब अविद्या हैं। उक्त बातको अनुमानसे भी सिद्ध कर दिखाते हैं कि जीवको जीवमें

बहुपनेका ज्ञान मिथ्या है (प्रतिज्ञा) बहुपनेको जाननेवाला ज्ञान होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वप्न आदिमें देखे गये घोडे, हाथी, मनुष्य, आदि जीवोंके बहुपनेका ज्ञान मिथ्या है (दृष्टान्त)। इस ढंगसे कोई ब्रह्माद्वैतवादी कह रहा है। परन्तु वह कहना उसके विना विचार किये गये वचन हैं। निस्तत्त्व हैं।

अद्वयस्यापि जीवस्य विभ्रान्तत्वानुषङ्गतः।
एकोऽहमिति संवित्तेः स्वप्नादौ भ्रमदर्शनात् ॥ ३० ॥

यदि स्वप्न आदिका दृष्टान्त देकर जीवके नानापनके ज्ञानको भ्रान्त कहोगे तो जीवके अद्वैत यानी जीवके एकपनेके ज्ञानको भी बढिया भ्रान्तज्ञानपनेका प्रसंग हो जावेगा। क्योंकि स्वप्नमें केवल बहुपनेका ज्ञान ही भ्रमरूप नहीं है। किन्तु मैं एक हूं, ब्रह्म एक है, इस प्रकार एकत्वको जाननेवाले ज्ञान भी स्वप्न, अपस्मार आदि अवस्थाओंमें भ्रमरूप देखे जाते हैं। अर्थात् स्वप्नमें अपनेको एकपनेका ज्ञान भी झूंठा है, तथा च स्वप्न आदिके दृष्टान्तसे एकत्व (अद्वैत) का ज्ञान भी अविद्या द्वारा किया गया भ्रमरूप सिद्ध होता है। वास्तवमें देखा जावे तो यह जैनसिद्धान्त अच्छा है कि जो अवस्तुमें होनेवाला ज्ञान है, चाहे वह एकपनेको जाने और भले ही वह नानापनको जानें सर्व मिथ्या हैं और जो वस्तुभूत पदार्थोंमें होनेवाला ज्ञान है चाहे वह एकपने या अनेकपनेको विषय करे सब प्रमाणरूप ज्ञान हैं।

शक्यं हि वक्तुं जीवैकत्वप्रत्ययो मिथ्या एकत्वप्रत्ययत्वात् स्वप्नैकत्वप्रत्ययवदिति। एकत्वप्रत्ययश्च स्यान्मिथ्या च न स्याद्विरोधाभावात्। कस्यचिदेकत्वप्रत्ययस्य मिथ्यात्व-दर्शनात् सर्वस्य मिथ्यात्वसाधनेऽतिप्रसंगादिति चेत् समानमन्यत्र।

आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि हम भी आपके सदृश इस अनुमान द्वारा आपके प्रति यों कह सकते हैं कि जीवके अद्वैतपनेका ज्ञान (पक्ष) मिथ्या है (साध्य) एकपनेको जाननेवाला ज्ञान होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वप्नमें जाने गये एकपनेका ज्ञान मिथ्या है (दृष्टान्त)। इस प्रकार सच्चे अनेक अनुमान बनाये जासकते हैं। इस अवसरमें अद्वैतवादी हमारे हेतुको अप्रयोजक कहते हैं कि एकत्वका ज्ञान होवे और मिथ्यापना न होवे कोई विरोध नहीं है। अर्थात् जैनोंका हेतु रहजावे और साध्य न रहे, कोई क्षति नहीं दीखती। यदि किसी स्वप्नके एकत्वज्ञानको मिथ्यापन देखनेसे सभी ज्ञानोंको मिथ्यापना साधा जावेगा, तब तो अतिप्रसंग होगा, यानी स्वप्नके घोडे, नदी, अग्नि सब झूठे हैं। एतावता सत्य व्यवहारके भी अश्व, आदि अवस्तुरूप होजावेंगे। अब जैन कहते हैं कि यदि अद्वैतवादी यों उक्त प्रकार कहें तब तो बहुत ही अच्छा है। दूसरे पक्षकी ओर नानापनमें भी यही न्याय समानरूपसे लगा लेना चाहिये। अर्थात् स्वप्न या भूतावेशके नानापनको मिथ्या देखकर सभी वस्तुभूत अनेक पदार्थोंमें स्थित होरहे नानापनको भी यदि मिथ्या साधा जावेगा तो भी अति-

प्रसंग होगा। " तुम्हारी रुपिल्ली और मेरा कल्दार चेहरासाई बढिया रुपैया " इस कूटनीतिका न्यायमार्गपर चलनेवाले बुद्धिमान् सज्जन उपयोग नहीं करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अभ्रान्तज्ञानके विषय होगये एकत्व और अनेकत्व सत्य हुए हैं।

व्यभिचारविनिर्मुक्तेः संविन्मात्रस्य सर्वदा।
न भ्रान्ततेति चेत्सिद्धा नानासन्तानसंविदः॥ ३१॥
यथैव मम संवित्तिमात्रं सत्यं व्यवस्थितम्।
स्वसंवेदनसंवादात्तथान्येषामसंशयम्॥ ३२॥

ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि शुद्ध प्रतिभास सामान्यका सदा ही संवेदन होता है। जो कुछ देवदत्त, इन्द्रदत्त, बाग, उद्यान आदि जाने जाते हैं वे सब प्रतिभास स्वरूप हैं, तभी तो घट प्रतिभास रहा है, यह ज्ञान या चैतन्यके समानाधिकरणपनेसे घटकी प्रतीति हो रही है शुद्ध प्रतिभासका कोई व्यभिचार दोष नहीं है। अतः एकपना या नानापना इन विशेषणोंको छोडकर केवल प्रतिभासमात्र तत्त्वमें कोई भ्रान्तपना नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि अद्वैतवादी ऐसा कहेंगे तब तो अनेक सन्तानोंके अनेक संवेदन भी सिद्ध हो जावेंगे, जैसे ही एक विवक्षित पुरुष ऐसा अनुभव करता है कि संवादी स्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे मेरा केवल सम्वेदन सत्यरूप करके व्यवस्थित है, तिसी प्रकार अन्य जिनदत्त, इन्द्रदत्त आदि अनेक जीवोंके भी संशय रहित होकर प्रमाणात्मक स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अपनी अपनी संवित्तिओंका ज्ञान होरहा है। इस कारण एक सम्वेदनके समान अनेक संवेदन [प्रतिभास] भी सिद्ध हो जाते हैं।

बहुत्वप्रत्ययवदेकत्वमत्ययोपि मिथ्यास्तु तस्य व्यभिचारित्वात् स्वप्नादिवत्। स्वसंविन्मात्रस्य तु परमात्मनो निरुपाधेर्व्यभिचारविनिर्मुक्तत्वात् सर्वदा संवादाच्च मिथ्यात्वमिति वदतां सिद्धाः स्वसंविदात्मनो नानासन्तानाः। स्वस्येव परेषामपि संविन्मात्रस्याव्यभिचारित्वात्। तथाहि। नानासन्तानसंविदः सत्याः सर्वदा व्यभिचारविनिर्मुक्तत्वात् स्वसंविदात्मवदिति न मिथ्या प्रतिपाद्यप्रतिपादका, यतः परार्थं जीवसाधनमभ्रान्तं न सिध्येत्।

अद्वैतवादी कह रहे हैं कि बहुपनेके ज्ञान समान एकपनेका ज्ञान भी मिथ्या रहो, क्योंकि एकपना, बहुपना, आदि विशेषणोंसे युक्त ज्ञान व्यभिचारी हो जाता है। जैसे कि स्वप्न, इन्द्रजाल, अपस्मार आदि अवस्थाओंमें होनेवाले और एकत्व, बहुत्व, मेरापन, तेरापन आदिको विषय करनेवाले ज्ञान मिथ्या हैं। हम शुद्ध ब्रह्माद्वैतवादी हैं। सम्पूर्ण उपाधिरूप विशेषणोंसे रहित शुद्धप्रतिभास मात्रको ही तो हम परब्रह्म स्वीकार करते हैं। यह शुद्ध प्रतिभास व्यभिचारोंसे सर्वथा रहित है और पूर्वज्ञानको प्रामाण्य उत्पन्न करानेवाले उत्तरकालवर्ती संवादोंसे सभी कालोंमें उसको प्रमाणपना

सिद्ध हो रहा है। उस शुद्ध चैतन्यमें मिथ्यापना किसी भी प्रकारसे नहीं है। आचार्य बोल रहे हैं कि इस प्रकार कहते हुए अद्वैतवादियोंके यहां स्वसंवेदनस्वरूप अनेक सन्तानें भी सिद्ध हो जाती हैं, अपनी केवल शुद्ध संवित्तियोंका जैसे अपनेको कभी व्यभिचार होना नहीं प्रतीत होता है तैसे ही दूसरे इन्द्रदत्त, गौ, अश्व, आदिको भी अपने अपने केवल संवेदनका व्यभिचार रहितपना प्रसिद्ध है। उसी बातको अनुमान द्वारा कह कर स्पष्ट दिखलाते हैं कि अनेक सन्तानोंकी भिन्न भिन्न रूपसे हो रहीं अनेक संवित्तियां (पक्ष) सत्य हैं, यानी परमार्थभूत हैं (साध्य)। व्यभिचार आदि दोषोंसे सर्वथा रहित होनेके कारण (हेतु)। जैसे कि स्वसंवेदनप्रत्यक्षके द्वारा स्वयं अपने अनुभवमें आ रही संवित्ति स्वरूप हमारा आत्मतत्त्व (दृष्टान्त)। भावार्थ— अपने अनुभवमें आ रहा अपना प्रतिभास जिस प्रकार वास्तविक है उसी प्रकार अन्य जीवोंको अपने अपने अनुभवमें आये हुए अनेक प्रतिभास भी वास्तविक हैं। इस प्रकार अनेक आत्माओंके सिद्ध हो जानेपर कोई आत्मा प्रतिपाद्य है, शिक्षा प्राप्त करने योग्य है और अन्य आत्मा प्रतिपादक है शिक्षक है। अतः प्रतिपाद्य और प्रतिपादकरूप अनेक आत्माएं झूंठी नहीं हैं जिससे कि दूसरे प्रतिपाद्यके लिये प्रतिपादक द्वारा जीव पदार्थकी सिद्धि करना अभ्रान्त (प्रामाणिक) सिद्ध न होवे। अर्थात् दूसरोंके लिये जीव तत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) को सिद्ध करना अनिवार्य है। वह वचनरूप अजीवके विना न हो सकेगा, अतः अद्वैतवादियोंको भी अजीव तत्त्व मानना आवश्यक हुआ। घट, पट, ग्राम, उद्यान, आदि पदार्थ अहंपने या चैतन्यके समानाधिकरणपनेको प्राप्त नहीं हैं, अतः वे भी अजीव हैं।

अन्ये त्वत्तो न सन्तीति स्वस्य निर्णीत्यभावतः।
नान्ये मत्तोपि सन्तीति वचने सर्वशून्यता ॥ ३३ ॥
तस्याप्यन्यैरसंवित्तेर्विशेषाभावतोऽन्यथा।
सिद्धं तदेव नानात्वं पुंसां सत्यसमाश्रयम् ॥ ३४ ॥

सम्भव है अद्वैतवादी यों कहें कि मुझसे भी अतिरिक्त अन्य कोई जिनदत्त, इन्द्रदत्त, आदि आत्मा हैं ही नहीं। इसपर आचार्य महाराज कहते हैं कि तुझसे भिन्न कोई आत्मायें जगत्में नहीं हैं ऐसा निर्णय स्वयं तुमको नहीं हो सकता है। फिर भी विना विचारे यदि तुम यह आग्रह करोगे कि मुझसे भिन्न संसारमें कोई आत्मायें नहीं हैं ऐसा कहनेपर तो सर्व पदार्थ शून्यरूप हो जावेंगे, क्योंकि अजीव पदार्थोंको आप प्रथमसे ही नहीं मानते हो तथा अपनेसे अतिरिक्त अन्य जीवोंका भी तुमने निषेध कर दिया है अकेले तुम ही एक तत्त्व अवशेष रहे हो सो अपनी भी सत्ता (खैर) मत समझो। जैसे कि तुमको अन्य जीवोंकी संवित्ति नहीं होती है, उसी प्रकार अन्य जीवों करके उस तुम्हारी भी संवित्ति नहीं होगी। इस प्रकार चालनी न्यायसे तुम्हारा भी अभाव हो जाता है। गोल चलनीमें चाहे कोनसा भी छेद हो भिन्न भिन्न स्थानोंसे गिननेपर सौवां, पचासवां, आदि हो

सकता है, उसी प्रकार देवदत्त यदि जिनदत्तका निषेध करेगा तो जिनदत्त भी देवदत्त इकेले ठूंठका निषेध कर देगा। जिस प्रकार तुम दूसरेको देखोगे, उसी प्रकार वह तुमको देखेगा। अन्य सबका तुम निषेध करते रहो और वे तुम्हारा निषेध न करें, ऐसे पक्षपातयुक्त नियम करनेमें कोई विशेषता नहीं है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकार मानोगे यानी अपना अस्तित्व अवश्य स्वीकार करोगे, तब तो अन्य आत्माएं भी अपने अपने अस्तित्वका स्वयं संवेदन कर लेवेंगी, वही तो जीवोंका नानापन सिद्ध हो गया। सत्य पदार्थकी व्यवस्थाका भले प्रकार आश्रय लेनेपर युक्तियोंके द्वारा जीव आत्माओंका अनेकपना सिद्ध हो जाता है। किसी एक उद्भ्रान्त चित्तवाले व्यक्तिकी अपेक्षासे जगत्के पदार्थ व्यवस्थित नहीं हैं, किन्तु समीचीन प्रमाणोंसे उनकी सत्ता निर्णीत है।

मत्तोऽन्येपि निरुपाधिकं स्वरूपमात्रमव्यभिचारि संविदन्तीति निर्णीतेरसम्भवात् तत्र प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेरव्यभिचारिणो लिंगस्याभावादनुमानानुत्थानादिति वचने सर्वशून्यतापत्तिः। स्वसंविदोपि तथान्यैर्निश्चेतुमशक्तेः सर्वथा विशेषाभावात्। यदि पुनरपरैरनिश्चयेपि तथा स्वसंविदः स्वयं निश्चयात् सत्यत्वसिद्धिस्तदा त्वया निश्चेतुमशक्यानामपि तथा परसंविदां सत्यत्वसिद्धेः सिद्धं पुंसां नानात्वं पारमार्थिकम्।

यदि अद्वैतवादि यों कहेगा कि मुझसे अतिरिक्त दूसरे जीव भी विशेषणोंसे रहित माने गये केवल प्रतिभासरूप विधिको ही व्यभिचार आदि दोषोंसे रहित होकर संवेदन कर रहे हैं। इस प्रकारसे दूसरे जीवोंका निर्णय करना सर्वथा असम्भव है। क्योंकि अन्य अनेक आत्माओंके जाननेमें प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति तो है नहीं, और व्यभिचार, विरुद्ध आदि दोषोंसे रहित हो रहा कोई ज्ञापक हेतु भी नहीं है। अतः अन्य आत्माओंके शुद्ध प्रतिभासको जाननेवाले अनुमान प्रमाणका भी उत्थान नहीं हो सकता है। अद्वैतवादियोंकी ओरसे ऐसा कहे जानेपर तो सर्व पदार्थोंके शून्यपनका प्रसंग होगा, अर्थात् शून्यवाद छा जावेगा, सब का अभाव हो जावेगा, जैसे अन्यके प्रतिभासों का तुमको निर्णय नहीं हो पाता है, तिसी प्रकार अन्य जीवों करके तुम्हारे सम्वेदनका भी निर्णय नहीं किया जा सकता है, सभी प्रकारोंसे कोई भी अन्तर नहीं है। यदि फिर आप अद्वैतवादी यों कहेंगे कि दूसरोंके द्वारा हमारी संवित्तिका निर्णय भले ही न होवे तो भी मुझको तो तिस प्रकार स्वयं अपनी संवित्ति (परब्रह्म) का संवेदन हो रहा है, अतः मेरे अकेले ब्रह्मको सत्यपना सिद्ध है। इसपर आचार्य कहते हैं कि तब तो तुम्हारे द्वारा दूसरोंके ब्रह्मका निश्चय करना भले ही अशक्य होवे फिर भी उन उन भिन्न व्यक्तियोंके द्वारा अपने अपने चैतन्यका तिसी प्रकार स्वयं संवेदन हो रहा है, अतः अन्य चैतन्योंको भी सत्यपना सिद्ध हो जाता है। इस कारण भिन्न भिन्न पुरुषोंको अनेकपना वास्तविक सिद्ध हुआ।

आत्मानं संविदन्त्यन्ये न वेत्ति यदि संशयः।
तदा न पुरुषाद्वैतनिर्णयो जातु कस्यचित्॥ ३५॥

यदि अद्वैतवादी यों कहें कि मुझको अपनी आत्माका पूर्ण निर्णय है, अतः मैं ही अकेला ब्रह्म हूं। अन्य जीव अपनी अपनी आत्माका संवेदन करते हैं अथवा नहीं करते हैं इसका मुझको संशय है। अतः मैं दूसरे आत्माओंकी सत्ताको नहीं स्वीकार करता हूं। इसपर आचार्य महाराज कहते हैं कि तब तो किसी एक व्यक्तिको कभी पुरुषाद्वैतका निर्णय न हो सकेगा। अर्थात् अन्य आत्माएं रूप परोक्ष पदार्थोंके निर्णय करनेका उपाय जब तुम्हारे पास नहीं है। तब तो अद्वैत परब्रह्मका निर्णय न कर सकोगे, ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य आत्माओंके अभावका निर्णय किये बिना अद्वैत (एकपने) का निश्चय नहीं हो सकता है। अन्य आत्माओंका संशय (सत्ताकी सम्भावना) बने रहनेपर उन संदिग्ध आत्माओंका सर्वथा अभाव कर देना बुद्धिमत्ता नहीं है।

मत्तः परेऽप्यात्मनः स्वसंविदन्तो न सन्त्येवेति निर्णये हि कस्यचित्पुरुषाद्वैते निर्णयो युक्तो न पुनः संशये तत्रापि संशयप्रसंगात्।

मुझसे भिन्न अपना अपना संवेदन करते हुए दूसरे आत्मायें भी जगत्में कोई नहीं ही है, ऐसा निर्णय होनेपर ही तो चाहे किसी व्यक्तिको ब्रह्माद्वैतमें निर्णय करना युक्तिसहित हो सकता है। किन्तु अन्य आत्माओंके चैतन्यका संशय होनेपर फिर किसी भी प्रकारसे अकेले ब्रह्मका निर्णय होना नहीं बनता है, क्योंकि ऐसा माननेपर तो उस ब्रह्माद्वैत में संशय होनेका प्रसंग हो जावेगा। अकेले घटका निर्णय तब ही सकता है जब कि घटके अतिरिक्त अन्य पट, पुस्तक आदिकोंके अभावका निर्णय होय। किंतु पट आदिकोंके संशय होनेपर अकेले घटकी ही सत्ताका भी संशय हो जावेगा। प्रकृतमें भी अन्य चैतन्योंका संशय होनेपर शुद्ध ब्रह्माद्वैतका भी संशय बना रहेगा।

" पुरुष एवेदं सर्वं " इत्यागमात्पुरुषाद्वैतसिद्धिरिति चेत् " सन्त्यनन्ता जीवा " इत्यागमान्नानाजीवसिद्धिरस्तु।

आचार्य आक्षेप करते हैं कि आपको यह जितना भर भी जगत् दीख रहा है सबका सब परब्रह्मरूप है। इस प्रकार वेदवाक्यरूप आगमसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धि करते हैं " एकमेवाद्वयं ब्रह्म नो नाना " एक ही परब्रह्म तत्त्व है। अनेक कोई वास्तविक तत्त्व नहीं हैं आदि ऐसी वेदकी श्रुतियोंसे यदि अद्वैतकी सिद्धि करोगे, तब तो ऐसे भी प्रामाणिक आगमोंके वाक्य विद्यमान हैं कि जगत्में अनन्तजीव हैं " अत्थि अणंता जीवा " संसारिणो मुक्ताश्च " लोअग्ग णिवासिणो सिद्धा " जीव अनन्तानन्त हैं, अनेक जीव संसारी हैं, और अनेक जीवोंने मोक्षको प्राप्त कर लिया है, अनन्तानन्त जीव लोकके अग्रभागमें विराज रहे हैं, इन आगमवाक्योंसे अनेक जीवोंकी सिद्धि भी होजाओ।

पुरुषाद्वैतविधिस्तथागमेन प्रकाशनात् प्रत्यक्षस्यापि विधातृतया स्थितस्य तत्रैव प्रवृत्तेस्तेन तस्याविरोधात् ततः पुरुषाद्वैतनिर्णय इति चेत्, नानात्वागमस्यापि तेनाविरोधात्सानाजीवनिर्णयोऽस्तु। तथाहि:—

अद्वैतवादी कहते हैं कि पुरुषाद्वैतकी विधिको सर्जनेवाले वेदरूप आगमकरके एकत्वका ही प्रकाश हो रहा है और निषेधको सर्वथा नहीं जानता हुआ प्रत्यक्षप्रमाण भी विधायक होकर प्रतिष्ठित होता हुआ तिस एकत्वके ही विधान करनेमें प्रवृत्ति कर रहा है। तिस विधान करनेवाले प्रत्यक्षकरके एकत्वको प्रकाश करनेवाले उस आगमका विरोध नहीं है। भावार्थ—एकत्वको ज्ञापित करनेवाले वेदरूप आगमका संवादक प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित है। तिस आगम और प्रत्यक्षसे ब्रह्माद्वैतका निर्णय हो जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो अनेकपनेके प्रतिपादक आगमका भी उस प्रत्यक्षसे कोई विरोध नहीं है। अतः अनेक जीवोंका भी निर्णय होजावे, अर्थात् अनेकका अर्थ एकका निषेध नहीं है, किन्तु एक जैसे भावपदार्थ है तैसे ही बहुतसे एकोंका समुदायरूप अनेक भी भावपदार्थ हैं। अतः आपके मतानुसार माना गया पदार्थोंकी विधिको ही प्रकाश करनेवाला प्रत्यक्षज्ञान अनेक जीवोंके ज्ञापक आगम प्रमाणका भी सम्वादक हो जाता है। इसी बातको स्पष्टरूपसे कहकर दिखलाते हैं।

आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृविपश्चितः।
न नानात्वागमस्तेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते ॥ ३६ ॥
तेनानिषेधताऽन्यस्याभावाभावात् कथञ्चन।
संशीतिगोचरत्वाद्वान्यस्याभावाविनिश्चयात् ॥ ३७ ॥

अद्वैत मतानुसार पण्डितजन प्रत्यक्ष प्रमाणको विधान करनेवाला कहते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाणको निषेध करनेवाला नहीं मानते हैं। भावार्थः—पदार्थोंकी सत्ताका बोधक प्रत्यक्ष प्रमाण है। अभावोंको या पदार्थोंके निषेधको प्रत्यक्ष नहीं जानता है, जहां गौ है और अश्व नहीं है, वहां गौकी सत्ताका विधान प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे हो जावेगा और अश्वका निषेध प्रत्यक्षसे न हो सकेगा। मीमांसक लोग तो अभावको जाननेके लिये स्वतन्त्र अभाव प्रमाणको मानते हैं। किन्तु अद्वैतवादी तो पदार्थोंके अभावको और अभाव प्रमाणको ही मूलसे नहीं स्वीकार करते हैं। जैनसिद्धांत और नैयायिकके मतमें अभावका ज्ञान प्रत्यक्षसे भी होता हुआ माना गया है। यदि कुछ देरके लिये इस सिद्धांतको भी मान लिया जावे कि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल विधान करनेवाला ही है। निषेधक नहीं है तो भी तिस प्रत्यक्ष करके नानापनको प्रतिपादन करनेवाले आगमका कोई भी विरोध नहीं आता है। प्रत्युत प्रत्यक्ष प्रमाण अनेक जीवोंके प्रतिपादक करनेवाले आगमका सहकारी हो जाता है। निषेध को नहीं करनेवाले उस प्रत्यक्ष करके अन्य पदार्थोंका अभाव सिद्ध करना किसी भी प्रकारसे नहीं सम्भव है। आप अद्वैतवादियोंके मतानुसार भी वह प्रत्यक्ष सबकी विधिको ही जतावेगा। जो प्रत्यक्ष प्रमाण अन्यका अभाव नहीं करता है, वह अनेकपनको अवश्य सिद्ध कर देवेगा। अथवा अन्य पदार्थोंके अभावका विशेष रूपसे निश्चय न हो जानेके कारण वे पदार्थ संशयज्ञानके

विषय हो जावेंगे । अन्य अनेक पदार्थोंका संशय बने रहनेपर सर्वथा अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती है । किसी पदार्थका संशय बना रहनेपर उसका सर्वथा निषेध कर देना सर्वथा अन्याय है । जीवितपनेकी संदिग्ध अवस्था होनेपर मृत सारिखे शरीरका अग्नि संस्कार कर देना महान् पाप है । ऐसी क्रिया करनेसे राजाकी ओरसे भी विशेष दण्ड प्राप्त होता है । " आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते । " इस ब्रह्मवादिओंकी कारिकाके उत्तरमें कटाक्षरूप छत्तीसवीं वार्त्तिक आचार्योंने कही है ।

भवतु नाम विधातृप्रत्यक्षमनिषेद्धृ च तथापि तेन नानात्वविधायिनो नागमस्य विरोधः सम्भवत्येकत्वविधायिन इव विधायकत्वाविशेषात् ।

अद्वैतवादी या जैमिनिके मतानुसार यह सिद्धान्त भले ही रहो कि प्रत्यक्षप्रमाण पदार्थोंकी सत्ताका केवल विधान करता है । और वह किसीका निषेध नहीं करता है । अतः अद्वैतवादी कहते हैं कि प्रत्यक्षप्रमाण एकत्वका विधान करनेवाला है तो भी हम जैन कहते हैं कि उस प्रत्यक्ष करके अनेकपनेको विधान करनेवाले आगमका कोई विरोध नहीं सम्भवता है । क्योंकि प्रत्यक्ष जैसे एकत्वका विधान करनेवाला है वैसे ही अनेकत्व (बहुत्व) का भी विधान करनेवाला है, दोनों प्रत्यक्षोंमें विधायकपनेसे कोई अन्तर नहीं है ।

कथमेकत्वमनिषेधत्प्रत्यक्षं नानात्वमात्मनो विदधातीति चेत्, नानात्वमनिषेधदेकत्वं कथं विदधीत ? ।

अद्वैतवादी कहते हैं कि एकपनेको नहीं निषेध करता हुआ प्रत्यक्ष भला जीवोंके नानापनको कैसे विधान कर देता है ? बताओ । अर्थात् एकपना अनेकपनेसे विरुद्ध है, जैनलोग हमारे माने हुए एकपनेको प्रत्यक्ष द्वारा जान लिया गया स्वीकार कर चुके हैं, ऐसी दशामें आप जैन उस एकपनेका निषेध न करते हुए उससे विरुद्ध कहे गये नानापनका आत्मतत्त्वको प्रत्यक्ष द्वारा कैसे विधान करा सकेंगे । अद्वैतवादियोंके ऐसा कहनेपर तो हम आर्हत भी कहते हैं कि नानापनको नहीं निषेध करता हुआ प्रत्यक्ष भला आत्माके एकपनेका भी कैसे विधान कर लेवेगा ? कहिये । भावार्थ—अद्वैतवादियोंने प्रत्यक्षको सर्व प्रकारसे विधान करनेवाला माना है, तब तो प्रत्यक्ष नानापनेका भी विधान करेगा, ऐसी दशामें नानापनको नहीं निषेध करता हुआ प्रत्यक्ष उससे विरुद्ध एकपनका विधान कैसे कर सकेगा ? इसका आप भी उत्तर दीजिये ।

तस्यैकत्वविधानमेव नानात्वप्रतिषेधकत्वमिति चेत्, नानात्वविधानमेवैकत्वनिषेधनमस्तु ।

यदि अद्वैतवादी यों कहें कि उस प्रत्यक्षका आत्माके एकपनेको विधान करना ही परिशेषन्यायसे आत्माके नानापनको निषेध करनेवालापन है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कहते हैं कि प्रत्यक्षका आत्माको नानापनका विधान ही गम्यमान न्यायसे एकपनेका निषेध करना समझ लो । न्याययुक्त बातमें पक्षपात करना ठीक नहीं है ।

किं पुनः प्रत्यक्षमात्मनो नानात्वस्य विधायकमिति चेत् तदेकत्वस्य किम् ? न ह्यस्मादिप्रत्यक्षमिन्द्रियजं मानसं वा स्वसंवेदनमेक एवात्मा सर्व इति विधातुं समर्थं नानात्मभेदेषु तस्य प्रवृत्तेः योगिप्रत्यक्षं समर्थमिति चेत्, पुरुषनानात्वमपि विधातुं तदेव समर्थमस्तु तत्पूर्वकागमश्चेत्यविरोधः ।

अद्वैतवादी स्याद्वादियोंसे पूंछते हैं कि आत्माके नानापनको विधान करनेवाला फिर आपके पास कौनसा प्रत्यक्ष है ? ऐसा प्रश्न करनेपर तो हम भी अद्वैतवादियोंसे पूंछते हैं कि उस आत्माके एकत्वका विधान करनेवाला भी तुम्हारे पास कौनसा प्रत्यक्ष है ? कहिये न । हम सरीखे छद्मस्थ लोगोंका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष अथवा मन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, एवं स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ये तीन तो " सभी पदार्थ एक आत्मारूप ही हैं " इस बातको विधान करनेके लिये समर्थ नहीं हैं । क्योंकि इन तीनों प्रत्यक्षोंकी अनेक आत्माओंके भेद प्रभेदोंको जाननेमें प्रवृत्ति हो रही है । भावार्थ— स्थूलपनेसे प्रत्यक्षके अन्यवादियोंमें चार भेद प्रसिद्ध हैं, तिनमेंसे इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ये तीनों प्रत्यक्ष तो आत्माके अनेकपनको सिद्ध करते हैं, एकपनेको नहीं । यदि अद्वैतवादी यों कहें कि चौथा अतीन्द्रियदर्शियों (केवलज्ञानियों) का योगिप्रत्यक्ष आत्माके एकपनेको जाननेके लिये समर्थ है ऐसा कहनेपर तो हम कहते हैं कि वह योगियोंका प्रत्यक्ष ही आत्माओंके अनेकपनको भी विधान करनेके लिये समर्थ होवे । और दूसरी बात यह है कि उन अतीन्द्रिय दर्शियोंको कारण मानकर उत्पन्न हुआ श्रेष्ठ आगम भी आत्माके अनेकपनका विधान करनेमें समर्थ है । इस प्रकार आत्माके अनेकपनको सिद्ध करनेमें कोई भी विरोध नहीं है ।

" स्वसंवेदनमेवास्मदादेः स्वैकत्वस्य विधायकमिति चेत्, तथान्येषां स्वैकत्वस्य तदेव विधायकमनुमन्यताम् । कथम् ? "

अद्वैतवादी कहते हैं कि हम आदि सरीखे संसारी जीवोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही अपने आत्माके एकत्वका विधान करनेवाला है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तिसी प्रकार अन्य जीवोंके भी वे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही अपनी अपनी आत्माके एकत्वका विधान करनेवाले हैं, यह स्वीकार कर लो ! अर्थात् प्रत्येक जीवोंके स्वसंवेदनप्रत्यक्ष अपनी अपनी आत्माके एकत्वका विधान कर रहे हैं । बहुतसे एकत्वोंके समुदायको अनेकत्व (नानात्व) कह देते हैं । यहां प्रश्न है कि अनेक जीवोंके स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अपने अपने एकत्वका विधान कैसे कर लेवेंगे ? बताओ । अब इसका उत्तर सुनो ।

यथैव च ममाध्यक्षं विधातृ न निषेद्धृ वा ।
प्रत्यक्षत्वात्तथान्येषामन्यथैतत्तथा कुतः ॥ ३८ ॥

जैसे ही मेरा प्रत्यक्ष मेरी आत्माकी विधिको करनेवाला है । निषेधको करनेवाला नहीं है

तैसे ही अन्य आत्माओंका प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्षपना होनेके कारण आत्माका विधान करनेवाला ही होगा। निषेध करनेवाला नहीं। अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरी प्रकार मानोगे तो यह प्रत्यक्ष तिस प्रकार विधान करनेवाला ही कैसे बन सकेगा ? कहिये न। अर्थात् सबके प्रत्यक्ष अपनी अपनी न्यारी आत्माओंकी विधि करते हैं।

परेषां प्रत्यक्षं स्वस्य विधायकं परस्य न निषेधकं वा प्रत्यक्षत्वान्मम प्रत्यक्षवत्। विपर्ययो वा अतिप्रसंगविपर्ययाभ्यां प्रत्यात्मस्वसंवेदनस्यैकत्वविधायित्वासिद्धेरात्मबहुत्वसिद्धिरात्मैकत्वासिद्धिर्वा।

जैसे कि मेरा प्रत्यक्ष अपनी आत्माका विधायक है, निषेधक नहीं, तैसे ही प्रत्यक्षपन हेतुसे सिद्ध होता है कि अन्य जीवोंका प्रत्यक्ष भी अपना या अपनी आत्माका विधायक ही है। दूसरेका निषेधक नहीं है। क्योंकि वह भी तो प्रत्यक्ष प्रमाण है। अथवा यदि ऐसा न मानोगे तो विपरीत नियम भी किया जासकता है। यानी अन्यके प्रत्यक्षोंको निषेध करनेवाला स्वीकार करनेपर अपना प्रत्यक्ष भी आत्माका निषेधक बन जावेगा। प्रत्येक आत्मामें होने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्षको आत्माके एकपनेका ही विधान करनेवालापन सिद्ध नहीं होता है। भावार्थ—अपने अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अपनी अपनी आत्माऐं जानी जारही हैं, वे अनेक हैं। अतिप्रसंग या प्रसंगसे आत्माओंके बहुपनेकी सिद्धि होजाती है और विपर्ययसे आत्माके एकत्वपनेकी सिद्धि नहीं होपाती है। इसका विवरण इस प्रकार है कि " साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते तत् प्रसंगसाधनम् "। साध्य और साधनके व्याप्यव्यापकभावके सिद्ध होजानेपर व्याप्यका स्वीकार करना नियमसे व्यापकके स्वीकार करनेसे अविनाभावी है। यह जहां दिखलाया जाता है उसको प्रसंग कहते हैं, जैसे कि कोई शिंशपा और वृक्षके व्याप्यव्यापकभावको सिद्ध कर चुका है, अब विपरीतज्ञानके वश व्याप्यभूत शिंशपापनको तो ग्रहण करता है, किन्तु वह वृक्षत्वरूप व्यापकको स्वीकार नहीं करता है, ऐसी दशामें उसको समझाया जाता है कि शिंशपापनका स्वीकार करना वृक्षपनेके स्वीकार करनेसे नान्तरीयक (न अन्तरे भवति=व्यापकके न रहनेपर न रहनेवाला) है। अथवा कोई गंवार तीन बीसीको स्वीकार करे और साठ (६०) संख्याको न माने, उसको भी प्रसंगसे साठपना सिद्ध कर दिया जाता है। स्वभाव हेतु तो जाने गये पदार्थमें विशेष व्यवहार कराने वाले माने गये हैं, सर्वथा अज्ञात पदार्थके ज्ञापक नहीं। अद्वैतवादी अन्य पुरुषोंके प्रत्यक्षमें व्याप्यरूप प्रत्यक्षपनेको तो स्वीकार करते हैं, और अपनी अपनी आत्माके विधायकपने रूप व्यापकको स्वीकार नहीं करते हैं, सो ठीक नहीं है। क्योंकि विधायकपनारूप व्यापकके रहते हुए ही प्रत्यक्षपना रूप व्याप्य रह सकता है। अतः इस प्रसंगके द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाणसे अपने अपने आत्माओंका विधान होजानेसे आत्माओंके बहुत्वकी सिद्धि होजाती है। दूसरी बात यह है कि " व्यापकनिवृत्तौ च अवश्यभाविनी व्याप्यनिवृत्तिः स विपर्ययः " व्यापककी निवृत्ति होनेपर व्याप्यकी निवृत्ति अवश्य

हो जावेगी। यह अनुमान प्रकरणमें माने हुए विपर्ययका पारिभाषिक अर्थ है, जैसे कि कोई मनुष्य अपने पास चांदीके न्यारे न्यारे पचास रुपयेके अभावको तो स्वीकार करे किन्तु पृथक् पृथक् सौ (१००) रुपयोंका अभाव न माने, उस मूढको समझाया जाता है कि पचासके विना सौ नहीं हो सकते हैं पचास ही नहीं तो भला सौ कैसे हो सकते हैं ? जो मनुष्य ही नहीं वह ब्राह्मण कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार अद्वैतवादी पण्डित अन्य पुरुषोंके प्रत्यक्षमें अपनी अपनी न्यारी न्यारी आत्माओंका विधायकपनारूप व्यापकका तो अभाव मानते हैं। किन्तु व्याप्यरूप प्रत्यक्षपनेका अभाव नहीं मानते हैं, उनको व्यापककी निवृत्ति होनेपर व्याप्यकी निवृत्तिका अवश्य होना सुझाया जाता है। व्यापकका अभाव व्याप्य होता है, और व्याप्यका अभाव व्यापक होता है। जैसे कि वह्निका अभाव व्याप्य (अल्प देशवृत्ति) है। और धूमका अभाव व्यापक (बहुदेशवृत्ति) है। अतः विपर्ययके द्वारा आत्माके एकत्वकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। भावार्थ—प्रत्येक आत्मामें स्वसंवेदनप्रत्यक्ष अपने अपने न्यारे न्यारे ब्रह्मको जान रहे हैं। अतः आत्माओंके अनेकपनेकी सिद्धि हो जाती है। अथवा आत्माके एकपनकी सिद्धि कैसे भी नहीं हो सकती है।

न च विधायकमेव प्रत्यक्षमिति नियमोऽस्ति, निषेधकत्वेनापि तस्य प्रतीयमानत्वात्। तथाहि—

और अद्वैतवादियोंका इस प्रकार नियम करना कि प्रत्यक्षप्रमाण विधायक ही है, निषेधक नहीं है, ठीक नहीं है। क्योंकि वह प्रत्यक्षप्रमाण निषेधकपने करके भी प्रतीत होरहा है। घटरहित भूतलमें घटके निषेधको भी प्रत्यक्ष द्वारा जान लिया जाता है। इसी बातको युक्तियोंसे सिद्ध कर कहते हैं, एकाग्रचित्त होकर सुनिये।

विधात्रहं सदैवान्यनिषेद्धृ न भवाम्यहम्।
स्वयं प्रत्यक्षमित्येवं वेत्ति चेन्न निषेद्धृकम्॥ ३९॥

यदि प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं इस प्रकार जानता है कि मैं सदा ही आत्माका विधान करनेवाला हूं। अन्यका निषेध करनेवाला नहीं होता हूं। ऐसा कहनेपर तो वह प्रत्यक्ष क्यों नहीं निषेध करनेवाला होगा ? अर्थात् निषेध करनेवाला नहीं हूं यही तो निषेध है। निषेध करनेवालेपनका निषेध भी निषेधक प्रमाणसे होगा। सर्वथा विधायकसे नहीं। ऐसी दशामें प्रत्यक्षको निषेधकपना प्राप्त होजाता है।

विधातृ च नान्यनिषेद्धृप्रत्यक्षमिति न प्रमाणान्तरान्निश्चयो द्वैतप्रसंगात्। स्वत एव तथा निश्चये सिद्धं तस्य निषेधकत्वं परस्य निषेद्धृहं न भवामीति स्वयं प्रतीतेः।

हम अद्वैतवादियोंसे पूंछते हैं कि आपका माना हुआ प्रत्यक्ष विधिको करनेवाला है और अन्यका निषेध करनेवाला नहीं है। इस बातको आप प्रत्यक्षप्रमाणसे अतिरिक्त दूसरे प्रमाणोंसे तो निश्चय नहीं कर पाओगे। क्योंकि दूसरे प्रमाण माननेपर तो आपको द्वैत माननेका प्रसंग होगा।

अतः स्वयं प्रत्यक्षसे ही इस यथोक्त बातका निश्चय किया जावेगा कि प्रत्यक्ष विधानका करनेवाला है निषेधका नहीं। ऐसी दशामें तो उस प्रत्यक्षको निषेधकपना सिद्ध होजाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष स्वयं ही इस प्रमेयको जान रहा है कि मैं दूसरेका निषेध करनेवाला नहीं होता हूं। निषेधकपनेका निषेध करना ही निषेधकपन है, तब तो अपने निषेधकपनेको प्रत्यक्षप्रमाण स्वयं प्रतीत कर रहा है।

सन्ति सत्यास्ततो नाना जीवाः साध्यक्षसिद्धयः।
प्रतिपाद्याः परेषां ते कदाचित्प्रतिपादकाः ॥ ४० ॥

तिसकारण अनेक जीवतत्त्व परमार्थरूपसे सत्यभूत हैं, वे जीव अपने अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अपनी होती हुयी सिद्धिसे सहित हैं। उन अनेक जीवोंमें कोई कोई जीव तो शिक्षा प्राप्त करने योग्य प्रतिपाद्य हैं और कतिपय जीव दूसरोंको शिक्षा देते हुए किसी समय प्रतिपादक हो जाते हैं। अथवा जो पहिले प्रतिपाद्य शिष्य हैं वे ही ज्ञानाभ्यास करते करते प्रतिपादक गुरु हो जाते हैं, उस समय अन्य आत्माएं प्रतिपाद्य हैं।

यतश्चैवं प्रमाणतो नानात्मनः सिद्धास्ततो न तेषां प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो मिथ्या येन परार्थं जीवसाधनमसिद्धं स्यात्।

जिस कारणसे कि इस प्रकार अनेक आत्माएं प्रमाणसे प्रसिद्ध हो चुकी है, तिस कारण उन जीवोंको प्रतिपाद्यपना और प्रतिपादकपना झूंठा नहीं है, जिससे कि दूसरोंके लिये जीव पदार्थकी सिद्धि करना असिद्ध माना जावे। भावार्थ—इस सूत्रकी अट्ठाईसवीं (२८) वार्त्तिकके अनुसार दूसरे जीवोंके लिये वचनरूप अजीवके द्वारा जीवकी सिद्धि करना युक्त है।

परार्थं निर्णयोपायो वचनं चास्ति तत्त्वतः।
तच्च जीवात्मकं नेति तद्वदन्यच्च किं न नः ॥ ४१ ॥

परमार्थरूपसे देखा जावे तो दूसरोंके लिये जीवतत्त्वका निर्णय करानेके लिये उपाय वचन ही है और वह वचन जीवस्वरूप नहीं है। इस कारण जैसे वचन अजीव तत्त्व है उसीके समान अन्य धर्म, आकाश, काल आदि अजीव पदार्थ हमारे यहां क्यों नहीं माने जा सकेंगे ?। भावार्थ—वचनके अतिरिक्त पौद्गलिक शरीर, मन, घट, पुस्तक, गृह या अमूर्त्त आकाश, काल आदि अजीव तत्त्व भी हैं।

न ह्युपायापाये परार्थसाधनं सिध्यति तस्योपेयत्वादन्यथातिप्रसक्तेरिति। तस्योपायोऽस्ति वचनमन्यथानुपपत्तिलक्षणलिङ्गप्रकाशकम्।

उपायके न होनेपर दूसरे जीवोंके लिये आत्मतत्त्वका साधन करना नहीं सिद्ध हो पाता है। क्योंकि वह आत्मतत्त्व उपायोंके द्वारा जानने योग्य उपेय है। अन्यथा यानी उपायके विना ही उपेय तत्त्वोंका जानना यदि बन जावेगा तो अतिप्रसंग होगा। सूक्ष्म और व्यवहित पदार्थोंको भी

उपायोंके विना जान लिया जा सकेगा। इस प्रकार निर्णीत होता है कि उस आत्मतत्त्वके ज्ञापन करनेका उपाय वचन ही है। साध्यके न होनेपर हेतुका न रहना, यह अन्यथानुपपत्ति है। अविनाभाव, अन्यथानुपपत्ति और नान्तरीयक तथा व्याप्ति ये चारों पर्यायवाची (एकार्थ) शब्द हैं। जिस हेतुमें अन्यथानुपपत्ति नामका लक्षण चला जाता है वह सद्धेतु है, अपने साध्यका प्रकाशक है। दूसरोंके प्रति आत्मतत्त्वको सिद्ध करानेवाला श्रेष्ठ लक्षणसे युक्त ऐसा वचनरूप हेतु है। हिताहितको विचारनेवाले वचनोंके उच्चारणसे उस व्यक्तिमें आत्मतत्त्वकी सिद्धि कर ली जाती है। जीवोंके कण्ठ, तालु आदिके व्यापाररूप प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाले सार्थक या अनर्थक शब्दोंसे भी द्वीन्द्रिय आदिक जीवोंमें आत्माका अनुमान कर लिया जाता है। अथवा समझानेवाला प्रतिपादक दूसरोंके प्रति अपने वचनों द्वारा जीवसिद्धि कराता है।

जीवात्मकमेव तदित्ययुक्तं, प्रतिपादकजीवात्मकत्वे तस्य प्रतिपाद्याद्यसंवेद्यत्वापत्तेः। प्रतिपाद्यजीवात्मकत्वे प्रतिपादकाद्यसंवेद्यतानुषक्तेः, सत्यजीवात्मकत्वे प्रतिपाद्यप्रतिपादकासंवेद्यत्वासंगात्। प्रतिपादकाद्यशेषजीवात्मकत्वे तदनेकत्वे विरोधादेकवचनात्मकत्वेन तेषामेकत्वसिद्धेः।

यदि कोई अद्वैतवादी यों कहे कि जीवको सिद्ध करनेवाला वह वचन भी जीव, स्वरूप ही है, अजीव तत्त्व नहीं, आचार्य समझाते हैं कि उनका यह कहना युक्तिशून्य है। क्योंकि उस वचनको यदि उपदेश देनेवाले प्रतिपादक जीवसे तदात्मक माना जावेगा यानी वचनको प्रतिपादकका स्वभाव माना जावेगा, तब तो समझनेके पात्र हो रहे प्रतिपाद्य या श्रोताजन एवं उदासीन तटस्थ बैठे हुये सामान्य जनों करके उस वचनका संवेदन न हो सकनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—गुरुके सुख, दुःख, ज्ञान आदि चेतनात्मक पदार्थोंका गुरुको ही प्रत्यक्ष हो सकता है। अतिनिकटवर्ती भी शिष्यजन गुरुकी आत्माके साथ तादात्म्य रखनेवाले भावोंका प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं। सर्वज्ञके सिवाय अन्य जीव दूसरोंके चेतन पदार्थोंका अनुमान या आगमज्ञान भले ही कर लेवें। ऐसी दशामें वक्ताकी आत्मासे तादात्म्य रखनेवाले वचनका पार्श्ववर्ती श्रोताओंको भला संवेदन (प्रत्यक्ष) कैसे हो सकता है ? तथा आप अद्वैतवादी वचनको यदि सुननेवाले प्रतिपाद्यके जीवसे तदात्मक हो रहा मानोगे, ऐसी दशामें प्रतिपाद्य तो अपने जीवस्वरूप वचनोंका प्रत्यक्ष कर ही लेगा। किंतु प्रतिपादक और अन्य श्रोता तथा सभाके जनों आदिको उस वचनका संवेदन न हो सकेगा। चेतनात्मक पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान सर्वज्ञ और स्व के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता है। सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शीके उस समय शब्दसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान स्वीकार नहीं किया है। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि सभामें बैठे हुए जीवोंकी आत्मास्वरूप वे वचन हैं तब तो सभाके जन उन वचनोंका संवेदन कर लेवेंगे। किंतु मुख्य प्रतिपादक और प्रधान शिष्य द्वारा वे

वचन संवेद्य न हो सकेंगे, यह बडा बुरा प्रसंग प्राप्त हुआ। यदि इन सब झगडोंकी निवृत्तिके लिये ब्रह्माद्वैतवादी उन वचनोंको प्रतिपादक आदि सम्पूर्ण जीवस्वरूप मानेंगे तो ऐसी दशामें हम पूंछते हैं कि वे प्रतिपादक, प्रतिपाद्य और सभ्य अनेक जीव हैं, तथा वचन उनसे अभिन्न हैं, तब तो वचन भी अनेक मानने पड़ेंगे। अनेक पुरुष और अनेक वचनोंके स्वीकार करनेपर आपको अपने अद्वैतवादसे विरोध आवेगा। अनेक आत्माओंके चेतनात्मक पदार्थोंका परस्परमें सांकर्य हो जावेगा। यानी चाहे जिसके सुख, दुःखका अन्य आत्माओंमें संवेदन किया जा सकेगा। यदि वचनोंको एकरूप माना जावे और एक वचनसे प्रतिपाद्य आदि अभिन्न हैं तब तो उन प्रतिपाद्य आदिकोंको एकपना सिद्ध होता है जो कि अनिष्ट है। यहां अद्वैतवादी इष्टापत्ति नहीं कर सकते हैं, कारण कि कोई जीव प्रतिपादक हैं, अन्य जीव प्रतिपाद्य हैं, तथा तीसरे प्रकारके सभासद जन उदासीन बैठे हैं। इस प्रकारका भेद उन जीवोंका एकपना सिद्ध न होने देगा। वादी प्रतिवादियोंके सिद्धान्तोंको निष्पक्ष होकर सुनना या अनावश्यक समझकर सुनना यहां उदासीनपना है।

सत्यमेक एवात्मा प्रतिपादकादिभेदमास्तिघ्नुते अनाद्यविद्यावशादित्यप्युक्तोत्तरप्राय-मात्मनानात्वसाधनात्।

अद्वैतवादी यों कहते हैं कि सत्यरूपसे देखा जावे तो एक ही आत्मा है। "अविनाशी वा अरे अयमात्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिवाक्यसे सत्यरूप एक ब्रह्म माना गया है। संसारी जीवोंके अनादि कालसे लगी हुयी अविद्याके वशसे यह एक ही ब्रह्म प्रतिपादक, प्रतिपाद्य आदि भेदोंको व्याप्त कर लेता है। अब आचार्य कहते हैं कि इसका भी उत्तर पहिले प्रकरणोंमें हम प्रायः कह चुके हैं। आत्माके नानापनको भले प्रकार सिद्ध कर दिया गया है।

कथं चात्मनः सर्वथैकत्वे प्रतिपादकस्यैव तत्र सम्प्रतिपत्तिर्न तु प्रतिपाद्यस्येति प्रति-पद्येमहि। तस्यैव वा विप्रतिपत्तिर्न पुनः प्रतिपादकस्येति तथा तद्भेदस्यैव सिद्धेः।

आत्माको सर्वथा एकपना माननेपर प्रतिपादकको ही उस आत्मामें भले प्रकार प्रमिति होरही है। किन्तु प्रतिपाद्य (शिष्य) को परब्रह्मकी पहिलेसे प्रमिति नहीं होरही है। इस बातको हम कैसे समझ सकते हैं? जब कि ब्रह्मतत्त्व एक है तो प्रतिपाद्य प्रतिपादक भी एक ही हैं। फिर क्या बात है कि गुरुको आत्मतत्त्वका निर्णय होवे और चेलाको न होवे। यों तो गुरुका छात्रको समझानेके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। अथवा उस प्रतिपाद्यको ही ब्रह्मतत्त्वके समझनेके लिये संशयरूप विवाद होवे। किन्तु फिर प्रतिपादकको ब्रह्मतत्त्वमें जिज्ञासाके लिये विवाद न होवे, यह कैसे समझा जासकता है? देवदत्तके मुखने तृप्तिपूर्वक भोजन कर लिया है तो देवदत्तके पेट, हाथ, छाती आदि भी तृप्त हो जाते हैं, उदर तृप्त हो जावे और हाथ भूखे रहें ऐसा नहीं होता है। तथा यों तो अद्वैतवादियोंके यहां पतिव्रतापन और अचौर्यव्रतकी भी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। यदि एकको प्रतिपाद्य अन्यको प्रतिपादक अथवा एकके ब्रह्मतत्त्वकी जिज्ञासा होना दूसरेके समझा देनेकी शक्तिका

होना माना जावेगा, यों तिस प्रकारसे तो गुरु शिष्य आदिकोंके भेदकी ही सिद्धि हो जावेगी। अद्वैत तत्त्व हाथसे निकल जावेगा।

यदि पुनरविद्याप्रभेदात्तथा विभागस्तदा साप्यविद्या प्रतिपादकगता कथं प्रतिपाद्यादिगता न स्यात्? तद्गता वा प्रतिपादकगता तदभेदेपीति साश्चर्यं नश्चेतः।

यदि फिर अद्वैतवादी यों कहें कि गुरु, शिष्य, जिज्ञासा, निर्णय, आदिका तिस प्रकार विभाग करना अविद्याके भेद प्रभेदोंसे हो रहा है। हम तब भी पूछेंगे कि वह अविद्या भी प्रतिपादकमें प्राप्त हुयी क्यों नहीं प्रतिपाद्य या साधारण मनुष्यों आदिमें प्राप्त हो जावेगी। जिससे कि वे सभी प्रतिपादक बन सकें। अथवा उन शिष्य या सामान्य श्रोताओंमें पड़ी हुयी अविद्या प्रतिपादकमें क्यों नहीं प्राप्त हो जावे, जिससे कि वह प्रतिपादक भी शिष्य बन जावे। जब कि एक ब्रह्मपनेसे उन प्रतिपाद्य आदिमें कोई भेद ही नहीं है ऐसा अभेद होनेपर भी वह अविद्या विशिष्ट आत्माओंमें प्राप्त होकर प्रतिपाद्य आदिके भेदको कैसे कर देती है? कहिये न। इस विषयमें हमारा चित्त अतीव आश्चर्यसे सहित होरहा है। भावार्थ—जो अविद्या ब्रह्मके जिस अंशमें गुरुपनेकी कल्पना कराती है वहां शिष्यपनेकी कल्पना क्यों न करा देवे? अनेक गुरु अपने प्रिय शिष्यको या पुत्रको प्रकाण्ड विद्वान् बनाना चाहते हैं, किन्तु मन्दबुद्धियोंसे कुछ वश नहीं चलता है। कोई शिष्य भी अपने प्राचीन पढानेवाले अल्पज्ञ गुरुको कृतज्ञतावश व्युत्पन्न करना चाहते हैं। किन्तु स्थूल बुद्धिवाले वृद्ध गुरु या पितासे वश नहीं चलता, आपके पास इस अविद्याका नियम करनेवाला कोई भी कारण नहीं है, अतः आपकी तत्त्वव्यवस्थापर हमको आश्चर्य हो रहा है। यहां एक दृष्टान्त है कि एक श्रमार्त्त घसखोदा गंवारने हृष्ट, पुष्ट, वैष्णव साधुको देखकर कहा कि महाराज! मुझे भी अपना चेला बनाओ। तिसपर साधुने पूछा कि तू क्या कार्य करना जानता है, गंवारने घास खोदना बताया। तब परिग्रही साधुने अपने घोडेके लिये घास मगानेकी स्वीकारता लेकर उसे चेला बना लिया। गंवार फिर भी अपने कर्मको कोसता हुआ दुःखी रहने लगा। एक दिन चेलाने गुरुसे कहा कि चेलापनेमें महान् दुःख है, अब तो महाराज मुझे तुम अपना गुरु बनाओ। इसपर गुरुने क्रुद्ध होकर गंवारको निकाल बाहर कर दिया। अद्वैतवादिओंको इस दृष्टान्तसे कुछ शिक्षा लेनी चाहिये।

प्रतिपादकगतेयमविद्या प्रतिपाद्यादिगतेयमिति च विभागसंप्रत्ययोनाद्यविद्याकृत एवेति चेत्, किमिदानीं सर्वोऽप्यविद्याप्रपञ्चः। सर्वात्मगतस्तत्त्वतोस्तु सोऽप्यविद्यावशाचथेति चेत्, तर्हि तत्त्वतो न कश्चिदविद्याप्रपञ्च इति न तत्कृतो विभागः, परमार्थतः एव प्रतिपादिकादिजीवविभागस्य सिद्धेः।

अद्वैतवादी कहते हैं कि अविद्यामें अनेक भेद होना भी अविद्यासे ही है, यह प्रतिपादकमें रहनेवाली अविद्या है और यह प्रतिपाद्यमें प्राप्त हुयी अविद्या है। एवं यह जिज्ञासा करानेवाली अविद्या है। चौथी निर्णय करानेवाली अविद्या है। पांचमी उदासीन श्रोतापनेकी अविद्या है। इत्यादि

प्रकारसे अविद्याओंका विभाग कर भले प्रकार विश्वास करना भी अनादि कालसे लगी हुयी अविद्यासे किया गया ही है। ऐसा कहोगे तो हम जैन पूंछते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् भी क्या इस समय अविद्याका ही प्रपञ्च (झंझट) है ? इस प्रकार तो सम्पूर्ण आत्माओंमें अविद्याका प्रपञ्च वास्तविक रूपसे प्रविष्ट होरहा मानलो। अर्थात् सर्व व्यापक एक ब्रह्म मानना भी अविद्यासे है और सम्पूर्ण आत्मतत्त्वोंको स्वीकार करना भी अविद्यासे है। ऐसी दशामें अविद्या कोई दोष न समझा जा सकेगा। यदि आप यों कहें कि वह अविद्याका प्रपञ्च भी अविद्याके अधीन होकर ही है। ऐसा कहोगे तब तो यह सिद्ध हो जाता है कि वास्तवमें देखा जावे तो कहीं भी अविद्याका प्रपञ्च नहीं है। भावार्थ—यदि अविद्या अविद्यारूप हो जावे तो वास्तविक पदार्थ कह दिया जाता है। जैसे असत्यको असत्य कह देना सत्य हो जाता है, इस प्रकार उस अविद्याके द्वारा किये गये प्रतिपाद्य प्रतिपादकोंकी अविद्याके विभाग नहीं हो सकते हैं। प्रतिपाद्यपने आदि की अविद्याको भी अविद्यासे कल्पित माना जावेगा तो वास्तविक रूपसे ही प्रतिपादक, प्रतिपाद्य, सभ्य, आदि जीवोंके विभाग सिद्ध हो जावेंगे, जो कि अद्वैत के विघातक हैं।

ततो नैकात्म्यव्यवस्थानं येन वचसोऽशेषजीवात्मकत्वे यथोक्तो दोषो न भवेदिति न जीवात्मकं वचनम्। तद्वच्छरीरादिकमप्यजीवात्मकमस्माकं प्रसिध्यत्येव।

तिस कारण अद्वैतवादियोंके द्वारा एक ही आत्मतत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकी, जिससे कि वचनको सम्पूर्ण जीवोंसे तदात्मक माननेपर हमारा पहिले कहा हुआ दोष लागू न होवे। अर्थात् पूर्वमें कहे अनुसार प्रतिपादक आदिकोंके अनेक होनेपर विरोध दोष है। एक वचनके साथ अनेक प्रतिपादक आदिकोंका अभेद माननेपर इन सबको एकपना सिद्ध हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार अब तक सिद्ध हुआ कि वचन जीवस्वरूप पदार्थ नहीं है। किन्तु पौद्गलिक अजीवरूप तत्त्व है। उसके समान शरीर, श्वास, उच्छ्वास, घट, आकाश आदिक भी हम स्याद्वादियोंके यहां अजीवतत्त्वरूप प्रसिद्ध हो ही रहे हैं। प्रसिद्ध पदार्थोंको विपरीतपनेसे कहना समुचित नहीं है।

बाह्येन्द्रियपरिच्छेद्यः शब्दो नात्मा यथैव हि।
तथा कायादिरर्थोऽपि तद्जीवोऽस्ति वस्तुतः ॥ ४२ ॥

जिस कारणसे कि शब्द बहिरंग कर्ण इन्द्रियसे जाना जाता है, इस कारण जैसे शब्द आत्मारूप पदार्थ नहीं है तैसे ही बहिरिन्द्रियोंसे जानने योग्य होनेके कारण शरीर, श्वास, घट आदि अर्थ भी जीव नहीं हैं, किन्तु वे सब वास्तवपनेसे अजीव ही हैं, यानी वास्तविक अजीव तत्त्व हैं।

न केवलं प्रतिपादकस्य शरीरं लिप्यक्षरादिकं वा परप्रतिपत्तिसाधनं वचनवत् साक्षात् परसंवेद्यत्वादजीवात्मकम्। किं तर्हि ? बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाच्च। जीवात्मकत्वे तदनुपपत्तेरिति सूक्तं परार्थसाधनान्यथानुपपत्तेरजीवास्तित्वसाधनम्।

प्रतिपादक वक्ताके वचनोंके समान उसका हाथ हिलाना, मस्तक डुलाना, चेष्टा करना आदि क्रियाओंसे युक्त होरहा शरीर अथवा पत्र, पट्टी, पत्थर, तांबा, ताडपत्रपर लिखे हुए अकार आदि अक्षर लिपि तथा संकेतित अव्यक्त सिट, सिरगिट्ट आदि शब्द, या कमल आदिका इंगित करना, ये सम्पूर्ण पदार्थ भी अजीवात्मक हैं, जो कि दूसरे ज्ञाताओंको प्रतिपत्ति होनेके साधन हैं। क्योंकि दूसरोंके द्वारा अव्यवहित रूपसे साक्षात् शीघ्र जान लिये जाते हैं, इस बातको हम कह चुके हैं। यहां यह कहना है कि प्रतिपादकके वचन, शरीर आदिकोंको अजीव तत्त्वपना केवल परसंवेद्यत्व हेतुसे ही सिद्ध नहीं है। किन्तु दूसरा हेतु भी अजीवपनेको सिद्ध करनेके लिये विद्यमान है तो वह कौनसा हेतु है ? सो सुनो। बहिरंग इन्द्रियोंसे जो ग्रहण करने योग्य हैं वे भी अजीवात्मक हैं। जैसे रूप, रस, पुद्गल, घट आदि। यदि वचन, शरीर आदिकोंको जीवस्वरूप मान लिया जावेगा तो बहिरंग इन्द्रियोंसे ग्राह्यपना नहीं बन सकेगा। इस प्रकार हमने पहिले अट्ठाईसवीं कारिकामें बहुत अच्छा कहा था कि दूसरोंके लिये जीवतत्त्वको सिद्ध करना अजीव तत्त्वको माने विना नहीं बन सकता है। इस कारण यहांतक अजीव तत्त्वके अस्तित्वकी सिद्धि कर दी गयी है। इस ढंगसे जीवके एकान्तका खण्डन कर अब अजीवके एकान्तका निरास करते हैं।

योपि ब्रूते पृथिव्यादिरजीवोध्यक्षनिश्चितः।
तत्त्वार्थ इति तस्यापि प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥ ४३ ॥

जो भी चार्वाक स्पष्टरूपसे यह कहता है कि जीव तत्त्व कोई नहीं है। पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चार अजीवतत्त्व ही प्रत्यक्ष प्रमाणसे निश्चित किये गये तत्त्वरूप अर्थ हैं। इस प्रकार कहनेवाले उस चार्वाकको भी प्रायः करके हम पहिले प्रकरणोंमें उत्तर दे चुके हैं। सूत्रके अवतार प्रकरणमें चार्वाकके प्रति भिन्नतत्त्वपनेसे जीवतत्त्वकी सिद्धि करादी गयी है।

अस्ति जीवः स्वार्थाजीवसाधनान्यथानुपपत्तेः पृथिव्यादिरजीव एव तत्त्वार्थ इति न स्वयं साधनमन्तरेण निश्चेतुमर्हति कस्यचिदसाधनस्य निश्चयायोगात्। सत्त्वात्तथा निश्चय इति चेत् न, तस्याचेतनत्वात् चेतनत्वे तत्त्वान्तरत्वसिद्धेस्तस्यैव जीवत्वोपपत्तेः।

अनुमानसे जीव तत्त्वको सिद्ध करते हैं कि जीवतत्त्व (पक्ष) है (साध्य)। अपने लिये अजीवका साधन करना जीव तत्त्वको माने विना अन्य प्रकारसे नहीं बनता है (हेतु)। पृथ्वी आदिक चार ही अजीव तत्त्वपनेसे निर्णीत अर्थ हैं, इस अपने सिद्धान्तको चार्वाक अपने लिये तो साधनके विना निश्चय करनेके लिये समर्थ (योग्य) नहीं है। अथवा पृथ्वी आदि अजीव द्रव्य अपनी सिद्धि स्वयं करलें, यह अयोग्य है, किसी भी वस्तुका साधन रहित होकर निश्चय नहीं होता है। भावार्थ—आत्मतत्त्वके होने पर ही चार्वाकका अजीवको साधन करना बन सकता है। चक्षुरादि इन्द्रियोंसे अजीव तत्त्वको जाननेवाला आत्मा है। यदि सत्त्व हेतुसे पृथिवी आदिक अजीवोंको

तिस प्रकार तत्त्वार्थपनेका निर्णय कर लेंगे जीवकी आवश्यकता नहीं है, आप चार्वाक ऐसा कहोगे सो तो ठीक नहीं है, क्योंकि वह सत्ता अचेतन पदार्थ है। अचेतनसे अचेतनका निर्णय नहीं हो सकता है। यदि उस सत्ताको चेतन मानोगे तो चार तत्त्वोंसे निराला पांचवां चेतनतत्त्व सिद्ध होता है, और उसको ही जीवपना युक्तियोंसे प्रसिद्ध हो जावेगा। भावार्थ—दूसरोंके लिये अजीवकी सिद्धि भले ही वचन आदि अजीव पदार्थोंसे हो जावे, किन्तु स्वके लिये अजीवकी सिद्धि आत्मतत्त्वको माननेपर ही हो सकती है। आत्मा ही तो अजीवोंका प्रत्यक्ष कर रहा है। जैसे कि भक्ष्य पदार्थ भोक्ता आत्माके होनेपर ही अपने लिये होते हैं। अथवा अजीव पदार्थ स्वयं तो अपनी सिद्धिको नहीं कर सकता है, क्योंकि वह जड है। जीवके होनेपर ही अजीवकी सिद्धि हो सकेगी, जैसे कि जीवके होनेपर ही जड शरीर कार्यकारी है मृत शरीर अध्ययन,सामायिक, विचार करानेमें उपयोगी नहीं है।

स्यान्मतमजीवविवर्तविशेषश्चेतनात्मकं प्रत्यक्षं न पुनर्जीव इति। तदसत्। चेतनाचेतनात्मकयोर्विवर्तविवर्तिभावस्य विरोधात् परस्परं विजातीयत्वाज्जलानलवत्।

सम्भव है कि चार्वाकोंका यह मन्तव्य होवे कि चेतनस्वरूप प्रत्यक्षप्रमाण भी पृथ्वी, आदिक अजीव तत्त्वोंकी विशिष्ट पर्यायरूप है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण कोई जीव पदार्थ नहीं है। इस प्रकार चार्वाकोंका वह कहना प्रशस्त नहीं है। क्योंकि अचेतन पृथिवी आदिकोंके परिणाम चेतन नहीं होते हैं चेतन और अचेतन स्वरूप पदार्थोंके परिणाम और परिणामी भाव होनेका विरोध है। क्योंकि वे परस्परमें भिन्न भिन्न जातिवाले हैं, जैसे कि जल और अग्नि। जलका परिणाम अग्नि नहीं है और अग्निकी पर्याय जल नहीं है। तभी तो जल और अग्नि तत्त्व भिन्न माने गये हैं। यह दृष्टान्त चार्वाकमतकी अपेक्षासे उन्हींके लिये दिया गया है। जैन मतानुसार तो जलसे अग्नि और अग्निसे जल भी उत्पन्न हो सकता है, ये दोनों पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें हैं, किन्तु जड और चेतन पदार्थोंमें उपादान उपादेयभाव कैसे भी नहीं हो पाता है।

सुवर्णरूप्यवद्विजातीयत्वेऽपि तद्भावः स्यादिति चेन्न, तयोः पार्थिवत्वेन सजातीयत्वात् लोहत्वादिभिश्च। तर्हि चेतनाचेतनयोः सत्त्वादिभिः सजातीयत्वात्तद्भावो भवत्विति चेन्न भवतो जलानलाभ्यामनेकान्तात्।

चार्वाककी ओरसे कोई यों कहे है कि जैसे सोने और रूपेमें भिन्न जातीयपना होते हुए भी वह परिणाम परिणामी भाव है। वैसे ही विजातीय जडका परिणाम चेतन भाव हो सकता है। रसायन प्रक्रियासे औषधियोंका संसर्ग होनेपर सुवर्णधातु रूपा बन जाती है। और रूपा धातु भी सोना बन जाती है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि सोने और रूपेको पृथ्वीका विकारपना धर्मसे समान जातीयपना है। सोना पृथ्वीकाय है और रूपा भी उसी जातिका पृथ्वीकाय है। चार्वाक मतमें भी दोनोंको पृथ्वीका विकार माना गया है तथा मेदिनी कोषकारके अनुसार चांदी, सोना, तांबा, आदि सर्व ही धातुओंको लोहा कहा जासकता है। लोहत्व,

अग्नि संयोगजन्यद्रवत्व, धातुपने, आदिसे भी सोने और रूपेमें सजातीयता है । अतः इनमें उपादान उपादेय भाव बन जाता है । यदि चार्वाक यों कहें कि तब तो पृथ्वी आदि अचेतन और चैतन्य, सुख, ज्ञान आदि चेतन पदार्थोंका भी सत्पना, पदार्थपना, वस्तुपना, आदि धर्मों करके सजातीयपना होनेसे वह परिणामपरिणामी भाव हो जाओ। यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उपादान उपादेयभावकी व्यवस्था करनेमें यदि सत्त्व या वस्तुत्व धर्मों करके सजातीयता पकडी जावेगी तब तो आपके माने गये जल और अग्नि तत्त्वसे व्यभिचार होगा । अर्थात् जल और अग्नि दोनों वस्तु और सत् मानी गयी हैं । उनमें भी उपादान उपादेयभाव होजावेगा । तब तो चार तत्त्वोंके स्थानमें तीन ही तत्त्व रह जावेंगे । वे तीन भी सत् हैं । वस्तु हैं, पदार्थ हैं, अतः उनमें भी विवर्त्त विवर्तिभाव हो जावेगा । एवं एक ही तत्त्व आपके हाथ लगेगा । इससे सिद्ध है कि जल और अग्निमें सत्त्व आदिकपनेसे सजातीयपना होते हुए भी आप उपादान उपादेय भाव नहीं मानते हैं । तैसे ही जड और चेतनमें भी मति मानो ।

तयोरद्रव्यान्तरत्वात्तद्भाव इति चेन्न, असिद्धत्वात् । तयोरपि द्रव्यान्तरत्वस्य निर्णयात्तद्भावायोगात् ।

तिन अचेतन और चेतनको भिन्नद्रव्यपना या भिन्न तत्त्वपना नहीं है, इस कारण उनका वह परिणाम परिणामीभाव बन जाता है, इस प्रकार चार्वाकोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि जड और चेतनमें द्रव्यान्तर रहितपना यानी एकतत्त्वपना असिद्ध है । उन चेतन और अचेतन दोनोंको भी भिन्न द्रव्यपनेका निर्णय हो रहा है, अतः उस विवर्तविवर्तीभावके होनेका अयोग है ।

निर्णेष्यते हि लक्षणभेदाच्चेतनाचेतनयोर्द्रव्यान्तरत्वमिति न तयोर्विवर्तविवर्तिभावो येन चेतनात्मकं प्रत्यक्षं जीवद्रव्यस्वरूपं न स्यात् । प्रायेण दत्तोत्तरं च चेतनस्याद्रव्यान्तरत्ववचनमिति न जीवमन्तरेण स्वार्थजीवसाधनमुपपद्यते ।

लक्षणके भेदसे चेतन और अचेतनमें भिन्न द्रव्य (तत्त्व) पना है, इस बातका आगेके अध्यायोंमें अवश्य निर्णय कर देवेंगे । चेतनका लक्षण उपयोग है और अचेतनके रूप, गतिहेतुत्व, आदि लक्षण हैं । इस प्रकार एकद्रव्यप्रत्यासत्ति न होनेके कारण उन जड और चेतनमें परिणाम परिणामी भाव नहीं बनता है, जिससे कि चेतनस्वरूप (चेतनाके साथ है तादात्म्य जिसका) प्रत्यक्षप्रमाण जीवतत्त्व स्वरूप न होवे । भावार्थ—प्रत्यक्षका उपादानकारण चेतन जीव ही है और हम कई स्थलोंपर प्रायः करके इस कटाक्षका उत्तर दे चुके हैं कि पृथ्वी आदिकोंसे चेतन तत्त्व द्रव्यान्तर नहीं कहा गया है । यों चार्वाकोंके पूर्व पक्ष करनेपर पृथ्वी आदिकोंसे जीव द्रव्यका तत्त्वान्तरपना उत्तरमें कहा जा चुका है। अतः यहां चार्वाकसिद्धान्तका खण्डन करनेके लिये पुनः आयोजन नहीं किया जाता है । इस पद्धतिसे सिद्ध हो जाता है कि जीव तत्त्वको माने बिना अपने लिये अजीव पदार्थकी सिद्धि करना नहीं बन सकता है । भावार्थ—प्रत्यक्ष प्रमाणसे अजीव पदार्थोंकी

सिद्धि करना आत्माके लिये ही उपयोगी हो सकता है। जडकी सिद्धि जडके लिये उपयोगी नहीं है और हो भी नहीं सकती है। जड पदार्थ अपने आप अपनी सिद्धिको नहीं कर सकता है, जैसे कि शद्व स्वयं अपना अर्थ–व्याख्यान नहीं कर सकते हैं।

एतेन स्मृतिप्रत्यभिज्ञानानुमानादिकं गौणपृथिव्याद्यजीवसाधनं स्वार्थं जीवमन्तरेणानुपपन्नमिति निवेदितं, तस्यापि चेतनद्रव्यस्वरूपत्वाविशेषात् प्रधानादिरूपतया तस्य प्रतिविहितत्वात्।

चार्वाकोंने पहिले अपना यह मन्तव्य प्रकट किया था कि हमसे माना गया प्रत्यक्ष प्रमाण भी अजीव तत्त्वोंका ही विवर्त है। उसीके समान स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान, प्रतिभा, तर्क, आदि भी गौणरूपसे पृथ्वी आदि अजीव तत्त्वके विवर्त सिद्ध हैं। घट, पट, पर्वत, आदि मुख्य पृथिवी–तत्त्व हैं। तथा पृथिवी तत्त्वके कभी कभी होनेवाले स्मृति आदि गौणरूपसे पृथिवीके परिणाम हैं। इस प्रकार स्मृति आदिकोंको अजीवरूप सिद्ध करते हुए स्वार्थ मानते हैं और पृथिवी, स्मृति आदि गौण अजीव तत्त्वोंके लिये मुख्य पृथ्वी आदि तत्त्वोंकी सिद्धि कर दी जावेगी। अतः अजीवके लिये अजीवका सिद्ध करना बन जाता है। इस प्रकार चार्वाकोंका कथन भी इस उक्त कथन करके नहीं सिद्ध होने पाता है। इसको हम निवेदन कर ही चुके हैं। अचेतनका परिणाम स्मृति आदि चेतनरूप नहीं हो सकता है। परमार्थरूपसे आत्मास्वरूप जीवको माने विना अजीवकी सिद्धि अपने लिये अपने आप नहीं हो सकती है। क्योंकि उन स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान आदिकोंको भी चेतनद्रव्यस्वरूपपना विशेषताओंसे रहित (सामान्य) है, वे चेतन जीवके स्वात्मभूत स्वभाव हैं। कापिलोंके मतानुसार उन स्मृति आदिकोंको प्रधानरूपपनेकरके और बौद्धोंके मतानुसार अविद्यारूपपने करके भी उन स्मृति आदिकोंका हम खण्डन कर चुके हैं। भावार्थ—स्मृति आदि चेतनधर्म तो जड माने गये प्रधान आदिके धर्म नहीं हैं, किन्तु आत्माके हैं। अतः उनके लिये भी अजीवतत्त्व सिद्धि करना जीवको माने विना न हुयी। स्मृति आदिको जडस्वरूप माना जावेगा तो जड अपनी सिद्धि स्वयं नहीं कर सकता है अन्यथा विवाद ही न होवे। गौण पृथिवी स्वयं चिल्लाकर अपना साधन अपने आप नहीं कर रही है। अतः जीवतत्त्वका मानना अनिवार्य है।

न कायादिक्रियारूपो जीवस्यास्त्यास्रवः सदा।
निःक्रियत्वाद्यथा व्योम्न इत्यसत्तदसिद्धितः॥ ४४॥
क्रियावान् पुरुषोऽसर्वगतद्रव्यत्वतो यथा।
पृथिव्यादिः स्वसंवेद्यं साधनं सिद्धमेव नः॥ ४५॥

जीव और अजीव तत्त्वका विचार कर अब आस्रव तत्त्वको सिद्ध करनेके लिये विचार चलाते हैं। यहां प्रथम ही आस्रव तत्त्वको नहीं माननेवाले नैयायिक या वैशेषिकका पूर्वपक्ष है कि जीवके

शरीर, वचन और मनकी क्रियारूप आस्रव होना सर्वदा (कभी भी) नहीं सम्भवता, क्योंकि आत्मा तो क्रियासे रहित है जो जो क्रियाओंसे रहित है उस द्रव्यके आस्रव नहीं होता है। जैसे कि आकाशके। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकोंका कहना झूंठा है। क्योंकि आत्माके उस क्रियारहितपनेकी सिद्धि नहीं हो सकती है। प्रत्युत आत्माको क्रियावान् सिद्ध करनेका यह अनुमान है कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् है (साध्य)। सर्वत्र नहीं वर्त्त रहा अव्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु)। जैसे पृथ्वी, जल आदि अव्यापक द्रव्य हैं (अन्वयदृष्टान्त) अतः क्रियायुक्त है। इस अनुमानमें हमारी ओरसे दिया गया अव्यापक द्रव्यपनारूप हेतु स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे सिद्ध ही है। भावार्थ—सभी जीव अपनी अपनी आत्माको शरीरके अनुसार लम्बा, चौडा, मोटा, परिमाणवाला जान रहे हैं। जो मध्यम परिमाणवाले या अणुपरिमाणवाले पदार्थ हैं वे देशसे देशान्तर जानारूप या कम्परूप क्रियाको कर सकते हैं। हां ! जो व्यापक आकाश द्रव्य है या लोकाकाशमें व्यापक धर्म,अधर्म द्रव्य हैं, वे अवश्य क्रियारहित हैं, आत्मा तो क्रियासहित है।

न हि क्रियावत्वे साध्ये पुरुषस्यासर्वगतद्रव्यत्वं साधनमसिद्धं तस्य स्वसंवेद्यत्वात् पृथिव्यादिवत् ।

आत्माको क्रियावान्पना सिद्ध करनेमें दिया गया अव्यापक द्रव्यपना हेतु कैसे भी असिद्ध नहीं है। अर्थात् आत्मस्वरूप पक्षमें अव्यापक द्रव्यपना रह जाता है। उसका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ज्ञान कर लेते हैं, जैसे कि चक्षुः, स्पर्शन, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षसे घट, पट आदि पृथिवियोंका कटोरे या सरोवरके पानीका अथवा अग्नि, वायु द्रव्योंका अव्यापकपना जान लेते हैं।

भ्रान्तमसर्वगतद्रव्यत्वेनात्मनः संवेदनमिति चेत् न, बाधकाभावात् । सर्वगत आत्माऽमूर्तत्वादाकाशवदित्येतद्बाधकमिति चेन्न, अस्य प्रतिवादिनां कालेनानैकान्तात् । कालोऽपि सर्वगतस्तत एव तद्वदिति नात्र पक्षस्यानुमानागमबाधितत्वम् । तथाहि—

वैशेषिक कहते हैं कि सभी आत्माएं व्यापक द्रव्य हैं। अतः आत्माको अव्यापक द्रव्यपने करके जानना भ्रान्त ज्ञान है। आचार्य समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि भ्रान्त ज्ञान वे होते हैं जिनके विषयको बाधनेवाला उत्तरकालमें बाधक प्रत्यय उत्पन्न होजाता है। जैसे कि सीपमें उत्पन्न हुए चांदीके ज्ञानका बाधक उत्तरकालमें " यह चांदी नहीं " ऐसा बाधक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। बाधकके द्वारा बाधे गये ज्ञानको भ्रान्त ज्ञान कहते हैं। किन्तु यहां आत्माके अव्यापकपनेको जाननेवाले स्वसंवेदन प्रत्यक्षका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहें कि आत्मा (पक्ष) व्यापक है (साध्य)। अमूर्त होनेसे (हेतु) आकाशके समान (दृष्टान्त) इस प्रकार यह अनुमान उस स्याद्वादियोंके प्रत्यक्षका बाधक है। ग्रन्थकार बोलते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि इस हेतुका प्रतिवादी जैनोंके द्वारा माने गये कालद्रव्यसे व्यभिचार हो जाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श स्वरूप मूर्तिसे रहित होनेके कारण कालद्रव्य अमूर्त है, किन्तु वह सर्व

व्यापक नहीं है। कालद्रव्य तो परमाणुके बराबर हैं वे असंख्यात द्रव्य हैं। दूसरी बात यह है कि अमूर्तपना तो रूप आदि गुण या कर्म आदिकमें रह जाता है। अर्थात् रूप, रस, आदिसे विशिष्टपना-स्वरूप मूर्तत्व या अपकृष्ट परिमाणस्वरूप मूर्तत्वका अभावरूप अमूर्तत्व तो गुण, कर्म, आदिमें भी पाया जाता है। गुण आदिमें पुनः दूसरे गुण नहीं माने हैं। किन्तु उनमें सर्वगतत्व साध्य नहीं रहा, अतः व्यभिचार दोष भी आया। यदि फिर आप वैशेषिक उस आकाशके समान उस ही अमूर्तपने हेतुसे कालद्रव्यको भी सर्वव्यापक सिद्ध करोगे, सो यह तो ठीक नहीं है। क्योंकि इस अनुमानमें दिये गये " काल सर्वगत है " इस प्रतिज्ञारूप पक्षको अनुमान और आगमरूप प्रमाणोंसे बाधा उपस्थित होती है। अतः कालको सर्वगतत्व सिद्ध करनेमें दिया गया हेतु बाधित हेत्वाभास (कालात्ययापदिष्ट) है। तिसी प्रकार पहिले इसके बाधक अनुमानको हम जैन स्पष्ट कर दिखलाते हैं, आत्मा और काल दोनोंको अव्यापक द्रव्यसिद्ध करते हैं, सो सुनो।

आत्मा कालश्चासर्वगतौ नानाद्रव्यत्वात् पृथिव्यादिवत्। कालो नानाद्रव्यत्वेनासिद्ध इति चेन्न, युगपत्परस्परविरुद्धनानाद्रव्यक्रियोत्पत्तौ निमित्तत्वात्तद्वत्।

आत्मा और कालद्रव्य (पक्ष) अव्यापक हैं (साध्य), अनेक द्रव्यपना होनेसे (हेतु), जैसे कि पृथ्वी, जल आदि द्रव्य या इनके परमाणु (दृष्टान्त)। यदि यहां वैशेषिक यों कहें कि कालद्रव्य तो एक है। अतः नानाद्रव्यपनेसे कालद्रव्य असिद्ध है। अर्थात् नानाद्रव्यपना हेतु कालद्रव्यरूप पक्षमें नहीं ठहरता है, अतः असिद्ध हेत्वाभास है आचार्य समझाते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमानसे कालद्रव्यको नानापना सिद्ध है। सुनिये। कालद्रव्य अनेक हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि एक ही समय परस्परमें विरुद्ध हो रहे अनेक द्रव्योंकी क्रियाओंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण हो रहे हैं (हेतु)। जैसे कि वे ही पृथ्वी आदिक द्रव्य (अन्वय दृष्टान्त)। भावार्थ— कालद्रव्यके निमित्तसे कहीं कोई रोगी हो रहा है, उसी समय कोई नीरोग हो रहा है। कोई वृद्ध हो रहा है, कहींपर रोगको बढानेवाले कारण बन रहे हैं, अन्यत्र वनमें रोगको नष्ट करनेवाली औषधियां हो रही हैं। कहीं ज्वारके अंकुर ही निकले हैं, दूसरे देशमें ज्वार पक चुकी है। किसी स्थानपर ज्येष्ठ मासमें उग्र संताप हो रहा है, अन्यत्र शीत प्रदेशोंमें शीत हो रहा है। किसी जीवको कालद्रव्य निगोदसे निकाल कर व्यवहारराशिमें लानेका उदासीन कारण है, तो कहीं अन्य जीवको व्यवहारराशिसे हटाकर निगोदमें पटकनेका हेतु हो जाता है। संसारी जीवके कर्म बन्धमें भी काल कारण है और उसी समय मुक्तिगामी जीवके कर्मक्षयमें भी कारण काल है। किसीको आर्थिक हानि (टोटा) के उत्पादक विचारोंको काल उत्पन्न कराता है, उसी समय अन्य जीवके आर्थिक लाभके उत्पादक विचारोंका सहकारी कारण काल हो जाता है। वनस्पतिरूप औषधियोंको पुरानी कर कालद्रव्य उनकी शक्तिका नाशक हो जाता है और मकरध्वज, चन्द्रोदय, आदि रस स्वरूप औषधियोंके पुराने पडनेपर उनकी शक्तिका वर्धक हो रहा है। इत्यादि जीवन मरण, पण्डित मूर्ख,

युवा वृद्ध, यशः अपयश, अनेक प्रकारके विरुद्ध कार्य एक समयमें होते हुए जाने जा रहे हैं। वे सब एक ही काल द्रव्यसे नहीं हो सकते हैं, जैसे कि एक ही पृथिवीकी परमाणुसे उसी समय घट, पट, पुस्तक, सुगन्ध दुर्गन्धवाले पदार्थ, लोहा, चांदी, आदि पदार्थ नहीं बन सकते हैं। अतः अनेक परमाणु स्वीकार करने पडते हैं, तैसे ही एक समयमें अनेक विरुद्ध क्रियाओंको करनेवाले कालद्रव्य भी अनेक स्वीकार करने चाहिये।

खेन व्यभिचारीदं साधनमिति चेन्न, तस्यावगाहनक्रियामात्रत्वेन प्रसिद्धेस्तत्रानिमित्तत्वात्। निमित्तत्वे वा परिकल्पनानर्थक्यात् तत्कार्यस्याकाशादेवोत्पत्तिघटनात्। परापरत्वपरिणामक्रियादीनामाकाशनिमित्तकत्वविरोधादवगाहनवत्।

वैशेषिक कहते हैं कि कालद्रव्यको अनेकपन सिद्ध करनेके लिये दिया गया एक समयमें अनेक विरुद्ध क्रियाओंके करनेका सहकारी कारणपनारूप यह आप जैनोंका हेतु तो आकाश करके व्यभिचारी है। अर्थात् आकाशमें अनेक क्रियाओंको करानारूप हेतु रह जाता है और अनेकपना साध्य नहीं रहता है। आप जैन भी आकाशको एक ही द्रव्य स्वीकार करते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो न कहो। क्योंकि वह आकाश केवल अवगाहक्रियाका ही निमित्त कारणपनेसे प्रसिद्ध हो रहा है। कालके द्वारा की गयी उन अनेक विरुद्ध क्रियाओंमें आकाशनिमित्त कारण नहीं है। तथा यदि उन अनेक विरुद्ध क्रियाओंमें और संपूर्ण द्रव्योंको अवगाह देना रूप क्रियामें आकाशको ही निमित्त माना जावेगा तो स्वतंत्र कालद्रव्यकी चलाकर दृढतासे कल्पना करना व्यर्थ पडेगा। क्योंकि उस कालद्रव्यसे किये जानेवाले कार्योंकी आकाश द्रव्यसे ही उत्पत्ति होना घटित हो जावेगा। जैसे कि सब द्रव्योंको अवगाह देना आकाशका कार्य है तैसे ही अवस्था (उम्र) द्वारा किये गये परत्व (जेठापन) और अपरत्व (कनिष्ठपना) परिणाम (अपरिस्पन्दरूप भाव) क्रिया (हलन चलन परिस्पन्दरूप भाव) और मुख्य कालका मुख्य कार्य वर्तना (नवसे जीर्ण करना) ये जो कालद्रव्यके उपकार माने हैं इन सबका निमित्त कारण आकाश मान लेना चाहिये, कोई विरोध नहीं है।

परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिंगः कालोन्य एवाकाशादिति चेत्, स्यादेवं यदि परत्वादिप्रत्ययनिमित्तत्वमाकाशस्य विरुध्येत। शब्दलिंगत्वादाकाशस्य तन्निमित्तत्वं विरुध्यत एवेति चेन्न, एकस्यापि नानाकार्यनिमित्तत्वेन दर्शनात् स्वयमीश्वरस्य तथाभ्युपगमाच्च।

औलूक्य दर्शनवाले कहते हैं कि हम वैशेषिकोंके मतमें कणादसूत्रके अनुसार कालकृत परत्व, अपरत्व की बुद्धि होना युगपत्पनेका ज्ञान होना, क्रमपनेका ज्ञान होना, अतिविलम्ब और शीघ्रपनेका प्रत्यय होना ये कालद्रव्यके ज्ञापकचिन्ह (हेतु) माने गये हैं। " अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि "। आकाश द्रव्य तो जगत्का केवल आधार है। आकाशमें अवगाह

क्रियाका ही निमित्तपना, है वैसा परत्व, अपरत्व, आदि क्रियाओंके निमित्तपनेका विरोध है। अतः पर अपरपने आदिके ज्ञानसे अनुमित किया गया कालद्रव्य तो आकाशसे भिन्न ही है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकोंका यह कहना तो तब सिद्ध हो सकेगा कि परत्व आदि ज्ञानोंका निमित्तकारणपना आकाशके विरुद्ध होवे, किंतु जब आकाशसे आप अनेक क्रियानिमित्तपना हेतुका व्यभिचार देते हैं तब तो प्रतीत होता है कि आप एक आकाशके द्वारा अनेक क्रियाओंका होना स्वीकार करते हैं। यदि पुनः आप वैशेषिक यों कहें कि शद्बका समवायीकारण आकाश है। " परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य " इस कणाद सूत्रके अनुसार आकाशका ज्ञापक हेतु शद्ब है। शद्बका कारण हो जानेसे उन परत्व, यौगपद्य, आदिके ज्ञान करानेमें आकाशको निमित्तपना विरुद्ध ही है, यह कहो सो भी तो ठीक नहीं है। क्योंकि आपके पूर्वोक्त कथनसे और कणाद सिद्धान्तसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि एक द्रव्यको भी अनेक कार्योंका निमित्तपना देखा जाता है और स्वयं आपने एक ईश्वरको तैसा अनेक कार्योंका निमित्तकारण स्वीकार भी किया है। अतः अभीतक आपका काल द्रव्य मानना व्यर्थ ही रहा। उसके साध्य कार्य सभी आकाश द्वारा सम्पादित हो जावेंगे।

यदि पुनरीशस्य नानार्थसिसृक्षाभिसम्बन्धान्नानाकार्यनिमित्तत्वमविरुद्धं तदा नभसोपि नानाशक्तिसम्बन्धात्तदविरुद्धमस्तु विशेषाभावात्। तथा चात्मादिक्कालाद्यशेषद्रव्यकल्पनमनर्थकं तत्कार्यस्याकाशेनैव निर्वर्तयितुं शक्यत्वात्।

यदि फिर तुम यों कहो कि ईश्वर भले ही एक है, किन्तु अनेक अर्थोंको रचनेकी उसकी इच्छाएं अनेक हैं। अतः अनेक इच्छाओंसे चारों ओर सहित होरहे ईश्वरको नाना अर्थोंके करनेमें निमित्तपना सिद्ध हो जाता है, कोई भी विरोध नहीं है। इसपर हम जैन कहते हैं कि तब तो अकेले आकाश द्रव्यको भी अनेक शक्तियोंके सम्बन्धसे उन परत्व आदि और अवगाहन क्रियाके करनेमें भी निमित्तपना अविरुद्ध हो जाओ! इस अंशमें ईश्वरसे आकाशमें कोई अन्तर नहीं है दोनों समान हैं। तिसी प्रकार आत्मा, दिशा, काल, वायु, मन, आदि सम्पूर्ण आठ द्रव्योंकी कल्पना करना भी व्यर्थ ही पडेगा। क्योंकि उनके माने गये अनेक कार्य, ज्ञान, यह इससे पूर्व है, पश्चिम है, या दैशिक परत्व, अपरत्व, कालिक परत्व अपरत्व, वृक्ष आदिकोंका कंपाना, एक समयमें अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न न होने देना आदि कार्योंका आकाशके द्वारा ही सम्पादन किया जा सकता है। अब तो आपके ऊपर और भी अधिक आपत्ति आयी।

अथ परस्परविरुद्धबुद्ध्यादिकार्याणां युगपदेकद्रव्यनिर्वर्त्यत्वविरोधात्तन्निमित्तानि नानात्मादिद्रव्याणि कल्प्यन्ते तर्हि नानाद्रव्यक्रियाणामन्योन्यविरुद्धानां सकृदेककालद्रव्यनिमित्तत्वानुपपत्तेस्तन्निमित्तानि नानाकालद्रव्याण्यनुमन्यध्वं, तथा च नासिद्धं नानाद्रव्यत्वमात्मकालयोरसर्वगतत्वसाधनम्।

अब यदि आप यों कहें कि परस्परमें विरुद्ध हो रहे ऐसे बुद्धि, सुख, दुःख, थोडी आयुवाले

भी पुरुषके दूर देशमें रहनेकी अपेक्षासे दैशिक परत्व, और वृद्ध पुरुषका निकट देशमें रहनेके कारण दैशिक अपरत्व, एवं बुड्ढेके अतिनिकट होते हुए भी कालिक परत्व, और छोटे भाईके दूर देशमें रहनेपर भी कालिक अपरत्व, तथा प्राण वायु, कँपानेवाली वायु, विचार करना, आदि कार्योंका एक समयमें एक आकाश द्रव्यसे सम्पादन होना विरुद्ध है। अतः उन भिन्न भिन्न कार्योंके निमित्तकारण अनेक आत्मा, एक दिशा, एक काल और अनेक वायु आदि अनेक द्रव्योंकी कल्पना करनी पडती है। तब तो हम जैन कहेंगे कि-आप अब ठीक मार्गपर आगये हैं। प्रकृतमें भी अनेक द्रव्योंसे होनेवाली परस्परविरुद्ध अनेक क्रियाओंका एक समयमें एक ही कालद्रव्यको निमित्तपना नहीं बन सकता है। अतः उन अनेक क्रियाओंके निमित्तकारण कालद्रव्य भी तैसे ही अनेक स्वीकार करलो। तिस कारण कालमें नानाद्रव्यपना सिद्ध हो गया। एवं आत्मा और कालमें अव्यापकपनेको सिद्ध करनेवाला अनेक द्रव्यपना हेतु भी रह गया। इससे नानाद्रव्यत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है।

नापि पृथिव्यादिदृष्टान्तः साधनधर्मविकलः पृथिव्यप्तेजोवायूनां धारणक्लेदनपचनस्पन्दनलक्षणपरस्परविरुद्धक्रियानिमित्तत्वेन सकृदुपलभ्यमानत्वात्। नापि साध्यधर्मविकलस्तेषां कथंचिन्नानाद्रव्यत्वसिद्धेरित्यनुमानविरुद्धं पक्षं कालात्मसर्वगतत्वासाधनं, लोकाकाशप्रदेशेषु प्रत्येकमेकैकस्य कालाणोरवस्थानाद्रत्नराशिवत्। कालाणवोऽसंख्याताः स्वयं वर्तमानानामर्थानां निमित्तहेतवः इत्यागमविरुद्धं पक्षं च।

कालको अव्यापक द्रव्य सिद्ध करनेमें अनेकद्रव्यपना हेतु दिया था और पृथिवी आदिकका दृष्टान्त दिया था। वहां नाना द्रव्यस्वरूप हेतुको असिद्ध दोषकी सम्भावना होनेपर उस नाना द्रव्यपने हेतुको साध्यकोटिमें लाये और एक समय परस्परविरुद्ध अनेक द्रव्य क्रियाओंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण होनेसे पृथ्वी आदिके समान ही कालमें भी नानाद्रव्यत्वको सिद्ध किया। इस पिछले अनुमानमें दिया गया पृथिवी आदिक दृष्टान्त भी साधनरूपी धर्मसे विकल नहीं है। अर्थात् पृथिवी, जल, आदिकमें अनेक द्रव्यक्रियाओंके प्रति निमित्तकारणता है। पृथ्वी अनेक द्रव्योंको धारण करना रूप क्रियाओंको करा रही है। जल गीला करना रूप क्रियाओंको करा रहा है। अग्नि पकाने रूप क्रियाओंमें निमित्तकारण हो रही है। वायु वृक्ष आदिकोंके कंपानेका निमित्त है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अनेक क्रियाओंके निमित्तपने करके पृथिवी, जल, तेज, और वायुका एक समयमें उपलम्भ (प्रत्यक्ष) किया जा रहा है। तथा पृथिवी आदिकरूप दृष्टान्त नानाद्रव्यपना रूप साध्य धर्मसे रहित भी नहीं है। क्योंकि उन पृथिवी आदिकोंको कथञ्चित् अवयव और अवयवी रूप या शुद्ध अशुद्ध स्वरूप द्रव्यकी अपेक्षासे अनेक द्रव्यपना प्रसिद्ध है। पृथिवीपरमाणु या घट, पट, गृह आदि अनेक पृथिवी हैं। अनेक जल हैं। अनेक तेज, वायु हैं। ये चारों भी चार रूप अनेक हैं। इस प्रकार निर्दोष हेतुसे नानाद्रव्यपना सिद्ध हो गया, और नाना द्रव्यपने हेतुसे काल

और आत्माको अव्यापकपना अनुमान द्वारा सिद्ध हो गया। इस प्रकार नैयायिकोंके द्वारा आत्मा और कालको व्यापकपना सिद्ध करनेवाला प्रतिज्ञारूपी पक्ष हमारे इस अनुमानसे विरुद्ध पड़ता है। अतः उनका अमूर्त्तत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है, काल और आत्माका व्यापकपन नहीं साध सकता है। तथा सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आये आगममें पूज्यचरण श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने लिखा है कि " लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ट्ठिया हु इक्केक्का। रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंख दव्वाणि ॥ १ ॥ वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु। कालाधारेणेव य वट्टंति हु सव्वदव्वाणि ॥ २ ॥ विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदू ॥ लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशोंपर एक एक काल अणु रत्न राशिके समान स्थित हैं, वे कालाणुयें असंख्यात द्रव्य हैं। अर्थात् जगत्श्रेणीके घनप्रमाण संख्यावाले कालद्रव्य हैं और एक एक कालपरमाणुमें अनन्तगुण और पर्याय विद्यमान हैं। प्रधान कारण मानी गयी अपनी द्रव्यशक्तिके द्वारा स्वयं अपने आप वर्त्तना करते हुए पदार्थोंके वे कालाणुद्रव्य वर्त्तना करानेमें निमित्तकारण हैं। कालके अवलम्बसे ही सर्वद्रव्य वर्त्तना करते हैं। इस आगम प्रमाणसे भी आपका माना गया कालको व्यापकपनेका पक्ष (प्रतिज्ञा) विरुद्ध पड़ता है। अतः नैयायिकोंका हेतु कालात्ययापदिष्ट है और व्यापकपनारूप साध्यसे विरुद्ध होरहे अव्याकपनेके साथ भी अमूर्त्तत्व हेतु व्याप्ति रखता है। अतः विरुद्ध हेत्वाभास भी हो सकता है। पक्ष शब्द पुल्लिंग होना चाहिये।

न चायमागमोऽप्रमाणं सर्वथाप्यसम्भवद्बाधकत्वादात्मादिप्रतिपादकागमवत्। ततः सिद्धमसर्वगतद्रव्यत्वमात्मनः क्रियावत्वं साधयत्येव।

हां जो! यह हमसे कहा गया आगमवाक्य अप्रमाण नहीं है, क्योंकि सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंके उत्थित होनेकी यहां सम्भावना नहीं है। जो ज्ञान सर्वदेश, सर्वकाल, और सर्वजीव सम्बन्धी बाधाओंसे रहित है वह प्रमाण स्वरूप है। जैसे कि आत्मा, आकाश, परमाणु आदि द्रव्योंके प्रतिपादन करने वाले आगम हम तुम दोनों या लौकिक और परीक्षकोंको प्रमाण हैं। तिस कारण कालसे हुए असिद्ध दोषको और आकाशसे हुए व्यभिचारको दूर करके आत्माको अव्यापक द्रव्यपना सिद्ध होगया। वह हेतु आत्माके क्रियावान्पनेको सिद्ध करा ही देता है।

कालाणुनानैकान्तिकमिति चेन्न, तत्रासर्वगतद्रव्यत्वस्याभावात्। सर्वगतद्रव्यत्वप्रतिषेधे हि तत्सदृशेऽन्यत्र सकृन्नानादेशसम्बन्धिनि सम्प्रत्ययो न पुनर्निरंशे कालाणौ। " नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिरिति वचनात्, प्रसज्यप्रतिषेधानाश्रयणात्।

असर्वगतद्रव्यपना हेतुसे क्रियावान्पनेको सिद्ध कर देनेमें कोई नैयायिक कालपरमाणुओंसे व्यभिचार देता है। अर्थात् कालाणुओंमें अव्यापक द्रव्यपना हेतु विद्यमान है, किन्तु जैनमतके भी अनुसार उन कालाणुओंमें क्रियारूप साध्य नहीं माना गया है। अतः असर्वगत द्रव्यपना हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस

कालाणुमें हेतु ही नहीं रहता है, हेतुके न रहनेपर साध्य यदि न रहा तो व्यभिचार दोष नहीं है। असर्वगतद्रव्यपनेमें व्यापक द्रव्यपनेका अभाव किया गया है। यहां नञ्का अर्थ प्रसज्य नहीं, किन्तु उससे भिन्न उसके सदृश पदार्थको ग्रहण करनेवाला पर्युदास है। तभी तो सर्व व्यापक द्रव्य होनेके निषेध करनेपर उसके सदृश अन्य एक समय नाना देशों (सर्वत्र नहीं किन्तु बहुतसे) में सम्बन्ध करने वाले पदार्थमें ज्ञान होता है। किन्तु फिर सर्वथा अंशोंसे रहित माने गये कालाणुओंमें ज्ञान नहीं होता है। भावार्थ—यहां परिमाणके निषेध करनेपर मध्यम परिमाण लिया जाता है। अणु परिमाण नहीं। यह परिभाषारूपसे वचन समुचित है कि नञ्के समान पर्युदास पक्षमें उससे भिन्न उसके सदृश अधिकरणमें नियमसे तिसी प्रकार भावरूप अर्थका ज्ञान होता है। यहां भावका सर्वथा निषेध करनेवाले प्रसज्य प्रतिषेधका आश्रय नहीं लिया है। वैशेषिकोंसे माने गये तुच्छ अभावको हम स्वीकार नहीं करते हैं। अतः मध्यम परिमाणसे अवच्छिन्न द्रव्यपना हेतु कालाणुमें नहीं है। अतः साध्यके नहीं रहनेसे व्यभिचार दोष नहीं आता है।

असंख्येयभागादिषु जीवानामिति जीवावगाहस्य नानालोकाकाशप्रदेशवर्तितया वक्ष्यमाणत्वात्। तथा च कतिपयप्रदेशव्यापिद्रव्यत्वादिति हेत्वर्थः प्रतिष्ठितः।

इसी तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थके पांचवें अध्यायमें कहेंगे कि जीव द्रव्योंमेंसे एक जीवकी स्थिति लोकके असंख्यातवें भाग, या संख्यातवें भाग, तीनसौ तेतालीस (३४३) भागोंमेंसे छह, आठ आदि भागोंमें है। केवली समुद्घातकी लोकपूरण अवस्थामें पूर्ण लोकाकाश भी घेर लिया जाता है। फिर भी अलोकाकाशमें जीवके प्रदेश नहीं हैं। सबसे छोटा सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव घनांगुलके असंख्यातवें भागरूप असंख्यात प्रदेशोंको अवश्य घेर लेता है। इससे कम एक, सौ, पांच सौ, या संख्यात प्रदेशों, में तो कोई जीव नहीं रहता है। इनसे अधिक प्रदेशोंमें ही ठहर सकेगा और लोकसे अधिक अलोकमें कोई जा न सकेगा। अतः जीव सर्वव्यापक द्रव्य नहीं है। लोकाकाशके अनेक प्रकार असंख्यात प्रदेशोंमें ही जीवका अवगाह होना वर्त रहा है, ऐसा आगे कहा जावेगा। तिस कारण हमारे असर्वगतद्रव्यपने हेतुका कितने ही प्रदेशोंमें व्याप्त होनेवाला द्रव्यपना यह अर्थ हमने प्रतिष्ठित किया है। व्याख्यान करनेसे पदार्थकी विशेष प्रतिपत्ति हो जाती है। असर्वगत द्रव्यपनेसे सर्व अनन्तप्रदेशोंमें ठहरने और एक ही प्रदेशमें ठहरनेका निवारण कर दिया जाता है।

न च कालाणुः स्याद्वादिनां कतिपयप्रदेशव्यापिद्रव्यं यतस्तेन हेतोर्व्यभिचारः। कालादन्यत्वे सत्यसर्वगतद्रव्यत्वादिति स्पष्टं साधनमव्यभिचारि वाच्यमिति चेन्न, किंचिन्निष्ठीदृगर्थस्य हेतोरिष्टत्वात्। परेषां तु कालस्य सर्वगतद्रव्यत्वेनाभिप्रेतत्वात्तेन व्यभिचारचोदनस्यासम्भवाद्वार्तिके तथा विशेषणाभावः।

स्याद्वादियोंके यहां एक ही प्रदेशमें रहनेवाली कालाणुको कुछ संख्यात या असंख्यात प्रदेशोंमें व्यापनेवाला द्रव्य नहीं माना है, जिससे कि उस कालाणुसे असर्वगतद्रव्यपने हेतुका व्यभिचार हो

जावे। कोई झंझटोंसे डरनेवाला अतिवृद्ध पुरुष यहां कहता है कि नञ्का अर्थ आपको पर्युदास करना ही पडता है। इससे यही अच्छा है कि हेतु दलमें कालद्रव्यसे भिन्नपना होते हुए असर्वगत द्रव्यपना इस प्रकार व्यभिचार दोषसे रहित समीचीन हेतुका स्पष्टरूपसे निरूपण कर दिया जावे तो अच्छा है। ऐसे कहनेपर तो गम्भीर आचार्य महाराज कहते हैं कि इसमें हमको कोई अनिष्ट नहीं है। जो जो कालसे भिन्न अव्यापक द्रव्य हैं वे वे क्रियावान् हैं, इस प्रकार हेतुका अर्थ हमको अभीष्ट है। सम्भव है कभी पुद्गलको भी पक्षकोटिमें डाल दिया जावे तो पुद्गलपरमाणुमें भी हेतु रह गया। अतः भागासिद्ध होनेकी सम्भावना नहीं रही, चलो! अच्छी बात हुयी। दूसरे नैयायिक और वैशेषिकोंके यहां तो कालको सर्व व्यापकद्रव्य इष्ट किया है, इस कारण तिस कालसे व्यभिचार देनेकी उनके द्वारा प्रेरणा करना असम्भव है। तभी तो इस सूत्रकी पैंतालीसवीं (४५) वार्तिकमें तैसा कालभिन्नत्व विशेषण हमने नहीं दिया है। केवल असर्वगत द्रव्यपनेसे आत्मामें क्रियाको सिद्ध कर लिया है। आत्मामें देशसे देशान्तरको जानारूप क्रिया विद्यमान है। रही पुद्गलपरमाणुमें क्रिया सिद्ध करनेकी बात, सो दूसरे हेतुओंसे क्रिया सिद्ध कर दी जावेगी। एक समयमें एक परमाणु मन्द गतिसे एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशतक ही जाता है और तीव्र गतिसे चौदह राजू चला जाता है।

एवं च निरवद्यात्साधनादात्मनः क्रियावत्त्वसिद्धेः कायादिक्रियारूपोऽस्यास्रवः प्रसिध्यत्येव, कायालंबनाया जीवप्रदेशपरिस्पन्दनक्रियायाः कायास्रवत्वाद्वागालम्बनाया वागास्रवत्वान्मनोवर्गणालम्बनाया मानसास्रवत्वात् ।

तथा इस प्रकार निर्दोष हेतुसे आत्माके क्रियावान्पना सिद्ध होजानेके कारण इस आत्माका शरीर आदि यानी शरीर, वचन और मनकी क्रियारूप आस्रवतत्त्व प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो ही जाता है। शरीर या स्थूल शरीरके उपयोगी आहारवर्गणा अथवा सूक्ष्म शरीरके उपयोगी कार्माण-वर्गणाको अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुयी आत्माके प्रदेशोंकी कम्परूप क्रियाको कायास्रव कहते हैं। वचन या भाषावर्गणाको अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुयी आत्माके प्रदेशकम्परूप क्रियाको वचनास्रव कहते हैं और संचित या आनेवाली मनो वर्गणाका अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुए आत्मप्रदेशकम्पको मानस आस्रव कहते हैं। इस प्रकार स्थूलरूपसे तीन योग और व्याख्यानसे श्रेणीके असंख्यातमें भागरूप असंख्यात योग आस्रवतत्त्व हैं। इस आस्रवतत्त्वका श्रद्धान करना मोक्षकेलिये अति उपयोगी है।

बन्धः पुंधर्मतां धत्ते द्विष्ठत्वान्न प्रधानके ।
केवलेऽसम्भवात्तस्य धर्मोऽसौ नावधार्यते ॥ ४६ ॥

अब बन्ध तत्त्वका विचार करते हैं कि बन्ध पदार्थ पुरुषके धर्मपनेको धारण करता है, यानी बन्ध आत्माका धर्म (भाव) है (प्रतिज्ञा)। क्योंकि वह बांधनेवाले [आत्मा] और बन्धने योग्य

[कर्म] इन दो में रहता है [हेतु] । जैसे कि विभाग, द्वित्व संख्या, पृथक्त्व ये भाव दो आदि पदार्थोंमें रहते हैं (दृष्टांत) । सांख्योंके मतानुसार केवल [अकेले] प्रधान में ही उस बन्धका रहना असम्भव है । अतः वह बन्ध उस प्रधानका ही धर्म है ऐसा अवधारण (एवकार) नहीं किया जा सकता है। अर्थात् पुद्गल और जीवात्मा इन दोनोंका धर्मबन्धतत्त्व है, अकेले पुद्गल (प्रकृति) का नहीं।

न हि प्रधानस्यैव धर्मो बन्धः सम्भवति तस्य द्विष्ठत्वादिति। जीवस्यापि धर्मः सोऽवधार्यते सर्वथा पुरुषस्य बन्धाभावे बन्ध फलानुभवनायोगात् ।

जब कि अकेली सत्त्वरजस्तमोगुणरूप प्रकृतिका ही धर्म बन्धतत्त्व नहीं सम्भवता है, क्योंकि वह दो में रहता है, इस कारण जीवका भी वह धर्म है ऐसा निर्णय कर लेना चाहिये। यदि सांख्य मती सभी प्रकारोंसे आत्माके बन्ध होना न मानेंगे यानी आत्माको जलसे कमलपत्रके समान निर्लेप मानते हुए प्रकृतिके ही बन्ध कर्त्तापन, ज्ञान, और सुखकी व्यवस्था करेंगे तो प्रकृतिको ही बन्धके फलका अनुभव होगा । आत्माको बन्ध फलका अनुभव नहीं हो सकेगा, यानी सांसारिक भोगोंका भोक्ता आत्मा न हो सकेगा ।

बन्धवत्प्रकृतिसंसर्गाद्बन्धफलानुभवनं तस्येति चेत्, स एव बन्धविवर्तात्मिकया प्रकृत्या संसर्गः पुरुषस्य बन्धः इति सिद्धः कथञ्चित्पुरुषधर्मः संसर्गस्य द्विष्ठत्वात् ।

बन्धसे युक्त होरही प्रकृतिका आत्माके साथ संसर्ग हो जानेके कारण उस आत्माको भी बन्ध फलका अनुभव होगा। क्योंकि नीति भी है कि " संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति " अर्थात् दोषीके संसर्गसे दोष और गुणीके संसर्गसे गुण अन्य आत्माओंमें भी हो जाते हैं । शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय रूप प्रकृतिका संसर्ग आत्मासे हो रहा है । अतः बन्धफलका संचेतन आत्माके माना गया है, यदि कपिल ऐसा कहेंगे तब तो हम कहते हैं कि बन्धपर्यायसे तदात्मक परिणामी हुयी प्रकृतिके साथ पुरुषका जो संसर्ग है वही तो बन्धतत्त्व है । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि वह संसर्गरूप बन्ध पदार्थ किसी न किसी प्रकारसे पुरुषका भी धर्म है, क्योंकि संसर्ग दो में रहा करते हैं, दोसे कमतीमें नहीं। एक तीर (किनारे) की कोई नदी नहीं हो सकती है । यों मुमुक्षुको बन्ध तत्त्वकी प्रतीति करना भी अत्यावश्यक है ।

संवरो जीवधर्मः स्यात् कर्तृस्थो निर्जरापि च ।
मोक्षश्च कर्मधर्मोपि कर्मस्थो बन्धवन्मतः ॥ ४७ ॥
धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तभेदमितीरितम् ।
श्रद्धेयं ज्ञेयमाध्येयं मुमुक्षोर्नियमादिह ॥ ४८ ॥

संवरतत्त्व और निर्जरातत्त्व ये दोनों भी जीवके धर्म हैं । ये दोनों अपने कर्त्ता आत्मामें ठहरते हैं, कर्ममें नहीं । आत्माके गुप्ति, समिति, तपस्या, शुक्लध्यान, क्षपकश्रेणीरूप भाव ही संवर

और निर्जरा हैं, वे आत्माके ही परिणाम हैं। पुद्गलके नहीं। अथवा संवर तो आत्माका ही धर्म है। किन्तु निर्जरा तत्त्व तो आत्मा और कर्म दोनोंमें रहनेवाला धर्म है। आत्मासे बिछुडे हुए कर्मोंमें भी निर्जरा रहती है, द्रव्यनिर्जरा तो विभागरूप ही है। तथा मोक्षतत्त्व जीवका धर्म है और बन्धके समान पौद्गलिक कर्ममें रहनेवाला भी धर्म माना गया है। भावार्थ—जैसे बन्ध, जीव और पुद्गल दोनोंमें रहता है। तैसे ही मोक्ष भी जीव और पुद्गल दोनोंमें रहनेवाला भाव है। इस प्रकार धर्मी और धर्मस्वरूप तत्त्वोंके सात भेद सूत्रमें कहे गये हैं। यहां मोक्षमार्गके प्रकरणमें मोक्षके चाहनेवाले जीवको उन सातोंका नियमसे श्रद्धान करना चाहिये और सातों तत्त्वोंका समीचीन ज्ञान करना चाहिये। तथा उन सात ही तत्त्वोंका भले प्रकार ध्यान (चारित्र) करना चाहिये।

जीवाजीवौ हि धर्मिणौ तद्धर्मास्त्वास्रवादय इति धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तविधमुक्तं मुमुक्षोरवश्यं श्रद्धेयत्वाद्ज्ञेयत्वादाध्येयत्वाच्च सम्यग्दर्शनज्ञानध्यानविषयत्वान्निर्विषयसम्यग्दर्शनाद्यनुपपत्तेस्तद्विषयान्तरस्यासम्भवात्। सम्भवे तत्रैवान्तर्भावात्।

जिसमें अनेक गुण, पर्याय, आपेक्षिकधर्म, अविभागप्रतिच्छेद ये स्वभाव रहते हैं वह धर्मी है। जो धर्मीमें वर्तता है वह धर्म है। इन सात तत्त्वोंमें जीव और अजीव दो तत्त्व तो नियम से धर्मी हैं। तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पांच तो उन जीव तथा अजीवोंके धर्म हैं। इस प्रकार दो धर्मी स्वरूप और पांच धर्मस्वरूप ये सात प्रकारके तत्त्व उमास्वामी महाराजने कहे हैं। मोक्ष चाहनेवाले भव्यजीवको इन्हीं सात तत्त्वोंका अवश्य श्रद्धान करना चाहिये। और समीचीन ज्ञान करना चाहिये। तथा आत्मनिष्ठारूप चारित्रके द्वारा इन्हींका ध्यान करना चाहिये। क्योंकि ये ही श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान करने योग्य हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और ध्यानके विषय ये सात तत्त्व हैं। विषयोंके बिना सम्यग्दर्शन आदिक बन नहीं सकते हैं। जैसे कि कोई खा रहा है, वहां खाने योग्य पदार्थ अवश्य है। पका रहा है, वहां पकने योग्य पदार्थ अवश्य है। तैसे ही श्रद्धान करना, जानना और ध्यान करनारूप क्रियाओंके विषयभूत पदार्थ जीव आदिक सात हैं। उन सातोंसे अतिरिक्त अन्य विषयोंका असम्भवपना है। यदि पुण्य, पाप गुप्ति, आदिको निराला मानने की सम्भावना भी की जावे तो उनका भी उन सातोंमें ही अन्तर्भाव हो जावेगा। सातसे भिन्न तत्त्वोंके माननेकी आवश्यकता नहीं पडेगी।

न च तत्त्वान्तराभावस्तत्त्वमष्टममासजेत्।
सप्ततत्त्वास्तितारूपो ह्येषोऽन्यस्याप्रतीतितः ॥ ४९ ॥
तत्त्वं सतश्च सद्भावोऽसतोऽसद्भाव इत्यपि।
वस्तुन्येव द्विधा वृत्तिर्व्यवहारस्य वक्ष्यते ॥ ५० ॥

यथा हि सति सत्त्वेन वेदनं सिद्धमञ्जसा ।
तथा सदन्तरे सिद्धमसत्त्वेन प्रवेदनम् ॥ ५१ ॥
असद्रूपप्रतीतिर्हि नावस्तुविषया क्वचित् ।
भावांशविषयत्वात् स्यात् सितत्वादिप्रतीतिवत् ॥ ५२ ॥
भावांशो सत्सदाभावविशेषणतयेक्षणात् ।
सर्वथाभावनिर्मुक्तस्यादृष्टेः पाटलादिवत् ॥ ५३ ॥

कोई वादी यहां प्रसंग देता है कि तत्त्व सात ही हैं, तत्त्वान्तर नहीं हैं। ऐसी दशामें अन्य तत्त्वोंका अभावरूप एक आठवें तत्त्वको माननेका प्रसंग आवेगा। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह आपादन करना ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे जहां घट है, वहां घटसे अतिरिक्त पट आदि पदार्थोंका अभाव भी है। वह पट आदिकोंका अभाव घटस्वरूप ही है, तैसे ही तत्त्वान्तरोंका अभाव भी सात तत्त्वके अस्तित्वस्वरूप ही है। उनसे अन्य यह तत्त्वांतराभावरूप आठवां तत्त्व नहीं प्रतीत होता है। इस कारण सात ही तत्त्व सिद्ध हुए। सत् पदार्थके विद्यमान भावको तत्त्व कहते हैं। असत् पदार्थका असत्पना भी यही है। इससे न्यारा नहीं। अकेले घटके विद्यमान होनेपर अन्य पट आदिकोंका असद्भाव घटसत्तारूप ही है, अतिरिक्त नहीं। दोनों प्रकारके व्यवहारकी प्रवृत्ति वस्तुमें ही कही जावेगी। अवस्तुमें या तुच्छ अभावमें नहीं। जैसे ही इसी सत् पदार्थमें सत्पने करके ज्ञान होना निर्दोषरूपसे सिद्ध है तैसे ही अन्य दूसरे सत्में निर्दोषरूपसे असत्पने करके अच्छा ज्ञान होना भी सिद्ध है, यानी प्रकृत घट सत्पनेकी अपेक्षासे सत् है। वही अन्य सत्पदार्थोंकी अपेक्षासे असत्रूप है। वैशेषिकोंके समान हमारे यहां अभाव पदार्थ स्वतन्त्रतत्त्व नहीं है। किन्तु भावोंका विशेषण है। तभी तो कहीं भी असत् आकारवाली प्रतीतिका विषय अवस्तु नहीं माना गया है। किन्तु अभावोंको जाननेवाली प्रतीति भी भावके अंशोंको ही विषय करती (जानती) है। जैसे कि शुक्लपना, पण्डितपना, धनाढ्यपना आदिको जाननेवाली प्रतीतियां हैं। अर्थात् शुक्ल वस्तुमें काले, नीले आदि वर्णोंका अभाव है, वह शुक्लस्वरूप ही है। अन्य अभावरूप कोई न्यारा तुच्छ पदार्थ नहीं। तथा मूर्खपना, मत्तपना, आदिका अभाव पण्डितपनारूप ही है। अन्य स्वतन्त्र अभावतत्त्व नहीं। और दरिद्रपने, रिक्तताका अभाव धनाढ्यपना रूप ही है। स्वतन्त्रतत्त्व नहीं। अथवा शुक्लता, मधुरता, सुगन्ध आदि धर्म जैसे भावके विशेषण ही देखे जा रहे हैं, तैसे ही असत् (अभाव) भी भावपदार्थका अंश है। असत् भी सदा सत् (भाव) का विशेषण होकर देखा (जाना) जा रहा है। जैसे भूतलमें घटाभाव, पुद्गलमें ज्ञानका अभाव, आत्मामें रूपका अभाव। यहां भाव पदार्थ विशेष्य हैं और अभाव पदार्थ विशेषण हैं। विशेष्यको अपने अनुसार रंगता हुआ विशेषण विशेष्यके साथ तदात्मक हो

जाता है। सभी प्रकार भावोंसे रहित होता हुआ स्वतन्त्र अभाव पदार्थ देखा नहीं गया है। जैसे कि श्वेत और लाल रंगसे मिला हुआ पाटल रंग या हरा पीला रंग, खट्टा मीठा रस, सुगन्ध, शीत उष्ण स्पर्श ये स्वभाव सभी प्रकार भावोंसे रहित होते हुए नहीं देखे जाते हैं। अतः सात तत्त्वोंके विशेषण रूप अभाव पदार्थ उन सातोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। आठवें, नौवें आदि अतिरिक्त तत्त्व माननेकी आवश्यकता नहीं है। अर्थात् विशेषण और विशेष्यका कथञ्चित् अभेद होता है। संयुक्त अवस्थामें दण्डीपनसे पुरुषपनका अभेद है। सर्व कार्य द्रव्यों या पर्यायोंके अनादिपनेका प्रसंग तथा अनन्तपनेका प्रसंग और एक द्रव्यको अन्य द्रव्यरूप हो जानेका प्रसंग, एवं एक द्रव्यजातिकी पर्यायोंका परस्पर संकर होनेका प्रसंग आवेगा, इन प्रसंगोंके निवारणार्थ तत्त्वोंमें प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये प्रतिजीवी गुण स्वरूप अभाव अंश माने जाते हैं। परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिपन सिद्ध करनेमें भी इनका उपयोग है। वस्तुके अंशभूत अभावोंकी भित्तिपर नास्तित्व धर्म कल्पित किया जाता है। अनुजीवी, प्रतिजीवी, पर्यायशक्तिरूप और आपेक्षिक (वस्तुकी भित्तिपर कल्पित) धर्म इन चार प्रकारके गुणोंका समुदायरूप (पिण्ड) ही वस्तु है। प्रमेयकमलमार्तण्डमें अग्निके दाहकत्व, पाचकत्व, आदि पर्यायशक्तिरूप गुण और आपेक्षिक स्थूलपना, छोटापना आदि गुणोंको भी वस्तुभूत माना है। युक्तियोंसे ये बातें अन्य न्याय शास्त्रोंमें भी पुष्ट की गयी हैं।

न ह्यभावः सर्वथा तुच्छः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते यतोस्य सर्वदा भावविशेषणतया दर्शनमप्रसिद्धं स्यात् तत्प्रसिध्यदभावस्य भावांशत्वं साधयति सितत्वादिवत्। ततो न क्वचिदवस्तुनि कस्यचिदसत्त्वप्रतीतिर्वस्तुन्येव तत्प्रतीतेस्तत्त्वान्तराभावस्य सप्ततत्त्वविप्रकर्षभावस्य सिद्धेरन्यमततत्त्वासंभावनैवेति सर्वसंग्रहः।

वैशेषिकोंके द्वारा माना गया सभी प्रकारोंसे तुच्छ (निरुपाख्य) स्वतन्त्र अभाव पदार्थ प्रत्यक्षप्रमाणसे नहीं जाना जाता है, और अनुमान प्रमाणसे भी नहीं ज्ञात होता है। जिससे कि इस अभावको सदा भावका विशेषण होकर दीखना अप्रसिद्ध या असिद्ध हो सके। भावार्थ— स्वतंत्र अभाव तत्त्व जाना नहीं जा रहा है। जो कुछ ज्ञात हो रहा है वह अभाव तो भावोंका विशेषण होकर ही दीख रहा है। अभावको वह भाव विशेषणपना सिद्ध होता हुआ उसको भावका अंशपना सिद्ध करा देता है। जैसे कि शुक्ल पटमें शुक्लता पटद्रव्य (अशुद्ध) का विशेषण है। या गुड, खांड और मिश्रीमें मधुरता, मधुरतमता ये विशेषण गुड, खांड, मिश्रीके होते हुए उनके ही अंश हैं, तिस कारण सिद्ध हुआ कि किसी भी अवस्तु [तुच्छ] में किसी प्राणीको असत्पनेकी प्रतीति नहीं होती है। यानी अश्वविषाणके समान सर्वथा असत् माने गये अभाव पदार्थमें असत्पनेकी प्रतीति नहीं होती है। किन्तु वस्तुमें ही असत्पनेकी प्रतीति होती है। भावितीर्थङ्कर श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि " प्रक्रियाके विपर्यय करनेसे वस्तु ही अवस्तु हो जाती है " " वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् "। अतः तत्त्वान्तरोंके अभावको सात तत्त्वोंमें ही

व्यवसायकरूपसे पडे हुए भावांशपनेकी सिद्धि है। यह अतिरिक्त तत्त्व नहीं है और अन्य नैयायिक, वैशेषिक आदिके मन्तव्यानुसार माने हुए तत्त्वोंकी सम्भावना तो है ही नहीं। इस प्रकार सभी वास्तविक तत्त्वोंका इन सातोंमें ही संग्रह हो जाता है।

प्रमाणादय एव स्युः पदार्थाः षोडशेति तु।
ब्रुवाणानां न सर्वस्य संग्रहो व्यवतिष्ठते॥ ५४॥
तत्रानध्यवसायस्य विपर्यासस्य वाऽगतेः।
नास्याप्रमाणरूपस्य प्रमाणग्रहणाद्गतिः॥ ५५॥
संशीतिवत्प्रमेयान्तर्भावे तत्त्वद्वयं भवेत्।
संशयादेः पृथग्भावे पृथग्भावोऽस्य किं ततः॥ ५६॥

जैनोंके अनुसार माने गये सात तत्त्वोंमें तो सर्व पदार्थोंका अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु प्रमाण आदिक ही सोलह पदार्थ हैं इस प्रकार कहनेवाले नैयायिकोंके यहां तो सर्व ही तत्त्वोंका संग्रह होना व्यवस्थित नहीं हो पाता है। नैयायिकोंने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ माने हैं। तिनमें मिथ्याज्ञानका एक भेद संशय ही लिया है, उससे अकेले संशयकी ज्ञप्ति हो सकती है। अनध्यवसाय और विपर्ययज्ञानकी ज्ञप्ति नहीं हो सकेगी। अर्थात् दो मिथ्या ज्ञानोंका संग्रह नहीं हुआ। प्रमाणके ग्रहणसे तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण पकडे जा सकते हैं। अप्रमाण रूप अनध्यवसाय और विपर्यासका प्रमाण तत्त्वके कहनेसे संग्रह या परिज्ञान नहीं हो सकता है, जैसे कि संशयका प्रमाणमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। तभी तो संशयको स्वतन्त्र तीसरा पदार्थ माना है। यदि अनध्यवसाय और विपर्ययका प्रमेयतत्त्वमें अन्तर्भाव करोगे, तब तो प्रमाण और प्रमेय दो ही तत्त्व हो जावेंगे। सभी तत्त्वोंका इनमें गर्भ हो सकता है। शिष्यकी बुद्धिको विशद करनेके लिये यदि संशय, प्रयोजन आदिको पृथक् तत्त्वपने करके निरूपण करोगे तो क्या अनध्यवसायका या विपर्ययका उन संशय आदिकसे भेदभाव है? भावार्थ—शिष्यकी व्युत्पत्ति बढानेके लिये विपर्यय अनध्यवसायका भी तत्त्वोंमें स्वतन्त्ररूपसे निरूपण करना चाहिये। अथवा संशयके समान अनध्यवसाय और विपर्ययका भी पृथग्भाव रूपसे क्यों न निर्देश किया जावे?।

प्रमाणविधिसामर्थ्यादप्रमाणगतौ यदि।
तत्रानध्यवसायादेरन्तर्भावो विरुध्यते॥ ५७॥

संशयस्य तदात्रैव नान्तर्भावः किमिष्यते ।
प्रमाणाभावरूपत्वाविशेषात्तस्य सर्वथा ॥ ५८ ॥

प्रमाण तत्त्वकी विधिके सामर्थ्यसे अप्रमाण ज्ञानोंकी निषेध्यकोटिमें स्वयं अर्थापत्तिसे ज्ञप्ति हो जाती है, यदि ऐसा कहोगे यानी प्रमाणतत्त्वके कहनेसे ही अप्रमाणोंका अन्तर्भाव करोगे, तब तो उस प्रमाणमें अनध्यवसाय, विपर्ययरूप अप्रमाण ज्ञानोंका अन्तर्भाव होना विरुद्ध पडता है। सम्यग्ज्ञानमें मिथ्याज्ञानका प्रवेश करना कैसे भी ठीक नहीं है। दूसरी बात यह है कि तब तो इस प्रकरणमें ही संशयका भी अन्तर्भाव क्यों नहीं माना जाता है। क्योंकि नैयायिकके मतानुसार अप्रमाणको प्रमाणमें प्रविष्ट किया जारहा है। सभी प्रकारोंसे प्रमाणोंका अभाव-रूपपना उस संशयको अन्तररहित समान है। भावार्थ—जैसे ही विपर्यय, अनध्यवसाय अप्रमाणरूप हैं वैसे ही संशय भी अप्रमाणरूप है। फिर क्या कारण है कि संशयका तत्त्वोंमें पृथक् निरूपण किया जारहा है और शेष मिथ्याज्ञानोंका नहीं।

प्रमाणप्रवृत्तिहेतुत्वात् संशयश्चेत् पृथक्कृतः ।
तत एव विधीयेत जिज्ञासादिस्तथा न किम् ॥ ५९ ॥

प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका कारण संशय है। अर्थात् पर्वत वह्निवाला है या नहीं। ऐसा संशय होनेपर अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। किसी पदार्थका तरतमरूप करके प्रत्यक्ष करना, विशेष विशेषांशोंका निर्णय करना, अथवा ईहाज्ञान करना, इन ज्ञानोंके पूर्वमें संशय वर्तता है। आप जैनोंने भी सप्तभंगीके उत्थान होनेमें संशयको कारण माना है। अतः प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका मुख्य कारण होनेसे संशयका पृथक् निरूपण किया है। शेष दो मिथ्याज्ञानोंका प्रमाण तत्त्वके अभावमें अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे कि वैशेषिक मतके अनुसार तेजोद्रव्यके अभावमें अन्धकार का संग्रह हो जाता है। यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारण यानी प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका मुख्य हेतु होनेसे ही जिज्ञासा, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति, प्रश्न आदिका निरूपण भी तैसे ही संशयके सदृश क्यों नहीं किया जावे ? प्रमाणकी प्रवृत्तिमें संशयसे अधिक जिज्ञासाको कारणपना प्रसिद्ध है, इसको हम पूर्व प्रकरणोंमें समझा चुके हैं।

अभावस्याविनाभावसम्बन्धादेरसंग्रहात् ।
प्रमाणादिपदार्थानामुपदेशो न दोषजित् ॥ ६० ॥

वैशेषिकोंके सात पदार्थोंमें अभाव पदार्थको स्वीकार किया है, नैयायिकोंका वैशेषिकोंके साथ मित्रताका सम्बन्ध है। किन्तु दूनेसे अधिक भी पदार्थोंको मान लेनेपर नैयायिकोंके सोलह पदार्थोंमें प्रागभाव आदि अभावोंका संग्रह नहीं हो पाया है। तथा अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्ति), स्मरण,

सामान्य आदि पदार्थोंका भी सोलह पदार्थोंमें गर्भ नहीं हो सकता है। अतः सम्पूर्ण तत्त्वोंके संग्रह न हो सकनेके कारण नैयायिकोंके प्रमाण आदि सोलह पदार्थोंका अक्षपाद (गौतम) ऋषिके द्वारा उपदेश देना दोषोंको जीतनेवाला (निर्दोष) नहीं है। अर्थात् सोलह पदार्थोंके माननेमें अधिक कहने और न्यून कहनेका दोष आता है।

द्रव्यादिषट्पदार्थानामुपदेशोऽपि तादृशः।
सर्वार्थसंग्रहाभावादनाप्तोपज्ञमित्यतः ॥ ६१ ॥

कणाद ऋषिके द्वारा कहे गये वैशेषिकोंके द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय-रूप भावात्मक छह पदार्थोंका उपदेश भी तैसा ही है, यानी नैयायिकोंके सोलह पदार्थ सरीखा ही है सातवां पदार्थ तुच्छ अभाव मिलनेपर भी पूर्णता नहीं आती। अतः वह उपदेश सम्पूर्ण पदार्थोंका संग्रह न हो जानेके कारण निर्दोष नहीं है। प्रत्यभिज्ञान, तदात्मक सम्बन्ध, अवच्छेदकत्व, निरूपकत्व, आदि पदार्थोंका अन्तर्भाव न होनेसे प्रतीत होता है कि वह सर्वज्ञ सत्यवक्ता आप्तके आद्यज्ञान द्वारा उपदिष्ट नहीं है। अतः रथ्यापुरुषके वचन समान आप्तोपज्ञ न होनेसे इस प्रकारका उपदेश मुमुक्षुपुरुषोंको श्रद्धान करने योग्य नहीं है।

सूत्रेऽवधारणाभावाच्छेषार्थस्यानिराकृतौ।
तत्त्वेनैकेन पर्याप्तमुपदिष्टेन धीमताम् ॥ ६२ ॥

यदि नैयायिक और वैशेषिक यों कहें कि हमने तत्त्वोंकी संख्या करनेवाले सूत्रोंमें उन्हीं ही उतने ही तत्त्वोंका अवधारण करनेवाला एवकार तो नहीं लगा दिया है। अतः बचे हुए अविनाभाव, जिज्ञासा, और प्रत्यभिज्ञान, तादात्म्य, निष्ठत्व, मोक्ष आदि पदार्थोंका निराकरण नहीं हो पाता है। भावार्थ—जैनोंके पारिणामिक भावोंमें अन्य कर्तृत्व, प्रदेशवत्त्व, अस्तित्व, नित्यत्व आदि भावोंका जैसे समुच्चय हो जाता है, तैसे ही हमारे यहां भी कोई पदार्थ शेष नहीं रहता है। अनन्त पदार्थोंकी गिनती कहांतक गिनायी जावे। जगदीश पण्डितजीने स्वरचित जागदीशीमें यही प्रगट किया है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो एक ही तत्त्वके उपदेश देनेसे बुद्धिमानोंको पूर्णता प्राप्त हो जावेगी। सोलह और छह सात तत्त्वोंको बढाकर कहनेसे कोई प्रयोजन नहीं सधता है। पदार्थ, या भाव कह देनेसे अथवा प्रमाणतत्त्व या द्रव्यतत्त्व कहनेसे ही अवधारण न करते हुए अखिल प्रमेय, संशय आदि या गुण, कर्म आदिका समुच्चय हो जावेगा।

प्रमाणादिसूत्रे द्रव्यादिसूत्रे चावधारणाभावादनध्यवसायविपर्ययजिज्ञासाद्यविनाभाव-विशेषणविशेष्यभावसमवायादयः संगृहीता एवेति सर्वसंग्रहे प्रमाणं तत्त्वं द्रव्यं तत्त्वमिति

चोपदेशः कर्तव्यस्तत्रानवधारणादेव प्रमेयादीनां गुणादीनां वानध्यवसायादिवत्संग्रहोपपत्तेरित्याकुलत्वादनाप्तमूल एवायं प्रमाणाद्युपदेशो द्रव्याद्युपदेशो वा प्रकृत्याद्युपदेशवत् ।

" प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः " इस न्यायदर्शनके सूत्रमें और " धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् " इस कणाद ऋषिसे कहे गये वैशेषिक दर्शनके सूत्रमें इतने ही तत्त्वोंका अवधारण (एवकार) नहीं कर दिया है। अतः नैयायिकोंके यहां अनध्यवसाय, विपर्यय, जिज्ञासा, प्रश्न आदिक तथा अविनाभाव, विशेष्यविशेषणभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव आदि पदार्थोंका संग्रह किया जाचुका हो ही जाता है। ऐसे ही वैशेषिकोंके यहां भी अवच्छेदकत्व, निरूपकत्व, मोक्ष, बन्ध, आदिका भी संग्रह हो ही जाता है। यदि इस प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वोंका संग्रह करोगे तब तो आप नैयायिकोंको प्रमाणतत्त्व है ऐसा ही उपदेश करना चाहिये। और वैशेषिकोंको द्रव्यतत्त्व है ऐसा उपदेश देना चाहिये। क्योंकि उन दोनों सूत्रोंमें एक ही तत्त्वका नियम करना रूप अवधारण नहीं करनेसे ही प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदिका और वैशेषिकोंके गुण, कर्म, सामान्य आदिका संग्रह होना बन सकता है। जैसे कि अनध्यवसाय, विपर्यय आदिका आपने संग्रह कर लिया है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि उपदेश देते समय आपके दर्शनकार व्याकुल (घबडाये हुए) हैं। आकुलित होनेसे दिया गया यह प्रमाण आदिकका उपदेश और द्रव्य आदिकका उपदेश दोनों ही आप्त पुरुषको मूल मानकर नहीं हुए हैं। जैसे कि कापिल ऋषिके द्वारा प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्च तन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियां, पांच भूत, और एक आत्मा इन पच्चीस (२५) तत्त्वोंका दिया गया उपदेश सर्वज्ञ सत्यवक्ताको मूल कारण मानकर नहीं हुआ है। सूक्ष्म, विप्रकृष्ट, व्यवहित इन अतीन्द्रिय तत्त्वोंका उपज्ञ (आद्य ज्ञान) सर्वज्ञको ही होता है। वे सम्पूर्ण पदार्थोंका केवलज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष कर भव्यजीवोंको उपदेश देते हैं। अर्हन्तदेवके कहे हुए सात तत्त्वोंमें कोई वास्तविक पदार्थ छूटता नहीं है। अतः जीव और अजीव आदि सात तत्त्वोंका उपदेश ही सर्वज्ञमूलक है। शेष नहीं।

नन्वेवं सप्ततत्त्वार्थवचनेनाप्यसंग्रहात् ।
रत्नत्रयस्य तद्बाध्येप्ययुक्तत्वमितीतरे ॥ ६३ ॥

यहां किसीकी शंका है कि इस प्रकार तो जीव आदिक सात तत्त्वार्थोंके कथन करनेसे भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन रत्नत्रयका संग्रह नहीं हो पाता है। इस कारण सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आये हुए वे श्रीउमास्वामीके वचन भी अयुक्त हैं। यदि ये आप्त मूलक होते तो अत्यावश्यक रत्नत्रय तत्त्वका असंग्रह क्यों हो जाता ? इस प्रकार अन्य कोई विद्वान् सकटाक्ष कह रहे हैं।

न हि रत्नत्रयं जीवादिष्वन्तर्भवत्यद्रव्यत्वादास्रवादित्वाभावच्च । तस्य तत्त्वान्तरत्वे कथं सप्तैव तत्त्वानि यतो जीवादिसूत्रेण सर्वतत्त्वासंग्रहात्, तदप्ययुक्तं न भवेदिति केचित् ।

उक्त शंकाको व्याख्याके द्वारा कोई पुष्ट कर रहे हैं कि रत्नत्रयका जीव आदिक तत्त्वोंमें अन्तर्भाव नहीं हो पाता है । क्योंकि वे द्रव्य नहीं हैं और आस्रव आदि रूपपना भी उस रत्नत्रयमें नहीं है । अर्थात् आपने रत्नत्रयको आत्माके स्वाभाविक परिणाम माना है । अतः द्रव्यरूप जीव और पुद्गल, धर्म आदि अजीव द्रव्योंमें रत्नत्रयरूपी भाव गर्भित नहीं हो सकते हैं । तथा योग, गुप्ति, तपः, रुकना, निर्झरना, क्षय होना रूप न होनेसे आस्रव आदिरूप भी रत्नत्रय नहीं है । यदि उस रत्नत्रयको आप जैन लोग सात तत्त्वोंसे निराला तत्त्व स्वीकार करोगे तो सात ही तत्त्व हैं यह सिद्धान्त कैसे ठहर सकेगा ? जिससे कि "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्" इस सूत्र करके सम्पूर्ण तत्त्वोंका संग्रह न हो जानेसे वह आपका सूत्र कहना भी अयुक्त न होवे । भावार्थ—रत्नत्रयका संग्रह न होनेसे आप जैनोंका तत्त्व प्रतिपादक सूत्र भी अयुक्त है । सर्वज्ञोक्त नहीं है । इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे हैं । अब आचार्य कहते हैं कि—

तदसत्तस्य जीवादिस्वभावत्वेन निर्णयात् ।
तथा पुण्यास्रवत्वेन संवरत्वेन वा स्थितेः ॥ ६४ ॥
जीवाजीवप्रभेदानामनन्तत्वेऽपि नान्यता ।
प्रसिद्ध्यत्यास्रवादिभ्य इत्यव्याप्त्याद्यसम्भवः ॥ ६५ ॥

सो शंकाकारका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है । क्योंकि उस रत्नत्रयका जीव तत्त्व, संवर, निर्जरातत्त्व आदिके स्वभावपनेसे निर्णय कर दिया है । अर्थात् जीवद्रव्यके अनन्तगुण, अनन्तानन्त पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, आपेक्षिक धर्म इन सबका अखण्ड पिण्ड ही जीवतत्त्व है । संवर और निर्जरा भी रत्नत्रयसे भिन्न तत्त्व नहीं है । तथा तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग आदि पुण्यप्रकृतियोंका प्रवृत्ति–मार्गमें युक्त होरहे रत्नत्रयवाले जीवके ही आस्रव होता है । अतः पुण्यास्रवरूप तत्त्वपनेसे भी रत्नत्रयका निर्णय अथवा निवृत्तिमार्गमें लगे हुए जीवके संवर तत्त्वपने करके भी रत्नत्रयकी स्थिति हो ही रही है । अतः रत्नत्रय संवररूप है । निर्जरा और मोक्ष भी निश्चय नयसे रत्नत्रयरूप ही है । अतः जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सब रत्नत्रयका ही न्यूनाधिक परिकर है । जीव अजीवके भेद प्रभेद अनन्त हैं तो भी वे आस्रव, बन्ध आदिकोंसे भिन्न होते हुए प्रसिद्ध नहीं हो रहे हैं । जीवोंके अनेक भावोंका आस्रव आदिकमें

अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव आदि दोषोंकी सम्भावना नहीं है।

न हि जीवो द्रव्यमेव पर्याय एव वा येन तत्पर्यायविशेषाः सम्यग्दर्शनादयः तद्ग्रहणेन न गृह्यन्ते, द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवत्वस्याभिमेतत्वात्। ततो नाद्रव्यत्वेऽपि रत्नत्रयस्य जीवेऽन्तर्भावाभावः। तथास्रवादित्वाभावोऽप्यसिद्धस्तस्य पुण्यास्रवत्वेन संवरत्वेन च वक्ष्यमाणत्वात् इति नास्रवादिष्वनन्तर्भावः।

श्रीउमास्वामी महाराजके कहे गये सूत्रमें जीवतत्त्वसे जीव द्रव्य ही या जीवकी पर्यायों ही का ग्रहण नहीं है, जिससे कि उस जीवकी विशेष पर्यायरूप सम्यग्दर्शन आदिकोंका जीवके ग्रहणसे ग्रहण न होता। किन्तु द्रव्य और पर्यायोंसे तदात्मक होती हुयी जीव वस्तु जीवतत्त्वसे अभिप्रेत हो रही है। तिस कारण जीव द्रव्यसे कथञ्चित् भिन्न होते हुए भी रत्नत्रय भावोंका जीवद्रव्यमें अन्तर्भाव न होना नहीं बनता है। भावार्थ—जीवके पर्यायस्वरूप रत्नत्रयका जीवतत्त्वमें अन्तर्भाव है। तथा आप द्वारा अभी कहा गया रत्नत्रयको आस्रव आदिपनेका अभाव भी असिद्ध है। क्योंकि उस रत्नत्रयको पुण्यास्रवपने करके और संवरपने करके छठे, सातवें और नौवें अध्यायमें आगे कहनेवाले हैं। इस प्रकार रत्नत्रयका आस्रव आदिकोंमें अन्तर्भाव न होवे, यह न समझना।

येऽपि च जीवाजीवयोरनन्ताः प्रभेदास्तेऽपि जीवस्य पुण्यागमस्य हेतवः पापागमस्य वा पुण्यपापागमननिरोधिनो वा तद्बन्धनिर्जरणहेतवो वा मोक्षस्वभावा वा, गत्यन्तराभावात्। इति नास्रवादिभ्योऽन्यतां लभ्यन्ते येनाव्याप्तिरतिव्याप्त्यसम्भवौ तु दूरोत्सारितावेवेति निरवद्यं जीवादिसप्ततत्त्वप्रतिपादकं सूत्रं, ततस्तदाप्तोपज्ञमेव।

तथा जो भी जीव और अजीवके अनन्तभेद प्रभेदरूप तत्त्व हैं, वे सभी जीवके पुण्य आगमनके कारण या जीवके पापास्रवके कारण अथवा पुण्य पाप दोनोंके आगमनको रोकनेवाले, एवं उनकी बन्ध और निर्जराके कारण तथा मोक्षके स्वभावरूप परिणाम भी सब जीव अजीवोंके ही भेद हैं, दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस प्रकार रत्नत्रयस्वरूप भाव या जीवके अन्य कोई भी वास्तविक भाव इन आस्रव आदिक तत्त्वोंसे भिन्नताको प्राप्त नहीं होते हैं, जिससे कि रत्नत्रयके नहीं संग्रह होनेसे अव्याप्ति दोष होता, तथा "जीवाजीवास्रव" आदि सूत्रमें अतिव्याप्ति और असम्भव दोष तो दूर ही से फैंक (भगा) दिये जाते हैं। इस प्रकार जीव आदिक सात तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेवाला यह प्रकृत सूत्र निर्दोष होकर सिद्ध हो गया। तिस कारण वह सर्वज्ञके आद्यज्ञान द्वारा ही आम्नायसे चला आया हुआ आचार्य महाराज श्रीउमास्वामीने कण्ठोक्त कहा है।

——×*×——

चतुर्थसूत्रका सारांश

इस सूत्रके प्रकरणोंका संक्षिप्त निर्देशके अनुसार प्ररूपण इस प्रकार है कि मोक्ष चाहनेवाले जीवको श्रद्धान करने योग्य सात ही तत्त्व हैं। तभी तो सर्वज्ञदेवने सातही तत्त्वोंका भाषण किया और उसीके अनुसार श्रीउमास्वामी महाराजने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें सात ही तत्त्वोंका निरूपण किया है। जो कोई मध्यमरुचिवालोंकी अपेक्षासे सात ही तत्त्वोंका उपदेश देना सिद्ध करते हैं वे सूत्रकारके अभिप्रायको अन्तस्तलस्पर्शी होकर नहीं जानते हैं। मध्यम रुचिवालोंके लिए तो दो, छह, दस, तीस, आदि तत्त्वोंका भी सूत्रण हो सकता था। ग्रन्थकारने बडी विद्वत्ताके साथ इस ग्रन्थिको सुलझाया है कि मुमुक्षुको सात ही तत्त्व उपयोगी हैं। दो, छह, नौ आदि नहीं। सातोंके श्रद्धानकी अत्यावश्यकताको पुष्टकर पुण्य, पाप पदार्थोंको बन्ध और आस्रव तत्त्वका ही भेद (विकल्प) इष्ट किया है। केवल अक्षर और मात्राओंके संक्षेपको चाहनेवालों करके माने गये छह, चार तत्त्वोंसे कार्य नहीं चल सकेगा। मोक्षके कारण और बन्धके कारण तत्त्वोंका व्यक्तिमुद्रासे स्वतन्त्र कण्ठोक्त कहना न्याय्य है इसमें गहरा तत्त्व बतलाया है। जीव आदिक शब्दोंकी निरुक्ति करके उनका लक्षण अग्रिम ग्रन्थमें कहा जावेगा ऐसा संतोष देकर द्वन्द्व समासमें पडे हुए जीव आदिकोंका शाब्दबोध प्रक्रियाके अनुसार संगति दिखलाते हुए क्रम सिद्ध किया है। तत्त्वों का उपदेश जीवके लिए ही है। जड प्रकृति, निरन्वय विज्ञान या उसकी कल्पित सन्तानके लिए नहीं है। जड शरीरको भी तत्त्वोपदेश लाभदायक नहीं है। चैतन्यका चैतन्यमें चैतन्यके लिये तत्त्वोपदेश होता है। इसके पीछे अजीव, आस्रव, आदिके निरूपणमें स्वरस बतलाया है। तत्त्वका निर्दोष लक्षणकर भाव और भाववान्‌के साथ हुए सामानाधिकरण्यको तर्क द्वारा सिद्ध किया है। विशिष्टाद्वैतवादियोंके परब्रह्मरूप एक जीवतत्त्वके ही एकान्तका विशिष्ट युक्तियोंसे खण्डन कर अनेक जीवोंको सिद्ध करते हुए शुद्धाद्वैतवादियोंके प्रति भी अनेक सन्तानोंको सिद्ध करा दिया है। अद्वैतवादियोंके अनुमान, आगम और प्रत्यक्षका प्रतिविधान कर अनेकत्वको सिद्ध करनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमोंको समीचीनपना दिखलाया है। यदि प्रत्यक्षप्रमाणको वस्तुका सद्भाव साधनेवाला ही माना जावे, निषेधक न माना जावे तो भी कथञ्चित् निषेधकपना उसमें आ ही जाता है। अनेक आत्माओंका विधायकपना भी उनके ही प्रत्यक्षसे चौडेकर दिखला दिया है। दूसरोंके प्रति आत्मतत्त्वको समझानेके लिये प्रशस्त उपाय वचनतत्त्व ही हो सकता है। यह वचन अजीव है। उपेयसे उपाय भिन्न है। चेतनात्मक पदार्थोंका सर्वज्ञ और स्वव्यक्तिके अतिरिक्त किसी अन्य जीवको प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु वचन, प्रतिपाद्यका शरीर, लिपिअक्षर, घट, आदिका अनेक पुरुषोंको बहिरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हो रहा है। अतः ये सब

अजीव तत्त्व हैं, जीवात्मक नहीं हैं। अविद्याको भी अविद्या हो जानेसे विद्यापन आजाता है। असत्य यदि असत्य हो जावे तो वह सत्य हो जाता है। इसके आगे जीवको न मानकर अकेले जडतत्त्वको ही माननेवाले चार्वाकका खण्डन कर जड और चैतन्यके उपादान उपादेय भावका निरास किया है। कई वादी आस्रवतत्त्वको स्वीकार नहीं करते हैं। व्यापक आत्माके कोई क्रिया नहीं हो सकती है। इसका प्रत्याख्यान कर आत्मा और कालद्रव्यका अव्यापकपना सिद्ध किया है। आकाश, काल, धर्मद्रव्य, और अधर्मद्रव्य इनको स्वतन्त्र तत्त्व मानना आवश्यक है। सर्वव्यापक एक कालद्रव्यसे परस्पर विरुद्ध अनेक क्रियायें न हो सकेंगी। अतः परमाणुके समान आकारवाले असंख्यात कालद्रव्योंको सिद्ध कर दिया है। जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशोंमें रहता है। लोक और अलोकमें व्यापक नहीं है। अतः अव्यापक आत्मामें क्रिया हो जानेसे क्रियारूप आस्रवतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। बन्ध होना भी आत्माका विभावभाव है। वह जीव पुद्गल दोनोंमें रहता है। संसारी जीव निर्लेप नहीं है। किन्तु बहिरंग पुद्गलसे बन्धकर तन्मय हो रहा है। इसके आगे संवर और निर्जराको अकेले जीवका ही भाव इष्ट किया है। बन्धके समान मोक्ष भी जीव पुद्गल दोनोंका धर्म है, इस प्रकार धर्मी और धर्म रूप सातों तत्त्वोंका मुमुक्षुको श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान करना चाहिये। इन सातों तत्त्वोंसे आठवां, नौवां अन्य कोई तत्त्व नहीं है। इनसे न्यून तत्त्व माननेमें भी मोक्षके लिये त्रुटि रहेगी। अभावरूप धर्म वस्तुके ही प्रतिजीवी अंश हैं। जीव और अजीवतत्त्वोंमें अनुजीवी, प्रतिजीवी, आपेक्षिक, आदि सभी अंशोंका तादात्म्य हो रहा है, अभाव तुच्छ पदार्थ कोई नहीं है। प्रकाशके समय अन्धेरेका अभाव प्रकाशरूप ही है और अन्धेरेके समय प्रकाशका अभाव भी अन्धेरारूप है। नैयायिक और वैशेषिकोंके तत्त्व सर्वज्ञोक्त नहीं हैं। मोक्षकी सिद्धिमें भी उनका विशेष उपयोग नहीं होता है। सोलह तत्त्वोंसे अनेक उपयोगी तत्त्व अवशेष रह गये हैं और उनमें दृष्टान्त, छल, निग्रहस्थान आदि निस्तत्त्व पदार्थ भर लिये गये हैं। जिनका कि भद्र मोक्षगामियोंको कभी उपयोग भी नहीं पड़ता है। वैशेषिकोंसे माने हुए छह पदार्थों या अभाव सहित सात पदार्थोंका उपदेश भी अव्याप्ति अतिव्याप्ति, आदि दोषोंसे रीता नहीं है। किन्तु सर्वज्ञ अर्हन्तदेवकी आम्नायसे आये हुए सात तत्त्वोंका उपदेश निर्दोष है। रत्नत्रय सात पदार्थोंसे भिन्न नहीं है, प्रवृत्ति और निवृत्तिमें उपयोगी रत्नत्रयजीव, आस्रव और संवरतत्त्वोंमें ही गतार्थ हो जाता है। जीवके सम्पूर्ण अंश जीवतत्त्वरूप हैं। अतः इन्हीं जीव आदि सात तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र सर्वज्ञोक्त होता हुआ हमको बहुत अच्छा लगा है। सात तत्त्वोंमें जीव, अजीव ये दो धर्मी हैं, आस्रव तत्त्व अशुद्ध द्रव्यका गुण है, शेष तत्त्व पर्यायें हैं। द्रव्य, गुण और पर्यायके अतिरिक्त जगत्में कोई अन्य पदार्थ नहीं है। सहभावी और क्रमभावी पर्यायोंका अखण्डपिण्ड ही द्रव्य है। जैसे कि नव देवताओंमें अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु ये पांच चेतनद्रव्य हैं। जिनबिम्ब और जिन चैत्यालय ये दो जडद्रव्य हैं, जिनधर्म आत्मद्रव्यका स्वाभाविक परिणाम है। तथा ज्ञानरूप जिनागम जीवद्रव्यका

गुण है और शब्दमय द्रव्यश्रुत पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है, तैसे ही सात तत्त्वोंका द्रव्य, गुण और पर्यायरूपसे गुम्फन हो रहा है। विचारशील भव्यहंसोंके मानसमें उनका अविकल आकलन हो जाता है। यह जैनशासन सदा जयशील बढता रहे।

मुमुक्षुश्रद्धाविषयाः सप्तैवेति प्रबोधयत् ।
जीवादयो मनीषिभ्यो जीयात्कौ श्लोकवार्तिकम् ॥ १ ॥

—— ×——

नन्वेते जीवादयः शब्दब्रह्मणो विवर्ताः शब्दब्रह्मैव नाम तत्त्वं नान्यदिति केचित् । तेषां कल्पनारोपमात्रत्वात् । तस्य च स्थापनामात्रमेवेत्यन्ये, तेषां द्रव्यान्तःप्रविष्टत्वात् । तद्व्यतिरेकेणासम्भवात् द्रव्यमेवेत्येके । पर्यायमात्रव्यतिरेकेण सर्वस्याघटनाद्भाव एवेत्यपरे । तन्निराकरणाय लोकसमयव्यवहारेष्वप्रकृतापाकरणाय प्रकृतव्याकरणाय च संक्षेपतो निक्षेपप्रसिद्ध्यर्थमिदमाह—

अग्रिम सूत्रके लिये शंका करते हुए अवतरण उठाते हैं कि ये जीव आदिक सात तत्त्व शब्द ब्रह्मकी पर्याय हैं, शब्दब्रह्म ही नाम तत्त्व है। अन्य स्थापना, द्रव्य, भाव कोई पदार्थ नहीं हैं, संसारके सभी पदार्थ शब्दब्रह्मरूप हैं। शब्दब्रह्म अनादि अनिधन है। शब्दब्रह्मसे जिसका तादात्म्य नहीं है उसका ज्ञान भी नहीं हो सकता है। अव्यक्त और व्यक्त रूपसे सभी पदार्थ नामरूप ही हैं। स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपके अभिधेय पदार्थोंमें अन्तर्जल्प, बहिर्जल्परूप संज्ञा करना लगा हुआ है। शब्दोंके वाच्यार्थसे अधिक गुणपन न्यून गुणपन भी देखा जाता है। संसारमें अनभिलाप्य पदार्थ कोई भी नहीं है, तभी तो अभिधेय और प्रमेयका सहचरभाव है, सर्वत्र नाम निक्षेपका ही दौड दौरा है। अतः एक नाम निक्षेप ही मानना आवश्यक है। जगत्की प्रक्रियाका प्रधान कारण एक शब्द ब्रह्म ही है। उसीके परिणाम जीव आदिक पदार्थ हैं, ऐसा कोई कह रहे हैं। दूसरोंका यह मन्तव्य है कि जीव आदिक सात पदार्थ मुख्यरूप नहीं हैं। उनका केवल कल्पनासे जीवपना, अजीवपना आदि आरोप कर लिया जाता है। अतः उस कल्पनाके आरोपकी केवल स्थापना ही कर ली जाती है। इन्द्र नामके पुरुष या काष्ठके इन्द्र इन दोनोंके समान सुधर्मा सभामें बैठनेवाले पहिले स्वर्गके मुख्य इन्द्रमें भी परम ऐश्वर्यपनेकी स्थापना ही है। तथा भावरूप मुख्य घटमें चेतनमें होनेवाली चेष्टा करनेकी स्थापना है। भविष्यमें राजा होनेवाले राजपुत्रमें भी सूर्य या चन्द्रमें रहनेवाली दीप्तिकी स्थापना है। नाम निक्षेपमें भी शब्दानुपूर्वीके द्वारा स्थापना की गयी है। संसारमें पुत्र, मित्र, धन, गृह, कुटुम्ब आदिमें सर्वत्र स्थापना (कल्पना) का ही साम्राज्य है। इस कारण स्थापना ही उपाय तत्त्व है। अन्य नाम, द्रव्य, भाव ये तीन नहीं, ऐसा कोई अन्य एकान्तवादी कह रहे हैं। तीसरोंका कहना है कि उन नाम, स्थापना, भाव, तीनोंका द्रव्यके अन्तरंगमें प्रवेश हो जाता है। सभीमें भविष्यके परिणमन होनेकी शक्ति विद्यमान है। द्रव्यसे भिन्नपने करके कोई नाम, स्थापना, भाव ये तीन तत्त्व नहीं संभवते हैं।

नाम निक्षेपवाले पदार्थ उसके वाच्य अर्थके अनुसार भूत, भविष्यमें परिणमन होनेकी शक्ति रखते हैं। मूर्ख अज्ञानी जीव कर्म फल चेतनाके समय अजीवके समान है। अजीव कर्म, शरीर भी आत्माके सम्बन्धसे चेतनवत् हो जाते हैं, घरघुली या भौंरी शब्द करते करते मृत झींगुर या गिडारोंको अपना बच्चा बना लेती है। तीन चार दिनके लिये बना लिये गये सभापतिपनकी स्थापना पहिले और पीछे समयोंमें उन गुणोंकी निष्ठापक हो जाती है। वर्तमानकी भावरूप पर्यायोंसे आक्रान्त होरहे पदार्थका भूत भविष्यत् कालमें वैसा परिणमन करना प्रसिद्ध ही हो रहा है। अतः द्रव्य ही एक निक्षेप है। ऐसा कोई एक प्रतिवादी कह रहे हैं। चौथेका यह भाव है कि केवल पर्यायोंसे भिन्न नाम, स्थापना, द्रव्य इन सबकी घटना (सिद्धि) नहीं हो सकती है। नाम निक्षेपके वाच्य अर्थके अनुसार कुछ देरके लिये उसका वैसा परिणाम हो जाता है। आलसी शिष्यको मूर्ख कह देनेसे अल्पकालके लिये वह वक्ताकी ओरसे मूर्खत्व धर्मका आश्रय बन जाता है। तभी तो सुंदर, भव्य, और पवित्र नाम रखनेका उपदेश है। स्थापनामें तो तदनुसार परिणाम हो ही जाते हैं। इस बातको मूर्तिपूजक जन समझते हैं। द्रव्यमें शक्तिरूपसे वर्तमानमें भी भाव शक्तियां विद्यमान हैं। वस्तुका अर्थक्रियाकारीपन लक्षण भावोंमें ही समीचीन घटता है। सर्वत्र भावका प्रभाव है, अतः भाव ही एक न्यास है। इस प्रकार कोई अन्य वादी कह रहे हैं। उन चारों एकान्तवादियोंके निराकरण करनेके लिये और सम्पूर्ण लोकोंमें प्रसिद्ध संकेतके अनुसार होते हुए व्यवहारोंमें अप्रकरण प्राप्तके दूर करनेके लिये तथा प्रकरणगत पदार्थके व्युत्पादनके लिये संक्षेपसे निक्षेपतत्त्वकी प्रसिद्धिके अर्थ श्रीउमास्वामी महाराज इस सूत्रको कहते हैं।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेपसे उन जीव आदिक पदार्थोंका न्यास होता है। अर्थात् जगत्के अनन्त पदार्थोंकी ज्ञप्ति होनेमें प्रधान कारण ज्ञान है। इससे उतरता हुआ दूसरा प्रधान कारण शब्द ही है। शब्दके द्वारा पदार्थोंमें प्रतिपाद्यपना नाम आदि चारनिक्षेपोंसे होता है। वाच्य पदार्थके अतिरिक्त बहुभाग अवाच्य पदार्थोंमें भी नाम आदिका अवलम्ब लेकर न्यास किया जाता है। लोकप्रसिद्ध व्यवहारोंमें नाम आदिक निक्षेपोंकी विषयविधि अत्युपयोगी है। अतः जीव आदिक पदार्थोंको समझने और समझानेके लिये नाम, स्थापना, द्रव्य और भावोंसे उनका न्यास (प्रतिपादित्व) करना अनिवार्य है।

न नाममात्रत्वेन स्थापनामात्रत्वेन द्रव्यमात्रत्वेन भावमात्रत्वेन वा संकरव्यतिरेकाभ्यां वा जीवादीनां निक्षेप इत्यर्थः। तत्र—

केवल नामपनेसे ही या अकेले स्थापनापनेसे ही अथवा कोरे द्रव्यपनेसे ही एवं केवल भाव तत्त्वसे ही जीव आदिकोंका न्यास नहीं होता है, किन्तु चारोंसे होता है। पूर्वमें कह दिये गये

एकान्तवादियोंके माने गये सर्वथा एकांतोंमें अव्याप्ति दोष आता है। तथा संकर और व्यतिरेकसे भी जीव आदिकोंका निक्षेप नहीं है। इसका भावार्थ—यों है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थके संकर (एक दूसरेके गुणपर्यायोंका मिल जाना) से भी नहीं समझाया जाता है और व्यतिरेक (कोरे अभावोंसे अथवा एक दूसरेमें विषयगमन करनेसे) से भी बोद्धव्य नहीं है, इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। इसका अभिप्राय यही है कि चारोंसे ही भिन्न भिन्न पदार्थोंका अपने अपने स्वरूपमें ज्ञानके उपयोगी लोकव्यवहार होता है। तहां सबसे पहिले नाम निक्षेपका लक्षण करते हैं—

संज्ञाकर्मानपेक्ष्यैव निमित्तान्तरमिष्टितः।
नामानेकविधं लोकव्यवहाराय सूत्रितम् ॥ १ ॥

दूसरे निमित्तोंकी नहीं अपेक्षा करके ही केवल वक्ताकी इच्छासे लोक व्यवहारके लिये अनेक प्रकारकी संज्ञा करना, नामनिक्षेप है। ऐसे नामको प्रकृत सूत्रमें गूंथा है।

न हि नाम्नोऽनभिधाने लोके व्यवहारस्य प्रवृत्तिर्घटते येन तन्न सूत्र्यते। नापि तदेकविधमेव विशेषतोऽनेकविधत्वेन प्रतीतेः।

नाम निक्षेपका कथन न करने पर लोकमें उस इन्द्रदत्त, जिनदत्त आदि नामोंके व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं घटित होती है जिससे कि उस नामको सूत्रमें न कहा जावे, अर्थात् नामके द्वारा व्यवहारकी प्रवृत्तिके लिये सूत्रमें सबसे पहिले नाम निक्षेपका कथन करना आवश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि वह नाम एक प्रकारका ही नहीं है। किन्तु विशेषोंकी अपेक्षासे अश्व, गौ, महिष, देवदत्त, वीरदत्त, ग्राम, दुर्ग, विद्यालय, आदि अनेक प्रकारोंसे प्रतीत होरहा है।

किञ्चिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम यथा डित्थ इति, किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति, किञ्चिदेकाजीवनाम यथा घट इति, किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति, किञ्चिदेकजीवैकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति।

कोई कोई नाम तो ऐसा निश्चित हो रहा है कि यह एक ही जीवका नाम है, जैसे कि एक विशेष पुरुषका नाम डित्थ रख दिया है यह एक ही जीवका नाम है, अन्य जीव या अजीव पदार्थ तो डित्थ नामसे नहीं कहे जा सकते हैं। काठके हाथीपनरूप निमित्तकी नहीं अपेक्षा कर किसी व्यक्तिका नाम डित्थ रख दिया है। ऐसे ही जयचन्द्र, नेमीचन्द्र, आदि शब्द हैं। तथा कोई कोई नाम ऐसा है जिससे कि अनेक जीव कहे जाते हैं, जैसे कि अनेक हाथियोंका झुण्ड यूथ है यूथ शब्द एक है। किन्तु उसके वाच्यार्थ अनेक जीव हैं। ऐसे ही सेना, जनता आदि शब्द हैं। तथा कोई एक अजीवका वाचक नाम है, जैसे कि घट। इसी प्रकार थाली, दण्ड आदि भी एक अजीवके वाचक नाम हैं। और कोई अनेक अजीवोंका वाचक एक नाम है, जैसे कि प्रासाद (हवेली, कोठी,

महल) एक सुन्दर गृहमें ईंट, चूना, पत्थर, लोहा, काठ आदि अनेक अजीव पदार्थ हैं। सबको मिलाकर बनाये हुए संयुक्त द्रव्यको महल शब्दसे कहा जाता है। इसी प्रकार दुकान, यन्त्रालय, गोदाम, आदि भी अनेक अजीवोंके वाचक एक एक शब्द हैं। तथा कोई शब्द एक जीव और एक अजीवका नाम है, जैसे कि प्रतीहार पद है। स्वामीसे मिलानेवाला द्वारपर खडा हुआ द्वारपालिया द्वार और व्यक्तिकी अपेक्षासे अथवा प्रतीहारपनेके दण्ड, तलवार, बन्दूक, चपरास इनमें से किसी भी चिन्ह और पुरुषकी अपेक्षासे एक जीव और एक अजीव ये दो हैं। इसी प्रकार पत्रवाहक, न्यायकर्ता आदि शब्द भी एक जीव और एक अजीवके वाचक हैं।

किञ्चिदेकजीवानेकाजीवनाम यथा काहार इति, किञ्चिदेकाजीवानेकजीवनाम यथा मन्दुरेति, किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम यथा नगरमिति प्रतिविषयमवान्तरभेदाद्बहुधा भिद्यते संव्यवहाराय नाम लोके। तच्च निमित्तान्तरमनपेक्ष्य संज्ञाकरणं वक्तुरिच्छातः प्रवर्तते।

कोई नाम तो एक जीव और अनेक अजीवोंका वाचक है, जैसे कि काहार यानी थोडा भोजन, यहां एक भोक्ता पुरुष है, खाद्य जड पदार्थ अनेक हैं। इसी प्रकार कठपुतलियोंसे खेल दिखलाने वाला बाजीगर या बहुरूपिया अथवा अनेक भूषण वस्त्रोंसे शोभित देवदत्त आदि शब्द भी हैं। एवंच कोई शब्द एक अजीव पदार्थ और अनेक जीव पदार्थके समुदायको कहते हैं, जैसे कि मन्दुरा यानी घुडसाल एक गृह है, उसमें अनेक घोडे रहते हैं। इसी प्रकार विद्यालय, सभागृह आदि नाम भी हैं। कोई कोई वाचक शब्द अनेक जीव और अनेक अजीव पदार्थोंके नाम हैं जैसे कि नगर। देखिये, एक नगरमें अनेक गृह, घट, पट, स्तम्भ, आदि अनेक जडरूप सामग्री है और अनेक मनुष्य, पशु भी नगरमें विद्यमान हैं। ऐसे ही उद्यान, समुद्र, ग्राम आदि शब्द हैं। इस रीतिके अनुसार प्रत्येक वाच्य अर्थके मध्यवर्ती भेद प्रभेदोंसे बहुत प्रकार नाम शब्द समीचीन व्यवहारके लिये लोकमें न्यारा न्यारा हो रहा है। वह नाम निक्षेप विचारा प्रकृति, प्रत्यय और उनके अर्थ अथवा अन्य लौकिक निमित्तोंकी नहीं अपेक्षा करके मात्र वक्ताकी इच्छासे यथेच्छ किसीकी संज्ञा कर देनारूप प्रवर्त रहा है।

किं पुनः नाम्नो निमित्तं किं वा निमित्तान्तरम् ? इत्याह—

यहां किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि उस नामनिक्षेपका फिर निमित्त क्या है और उस नामका निमित्तान्तर यानी दूसरा निमित्त क्या हो सकता है। जिसकी कि नहीं अपेक्षा करके वक्ताकी इच्छा मात्रसे नामकी प्रवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार दो प्रश्नोंके उत्तरमें आचार्य महाराज वार्तिकको कहते हैं। अनन्यचित्त होकर सुनिये।

नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम् ।
तस्मादन्यत्तु जात्यादिनिमित्तान्तरमिष्यते ॥ २ ॥

नाम निक्षेपका सम्पूर्ण कारण वक्ताका अभिप्राय कहा गया है । पिता जैसे अपने पुत्रका नाम चाहे जो रख देता है । उसी प्रकार वक्ता लोकव्यवहारकी प्रसिद्धिके लिये गुणोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ अपनी इच्छासे पदार्थोंमें नाम निक्षेप कर लेता है । और उस अभिप्रायसे भिन्न जाति, गुण, क्रिया, संयोगीद्रव्य, समवायीद्रव्य ये सब तो निमित्तान्तर माने गये हैं ।

जातिद्वारेण शब्दो हि यो द्रव्यादिषु वर्तते ।
जातिहेतुः स विज्ञेयो गौरश्वः इति शब्दवत् ॥ ३ ॥
जातावेव तु यत्संज्ञाकर्म तन्नाम मन्यते ।
तस्यामपरजात्यादिनिमित्तानामभावतः ॥ ४ ॥

अव्यभिचारी सदृशपने करके अनेक अर्थोंका पिण्डरूप अर्थ जाति है । व्यक्तियोंसे अभिन्न होरहे सादृश्यरूप तिर्यक्सामान्यसे अनेक पदार्थोंका संग्रह कर लेना जातिका प्रयोजन है । इस जातिके द्वारा जो शब्द नियम करके द्रव्य, गुण, पर्यायों आदिमें वर्त रहे हैं, वह शब्द जातिको निमित्त मानकर व्यवहृत हो रहा समझ लेना चाहिये । जैसे कि गौ, अश्व, गेहूं, चना, इन शब्दोंमें कहनेसे इन जातियोंसे युक्त पदार्थोंका ग्रहण हो जाता है । जातिमें ही जो संज्ञाकर्म किया जाता है। वह तो जाति नामनिक्षेप माना जाता है । यहां जाति शब्दको केवल स्वकीय अंशरूप जातिके अभिप्रायकी अपेक्षा है । इससे भिन्न दूसरे बहिरंग जाति, गुण आदि निमित्तोंकी अपेक्षाका अभाव है । उस जातिमें पुनः दूसरी जातिकी आकांक्षा नहीं है ।

गुणे कर्मणि वा नाम संज्ञा कर्म तथेष्यते ।
गुणकर्मान्तराभावाज्जातेरप्यनपेक्षणात् ॥ ५ ॥
गुणप्राधान्यतो वृत्तो द्रव्ये गुणनिमित्तकः ।
शुक्लः पाटल इत्यादिशब्दवत्संप्रतीयते ॥ ६ ॥
कर्मप्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निबुध्यते ।
चरति प्लवते यद्वत् कश्चिदित्यतिनिश्चितम् ॥ ७ ॥

गुणमें अथवा क्रियामें नामनिक्षेपरूप संज्ञा कर्म किया जाता है। वह तिसी प्रकार गुणशब्द और क्रियाशब्द इष्ट किये गये हैं। गुणशब्दमें अपनी प्रवृत्तिके कारण गुणके अभिप्रायकी अपेक्षा है। अन्य बाहिरके गुण और कर्मोंके निमित्तकारणपना नहीं है, जातिकी भी अपेक्षा नहीं है। ऐसे ही क्रियावाचक शब्दोंमें भी वक्ताके अभिप्रायरूप क्रियाकी आकांक्षा है। अन्य वास्तविक क्रिया, गुण और जातिकी अपेक्षा नहीं है। गुण, क्रिया, जाति, संयोग, समवाय, आदिके अखण्ड पिण्डरूप द्रव्यमें गुणकी प्रधानतासे प्रवृत्त हो रहा शब्द गुणशब्द कहा जाता है। वह गुणके अभिप्रायको निमित्त मानकर वक्ता द्वारा व्यवहारमें आरहा है। जैसे कि शुक्लरंगकी अपेक्षासे शुक्ल शब्द है। श्वेतरंगसे मिला हुआ लालरंग पाटल कहा जाता है। मीठे रसकी अपेक्षासे मधुर रस है। सुरभि, शीत, कठोर, ज्ञान, सुख, चारित्र इत्यादि शब्दोंके समान गुण शब्द समीचीन व्यवहारमें प्रतीत हो रहे हैं। तथा क्रियाकी प्रधानतासे उस अखण्ड पिण्डरूप द्रव्यमें प्रवृत्त हो रहे शब्द क्रियाशब्द कहे जाते हैं। उनमें वक्ताका क्रियाकी ओर लक्ष्य देनेवाला अभिप्राय कारण है। इन शब्दोंमें क्रिया निमित्त जाना जारहा है, जैसे कि गमन करता है, भक्षण करता है, ऐसा चरतिक्रिया स्वरूप शब्द है। तैर रहा है, या गमन कर रहा है, इस अभिप्रायको कहनेवाला प्लवते यह शब्द नामनिक्षेप है। ऐसे ही और कोई भी पाचक, पाठक, लावक इत्यादि शब्द भी परिसन्दरूप पकाना, पढाना, छेदना, रूप क्रियाके अवलम्बसे क्रियाशब्द बोले जाते हैं। इस प्रकार इन नाम शब्दोंसे व्यवहारमें निक्षेप कर पदार्थोंका अधिक निश्चय किया जा रहा है।

द्रव्यान्तरमुखे तु स्यात्प्रवृत्तो द्रव्यहेतुकः।
शब्दस्तद्द्विविधस्तज्ज्ञैर्निराकुलमुदाहृतः ॥ ८ ॥
संयोगिद्रव्यशब्दः स्यात् कुण्डलीत्यादिशब्दवत्।
समवायिद्रव्यशब्दो विषाणीत्यादिरास्थितः ॥ ९ ॥
कुण्डलीत्यादयः शब्दा यदि संयोगहेतवः।
विषाणीत्यादयः किं न समवायनिबन्धनाः ॥ १० ॥

दूसरे द्रव्योंकी प्रधानता होनेपर व्यवहारमें प्रवृत्त हुआ शब्द तो द्रव्य शब्द है। इसके प्रचलित होनेमें कारण युतसिद्धि और अयुतसिद्धिसे सहित होरहा द्रव्य है। उस शब्दकी शक्तिको जाननेवाले विद्वानोंने आकुलता रहित होकर उस द्रव्य शब्दको दो प्रकारका निरूपण किया है। कुण्डलयुक्त देवदत्त है। दण्डसहित जिनदत्त है, इत्यादि प्रयोगोंमें कुण्डली, दण्डी आदि शब्द तो संयोगी द्रव्य शब्द हैं, देवदत्तमें कुण्डलका संयोग सम्बन्ध है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे संयोग सम्बन्ध ही होता है। अतः संयोगवाले द्रव्यकी मुख्यतासे संयोगी द्रव्य शब्द प्रसिद्ध हो रहा है। द्रव्य शब्दका

दूसरा भेद समवायीद्रव्य शब्द है। जैसे कि सींगवाला बैल है, शाखावाला वृक्ष है, ज्ञानवान् आत्मा है। ये विषाणी, शाखी, ज्ञानी इत्यादि शब्द समवायी द्रव्य शब्द निर्णीत हो चुके हैं। नैयायिकोंने गुण और गुणीका तथा अवयव और अवयवीका समवाय सम्बन्ध इष्ट किया है। यह समवाय सम्बन्ध कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्धसे भिन्न नहीं ठहरता है। अतः कोई विरोध नहीं किया जाता है। गौका और सींगका अवयव अवयविभाव होनेसे समवाय सम्बन्ध है। वैशेषिकोंके सिद्धान्तानुसार अवयवोंमें अवयवी समवाय सम्बन्धसे रहता है, अवयवीमें अवयव नहीं। किन्तु जैनसिद्धान्तके अनुसार अवयवोंमें भी समवाय सम्बन्धसे अवयवी रह जाता है और अवयवीमें भी अवयव समवाय सम्बन्ध (कथञ्चित् तादात्म्य) से ठहरते हैं। नैयायिकोंने स्कन्ध की उत्पत्ति संघातसे ही मानी है। भेद (विश्लेष) से नहीं, परन्तु आर्हतोंने भेद, संघात और दोनोंसे स्कन्धकी उत्पत्ति मानी है परमाणुकी तो भेदसे ही उत्पत्ति होती है। भलें ही अनन्तानन्त परमाणु ऐसे हैं जो अभीतक स्कन्ध अवस्थामें प्राप्त नहीं हुए हैं, वे अनादिसे परमाणुरूप हैं। फिर भी जो स्कन्ध होकर पुनः परमाणुरूप हो गये हैं उनकी उत्पत्ति स्कन्धके विश्लेषणसे ही हुयी है। नैयायिकोंका मत है कि दो परमाणुओंसे द्व्यणुक बनता है, तीन द्व्यणुओंसे त्र्यणुक बनता है, चार त्र्यणुकोंसे एक चतुरणुक बनता है और पांच चतुरणुकोंसे एक पंचाणुक बनता है, तथा छह पंचाणुकोंसे एक षडणुक निष्पन्न होता है। ऐसे ही कपाल कपालिका और घटकी उत्पत्तितक यही व्यवस्था चली जाती है। नैयायिकोंका अनुभव है कि सृष्टिके आदिमें ईश्वरकी इच्छासे द्व्यणुक बननेके लिये सभी परमाणुओंमें क्रिया हो जावेगी तो वे दो दो मिलकर सब द्व्यणुक बन जावेंगे, एक भी परमाणु शेष न बचेगा। इसी प्रकार सभी द्व्यणुकोंके तीन तीन मिलकर त्र्यणुक बन जावेंगे। तब एक भी परमाणु तथा एक भी द्व्यणुक न बचेगा। ऐसे ही आगे महापिण्डपर्यन्त सृष्टि बन जावेगी। हां! फिर कभी नाशका प्रकरण उपस्थित यदि होवे, तब कहीं भलें ही परमाणु और द्व्यणुक मिल सकें। यही दशा कच्चे घड़ेको अवामें पकाकर लाल होनेके पूर्वमें होती है, अग्नि संयोगसे क्रिया, क्रियासे विभाग, विभागसे पूर्वसंयोग-नाश, उत्तरदेश संयोग आदि लम्बी प्रक्रिया होकर पुनः द्व्यणुक, त्र्यणुक, आदि क्रमसे नवीन रक्त घट बनता माना है। यों पीलुपाकवादी या पिठर पाकवादी नैयायिक वैशेषिकोंने मान रक्खा है। किन्तु जैनसिद्धान्तमें इस उक्त व्यवस्थाका खण्डन किया है। दो परमाणुओंसे द्व्यणुक बनता है। तीन अणु या एक द्व्यणुक और एक अणुसे त्र्यणुक बन जाता है। एवं चार अणु या दो द्व्यणुक अथवा एक त्र्यणुक और एक अणुसे भी चतुरणुक हो जाता है। ऐसे ही पञ्चाणुक आदिको समझ लेना। नाशमें भी चतुरणुकमेंसे एक परमाणुके निकल जानेपर या एक द्व्यणुकके बिछुड़ जानेपर अथवा एक त्र्यणुकके निकल जानेपर चतुरणुकका नाश हो जाता है। चतुरणुकका नाश (भेद) होनेपर एक अणु और एक त्र्यणुक बन जाता है, या द्व्यणुकरूप भेद होनेपर दो द्व्यणुक बन जाते हैं। वैशेषिकोंकी मानी हुयी नाशप्रक्रिया अयुक्त है। वैशेषिकोंका यह सिद्धान्त है कि एक सौ गज लम्बे

वस्त्रके थानमें एक सूत यदि मिलाया जावेगा, तो शीघ्र ही उस वस्त्रका अवयवोंके नाशक्रमसे सर्वथा नाश हो जावेगा। पीछे मिलाये हुए उस सूत (तन्तु) की अनेक अवयवोंमें सम्मिलित कर उन अवयवोंमें क्रिया उत्पन्न होगी, फिर विभाग, पूर्वसंयोगनाश और उत्तरदेशसंयोग होते हुए द्व्यणुक, त्र्यणुकके क्रमसे बडा थान बन जावेगा। ऐसे ही सौ गज लम्बे थानमेंसे एक छोटासा सूत भी यदि निकाल लिया जावे तो भी सब थान नष्ट हो जावेगा। बडे छोटे अवयवोंका नाश होते होते केवल थानके परमाणु रह जावेंगे। निकाले हुए सूतसे अवशिष्ट रहे परमाणुओंमें क्रिया, विभाग आदि होकर द्व्यणुक, त्र्यणुकके क्रमसे एक सूत कम नवीन थान उत्पन्न होगा। किन्तु जैनसिद्धान्त ऐसा नहीं है। थानमें एक सूत मिलानेसे या निकालनेसे अशुद्धद्रव्यकी व्यंजनपर्याय दूसरी हो (बदल) जाती है। वहां अवयवक्रमसे पूर्व थानका नाश और नवीन थानका उत्पाद होना नहीं प्रतीत होता है। वैशेषिकोंका मानना प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही विरुद्ध पडता है। ऐसी उत्पाद और विनाशकी अयुक्त प्रक्रियाका ढोल पीटना निस्सार है। अतः थोथे कल्पित कणाद सिद्धान्तोंके हम परवश नहीं हैं। इस कारण अवयवीमें अवयवोंका समवाय भी हम इष्ट कर लेते हैं। विषाणी, ज्ञानी, शाखावान् आदि शब्द समवायी द्रव्यशब्द हैं। कुण्डली, छत्री, गृही, धनवान् आदिक शब्द यदि संयोगको हेतु मानकर प्रवृत्त हो रहे हैं तो विषाणी, सुखी, रूपी, वुद्बुद्वान् आदि शब्द समवायको कारण मानते हुए क्यों नहीं प्रवृत्त हो सकेंगे ? यानी अवश्य प्रवर्त रहे हैं।

तथा सति न शद्बानां वाच्या जातिगुणक्रियाः ।
द्रव्यवत्समवायेन स्वसम्बन्धिषु वर्तनात् ॥ ११ ॥
यथा जात्यादयो द्रव्ये समवायबलात् स्थिताः ।
शद्बानां विषयस्तद्वत् द्रव्यं तत्रास्तु किञ्चन ॥ १२ ॥
संयोगबलतश्चैवं वर्तमानं तथेष्यताम् ।
द्रव्यमात्रे तु संज्ञानं नामेति स्फुटमीक्ष्यते ॥ १३ ॥
तेन पञ्चतयी वृत्तिः शद्बानामुपवर्णिता ।
शास्त्रकारैर्न बाध्येत न्यायसामर्थ्यसंगता ॥ १४ ॥

और तैसा होते सन्ते द्रव्यके समान सम्बन्ध करके अश्वत्व, गोत्व आदि जातियां या शुक्ल, रक्त, मधुर आदि गुण अथवा चलना, तैरना, पढना आदि क्रियायें उन शब्दोंके वाच्य नहीं हैं। भले ही वे जाति आदिक अपने अपने सम्बन्धियोंमें समवाय सम्बन्धसे वर्तती हैं। किन्तु उन अर्थोंपर नामनिक्षेपका लक्ष्य नहीं है। जैसे जाति, गुण और कर्म ये समवाय सम्बन्धकी साम-

र्थ्यसे द्रव्यमें स्थित हो रहे शब्दोंके विषय हैं, तैसे कोई कोई द्रव्य भी तो तिस द्रव्यमें समवायसे स्थित हो रहा है। वृक्षद्रव्य अपने अवयव विटप, शाखा, पत्र आदि द्रव्योंमें समवाय सम्बन्धसे रहता है तथा पटद्रव्य [अशुद्ध पुद्गलद्रव्य] तन्तुद्रव्योंमें समवाय सम्बन्धसे ठहरता है और तैसे ही संयोग सम्बन्धकी शक्तिसे दण्डी, छत्रीरूप द्रव्यके ज्ञान हो जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य सामान्यमें दो प्रकारसे वर्तरहा तो ज्ञान हो जाना इष्ट किया है। इस रीतिपर संयोग समवाय सम्बन्ध की शक्ति करके स्पष्ट रूपसे द्रव्यशब्द व्यवहारमें आते हुए देखे जाते हैं जो कि नाम निक्षेप है। भावार्थ—गति आदिक निमित्तान्तरोंकी नहीं अपेक्षा करके केवल वक्ताके अभिप्रायसे व्यवहारमें नामकी प्रवृत्ति हो रही है, नामका निक्षेप करनेमें जाति, गुण आदि द्वार हो जाते हैं। तिस कारण शब्दोंकी जाति, गुण, क्रिया, संयोगीद्रव्य, समवायीद्रव्य इस प्रकार पांच अवयव वाली शब्दोंकी प्रवृत्ति लोकमें कही गयी है वह न्यायकी सामर्थ्यसे अच्छी तरह घटित होती हुयी शास्त्रकारोंके द्वारा भी बाधित नहीं होती है। भावार्थ—हम पांच ही प्रकारके शब्दोंका एकान्त नहीं करते हैं इनके अतिरिक्त पारिभाषिक शब्द, यदृच्छा शब्द, संकेतित शब्द और अपभ्रंश शब्द भी हैं। तथा द्वीन्द्रिय आदिक जीवोंके अव्यक्त शब्द भी प्रयोजनोंसे सहित हैं। किन्तु लोकमें जाति आदि पांच प्रकारके शब्द माने हैं। अतः हम शास्त्रमें उनका विरोध भी नहीं करते हैं। न्यायके बलसे प्राप्त हुए सिद्धान्तको मान लेना ही बुद्धिमत्ता है। यहांतक नामनिक्षेपके निमित्तान्तर माने गये जाति आदिका निरूपण कर दिया गया है।

वक्तुर्विवक्षायामेव शब्दस्य प्रवृत्तिस्तत्प्रवृत्तेः सैव निमित्तं न तु जातिद्रव्यगुणक्रियास्तदभावात्। स्वलक्षणेऽध्यक्षतस्तदनवभासनात्, अन्यथा सर्वस्य तावतीनां बुद्धीनां सकृदुदयप्रसंगात्। प्रत्यक्षपृष्ठभाविन्यां तु कल्पनायामवभासमाना जात्यादयो यदि शब्दस्य विषयास्तदा कल्पनैव तस्य विषय इति केचित्।

यहां बौद्ध कह रहे हैं कि वक्ता जीवके बोलने की इच्छा होनेपर ही शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः उस शब्द की प्रवृत्तिका निमित्त कारण वक्ताकी इच्छा ही है। किन्तु जाति, द्रव्य, गुण, कियायें तो शब्दके निमित्त नहीं है, क्योंकि इनको निमित्त मानकर वह शब्दोंकी प्रवृत्ति नहीं हो रही है। अतः ये निमित्तान्तर (दूसरे निमित्त) भी नहीं हैं। जगत्में वस्तुभूत पदार्थ स्वलक्षण है, घट, पट, गृह, गौ, अश्व आदि स्थूल अवयवी पदार्थ तो कल्पित हैं। क्षणिक परमाणुरूप निर्विकल्पक स्वलक्षण ही परमार्थभूत है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे केवल स्वलक्षण जाना जाता है, तभी तो ज्ञानका नाम भी निर्विकल्पक होगया है। प्रत्यक्षसे जाने गये स्वलक्षणमें उन जाति, गुण आदिका प्रतिभास नहीं होता है। अन्यथा यानी प्रत्यक्षमें जाति आदिका प्रतिभास स्वीकृत कर लिया जावेगा तो सभी जीवोंको जाति आदिकोंसे सहित उतनी अनेक बुद्धियोंका एक समयमें उत्पन्न होनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—जो वस्तुभूत धर्म हैं, उनका वस्तुके

देखनेपर ही अन्यकी अपेक्षा बिना ज्ञान हो जाता है । मिश्री सबके लिए मीठी है । बच्चा,पशु,गूंगा, बहरा, अन्धा आदिके मुंहमें प्राप्त हुयी मिश्री मीठी लगती है । चन्द्रमाको देखकर उसके रूपका ज्ञान पशु या उत्पन्न हुआ उसी दिनका बच्चा, अथवा मक्खीतकको हो जाता है । किन्तु पदार्थोंको देखते, सूंघते चाटते, ही विकल्प पनाओंसे रहित रूप, गन्ध, रसका निरपेक्ष होकर जीवोंको जैसे ज्ञान हो जाता है, वैसे जाति, गुण, मेरा, तेरा आदिपनेका ज्ञान नहीं होता है। भूमवन (तलघर) में उत्पन्न हुए बच्चेको रूप आदिकका ज्ञान हो जाता है । किन्तु गोत्व, अश्वत्व, आदि जातियोंका ज्ञान नहीं हो सकता है । आमको खाकर रसका ज्ञान हो जाता है । किन्तु यह आम आज टूटा है । एक आनेका है । इसको देवदत्त लाया । चार दिन तक ठहर सकता है । इत्यादि ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं हो पाते हैं। अन्यथा सभी देखनेवालोंको होने चाहिये । आपके जैनसिद्धान्तमें भी इनको श्रुतज्ञानका ज्ञेय माना है । प्रत्यक्षज्ञान विचार करनेवाला नहीं है, वैसे ही हम लोगोंके निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें जाति द्रव्य आदिका उल्लेख नहीं है । हां ! प्रत्यक्ष ज्ञानके पीछे मिथ्यावासनाओंके अधीन होनेवाली कल्पना (मिथ्याज्ञान) में तो वे जाति आदिक प्रतिभासित हो जाती हैं । ऐसी दशामें यदि वे शद्बके विषय माने जावेंगे तब तो उस शद्बका विषय कल्पना ही हुआ । अतएव हम मानते हैं कि शद्बजन्य ज्ञान कल्पित पदार्थको ही विषय करता है । तभी तो हम (बौद्ध) आगमको प्रमाण नहीं मानते हैं । इस प्रकार कोई बौद्ध मतानुयायी कह रहे हैं ।

तेप्यनालोचितवचनाः । प्रतीतिसिद्धत्वाज्जात्यादीनां शद्बनिमित्तानां वक्तुरभिप्रायनिमित्तान्तरतोपपत्तेः । सदृशपरिणामो हि जातिः पदार्थानां प्रत्यक्षतः प्रतीयते विसदृशपरिणामाख्यविशेषवत् । पिण्डोयं गौरयं च गौरिति प्रत्ययात् खण्डोयं मुण्डोयमिति प्रत्ययवत् ।

अत्र आचार्य कहते हैं कि उनके ये कहे हुए वचन भी विना विचारे हुए हैं अथवा उन्होंने शद्बसिद्धान्त और शाद्बबोध प्रणालीका विचार नहीं किया है । क्योंकि जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया आदि ये सब प्रतीतियोंसे सिद्ध हो रहे हैं । नाम शद्बका निमित्त कारण वक्ताका अभिप्राय है। किन्तु शद्बके निमित्तसे अतिरिक्त निराले कारण जाति आदि हैं । जैनसिद्धान्तमें नैयायिकोंके समान नित्य, व्यापक, एक और अनेकमें रहनेवाली ऐसी जाति नहीं मानी है, जिस कारणसे कि अनेक पदार्थोंका सदृश परिणाम रूप जाति प्रत्यक्ष प्रमाणसे जानी जा रही है। अनेक गौओंमें सींग, सास्ना, पशुत्व, ककुद् (ढांट), पूंछके प्रान्तमें इकट्ठे बाल होना, आदिकी समानतारूप सदृश परिणाम देखा जा रहा है । जैसे कि विजातीय भैंस, घोडे, ऊंट आदिसे तथा सजातीय अन्य गौओंकी अपेक्षासे प्रकृत एक गौमें विभिन्न परिणाम नामका विशेष पदार्थ प्रमाणों द्वारा देखा जाता है । आप बौद्ध अन्योंकी अपेक्षासे रहनेवाले विशेष परिणामको वस्तुमें जैसे स्वीकार करते हैं, वैसे सादृश्यपरिणामरूप सामान्यको भी स्वीकार कीजिये। अर्थात् विशेष और सामान्य इन दोनोंसे तदात्मक हो रहा वस्तु ही प्रमाणका विषय है । जैसे यह खण्ड गौ व्यक्ति है । यह न्यारी मुण्ड गौ है । इस प्रकार विशेष अंशको

जाननेवाले ज्ञान होते हैं, तैसे ही ये समुदित गौ हैं। यह भी गौ है। यह भी गौ है। इस प्रकार न्यारी गौ व्यक्तियोंमें अन्वय अंशको विषय करता हुआ सामान्यका ज्ञान होता है। " गोबलीवर्द " न्यायके अनुसार गाय कहनेसे बैल और बैल कहनेसे गाय भी समझी जाती है। भिन्न भिन्न प्रकारकी गौओंको देखकर गाय हैं, गाय हैं, ऐसी अन्वय प्रतीति होती है। उसका विषय गोत्व जाति है। ऐसे ही अनेक प्रकारके घोडोंको देखकर यह घोडा है, यह भी घोडा है। ऐसे प्रत्ययसे घोडोंके सदृश परिणामको विषय करनेवाला अश्वत्व जातिका ज्ञान होता है। उस जातिको अवलम्ब करनेवाले जातिशब्द हैं।

भ्रान्तोऽयं सादृश्यप्रत्ययः इति चेत् विसदृशप्रत्ययः कथमभ्रान्तः ? सोऽपि भ्रांत एव स्वलक्षणप्रत्ययस्यैवाभ्रान्तत्वात् तस्य स्पष्टाभत्वादविसंवादकत्वाच्चेति चेत्, नाक्षजस्य सादृश्यादिप्रत्ययस्य स्पष्टाभत्वाविशेषादभ्रान्तत्वस्य निराकर्तुमशक्तेः। सादृश्यवैसदृश्यव्यतिरेकेण स्वलक्षणस्य जातुचिदप्रतिभासनात्। सदृशेतरपरिणामात्मकस्यैव सर्वदोपलम्भात्। सर्वतो व्यावृत्तानंशक्षणिकस्वलक्षणस्य प्रत्ययविषयतया निराकरिष्यमाणत्वात्।

बौद्ध कहते हैं कि सदृशपनको विषय करनेवाला यह ज्ञान भ्रान्तिस्वरूप है। अर्थात् मिथ्याज्ञानसे जाना हुआ विषय वास्तविक नहीं कहा जा सकता है। अब आचार्य उत्तर देते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो बतलाओ ! तुम्हारा विलक्षणपनको विषय करनेवाला विशेषज्ञान अभ्रान्त (प्रमाण) कैसे है ?। इसपर आप बौद्ध यदि यों कहें कि विशेषपनेको जाननेवाला ज्ञान भी भ्रान्त ही है। विशेषपना असाधारणपना, अस्थिरपना, अणुपना ये भी तो एक प्रकारकी कल्पनायें ही हैं। सर्व कल्पनाओंसे रहित अकेले शुद्ध स्वलक्षणको विषय करनेवाला निर्विकल्पक प्रत्यक्षही अभ्रान्त है। क्योंकि वह विशदरूपसे अपने विषयका आभास करता है। तथा वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अविसंवादी भी है। ज्ञानसे जिसको जाना जावे, उसीको प्राप्त किया जावे, वह ज्ञान अविसंवादी कहा जाता है। विशेषपना और सामान्यपना ये दोनों धर्म कल्पित हैं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय नहीं हैं। ग्रन्थकार कह रहे हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि सदृशपना (सामान्य) विसदृशपना (विशेष) स्थूलपना, स्थिरता आदिका भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें स्पष्टरूपसे प्रतिभास हो रहा है, कोई अन्तर नहीं है अर्थात् प्रमाणरूप प्रत्यक्षसे जैसे स्वलक्षण जाना जा रहा है तैसे ही सामान्य, विशेष भी जाने जा रहे हैं। सामान्य या विशेषको जाननेवाले ज्ञानके अभ्रान्तपनेका निराकरण नहीं किया जा सकता है। सामान्य और विशेषको छोडकर अकेले स्वलक्षणका कभी एकबार भी ज्ञान नहीं होता है। सदृशपने और विसदृशपने परिणामोंसे तदात्मक हुये पदार्थका ही सदा प्रतिभास हो रहा है। आप बौद्ध लोगोंने सभी धर्मोंसे पृथग्भूत और अंशोंसे सर्वथा रहित तथा क्षणमें ही नष्ट होनेवाला ऐसा स्वलक्षण पदार्थ मान रखा है, वह तो किसी भी ज्ञानका विषय नहीं होता है। धर्म और अंशोंसे सहित तथा कुछ कालतक ठहरनेवाले पदार्थ ही ज्ञानके विषय होते हैं। श्री

अकलङ्कदेवने जायते, अस्ति विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षयते, विनश्यति, ये भावोंकी छह परिणतियां मानी हैं। अश्वविषाणके समान आपके माने हुए स्वलक्षणका ज्ञानमें विषय पडनेपनेसे खण्डन कर दिया जावेगा। अर्थात् वह किसी भी ज्ञानमें विषय नहीं हो सकता है। वह स्वलक्षण पदार्थ जगत्‌में वस्तुभूत है भी तो नहीं। तो फिर ज्ञान किसका ?।

सविकल्पप्रत्यक्षे सदृशपरिणामस्य स्पष्टमवभासनात् सर्वथा बाधकाभावात्। वृत्तिविकल्पादिदूषणस्यात्रानवतारात्। न हि सदृशपरिणामो विशेषेभ्योऽत्यन्तं भिन्नो नाप्यभिन्नो येन भेदाभेदैकान्तदोषोपपातः। कथञ्चिद्भेदाभेदात्। न च तेषु तस्य कथञ्चित्तादात्म्यादन्या वृत्तिरेकदेशेन सर्वात्मना वा यतः सावयवत्वं सादृश्यपरिणामस्य व्यक्त्यन्तरा वृत्तिर्वा स्यात्।

प्रमाणरूप सविकल्पक प्रत्यक्षमें सदृशपरिणाम (सामान्य) का स्पष्ट रूपसे प्रकाश हो रहा है। सभी प्रकारोंसे इसमें बाधक प्रमाणोंका अभाव है। वह सामान्य अपने आधारभूत वस्तुमें किस सम्बन्धसे तथा कहां किस प्रकार ठहरेगा। ऐसे वृत्ति (सम्बन्ध) के विकल्प उठाना आदि दोषोंका यहां अवतार नहीं है। हम स्याद्वादीजन विशेष व्यक्तियोंसे सदृश परिणामको सर्वथा भिन्न नहीं मानते हैं, और व्यक्तियोंसे सर्वथा अभिन्न भी नहीं मानते हैं, जिससे कि नैयायिकोंके ऊपर भेदके एकान्त माननेपर आये हुए दोष हमारे ऊपर भी लागू हो जावें। अथवा कापिलोंके ऊपर अभेद वादके अनुसार आये हुए दोष हमारे ऊपर भी गिर सकें। निर्णय यह है कि हम लोग कथञ्चित् भेद अभेदसे व्यक्तियोंमें सादृश्यस्वरूप जातिकी वृत्ति मानते हैं, इसीका नाम कथञ्चित् तादात्म्य है। उन विशेष व्यक्तियोंमें उस सदृशपरिणामरूप जातिका वर्तना (सम्बन्ध) कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धसे निराला नहीं है। यदि सादृश्य परिणामकी एकदेश (अंश) करके भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें वृत्ति मानी जावेगी ऐसी दशामें तो सदृश परिणामको सावयवपनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—जैसे कि सीधे (जीमने) हाथके पञ्चांगुलको डेरे हाथके पञ्चांगुलके ऊपर रखा जाता है, तो वह एक एक अंगुलीरूप अंशसे दूसरे हाथकी अंगुलियोंके ऊपर ठहरता है। ऐसी दशामें आधेयरूप सीधे हाथका पञ्चांगुल सावयवरूप है। अथवा एक अंगरखा भिन्न भिन्न अवयवोंसे शरीरके अनेक अवयवोंपर संयुक्त होरहा है, अतः वह अंगरखा सावयव है। ऐसे ही गोत्वका कुछ अंश आगरेमें बैठी हुयी गौमें माना जावे और अन्य अंश सहारनपुरकी गौमें स्थित रहे, तीसरा अंश पटनाकी गौमें रहे, ऐसा माननेपर नैयायिकोंके सामान्यमें अवश्य अवयव सहितपनेका प्रसंग आता है। किन्तु हम जैन लोगोंके ऊपर नहीं। क्योंकि आगरेकी गौका सामान्य वहींकी गौमें है और सहारनपुरकी गौका सदृशपरिणाम सहारनपुरकी गौमें ही है, अन्वयज्ञान हो जानेसे सदृशपनेका व्यवहार है। सुन्दर मुखके धर्म मुखमें ही हैं, चन्द्रमामें नहीं और चन्द्रमाके स्वभाव चन्द्रमामें ही हैं, मुखमें नहीं। गोलपना और आल्हादकपनेसे मुखकी उपमा चन्द्रमासे है, वस्तुतः सामान्य धर्म व्यक्तिरूप ही है।

अतः सदृश परिणाम (जाति) को भिन्न भिन्न देशोंमें अंशरूपसे रहनेवाले अवयव सहितपनेका प्रसंग नहीं है। तथा आप वैशेषिकोंकी मानी गयी एक गोत्वजातिको सम्पूर्ण स्वरूपसे एक व्यक्तिमें ही वृत्ति मान लिया जावे तो अन्य व्यक्तियोंमें गोपना नहीं वर्त सकेगा। ऐसी दशामें एक गौ व्यक्ति तो गौ बनी रह सकेगी। अन्य गौ व्यक्तियां अगो हो जावेंगी। एकान्तवादियोंके यहां ये दोष अवश्य आते हैं। किन्तु कथञ्चित् भेदाभेद पक्षमें नहीं। प्रकृत गौमें गोपना है और अन्य गौमें उसका गोपना है। संग्रहनयकी अपेक्षासे अनेक सदृश परिणामोंको एक भी कह सकते हैं। जैसे कि अनेक अवान्तर सत्ताओंके समुदायको महासत्ता कह देते हैं।

न चास्य सर्वगतत्वं येन कर्कादिषु गोत्वादिप्रत्ययसांकर्यं, नापि स्वव्यक्तिषु सर्वात्मैक एव येनोत्पित्सुव्यक्तौ पूर्वाधारस्य त्यागेनागमने तस्य निःसामान्यत्वं तदत्यागेनागमने सावयवत्वं प्रागेव तद्देशेऽस्तित्वे स्वप्रत्ययहेतुत्वं प्रसज्यते, विसदृशपरिणामेनेव सदृशपरिणामेनाक्रान्ताया एवोत्पित्सुव्यक्तेः स्वकारणादुत्पत्तेः।

नैयायिकोंके समान इस सदृश परिणाम (जाति) को हम सर्वव्यापक नहीं मानते हैं। जिससे कि धौला घोडा, रोझ, गेंडा आदि मध्यवर्तियोंमें गोपना, महिषपना आदिके ज्ञानोंका सांकर्य हो जावे। अर्थात् गोत्वको व्यापक माननेसे गौके सदृश शुक्ल घोडेमें भी गोत्वके विद्यमान रह जानेपर गोबुद्धि हो जावेगी। किन्तु स्याद्वादसिद्धान्तमें गोत्वको व्यापक नहीं माना है। एक, एक गोव्यक्तिमें न्यारा न्यारा सदृश गोत्व रहता है। शुक्ल घोडेमें वह गोत्व नहीं है। तथा अपनी सभी गोव्यक्तियोंमें वह गोत्व सामान्य एक ही रहता है यह भी नहीं समझना, जिससे ये तीन दोष आ सकें कि उत्पन्न होनेवाली एक गोव्यक्तिमें पहिले आधारको छोडकर उस गोत्वका आगमन माना जावेगा तो उस पहिली गो व्यक्तिको सामान्य रहितपनेका प्रसंग होगा। तथा यदि पहिले आधारको न छोडकर वह गोत्व नवीन उत्पन्न हुयी गौमें आ जावेगा, तब तो गोत्वको अवयव सहितपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि कतिपय अंशोंसे गोत्व पहिले आधारमें स्थित रहा और उसके दूसरे कतिपय अवयव अन्य स्थलमें उत्पन्न हुए नवीन गौमें आगये हैं, वैशेषिकोंने द्रव्यमें ही क्रिया मानी है। जातिमें तो आना, जानरूप क्रिया नहीं बन सकती हैं। तथा नवीन गौके उत्पन्न होनेवाले उस प्रदेशमें पहिलेसे ही गोत्वका अस्तित्व माना जावेगा तो वह आधार बिना ठहरा कहां ? तथा गौ उत्पत्तिके पूर्वकालोंमें भी अपने गोपनेके ज्ञान होनेकी कारणताका प्रसंग तीसरा होता है। न्यायदीपिकामें कहा है कि " न याति न च तत्रास्ति, न पश्चादस्ति नाशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः "। न तो कहीं जाती है। न वहां है। व्यक्ति नष्ट हो जानेके पीछे वहां रहती भी नहीं, तथा पहिले आधारको छोडती भी नहीं। फिर भी नित्य एक जातिको मानते रहना यह व्यसनियोंका कोरा आग्रह है। वास्तवमें बात यह है कि उत्साह सहित उत्पन्न हो जानेवाली व्यक्ति जो अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न हो रही है, वह जैसे विशेष परिणामसे सनी हुयी उपज रही है,

तैसे ही समान परिणामसे आक्रान्त होकर ही उत्पन्न हो रही है। भावार्थ—विशेष और सामान्य दोनों धर्मोसे युक्त व्यक्ति अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न हो रही है, सामान्य और विशेष दोनों एक मातासे जाये हुए भाई हैं, दोनों वस्तुभूत हैं।

कथमेवं नित्या जातिरुत्पत्तिमद्व्यक्तिवदिति चेत्, द्रव्यार्थादेशादिति ब्रूमः, व्यक्तिरपि तथा नित्या स्यादिति चेत् न किञ्चिदनिष्टं, पर्यायार्थादेशादेव विशेषपर्यायस्य सामान्यपर्यायस्य वाऽनित्यत्वोपगमात्।

यहां कोई पूंछता है कि सदृश परिणामरूप जातिको आप अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ मानेंगे तो इस प्रकार माननेपर भला जाति नित्य कैसे रह सकेगी ? जैसे उत्पन्न होनेवाली व्यक्ति अनित्य है, वैसे ही जाति अनित्य हो जावेगी। फिर जातिके नित्यपनेकी प्रसिद्धिका जैनोंके यहां निर्वाह कैसे होगा ? ऐसा कहनेपर तो हम इस प्रकार स्पष्ट कहते हैं कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जाति नित्य है। भावार्थ—व्यक्तिके उत्पन्न होनेपर उससे अभिन्न जाति भी उत्पन्न हो जाती है। किन्तु द्रव्यदृष्टिसे जाति पदार्थ नित्य है। जातिनामक परिणामके परिणामी पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य आदि नित्यपदार्थ हैं। यदि कोई यों कहे कि तिस प्रकार द्रव्यदृष्टिसे तो घट, पट, गौ आदि व्यक्तियां भी नित्य हो जावेंगी। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि व्यक्तियोंको भी नित्य हो जाने दो ! हम स्याद्वादियोंको कुछ भी अनिष्ट नहीं है। हमने पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे ही विशेषरूप पर्यायको और सामान्यरूप पर्यायको अनित्यपने करके स्वीकार किया है। द्रव्यदृष्टिसे तो सम्पूर्ण पदार्थ नित्य हैं ही।

नोत्पत्तिमत्सामान्यमुत्पित्सुव्यक्तेः पूर्वं व्यक्त्यंतरे तत्प्रत्ययादिति चेत् । तत एव विशेषोऽप्युत्पत्तिमान्मा भूत् । पूर्वो विशेषः स्वप्रत्ययहेतुरन्य एवोत्पित्सुविशेषादिति चेत्, पूर्वव्यक्तिसामान्यमप्यन्यदस्तु ।

यहां कोई वादी कहता है कि सामान्य (जाति) नित्य है। यानी सामान्य उत्पत्तिवाला नहीं है। क्योंकि उत्पन्न होनेके लिये उत्सुक हो रही व्यक्तिके पहिले भी अन्य व्यक्तियोंमें उस सामान्यका ज्ञान हो रहा है। अर्थात् सामान्यकी यदि उत्पत्ति मानी जावेगी तो उत्पत्तिके पहिले सामान्यका ज्ञान नहीं होना चाहिये, किन्तु होता है। अतः सिद्ध है कि सामान्य नित्य है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो उस ही कारणसे विशेष भी उत्पत्तिवाला न हो सकेगा। क्योंकि विशेषसहित उत्पन्न हो रही व्यक्तिके पूर्व समयोंमें अन्य व्यक्तियोंमें भी विशेषका ज्ञान हो रहा है। यदि यों कहोगे कि वह पहिला विशेष इस उत्पन्न हो रहे विशेषसे भिन्न होता हुआ ही अपने ज्ञानका हेतु है। यानी विशेष पदार्थ अनेक हैं, उत्पन्न हो रहे विशेषसे पहिले उत्पन्न हो चुका विशेष न्यारा है। गौका विशेष भिन्न है, और महिषका विशेष निराला है। आचार्य समझाते हैं कि ऐसा कहनेपर तो सामान्यको भी ऐसा ही मान लो ! उत्पन्न हो रहे सामान्यसे पहिली व्यक्तियोंका सामान्य न्यारा ही है। सामान्य भी अनेक हैं।

तर्हि सामान्यं समानप्रत्ययविषयो न स्यात् व्यक्त्यात्मकत्वाद्व्यक्तिस्वात्मवदिति चेत् न, सदृशपरिणामस्य व्यक्तेः कथञ्चिद्भेदप्रतीतेः। प्रथममेकव्यक्तावपि सदृशपरिणामः समानप्रत्ययविषयः स्यादिति चेत् न, अनेकव्यक्तिगतस्यैवानेकस्य सदृशपरिणामस्य समानप्रत्ययविषयतया प्रतीतेः विशेषप्रत्ययविषयतया वैसदृशपरिणामवत् ।

यहां कोई कहते हैं कि तब तो यह इसके समान है, यह इसके समान है, इस प्रकार समान ज्ञानका विषय सामान्य पदार्थ न हो सकेगा। क्योंकि वह सामान्य व्यक्तियोंसे तदात्मक है। जैसे कि व्यक्तिका अपना व्यक्तिस्वरूप आत्मा सर्वथा एक व्यक्ति होनेसे अन्वयरूप करके समानज्ञानका विषय नहीं है। एक घटव्यक्ति अनेक घटोंमें अपने डीलसे अन्वित नहीं हो सकती है। ऐसे ही व्यक्तिरूप सामान्य भी अन्वय ज्ञान न करा सकेगा। ग्रन्थकार बोलते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि सदृश परिणामका व्यक्तिसे कथञ्चित् भेद प्रतीत हो रहा है। यानी व्यक्ति और सदृशरूप पर्यायका सर्वथा अभेद नहीं है। भावार्थ—एक व्यक्ति व्यक्त्यन्तरमें भले ही अन्वित न होवे। किन्तु व्यक्तिसे कथञ्चित् भिन्न सामान्य अनेकव्यक्तिओंमें ओतप्रोत होकर रह सकता है। यहां कोई यों कहे कि यदि व्यक्तिरूप ही जाति मानी जावेगी तो अकेली विशेष व्यक्तिमें भी पहिले से ही वह सादृश्यपरिणामरूप जाति समानज्ञानका विषय हो जावे यानी केवल एक ही व्यक्तिके देखनेपर यह समान है। ऐसा ज्ञान हो जाना चाहिए। क्योंकि आप जैनोंके मन्तव्यानुसार एक व्यक्तिमें पूरा सदृशपरिणामरूप समान्य पहिलेसे ही विद्यमान है। अब आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि आप बौद्ध या नैयायिकोंने भी विसदृश परिणाम रूप विशेषको एक व्यक्तिमें ही रहनेवाला स्वीकार किया है। फिर भी अन्य की अपेक्षासे ही यह इससे विशेष है। यह इससे विलक्षण है। ऐसे ही विसदृश परिणामको विशेष ज्ञानके विषयपनेसे स्वीकार किया है। तैसे ही यहां अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाले न्यारे न्यारे अनेक विशेष, जैसे विशेष ज्ञानके विषय हैं तैसे ही अनेक व्यक्तियोंमें निज निज सम्बन्धी प्राप्त हुए अनेक सदृश परिणामोंकी समान ज्ञानके विषयपनेसे प्रतीति हो रही है। भावार्थ—अनेक सामान्य ही अनेक व्यक्तियोंमें समान है, या इसके समान है, ऐसा ज्ञान कराते हैं। एक सामान्य नहीं। वैशेषिकोंने द्वित्व संख्याको समवाय सम्बन्धसे एक एक व्यक्तिमें न्यारा रहता माना है। फिर भी दो व्यक्तियोंके होने पर ही " दो " ऐसा ज्ञान होगा, अकेले में नहीं।

ननु च प्रतिव्यक्तिभिन्नो यदि सदृशपरिणामः परं सदृशपरिणाममपेक्ष्य समानप्रत्ययविषयस्तदा व्यक्तिरेव परां व्यक्तिमपेक्ष्य तथास्तु विशेषाभावादलं सदृशपरिणामकल्पनयेति चेत् न, विसदृशव्यक्तेरपि व्यक्त्यन्तरापेक्षया समानप्रत्ययविषयत्वप्रसंगात्, तथा च दधिकरभादयोपि समाना इति प्रतीयरेन् ।

यहां कोई दूसरी शंका करता है कि आप जैन यदि प्रत्येक व्यक्ति में न्यारा न्यारा सदृश परिणामरूप सामान्य मानेंगे, तब तो वह व्यक्तिस्वरूप हुआ और व्यक्ति तो दूसरे सदृश परिणामकी अपेक्षा करके समान इत्याकारक ज्ञानका विषय होती है। अतः वह सदृशपरिणाम भी दूसरे व्यक्तिरूप ही ठहरेगा, तब तो एक एक व्यक्ति ही दूसरी व्यक्तिकी अपेक्षा करके तिसी प्रकार समानज्ञानका विषय हो जाओ ! व्यक्ति और सदृश परिणाममें कोई विशेषता नहीं है। अतः सदृश परिणामकी कल्पनासे कुछ भी प्रयोजन नहीं सधा, व्यक्तिके ऊपर व्यक्तिरूप सदृश परिणामका बोझ लादनेसे कुछ लाभ नहीं है। अर्थात् मूल व्यक्तियोंसे ही समान ज्ञान या अन्वयज्ञान हो जावे। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो नहीं कहना। क्योंकि यदि व्यक्तिसे भिन्न एक सदृश परिणामकी कल्पना न की जावेगी तो विलक्षण व्यक्तिको भी अन्य व्यक्तिओंकी अपेक्षासे समान ज्ञानके विषयपनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—गौ व्यक्ति है, महिष भी एक अन्य व्यक्ति है। यदि व्यक्ति ही समान ज्ञान करा देवेगी तो भैंस गौके समान है, यह ज्ञान भी हो जावेगा। और तिसी प्रकार दही, ऊंटका बच्चा रासभ आदि व्यक्तियां भी समान हैं, इस प्रकार निर्णीत कर ली जावें। भावार्थ—" चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति " दही खाओ ! इस निर्देशसे प्रेरित हुआ पुरुष ऊंटकी ओर क्यों नहीं भागता है। भिन्न भिन्न व्यक्ति होनेसे उनमें भी अनेक दधिव्यक्तियोंके तुल्य समान ऐसा ज्ञान हो जाना चाहिये। किन्तु दही और ऊंटमें समान ऐसा समीचीन ज्ञान नहीं होता है। अतः अनुमित होता है कि व्यक्तिसे कथञ्चित् भिन्न सदृशपरिणाम ही समानज्ञानका विषय है, वह दहीका समान परिणाम ऊंटमें नहीं है। ऊंटमें ऊंटोंका समान परिणाम है और दधिमें अन्य दधि व्यक्तियोंका समान परिणाम है।

ननु चैकस्यां गोव्यक्तौ गोत्वं सदृशपरिणामो गोव्यक्त्यन्तरसदृशपरिणाममपेक्ष्य यथा समानप्रत्ययविषयस्तथा सत्त्वादिसदृशपरिणामं कर्कादिव्यक्तिगतमपेक्ष्य स तथास्तु भेदाविशेषात्तद्विशेषेपि शक्तिः तादृशी तस्य तया किञ्चिदेव सदृशपरिणामं सन्निधाय तथा न सर्वमिति नियमकल्पनायां दधिव्यक्तिरपि दधिव्यक्त्यन्तरापेक्ष्य दधित्वप्रत्ययतामियर्तु तादृशशक्तिसंधानात्करभादीनपेक्ष्य माभूदेव इति चेत् सा तर्हि शक्तिर्व्यक्तीनां कासाञ्चिदेव समानप्रत्ययत्वहेतुर्यद्येका तदा जातिरेवैकसादृश्यवत्। तदुक्तं जातिवादिना। " अभेदरूपं सादृश्यमात्मभूताश्च शक्तयः। जातिपर्यायशब्दत्वमेषामभ्युपवर्ण्यते" इति। अथ शक्तिरपि तासां भिन्ना सैव सदृशपरिणाम इति नाममात्रं भिद्यते।

फिर किसीकी शंका है कि एक विशेष गोव्यक्तिमें सदृश परिणामरूप गोत्व यदि अन्य गो व्यक्तियोंके सदृश परिणामरूप गोत्वकी अपेक्षा करके जैसे समान ज्ञानका विषय है, तैसे ही श्वेत घोडा, रोझ, आदि व्यक्तियोंमें प्राप्त हुए उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सत्त्व या अस्तिपना, वस्तुपना, प्रमेयपना, आदि स्वभावोंकी अपेक्षा करके वह सदृश परिणाम तिस प्रकार हो जाओ ! यानी

सत्त्व, प्रमेयत्व आदि धर्मोंकी अपेक्षासे श्वेत अश्व, रोझ, महिष आदि भी सदृश हैं। अतः यहां भी समानपनेका ज्ञान हो जाना चाहिये। अनेक गोव्यक्तियोंके सदृश कर्क आदिकोंमें भी भेद वैसा ही है कोई अन्तर नहीं है। उसका अन्तर न होते हुए भी उस सदृश परिणामकी तैसी एक शक्ति मानोगे जिस शक्तिसे कि कोई विवक्षित ही सदृशपरिणामको निकट कारण मानकरके तिस प्रकार समान ज्ञान होता है। सभी यहां वहांके सदृश परिणामोंकी अपेक्षा करके समान ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार नियमकी कल्पना करनेपर तो दहीरूप व्यक्ति भी अन्य दहीरूप अनेक व्यक्तियोंकी अपेक्षा करके दधिपनेके ज्ञानकी विषयताको प्राप्त हो जाओ! क्योंकि तैसी शक्तिका मेल दधि व्यक्तियोंमें ही है, ऊंट, रोझ आदिमें नहीं। अतः ऊंट आदिकोंकी अपेक्षा करके दहीके समान ज्ञानकी विषयता नहीं है। अतः शक्तिसे ही कार्य निर्वाह हो जावेगा, सदृश परिणाम मानना व्यर्थ है। यदि इस प्रकार तुम शंकाकार कहोगे तब तो हम जैन पूंछते हैं कि किन्हीं ही व्यक्तियोंका समान ज्ञान करानेकी वह कारणरूप शक्ति यदि एक है तब तो वह शक्ति जाति ही है। नित्य और एक होती हुयी अनेकोंमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाली जो वस्तु है वह जाति ही हो सकती है। जैसे कि अनेकोंमें रहनेवाला एक सादृश्य वैशेषिकोंके यहां जातिरूप ही माना गया है। वैशेषिक लोग सादृश्यको सात पदार्थोंसे अतिरिक्त नहीं मानते हैं। मुख और चन्द्रमामें रहनेवाली आल्हादकत्व जातिको सादृश्य माना है। तैसे ही किन्हीं विवक्षित व्यक्तियोंमें समान ज्ञान करानेवाली शक्ति भी एक जाति रूप ही पडेगी। जातिको माननेवाले नैयायिक या वैशेषिकने उसी बातको अपने ग्रन्थमें इस प्रकार कहा है कि अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाला अभेदरूपी एक सादृश्य और पदार्थोंकी एक आत्मारूप शक्तियां तथा जाति इन तीनोंको पर्यायवाची शब्दपना स्वीकार किया जाता है। यदि अब आप यों कहें कि उन व्यक्तियोंकी शक्ति भी भिन्न भिन्न हैं एक नित्य जातिरूप नहीं है। तब तो वही हमारे यहां सदृशपरिणाम माना गया है। आप उसको शक्ति कहते हैं, हम उसको सदृश परिणाम कहते हैं, इस प्रकार यहां केवल शब्दसे भेद है। अर्थसे नहीं। आपने भी अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाली नाना शक्तियों (सामान्यों) को भिन्न भिन्न स्वीकार कर लिया है। हमने भी सामान्यको वैसा ही व्यक्तियों स्वरूप माना है।

कथं नियतव्यक्त्याश्रयाः केचिदेव सदृशपरिणामाः समानप्रत्ययविषया इति चेत्, शक्तयः कथं काश्चिदेव नियतव्यक्त्याश्रयाः समानप्रत्ययविषयत्वहेतवः इति समः पर्यनुयोगः। शक्तयः स्वात्मभूता एव व्यक्तीनां स्वकारणात्तथोपजाता इति चेत् सदृशपरिणामास्तथैव संतु।

यहां कोई कहता है कि नियमित विशेष व्यक्तिरूप आधारमें रहने वाले कोई ही आधेयभूत सदृश परिणाम भला समान ज्ञानके विषय कैसे हो जाते हैं ? बताओ। भावार्थ—उष्ट्र, महिष, आदि भी विशेष व्यक्तियां हैं। अनेक ऊंटोंमें ऊंटपनेसे समानज्ञान होता है और अनेक गौओं में गोपनेसे समानज्ञान होता है। किन्तु गौका ऊंटमें समान ज्ञान क्यों नहीं होता है ? भिन्न भिन्न

व्यक्तियोंमें रहने वाला समान परिणाम तो वहां है ही। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो तुम ही बतलाओ कि तुम्हारी मानी हुयीं नियमित व्यक्तियोंमें रहनेवाली ही कोई कोई शक्तियां कैसे समानज्ञानके विषयपनेकी कारण है ? इस प्रकार तुम्हारे ऊपर भी हमारी ओरसे प्रश्न करनेका अवसर समान है। यदि तुम कहोगे कि शक्तियां तो व्यक्तियोंके निजात्मस्वरूप हो रहीं सन्ती ही अपने अपने कारणसे तिस प्रकारकी उत्पन्न हो गयीं हैं। ऐसा कहने पर तो हमारे माने हुए सदृश परिणाम भी तिस ही प्रकार अपने कारणोंसे उत्पन्न हुए समानज्ञानके हेतु हो जाओ। अर्थात् जिन कारणोंसे गौ उत्पन्न होती है उन्हीं कारणोंसे गौके सदृश परिणाम भी उत्पन्न हो जाते हैं। वे गौओं में समानज्ञान करानेमें कारण हैं, विसमान व्यक्तियोंमें नहीं।

ननु च यथा व्यक्तयः समाना एता इति प्रत्ययस्तत्समानपरिणामविषयस्तथा समानपरिणामा एते इति तत्र समानप्रत्ययोपि तदपरसमानपरिणामहेतुरस्तु। तथा चानवस्थानम्। यदि पुनः समानपरिणामेषु स्वसमानपरिणामाभावेऽपि समानप्रत्ययस्तदा खण्डादिव्यक्तिषु किं समानपरिणामकल्पनया। नित्यैकव्यापिसामान्यवत्तदनुपपत्तेरिति चेत् कथमिदानीमर्थानां विसदृशपरिणामा विशेषप्रत्ययविषयाः ? स्वविसदृशपरिणामान्तरेभ्य इति चेदनवस्थानम्। स्वत एवेति चेत्सर्वत्र विसदृशपरिकल्पनानर्थक्यम्।

पुनः किसीकी शंका है कि जैसे कि ये (अनेक गौ) व्यक्तियां समान हैं, इस प्रकारका ज्ञान समानपरिणतिको विषय करनेवाला है, तैसे ही ये (अनेक गौओंमें रहनेवाले) समान परिणाम हैं। इस प्रकारका उन समानपरिणामोंमें होनेवाला समान ज्ञान भी उनसे न्यारे दूसरे समानपरिणामोंको कारण मान कर होगा और उन दूसरे समान परिणामोंमें भी समानज्ञान तीसरे समानपरिणामोंको कारण मानकर होगा। तैसा होते होते अनवस्था दोष हो जावेगा। अनवस्था दोषके निवारणके लिये फिर यदि समान परिणामोंमें अन्य अपने समान परिणामोंके विना भी समानज्ञान हो जाना मान लोगे तब तो खण्ड, मुण्ड, शाबलेय, बाहुलेय आदि गौव्यक्तियोंमें भी अपने समान परिणामके विना ही समानज्ञान हो जावेगा। ऐसी दशामें सादृश्यरूप समान परिणामकी कल्पनासे क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं। जैसे वैशेषिकोंका माना गया गया नित्य एक और अनेक व्यक्तियोंमें व्यापक माना गया सामान्य (जाति) पदार्थ नहीं बनता है, उसीके समान आप जैनोंसे माना गया वह सदृशपरिणाम भी सिद्ध नहीं हो पाता है। अब ग्रन्थकार समझाते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम जैन कहते हैं कि इस समय पदार्थोंके विसमानपरिणामज्ञानके हेतुरूप विशेष कैसे सिद्ध हो सकेंगे ? ये व्यक्तियां परस्परमें विशेषतायुक्त हैं, विशिष्ट हैं, विलक्षण हैं, जिस प्रकार विशेषज्ञानके लिये विसदृश परिणामोंकी आवश्यकता है। उसी प्रकार विसदृशपरिणामोंको भी परस्परमें विशेषता लानेके लिये अपनेसे अतिरिक्त दूसरे विसदृश परिणामोंकी आकांक्षा होगी। वे विसदृशपरिणाम भी अन्य तीसरे विसदृश परिणामोंसे ही विशेषतायुक्त हो सकेंगे।

ऐसा माननेपर तो तुमको भी अनवस्था दोष होगा । उस अनवस्थाके वारणके लिये विशेष परिणामोंकी विशिष्टताको अपने आप ही होता हुआ मानोगे, तब तो सभी विशेष व्यक्तियोंमें विसदृश परिणामकी लम्बी कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि विसदृश परिणामके माने विना भी अपने आप विशेष ज्ञान हो जावेगा, अर्थात् जैसे आपने समान परिणामको माननेमें हमको दोष दिया है, वैसा ही अनवस्था और वैयर्थ्यदोष आपके विसदृश परिणाममें भी लागू होते हैं ।

स्वकारणादुपजाताः सर्वेऽर्था विसदृशप्रत्ययविषयाः स्वभावत एवेति चेत्, समानप्रत्ययविषयास्ते स्वभावतः स्वकारणादुपजायमानाः किं नानुमन्यंते तथा प्रतीत्यपलापे फलाभावात् । केवलं स्वस्वभावो विशेषप्रत्ययविषयोऽर्थानां विसदृशपरिणामः, समानप्रत्ययविषयः सदृशपरिणाम इति व्यपदिश्यते न पुनरव्यपदेश्यः । सामर्थ्यं वा तत्तादृशमिति पर्यन्ते व्यवस्थापयितुं युक्तं, ततो लोकयात्रायाः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ।

अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण अर्थ विचारे स्वभावसे ही विसदृशज्ञानके विषय हो रहे हैं, ऐसा कहोगे तो अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न हो रहे वे गौ, घट, आदि पदार्थ भी स्वभावसे ही समान इस ज्ञानके विषय हैं, यह क्यों नहीं मान लिया जाता है । तैसी प्रसिद्ध प्रतीतिके छिपानेमें कोई फल नहीं है, बात इतनी ही है कि विशेष परिणामके समान सादृश्य परिणाम भी अपने ज्ञानका विषय हो रहा है । सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तुके निज स्वभाव हैं । केवल वस्तुका अपना स्वभाव जो पदार्थोंके विशेषज्ञानका विषय हो रहा है वह अंश विसदृश परिणाम है, और जो वस्तुका अपना सदात्मक स्वभाव पदार्थोंके समानज्ञानका गोचर हो रहा है वह अंश सदृश परिणाम, ऐसा कहा जाता है, किन्तु वह स्वभाव फिर सर्वथा अवाच्य नहीं है जैसा कि बौद्ध लोगोंने विशेष पदार्थको अवाच्य माना है वैसा विशेषपदार्थ या सामान्यपदार्थ अवाच्य नहीं है । मीमांसकोंके द्वारा मानी गयी वह वैसी सामर्थ्य (शक्ति) समानज्ञान करा देती है, इस प्रकार भी अन्तमें जाकर व्यवस्था करना युक्त नहीं है, क्योंकि उससे लोकयात्रा (व्यवहार) की प्रवृत्ति न बन सकेगी । मीमांसक लोग गो इस पदकी शक्ति गोत्व जातिमें स्वीकार करते हैं, यानी गो शब्दका वाच्य गोत्व जाति है, किन्तु लोकमें देखा जाता है कि बोझ लादना, गाडी खींचना, दूध देना, व्याना आदि क्रियाओंमें गो व्यक्ति उपयोगी है । गोत्व जाति नहीं । शब्दजन्य सम्पूर्ण व्यवहार सादृश्यकी भित्ति पर डटे हुए हैं, एकको जान लेनेपर सदृश शब्द द्वारा अनेकोंका ज्ञान हो जाता है । धूम आदि हेतु भी सादृश्य रखते हुए वह्निज्ञानके साधन हैं, अतः बौद्ध और मीमांसकोंको लोकप्रवृत्तिके अनुसार सादृश्यको वास्तविक और वाच्य मानते हुए पदका अर्थ जान लेना चाहिये अन्य उपाय नहीं है ।

सन्निवेशविशेषस्तत्प्रत्ययविषयो व्यपदिश्यत इति चेत्, स कथं परिमितास्वेव व्यक्तिषु न पुनरन्यासु स्यात् । स्वहेतुवशादिति चेत् स एव हेतुस्तत्प्रत्ययविषयोऽस्तु किं सन्निवेशेन,

सोऽपि हेतुः कुतः परिमितास्वेव व्यक्तिषु स्यादिति समानः पर्यनुयोगः स्वहेतोरिति चेत्सोपि कुत इत्यनिष्ठानं ।

नैयायिक लोग जाति, आकृति और व्यक्ति इन तीनको पदका वाच्य अर्थ मानते हैं । " जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः " गो शब्दसे गोत्व जाति तथा गौका आकार (रचना विशेष) और गो व्यक्ति कही जाती है । केवल आकृतिको ही पदका वाच्य अर्थ मानने वाले कहते हैं कि उस अन्वय सहित समानज्ञानका विषय तो रचना विशेष कहा जाता है । ऐसा कहने पर तो हम जैन पूंछेगे कि वह रचनाविशेष परिमित ही कतिपय व्यक्तियोंमें कैसे है ? किन्तु फिर अन्य व्यक्तिओंमें क्यों नहीं है ? बताओ । अर्थात् वह गौकी रचना अनेक सजातीय गौओंमें है । रोझ, ऊंट, आदिमें क्यों नहीं है । उत्तर दीजिये । इसके उत्तरमें यदि आप यों कहेंगे कि अपने अपने कारणोंके वश वह विशेष रचना परिमित व्यक्तियोंमें ही हुयी है अन्य सबमें नहीं । ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि वह अपना अपना हेतु ही उस समान ज्ञानका विषय हो जाओ ! बीचमें सन्निवेशके माननेसे क्या लाभ है ? सिरके चारों ओर हाथको घुमाकर नाक पकडनेसे सीधे ढंगसे नाक पकडना अच्छा है । दूसरी बात यह है कि उस रचना विशेषका कारण वह हेतु भी गिनती की गई हुयीं ही कुछ व्यक्तियोंमें क्यों है ? अन्य महिष आदिक व्यक्तियोंमें क्यों नहीं । इस प्रकारका प्रश्न उठाना तुम्हारे ऊपर भी समानरूपसे लागू होता है । पुनः उस हेतुके लिये भी अपने अन्य हेतुको नियामक मानोगे तो फिर भी वही प्रश्न उठाया जावेगा । यानी वह हेतु भी किससे और क्यों विशिष्ट हेतुका जनक है ! कहिये । इस प्रकार अनवस्था हो जायगी ।

पर्यन्ते नित्यो हेतुरुपेयते, अनवस्थानपरिहरणसमर्थ इति चेत् प्रथमत एव सोऽभ्युपेयतां सन्निवेशविशेषप्रसवाय । सोपि कुतः परिमितास्वेव व्यक्तिषु सन्निवेशविशेषं प्रसूते न पुनरन्यास्विति वाच्यम् । स्वभावात्तादृशात्सामर्थ्याद्वा व्यपदेश्यादिति चेत् तर्हि तेन वाग्गोचरातीतेन स्वभावेन सामर्थ्येन वा वचनमार्गावतारिवस्तुनिबन्धना लोकयात्रा प्रवर्तेत इति । समभ्यधायि भर्तृहरिणा " स्वभावो व्यपदेश्यो वा सामर्थ्यं वावतिष्ठते । सर्वस्यान्ते यतस्तस्माद्व्यवहारो न कल्पते " इति । तस्माद्वाग्गोचरवस्तुनिबन्धनं लोकव्यवहारमनुरुध्यमानैर्व्यपदेश्यैव जातिः सदृशपरिणामलक्षणा स्फुटमेषितव्या ।

कुछ कोटि चलते हुए अन्तमें जाकर अनवस्था दोषके परिहार करनेमें समर्थ होरहे नित्य हेतुको हम स्वीकार करते हैं । यदि ऐसा कहोगे तो विशेष रचनाको उत्पन्न करनेके लिये पहिलेसे ही वह नित्य हेतु स्वीकार कर लिया जावे । जातिरूप नित्य हेतुके माननेपर भी हमारा वही प्रश्न चल सकता है कि वह नित्य हेतु भी परिमाण की गयीं कुछ नियत व्यक्तियों (गो मात्र) में ही रचना विशेषको क्यों उत्पन्न करता है ? किन्तु फिर अन्य व्यक्तिओंमें क्यों नहीं उत्पन्न

करता है ? इसका उत्तर आपको कहना चाहिये । यदि आप यों कहेंगे कि उस नित्यहेतुमें तिस प्रकारका एक स्वभाव है । अथवा वचनसे नहीं कही जाय ऐसी विशेष सामर्थ्य है,जिससे कि वह नित्य कारण विचारा परिमित व्यक्तियोंमें ही विशेष रचनाको बनाता है । ऊंट, भैंसा आदिमें नहीं । ऐसा कहनेपर तब तो यही आया कि उस वचनके विषयपनसे अतिक्रान्त हो रहे उस स्वभाव करके अथवा शक्ति करके वचनके मार्गमें उतारी हुयी वस्तुको कारण मानकर वचनव्यवहार सम्बन्धी लोकयात्रा प्रवर्त रही है । इसी बातको भर्तृहरीने भी बहुत अच्छे ढंगसे कहा था कि जिस कारण सब हेतुओंके अन्तमें जाकर पदार्थका नहीं कहने योग्य स्वभाव अथवा विशेष सामर्थ्य ही हेतुपनेसे व्यवस्थित होता है । तिस कारण निर्विकल्पक स्वभावोंसे लौकिक व्यवहार नहीं चल सकता है, अर्थात् वस्तु निर्विकल्पक है । फिर भी लोकयात्राके अनुरोधसे वस्तुके कतिपय अंश शद्बके द्वारा वाच्य माने गये हैं । अथवा यह उपहास वचन है अवक्तव्य पदार्थोंसे लोक व्यवहार नहीं प्रवृत्त हो सकता है । तिस कारण सिद्ध होता है कि वचनके गोचर वस्तुको कारण मानकर उत्पन्न हुए लोक व्यवहारके अनुकूल चलनेवाले पुरुषों करके सदृश परिणाम स्वरूप जाति शद्बोंके द्वारा कही गयी ही जाती है यह स्पष्ट रूपसे मान लेना चाहिये । भावार्थ—गौ, अश्व आदि जातिके प्रतिपादक शद्बोंसे सदृश परिणामरूप जाति कही जाती है ।

तत्साध्यस्य कार्यस्य तदधिकरणेन साधयितुमशक्तेः । पुरुषे दण्डीतिप्रत्ययवद्दण्डसम्बन्धेन साध्यस्य तदधिकरणेन पुरुषमात्रेण वा साधयितुमशक्यत्वात् । दण्डोपादित्सया दण्डीतिप्रत्ययः साध्यते इति चायुक्तं, ततो दण्डोपादित्सावानिति प्रत्ययस्य प्रसूतेः अन्यथास्यापीच्छाकारणैः संस्तवोपकारगुणदर्शनादिभिः साध्यत्वप्रसंगात् ।

उस जातिसे साधने योग्य कार्यका उसके अधिकरण हो रही विशेष व्यक्ति करके साधन नहीं हो सकता है । जैसे दण्डयुक्त पुरुषमें दण्डवाला ऐसा ज्ञान होना दण्डका कार्य है, दण्डके सम्बन्ध करके बनाये गये कार्यकी उस दण्डके आधारभूत केवल पुरुष करके साधन करनेके लिए अशक्यता है । यदि यों कहें कि यह दण्डवाला ऐसा ज्ञान तो दण्डके ग्रहण करनेकी इच्छासे भी साधा जा सकता है । फिर आप उसको केवल दण्डके सम्बन्धसे ही साध्य होना कैसे कहते हैं ? आचार्य समझाते हैं कि किसीका इस प्रकार कहना तो युक्तियोंसे रहित है । क्योंकि उस दण्डके ग्रहण करनेकी इच्छासे दण्डके ग्रहणकी इच्छावाला है, इस प्रकारके ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । " दण्डवान् है " इस आकारवाला ज्ञान नहीं उत्पन्न हो पाता है, अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरे प्रकार मानोगे तो " दण्ड ग्रहणकी इच्छावाला है " इस ज्ञानको भी इच्छाके कारण माने गये स्तुति करना, उपकार दिखलाना, गुण दर्शन कराना, निर्दोषता, आदि करके साध्यपनेका प्रसंग हो जावेगा । भावार्थ—किसी किसी ज्ञानमें इच्छा निमित्त कारण है, किन्तु नियत नहीं । ज्ञानका अवलम्ब कारण विषय ही माना है । यदि दण्डज्ञानमें दण्डकी इच्छाको कारण कह दोगे तो

दण्ड इच्छाके ज्ञानमें इच्छाके निमित्त कारण स्तुति, उपकार, गुणदर्शन आदि भी उसके कारण बन बैठेंगे, जो कि किसीने नहीं माने हैं।

ततः सर्वस्य स्वानुरूपप्रत्ययविषयत्वं वस्तुनोऽभिप्रेयता समानपरिणामस्यैव समानप्रत्ययविषयत्वमभिप्रेतव्यम्। एकत्वस्वभावस्य सामान्यस्यैकत्वप्रत्ययविषयत्वप्रसंगात्। स एवायं गौरित्येकत्वप्रत्यय एवेति चेत् न, तस्योपचरितत्वात्। स इव स इति तत्समाने तदेकत्वोपचारात् स गौरयमपि गौरिति समानप्रत्ययस्य सकलजनसाक्षिकस्यास्खलद्रूपतयानुपचरितत्वसिद्धेः।

तिस कारण सर्व पदार्थों (वस्तुओं) को अपने अपने अनुकूल ज्ञानका विषयपना इष्ट करते हो तो वस्तुके सदृश परिणामको ही समान इस ज्ञानका विषयपना मान लेना चाहिये। वे समान परिणाम प्रत्येक व्यक्तिमें रहनेवाले एक एक होकर अनेक हैं। यदि वैशेषिकोंके समान सामान्यका एकपना स्वभाव माना जावेगा तो एकपनेके ज्ञानकी विषयताका प्रसंग होगा यानी एकपनेका ज्ञान भले ही हो जावे। किन्तु " यह खण्ड गौ इस मुण्ड गौके समान है " ऐसे सदृश परिणामको विषय करनेवाला ज्ञान न हो सकेगा। यदि यहां कोई यों कहे कि " यह गौ वही है " इस प्रकारके एकपनेको जाननेवाला ही ज्ञान होता है, समानताका ज्ञान नहीं होता है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक गौओंमें " यह वही गौ है " इस प्रकार एकत्वको विषय करनेवाला वह ज्ञान उपचरित है। वस्तुतः चितकबरी गौको देखकर धौली गौको देखनेवाले पुरुषको उसके समान यह गौ है ऐसा ज्ञान होना चाहिये। किन्तु यह भी गौ है, और वह भी गौ थी, इस प्रकार गोत्वधर्मसे एकत्वका उपचार (आरोप) कर लिया जाता है। जैसे कि उस देवदत्तके समान यह जिनदत्त था ऐसा उसके समान पुरुषमें या यमलकमें उसके एकपनेका कल्पित व्यवहार कर लिया जाता है। यदि परमार्थरूपसे विचारा जावे तो वह बैल था। यह भी वृषभ (बैल) है। इस प्रकार सदृशपनेको विषय करनेवाला ज्ञान सम्पूर्ण मनुष्योंके सम्मुख (गवाही होते हुए) बाधारहित स्वरूप करके मुख्यपने रूपसे सिद्ध हो रहा है। भावार्थ—जाति ज्ञानका विषय एकत्व नहीं है प्रत्युत सदृश परिणाम है यह बात सिद्ध हो गयी।

कश्चिदाह–दण्डीत्यादिप्रत्ययः परिच्छिद्यमानदण्डसम्बन्धादिविषयतया नार्थान्तरविषयः कल्पयितुं शक्यः समानप्रत्ययस्तु परिच्छिद्यमानव्यक्तिविषयत्वाभावादर्थान्तरविषयस्तच्चार्थान्तरं सामान्यं प्रत्यक्षतः परिच्छेद्यमन्यथा तस्य यत्नोपनेयप्रत्ययत्वाघटनात् नीलादिवदिति, तदसत्।

यहां कोई वैशेषिक मतानुयायी कह रहा है कि दण्डवान्, छत्रवान्, कुण्डलवाला इत्यादि ज्ञान तो परिमित दण्डका सम्बन्ध, जाने गये छत्रका संयोग, इत्यादि नियत पदार्थोंको विषय करते हैं। अतः दण्ड, छत्र आदिकसे दूसरे अन्य अर्थोंको विषय नहीं कर पाते हैं। जो परिमित पदार्थोंको

जानता है उस ज्ञानका विषय अन्य व्यापकरूप अर्थ नहीं कल्पना किया जासकता है। किन्तु यह इसके समान है ऐसा ज्ञान तो व्यापक वस्तुको विषय करता है, यानी अनेक व्यक्तियोंमें हो जाता है। कुछ थोडीसी ही परिमित व्यक्तियोंको विषय नहीं करता है। अतः व्यक्तिसे भिन्न किसी दूसरे अर्थको विषय करने वाला हो जावेगा और वह व्यक्तियोंसे भिन्न दूसरा पदार्थ तो नित्य जाति ही है। वह जातिरूप सामान्य पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी जाना जाता है। अन्यथा यानी सामान्यका प्रत्यक्षसे ज्ञान होना नहीं माना जावेगा तो उस सामान्यको प्रयत्नके पीछे सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिसे प्रत्यय किया जानापन नहीं घटित होगा। जैसे नील, पीत आदिक गुण पुरुषार्थ करके प्रत्यक्षसे जान लिये जाते हैं, तैसे ही प्रयत्न करनेपर सामान्यका ज्ञान हो जाता है। अर्थात्—यदि सामान्य नील, पीत स्वरूप ही मान लिया जावेगा तो उसको जाननेके लिये आत्माको न्यारा प्रयत्न न करना पडेगा। जिस ज्ञानसे नीलको जाना है उसीसे घटत्व, नीलत्व आदि सामान्यको भी जान लेगा, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। नीलको जान चुकनेपर भी पीछेसे विशेष प्रयत्न करके सामान्यको जान पाते हैं या उसी समय विशेष पुरुषार्थसे जातिको जानते हैं। अतः सामान्य पदार्थ विशेषोंसे भिन्न है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उन वैशेषिकोंका कहना सत्य नहीं है कारण कि—

सामान्यस्य विशेषवत्प्रत्यक्षत्वेऽपि यत्नोपनीयमानप्रत्ययत्वाविरोधात्। प्रमाणसंप्लवस्यैकत्रार्थे व्यवस्थापनात्।

सदृशपरिणामरूप सामान्यको विशेष व्यक्तिके समान प्रत्यक्षका विषयपना मानते हुए भी प्रयत्नके द्वारा चलाकर जान लेने की विषयताका कोई विरोध नहीं है। क्योंकि नैयायिक, जैन, मीमांसक ये सब प्रमाणसंप्लवको स्वीकार करते हैं। "एकस्मिन्नर्थे विशेषविशेषांशावगाहिनां बहूनां प्रमाणानां प्रवृत्तिः प्रमाणसंप्लवः" एक अर्थमें बहुतसे अपूर्वार्थग्राही प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना प्रमाणसंप्लव कहलाता है। नील या घटको जानकर उससे अभिन्न सदृश परिणामरूप सामान्यको जाननेके लिये प्रयत्नपूर्वक दूसरा ज्ञान उठाया और उसके द्वारा वस्तुसे अभिन्न माने गये सामान्यको पुनः जान लिया। इतनेसे ही वह सामान्य अर्थान्तर नहीं हो जाता है। एक अग्निमें आगम, अनुमान, प्रत्यक्ष इन तीन प्रमाणोंके प्रवृत्त हो जानेसे अग्नि भिन्न भिन्न नहीं हो जाती है। हां! स्वभावभेद भले ही हो जावें। एक अर्थमें अनेक प्रमाणोंके प्रवृत्त होनेकी व्यवस्था मानी गयी है। अतः पुरुषार्थ करके भले ही जातिको स्वतन्त्ररूपसे जान लो। किन्तु एतावता वह चौथा निराला पदार्थ (तत्त्व) नहीं माना जा सकता है, वह व्यक्तियोंसे अभिन्न है। वस्तुमें तदात्मक होकर गुंधरही असंख्य अर्थपर्यायें भी विवक्षितज्ञानसे नहीं जानी जारही हैं। क्या करें!

सामान्यमेव परिच्छिद्यमानस्वरूपं न विशेषास्तेषां व्यावृत्तिप्रत्ययानुमेयत्वादिति वदतो निषेद्धुमशक्तेः।

यदि आप दण्डी, नील, पीत, आदिके ज्ञानोंमें विशेषको ही जानने योग्य वस्तुका स्वरूप

मानेंगे और सामान्यको अर्थान्तर स्वीकार करेंगे तो कोई यों भी कह सकता है कि सामान्य ही जानने योग्य वस्तुका स्वरूप है विशेष पदार्थ कोई नहीं हैं। काली गौ धौली गौसे पृथक् है। भैंससे गौ पृथक् है, इत्यादि व्यावृत्तिको जाननेवाले ज्ञानोंसे उन विशेषोंका पीछे अनुमान कर लिया जाता है, विशेषोंका प्रत्यक्ष नहीं होने पाता है, ऐसे कहनेवालोंका भी तुम निषेध नहीं कर सकते हो। नये नये स्वरचित सिद्धान्तोंको गढनेवालोंका मुंह नहीं पकडा जा सकता है।

न हि वस्तुस्वरूपमेव व्यावर्तमानाकारप्रत्ययस्य निबन्धनं अपि तु तत्संसर्गिणोर्थास्ते च भेदहेतवो यदा सकलास्तिरयन्ते तदा सद्वस्तु पदार्थ इति वा निरुपाधिसामान्यप्रत्ययः प्रसूते, यदा तु गुणकर्मभ्यां भेदहेतवो अतिरोभूताः शेषास्तिरोधीयन्ते तदा द्रव्यमिति बुद्धिरेवमवान्तरसामान्येष्वशेषेष्वपि बुद्धयः प्रवर्तन्ते भेदहेतूनां पुनराविर्भूतानां वस्तुना संसर्गे तत्र विशेषप्रत्ययः। तथा च सामान्यमेव वस्तुस्वरूपं विशेषास्तूपाधिबलावलम्बिन इति मतान्तरमुपतिष्ठेत।

वस्तुका जानने योग्य स्वरूप ही पृथग्भूत हुए आकारका उल्लेख करानेवाले ज्ञानका कारण है। अतः विशेष पदार्थ ही वस्तुका तादात्मकरूप है, सामान्य वस्तुभूत नहीं है, यह नहीं समझ बैठना, किन्तु उस वस्तुस्वरूपसे सम्बन्ध रखनेवाले जो पदार्थ (काला, नीला, मतिज्ञान, घटज्ञान आदि) हैं, वे सर्व पदार्थ भी तो भेद (व्यावृत्ति) के कारण हैं। जिस समय भेदके कारण संपूर्ण छिप जाते हैं तब सामान्यधर्मोंकी अपेक्षासे सत् है, वस्तु है, पदार्थ है, प्रमेय है। इस प्रकारका निर्विशेष सामान्यज्ञान उत्पन्न हो जाता है। किन्तु जिस समय गुण और क्रियासे भेदके कारण प्रगट हो जाते हैं, तथा शेष शुद्ध, व्यापक, सामान्य छिप जाते हैं, तब तो द्रव्य है, जीव है, इस प्रकारकी उपाधि-सहित बुद्धि ही उत्पन्न होती है। इसके मध्यवर्ती सम्पूर्ण सामान्योंमें भी तैसी तैसी बुद्धियां प्रवर्तती रहती हैं। फिर प्रगट हुए भेदके कारणोंका वस्तुके साथ सम्बन्ध हो जानेपर वहां विशेष ज्ञान हो जाता है। अतः विशेषको जाननेके लिये चलकर यत्नसे ज्ञान करनेकी आवश्यकता है। सामान्यको जाननेके लिये बाहिरके पुंछल्ले लगानेकी आवश्यकता नहीं है। तिस कारण यों सिद्ध होता है कि सामान्य ही वस्तुके गांठका स्वरूप है। और विशेष तो इधर उधरके विशेषणोंके सामर्थ्यका अवलम्ब रखते हुए औपाधिक भाव आ कूदे हैं, वास्तविक नहीं। इस प्रकारका भी एक भिन्नमत (सिद्धान्त) उपस्थित हो जावेगा। किसी भी धर्मकी पुष्टि करानेके लिये उसके विरुद्ध माने हुए धर्मका खण्डन कर देना अच्छा उपाय है। अतः अन्तमें जाकर आपको विशेषके समान सामान्य भी वस्तुका तदात्मक रूप इष्ट करना पडेगा।

वस्तुविशेषा नोपाधिका यत्नोपनेयप्रत्ययत्वाभावात् स्वयं प्रतीयमानत्वादिति चेत् तत एव सामान्यमौपाधिकं माभूत्। सामान्यविशेषयोर्वस्तुस्वभावत्वे सर्वत्रोभयप्रत्ययप्रसक्तिरिति चेत् किं पुनस्तयोरेकतरप्रत्यय एव क्वचिदस्ति?

बौद्ध फिर भी बोलते हैं कि वस्तुके विशेष वास्तविक हैं। जपाकुसुमके सम्बन्धसे स्फटिकमें आयी हुयी ललिमाके समान औपाधिक नहीं है। क्योंकि विशेषोंके जाननेके लिये चलाकर प्रयत्नसे ज्ञान करना नहीं देखा जाता है, वे वस्तुमें स्वयं ही झटिति प्रतीत हो जाते हैं। आचार्य समझाते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तब तो तिस ही कारण सामान्य भी औपाधिक न होवे। क्योंकि सामान्य भी परिश्रमसे उठाए हुए नवीन ज्ञानके द्वारा नहीं जाना जाता है। किन्तु स्वयं उत्थित ज्ञानसे बिना प्रयत्नके ही वस्तुमें शीघ्र जान लिया जाता है। यदि कोई यों कहे कि सामान्य और विशेष दोनोंको वस्तुका स्वभाव मानोगे तब तो सर्व ही विषयोंमें सामान्य और विशेष दोनोंके ज्ञान होनेका प्रसंग होगा। ऐसा कहनेपर तो हम पूंछते हैं कि फिर क्या उन दोनोंमेंसे एक हीका कहीं ज्ञान होना देखा गया है? बताओ न। भावार्थ—सभी स्थलोंपर दोनोंका ही एक साथ ज्ञान हो जाता है। अकेले अकेलेका नहीं, अतः दोनों ही वस्तुके तदात्मक अंश हैं।

दर्शनकाले सामान्यप्रत्ययस्याभावाद्विशेषप्रत्यय एवास्तीति चेत् न, तदापि सद्द्रव्यत्वादिसामान्यप्रत्ययस्य सद्भावादुभयप्रत्ययसिद्धेः। प्रथममेकां गां पश्यन्नपि हि सदादिना सादृश्यं तत्रार्थान्तरेण व्यवस्यत्येव अन्यथा तदभावप्रसंगात्।

बौद्ध कहते हैं कि स्वलक्षणको जाननेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप दर्शनके समयमें सामान्यको जाननेवाले ज्ञानका अभाव है। अतः वहां केवल विशेषका ही ज्ञान होता है। फिर आप जैनोंने कैसे कहा था कि दोनोंमेंसे एकका ज्ञान कहीं होता है क्या? ग्रन्थकार बोलते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उस समय भी सत्पने, द्रव्यपने, पदार्थपने आदि सामान्योंको जाननेवाला ज्ञान विद्यमान है। अतः सामान्य और विशेष दोनोंको जान लेना निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें भी सिद्ध हो जाता है। सबसे पहिले एक गौको देखनेवाला पुरुष भी सत्पना, द्रव्यपना, पदार्थपना आदि धर्मों करके दूसरे घट, अश्व आदि पदार्थोंके साथ सादृश्यका वहां निश्चय कर ही लेता है। अन्यथा उस सदृशपनेके अभावका प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—गौको जानने वाला पुरुष भले ही मुखसे गौ गौ ऐसा कहता रहे, किन्तु साथमें उस गौकी विशेषताओंको जैसे जान लेता है, वैसे ही अन्य गौओंके साथ सदृशपने और सत्व, द्रव्यत्व, पदार्थत्व करके भैंस, घोडे आदिके सादृश्यको भी श्रुतज्ञानसे जान लेता है। यों तो सामान्यधर्म और विशेषधर्मोंका पिण्ड ही वस्तु है। अतः सामान्यका प्रत्यक्ष ही हो जाता है। फिर भी सामान्यपनेकी विकल्पनासे सादृश्य भी जान लिया जाता है। अर्थापत्ति, अनुमान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञानके विषयोंका परस्परमें संकलन हो जाता है। प्रत्येक ज्ञानमें सामान्य, विशेष दोनोंका ही प्रतिभास होता है। भले ही एकका मुख्यरूपसे और दूसरेका गौणरूपसे ज्ञान होवे। अकेलेका ज्ञान कहीं नहीं होता है। हम जैनोंके द्वारा माने गये चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शनमें केवल सत्ताका आलोचन होता है, विशेषोंका नहीं। किन्तु वे तो दर्शन हैं, ज्ञान नहीं हैं। हम तो ज्ञानसे सामान्य, विशेष दोनोंके जाननेका

नियम कर रहे हैं, दर्शनके द्वारा नहीं। ज्ञानका कार्य आलोचन करना नहीं है और दर्शनका कार्य जान लेना नहीं है। दोनों भिन्न पर्यायें हैं। दोनोंके ज्ञेय और दृश्य विषय भी न्यारे नियत हैं।

प्रथममवग्रहे सामान्यस्यैव प्रतिभासनान्नोभयप्रत्ययः सर्वत्रेति चायुक्तं, वर्णसंस्थानादिसमानपरिणामात्मनो वस्तुनोऽर्थान्तराद्विसदृशपरिणामात्मनश्चावग्रहे प्रतिभासनात्।

कोई कटाक्ष करता है कि जैनोंके यहां सबसे प्रथम हुए अवग्रहमें वस्तुके सामान्य धर्मोंका ही प्रतिभास होता है विशेषोंका नहीं। अतः सभी ज्ञानोंमें दोनोंकी प्रतीति नहीं हुयी। अब आचार्य कहते हैं कि हम जैनोंके ऊपर किसीका यह कहना अयुक्त है। क्योंकि रूप, रस, तथा आकृति, रचना आदि समान परिणामस्वरूप वस्तुका और अन्य पदार्थोंकी अपेक्षासे प्राप्त हुए विसदृश परिणाम स्वरूप उसी वस्तुका अवग्रहमें प्रतिभास होता है। अवग्रहके द्वारा एक मनुष्यको जाननेपर उसके रूप, आकार, सिर, वक्षःस्थल आदि जो कि अन्य मनुष्योंमें भी वैसे पाये जायं ऐसे सदृश परिणामोंको हम जान लेते हैं और उसी समय पशु, पक्षियों या अन्य सजातीय पुरुषोंकी अपेक्षासे विशेषपना भी उस मनुष्यमें जान लिया जाता है। अतः गौ या मनुष्यके अवग्रह करनेपर सामान्य और विशेष दोनों धर्म युगपत् प्रतीत हो जाते हैं। किसी भी ज्ञानमें अकेले सामान्यका या केवल विशेषका तो प्रतिभास होता ही नहीं है, इसका विश्वास रखो। संशयज्ञानमें भी यथायोग्य दोनों प्रतिभासते हैं। बोलो अब क्या चाहिये ?।

क्वचिदुभयप्रत्ययासत्त्वेपि वा न वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वविरोधः, प्रतिपुरुषं क्षयोपशमविशेषापेक्षया प्रत्ययस्याविर्भावात्। यथा वस्तुस्वभावं प्रत्ययोत्पत्तौ कस्यचिदनाद्यन्तवस्तुप्रत्ययप्रसंगात् परस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादिनिर्णयानुषंगात्।

किसी किसी अप्रमाणरूप ज्ञानमें या चलाकर एकको ही जाननेवाले उठाये गये झूठे आहार्य ज्ञानमें यदि सामान्य और विशेष दोनोंकी प्रतीति न होवे तो भी वस्तुके सामान्य और विशेष दोनों धर्म स्वरूपपनेका विरोध नहीं है। प्रत्येक जीवमें विशिष्ट क्षयोपशमकी अपेक्षासे भिन्न भिन्न प्रकारके ज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जाती है। एक भींतका परला भाग न दीखनेसे उस भित्तिके परभागका अभाव नहीं हो जाता है। चाहे जिस भोंदू जीवके ज्ञानकी अपेक्षासे वस्तुभूत अर्थोंकी व्यवस्था नहीं मानी है। प्रमाणज्ञानोंसे प्रमेयकी व्यवस्था होती है। शश (खरगोश) के आंख मींच लेनेपर उसके विचारानुसार दृश्य जगत्का अभाव नहीं सिद्ध हो जाता है। हम अनेक प्रकार जीवोंके ज्ञानोंको कहांतक सम्हालते रहेंगे। कोई सीपको चांदी जानता है और कोई पीतलको सुवर्ण जान रहा है। एतावता वस्तुभूत पदार्थका परिवर्तन नहीं हो जाता है। ज्ञेयके अधीन ज्ञानका होना नहीं है। किन्तु क्षयोपशमोंके अधीन झूठा सच्चा ज्ञान है। प्रत्येक जीवमें विशेष क्षयोपशमकी अपेक्षासे ज्ञान उत्पन्न हुआ करते हैं। वस्तुके स्वभावोंका अतिक्रमण नहीं करके यदि ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जावेगी, यानी जैसी वस्तु होगी वैसा हूबहू ज्ञान उत्पन्न होवे तब तो चाहे जिस

किसीको अनादि अनन्त वस्तुके ज्ञान होनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—अतीत, अनागत, अनन्त परिणमनोंके अविष्वग्भाव सम्बन्धरूप पिण्डको वस्तु कहते हैं। किसी भी वस्तुको देखकर उसके अनादि अनन्तपर्यायोंका ज्ञान हो जाना चाहिये। बौद्धोंके सिद्धान्तानुसार दान करनेवाले जीवोंमें स्वर्गको प्राप्त करानेवाली शक्ति मानी गयी है, क्षणिकत्वशक्ति भी पदार्थमें विद्यमान है और भी अनेक अतीन्द्रिय धर्म हैं। किन्तु चित्त (आत्मा) का प्रत्यक्ष करते समय इन अतीन्द्रिय शक्तियोंका तो प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। तभी तो बौद्ध जन शक्तियोंको जाननेके लिये अनुमान प्रमाण उठाते हैं। यदि जैसी वस्तु है ठीक वैसा ही उसका ज्ञान माना जावेगा तो दूसरे यानी बौद्धोंको निर्विकल्पक प्रत्यक्षद्वारा ही स्वर्गप्रापणशक्ति तथा हिंसा करनेवाले चित्तकी नरकप्रापणशक्ति आदिका भी निर्णय उसी समय हो जाना चाहिये। जो कि दूसरोंने माना नहीं है। और यों तो संसारसे सर्व मिथ्याज्ञान उठ जावेंगे। जैसी वस्तु होगी वैसा ही सबको ज्ञान हो सकेगा।

ततो विशेषप्रत्ययाद्विशेषमुररीकुर्वता समानप्रत्ययात्सामान्यमुररीकर्तव्यमिति प्रतीतिप्रसिद्धा जातिर्निमित्तान्तरं तथा द्रव्यं वक्ष्यमाणं गुणाः क्रिया च प्रतीतिसिद्धेति न तन्निमित्तान्तरत्वासिद्धं वक्त्रभिप्रायात् येन कल्पनारोपितानामेव जात्यादीनां शब्दैरभिधानात् कल्पनैव शब्दानां विषयः स्यात्, पंचतयी वा शब्दानां प्रवृत्तिरबाधिता न भवेत्।

तिस कारण सिद्ध हो जाता है कि विशेषको जाननेवाले ज्ञानकी सामर्थ्यसे विशेष पदार्थको स्वीकार करनेवाले बौद्धों करके समीचीन समानज्ञानसे निर्णीत किये गये सामान्य (सादृश्य) को भी स्वीकार कर लेना चाहिये। इस प्रकार प्रतीतियोंसे प्रसिद्ध हुयी जाति (सदृश परिणाम) नाम निक्षेपका निमित्तान्तर हो जाती है। अतः वक्ताके अभिप्रायको निमित्त पाकर और सदृश परिणाम रूप जातिको निमित्तान्तर मानकर गौ, अश्व, मनुष्य आदि शब्द प्रवृत्त हो रहे हैं। तैसे ही भविष्यमें कहे जाने योग्य सत् रूप द्रव्य और सहभावी परिणामरूप गुण तथा परिस्पन्दरूप क्रियायें भी प्रामाणिक प्रतीतियोंसे प्रसिद्ध हैं इस कारण निमित्तरूप वक्ताके अभिप्रायसे निराले द्रव्य, गुण और क्रियाओंको द्रव्यशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्दोंका निमित्तान्तरपना असिद्ध नहीं है, जिससे कि शब्दको प्रमाण न माननेवाले बौद्धोंके मतानुसार कल्पनामें आरोपित किये गये ही जाति, द्रव्य, गुण, और क्रियाओंका शब्दोंके द्वारा कथन किये जानेसे कल्पना ही शब्दोंका विषय होती और शब्दोंकी पांच प्रकारसे हो रही प्रवृत्ति बाधा रहित न होने पाती। अर्थात् जाति, गुण, क्रिया, संयोगीसमवायीद्रव्य यदृच्छा ये सब वास्तविक पदार्थ हैं, उनको कहनेवाले पांच प्रकारके शब्दोंकी निर्बाध प्रवृत्ति हो रही है। यहांतक सदृश परिणामरूप जातिको सिद्ध करते हुए शब्दोंकी प्रवृत्तिका मुख्य कारण माने गये वास्तविक जाति, द्रव्य, आदिकका निरूपण कर दिया है।

जातिः सर्वस्य शद्बस्य पदार्थो नित्य इत्यसन् ।
व्यक्तिसम्प्रत्ययाभावप्रसंगाच्छ्द्बनितः सदा ॥ १५ ॥

मीमांसक मतके अनुसार किसीका कहना है कि सर्व ही शद्बोंका अर्थ जाति स्वरूप नित्य पदार्थ है अर्थात् घटशद्ब घटत्व जातिको और गो शद्ब गोत्व जातिको कहता है । तभी तो एक व्यक्तिमें संकेतग्रहण कर सम्पूर्ण वैसी व्यक्तियोंको जान जाते हैं। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना सत्य नहीं है । क्योंकि यों तो शद्बोंसे सदा ही विशेष व्यक्तियोंके ज्ञान हो जानेके अभावका प्रसंग होगा । यानी गो शद्बके द्वारा गोत्व जातिको जाना जावेगा तो गो व्यक्तिका गो शद्बसे कभी ज्ञान न हो सकेगा ।

कश्चिदाह—जातिरेव सर्वस्य शद्बस्यार्थः सर्वदानुवृत्तिप्रत्ययपरिच्छेद्ये वस्तुस्वभावे शाद्बव्यवहारदर्शनात् । यथैव हि गोरिति शद्बोनुवृत्तिप्रत्ययविषये गोत्वे प्रवर्तत इति जातिस्तथा शुक्लशद्बस्तथाविधे शुक्लत्वे प्रवर्तमानो न गुणशद्बः । चरतिशद्बश्चरणसामान्ये प्रवृत्तो न क्रियाशद्बः, विषाणीति शद्बोऽपि विषाणित्वसामान्ये वृत्तिमान्नसमवायिद्रव्यशद्बः, दण्डीति शद्बश्च दण्डित्वसामान्ये वृत्तिमुपगच्छन्न संयोगिद्रव्यशद्बः, डित्थशद्बोपि बालकुमारयुवमध्यस्थविरडित्थावस्थासु प्रतीयमाने डित्थत्वसामान्ये प्रवर्तमानो न यदृच्छाशद्बः ।

यहां कोई प्रतिवादी लम्बा पूर्वपक्ष करता हुआ कहता है कि द्रव्यशद्ब, गुणशद्ब आदि सर्व ही शाद्बोंका अर्थ जाति ही है । सर्व ही कालोंमें वैसाका वैसा ही अनुवृत्ति ज्ञानके द्वारा जाने गये जातिस्वरूप वस्तु स्वभावमें शद्बसे जन्य व्यवहार होता हुआ देखा जाता है । जिस कारणसे कि जैसे ही गो यह शद्ब तो गौ है, गौ है, गौ है, ऐसे वैसेके वैसे ही पीछे वर्तनेवाले ज्ञानोंके विषय होरही गोत्व जातिमें प्रवर्त्त रहा है, इस कारण आप जैन उसको जाति शद्ब कहते हैं, तैसे ही आप जैनोंका गुणशद्बपने करके माना गया शुक्लशद्ब भी तिसी प्रकारकी शुक्लत्व जातिमें प्रवर्त रहा है । शुक्ल गुणमें भी जाति रहती है, एक शुक्लको देखकर अनेक शुक्ल वर्णोंका ज्ञान हो जाता है । अतः शुक्ल शद्बको भी जाति शद्ब मानो ! गुण शद्ब नहीं । तथा गमन करना, भक्षण करना, रूप क्रियाको कहनेवाला चरति शद्ब भी चरनारूप सामान्यमें प्रवृत्त हो रहा है । क्रियामें भी सामान्य (जाति) रहता है । अतः चरति, गच्छति आदि क्रिया शद्ब भी जातिशद्ब हैं । स्वतन्त्र क्रिया शद्ब नहीं । विषाणी (सींगवाला बैल) यह शद्ब भी विषाणित्व जातिमें वर्त्त रहा है, अतः जाति शद्ब है, समवायवाले द्रव्यको कहनेवाला समवायीद्रव्य शद्ब नहीं है । और दण्डी यह शद्ब भी दण्डित्वरूप जातिमें वृत्तिको प्राप्त हो रहा है, अतः जाति शद्ब है, संयोगीद्रव्य शद्ब नहीं । इस प्रकार किसी एक मनुष्यको कहनेवाला डित्थ शद्ब भी उस डित्थ जीवकी बालक, कुमार, युवा, मध्य,

वृद्धपनेकी अवस्थाओंमें व्यवहार किया गया प्रतीत हो रहा है, यही है, न कि वैशेषिक मत अनुसार जाति अनेकोंमें रहनी चाहिये सो यहां भी अनेक अवस्थाओंमें रहना बन जाता है। अतः डित्थत्व जातिमें प्रवृत्ति करता हुआ डित्थ शब्द भी जातिशब्द है, एक व्यक्तिमें रहनेवाला धर्म जाति नहीं होता है, किन्तु एक व्यक्तिकी नाना अवस्थाओंमें रहनेवाला डित्थत्व धर्म जाति बन जाता है। अतः डित्थ शब्द कोरी इच्छाके अनुसार कल्पित किया गया यदृच्छाशब्द नहीं है किन्तु जाति शब्द है। यों जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द, समवायीशब्द, संयोगीशब्द, यादृच्छिकशब्द, ये सभी शब्द जाति शब्द ही माने जाय।

कथं जातिशब्दो जातिविषयः स्याज्जातौ जात्यन्तरस्याभावादन्यथानवस्थानुषंगादिति च न चोद्यं, जातिष्वपि जात्यन्तरस्योपगमाज्जातीनामानन्त्यात् । यथाकांक्षक्षयं व्यवहारपरिसमाप्तेरनवस्थानासम्भवात् ।

प्रतिवादीके ऊपर किसीका कटाक्ष है कि वैशेषिक और नैयायिकोंने तो जातिमें पुनः अन्य जाति नहीं स्वीकार की है। " व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं, संकरोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो, जातिबाधकसंग्रहः " ॥ व्यक्तिकी एकता उसमें रहनेवाली जातिकी बाधक है, यानी एक व्यक्तिमें जाति नहीं रहती है, तभी तो आकाशत्व जाति नहीं है। घटत्व और कलशत्वमें तुल्यत्व दोष होनेके कारण लाघवसे घटत्व जाति है, समान ही व्यक्तियोंमें वर्त्तनेवाली किन्तु अक्षरोंसे बडी ऐसी कलशत्व जाति नहीं मानी गयी है। परस्परमें समानाधिकण्य होते हुए परस्परके अभावका समानाधिकरणपना सांकर्य दोष है, पृथिवी, अप्, तेजः, वायु और मनः ये पांच मूर्तद्रव्य हैं तथा वैशेषिकोंके यहां पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश ये पांच भूत माने गये हैं। भूतत्वको छोडकर मूर्तपना मनमें है एवं मूर्तपनेको छोडकर भूतपना आकाशमें है। दोनों मूर्तत्व और भूतत्वका समावेश पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार द्रव्योंमें है। यों संकर दोष होनेके कारण भूतत्वको जाति नहीं माना है। किन्तु सखण्डोपाधि है। नव्य नैयायिक यहां सांकर्यको दोष नहीं मानते हैं, अतः भूतत्व और मूर्तत्व दोनों जाति हैं। अनवस्था दोष हो जानेके कारण सत्तात्व जाति नहीं मानी गयी है, एक माने गये घटत्वमें रहनेवाली घटत्वत्वको जाति होनेका निरास तो एक व्यक्तिमें वर्तनेके कारण ही हो जाता है, किन्तु दो चार जाति या कुछ जातिमान् पदार्थोंमें रहनेवाले धर्मको अनवस्था होनेके कारण जातिपना नहीं है। जैसे घटत्व, गुणत्व, कर्मत्व और सत्ता इनमें सत्तात्व मान लिया जावे अथवा गुणत्वत्व, सत्तात्व, कर्मत्वत्व, इनमेंसे सत्तात्वत्व माना जावे इत्यादि। तथा जातिमान् पदार्थोंका जातिके द्वारा ही पृथक्करण होता है। विशेष पदार्थ स्वतः व्यावृत्त हैं। यदि विशेषोंमें भी विशेषत्व जाति मानली जावेगी तो विशेषोंके स्वयं व्यावर्त्तकपने स्वरूपकी हानि हो जावेगी। अतः रूपहानि हो जानेके कारण विशेषत्व जाति नहीं मानी है। एवं समवाय पदार्थमें प्रतियोगिता अनुयोगिता, इन दोनोंमें से किसी भी सम्बन्ध करके समवाय नहीं ठहरता है, किन्तु जाति जहां रहती है वहां समवाय सम्बन्धसे ही रहती

है। अतः असम्बन्ध होनेके कारण समवायत्व जाति नहीं मानी है। किन्तु नित्यसम्बन्धपना रूप सखण्डोपाधि है। इस प्रकार ये छह धर्म जातिके बाधक माने गये हैं। एक व्यक्तिमें रहनेके कारण जातिमें पुनः दूसरी जाति नहीं मानी गयी है, यों जाति शब्द फिर जातिको विषय करनेवाला कैसे हो सकेगा ? क्योंकि विवक्षित जातिमें पुनः अन्य जातियोंका वर्तना माना नहीं गया है, अन्यथा घटत्वमें घटत्वत्व और घटत्वत्वमें घटत्वत्वत्व आदि जातियोंके मानते जानेसे अनवस्था दोषका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें जाति शब्दको आप जातिवाचक कैसे कह सकेंगे ? बताओ। भावार्थ—गोत्व शब्द यदि गोत्वत्व जातिको कहता होता तब तो सभी शब्दोंका अर्थ जाति ही माना जा सकता था, किन्तु गोत्वमें गोत्वत्व जाति ही नहीं रहती है। इस कारण आपके नियममें अव्याप्ति दोष हुआ, ऐसा कहनेपर अब जातिवादी मीमांसक उत्तर देता है कि यह उक्त प्रकार चोद्य तो नहीं करना चाहिये, क्योंकि जातियोंमें भी दूसरी अनेक जातियां स्वीकार की हैं। जातियां अनन्त हैं परिमित नहीं। मूलको क्षय करनेवाली अनवस्था दूषण मानी गयी है किन्तु मूलको पुष्ट करनेवाली अनवस्था तो भूषण है। जिस पुरुषकी जितनी दो, चार, बीस, सौ, पांच सौ कोटि चलकर आकांक्षाका क्षय होते हुए तदनुसार व्यवहारकी परिसमाप्ति हो जाती है उससे आगे अनवस्थाका होना सम्भव नहीं है। किसी भी पुरुषका किसी भी अन्य पुरुषके लिये पिता, पितामह (बाबा) प्रपितामह (पडबाबा) आदिका प्रश्न करनेपर कुछ कोटिके पीछे आकांक्षा स्वतः शान्त हो ही जाती है, यदि आकांक्षा शान्त न होवे तो अनवस्था होने दो ! कोई क्षति नहीं। कार्यकारणभावका भंग नहीं होना चाहिये। ऐसे ही जातियोंमें भी समझ लेना। ज्ञापकपक्षमें कुछ दूर चल कर आकांक्षाओंका क्षय हो जानेसे अनवस्था वहीं टूट जाती है।

कालो दिगाकाशमिति शब्दाः कथं जातिविषयाः कालादिषु जातेरसम्भवात्तेषामेकद्रव्यत्वादित्यपि न शंकनीयं, कालशब्दस्य त्रुटिलवादिकालभेदेष्वनुस्यूतप्रत्ययावच्छेद्ये कालत्वसामान्ये प्रवर्तनात्। पूर्वापरादिदिग्भेदेष्वन्वयज्ञानगम्ये दिक्त्वसामान्ये दिक्शब्दस्य प्रवृत्तेः। पाटलिपुत्रचित्रकूटाद्याकाशभेदेष्वनुस्यूतप्रतीतिगोचरे चाकाशसामान्ये प्रवर्तमानस्याकाशशब्दस्य संभवत्याज्जातिशब्दत्वोपपत्तेः कालादीनामुपचरिता एव भेदा न परमार्थसन्त इति दर्शने तज्जातिरप्युपचरिता तेष्वस्तु। तथा च उपचरित जातिशब्दाः कालादय इति न व्यक्तिशब्दाः।

यदि कोई यों कहे कि एक द्रव्य होनेके कारण काल, आदिकोंमें वर्तरही मानी गयीं कालत्व आदि जातियोंका असम्भव है तो फिर काल, दिक् और आकाश ये शब्द कैसे जातिको विषय करनेवाले जाति शब्द कहे जा सकेंगे ? मीमांसक समझाते हैं कि इस प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि कालशब्द भी कालत्व जातिमें भली रीतिसे वर्तता है। काल द्रव्य एक नहीं है किन्तु पल, विपल, त्रुटि, लव, श्वास, घडी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि कालभेदोंमें अन्वय-

रूपसे पिरोया गया होकर ज्ञानके द्वारा कालत्व सामान्य जाना जा रहा है। अतः काल शब्द ऐसा होनेपर जातिको कहनेवाला जातिशब्द है। अनेक व्यक्तियोंमें पाये जारहे कालत्व सामान्यमें प्रवर्त रहा है। तथा यह (पूर्व) दिशा है यह पश्चिम भी दिशा है और यह (उत्तर) भी दिशा है इत्यादि प्रकारके अन्वय ज्ञानसे जाने गये पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदि दिशाके भेदोंमें दिक्त्व सामान्य ठीक ढंगसे वर्त रहा है। अतः दिक्शब्दकी प्रवृत्ति दिक्त्व जातिमें है। एवं मालामें पिरोये हुए डोरेके समान पटना, चित्रकूट, बनारस, आगरा, सहारनपुर आदि आकाशके विशेष भेदोंमें अन्वयज्ञानका विषय होती हुयी ठहर गयी आकाशत्व जातिमें आकाश शब्द वर्तता हुआ भले प्रकार जाना जा रहा है, अतः आकाश शब्दको भी जातिशब्दपना सिद्ध हो जाता है (बन जाता है)। यदि कोई कहे कि काल, दिशा और आकाश तो वस्तुतः एक एक द्रव्य हैं, घडी, मास, पूर्व, पश्चिम, चित्रकूट, पटना, आदि भेद तो व्यवहारसे ही कर लिये गये हैं, परमार्थरूपसे अखण्ड द्रव्यमें सद्भूत भेद नहीं हो सकते हैं। ऐसा सिद्धान्त माननेपर तो हम जातिवादी कह देंगे कि उनमें वह कालत्व, दिक्त्व, आकाशत्व, जातियां भी व्यवहारसे ही स्थापित करली जावें कोई हानि न होगी। तिस प्रकारसे भी तो यही सिद्ध हुआ कि काल आदिक शब्द उपचारसे मानी गयी जातिके प्रतिपादन करनेवाले शब्द हैं एकांतरूपसे व्यक्तिको कहनेवाले शब्द नहीं।

कथमतत्त्वशब्दो जातौ प्रवर्तत इति च नोपालम्भः, तत्त्वसामान्यस्यैवाविचारितस्यातत्त्वशब्देनाभिधानात्। तदुक्तं—" न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य आगमः। अतत्त्वमिति मन्यन्ते तत्त्वमेवाविभावितम् " इति।

फिर कोई यहां यों अव्यर्थ शक्तिके समान वाग्बाण चलावे कि अतत्त्व शब्द जातिमें कैसे प्रवर्तेगा ? क्योंकि अतत्त्व कोई वस्तुभूत नहीं है, अतः उसमें रहनेवाली कोई अतत्त्वत्व जाति नहीं हो सकती है, मीमांसक कहते हैं कि यह उलाहना देना ठीक नहीं है। क्योंकि हम अतत्त्वको तत्त्वोंका सर्वथा निषेध करनेवाला तुच्छ अभाव पदार्थ नहीं मानते हैं, किन्तु नहीं विचारी हुयी तत्त्व जाति ही अतत्त्व इस शब्द करके कही जाती है, सो ही हम जातिवादियोंके यहां ग्रन्थोंमें ऐसा कहा हुआ है कि " तत्त्व और अतत्त्वोंमें कोई भेद नहीं है। इस प्रकार वृद्ध पुरुषोंसे चला आया हुआ आगम प्रमाण है। अच्छे प्रकार नहीं विचारे हुए तत्त्वको ही अतत्त्व ऐसा मानते हैं। अर्थात् अभाव पदार्थ भावरूप है जैसे अनुपलम्भका अर्थ विवक्षित पदार्थका न दीखना किन्तु अन्य पदार्थोंका दीख जाना है। सोते हुए मनुष्यके अनुपलम्भ नहीं है, अज्ञान है, उसी प्रकार अविचारित दूसरा तत्त्व ही अतत्त्व है। उस अतत्त्व या अतत्त्वोंमें वस्तुभूत जाति ठहरती है।

एतेन प्रागभावादिशब्दानां भावसामान्यं वृत्तिरुक्ता, प्रागभावादीनां भावस्वभावत्वादन्यथा निरुपाख्यत्वापत्तेरिति।

इस पूर्वोक्त कथन करके यह बात भी कही गयी समझ लेना चाहिये कि प्रागभाव, ध्वंस आदि पदार्थ तुच्छ अभावरूप नहीं है, किन्तु भावरूप पदार्थ हैं । अतः प्रागभाव, ध्वंस आदि शब्दोंकी प्रवृत्ति भावोंमें रहनेवाली जातियोंमें है यदि प्रागभाव आदिकोंको भावस्वभाव न मानकर अन्य प्रकारसे वैशेषिक लोग तुच्छ मानेंगे तब तो अभाव पदार्थको उपाख्या रहितपनेका प्रसंग होगा । भावार्थ—कार्यकारण, धर्मधर्मी, विशेषण, आधेय, आदि किसी भी रूपसे अभाव पदार्थका समझना समझाना न बन सकेगा । यानी अश्वविषाणके समान अभाव असत् पदार्थ हो जावेगा । अतः अभावोंमें भी हम जातिको विद्यमान मानते हैं । वैशेषिकोंके समान आंख मींचकर द्रव्य, गुण कर्ममें ही जातिको मानना और " व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं " इत्यादि जाति बाधकोंका मानना हमें अभीष्ट नहीं है । जाति सर्वत्र रहती है।

तदेतदसत्यम् । सर्वदा जातिशब्दाद्व्यक्तिसंप्रत्ययस्याभावानुषंगात् । तथा चार्थक्रियार्थिनः प्रतिपत्तॄन् प्रति शब्दप्रयोगोऽनर्थकः स्यात् । ततः प्रतीयमानया जात्याभिप्रेतार्थस्य वाहदोहादेरसंपादनात् ।

अब ग्रन्थकार बोलते हैं कि सो यह " जाति ही सब शब्दोंका अर्थ है " यहांसे लेकर निरुपाख्यपनेकी आपत्ति देनेतक किसीका कहना सर्व असत्य (झूंठा) है। कारण कि यदि शब्दके द्वारा जातियोंका ही निरूपण किया जावेगा तो उन सभी जाति शब्दोंसे सदा गौ, महिष, घट आदि व्यक्तियोंके सम्यग्ज्ञान होनेके अभावका प्रसंग हो जायगा । तब तो अर्थक्रियाके चाहनेवाले ज्ञाता श्रोताओंके प्रति शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ होगा। भावार्थ—लादने और दोहनेमें गोत्व जातिका तो उपयोग नहीं होता है, किन्तु लादने और दोहनेरूप अर्थक्रियाको करनेमें गौव्यक्ति ही प्रयोजनसाधिका है । इसी प्रकार घटत्व जाति जलधारणरूप अर्थक्रिया की और पटत्वजाति शीतबाधाको मेंटनेरूप अर्थक्रियाकी कारक नहीं है । तथा अर्थक्रियाको नहीं करनेवाला पदार्थ वास्तविक पदार्थ नहीं है । आपकी मानी हुयी नित्य एक जाति भी अर्थक्रियाको न करनेके कारण वस्तुभूत नहीं ठहरती है । तिस कारण शब्दके द्वारा जानी गयी जातिसे लादना, दोहना आदि हमारे अभीष्ट अर्थोंका संपादन नहीं होता है। अतः सभी शब्दोंका जातिरूप अर्थ मानना अयुक्त है । शब्दों करके अर्थक्रियाको करनेवाले पदार्थोंकी प्रतिपत्ति हो रही है, वही शब्दका वाच्यार्थ मानना चाहिये । परम्परा लगाना व्यर्थ है ।

स्वविषयज्ञानमात्रार्थक्रियायाः संपादनाददोष इति चेन्न, तद्विज्ञानमात्रेण व्यवहारिणः प्रयोजनाभावात् ।

मीमांसक बोलता है कि यदि कोई निठल्ला पदार्थ हमारे उपयोगी किसी कार्यको नहीं भी करता है, किन्तु कमसे कम स्वस्वरूप (अपने) विषयका ज्ञान करा देना केवल इस अर्थक्रियाको तो बना ही देता है । ऐसे ही गोत्व जाति भी स्व ज्ञानके विषयभूत अपना ज्ञान कराना रूप अर्थ-

क्रियाका संपादन कर देगी। अतः वस्तुभूत हो जावेगी। यों हमारे ऊपर जातिके अवस्तुपनेका कोई दोष नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि खाना, पीना, दोहना, लादना आदि व्यवहारको करनेवाले पुरुषका उस जातिको केवल विषय करनेवाले ज्ञानसे कोई प्रयोजन नहीं सधता है। अर्थक्रियाके अभिलाषुकको भले ही ज्ञान न होय, किन्तु प्रयोजन सध जाना चाहिये। गौ, घट, पट इन व्यक्तियोंसे ढोना, दुहना, जल धारण, शीतको दूर करना आदि वाञ्छनीय अर्थक्रियाएं होती हैं। ये क्रियाएं गौ आदिकके ज्ञानसे नहीं होने पाती हैं। गोत्व आदि जातियां भी किसी कामकी नहीं हैं। लड्डू और जलके ज्ञानसे भूंख प्यास दूर नहीं होती है। कार्यको सिद्ध करनेमें कारक हेतुओंकी आवश्यकता है। ज्ञापकोंकी नहीं।

न शद्बजातौ लक्षितायामर्थक्रियार्थिनां व्यक्तौ प्रवृत्तिरुपपद्यते अतिप्रसंगात्।

यहां कोई यों उपाय करे कि शद्बके द्वारा अभिधावृत्तिसे जातिका ज्ञान होगा और तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेपर जातिसे लक्षणावृत्तिके द्वारा व्यक्तिका ज्ञान कर लिया जावेगा। इस कारण अर्थक्रियाको चाहनेवाले पुरुषोंका गौ, घट आदि व्यक्तियोंमें प्रवृत्ति होना बन जाता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह उपाय तो अच्छा नहीं है, क्योंकि अतिप्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—गंगा शद्बके साथ घोष कह देनेसे तात्पर्य न बननेके कारण गंगाकी गंगातीरमें लक्षणाकी जाति है। "गंगामें मछली है" यहां लक्षणा नहीं है। जब कि शाद्बबोधके प्रकरणमें सर्वत्र लक्षणा मानी जावेगी तो आकाशमें रूप है। घटमें ज्ञान है। इन अशुद्ध प्रयोगोंमें भी लक्षणा करके निर्वाह किया जा सकेगा जो कि इष्ट नहीं है तथा यों परम्परासे कार्य होना माना जावे तब तो अनुमान, अर्थापत्ति आदिसे जाने गये पदार्थोंको भी इन्द्रियविषयपना प्राप्त होगा, यह भी अतिप्रसंग हो जावेगा। इसीको स्पष्ट करते हैं कि—

शद्बेन लक्षिता जातिर्व्यक्तीर्लक्षयति स्वकाः।
संबन्धादित्यपि व्यक्तमशद्बार्थज्ञतोहितम् ॥ १६ ॥
तथा ह्यनुमितेरर्थो व्यक्तिर्जातिः पुनर्ध्वनेः।
कान्यथाक्षार्थताबाधा शद्बार्थस्यापि सिध्यतु ॥ १७ ॥
अक्षेणानुगतः शद्बो जातिं प्रत्याययेदिह।
सम्बन्धात् सापि निःशेषा स्वव्यक्तीरिति तन्नयः ॥ १८ ॥

शद्ब करके पहिले जाति कही जाती है। पीछे जाति और व्यक्तिका समवाय सम्बन्ध होनेके कारण यह जाति अपनी आधारभूत व्यक्तियोंका लक्षणावृत्तिसे ज्ञान करा देती है। इस प्रकारका कहना

भी प्रगटरूपसे शद्वशास्त्र और अर्थशास्त्रको न जाननेवालेपनकी चेष्टा करना है । आपने तिस प्रकार कहा है कि शद्वसे पहिले जाति जानी जाती है और फिर अनुमानसे व्यक्तिरूप अर्थ जाना जाता है । ऐसी दशामें शद्वका प्रसिद्ध होरहा वाच्य अर्थ तो अनुमानका विषय हो गया । अन्यथा यानी यदि अनुमानसे व्यक्तिका ज्ञान नहीं करोगे तो कौनसी व्यक्तिमें शद्वकी वाच्यता कहोगे ? शद्वसे जाति जानी जाती है और जातिसे व्यक्ति लक्षित होती है, अतः शद्वसे ही परम्पराके व्यक्तिका ज्ञान हुआ । यदि ऐसा कहोगे, तब तो शद्वके वाच्यार्थको इन्द्रियोंका विषयपना भी बाधारहित सिद्ध हो जाओ ! श्रोत्र इन्द्रिय करके पहिले शद्वका श्रावण प्रत्यक्ष होता है पीछे वह शद्व शाद्वबोध-प्रणालीसे जातिका ज्ञान कराता है । तत्पश्चात् इन व्यक्तियोंमें जातिका सम्बन्ध होनेसे वह जाति भी अपने आश्रयभूत सम्पूर्ण व्यक्तियोंको लक्षित करा देती है, इस प्रकार उन मीमांसकोंकी नीति है । यहां परम्परासे वाच्यार्थको श्रोत्र इन्द्रियका विषयपना प्राप्त हो जाता है, किन्तु यह किसीको इष्ट नहीं है । मीमांसकोंने भी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये स्वतन्त्र प्रमाण माने हैं, इनके विषय भी न्यारे न्यारे हैं ।

द्रव्यत्वजातिः शद्वेन लक्षिता द्रव्यं लक्षयति तत्र तस्याः समवायात् । गुणत्वजाति-र्गुणं कर्मत्वजातिः कर्म । तत एव द्रव्यं तु समवेतसमवायात्प्रत्याययति । विवक्षासामान्यं तु शद्वात्प्रतीतं विवक्षितार्थे संयुक्तसमवायादेरित्येतदशद्वार्थज्ञताया एव विजृम्भितम् ।

अन्य पण्डित कह रहे हैं कि द्रव्य शद्वके द्वारा जान ली गयी द्रव्यत्व जाति लक्षणावृत्तिसे द्रव्य व्यक्तिका ज्ञान करा देती है, क्योंकि उस द्रव्यमें द्रव्यत्व जातिका समवायसम्बन्ध होरहा है । द्रव्यत्वमें प्रतियोगिता सम्बन्धसे रहनेवाला समवाय अनुयोगिता सम्बन्धसे समवायके आश्रय होरहे द्रव्यकी ज्ञप्तिमें प्रयोजक हो जाता है, जैसे कि दो रकारोंको कहनेवाला द्विरेफ शद्व रामचन्द्र, प्रेमचंद्र, त्रिलोकचन्द्र, राष्ट्र, रुद्र, रात्रि आदि शद्वोंको छोडकर भ्रमर शद्वकी ही लक्षणा कराता है और भ्रमर शद्व अपने वाच्य भौरेका लक्षित लक्षणासे ज्ञान करा देता है । इसी प्रकार शुक्ल, नील, आदि गुण शद्वों करके गुणत्व जातिका ज्ञान होता है और गुणत्व जाति गुण (व्यक्ति) को लक्षित कर देती है । तथा भ्रमण, चलन, सरण, तिर्यक्पवन आदि क्रिया शद्व भी कर्मत्व जातिको कहते हैं, उस कर्मत्व जातिसे कर्मपदार्थ लक्षित हो जाता है । किन्तु तिस समवेत समवायरूप परम्परा सम्बन्धसे ही गुणत्व, कर्मत्व जातियां द्रव्यका भी निर्णय करा देती हैं । भावार्थ—गुणत्व गुणत्वमें समवेत होता हुआ समवाय सम्बन्धसे ठहरता है और गुणद्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे रहता है । अतः गुणत्व और द्रव्यका समवेतसमवाय सम्बन्ध है । ऐसे ही कर्मत्व समवाय सम्बन्धसे कर्ममें रहता है और कर्म समवायसम्बन्धसे द्रव्यमें रहता है, ऐसी दशामें कर्मत्वका द्रव्यके साथ परम्परासे समवेतसमवायसम्बन्ध होगया । प्रत्येक सम्बन्ध दो आदि सम्बंधियोंमें रहता है । इस कारण एक सम्बन्धीका ज्ञान उससे अविनाभावी होरहे दूसरे सम्बन्धीका ज्ञापक हो जाता है । काठके बने हुए हाथी या अपनी इच्छासे किसी भी

व्यक्तिका नाम रख दिया गया डित्थ शद्ध यदृच्छा शद्ध है। डित्थ शद्धसे तो वक्ता सम्बन्धी बोलनेकी इच्छामें रहनेवाली इच्छात्व जातिकी प्रतीति होती है और जातिसे विवक्षित अर्थकी संयुक्तसमवाय या संयुक्तसमवेतसमवाय आदि सम्बन्धों करके ज्ञप्ति हो जाती है। भावार्थ—इच्छात्व इच्छामें समवाय सम्बन्धसे रहता है और इच्छा समवाय सम्बन्धसे आत्मामें रहती है आत्मा व्यापक द्रव्य है। अतः विवक्षित अर्थ डित्थके साथ आत्माका संयोग सम्बन्ध है। अब ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार यह किसीका अकाण्ड ताण्डवकी चेष्टा करना शद्ध और अर्थके सूक्ष्मतत्त्वोंको न जाननेपनका ही विलास है। अविचारी रूखे शद्ध शास्त्री वैयाकरण ही ऐसी भोंडेपनकी पंडिताई दिखाते फिरते हैं या सम्बन्धोंकी व्यर्थ चर्चामें अपनी योग्यताको बेचकर कोरे हृदयहीन नैयायिक ऐसा फटाटोप दिखाया करते हैं। इसमें कुछ सार नहीं है। यों तो—

द्रव्यगुणकर्मणां विवक्षितार्थानां चैवमनुमेयानां शद्धार्थत्वाभिधानात्। शद्धात्परम्परया तेषां प्रतीयमानत्वात् शद्धार्थत्वे कथमक्षार्थता न स्यादक्षात्परंपरायाः प्रतीयमानत्वात्। शद्धो हि श्रोत्रेणावगतो जातिं प्रत्याययति सापि स्वव्यक्तीरिति सर्वः शद्धार्थोक्षार्थ एव।

जिन अर्थोंकी विवक्षा उत्पन्न हुयी है उन अनुमानके विषयभूत द्रव्य, गुण और कर्मको शद्धके वाच्य अर्थपनेका आपने कथन किया है। अर्थात् शद्धसे जाति और जातिसे द्रव्य आदि व्यक्तियोंका अनुमान किया गया है, यों तब तो अनुमानसे जानने योग्य व्यक्तियोंको आपने शद्धका वाच्य अर्थ मान कर कथन किया है। किन्तु अनुमान और शद्धको पृथक् पृथक् प्रमाण माननेवाले नैयायिक, मीमांसक, कापिल और जैनोंके यहां शद्धजन्य ज्ञानका विषय अनुमेय अर्थ नहीं माना गया है, आगमप्रमाण और अनुमानप्रमाणका विषय भिन्न भिन्न होना चाहिये। किन्तु जातिको शद्धका अर्थ माननेवालोंके उक्त कथनसे अनुमानके द्वारा जानी हुयी व्यक्तिमें वाचक शद्धकी वाच्यार्थता कही गयी है, सो शाद्धबोधमें अनुमानकी व्यर्थ आकांक्षा करना युक्त नहीं प्रतीत होती है। यदि जातिको शद्धका वाच्यार्थ माननेवाले यों कहें कि शद्धसे जाति और जातिसे व्यक्ति, इस प्रकार परम्परासे शद्धके द्वारा ही उन द्रव्य, गुण, कर्म व्यक्तियोंकी प्रतीति हो रही है। इस कारण उनको शद्धका वाच्य माना जावेगा, तब तो हम कहते हैं कि उन द्रव्य, गुण, कर्मोंको इन्द्रियोंका विषयपना भी क्यों नहीं प्राप्त हो जावेगा। कारण कि इन्द्रियोंकरके परम्परासे द्रव्य आदिक प्रतीत हो रहे हैं, जब कि श्रोत्र इन्द्रियसे पहिले शद्ध जान लिया जाता है, वह शद्ध शाद्धप्रक्रियासे जातिका परिज्ञान कराता है, आपके मतानुसार पीछे वह जाति भी अपने आश्रय मानी गयीं व्यक्तियोंकी प्रतीति कराती है। इस प्रकार शद्धोंके सभी अर्थ इन्द्रियोंके ही विषयभूत अर्थ कहे जावेंगे। भावार्थ—जैसे शद्धसे जाति और जातिसे व्यक्तिको जाननेमें शद्ध और व्यक्तिका एकको बीचमें देकर सम्बन्ध हो जाता है, वैसे ही कर्णेन्द्रियसे शद्ध तथा शद्धसे जाति और जातिसे व्यक्ति इस प्रकार शद्ध और व्यक्ति

इन दोको बीचमें देकर श्रोत्रकी विषयता भी आगमगम्य व्यक्तियोंमें आजावेगी । परम्पराकी प्रतीति होना आपको सह्य है ही ।

तथानुमानार्थाः करणेन प्रतीताल्लिंगिनि ज्ञानोत्पत्तेः ।

और यों तो तिस प्रकार अनुमान प्रमाणसे जानने योग्य विषय भी इन्द्रियोंके विषयभूत अर्थ ही कहे जावें । क्योंकि चक्षुः, स्पर्शन, आदि इन्द्रियोंके द्वारा निर्णीत किये गये अविनाभावी हेतुसे हेतुवाले साध्यमें ज्ञान उत्पन्न होता है, यहां भी परम्परासे अनुमेय अर्थमें इन्द्रियोंकी विषयता प्राप्त हो जाओ । इन्द्रियोंसे हेतुको जाना और हेतुसे साध्यको जाना है । स्वज्ञाप्यज्ञाप्यत्व सम्बन्धसे इन्द्रियोंका विषय साध्य हो जाता है । किन्तु अनुमानसे जानने योग्य विषयको बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका विषय किसीने भी इष्ट नहीं किया है । प्रमाणसंप्लवकी रीति तो अन्य प्रकार है ।

एतेनार्थापत्त्यादिपरिच्छेद्यस्यार्थस्याक्षार्थतामसक्तिर्व्याख्याता, पारम्पर्येणाक्षात्परिच्छिद्यमानत्वाविशेषादित्यक्षार्थ एव शब्दो निर्बाधः स्यान्न शब्दाद्यर्थः सामान्यशब्दार्थवादिनो न चैवं प्रसिद्धः ।

इस उक्त कथनसे यह भी व्याख्यान कर दिया गया कि मीमांसकोंके द्वारा स्वतन्त्र प्रमाणपनेसे मानी गयी और जैनोंके यहां अनुमान प्रमाणमें गर्भित की गयी अर्थापत्ति तथा नैयायिक और मीमांसकों द्वारा स्वतन्त्र प्रमाणपनेसे माना गया एवं जैनोंके यहां प्रत्यभिज्ञान प्रमाणमें अन्तर्भूत किया गया उपमान प्रमाण, इसी प्रकार सम्भव ऐतिह्य, प्रतिभा आदि प्रमाणोंसे जानने योग्य विषयको भी इन्द्रियोंकी विषयता प्राप्त हो जावेगी । क्योंकि अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंका उत्थान भी पहिले इन्द्रियोंसे पदार्थोंको जान लेनेपर पीछेसे होता है । अतः अर्थापत्तिगम्य पदार्थका भी परम्परा करके इन्द्रियोंसे सम्बन्ध है । देवदत्तका पुष्टपना आंखों या स्पार्शनइन्द्रियसे जान लेनेपर पश्चात् रात्रिभोजनका ज्ञान अर्थापत्तिसे हो जाता है । ऐसे ही उपमान श्रुतज्ञान आदिमें पहिले इन्द्रियोंसे ज्ञापकोंके जाननेकी आवश्यकता है । मन इन्द्रियकी अनेक ज्ञानोंमें आवश्यकता है । परम्परा करके इन्द्रियोंसे जान लिया गयापन तो विशेषता रहित होकर सम्पूर्ण क्षायोपशमिक ज्ञानके विषयोंमें विद्यमान है । इस कारण शब्द और शब्दका वाच्य अर्थ बाधारहित होकर इन्द्रियोंका विषय ही हो जावेगा, ऐसी दशामें शब्द, हेतु, सादृश्य, अर्थापत्युत्थापक आदिके द्वारा जानने योग्य अर्थ कोई न हो सकेंगे । जातिको शब्दका अर्थ कहनेवाले मीमांसकके यहां शब्द आदिकके स्वतन्त्र विषय कोई नहीं बन सकेंगे, किन्तु इस प्रकारका सिद्धान्त प्रसिद्ध नहीं है । भावार्थ—इन्द्रियोंके विषय न्यारे हैं तथा हेतु, शब्द, आदिके गोचर पदार्थ स्वतंत्र होकर निराले माने गये हैं । यही सम्पूर्ण दार्शनिकोंकी पद्धति है ।

यथास्पष्टावभासित्वाच्छब्दार्थः कश्चनेष्यते ।
लिंगार्थोऽपि तदा प्राप्तः शब्दार्थो नान्यथा स्थितिः ॥ १९ ॥

यदि जातिको पदका अर्थ माननेवाले यों कहें कि इन्द्रियोंके द्वारा जाने गये विषयोंका स्पष्ट (विशद) रूपसे प्रकाश होता है, किन्तु शब्दके द्वारा जाने गये वाच्यार्थका तो स्पष्ट अवभास नहीं होता है, इस कारण इन्द्रियगोचर अर्थोंसे निराले कोई कोई अस्पष्ट विषय शब्दके वाच्य अर्थ माने जाते हैं। इस पर हम जैन कहते हैं कि तब तो अस्पष्ट प्रतिभास होनेके कारण हेतुजन्य ज्ञानका विषय अनुमेय भी शब्दजन्य ज्ञानका गोचर प्राप्त होगा। जो कि आपको इष्ट नहीं है। अनुमेय और आगमगम्य प्रमेयोंमें महान् अन्तर हैं, दूसरे अन्य प्रकारोंसे अब आप मीमांसक शब्दके वाच्यअर्थकी सिद्धि नहीं कर सकते हैं। व्यवस्था बिगड जायगी।

शब्दात्प्रतीता जातिर्जात्या वा लक्षिता व्यक्तिः शब्दार्थ एवास्पष्टावभासित्वादित्ययुक्तं, लिंगार्थेन व्यभिचारात्। तस्यापि पक्षीकरणे लिंगार्थयोः स्थित्ययोगात्।

उक्त वार्तिकका व्याख्यान यह है कि शब्दसे जाति जानी जाती है और जातिसे अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्तिके प्रतिसन्धान होनेपर शक्य सम्बन्धरूप लक्षणावृत्तिके द्वारा व्यक्ति जानी जाती है। अतः अविशद प्रकाश करनेवाला होनेके कारण वह व्यक्ति शब्दका विषय ही है, इन्द्रियका गोचर नहीं। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार कहना युक्तियोंसे रहित है, क्योंकि अविशद प्रकाशीपन हेतुका धूम आदि लिंगके विषय हो रहे अग्नि आदि अर्थ करके व्यभिचार है। भावार्थ— जिसका अस्पष्ट प्रकाश है वह शब्दका विषय है ऐसी व्याप्ति बनानेपर लिंगके द्वारा जाने गये अनुमेय अर्थसे व्यभिचार है। अनुमेय अर्थ भी अस्पष्टरूपसे जाना गया है, यों तो वह भी शब्दका विषय हो जावेगा। यदि आप उस अनुमेय अर्थको भी पक्षकोटिमें कर लोगे तब तो अनुमानसे और शाब्दबोधसे जाने गये भिन्न भिन्न प्रमेयोंकी स्थिति न हो सकेगी, तथा उपमान, और अर्थापत्तिके विषयोंको भी शब्दका विषयपना प्राप्त हो जावेगा। इस ढंग से प्रमाणोंके भेदोंकी व्यवस्था होना भी कठिन हो जावेगा।

यत्र शब्दात्प्रतीतिः स्यात्सोर्थः शब्दस्य चेन्ननु।
व्यक्तेः शब्दार्थता न स्यादेवं लिंगात्प्रतीतितः॥ २०॥

मीमांसक यहां तर्कणापूर्वक कहते हैं कि जिस पदार्थमें शब्दसे प्रतीति होती है वह उस शब्दका वाच्य अर्थ है। ऐसा कहनेपर हम जैन कहेंगे कि यों तो विशेषव्यक्तिको शब्दकी वाच्यता न हो सकेगी, कारण कि पूर्वोक्त प्रकार आपने हेतुसे व्यक्तिकी प्रतीति की है। अतः अर्थक्रिया करनेमें उपयोगी विशिष्ट पदार्थका ज्ञान तो अनुमानसे हुआ शाब्दबोधका विषय कोई विशिष्ट पदार्थ न हो सका यह भारी त्रुटि है। आप मीमांसकों द्वारा मानी गयी शब्दके वाच्य अर्थ जातिकी तो किसी भी जीवको शब्दसे प्रतीति नहीं होती है।

शद्बादेव प्रतीयमानं शद्बार्थमभिमेत्य शद्बलक्षितात्सामान्याल्लिंगात् प्रतीयमानां व्यक्तिं शद्बार्थमाचक्षाणः कथं स्वस्थः, परम्परया शद्बात्प्रतीयमानत्वात्तस्याः शद्बार्थत्वेऽक्षार्थता कथं बाध्यते तथाक्षेणापि प्रतीयमानत्वादुपचारस्योभयत्राविशेषात् ।

शद्ब हीसे जाने हुए पदार्थको शद्बका अर्थ मान कर यों कहनेवाले पुरुष कैसे स्वस्थ (होशमें) हो सकेंगे कि शद्बसे लक्षणा और अभिधावृत्तिके द्वारा जातिका वाचन होता है और जातिसे हेतुके द्वारा व्यक्तिकी प्रतीति होती है । इस परम्परासे प्राप्त हुयी व्यक्तिकी वाच्यता तो शद्बसे कही गयी मानी जावे यह कोरा मत्तप्रलाप है । यदि परम्परासे शद्बके द्वारा व्यक्तिकी प्रतीति हुयी है, अतः उस व्यक्तिको शद्बका वाच्यार्थ माना जावेगा तब तो उस व्यक्तिको इन्द्रियोंका विषयपना कैसे बाधित हो सकेगा ?, क्योंकि तिसी प्रकार परम्परासे इन्द्रियोंके द्वारा भी शद्ब और जातिको बीचमें देकर उस व्यक्तिकी प्रतीति हुयी है । वास्तवमें देखा जावे तो वह व्यक्ति शद्बका वाच्य अर्थ नहीं है, किन्तु अनुमान प्रमाणका विषय है । धन ही प्राण हैं इस कथनमें धन अन्नका कारण है और अन्न प्राणका कारण है । यहां कारणके कारणमें जैसे कार्यपनेका उपचार है तिसी प्रकार यदि ज्ञापकमें भी विषयपनेका उपचार किया जावेगा तब तो ज्ञापकके ज्ञापकमें भी उपचार किया जा सकता है उपचार करना दोनों स्थलोंपर समान है । एक जातिको बीचमें देकर या शद्ब और जाति दो को बीचमें देकर कल्पना करना एकसा है । अन्नमें प्राणका उपचार कर देनेके समान धनमें भी प्राणका उपचार (व्यवहार) हो सकता है । ऐसी दशामें शद्बका वाच्य अर्थ स्वतन्त्र कोई नहीं ठहरता है । शद्बको मध्यमें अनुमानकी शरण लेनी पडती है ।

न च लक्षितलक्षणयापि शब्दव्यक्तौ प्रवृत्तिः संभवतीत्याह—

एक बात यह भी है कि द्विरेफके समान अर्थात् दो रेफवाला शद्ब भ्रमर ही पकडा जाय रामचन्द्र प्रेमचन्द्र नहीं, यों द्विरेफ शद्बकी लक्षणा भ्रमर पदमें और पुनः भ्रमर शद्बसे मधुकर अर्थ लक्षित किया जाय ऐसी लक्षितलक्षणा करके भी शद्बके द्वारा किसी प्रकृत व्यक्तिमें प्रवृत्ति होना नहीं संभवता है । इसको आचार्य महाराज स्पष्ट कर अग्रिमवार्त्तिकमें कहते हैं ।

शद्बप्रतीतया जात्या न च व्यक्तिः स्वरूपतः ।
प्रत्येतुं शक्यते तस्याः सामान्याकारतो गतेः ॥ २१ ॥
व्यक्तिसामान्यतो व्यक्तिप्रतीतावनवस्थितेः ।
क्व विशेषे प्रवृत्तिः स्यात्पारम्पर्येण शद्बतः ॥ २२ ॥

शद्बके द्वारा साक्षात् निर्णीत की गयी जाति करके अपने स्वरूपसे व्यक्ति (विशिष्ट एक पदार्थ) की प्रतीति नहीं कर सकते हो, क्योंकि उस व्यक्तिका सामान्य विकल्पोंसे ही ज्ञान हुआ है ।

भावार्थ—हेतु और साध्यकी व्याप्ति सामान्यरूपसे हुआ करती है विशेषरूपसे नहीं। जहां धुआं है, वहां हेतु द्वारा सामान्य अग्निका ज्ञान होगा। तृणकी या पत्तेकी अथवा धवकी पलाशकी आगका विशेषरूपसे ज्ञान नहीं हो सकेगा, यदि विशेषके साथ व्याप्ति बना ली जावे तो हेतु व्यभिचारी हो जावेगा। अतः पक्षधर्मताकी सामर्थ्यसे भले ही पीछे अन्य प्रमाणोंके द्वारा विशेषपने करके ही साध्यका ज्ञान हो जावे, किन्तु अनुमानसे सामान्यपने करके ही साध्यका ज्ञान होगा, ऐसी दशामें जातिके द्वारा हेतुसे यदि व्यक्तिका ज्ञान किया जावेगा तो भी सामान्यरूपसे ही व्यक्तिका ज्ञान होगा। विशेषरूपसे प्रकृत (खास) व्यक्तिका ज्ञान न हो सकेगा, क्योंकि जातिरूप हेतुकी व्यक्तिरूप साध्यके साथ व्याप्ति सामान्यपनेसे ही ग्रहीत हो चुकी है। व्यभिचारके डरसे विशेषपनेसे व्याप्ति ग्रहण नहीं हुआ है। यदि जातिसे सामान्यपने करके व्यक्तिको जान चुकनेपर सामान्य व्यक्तिसे विशेष व्यक्तिकी प्रतीति करनेके लिये पुनः अनुमान करोगे तो अनवस्था दोष होगा। क्योंकि सामान्य व्यक्तिरूप हेतुके साथ विशेष व्यक्तिरूप साध्यकी व्याप्ति सामान्यपने करके ही हुयी है। अतः फिर भी विशेष व्यक्तिका ज्ञान न हो सका, यदि पुनः विशेष व्यक्तिको जाननेके लिये तीसरा अनुमान उठाया जावेगा तो वह भी सामान्यरूपसे ही साध्यको जान पायेगा, विशेष व्यक्तिका ज्ञान न हो सकेगा। सभी व्याप्तियां सामान्यपनेसे हुआ करती हैं। ऐसी दशा होनेपर भला शब्दके द्वारा परम्परासे भी विशेष अर्थमें ज्ञप्तिपूर्वक प्रवृत्ति कहां हुयी ? सो बतलाओ ! यानी कहीं भी नहीं।

शब्दलक्षितया हि जात्या व्यक्तेः प्रतिपत्तुरनुमानमर्थापत्तिर्वा ? प्रथमपक्षे न तस्याः व्यक्तेः स्वरूपेणासाधारणेनार्थक्रियासमर्थेन प्रतीतिस्तेन जातेर्व्याप्त्यसिद्धेरन्वयात्तदन्तरेणापि व्यक्त्यन्तरेषूपलब्धेर्व्यभिचाराच्च, सामान्यरूपेण तु तत्प्रतिपत्तौ नाभिमतव्यक्तौ प्रवृत्तिरतिप्रसंगात् ।

जातिको शब्दका अर्थ कहनेवाले वादियोंसे आचार्य महाराज पूंछते हैं कि शब्दके द्वारा लक्षणावृत्ति करके जतायी गयी जातिसे पुनः व्यक्तिका ज्ञाताको अवश्य ज्ञान होना अनुमान प्रमाणरूप है ? अथवा अर्थापत्ति प्रमाणरूप है ? बतलाओ ! यदि पहिला पक्ष लोगे तब तो उस व्यक्तिकी अपनी अर्थक्रिया करनेमें समर्थ हो रहे असाधारण स्वरूप करके प्रतीति न हो सकेगी। क्योंकि व्यक्तिके असाधारण स्वरूपके साथ जातिकी व्याप्ति बनना सिद्ध नहीं है। जहां जहां सामान्य जाति रहती है वहां वहां असाधारण लक्षणसे युक्त प्रकृत एक व्यक्ति रहती ही है, यह अन्वयव्याप्ति नहीं बनती है। जहां धूम है, वहां महानसकी या पत्तोंकी विशिष्ट अग्नि है, यह व्याप्ति नहीं बन सकती है। व्यभिचार है। उस महानस या पत्तोंकी आगके विना भी दूसरी व्यक्तियों गोशाला या धूपघटमें धूमसहित आग देखी जाती है। ऐसे ही सामान्य जातिके साथ अर्थ क्रियाको करनेवाली एक विशिष्ट व्यक्तिका अन्वय नहीं है, क्योंकि उस विशेष व्यक्तियोंके विना भी दूसरी व्यक्तियोंमें जाति पायी जाती है। अतः विशेषसाध्यके साथ व्याप्ति बनानेमें व्यभिचार दोष भी होता है, और सर्व देश

तथा कालका उपसंहार करनेवाली व्याप्ति भी नहीं बनने पाती है। अन्य व्यक्तियोंमें भी पाये जाने वाले ऐसे साधारणस्वरूप करके उस व्यक्तिकी प्रतिपत्ति मानोगे तब तो प्रकृत अभीष्ट एक व्यक्तिमें श्रोताकी प्रवृत्ति न हो सकेगी, क्योंकि साधारण धर्मोंका आधार तो प्रकृत व्यक्तिसे अतिरिक्त अन्य व्यक्तियां भी हो रही हैं। मनुष्यको लाओ ! ऐसी आज्ञा मिलनेपर ब्राह्मण या शूद्र किसीको भी लाकर लानेवाला सेवक कृतकृत्य हो जाता है। किन्तु हमारे विशिष्ट कार्यको साधनेवाले व्यक्तिका ले आना मनुष्य कहने मात्रसे नहीं हो सकेगा। दूसरे प्रकार मानोगे तो अतिप्रसंग हो जावेगा। यानी सामान्यके कह देनेपर अभीष्ट विशेषको न लानेवाला पुरुष अपराधी समझा जावेगा। तब तो सामान्यके कह देनेसे ही विना विशेषोंके कहे उनका आपादन हो जाना चाहिये।

यदि पुनर्जातिलक्षितव्यक्तिसामान्यादभिमतव्यक्तेः प्रतीतिस्तदा साप्यनुमानमर्थापत्तिर्वेति स एव पर्यनुयोगस्तदेव चानुमानपक्षे दूषणमित्यनवस्थानम्।

यदि आप फिर भी यह कहोगे कि शब्दसे जातिका निरूपण कर लक्षणावृत्तिसे व्यक्ति-सामान्यको जानकर उस व्यक्ति सामान्यसे विशेष अभीष्ट व्यक्तिकी प्रतीति कर लेवेंगे, तब तो हम जैन फिर पूंछेगे कि सामान्य व्यक्तिसे विशेष व्यक्तिका वह ज्ञान भी अनुमान है ? या अर्थापत्ति प्रमाण है ? बतलाइये। यहां भी पहिला पक्ष लेनेपर वही पूर्वोक्त दोष लागू होगा। फिर भी सामान्य व्यक्तिसे सामान्यरूप करके विशेषव्यक्तिका ज्ञान किया जावेगा। यहां भी तीसरे, चौथे, आदि सामान्य रूपोंके ऊपर वही चोद्य उठता चला जायगा और वही पहिले अनुमान पक्षके ग्रहण करने पर दूषण होता जावेगा। इस प्रकार अनवस्था हो जावेगी। शब्द करके विशेषव्यक्तिका परिज्ञान नहीं हो सकेगा।

शब्द प्रतीतया जात्या व्यक्तेः प्रतिपत्तिरर्थापत्तिरेवेति चेत्, प्रति नियतरूपेण सामान्यरूपेण वा ? न तावदादिविकल्पस्तेन सह जातेरविनाभावाभावासिद्धेः। द्वितीयविकल्पे तु नाभिमतव्यक्तौ प्रवृत्तिरित्यनुमानपक्षभावी दोषः।

मीमांसक पण्डित कहते हैं कि शब्दसे जातिकी प्रतीति होती है और जातिसे अर्थापत्तिके द्वारा विशेष अभीष्ट व्यक्तिकी प्रतिपत्ति हो ही जाती है। अर्थात् जातिकी स्थिति व्यक्तियोंके विना अनुपपन्न है, अतः दूसरे पक्षके अनुसार अर्थापत्ति प्रमाणसे अर्थक्रियाकारी विशेष पदार्थका तीसरी कोटीमें ज्ञान हो जावेगा। इस प्रकार कहोगे तो हम जैन आपसे पूंछेंगे कि जातिके द्वारा व्यक्तिकी अर्थापत्ति क्या प्रत्येक व्यक्तिमें नियमित हुए असाधारण स्वरूप करके होगी ? या अनेक व्यक्तियोंमें पाये जानेवाले साधारण स्वरूप करके होगी ? कहिये। तिन दोनों पक्षोंमें पहिला विकल्प लेना तो ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्ट असाधारण स्वरूप करके उस व्यक्तिके साथ जातिका अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्ति) प्रसिद्ध नहीं है, यह कहा जा चुका है। और दूसरा विकल्प ग्रहण करनेपर तो

अर्थक्रियाको करनेवाले अभीष्ट प्रकृत विशेष पदार्में प्रवृत्ति न हो सकेगी। साधारण स्वरूप करके जान लेनेपर तो सामान्यवाले चाहे जिस व्यक्तिमें या अनेक व्यक्तियोंमें भी प्रवृत्ति हो जावेगी, ऐसी दशामें शब्दके द्वारा बच्चा अपनी माताको अथवा पत्नी अपने पतिको न जान सकेगी। इस प्रकार पहिले अनुमान पक्षमें होनेवाले दोष दूसरे अर्थापत्तिवाले पक्षमें भी लागू हो जाते हैं।

सामान्यविशेषस्यानुमानार्थत्वाददोष इत्यपरः। तस्यापि शब्दार्थो जातिमात्रं मा भूत् सामान्यविशेषस्यैव तदर्थतोपपत्तेः। संकेतस्य तत्रैव ग्रहीतुं शक्यत्वात्। तथा च शब्दात्प्रत्यक्षादेरिव सामान्यविशेषात्मनि वस्तुनि प्रवृत्तेः परमतसिद्धेर्न जातिरेव शब्दार्थः।

कुछ जैनोंकी शरणमें आया हुआ कोई दूसरा वादी यह कहता है कि अनुमान प्रमाणका विषय केवल सामान्य ही नहीं है, किन्तु सामान्यका विशेष पदार्थ भी अनुमान प्रमाणका ज्ञेय है, यानी सामान्य और विशेष अंशोंसे युक्त वस्तुको अनुमान जानता है, अतः कोई दोष नहीं है। अर्थात् अनवस्था नहीं है। व्याप्ति भी बन जावेगी और विशेषमें प्रवृत्ति भी हो जावेगी। अब आचार्य कहते हैं कि उस दूसरे वादीके भी केवल सामान्य ही तो शब्दका वाच्य अर्थ नहीं हुआ। सामान्यके विशेषको ही या सामान्य विशेषात्मक पदार्थको ही उस शब्दका वाच्य अर्थपना सिद्ध होता है और उस सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें ही संकेतग्रहण करना बन सकता है। ऐसी ही तो जैनसिद्धान्त है। घट शब्दसे कम्बु और ग्रीवासे युक्त वस्तु कही जाती है, इस प्रकारका संकेत सामान्य और विशेष अंशोंसे घिरे हुए पदार्थमें माना गया है। तिस कारण सिद्ध होता है कि जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सामान्यविशेषात्मक वस्तुको जानकर उसमें प्रवृत्ति होती है, अतः प्रत्यक्ष आदिकोंका विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु है। तैसे ही शब्दसे भी सामान्यविशेषात्मक वस्तुमें प्रवृत्ति और ज्ञप्ति होना प्रतीत हो रहा है। इससे तो तुमसे दूसरे जैन मतकी सिद्धि हो जाती है, अतः केवल जाति ही शब्दका वाच्य अर्थ है। यह मीमांसकोंका मत सिद्ध नहीं हो पाता है।

द्रव्यमेव पदार्थोऽस्तु नित्यमित्यप्यसंगतम्।
तत्रानंत्येन संकेतक्रियाऽयुक्तेरनन्वयात्॥ २३॥
वाञ्छितार्थप्रवृत्त्यादिव्यवहारस्य हानितः।
शब्दस्याक्षादिसामर्थ्यादेव तत्र प्रवृत्तितः॥ २४॥

कोई विद्वान् कहता है कि सम्पूर्ण पदोंका अर्थ नित्यद्रव्य ही होओ, कोई भी शब्द जाति, गुण, क्रिया, आदिको नहीं कहता है। भावार्थ—सभी शब्द नित्यद्रव्योंके वाचक हैं। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना भी असंगत है, क्योंकि उन व्यक्तियोंमें अनन्तपनेके कारण संकेत करना नहीं बन सकता है। द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अन्वय होना भी नहीं घटता है। भावार्थ—

अनेक पर्यायें तो एक द्रव्यसे या गुणसे अन्वित हो रहीं हैं। सुख जीवकी पर्याय है, दुःख भी जीवका परिणाम है, ज्ञान, इच्छायें भी उसी जीवका स्वभाव हैं तथा खट्टा रस है मीठा भी रस होता है, तिक्त भी रस गुणका विवर्त है। किन्तु कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्योंसे अन्वित नहीं है, जैसे कि देवदत्त नामका एक जीवद्रव्य है, वह अन्य सजातीय और विजातीय द्रव्योंसे अन्वित नहीं है, यानी अन्य द्रव्योंमें यह देवदत्त है यह भी देवदत्त है और यह भी देवदत्त है ऐसी अन्वयप्रतीति नहीं होती है। किन्तु " वृत्तिर्वाचामपरसदृशी " वचनोंकी प्रवृत्ति अन्य व्यक्तियोंके सादृश्यको मूल कारण मानकर हो रही है। ऐसी दशामें शद्बके द्वारा प्रकृत अभीष्ट अर्थमें प्रवृत्ति होना या अनिष्ट अर्थसे निवृत्ति होना इत्यादि व्यवहारोंकी हानि हो जावेगी। हां! इन्द्रिय, मन, हेतु, आदिकी सामर्थ्यसे भले ही उन इष्ट अर्थोंमें प्रवृत्ति हो जावे। शाद्बबोधप्रक्रियासे तो विवक्षित अर्थमें प्रवृत्ति न हो सकेगी, द्रव्य अनन्त हैं, एकका दूसरेके साथ अन्वय है नहीं। जिस द्रव्यमें संकेत किया जावेगा उसका प्रत्यक्ष ही हो रहा है। अतः नित्य द्रव्यको शद्बका वाच्य अर्थ माननेमें कतिपय दूषण प्राप्त होते हैं।

न हि क्षणिकस्वलक्षणमेव शद्बस्य विषयस्तत्र साकल्येन संकेतस्य कर्तुमशक्तेरानन्त्यादेकत्र संकेतकरणे अनन्वयादभिमतार्थे प्रवृत्त्यादिव्यवहारस्य विरोधात्। स्वयमप्रतिपन्ने स्वलक्षणे संकेतस्यासम्भवाच्च। वाचकानां प्रत्यक्षादिभिः प्रतिपन्नेक्षादिसामर्थ्यादेव प्रवृत्तिसिद्धेः। प्रतिपत्तुः शद्बार्थापेक्षानर्थक्यात् किं तु द्रव्यनित्यमपि तस्यानन्त्याविशेषात्।

बौद्धोंसे माना गया और क्षण क्षणमें नष्ट हो रहा केवल स्वलक्षणद्रव्य ही जब शद्बका विषय ही नहीं है, क्योंकि उन स्वलक्षणोंमें सम्पूर्णपने करके संकेत नहीं किया जा सकता है, कारण कि वे स्वलक्षण अनन्त हैं। अनन्त स्वलक्षणोंमें संकेत करना अनेक जन्मोंसे भी साध्य कार्य नहीं है। यदि एक स्वलक्षणव्यक्तिमें संकेत किया जावेगा तो एक व्यक्तिका अन्य व्यक्तिमें अन्वय न होनेके कारण अभीष्ट परोक्ष अर्थमें प्रवृत्ति, निवृत्ति आदिके व्यवहार होनेका विरोध होगा। दूसरी बात यह है कि जिस परमाणु स्वरूप क्षणिक स्वलक्षणको आजतक स्वयं प्रतिपादक और प्रतिपाद्योंने नहीं जाना है, ऐसे स्वलक्षणतत्त्वमें वाचक शद्बोंका संकेत करना भी असम्भव है। वाच्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे इन्द्रिय, हेतु आदिकी सामर्थ्य करके निर्णय कर लेनेपर वाचकोंकी प्रवृत्ति होना घटता है, अन्यथा समझनेवाले प्रतिपाद्यको शद्बकी वाच्य अर्थकी अपेक्षा करना व्यर्थ पडेगा। अर्थात् घट व्यक्तिको चक्षुसे देख लेनेपर और घट शद्बको कानोंसे सुन लेनेपर संकेत ग्रहण करते हुए व्यवहार किया जाता है। पर्याययुक्त द्रव्योंमें संकेतग्रहण और व्यवहार करना होता है। किन्तु स्वलक्षणके समान नित्यद्रव्य भी व्यवहारके योग्य नहीं है, क्योंकि उन द्रव्योंमें अनन्तपना सामान्य रूपसे विद्यमान है। अतः शद्बके द्वारा क्षणिक स्वलक्षण और नित्यद्रव्य इन दोनोंका वाचन नहीं हो सकता है। पंक्तिके पहिले वाक्य " न हि स्वलक्षणमेव " का अन्वय " किन्तु नित्यद्रव्यमपि " के

साथ है, यानी केवल अनित्य स्वलक्षण ही शद्बका वाच्य नहीं है यही नहीं समझना। किन्तु नित्य द्रव्य भी शद्बका वाच्य नहीं है। किन्तु कह देनेसे पूर्वमें नहीं कहे गये भी विधि या निषेधपर विशेष बल पड जाता है।

स्यान्मतं, तत्र साकल्येन संकेतस्य करणमशक्तेः, किं तर्हि क्वचिदेकत्र न चानन्वयोस्य संकेतव्यवहारकालव्यापित्वान्नित्यत्वादिति। तदसंगतम्। कर्के संकेतितादश्वशब्दाच्छोणादौ प्रवृत्त्यभावप्रसंगात् तत्र तस्यानन्वयात्। न च प्रतिपाद्यप्रतिपादकाभ्यामध्यक्षादिना नित्येपि कर्के प्रतिपन्ने वाचकस्य संकेतकरणं किञ्चिदर्थं पुष्णाति प्रत्यक्षादेरेव तत्र प्रवृत्त्यादिसिद्धेः। स्वयं ताभ्यामप्रतिपन्ने तु कुतः संकेतो वाचकस्यातिप्रसंगात्।

शद्बका वाच्य अर्थ नित्य द्रव्यको माननेवालोंका सम्भवतः यदि यह मन्तव्य हो कि उस नित्य द्रव्यमें पूर्णरूपसे संकेत करना भले ही अशक्य है तब तो फिर क्या किया जाय ? इसका उपाय यह है कि किसी एक व्यक्तिमें तो वाच्य वाचकका संकेत ग्रहण किया जा सकता है ऐसी दशामें अनुगत प्रतीतिरूप अन्वयका न मिलना नहीं है, जब कि अनुगत प्रतीतिका होनारूप अन्वय ठीक मिल रहा है। क्योंकि वह नित्यद्रव्य संकेत काल और व्यवहार कालमें नित्य होनेके कारण व्याप रहा है, ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार उनका कहना असंगत है। कारण कि शुक्ल घोडेमें संकेत किये गये अश्व शद्बसे लाल, बदामी, काले आदि घोडोंमें प्रवृत्ति करनेका अभाव हो जावेगा, उस श्वेत घोडेपनेका अन्वय उन लाल चितकबरे घोडोंमें नहीं है। द्रव्यका द्रव्यमें अन्वय नहीं होता है। हां ! अश्वत्वरूप सदृश परिणामका अन्वय अनेक घोडोंमें पाया जा सकता है, किन्तु आप द्रव्यवादी उस जातिको स्वीकार नहीं करते हैं। प्रतिपाद्य श्रोता और प्रतिपादक वक्ता करके प्रत्यक्ष अनुमान, आदि प्रमाणोंद्वारा नित्य द्रव्यरूप भी शुक्ल घोडेको जानलेनेपर उस वाचक अश्व शद्बका वहां संकेत करना किसी भी प्रयोजनको पुष्ट नहीं करता है। उस नित्य शुक्ल घोडेमें तो प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाणोंसे ही प्रवृत्ति निवृत्ति आदि व्यवहार होना सिद्ध है। जिस व्यक्तिको संकेतकालमें जाना है। उसी नित्य व्यक्तिको व्यवहार कालमें जाननेसे क्या लाभ निकला ? अर्थात् कुछ भी नहीं। शद्बोंका वाच्य अर्थोंके साथ संकेत ग्रहण करना सदृश व्यक्तियोंके ज्ञान करानेमें उपयोगी है, अनेक गुणोंका पिण्डरूप शुद्धद्रव्य तो साधारण जीवोंको ज्ञेय नहीं है। जिस नित्यद्रव्यको उन प्रतिपाद्य और प्रतिपादकने ही स्वयं नहीं जाना है, उसमें तो किसी वाचक शद्बका संकेत ग्रहण भी भला कैसे हो सकता है ? अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात् हम लोगोंके द्वारा अज्ञात भी परमाणु, पाप, पुण्य आदि अनेक पदार्थोंमें शद्बकी प्रवृत्ति होना बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

केचिदाहुः—न नाना द्रव्यं नित्यं शद्बस्यार्थः किन्त्वेकमेव प्रधानं तस्यैवात्मा वस्तुस्वभावः शरीरं तत्त्वमित्यादिपर्यायशद्बैरभिधानात्। यथैकोयमात्मोदकं नामेत्यात्म-

शब्दो द्रव्यवचनो दृष्टः वस्त्वेकं तेज इति जलं नामिकः स्वभावः शरीरं तत्त्वमिति च दर्शनानतिक्रमात् । यथा च द्रव्यमात्मेत्यादयः शब्दपर्यायाः द्रव्यस्य वाचकास्तथान्येपि सर्वे रूपादिशब्दाः भत्यस्तमयादिशब्दाश्च कथञ्चित्सदापन्नाः सर्वे शब्दाः द्रव्यस्याद्वयस्य वाचकाः शब्दत्वाद्द्रव्यमात्मेत्यादिशब्दवत् तदुक्तं—" आत्मा वस्तुस्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि । द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम् " । इति ।

यहां कोई वादी लम्बा चौडा बखान कर रहे हैं कि शब्दके विषय अनेक नित्यद्रव्य नहीं हैं, किन्तु एक प्रधानद्रव्य माना गया ब्रह्म ही शब्दका वाच्य है । उस एक ही द्रव्यका, आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तत्त्व, पदार्थ, भाव, आदि पर्यायवाची शब्दों करके निरूपण किया जाता है, जैसे कि यह एक ही आत्मा जल इस शब्दसे कहा जाता है ऐसे ही वह जलस्वरूप आत्माका वाचक यह शब्द द्रव्यशब्द जाना जा रहा है । एक तेजोद्रव्य वस्तु है, यह भी उसी मुख्य द्रव्यको कहता है । इस प्रकार जल नामका एक स्वभाव या शरीर अथवा तत्त्व है और भी ऐसे ज्ञान होनेका अतिक्रमण नहीं है । कोई दार्शनिक पदार्थोंकी द्रव्य शब्दसे संख्या करते हैं, अन्य तत्त्वशब्दसे करते हैं, तीसरे भाव आदि शब्दोंसे प्ररूपण करते हैं, जैसे ही द्रव्य, आत्मा, वस्तु आदिक पर्यायवाची शब्द द्रव्यके ही वाचक हैं तिसी प्रकार अन्य भी संपूर्ण रूप, रस आदिक शब्द अथवा उदय होना, अस्त होना, चलना फिरना आदि सम्पूर्ण शब्द भी किसी अपेक्षासे सत्के साथ तादात्म्य रखते हुए द्रव्यके ही वाचक हैं । अतः अनुमान किया जाता है कि सभी शब्द (पक्ष) अद्वैतद्रव्यके वाचक हैं (साध्य) शब्दपना होनेसे (हेतु) आत्मा, ब्रह्म, आदि शब्दोंके समान (दृष्टान्त) । उसी बातको हमारे ग्रन्थोंमें इस प्रकार कहा है कि " आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर और तत्त्व, पदार्थ, भाव ये भी सब द्रव्य इस शब्दके ही पर्याय हैं और वह द्रव्य नित्य माना गया है । वेद वाक्योंके द्वारा सम्प्रदाय नहीं टूटते हुये, ऋषियोंको ऐसा ही स्मरण होता हुआ चला आ रहा है ।

ननु चानित्यशब्देनोदयास्तमयशब्दाभ्यामद्रव्यशब्देन व्यभिचारस्तद्विपरीतार्थाभिधायकत्वादिति न मन्तव्यं, द्रव्योपाधिभूतरूपादिविषयत्वादनित्यादिशब्दानां रूपादयो ह्युत्पद्यन्ते वियन्ति चेत्यनित्याः द्रव्यत्वाभावाच्चाद्रव्यत्वमिति कथ्यन्ते । न चोपाधिविषयत्वादमीषां शब्दानामद्रव्यविषयत्वं येन तैः साधनस्य व्यभिचार एव सत्यस्यैव वस्तुनस्तैरसत्यैराकारैरवधार्यमाणत्वादसत्योपाधिभिः शब्दैरपि सत्याभिधानोपपत्तेः । तदप्यभिधायि । " सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते । असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते । "

अभी तक वे ही वादी कह रहे हैं यहां कोई शंका करे कि तुम्हारे शब्दत्व हेतुका अनित्य शब्द करके अथवा उत्पत्ति शब्द करके या अस्तमय (विनाश) शब्द करके और

अद्रव्य शद्ब करके व्यभिचार होता है। क्योंकि अनित्य, उत्पत्ति, विनाश, और अद्रव्य, इन शद्बोंमें शद्बत्व हेतु विद्यमान है, किन्तु अद्वैत द्रव्यसे विपरीत अर्थको कहनेवाले होनेके कारण वहां साध्य नहीं रहता है। द्रव्यवादी समझाते हैं कि इस प्रकार व्यभिचार होना नहीं मानना चाहिये। क्योंकि अनित्य, विनाश, आदि शद्बोंको द्रव्यके विशेषण होते हुए रूप, रस, क्रिया आदिकी विषयता कर लेनापन है। भावार्थ— उत्पत्ति, विनाश, आदि कोई गुण या द्रव्य पदार्थ नहीं हैं, किन्तु उत्पत्ति आदि तो विशेषण हैं। रूप, रस, आदि उत्पन्न होते हैं। रूप, रस आदि नष्ट होते हैं। इस प्रकार रूप आदिक अनित्य हैं। उनमें मूल द्रव्यपना न होनेके कारण अद्रव्यपना ऐसा कह दिया जाता है, किन्तु वे रूप आदिक धर्मद्रव्यमें सम्बन्धी हैं अतः द्रव्य हैं। इन रूप, रस, आदि शद्बोंको विशेषणका गोचर हो जानेसे अद्रव्य गोचरपना नहीं है, जिससे कि उन अनित्य आदि शद्बों करके हमारे शद्बत्व हेतुका व्यभिचार ही होवे। सत्य ही अद्वैत वस्तुका उन असत्य स्वरूप उत्पत्ति आदि आकारों करके निर्णय किया जा रहा है, असत्य विशेषणोंको धारनेवाले विशेष्योंको कहनेवाले शद्बों करके भी सत्य पदार्थका ही कथन किया जा रहा है, जैसे कि प्रतिकृति (नकली) प्रतिबिम्ब (असली) का ज्ञान करा देती है। वह भी हमारे यहां ग्रन्थोंमें कह दिया गया है कि उसके आकार (विवर्त) रूप असत्य पदार्थों करके सत्य वस्तुका ही निर्णय हो जाता है। असत्य विशेषणधारी विशेष्योंको कहनेवाले शद्बों करके सत्य पदार्थ ही कहा जाता है। अनेक पुरुष अपनी जननी माताको चाची, बहू, भावी, काकी, जीजी, आदि शद्बोंसे सम्बोधन करते हुए देखे गये हैं। हकला और गोत्रस्खलनवाले भी प्रमेयको कह जाते हैं।

कथं पुनरसत्यानुपाधीनभिधाय तदुपाधीनां सत्यमभिदधानाः शब्दा द्रव्यविषया एव तदुपाधीनामपि तद्विषयत्वात् अन्यथा नोपाधिव्यवच्छिन्नं वस्तु शब्दार्थ इति न चोद्यं, कतरद्देवदत्तस्य गृहमदो यत्रासौ काक इति स्वामिविशेषावच्छिन्नगृहप्रतिपत्तौ काकसम्बन्धस्य निबन्धत्वेनोपादानेपि तत्र वर्तमानस्य गृहशब्दस्याभिधेयत्वेन काकानपेक्षणात्। रुचकादिशब्दानां च रुचकवर्धमानस्वस्तिकाद्याकारैरपायिभिरुपहितं सुवर्णद्रव्यमभिदधतामपि शुद्धसुवर्णविषयतोपपत्तेः। तदुक्तं— " अध्रुवेण निमित्तेन देवदत्तगृहं यथा। गृहीतं गृहशब्देन शुद्धमेवाभिधीयते" ॥१॥ "सुवर्णादि यथा युक्तं स्वैराकारैरपायिभिः। रुचकाद्यभिधानानां शुद्धमेवेति वाच्यताम् ॥२॥" इति। तद्वद्रूपाद्युपाधिभिरुपधीयमानद्रव्यस्य रूपादिशब्दैरभिधानेऽपि शुद्धस्य द्रव्यस्यैवाभिधानसिद्धेर्न तेषामद्रव्यविषयत्वं तदुपाधीनामसत्यत्वाद् गृहस्य काकाद्युपाधिवत्, सुवर्णस्य रुचकाद्याकारोपाधिवच्च।

अभी वे ही कह रहे हैं कि यदि कोई हमारे ऊपर यह कुतर्क चलावे कि झूंठे आकारवाले विशेषणोंको कहकर उनके विशेषणोंको अथवा उन विशेषणोंसे युक्त होरहे नित्यद्रव्यका सत्यपनेसे कथन कर रहे शद्ब तो केवल द्रव्यको ही विषय करनेवाले फिर कैसे कहे जा सकेंगे ? क्योंकि उस

द्रव्यके विशेषणोंको भी उन शद्बोंने विषय कर लिया है। अन्यथा उपाधिरूप विशेषणोंसे रहित हो रहा वस्तु शद्बका विषय न हो सकेगा। विशेषणोंको शद्बोंके द्वारा जान कर ही शुद्धद्रव्यसे उनकी व्यावृत्ति की जा सकेगी। भावार्थ—असत्य विशेषण भी शद्बके विषय हो रहे हैं, आपने फिर अकेले द्रव्यको ही शद्बका विषय कैसे कहा? अब शुद्धद्रव्य शद्बवादी कहते हैं कि इस प्रकार कुतर्क नहीं करना चाहिये। कारण कि किसी अज्ञात पुरुषने प्रश्न किया कि इन गृहोंमें देवदत्तका घर कौनसा है? इसका उत्तर कोई देता है कि जहां वह कौआ बैठा है, वही देवदत्तका घर है, इस प्रकार घरके विशेष अधिपतिसे युक्त माने गये घरकी प्रतिपत्ति करनेमें कौआके संबंधको कारणपनेसे ग्रहण किया जाता है, फिर भी उस स्थलमें वर्तरहे घर शद्बका वाच्य अर्थ घर ही है, इसमें कौआ की कोई अपेक्षा नहीं है। कौआ उडकर पुनः अन्य घरोंपर बैठ जाता है, अतः असत्य उपाधियोंसे सत्य-पदार्थका ही कथन होता है। सामान्यरूपसे सुवर्ण किसी न किसी आकारमें रहता ही है, नीबूके समान गोल सोनेका रुचक आकार, अथवा एरण्ड पत्रके समान वर्धमान आकार या सांथियाका आकार एवं पांसा पाटला आदि नष्ट होनेवाले आकाररूप विशेषणोंसे युक्त हो रहे सुवर्ण द्रव्यको कहनेवाले रुचक आदि शद्बोंको भी केवल शुद्ध सुवर्णको विषय करनेवालापन सिद्ध होता है। अर्थात् वे शद्ब केवल सोनेको कहते हैं, रुचक आदि आकारोंकी अपेक्षा नहीं है। उसी बातको हमारे यहां यों कहा है कि जैसे " ध्रुवरूपसे नहीं रहनेवाले काक आदि निमित्तों करके भले ही देवदत्तका घर जान लिया है, किन्तु गृह शद्ब करके विशेषणोंसे रहित केवल शुद्ध घरका ही ग्रहण किया जाता है और जैसे सुवर्ण आदि अपने रुचक, सांथियां, कडा आदि नाश होनेवाले आकारों करके भलें ही सहित हैं फिर भी शुद्ध सुवर्ण ही रुचक आदिक शद्बोंके वाच्यपनेको प्राप्त हो जाता है, तिसीके समान रूप, उत्पाद, अनित्य, आदि विशेषणोंसे विशेष्यताको प्राप्त हो रहे द्रव्यका रूप आदि शद्बों करके भलें ही कथन किया जावे। फिर भी उन रूप आदि विशेषणोंसे शुद्ध द्रव्यका ही कथन करना सिद्ध है। वे रूप आदिक शद्ब अद्रव्यको विषय नहीं करते हैं किन्तु द्रव्यको ही विषय करते हैं। उन रूप आदि उपाधियोंका विशेषणपना असत्य है, जैसे कि घरका काक, कबूतर आदि विशेषण लगाना अथवा सुवर्णके रुचक आदि आकारवाले विशेषण असत्य हैं। देवदत्तके घरपरसे उडकर कौआ अन्यत्र चला जा सकता है। गलानेपर सुवर्ण अन्य आकार ले लेता है।

सत्यत्वे पुनरुपाधीनां रूपाद्युपाधीनामपि सत्यत्वप्रसंगात् तथा तदुपाधीनामित्यनवस्थानमेव स्यात्, उपाधितद्वतोरव्यवस्थानात्। भ्रान्तत्वे पुनरुपाधीनां द्रव्योपाधीनामसत्यत्वमस्तु तद्व्यतिरेकेण तेषां सम्भवात् स्वयमसम्भवतां शब्दैरभिधाने तेषां निर्विषयत्वप्रसंगादिति सविषयत्वं शब्दानामिच्छता शुद्धद्रव्यविषयत्वमेष्टव्यं, तस्य सर्वत्र सर्वदा व्यभिचाराभावादुपाधीनामेव व्यभिचारात्। न च व्यभिचारिणामप्युपाधीनामभिधायकाः शब्दाः सविषया नाम, स्वप्नादिप्रत्ययानां स्वप्नविषयत्वप्रसंगात् इति शुद्धद्रव्यपदार्थवादिनः।

अभीतक शुद्धद्रव्यको शब्दका अर्थ माननेवाले वादी ही कर रहे हैं कि यदि फिर उन काक, रुचक, आदि विशेषणोंको सत्य मान लोगे तब तो रूप, अनित्य, आदि उपाधियोंको भी सत्यपनेका प्रसंग होगा। तिसी प्रकार उन विशेषणोंके अन्य विशेषणोंको भी सत्यपना प्राप्त होगा। एवं तीसरी, चौथी, आदिकी कोटिके विशेषण भी सत्य हो जावेंगे, इस रीतिसे अनवस्था दोष ही हो जावेगा। और उपाधि यानी विशेषण तथा उससे सहित हो रहे विशिष्टपदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। यदि काक, आदि उपाधियोंको फिर भ्रान्त माना जावेगा, तब तो शुद्धद्रव्यकी रूप आदि उपाधियां भी असत्य हो जाओ ! क्योंकि उस परमार्थभूत शुद्धद्रव्यसे भिन्नपने करके वे रूप आदि विशेषण सम्भव रहे हैं। अर्थात् वे वस्तुभूत नहीं हैं, स्वयं असम्भवते हुए उन रूप आदिकोंका शद्वोंके द्वारा वाचन मानोगे तो उन शद्वोंको विषयरहितपनेका प्रसंग हो जावेगा। जैसे कि असम्भव अश्वविषाणको कहनेवाला शद्व अपने वाच्य माने गये विषयसे रहित है, तैसे ही रूप, अनित्य, आदि शब्द भी निर्विषय हो जावेंगे। इस कारण शब्दोंको अपने वाच्य विषयसे सहितपना चाहने वाले पुरुषों करके प्रत्येक शब्दोंका विषय शुद्धद्रव्य चारों ओरसे स्वीकार कर लेना चाहिये। सभी देशोंमें और सभी कालोंमें उस शुद्धद्रव्यका व्यभिचार नहीं होता है। हां ! उस शुद्धद्रव्यके विशेषणोंका भले ही व्यभिचार हो जावे, जैसे कि आकाश सर्वत्र व्यापक है। घटाकाश, पटाकाश, गृहाकाश, आदिमें लगी हुयीं उपाधियोंका भले ही उनसे अन्य स्थलोंमें व्यभिचार हो जावे, किन्तु शुद्ध आकाशका कहीं भी कभी व्यभिचार नहीं होता है। जो शद्व व्यभिचार करनेवाले भी अपरमार्थ विशेषणोंको कह रहे हैं, वे शब्द अपने वाच्य विषयोंसे सहित कैसे भी नहीं होते हैं। अन्यथा स्वप्न, मूर्छित, मनोराज्य आदि अवस्थाके ज्ञानोंको भी स्वप्न आदि अर्थोंके विषय कर लेनेपनका प्रसंग हो जावेगा वे सविषय हो जावेंगे। निर्विषय नहीं रहेंगे। इस कारण परिशेषमें यही मानना पडता है कि संपूर्ण शद्व शुद्ध द्रव्यको ही कहते हैं। जाति, क्रिया, विशेषणको कहने वाले शद्व भी शुद्ध द्रव्यको ही कहते हैं। यहांतक अकेले शुद्धद्रव्यको ही शब्दका अर्थ माननेवाले वादी कह रहे हैं। केचिदाहुः से लेकर पदार्थवादिनः तक इनका पूर्वपक्ष है। अब आचार्य उत्तरपक्षको कहते हैं कि—

तेऽपि न परीक्षकाः। सर्वशब्दानां स्वरूपमात्राभिधायित्वप्रसंगात्। परेऽपि ह्येवं वदेयुः सर्वे विवादापन्नाः शब्दाः स्वरूपमात्रस्य प्रकाशकाः शब्दत्वान्मेघशब्दवदिति। नन्विदमनुमानवाक्यं यदि स्वरूपातिरिक्तं साध्यं प्रकाशयति तदानेनैव व्यभिचारः साधनस्य नो चेत् कथमतः साध्यसिद्धिरतिप्रसंगादिति दूषणं शुद्धद्रव्याद्वैतवाचकत्वसाधनेऽपि समानम्। तद्वाक्येनापि द्रव्यमात्राव्यतिरिक्तस्य तद्वाचकत्वस्य शब्दधर्मस्य प्रकाशने तेनैव हेतोर्व्यभिचारात्। तदप्रकाशने साध्यासिद्धेरयोगात्।

वे भी समीचीन परीक्षा करनेवाले नहीं हैं, क्योंकि जैसे उन्होंने संपूर्ण शद्बोंको शुद्धद्रव्यका वाचकपना माना है, तैसे ही संपूर्ण शद्बोंको केवल अपने स्वरूपके कथन करनेवालेपनका भी प्रसंग हो जावेगा। शद्बका अर्थ उस -शद्बको ही माननेवाले ये दूसरे वादी भी इस प्रकार अवश्य कह देवेंगे कि विवादमें पडे हुए घट, पट, आत्मा, पर्वत, पुस्तक आदि सम्पूर्ण शद्ब (पक्ष) अपने केवल स्वरूपको ही प्रकाश करनेवाले हैं (साध्य) क्योंकि वे शद्ब हैं। (हेतु) जैसे कि मेघ-गर्जनका शद्ब (दृष्टान्त)। अर्थात् मृदंगका धिम् किट् धम् ता आदि ध्वनि तथा झींगुर, मक्खी, भौंरा, आदिके शद्बोंका कुछ भी वाच्य अर्थ नहीं है। वे शद्ब केवल अपने शद्बरूप शरीरका ही श्रावण प्रत्यक्ष कराते हैं किसी वाच्य अर्थका शाद्बबोध नहीं कराते हैं, तैसे ही अन्य गौ, शुक्ल, आदि शद्ब भी केवल अपने शद्बस्वरूप (डील) को ही कहते रहते हैं अर्थको नहीं। किञ्चित् टिम, टिमाता हुआ दीपक जैसे अपने ही शरीरका प्रकाश करता रहता है पदार्थोंका नहीं, इस प्रकार इन शद्ब-वादियोंके ऊपर यदि कोई यों शंका करे कि अभी आप द्वारा कहा गया यह परार्थानुमानरूपी वाक्य यदि अपने शद्बस्वरूपसे अतिरिक्त स्वरूप मात्रको प्रकाश करना रूप इस साध्यका ज्ञान कराता है तब तो शद्बत्व हेतुका इस अनुमान वाक्यसे ही व्यभिचार हो गया। क्योंकि आप मानते हैं कि शद्बका वाच्य अर्थ अपनी भिन भिनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। किन्तु यहां अनुमान वाक्यसे आपने साध्यका ज्ञान कराना रूप अर्थ मान लिया है। यदि शद्बवादी इस अनुमान वाक्यका अर्थ अपने इष्ट साध्यको कथन करना न मानेंगे तो व्यभिचार टल गया, किन्तु ऐसी दशामें इस अनुमानसे आपके अभीष्ट साध्यकी सिद्धि कैसे होगी ? अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा। यानी यह वन्ध्यापुत्र जा रहा है, आकाशके फूलका सेहरा बांधे हुए है, मृगतृष्णाके जलमें स्नान करके आया है, शश (खरगोश) के सींगसे बनी हुयी तीर कमानको लिये हुए है इत्यादि अनर्थक वाक्योंसे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हो जावेगी। शुद्ध द्रव्यवादी यह दोष जैसे शद्बवादीके ऊपर उठाते हैं, तैसे ही अद्वैत शुद्धद्रव्यको वाचक शद्बका अर्थ सिद्ध करनेवाले अनुमानमें भी यही दोष लागू होगा। वे शुद्धद्रव्यवादी यह अनुमान मानते थे कि सभी गुण, कर्म आदिके वाचक शद्ब (पक्ष) शुद्धद्रव्यके ही अभिधायक हैं (साध्य) शद्ब होनेसे (हेतु) जैसे आत्मा, ब्रह्म, सत्, चित् आदि शद्ब हैं (दृष्टांत)। यहां केवल शुद्धद्रव्यतत्त्वसे उस द्रव्यका वाचकपना धर्म भिन्न ही होगा। जो कि शद्बरूप धर्मीका साध्य स्वरूप धर्म माना गया है। द्रव्यवादी यदि उस अनुमान वाक्यसे भी वाचकपनारूप धर्मका प्रकाश होना मानेंगे, तब तो द्रव्यवादियोंके शद्बत्व हेतुका उस वाचकत्व धर्मसे ही व्यभिचार हो जावेगा। यदि द्रव्यवाचकत्वरूप साध्यका उस वाक्यसे प्रकाश होना नहीं मानेंगे, तब तो द्रव्य-वादियोंके यहां द्रव्यवाचकत्वरूप साध्यकी सिद्धि ही न हो सकेगी। अनुमानके बोलनेसे फल भी क्या निकला ? कुछ नहीं। इस प्रकार शद्बवादी अपना पक्ष दूरतक अभी पुष्ट करेंगे।

द्रव्याद्वैतवादिनः शब्दस्य तद्वाचकत्वधर्मस्य परमार्थतो द्रव्यादव्यतिरिक्तत्वात् साधनवाक्येन तत्प्रकाशनेऽपि न हेतोर्व्यभिचार इति चेत् तर्हि शब्दाद्वैतवादिनोऽपि सुतरां प्रकृतसाधनवाक्येन न व्यभिचारः, स्वरूपमात्राभिधायकत्वस्य शब्दधर्मस्य शब्दादव्यतिरिक्तस्य तेन साधनात् द्रव्यमात्रे शब्दस्य प्रवेशनेन तद्धर्मस्यापि तत्र पारम्पर्यानुषक्तेः परिहरणात् ।

शद्बवादी कह रहे हैं कि यदि द्रव्याद्वैतवादी यों कहें कि हमारे यहां शद्बका वह द्रव्यवाचकत्व धर्म वस्तुतः द्रव्यसे भिन्न नहीं है । अतः वाचकत्वको साधनेवाले अनुमान वाक्यसे भले ही उस द्रव्यवाचकत्वका ज्ञान हुआ है तो भी अभेद होनेके कारण वह शुद्धद्रव्यका ही ज्ञान है । अतः हमारे हेतुका व्यभिचार नहीं है । यदि ऐसा कहोगे तब तो मुझ शद्बाद्वैतवादीके यहां भी उसी प्रकार विना प्रयासके प्रकरणमें पडे हुए स्वरूपको साधनेवाले वाक्य करके हेतुका व्यभिचार नहीं होता है, केवल स्वरूपको ही कहनेवालापन जो साध्य है । वह भी शद्बका ही धर्म है । वास्तवमें वह शद्बसे भिन्न नहीं है उस स्वरूपवाचकत्वका उस शद्बत्व हेतुने साधन किया है । आप द्रव्यवादी शद्बतत्त्वका केवल अपने शुद्ध द्रव्यमें अन्तर्भाव करोगे तिस ही करके उस शद्बके स्वरूप होरहे वाचकत्व धर्मका भी उस द्रव्यमें अन्तर्भाव किया जावेगा । तभी परम्पराके प्रसंग होनेका परिहार किया जा सकेगा । भावार्थ—आपके यहां द्रव्यमें शद्बका अन्तर्भाव करते समय शद्बके धर्मका भी अन्तर्भाव करना न्याय्य होगा । अतः सिद्ध होता है कि शद्ब और उसके धर्म दोनोंका अभेद है ।

ननु शब्दाद्वैते कथं वाच्यवाचकभावः शुद्धद्रव्याद्वैते कथम्? कल्पनामात्रादिति चेत्, इतरत्र समानम् । यथैव ह्यात्मावस्तुस्वभावः, शरीरं, तत्त्वमित्यादयः पर्याया द्रव्यस्यैवं कथ्यन्ते तथा शब्दस्यैव ते पर्याया इत्यपि शक्यं कथयितुमविशेषात् ।

यहां हम शद्बाद्वैतवादियोंके ऊपर किसीकी शंका है कि केवल शद्बके अद्वैतमें वाच्यवाचकभाव कैसे बन सकेगा? अर्थात् दो भिन्न तत्त्वोंमें तो एक वाच्य और दूसरा वाचक हो सकता है। किन्तु एक ही तत्त्वमें वही वाचक और वही वाच्य कैसे हो सकेगा? बताओ । उसपर हम शद्बाद्वैतवादी पूंछते हैं कि तुम द्रव्यवादियोंके यहां शुद्धद्रव्यके अद्वैतमें भला वाच्यवाचकभाव कैसे बन जाता है? तुम्हारे यहां भी तो एक ही ब्रह्मतत्त्व माना गया है । यदि तुम यों कहो कि केवल कल्पनासे वाच्यवाचकपना है, वस्तुतः नहीं है, तब तो यही बात दूसरे पक्षमें भी समानरूपसे लगा लो! हम शद्बाद्वैतवादी भी कह देंगे कि हमारे शद्बाद्वैतमें भी कोरी कल्पनासे वाच्यवाचकभाव है, कारण कि जैसे ही आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तत्त्व, ब्रह्म पदार्थ इत्यादि पर्याय तुम्हारे यहां शुद्धद्रव्यके ही कहे जाते हैं, तिसी प्रकार शद्बके ही वे आत्मा, वस्तु आदि पर्याय हैं । यह हम भी कह सकते हैं । अद्वैत पक्ष होनेकी अपेक्षासे ऐसे कहनेका दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है ।

ननु च जातिद्रव्यगुणकर्माणि शब्देभ्यः प्रतीयन्ते न च तानि शब्दस्वरूपं श्रोत्रग्राह्यत्वाभावादित्यपि न चोद्यं, जात्यादिभिराकारैरसत्यैरेव सत्यस्य शब्दस्वरूपस्यावधार्यमाणत्वात् । तच्छब्दैश्चासत्योपाधिवशाद्भेदमनुभवद्भिस्तस्यैवाभिधानात् ।

यदि हम शब्दाद्वैतवादियोंके ऊपर कोई दूसरा यों शंका करे कि अश्व, कुण्डली, शुक्ल, चलना आदि शब्दोंसे जाति, द्रव्य, गुण, और क्रियायें निर्णीत हो रही हैं, किन्तु वे जाति आदिक तो शब्द-स्वरूप पदार्थ नहीं हैं। क्योंकि शब्द तो श्रोत्र इन्द्रियसे जाना जाता है और घटत्व, अश्वत्व, रूप, रूपत्व, गमन, गमनत्व, रस आदि जाति, गुण, आदिक पदार्थ तो श्रोत्र इन्द्रियसे नहीं जाने जाते हैं। कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य ही नहीं है। अतः शब्दोंके वाच्य गोत्व, पुद्गल, रूप, घूमना आदि पदार्थ शब्दरूप नहीं हो सकते हैं। शब्दाद्वैतवादी बोलते हैं कि यह भी कुतर्क करना अच्छा नहीं है, क्योंकि जाति आदिक तो तत्त्व शब्दके कल्पित आकार हैं। असत्य आकारों करके परमार्थभूत शब्दतत्त्वके स्वरूपका ही निर्णय किया जा रहा है। अवास्तविक विशेषणोंके अधीन नानापनेका अनुभव करने वाले उन गोत्व, चणकत्व, ज्ञानी, सुरभि, उत्क्षेपण, आदि शब्दों करके उस शब्दाद्वैतका ही कथन हो रहा है। अर्थात् घटाकाश, पटाकाश, रूप उपाधियोंसे जैसे शुद्ध आकाशका ही निरूपण हो जाता है, अथवा शिरमें पीडा है, पेटमें सुख है, इत्यादि भेद व्यवहारोंसे एक शरीर व्यापी अखण्ड आत्माका ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार कल्पितभेदोंसे शब्दाद्वैत ही वर्णित हो रहा है।

ननु च जात्याद्युपाधिकथनद्वारेण तदुपाधिशब्दस्वरूपाभिधानाद्, अन्यथा तदुपाधिव्यवच्छिन्नशब्दरूपप्रकाशनासम्भवात् । जात्यादिशब्दा जात्याद्युपाधिप्रतिपादका एवेति न शंकनीयं, जात्याद्युपाधीनामसत्यत्वात् गृहस्य काकादिवत्सुवर्णस्य रुचकाद्याकारोपाधिवच्च ।

यहां कोई पुनः शंका करे कि जाति आदि उपाधियोंके कथन द्वारा तो उन उपाधियोंसे सहित ही शब्दस्वरूपका कथन किया जाता है। दूसरे प्रकार आप शब्दाद्वैतवादियोंके यहां उन उपाधियोंसे पृथग्भूत केवल शब्दस्वरूपका प्रकाश होना असम्भव है। अतः जाति आदिक शब्द तो जाति, गुण, आदि विशेषणोंको कहनेवाले ही हैं, उन जातिशब्द या गुणशब्द, आदिकोंसे शब्दाद्वैतका प्रतिपादन नहीं होता है। शब्दाद्वैतवादी कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि शब्दकी जाति आदिक उपाधियां परमार्थभूत नहीं हैं। जैसे कि देवदत्तके घरकी काक, बन्दर, आदि उपाधियां असत्य हैं, काक उडकर जिनदत्तके घरपर भी बैठ जाता है, बन्दर कूदकर इन्द्रदत्तके गृहपर भी चला जाता है, ऐसी दशामें अज्ञात पुरुषके वहां पहुंचनेतक काक द्वारा देवदत्तके घरका ठीक ज्ञान कैसे हो सकता है ? अथवा सुवर्ण द्रव्यकी रुचक, पांसा, सांथिया आदि आकाररूप उपाधियां अलीक हैं, सोनेको पीटकर कडेका सांथिया बना लिया जाता है और सांथियेका रुचक बनाया जा सकता है। एक दृष्टान्त है कि एक अहिफेन (अफीम) खानेवाले पुरुषने किसी हल-

वाई वणिक्से सौदा लिया। किन्तु रुपयेमेंके कुछ बचे हुए पैसे लेना भूल गया, वह रातको सोचने लगा कि हम वणिक्से शेष दाम लेना भूल गये, उसकी दुकानका भी स्मरण न रहा। हां ! ठीक है, याद आ गया उसकी दुकानके आगे धौली गाय बैठी थी। घरपर अफीमची सोच रहा था उधर कुछ देर पीछे वह गाय चलकर यवन सूचीकार (दर्जी) की दुकानके सन्मुख जा बैठी, अफीमची प्रातः बाजारको पैसे लौटानेके लिये गये और गायको वहां देखकर सूजीसे कहने लगे कि तू बडा नीच है, अयोग्य है, मायाचारी है, मैंने तेरे सरीखे अनेक कपटी भुगते हैं, हमसे ही धूर्तता करता है। रातमें ही मिठाईकी दुकानके सामानको बदलकर डङ्गी रखाकर आ बैठा है, हमको ठगता है ! इत्यादि। इसपर लडाई होने लगी। बुद्धिमानोंके समझानेपर भी अहिफेनमदीको बोध नहीं हो पाया, अपना ही आग्रह किये गया। वस्तुतः कथन यह है कि औपाधिकस्वरूप असत्य होते हैं। विश्वसनीय नहीं माने जा सकते हैं।

न च जात्याद्युपाधयः सत्या एव तदुपाधीनामपि सत्यत्वापत्तेः उपाधितद्वतोः क्वचिद्व्यवस्थानुपपत्तेः तदुपाधीनामसत्यत्वे मौलोपाधीनामप्यसत्यत्वानुषंगात्।

शब्दाद्वैतवादी ही बडी देरसे कहते जा रहे हैं कि जाति, द्रव्य, गुण, आदि उपाधियां सत्य ही नहीं हैं। यदि जाति आदिकको सत्य माना जावेगा तो उन उपाधियोंके उपाधिरूप विशेषणोंको भी सत्यपना प्राप्त होनेका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें उपाधि और उस उपाधिवाले उपाधिवान्‌की कहीं भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अर्थात् जैसे कि जपाके फूलमें रक्तता स्वभावसे है और स्फटिक की रक्तिमा उपाधिके वश है, यदि जपापुष्पमें भी रक्तिमा अन्य उपाधिसे मान ली जावे तो उपाधि और उपाधिवान्‌की ठीक अवस्थिति न बनेगी। यदि उन उपाधियोंकी उपाधियोंको असत्य मनोगे तब तो सबसे पहिले मूलमें पडी हुयी उपाधियोंको भी असत्यपनेका प्रसङ्ग प्राप्त हो जाओ ! भावार्थ—बढिया घोडा, इष्टकुण्डल, गहरी सुगन्ध, अधिक मीठा, शीघ्र चलना, आदिमें बढिया, इष्टता, शीघ्र, आदि उपाधियां तो उन जाति आदिकी उपाधियां हैं। "भीखमेंसे भीख" की नीतिसे दूसरी उपाधियोंको यदि निःसार माना जावेगा तो पहिली ही कोटिपर मूल उपाधियोंको भी झूंठपना ठहरता है। उपाधिरूपी फटाटोप झूंठा होता है। असार पदार्थका प्रायः आडम्बर महान् होता है। कांसेकीसी ध्वनि सोनेमें नहीं है। जितना ही चढा बढाकर दिखाऊ ऊपरी ढंग है, उतनी ही नीचे पोल समझना। किसीने कहा भी है कि " असारस्य पदार्थस्य प्रायेणाडम्बरो महान्। नहि स्वर्णे ध्वनिस्तादृग् यादृक् कांस्यात् प्रजायते "

न चासत्यानाद्युपाधीनां प्रकाशकाः शब्दाः सत्या नाम निर्विषयत्वात्। ततः सविषयत्वं शब्दस्येच्छता स्वरूपमात्रविषयत्वमेषितव्यं, तस्य तत्राव्यभिचारात्। जात्यादिशब्दानां तु जात्याद्यभावेऽपि भावाद्व्यभिचारदर्शनात्। न हि गौरश्व इत्यादयः शब्दा गोत्वाश्वत्वादिजात्यभावेऽपि वाहीकादौ न प्रवर्तन्ते।

शब्दाद्वैतवादी ही कहते आरहे हैं कि अवस्तुरूप उपाधियोंको प्रकाश करनेवाले शब्द कैसे भी सत्य नहीं हो सकते हैं। क्योंकि वे अपने वाच्य माने गये विषयोंसे रहित हैं, जैसे कि बन्ध्यापुत्र शब्द अपने विषयसे रहित है तिस कारण शब्दके विषयसहितपनेको चाहनेवाले विद्वान् करके शब्दका वाच्य हो रहा विषय केवल शब्दका स्वरूप ही इष्ट कर लेना चाहिये। उस शब्दका उस अपने स्वरूपके प्रतिपादन करनेमें कभी भी व्यभिचार न होगा। अर्थात् सभी सार्थक या निरर्थक शब्द अथवा द्वीन्द्रिय आदिक जीवोंके शब्द भी कमसे कम अपने शब्दस्वरूप शरीरका प्रतिपादन कर ही देवेंगे। जैन, नैयायिक और मीमांसकोंके माने हुए जाति शब्द, गुणशब्द आदिकोंका तो व्यभिचार देखा जाता है, वे जाति आदिकके न होनेपर भी अन्यत्र व्यवहृत होते हुए देखे जारहे हैं। देखिए ! गौ, घोडा, उल्लूक, ऊंट, आदि जातिवाचक शब्द बिचारे गोत्व, अश्वत्व आदि जातियोंके न होनेपर भी लादनेवाले, दौडनेवाले पोंगा, भोंदू आदि मनुष्योंमें नहीं प्रवर्त्तरहे हैं, यह न कहना। किन्तु मनुष्योंमें भी गो आदि शब्दोंकी प्रवृत्ति है। अतः सिद्ध होता है कि शब्द अपने स्वरूपको ही कहता है। जाति आदिक वाच्यअर्थको नहीं।

तत्रोपचारात् प्रवर्तन्त इति चेन्नापराजातयोपि यत्र क्वचन तेषां प्रवर्तनात्। तथा द्रव्यशब्दा दण्डीविषाणीत्यादयो गुणशब्दाः शुक्लादयश्चरत्यादयश्च क्रियाशब्दाः द्रव्यादिव्यभिचारिणोऽभ्यूह्याः।

यदि कोई यों कहे कि उन पल्लेदार, मूर्ख मतिमन्द आदि मनुष्योंमें उपचारसे बैल, उल्लू आदि प्रवर्तते हैं, सो यह तो नहीं कहना, क्योंकि दूसरी जातियां भी जिस किसी भी व्यक्तिमें उनके मतमें प्रवर्त रही हैं। भावार्थ—गच्छति इति गौः गमन करनेवाली गौ है। अश्नाति इति अश्वः जो खाता है वह घोडा है, इन अर्थोंका उपचार (रूढि) गाय और घोडेमें किया गया है। तिसी प्रकार आप जैन या मीमांसकोंके माने गये दण्डी, विषाणी, इत्यादि द्रव्यशब्द और शुक्ल, पाटल आदि गुणशब्द तथा चलना, तैरना आदि क्रियाशब्द ये भी द्रव्य, गुण और क्रियारूप अर्थोंसे व्यभिचार करनेवाले समझ लेने चाहिए। दण्ड नीतिवाले या दण्ड देनेवाले पुरुषको भी दण्डी कहते हैं। दण्ड एक घोडा भी होता है। मिट्टी या पाषाणके बने हुए खिलौनोंको भी दण्डी, विषाणी कह देते हैं। शुक्ल एक गोत्र होता है। पाटल एक वृक्षका नाम है। चलना यह शब्द अन्न छाननेवाले पात्रमें व्यवहृत है।

सन्मात्रं न व्यभिचरन्तीति चेत् न, असत्यपि सत्ताभिधायिनां शब्दानां प्रवृत्तिदर्शनात्, न किञ्चित्सदसीत्युपयन् सदेव सर्वमिति ब्रुवाणः कथं स्वस्थो नाम, ततोऽनर्थान्तरं गुणादाविव शुद्धद्रव्येऽपि शब्दस्य व्यभिचारात् स्वरूपमात्राभिधायित्वमेव श्रेय इतीतरे।

यदि कोई यों कहे कि द्रव्यवाचक धर्मशब्द भले ही पुण्यमें प्रवृत्त हो जावे। ऐसे ही सिंह शब्द वीर पुरुषमें या गो शब्द नेत्र, वाणी आदि अर्थोंमें बोला जावे, किन्तु ये शब्द सामान्य-

पनेसे मात्र अस्तित्वका व्यभिचार नहीं करते हैं, कुछ न कुछ है तो सही, सो यह तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि असत् पदार्थमें भी सत्ताको कहनेवाले शद्बोंकी प्रवृत्ति होना देखा जाता है। कल्पना किये गये असत् पदार्थोंमें अथवा मत्त, मूर्च्छित अवस्थामें अनेक असत् पदार्थ सत्‌रूपसे जाने जा रहे हैं। कोई भी वस्तु सत् नहीं है, इस बातको स्वीकार कर रहा वादी सभी वस्तु सत् ही हैं ऐसा कहता हुआ भला स्वस्थ (आपेमें) कैसे कहा जा सकता है ? तिस कारण सिद्ध होता है कि उस शद्बसे अभिन्न मान लिये गये। गुण, क्रिया आदिमें जैसे शद्बका व्यभिचार है, तैसे शुद्धद्रव्यवादियोंके शुद्ध अद्वैत द्रव्यमें भी शद्बकी प्रवृत्तिका व्यभिचार होना देखा जाता है। इस कारण शद्बको केवल अपने स्वरूपका कहनेवालापन ही हितमार्ग है, अर्थात् सभी शद्ब अपने स्वरूप (डील) को ही कह रहे हैं। अन्य वाच्य अर्थको नहीं। जैसे मेघध्वनि या समुद्रशद्ब अपने शरीरको ही कह रहे हैं। इस प्रकार यहांतक अधिक समयसे कोई अन्य शद्बाद्वैतवादी कह चुके हैं।

तदत्र प्रष्टव्याः, कथममी शब्दाः स्वरूपमात्रं प्रकाशयन्तो रूपादिभ्यो भिद्येरन् ? तेषामपि स्वरूपमात्रप्रकाशने व्यभिचाराभावात् ।

अब आचार्य महाराज उत्तर देते हैं, इस प्रकरणमें वे हमको यों पूंछने योग्य हैं कि शद्बाद्वैतवादियोंसे माने हुए ये शद्ब अपने केवल स्वरूपको प्रकाश करते हुए कैसे रूप, रस, आदिकोंसे भिन्न (न्यारे) हो सकेंगे ? बतलाओ ! उन रूप, रस आदिकोंका भी तो केवल अपने स्वरूपके प्रकाश करनेमें कोई व्यभिचार नहीं है। आम्रफलको देखनेसे उसका रूप गुण अपने शरीरका ही प्रकाश करेगा, चाखनेसे उसका रस गुण केवल अपने स्वरूपका ही प्रकाश करेगा। इस प्रकार रूप, रस, गन्ध आदिक सभी अपने अपने स्वरूपका प्रकाश कर रहे हैं ऐसी दशामें शद्बतत्त्व भला रूप आदिकोंसे भिन्न कैसे किया जा सकता है ? आप ही सोचिये !

न स्वरूपप्रकाशिनो रूपादयोऽचेतनत्वादिति चेत्, किं वै शब्दश्चेतनः ? परमब्रह्मस्वभावत्वात् शब्दज्योतिषश्चेतनत्वमेवेति चेत्, रूपादयः किं न तत्स्वभावाः ? परमार्थतस्तेषामसत्त्वात् अतत्स्वभावा एवेति चेत्, शब्दज्योतिरपि तत एव तत्स्वभावं मा भूत्। तस्य सत्यत्वे वा द्वैतसिद्धिः शब्दज्योतिः परमब्रह्मणोः स्वभावतद्वतोर्वस्तुसतोर्भावात् ।

यदि शद्बाद्वैतवादी यों कहें कि रूप, रस आदिक (पक्ष) अपने स्वरूपको प्रकाश करनेवाले नहीं हैं (साध्य) अचेतन होनेसे (हेतु)। ऐसा कहने पर तो हम जैन पूंछते हैं कि क्यों जी ! आपसे माना गया शद्बतत्त्व क्या नियमसे चेतन है ? इसपर तुम यदि यों कहो कि शद्बरूप ज्योतिः तो चेतन ही है, क्योंकि वह चिद्रूप परब्रह्मका स्वभाव है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कह देवेंगे कि तुम्हारे यहां वे रूप, रस आदिक उस परब्रह्मके स्वभाव क्यों नहीं हैं ? रूप आदिक भी तो परब्रह्मसे अभिन्न हैं। इसपर तुम शद्बवादी यों कहो कि रूप आदिक तो वस्तुभूतपनेसे सत्‌रूप नहीं हैं। अतः वे उस परब्रह्मके स्वभाव कैसे भी नहीं हो सकते हैं, ऐसा कहनेपर तो हम

जैन कह देवेंगे कि शद्वरूप प्रकाश भी वास्तवमें सत् पदार्थ नहीं है। तिस ही कारण वह शद्वज्योतिः परब्रह्मका स्वभाव न होवे। यदि आप उस शद्वतत्त्वको वस्तुतः सत्रूप मानोगे तो अद्वैतकी सिद्धि न हो सकेगी। द्वैतकी सिद्धि हो जावेगी। शद्वज्योतिःस्वभाव एक तत्त्व है और दूसरा उस स्वभावको धारनेवाला परब्रह्म है। इस प्रकार परमार्थभूत दो सत् पदार्थ विद्यमान है, अतः द्वैत बन बैठा।

शब्दज्योतिरसत्यमपि परब्रह्मणोधिगत्युपायत्वात्तत्स्वरूपमुच्यते । " शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छतीति " वचनात् न तथा रूपादयः इति चेत् कथमसत्यं तद्वदधिगतिनिमित्तम् ? रूपादीनामपि तथाभावानुषंगात् ।

यदि शद्वाद्वैतवादी यों कहें कि भले ही शद्वरूपी प्रकाश असत्य है तो भी वस्तुभूत परब्रह्म-तत्त्वके जाननेका प्रकृष्ट उपाय है। अतः वह शद्वतत्त्व परब्रह्मका स्वरूप कहा जाता है। ऐसा हमारे ग्रन्थोंमे कहा हुआ है कि शद्वब्रह्ममें यानी वेदमें या आर्ष—शास्त्रोंमें जो प्रवीण है वह विद्वान् प्रकृष्ट आत्मा परब्रह्मको जान लेता है और पा लेता है। किन्तु तिस प्रकार शद्वके समान रूप, रस, आदिक गुण तो परब्रह्मकी ज्ञप्तिके उपाय नहीं हैं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि असत्य-भूत शद्व भला कैसे सत्यब्रह्मकी अधिगतिका निमित्त हो सकता है ? । यदि असत्यको भी सत्यका ज्ञापक माना जावेगा तो रूप, रस, आदिकोंको भी परब्रह्मके तिस प्रकार ज्ञापकपनेका प्रसंग हो जावेगा।

तस्य विद्यानुकूलत्वाद्भावनाप्रकर्षसात्मीभावे विद्यावभाससमर्थकारणता न तु रूपादीनामिति चेत्, रूपादयः कुतो न विद्यानुकूलाः ? भेदव्यवहारस्याविद्यात्मनः कारणत्वादिति चेत्, तत एव शब्दोपि विद्यानुकूलो मा भूत् ।

यदि शद्वाद्वैतवादी यों कहें कि वह शद्वतत्त्व भले ही ब्रह्मज्ञानस्वरूप विद्या नहीं है किन्तु सम्यग्ज्ञानरूप विद्याका अनुकूल कारण होनेसे अभेद ज्ञानकी भावनाके प्रकर्षसे तदात्मक होनेपर सम्यग्ज्ञानस्वरूप प्रकाशका वह शद्वाद्वैत तत्त्व समर्थ कारण हो जाता है, किन्तु रूप आदिक गुण विचारे अभेदज्ञानरूप विद्याके समर्थ कारण नहीं होते हैं। आचार्य कह रहे हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम प्रश्न करते हैं कि रूप आदिक गुण क्यों नहीं विद्याके अनुकूल हैं ? बताओ। इसपर तुम यदि यह कहो कि अविद्यास्वरूप भेद व्यवहारके कारण होनेसे रूप आदिक गुण अभेदज्ञानरूप विद्याके अनुकूल नहीं हैं, किन्तु प्रतिकूल हैं, जो अन्धकारका कारण है वह प्रकाशका हेतु कैसे हो सकता है ? ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तिस ही कारण शद्व भी विद्याका अनुकूल न होवे। घट, पट, पुस्तक, देवदत्त आदि शद्वोंसे अनेक भेदव्यवहार होते हुए देखे जारहे हैं।

गुरुणोपदिष्टस्य तस्य रागादिप्रशमहेतुत्वाद्विद्यानुकूलत्वे रूपादीनां तथैव तदस्तु विशेषाभावात् । तेषामनिर्दिश्यत्वाच्च गुरूपदिष्टत्वासम्भव इति चेत् न, स्वमतविरोधात् । " न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् " इति वचनात् ।

आप यदि ऐसा मानोगे कि गुरुके द्वारा उपदेश दिये गये शब्दको राग, द्वेष आदिके प्रकृष्ट शान्त कर देनेकी कारणता है, अतः वे शब्द सम्यग्ज्ञानके अनुकूल माने जाते हैं । अब आचार्य कहते हैं, तब तो रूप आदिकोंको भी तैसे ही उस विद्याकी अनुकूलता हो जाओ ! रूप, गन्ध आदिको दिखाकर भी गुरुजी तत्त्वज्ञान वैराग्यकी शिक्षा देते हैं । शब्द और रूप आदिकमें कोई अन्तर नहीं है, जैसे शब्दको सुना कर गुरु महाराज सम्यग्ज्ञान करा देते हैं, तैसे ही रूपको दिखाकर स्पर्शको छुआकर निर्वेदको बढाते हुये सम्यग्ज्ञान करा देते हैं । यदि आप शब्दवादी यों कहें कि उन रूप आदिकोंका शब्दके द्वारा निर्देश नहीं हो सकता है । अतः गुरुजीसे रूप आदिकोंका उपदेश हो चुकना सम्भव नहीं है, सो यह तो नहीं कहना चाहिये । क्योंकि ऐसा मानने पर शब्दवादियोंको स्वयं अपने मतसे विरोध हो जावेगा । उन्होंने अपने दर्शन ग्रन्थोंमें ऐसा कहा है कि " लोकमें वह कोई भी ज्ञान नहीं है, जो कि शब्दके अनुगम (स्पर्श) के विना हो जावे । सब ज्ञान और ज्ञेय इस शब्दसे लिप्त हुए सरीखे दीख रहे हैं । अतः सर्व ही जगत्के तत्त्व शब्दमें विराज रहे हैं " इस तुम्हारे आगमवाक्यसे रूप आदि गुणोंका निर्देश होना सिद्ध हो जाता है ।

शाब्दः प्रत्ययः सर्वः शब्दान्वितो नान्य इति चायुक्तं, श्रोत्रजशब्दप्रत्ययस्याशब्दान्वितत्वप्रसक्तेः स्वाभिधानविशेषापेक्ष एवार्थः प्रत्ययैर्निश्चीयत इत्यभ्युपगमाच्च ।

यदि उक्त ग्रन्थवाक्यका आप यह अर्थ करें कि शब्दोंसे संकेत द्वारा उत्पन्न हुए सभी ज्ञान शब्दसे मढे हुए हैं । अन्य रूप, रस आदिक या उनके ज्ञान शब्दकी चाशनीमें पगे हुए नहीं हैं । यह कहना तो युक्तियोंसे रहित है, क्योंकि शब्दोंके श्रोत्र इन्द्रियसे उत्पन्न हुए श्रावण प्रत्यक्षको शब्दसे नहीं अन्वितपनेका प्रसंग होगा । भावार्थ—घट शब्दको सुनकर छोटा मुख बडा पेटवाले कलश रूपी अर्थको जान लेना आगम (शाब्दबोध) ज्ञान है । तथा घ और ट इन वर्णोंको सुन लेना श्रावणप्रत्यक्ष (मतिज्ञान) है । शब्दवादी आगमज्ञानको ही शब्दसे अन्वित (ओतपोत मिला हुआ) मानते हैं, ऐसी दशामें श्रावणप्रत्यक्ष शब्दसे सना हुआ न हो सकेगा । दूसरी बात यह है कि अपने अपने वाचक शब्दविशेषोंकी अपेक्षा रखते हुए ही अर्थ उनके ज्ञानों करके निर्णीत किये जाते हैं, यह आपने स्थान स्थानपर स्वीकार किया है । अर्थात् सभी ज्ञानोंके ज्ञेय संपूर्ण अर्थ उन उनके वाचक शब्दोंसे अन्वित हो रहे हैं । यदि रूप आदिकोंको शब्दोंके द्वारा कथन करने योग्य न माना जावेगा तो आपके उक्त सिद्धान्तका व्याघात हो जावेगा, जो कि आपको असह्य है ।

ननु च रूपादयः शब्दाक्षार्थान्तरं तेषां तद्विवर्तत्वात् । ततो न ते गुरुणोपदिश्यन्ते येन विद्यानुकूलाः स्युरिति चेत्, तर्हि शब्दोपि परमब्रह्मणो नान्य इति कथं गुरुणोपदिश्यः । ततो भेदेन प्रकल्प्य शब्दं गुरुरुपदिशतीति चेत्, रूपादीनपि तथोपदिशतु । तथा च शब्दाद्वैतमुपायतत्त्वं परमब्रह्मणो न पुना रूपाद्वैतं रसाद्वैतादि चेति ब्रुवाणो न प्रेक्षावान् ।

यहां शद्ववादी पुनरपि स्वपक्षका अवधारण करते हैं कि रूप आदिक गुण तो शद्बतत्त्वसे भिन्न नहीं हैं। क्योंकि वे रूप आदिक तो उस शद्बब्रह्मकी पर्याय हैं, जिस कारण से गुरुके द्वारा नहीं उपदिष्ट किये जाते हैं, जिससे कि वे रूप आदिक गुण विद्याके अनुकूल हो जाते। आचार्य समझाते हैं कि ऐसा कहोगे तब तो हम जैन यों कहेंगे कि शद्बतत्त्व भी परब्रह्मसे भिन्न नहीं है, इस कारण वह गुरुसे भला कैसे उपदिष्ट किया जा सकेगा ? ब्रह्म ही ब्रह्मको ब्रह्मसे उपदेश नहीं दे सकता है। यदि आप यों कहें कि अभिन्न भी शद्बको उस ब्रह्मसे भेदपने करके कल्पना कर गुरु महाराज उपदेश दे देते हैं, तब तो हम जैन कहेंगे कि गुरुजी महाराज रूप आदिकोंको भी ब्रह्म या शद्बसे भिन्न कल्पित कर तिसी प्रकार उपदेश दे देवो कोई क्षति नहीं है। तब तो शद्बाद्वैतके समान रूपाद्वैत और रसाद्वैत भी सिद्ध हो जावेंगे। तैसा होते हुए भी परब्रह्मके ज्ञापक मान लिये गये शद्बाद्वैतको वह वादी उपाय तत्त्व कहे और फिर रूपाद्वैत, रसाद्वैत, स्पर्शाद्वैत, आदिको उपाय तत्त्व न माने। इस प्रकार साग्रह कहनेवाला शद्बाद्वैतवादी हिताहितको विचारनेवाली या परीक्षणा करनेवाली बुद्धिसे युक्त नहीं है। न्यायके द्वारा प्राप्त हुए पदार्थको अपनी इच्छासे न मानना बुद्धिमत्ता नहीं है।

ननु च लोके शद्बस्य परप्रतिपादनोपायत्वेन सुप्रतीतत्वात् सुघटस्तस्य गुरूपदेशो न तु रूपादीनामिति चेत् न, तेषामपि स्वप्रतिपत्त्युपायतया हि प्रतीतत्वात्। तद्विज्ञानं स्वप्रतिपत्त्युपायो न त एवेति चेत् तर्हि शद्बज्ञानं परस्य प्रतिपत्त्युपायो न शद्ब इति समानम्।

फिर शद्बवादी सशंक होकर अपने पक्षका समर्थन करता है कि लोकमें दूसरोंके प्रति पदार्थोंके प्रतिपादन करनेका उपायपनेसे शद्बकी भले प्रकार प्रतीति हो रही है, इस कारण उस शद्बका गुरुके द्वारा उपदेश होना ठीक तौरसे घटित हो जाता है। किन्तु रूप, रस आदिक गुण तो अन्य पदार्थोंके प्रतिपादन करनेवाले उपाय नहीं हैं। अतः रूप आदिकोंका गुरुके द्वारा उपदेश नहीं हो पाता है। आचार्य बोलते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उन रूप आदिकोंकी भी निश्चय करके अपनी प्रतिपत्तिके उपायपनेसे प्रतीति हो रही है। अपना अपना ज्ञान सभी करा लेते हैं। यानी अपनी ज्ञप्ति करानेमें सभी पदार्थ स्वयं आप अवलम्ब उपाय हो जाते हैं। तिसपर तुम यदि यों कहो कि उन रूप आदिकोंका विज्ञान ही उनको अपनी प्रतिपत्तिका उपाय है वे स्वयं रूप आदिक ही उपाय नहीं हैं, अन्यथा सोते हुए या अन्धे पुरुषको भी विद्यमान रूप आदिक अपना ज्ञान करा देते। ऐसा कहने पर तो हम जैन भी कह देवेंगे कि शद्बोंका ज्ञान ही दूसरे श्रोता पुरुषोंको अन्य पदार्थोंकी प्रतिपत्तिका उपाय है। केवल शद्ब ही दूसरोंको ज्ञान नहीं करा सकता है, अन्यथा बधिरको तथा संकेतको न जाननेवाले पुरुषको भी शद्ब अपने वाच्य अर्थका ज्ञान करा देता। बधिर और मूर्खके निकट शद्ब अपने स्वरूपसे तो विद्यमान है ही। इस प्रकार रूप आदि और शद्ब ये दोनों ही समान हैं। कोई अन्तर नहीं है।

परम्परया शब्दस्य प्रतिपत्त्युपायत्वे रूपादीनां सुप्रतिपत्त्युपायतास्तु। न हि धूमादिरूपादीनां विज्ञानात् पावकादिप्रतिपत्तिर्जनस्याप्रसिद्धा। शब्दः साक्षात्प्रतिपत्त्युपायस्तस्य प्रतिभासादभिन्नत्वादिति चेत्, तत एव रूपादयः साक्षात्स्वप्रतिपत्तिहेतवः सन्तु।

यदि शब्दवादी यों कहें कि पदार्थोंकी प्रमिति का साक्षात् (अव्यवहित) उपाय तो शब्दज्ञान है, किन्तु शब्दज्ञान शब्दसे उत्पन्न होता है। अतः परम्परासे प्रमितिका उपाय शब्द हो जाता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि ऐसा मानोगे तो रूप आदिकोंको भी परम्परासे अपनी प्रतिपत्तिका उपायपना उपस्थित रहो। धूम आदि व्यक्तियोंके रूप, स्पर्श आदि परिणमनोंके ज्ञानसे वह्नि आदि की मनुष्योंको समीचीन ज्ञप्ति होना अप्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् धूमके रूपको देखकर परम्परासे वह्निका ज्ञान हो जाता है। वह्निज्ञानका साक्षात् कारण धूमज्ञान है। और परम्परासे रूप, रस आदिसे युक्त हो रहा धूम कारण है। यदि यहां तुम यह कहो कि शब्द तो अव्यवहितरूपसे अन्य पदार्थोंकी प्रतिपत्तिका उपाय है, क्योंकि वह शब्दतत्त्व तो ज्ञानप्रकाशसे अभिन्न पदार्थ है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी आपादन कर देवेंगे कि तिस ही कारण यानी प्रतिभाससे अभिन्न होनेके कारण रूप, रस आदिक गुण भी अव्यवहित रूपसे अपनी प्रतिपत्तिके कारण हो जाओ! भावार्थ—शब्द तत्त्वको दूसरे पदार्थोंका ज्ञापक माना जावे इसकी अपेक्षा रूप आदिकोंको केवल स्वका ही ज्ञापक माना जावे तो अद्वैत की सिद्धिमें आपको अच्छी सहायता मिल सकती है।

एवं च यथा श्रोत्रप्रतिभासादभिन्नः शब्दस्तत्समानाधिकरणतया संवेदनाच्छ्रोत्रप्रतिभासश्च परब्रह्म तत्त्वविकल्पाच्छब्दात् सोपि च ब्रह्मतत्त्वात्संवेदनमात्रलक्षणादव्यभिचारिस्वरूपादिति। ततः परमब्रह्मसिद्धिः। तथा रूपादयः स्वप्रतिभासादभिन्नाः, सोपि प्रतिभासमात्रविकल्पाल्लिंगात्, सोपि च परमात्मनः स्वसंवेदनमात्रलक्षणादिति न शब्दाद्रूपादीनां कञ्चन विशेषमुत्पश्यामः। सर्वथा तमपश्यन्तश्च शब्द एव स्वरूपप्रकाशनो न तु रूपादयः, स एव परमब्रह्मणोधिगमोपायस्तत्स्वभावो वा न पुनस्त इति कथं प्रतिपद्येमहि।

और इस प्रकार जैसे शब्दाद्वैतवादियोंके यहां श्रोत्रजन्य श्रावणप्रत्यक्षसे शब्द अभिन्न है, क्योंकि उस प्रतिभासके समानाधिकरण करके शब्दका संवेदन हो रहा है। " शब्दः प्रतिभासते " यहां शब्दका प्रतिभासन क्रियाके साथ समानाधिकरण है। अर्थात् प्रतिभास क्रिया शब्दमें रहती है, अतः श्रोत्रप्रतिभास और शब्द एक ही तत्त्व है और श्रोत्र प्रतिभास परब्रह्मरूप है, प्रतिभास, चित्, सत्, परब्रह्म इनमें कोई अन्तर नहीं है। वह परब्रह्म तो निर्विकल्पक शब्दसे अभिन्न है अथवा परब्रह्मतत्त्वका विकल्प (विवर्त) स्वरूप शब्दसे वह श्रोत्र प्रतिभास अभिन्न है और वह शब्द भी केवलसंवेदन स्वरूप तथा व्यभिचाररहितपने स्वभावको धारण करनेवाले ब्रह्मतत्त्वसे अभिन्न है। तिस कारण इस ढंगसे अद्वैतवादी जैसे शब्दको परब्रह्मस्वरूप सिद्ध कर देते हैं, वैसे ही रूप, रस, आदिक तत्त्व भी अपने अपने प्रतिभाससे अभिन्न हैं। " रूपं प्रतिभासते, रसश्चकास्ति " ऐसी प्रतीति हो रही है।

अतः रूपका प्रतिभास और रूप एक ही है। वह रूप आदिकोंका प्रतिभास भी सामान्य प्रतिभासके विकल्प (विवर्त) स्वरूप लिंगसे अभिन्न है और वह हेतु भी सामान्य संवेदनस्वरूप परमात्मासे अभिन्न है ! इस प्रकार शब्दसे रूप आदिकोंके कुछ भी विशेष (अन्तर) को हम नहीं देख रहे हैं। सभी प्रकारसे उस अन्तरको नहीं देखते हुए हम इस बातको कैसे समझ लेवें कि शब्द ही अपने स्वरूप मात्र ब्रह्मका प्रकाश करनेवाला है। किन्तु रूप आदिक तत्त्व तो अपने स्वरूपके प्रकाश करनेवाले नहीं हैं, अथवा वह शब्द ही ब्रह्मका स्वभाव होता हुआ परब्रह्मके जाननेका उपाय है। किन्तु फिर वे रूप आदिक तत्त्व तो ब्रह्मको जाननेके उपाय नहीं हैं, अथवा शब्द ही उस ब्रह्मका स्वभाव है, ब्रह्मके स्वभाव रूप आदिक गुण नहीं हैं। भावार्थ—शब्द और रूप आदिकमें कोई विशेषता नहीं है, यदि शब्दाद्वैत माना जावेगा तो रूपाद्वैत, रसाद्वैत भी मान लिये जावेंगे। कोई भी नहीं रोक सकेगा।

अत्रापरः प्राह। पुरुषाद्वैतमेवास्तु पदार्थः प्रधानशब्दब्रह्मादेस्तत्स्वभावत्वात्तस्यैव विधिरूपस्य नित्यद्रव्यत्वादिति। तदप्यसारम्। तदन्यापोहस्य पदार्थत्वसिद्धेः। शब्दो हि ब्रह्म ब्रुवाणः स्वप्रतिपक्षादपोह्य ब्रूयात् किं वान्यथा। प्रथमपक्षे विधिप्रतिषेधात्मनो वस्तुनः पदार्थत्वसिद्धिः। द्वितीयपक्षेऽपि सैव, स्वप्रतिपक्षादव्यावृत्तस्य परमात्मनः शब्देनाभिधानात्।

यहां कोई दूसरा विशिष्टाद्वैतवादी कहता है कि वर्णसमुदाय स्वरूप पदका अर्थ माना गया ब्रह्माद्वैत ही वास्तविक पदार्थ होओ ! प्रधान, शब्द, ब्रह्म, संवेदन, चित्, सत्, आनन्द आदिक उसी एक पुरुषके स्वभाव (पर्याय) हैं, वह पुरुषाद्वैत ही नित्य द्रव्य होनेके कारण विधिरूप होता हुआ पदका वाच्य अर्थ हो जाता है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार इसका वह कहना भी सार रहित है, क्योंकि यों तो बौद्धोंके माने हुए उस अन्यापोहको भी पदका वाच्य अर्थपना सिद्ध हो जावेगा। आप अद्वैतवादी उत्तर दो कि आपसे माना गया शब्द जिस समय ब्रह्मको कह रहा है वह अपने (ब्रह्मके) प्रतिपक्ष (विरुद्ध) पदार्थोंसे रहित ही केवल ब्रह्मको कहेगा, अथवा क्या अन्यथा यानी ब्रह्मसे विरुद्ध पदार्थका निषेध नहीं करते हुए उस ब्रह्मको कहेगा ? पहिला पक्ष लेने पर तो विधि और प्रतिषेधस्वरूप वस्तुको पदका वाच्य अर्थपना सिद्ध होता है। क्योंकि शब्दने ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थोंका निषेध किया और ब्रह्मका विधान किया है। दूसरा पक्ष लेनेपर भी वही बात सिद्ध हुयी, यानी विधिप्रतिषेधरूप वस्तुको ही पदका अर्थपना सिद्ध हो गया। क्योंकि अपने प्रतिपक्षसे नहीं पृथग्भूत हुए परमात्माका शब्दके द्वारा निरूपण किया गया है। भावार्थ—सत् रूप परब्रह्मका विधान हुआ और उसके प्रतिपक्षका भी कथन हुआ। दूसरे ढंगसे यह भी विधि और निषेधका निरूपण है। अस्ति और उसके प्रतिपक्ष नास्तिका भी शब्दसे कथन करना विधि, निषेध स्वरूप वस्तुको पदका अर्थपना सिद्ध करता है।

तद्विधिरेवान्यनिषेध इति चेत्, तदन्यप्रतिषेध एव तद्विधिरस्तु। तथा चान्यापोह एव पदार्थः स्यात्।

यदि ब्रह्मवादी यों कहें कि उस परब्रह्मकी विधि ही अन्यका निषेध है जैसे केवल रीता भूतल ही घट, पट आदिकोंका निषेधरूप है, निषेध कोई स्वतन्त्र धर्म या पदार्थ नहीं है, अर्थात् एक पहिलेसे ही नीरोग उत्पन्न हुए बालकका समीचीन स्वास्थ्य ही नीरोगता है, ऐसा नहीं है कि बालकके अनेक रोगोंका प्रकरण प्राप्त हो जावे पुनः उनका औषधियोंके द्वारा अभाव किया जावे। अतः अद्वैत परब्रह्मकी विधि ही तुच्छ अनेक पदार्थोंका निषेधरूप है, आलोकका अभाव ही अन्धकार है, अब आचार्य कहते हैं कि तुम ब्रह्मवादी यदि ऐसा कहोगे तो हम कहेंगे कि उससे अन्य पदार्थोंका निषेध ही उस ब्रह्मकी विधि हो जाओ। भावार्थ—जिस वृद्ध मनुष्यने अनेक रोगोंके हो जानेपर चिकित्सा द्वारा उनका निराकरण करके जो स्वास्थ्यलाभ किया है वह स्वास्थ्य रोगोंका अभावरूप ही तो है, आठों कर्मोंका अभाव ही तो मोक्ष अवस्था है, अन्धकारका अभाव ही तो आलोक है। भोग उपभोगोंका न भोगना ही वैराग्य है। और तिस कारण यों तो अन्यापोह ही पदका वाच्य अर्थ बन बैठेगा।

स्वरूपस्य विधेस्तदपोह इति नाममात्रभेदादर्थो न भिद्यते एव यतोऽनिष्टसिद्धिः स्यादिति चेत्। न। अन्यापोहस्यान्यार्थापेक्षत्वात् स्वरूपविधेः परानपेक्षत्वादर्थभेदगतेः।

यदि ब्रह्माद्वैतवादी यों कहें कि ब्रह्मके स्वरूपकी विधिका ही नाम उन अन्य पदार्थोंका अपोह ऐसा धर दिया गया है केवल नामका भेद हो जानेसे यहां अर्थका भेद कैसे भी नहीं है जिससे कि द्वैत या निषेधरूप अनिष्ट पदार्थोंकी सिद्धि हो जावे। अब आचार्य कहते हैं कि वे इस प्रकार तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अपोह और स्वरूपकी विधि इनमें अन्तर है ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थोंका अन्यापोह करना यह अन्य अर्थोंकी अपेक्षा रखता है, किन्तु ब्रह्मके स्वरूपकी विधि तो अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं रखती है। अतः यहां विधि और निषेधमें भिन्न भिन्न अर्थ जाना जा रहा है।

परमात्मन्यद्वये सति ततोन्यस्यार्थस्याभावात् कथं तदपेक्षयान्यापोह इति चेत् न। परपरिकल्पितस्यावश्याभ्युगमनीयत्वात्। सोऽप्यविद्यात्मक एवेति चेन्न, किमविद्यातोऽपोहस्तदपेक्षी नेष्टः? सोऽप्यविद्यात्मक एवेति चेत् तर्हि तत्त्वतो नाविद्यातोऽपोहः परमात्मन इति कुतो विद्यात्वं येन स एव पदस्यार्थो नियमः प्रतिष्ठेत।

पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि परब्रह्म तत्त्वके सर्वथा एक होनेपर जब उससे अभिन्न कोई दूसरा पदार्थ ही जगत्में नहीं है तो उस अन्य अर्थकी अपेक्षासे यह अन्यापोह कैसे कहा जा सकता है? इसपर आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना चाहिये, क्योंकि दूसरे वादियोंके माने हुए पदार्थोंको अवश्य स्वीकार करना चाहिये चाहे कल्पनासे ही मानो! उनका निषेध भी तो करना है। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि वे सब कल्पना किये हुए पदार्थ भी अविद्या स्वरूप ही हैं, वास्तविक नहीं हैं। इसपर हम कहते हैं कि ऐसा ही सही, किन्तु यह तो बतलाओ कि क्या अविद्यासे अपोह (व्यावृत्ति) करना उस अन्य पदार्थकी अपेक्षा रखता हुआ आपने इष्ट नहीं किया

है ? इसपर यदि तुम यों कहो कि ब्रह्मसे अविद्याका वह अपोह करना भी अविद्या स्वरूप ही है। ऐसा कहने पर तो प्रतीत हुआ कि तब तो वास्तविकरूप करके परब्रह्मका अविद्यासे पृथक्पना नहीं बना। इस प्रकार ब्रह्माको विद्यापन (सम्यग्ज्ञानपन) कैसे आवेगा ? भावार्थ—अविद्यासे रहितपना यदि अविद्या ही है तो वस्तुतः अविद्यासे रहितपना नहीं आया। तब तो ब्रह्म अविद्या स्वरूप ही ठहरेगा। ब्रह्मको विद्यापना सिद्ध न होगा, जिससे कि वह नित्य ब्रह्म ही पदका वाच्य अर्थ प्रतिष्ठित हो सके। अथवा शद्बका वाच्य व्यक्तियोंको छोडकर नित्य पदार्थ बन सके।

सत्यपि च परमात्मनि संवेदनात्मन्यद्वये कथं शद्बविषयत्वम् ? स्वसंवेदनादेव तस्य प्रसिद्धेस्तत्प्रतिपत्तये शद्बवैयर्थ्यात्। ततो मिथ्याप्रवाद एवायं नित्यं द्रव्यं पदार्थ इति।

और थोडी देरके लिये आप अद्वैतवादियोंके कहनेसे परब्रह्म या संवेदन स्वरूप अद्वैतको मान लिया भी जावे तो भी आप यह बतलाइये कि वह चैतन्यस्वरूप परब्रह्म भला शद्बजन्य ज्ञानका गोचर कैसे होगा ? क्योंकि आपके मतानुसार उस परब्रह्मकी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही प्रसिद्धि हो रही मानी गयी है। उसकी प्रमितिके लिये शद्बका प्रयोग करना व्यर्थ है। प्रत्यक्ष करने योग्य चेतनात्मक पदार्थोंका शद्बसे वैसा विशदज्ञान नहीं होता है। और ऐसा माननेसे अद्वैतवादियोंके ऊपर कतिपय दोषोंके प्रसंग आवेंगे। अद्वैतवादी और बौद्धोंके यहां प्रत्यक्ष ज्ञानका विषयभूत अर्थ शद्बोंसे छुआ नहीं जाता माना गया है। तिस कारण पदका वाच्य अर्थ नित्यद्रव्य है। इस प्रकार अद्वैतवादियोंका यह कहना झूंठी बकवाद ही है। वस्तुतः विधिनिषेधात्मक वस्तु या सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही शद्बका वाच्य अर्थ है।

व्यक्तावेकत्र शद्बेन निर्णीतायां कथञ्चन।
तद्विशेषणभूताया जातेः संप्रत्ययः स्वतः॥ २५॥
गुडशब्दाद्यथा ज्ञाने गुडे माधुर्यनिर्णयः।
स्वतः प्रतीयते लोके प्रोक्तो निम्बे च तिक्तता॥ २६॥
प्रतीतया पुनर्जात्या विशिष्टां व्यक्तिमीहिताम्।
यां यां पश्यति तत्रायं प्रवर्ततार्थसिद्धये॥ २७॥
तथा च सकलः शाब्दव्यवहारः प्रसिध्यति।
प्रतीतेर्बाधशून्यत्वादित्येके संप्रचक्षते॥ २८॥

शद्बके द्वारा किसी भी प्रकार एक व्यक्तिके निर्णीत हो जानेपर उस व्यक्तिके विशेषणभूत हो रही जातिका अपने आप अच्छे प्रकार ज्ञान हो जाता है, जैसे कि गुड शद्बसे गुडका ज्ञान कर

लेनेपर गुडकी मधुरताका निर्णय होना अपने आप प्रतीत कर लिया जाता है। तथा निम्बका ज्ञान हो जानेपर उसके तिक्त रसका ज्ञान हो जाता है। इन बातोंको लोकमें जनसमुदाय अच्छे प्रकार कह देता है। व्यक्तिके द्वारा निर्णीत हुयी जातिसे विशिष्ट हो रहे फिर अभीष्ट विशेष जिस जिस व्यक्तिको लोक देखता है उन उन व्यक्तियोंमें प्रयोजनकी सिद्धिके लिये यह जीव प्रवृत्ति कर लेता है और तिसी प्रकार शब्दजन्य संपूर्ण लोक व्यवहार प्रसिद्ध हो जाते हैं, इस समीचीन प्रतीतिका कोई बाधक नहीं है। इस प्रकार कोई एक वैशेषिकोंके एक देशीय अपने मन्तव्यको बहुत अच्छा समझते हुये साटोप कह रहे हैं।

न प्रधानं शुद्धद्रव्यं शब्दतत्त्वमात्मतत्त्वं वाच्यं पदार्थः प्रतीतिबाधितत्वात्। नापि भेदवादिनां नानाव्यक्तिषु नित्यासु वा शब्दस्य प्रवृत्तिः तत्र संकेतकरणासम्भवादिदोषावतारात्, किं तर्हि ? व्यक्तावेकस्यां शब्दः प्रवर्तते शृंगग्राहिकया परोपदेशाल्लिंगदर्शनाद्वा तस्यां ततो निर्णीतायां तद्विशेषणभूतायां जातौ स्वत एव निश्चयो यथा गुडादिशब्दाद्गुडादेर्निर्णये तद्विशेषणे माधुर्यादौ तथाभ्यासादिवशाल्लोके संप्रत्ययात्। ततः स्वनिश्चितया जात्या विशिष्टामभिप्रेतां यां व्यक्तिं पश्यति तत्र तत्रेष्टसिद्धये प्रवर्तते। तावता च सकलशाब्दव्यवहारः सिध्यति बाधकाभावादिति व्यक्तिपदार्थवादिनः प्राहुः।

उक्त कारिकाओंका विवरण करते हैं कि अकेला प्रधान (प्रकृति) या शुद्धद्रव्य तथा शब्दतत्त्व एवं अद्वैत आत्मतत्त्व ये पदके वाच्यअर्थ नहीं हैं, क्योंकि ऐसा माननेमें प्रमाण प्रसिद्ध प्रतीतियोंसे बाधा आती है। और भेदको कहनेवाले दूसरे द्वैतवादियोंके यहां मानी गयी नित्य अनेक व्यक्तियोंमें शब्दोंकी प्रवृत्ति होना भी ठीक नहीं बनता है, क्योंकि उन नित्य व्यक्तियोंमें संकेत करनेका असम्भव, अनन्वय, प्रवृत्त्यभाव आदि दोषोंका अवतार होता है। तब तो पदका वाच्यअर्थ क्या है ? इसका उत्तर हम यह देते हैं कि शृंगग्राहिका न्याय यानी अङ्गुली निर्देशसे एक व्यक्तिमें पहिले शब्द प्रवर्तता है, दूसरोंके उपदेश अथवा ज्ञापक हेतुओंके देखनेसे संकेतग्रहण करके उस शब्दसे उस व्यक्तिका निर्णय हो चुकनेपर व्यक्तिकी विशेषणरूप हो रही जातिमें अपने आप हीसे निश्चय हो जाता है, जैसे कि गुड, निम्ब, निम्बू आदि शब्दोंसे गुड आदि व्यक्तियोंका निर्णय हो जानेपर उनके विशेषण हो रहे मीठापन, कडुआ, (चिर्परा) खट्टा, आदिमें तैसे तैसे अभ्यास, प्रकरण, आदिके अधीन ज्ञान हो जाता है, यह लोकमें अच्छे प्रकार देखा गया है। तिस कारण स्वयं व्यक्तियोंमें निश्चित की गयी जातिसे सहित जिस अभीष्ट व्यक्तिको मनुष्य देखता है। उस उसमें अपनी इष्ट सिद्धिके लिये प्रवृत्ति कर देता है। केवल उतनेसे ही सम्पूर्ण शब्दजन्य व्यवहारोंकी सिद्धि हो जाती है, इसमें बाधक नहीं है। गौओंका समुदाय, या गौ को देता है, लेता है, गौ दुर्बल है, इत्यादि व्यवहार व्यक्तिमें ही सम्भव रहे हैं। इस प्रकार व्यक्तिको पदका वाच्य अर्थ कहनेवाले स्पष्टरूपसे कह

रहे हैं। सींगको देखकर गाय या महिषका ज्ञान हो जाता है, जलमेंसे निकली हुयी सूंडको देखकर हाथीका ज्ञान हो जाता है। यहीं शृंगग्राहिका न्याय होना चाहिये। शेषं बुधा विमर्शयन्तु।

तदप्यसंगतं जातिप्रतीतेर्वृत्तिसम्भवे।
शब्देनाजन्यमानायाः शब्दवृत्तिविरोधतः ॥ २९ ॥
पारम्पर्येण चेच्छब्दात्सा वृत्तिः करणान्न किम्।
ततो न शब्दतो वृत्तिरेषां स्याज्जातिवादिवत् ॥ ३० ॥

आचार्य बोलते हैं कि इनका वह कहना भी असंगत है। क्योंकि शब्दके द्वारा नहीं उत्पन्न हुयी जातिप्रतीतिसे जातिमान् पदार्थमें प्रवृत्ति होना मानेंगे तो शब्दसे वह प्रवृत्ति हुयी, यह न कह सकोगे। जातिसे उत्पन्न हुयी प्रवृत्तिको शब्दसे उत्पन्न हुयी कहना विरुद्ध है। यदि वह प्रवृत्ति परम्परासे शब्दके द्वारा उत्पन्न हुयी ही कही जावे तब तो परम्परासे श्रोत्र इन्द्रियसे ही वह प्रवृत्ति होना क्यों न मान लिया जावे ? कर्ण इन्द्रियसे शब्दका ज्ञान और शब्दसे जाति और जातिसे जातिमान् व्यक्ति स्वरूप पदार्थमें अर्थक्रियार्थी पुरुषकी प्रवृत्ति हो जावेगी। बीचमें दो परम्परा देनेसे तीन परम्परा देना कहीं अच्छा है। पितामह (बाबा) की अपेक्षा सन्तानको प्रपितामह (पडबाबा) की कहना लोकमें प्रशंसनीय माना जाता है। तिस कारण केवल जातिको शब्दका अर्थ कहने वालोंके समान इन व्यक्तिवादियोंकी भी शब्दके द्वारा शाब्दबोधप्रक्रियासे पदार्थोंमें प्रवृत्ति होना नहीं घटित होता है। इन दो वार्तिकोंका विद्यानन्द आचार्य भाष्य करते हैं कि——

प्रतीतायामपि शब्दाद्व्यक्तावेकत्र यावत् स्वतस्तज्जातिर्न प्रतीता न तावत्तद्विशिष्टां व्यक्तिं प्रतीत्य कश्चित् प्रवर्तत इति जातिप्रत्ययादेव प्रवृत्तिसम्भवे शब्दात् सा प्रवृत्तिरिति विरुद्धं, जातिप्रत्ययस्य शब्देनाजन्यमानत्वात्।

शब्दके द्वारा एक व्यक्तिके प्रतीत हो जाने पर भी जबतक उसमें रहने वाली जातिकी अपने आपसे प्रतीति न की जावेगी, तबतक उस जातिसे सहित उस व्यक्तिका निर्णय करके कोई भी मनुष्य नहीं प्रवृत्ति करता है। इस कारण यदि शब्दसे व्यक्ति और व्यक्तिसे जाति तथा जातिज्ञानसे जातिविशिष्ट व्यक्तिका निर्णय कर जातिज्ञानसे ही प्रवृत्ति होना माना जावेगा, तब तो हम जैन आपादन कर देंगे कि वह प्रवृत्ति शब्दसे हुई है, यह कहना विरुद्ध पडेगा। क्योंकि व्यक्तिवादीके मतानुसार जातिका ज्ञान शब्दसे उत्पन्न नहीं हुआ है।

शब्दाद्व्यक्तिप्रतीतिभावे तद्विशेषणभूताया जातेः संप्रत्ययात्तत एव जातिर्गम्यत एवेति चेत्, कथमेवं व्यक्तिवज्जातिरपि शब्दार्थो न स्यात् ? तस्याः शब्दतोऽश्रूयमाणत्वा-

दिति चेत्, किमिदानीं शब्दतो गम्यमानोऽर्थः शब्दस्याविषयः। प्रधानभावेनाविषय एवेति चेन्न, गम्यमानस्यापि प्रधानभावदर्शनात् यथा गुडशब्दाद्गम्यमानं माधुर्यं पित्तोपशमनप्रकरणे।

यदि व्यक्तिवादी यों कहें कि शब्दसे व्यक्तिकी प्रतीति हो चुकनेपर उस व्यक्तिका विशेषण हो रही जातिका ठीक ज्ञान हो जाता है, तिस ही कारण जाति जान ली ही जाती है, ऐसा कहोगे तब तो हम जैन कह देंगे कि व्यक्तिके समान इस प्रकार जाति भी शब्दका वाच्य अर्थ क्यों न हो जावे ? यदि तुम यों कहो कि उस जातिका शब्दमुखसे श्रावणप्रत्यक्ष द्वारा शाब्दबोध नहीं हुआ है वह तो व्यक्तिके विशेषणरूपसे स्वयं ली गई है। ऐसा कहनेपर हम पूछते हैं कि क्या इस समय शब्दके द्वारा अर्थापत्तिसे जान लिया गया अर्थ शब्दका वाच्यगोचर न माना जावेगा ? भावार्थ—शब्दसे उच्यमान और गम्यमान दोनों ही अर्थ शब्दके वाच्य अर्थ हैं, जैसे कि गंगा शब्दका अर्थ गंगा और गंगाका तीर (किनारा) दोनों हैं। यदि तुम व्यक्तिवादी यों कहो कि शब्दके द्वारा कहे गये अर्थ तो प्रधानपनेसे शब्दके विषय हैं, किन्तु ऊपरसे यों ही समझ लिये गये अर्थ विचारे शब्दके प्रधानरूपसे विषय कैसे भी नहीं हैं। तो यह तो न कहना क्योंकि शब्दके द्वारा उपरिष्ठात् समझ लिये गये अर्थको भी प्रधानपना देखा जाता है, जैसे कि पित्तदोषको उपशाम (दूर करने) के प्रकरणमें गुड शब्दसे विना कहे समझ ली गयी मधुरता प्रधान हो जाती है। एक प्रेमयुक्त पत्नी परदेशको जानेवाले अपने पतिसे कहती है " गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पंथानः सन्तु ते शिवाः। ममापि जन्म तत्रैव भूयाधत्र गतो भवान् "॥ तुम जाते हो तो जाओ, किन्तु मैं यह चाहती हूं कि तुम्हारे पहुंचनेके पहिले वहां मैं जन्म ले लूं। इन वाक्योंका उच्यमान अर्थ प्रधान नहीं है। किन्तु तुम्हारे चले जाने पर मेरा मरना अवश्यम्भावी है, अतः नहीं जाओ। यह गम्यमान अर्थ यहां प्रधान है। " मञ्चाः क्रोशन्ति " खेतोंपर बांधे गये मचानों पर स्थित हो रहे रखानेवाले पुरुष चिल्ला रहे हैं, यहां उनमें रहने वाले मचान स्थित मनुष्य यह गम्यमान अर्थ मुख्य है।

न चात्र जातेरप्रधानत्वमुचितं तत्प्रतीतिमन्तरेण प्रवृत्त्यर्थिनः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। यदि पुनर्जातिः शब्दाद्गम्यमानापि नेष्यते तत्प्रत्ययस्याभ्यासादिवशादेवोत्पत्तेस्तदा कथमशब्दाज्जातिप्रत्ययाच्च प्रवृत्तिः ? पारम्पर्येण शब्दात् सा प्रवृत्तिरिति चेत्, करणात् किं न स्यात् ? यथैव हि शब्दाद्व्यक्तिप्रतीतिस्ततो जातिप्रत्ययस्ततस्तद्विशिष्टे हि तद्व्यक्तौ संप्रत्ययात्प्रवृत्तिरिति शब्दमूला सा तथा शब्दस्याप्यक्षात्प्रतीतेरक्षमूलास्तु तथा व्यवहारान्नैवमिति चेत्, समानमन्यत्र।

दूसरी बात यह है कि यहां व्यक्तिको प्रधान कहना और जातिको प्रधान न कहना उचित नहीं है। क्योंकि उस जातिका निर्णय किये विना शब्दके द्वारा घट आदिकोंमें प्रवृत्ति करनेके अभिलाषी पुरुषकी प्रवृत्तिका होना नहीं बन सकता है। यदि फिर तुम यह कहो कि शब्दसे जातिका अर्थापत्ति द्वारा समझ लेना भी हम नहीं मानते हैं, उस जातिका ज्ञान तो अभ्यास, प्रकरण, आदिके

वश होकर यों ही उत्पन्न हो जाता है, जैसे कि चन्दनकी सुगन्धका । तब तो हम जैन आपादन कहेंगे कि शद्बके उच्चारण विना ही अकेले जातिज्ञानसे क्यों नहीं प्रवृत्ति हो जाती है ? अथवा जातिज्ञानसे हुयी वह प्रवृत्ति शद्बके विना हो गयी क्यों न कही जावे ? । यदि इसपर तुम यह कहो कि परम्परासे शद्बके द्वारा ही होती हुयी वह प्रवृत्ति कही जावेगी, ऐसा कहनेपर तो परम्परासे इन्द्रियोंके द्वारा होती हुयी ही वह प्रवृत्ति क्यों न कही जावे ? जैसे ही शद्बसे पहिले व्यक्तिकी प्रतीति होती है, उसके पीछे जातिका ज्ञान होता है, तदनन्तर जातिविशिष्ट उस व्यक्तिमें शाद्बबोध होनेसे प्रवृत्ति हो जाती है, इस कारण उस प्रवृत्तिका मूलकारण परम्परासे शद्ब है । तैसे ही एक कोटी और बढकर हम यों कह देवेंगे कि श्रोत्र इन्द्रियसे शद्बको जानकर व्यक्तिको जाना, व्यक्तिसे जातिका ज्ञान किया । पीछे तद्विशिष्ट व्यक्तिका निर्णय कर शाद्बबोध करते हुए प्रतीति की । इस प्रकार उस प्रतीति या प्रवृत्तिका मूल कारण परम्परासे कर्ण (कान) इन्द्रिय हो जाओ । यदि तुम यों कहो कि शाद्बबोध प्रकरणमें श्रोत्र इन्द्रियसे प्रवृत्ति होनेका व्यवहार नहीं होता है । किन्तु शद्बसे तैसी प्रवृत्ति हुयी यह व्यवहार होता है । अतः इस प्रकार श्रोत्रको परम्परासे मूल कारण नहीं माना जावेगा । ऐसा कहोगे तब तो व्यवहार होनेके अनुसार अन्य दूसरे स्थलमें भी समानरूपसे कह देना चाहिये, यानी गम्यमान जातिको भी शद्बका वाच्य अर्थ स्वीकार कर लो ! न्यायप्राप्त विषयका सर्वत्र समानरूपसे व्यवहार करना चाहिये ।

ततो न व्यक्तिपदार्थवादिनां जातिपदार्थवादिनामिव शद्बात्समीहितार्थे प्रवृत्तिः शद्बेनापरिच्छिन्न एव तत्र तेषां प्रवर्तनात् ।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि जातिको पदका वाच्य अर्थ कहनेवाले मीमांसकोंके समान व्यक्तिको पदका वाच्य अर्थ कहनेवालोंके यहां भी शद्बके द्वारा अभीष्ट अर्थमें प्रवृत्ति न हो सकेगी । शद्बके द्वारा नहीं जाने हुए ही उस अर्थमें उन व्यक्तिवादियोंकी अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति हो रही है, नियमानुसार नहीं । ऐसी ही जातिवादियोंकी अव्यवस्था है ।

एतेन तद्द्वयस्यैव पदार्थत्वं निवारितम् ।
पक्षद्वयोक्तदोषस्याऽऽसक्तेः स्याद्वादविद्विषाम् ॥ ३१ ॥

इस उक्त कथन करके यह भी समझ लेना चाहिये कि गोत्व, घटत्व, आदि जाति और गौ, घट आदि व्यक्तियोंको मिलाकर दोनोंको ही पदका वाच्य अर्थपना किसीका स्वीकार करना खण्डन कर दिया जा चुका है । क्योंकि स्याद्वादसे द्वेष करनेवाले एकान्तवादियोंके यहां उभयपक्ष मानने पर भी दोनों पक्षमें कहे गये दोषोंके आनेका प्रसंग हो जाता है । अर्थात् परस्परमें अपेक्षा रखते हुए दो धर्मोंके मिलानेपर स्याद्वादियोंके यहां कार्यसिद्धि हो जाती है । एक एक धीवर पीनसको

अकेला कैसे भी नहीं उठा सकता है, किन्तु परस्परकी अपेक्षा रखते हुए दो मिलकर भारी पीनसको भी उठा लेते हैं। जातियुक्त व्यक्ति और व्यक्तियुक्त जाति ये अनेकान्त मतमें तो प्रवर्तक बन जाते हैं, किन्तु एकान्त मतोंमें दो अन्धोंके समान मिलकर भी जाति और व्यक्ति विचारी शाब्दबोध प्रक्रियाके अनुसार प्रवर्तक नहीं हो सकती हैं। अतः प्रत्येक पक्षमें जो दोष आते हैं वे उभय पक्ष लेनेपर भी वैसे ही आ जावेंगे।

न हि जातिव्यक्ती परमभिन्ने भिन्ने वा सर्वथा सम्भाव्येते येन पदार्थत्वेन युगपत्प्रतीमः। येन स्वभावेन भिन्ने तेनैवाभिन्ने इत्यपि विरुद्धम्।

जाति और व्यक्ति दोनों ही अत्यधिक सर्वथा अभिन्न अथवा सर्वथा भिन्न नहीं सम्भवते हैं, जिससे कि पदके वाच्य अर्थपने करके एक ही समयमें दोनों जान लिये जावें अर्थात् एकान्तवादियोंके द्वारा माने गये जाति और व्यक्ति कोई पदार्थ नहीं सिद्ध हो पाते हैं जिनको कि शब्द अपने वाच्यअर्थ रूपसे कह सकें। जिस स्वभाव करके वे भिन्न हैं उस ही स्वभावसे वे जाति और व्यक्ति अभिन्न हैं यह कहना भी विरुद्ध पडता है जो अभेदका प्रयोजक है वह भेदका साधक नहीं हो सकता है। अन्यथा प्रफुल्लित कमलका भंग हो जावेगा। संयोग और विभागके न्यारे न्यारे कारणोंके समान भेद और अभेदके भी साधक न्यारे न्यारे माने जाते हैं।

क्रमेण जातिव्यक्त्योः परस्परानपेक्षयोः पदार्थत्वे पक्षद्वयोक्तदोषासक्तिः। क्वचिज्जातिं शब्दात् प्रतीत्य लक्षणया व्यक्तिं प्रतिपद्यते, क्वचिद्व्यक्तिं प्रतीत्य जातिमिति हि जातिव्यक्तिपदार्थवादिपक्षादेवासकृज्जातिव्यक्त्यात्मकवस्तुनः पदार्थत्वे किमनेन स्याद्वादविद्वेषेण।

परस्परमें नहीं अपेक्षा रखते हुए जाति और व्यक्ति दोनोंको क्रम क्रम करके पदका वाच्य अर्थपना मानोगे तो दोनों पक्षोंमें कहे गये दोषोंका प्रसंग होगा। अर्थात् शब्दके द्वारा युगपत् और क्रमसे उनका ज्ञान नहीं हो सकेगा, कहीं कहीं तो शब्द के द्वारा जातिको जानकर श्रोता तात्पर्यानुपपत्ति अथवा अन्वयानुपपत्तिका प्रकरण होनेपर लक्षणा करके व्यक्तिको जान लेता है और कहीं परस्परकी अपेक्षा रखनेवाली व्यक्तिका निर्णय कर उसका विशेषणरूप जातिको श्रोता समझ लेता है, इस प्रकार जाति और व्यक्तिको पदका अर्थ कहनेवाले वादीके पक्षसे तो बार बार जातिव्यक्ति स्वरूप वस्तुको ही पदका वाच्य अर्थपना आता है। ऐसा माननेपर इस स्याद्वाद सिद्धान्तके साथ लम्बा द्वेष ठाननेसे भला क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? भावार्थ—सदृशपरिणामरूप जाति और विशेष परिणामोंका आधार व्यक्ति इन दोनोंसे युगपत् तदात्मक होरही वस्तुको पदका वाच्य अर्थ माना यह तो स्याद्वादकी शरण लेनेसे ही बन सकता है। हम जैन जन शब्दका वाच्य तो वस्तुको मानते हैं, जो कि वस्तु जाति और व्यक्तिका तदात्मक पिण्ड है। न्यायसूत्र दूसरा अध्याय द्वितीय आह्निकका ६८ वां सूत्र "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" यह स्याद्वाद सिद्धान्तसे ही पुष्ट हो सकता है।

केचिदत्राकृतिपदार्थवादिनः प्राहुः ।

कोई आकृति यानी पदार्थके आकारको ही पद का वाच्य अर्थ मानने वाले वादी यहां आठ वार्तिकों करके अपने मन्तव्यको स्पष्ट कहते हैं ।

लोहिताकृतिमाचष्टे यथोक्तो लोहितध्वनिः ।
लोहिताकृत्यधिष्ठाने विभागाल्लोहिते गुणे ॥ ३२ ॥
तदावेशात्तथा तत्र प्रत्ययस्य समुद्भवात् ।
द्रव्ये च समवायेन प्रसूयेत तदाश्रये ॥ ३३ ॥
गुणे समाश्रितत्वेन समवायात्तदाकृतेः ।
संयुक्तसमवेते च द्रव्येन्यत्रोपपादयेत् ॥ ३४ ॥
लोहितप्रत्ययं रक्तवस्त्रद्वयवृतेऽपि च ।
तथा गौरिति शब्दोऽपि कथयत्याकृतिं स्वतः ॥ ३५ ॥
गोत्वरूपात्तदावेशात्तदधिष्ठान एव तु ।
तदाश्रये च गोपिण्डे गोबुद्धिं कुरुतेऽञ्जसा ॥ ३६ ॥

अवयवोंकी रचना विशेषको आकृति कहते हैं, यानी गौके सींग, सास्ना आदिक अवयवोंका संस्थानविशेषरूप आकृति कही जाती है। गोत्व जातिका ज्ञापक लिंग संस्थानविशेषरूप आकृति है। वह रचनाविशेष परम्परासे द्रव्यमें रहती है। वार्तिकका अर्थ यों है कि जैसे वक्ताके द्वारा कहा गया लोहित (रक्त) यह शब्द रक्तके संस्थानविशेष आकृतिको कह देता है। गुण और आकृतिका विभाग करनेसे लोहित आकृतिके आधारभूत उस लोहित गुणमें भी उस आकृतिके आवेशसे तिस प्रकारका ज्ञान अच्छा उत्पन्न हो जाता है तथा समवायसम्बन्धसे उस गुणके आधारभूत द्रव्यमें भी लोहितज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यहांतक कि रक्त दो वस्त्रोंसे घिरे हुए शुक्ल वस्त्रमें भी रक्तज्ञान उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि समवाय सम्बन्धसे वह आकृति गुणमें ठीक आश्रित होरही है। तथा संयुक्तसमवाय संबन्धसे दूसरे द्रव्योंमें रहती हुयी वह आकृति वहां भी रक्तज्ञानको युक्तिद्वारा पैदा करा देवेगी। भावार्थ—रक्त शब्द रक्तकी रचना विशेषको कहता है। वह रचना गुणमें है। गुण द्रव्यमें है। द्रव्य दूसरे द्रव्यसे संयुक्त हो रहा है। इस परम्परासे लोहित शब्द गुण, द्रव्य और द्रव्यान्तरोंका भी जैसे प्रतिपादन कर देता है जिसको कि आप जैनोंने गुणवाचक शब्द माना है, तैसे ही आपके द्वारा जातिशब्द माना गया गो यह शब्द भी अपने आप सींग, सास्ना, पुच्छ, ककुद् आदि अवयवोंकी रचना विशेषरूप आकृतिको कह रहा है और उस गोत्वरूप आकृतिके आवेशसे ही उस

गोत्वके आधार माने गये अवयवोंमें गौका ज्ञान करा देवेगा तथा उसके भी संयोगी आधारभूत पिण्डरूप दूसरे गो व्यक्तिमें तो गौका ज्ञान शीघ्र ही कर देता है, अर्थात् गो शब्द आकृतिको साक्षात् कहता है और परम्परासे अवयव, गौ, तथा अनेक गौओंको भी कह देता है।

कस्मात् पुनर्गुणे द्रव्ये द्रव्यान्तरे च प्रत्ययं कुर्वन्नाकृतेरभिधायकः शब्द इति न चोद्यं, लोहितशब्दो ह्यर्थान्तरनिरपेक्षो गुणसामान्ये स्वरूपं प्रतिलब्धस्वरूपः तदधिष्ठानो यदा न गुणस्य लोहितस्य नाप्यलोहितत्वेन व्यावेशात्प्रत्यायनं करोति तदा विभागाभावादाकृत्यधिष्ठान एव। स तु गुणे प्रत्ययमादधतीत्याकृतिमभिधत्ते। यथोपाश्रयविशेषात् स्फटिकमणिं तद्गुणमुपलभ्यमानमध्यक्षं स्फटिकमणेरेव प्रकाशकं तदधिष्ठानस्य परोपहितगुणव्यावेशादविभागेन तद्गुणत्वप्रत्ययजननात्। एवं द्रव्यमभिदधानो लोहितशब्दः स्वाभिधेयलोहितत्वाकृतेर्लोहितगुणे समवेतायास्तस्य च द्रव्ये समवेतत्वादाकृत्यधिष्ठान एव तत्समवेतसमवायाद्गुणव्यवहितेऽपि द्रव्ये लोहितप्रत्ययमुपपादयेत्।

कोई यहां आकृतीवादीके ऊपर कुतर्क करते हैं कि जब गुण, द्रव्य, और दूसरे द्रव्योंमें शब्द स्वजन्य ज्ञानको कर रहा है, तो फिर आकृतिको ही कहनेवाला शब्द क्यों माना जाता है ? गुण आदिकको भी कहनेवाला कहना चाहिए। आकृतिवादी कहते हैं कि इस प्रकारका तर्क उठाना ठीक नहीं है, क्योंकि रक्त शब्द अन्य अर्थोंकी नहीं अपेक्षा रखकर सामान्यरूपसे रक्त (लाल) गुणमें अपने स्वरूपका बढिया लक्षण लाभ करता हुआ उस गुणसामान्यका अवलम्ब लेकर निश्चय करके प्रतिष्ठित हो रहा है। वह लोहित शब्द जब अलोहितपनेके भी आवेशसे निषिद्ध होकर लोहित गुणका निर्णय नहीं कराता है। तब विभाग न होनेसे आकृतिके आधारमें ही प्रवृत्त हो रहा है। वह शब्द तो रक्त गुणमें ज्ञानको करता हुआ यों लोहित आकृतिको कह देता है। जैसे कि जपापुष्परूप विशेष उपाधिसे युक्त हो रहे स्फटिकमणिको जाननेवाला प्रत्यक्षप्रमाण उस पुष्पके गुण रक्तपनेको जानता हुआ प्रत्यक्ष स्फटिक मणिका ही प्रकाशक है, क्योंकि उस गुणके आक्रमणका अन्य उपाधि युक्त गुणके आवेशसे विभाग करके गुणपनेका ज्ञान पैदा हो जाता है। भावार्थ—जपाकुसुमकी रक्तिमा स्फटिकमें जान ली जाती है। इसी प्रकार लोहित शब्द भी परम्परासे द्रव्यको संकेत कर रहा है। सुनिये ! लोहित शब्दका साक्षात् अपना वाच्य अर्थ लोहितपनारूप आकृति है, आकृतिका लोहित गुणमें समवाय सम्बन्धसे वर्तना हो रहा है और उस लोहित गुणका द्रव्यमें समवाय सम्बन्ध हो रहा है। जो समवाय सम्बन्धसे वर्तना है वह समवेत कहा जाता है। अतः परम्परासे गुणका व्यवधान हुए द्रव्यमें भी लोहित शब्द लोहितज्ञानको उत्पन्न करा देवेगा। आकृतिका समवेतसमवाय नामक परम्परा सम्बन्धसे वह द्रव्य आधार है।

एवमन्यत्र द्रव्ये लोहितद्रव्यस्य संयुक्तत्वात् तत्र च लोहितगुणस्य समवेतत्वात् तत्र च लोहिताकृतेः समवायात् संयुक्तसमवेतसमवायान्तरमुपजनयेत्।

इसी प्रकार द्रव्यसे संयुक्त हो रहे दूसरे द्रव्यमें भी लोहित शब्द लोहित ज्ञानको उत्पन्न करा देवेगा। क्योंकि अन्य द्रव्यमें वह लोहितद्रव्य संयुक्त है। और उस लोहित द्रव्यमें लोहित गुण समवाय सम्बन्धसे वर्त रहा है। तथा उस लोहित गुणमें लोहित आकृतिका समवाय हो रहा है। इस कारण स्वयं युक्तसमवेतसमवाय सम्बन्धसे संयुक्त हो रहे दूसरे द्रव्यमें भी आकृति पहुंच जाती है। अतः लोहित शब्द साक्षात्‌रूपसे आकृतिको कहता हुआ संयुक्त अन्य द्रव्यमें भी परम्परासे रक्तज्ञानको उत्पन्न करा देवेगा।

एवं तु वस्त्रद्वयवृते शुक्ले वस्त्रे संयुक्तसमवेतसमवायादिति यथा प्रतीतं लोके तथा गौरिति शब्दादपि स्वतो गोत्वरूपामाकृतिं कथयति तत्र प्रतिलब्धस्वरूपस्तदधिष्ठान एव तद्गोपिण्डे गौप्रत्ययं करोत्यविभागेन तस्य तदावेशात्।

अभी आकृतिवादी ही कहे जा रहे हैं कि इसी प्रकार तो दोनों ओर दो लाल वस्त्रोंसे वेष्टित हो रहे शुक्ल वस्त्रमें भी संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्धसे लोहित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। देखिये, लोहित आकृति समवाय सम्बन्धसे लालगुणमें रहती है, रक्त गुण समवायसे रक्तद्रव्यमें रहता है, और रक्त वस्त्र तो संयोग सम्बन्धसे शुक्लवस्त्रमें वर्तरहा है। जिस प्रकार साक्षात् और परम्परासे होते हुए उक्त ज्ञान लोकमें प्रतीति अनुसार या विश्वासपूर्वक जाने जा रहे हैं, उसी प्रकार गौ इस शब्दसे भी अपने आप गोत्वरूप आकृतिका कथन हो जाता है और उस गोत्वरूप आकृतिमें अपना स्वरूप लाभ करता हुआ गोशब्द उस आकृतिपर ही आक्रमण कर उस व्यक्तिरूप गोपिण्डमें गौके ज्ञानको कर देता है, क्योंकि आकृति और व्यक्तिके विभागकी नहीं अपेक्षा करके उसका वहां प्रतिफलन हो रहा है। अतः सिद्ध होता है कि गुणको कहनेवाला लोहित शब्द तथा जातिको कहनेवाला गोशब्द ये सभी शब्द आकृतिको कह रहे हैं।

एवं पचतिशब्दोधिश्रयणादिक्रियागतैः।
सामान्यैः सममेकार्थसमवेतं प्रबोधयेत् ॥ ३७ ॥
व्यापकं पचिसामान्यमधिश्रित्यादिकर्मणाम्।
यथा भ्रमणसामान्यं भ्रमतीति ध्वनिर्जने ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार क्रियावाचक पचति शब्द भी विक्लेदन (चूल्हिके ऊपर चावलोंका उष्ण पानीमें उछलना, कूदना,) आदि क्रियाओंमें रहनेवाले सामान्योंके साथ एकार्थसमवायसम्बन्धसे रहते हुए पचनसामान्यरूप आकृतिको समझा देता है। लोकमें घूम रहा है यह शब्द जैसे अनेक चक्कर लगानारूप भ्रमणोंमें रहनेवाले भ्रमणसामान्यका प्रबोध करा देता है, तैसे ही पचनक्रियाकी

व्याप्य विक्लेदन, विभजन, अधिश्रिति, आदि क्रियाओंमें व्यापकरूपसे रहनेवाली पचन सामान्यरूप आकृतिको पचति शब्द जता देता है। अतः आपसे माने गये भ्रमति, पचति, आदि क्रियाशब्द भी आकृतिको ही कहते हैं। मनुष्य समुदायमें यह बात प्रसिद्ध है।

पचत्यादिशब्दः क्रियाप्रतिपादक एव नाकृतिविषय इति मा मंस्थाः स्वयमाकृत्यधिष्ठानस्य तस्य पचनादिक्रियाप्रत्ययहेतुत्वात्। पचतिशब्दो हि याः काथनाधिश्रयणादिक्रियास्तासां यानि प्रत्यर्थनियतान्यधिश्रयणत्वादिसामान्यानि तैः सहैकार्थे समवेतं यत्सर्वविषयं पचिसामान्यमभिव्यक्तं तत्प्रतिपादयति यथा भ्रमतिशब्दोऽनेककर्मविषयं भ्रमणसामान्यं लोके।

पचति, चरति, प्लवते आदि शब्द क्रियाका ही प्रतिपादन करते हैं। आकृतिको विषय नहीं करते हैं, इसपर आकृतिवादी हम कहते हैं कि उक्त आग्रह नहीं मानना। क्योंकि पचन आदि क्रिया शब्दोंके द्वारा अपने आप आकृतिके अधिकरण हो रहे उस अर्थमें ही पकाना, चलना, आदि ज्ञान करानेकी कारणता है जिस कारणसे कि पका रहा है यह शब्द जो कोई भी विक्लेदन, खदरबदर, उसीजना आदि क्रियायें हैं उनके प्रत्येक क्रियारूप अर्थमें नियमित होकर रहते हुए अधिश्रयणत्व, विक्लेदनत्व आदि सामान्य हैं तिनके साथ एक अर्थमें समवायसम्बन्धसे रहता हुआ सब क्रिया धर्मोको विषय करनेवाला जो पचन सामान्य प्रगट हुआ है उसको प्रतिपादन करता है। भावार्थ—जिन्हीं क्रियाओंमें विक्लेदनपन आदि स्वरूप व्याप्य क्रियात्व रहता है वहीं व्यापक पचनसामान्य भी रहता है। अतः रूप, रसके साथ पुद्गल द्रव्यमें या ज्ञान, सुखके साथ आत्मद्रव्यमें एकार्थसमवायसम्बन्धसे रहती हुयी आकृतिका वाचक पचति शब्द पचन सामान्यको कह देता है। जैसे कि भ्रमति (घूम रहा है) शब्द अनेक घूमनेरूप क्रियाओंको विषय करनेवाले भ्रमणसामान्यका लोकमें प्रतिपादन करनेवाला माना जाता है।

तथा डित्थादिशब्दाश्च पूर्वापरविशेषगम्।
यदृच्छत्वादिसामान्यं तस्यैव प्रतिबोधकाः ॥ ३९ ॥

यों द्रव्यशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द, संयोगिशब्द समवायिशब्द सब आकृतिको कहते हैं। तैसे ही और डित्थ, डवित्थ, आदिक यदृच्छा शब्द भी पहिले तथा पीछे विशेषोंमें रहनेवाले यदृच्छापन आदि जातिरूप जो आकृति है उसीका ज्ञान करानेवाले हैं। केवल यदृच्छापन व्यक्तिको कहने वाले नहीं है। भावार्थ—यदृच्छा शब्द भी आकृति शब्द है।

न हि डित्थो डवित्थ इत्यादयो यदृच्छाशब्दास्तैरपि डित्थत्वाद्याकृतेरभिधानात्।

डित्थ, डवित्थ, पुस्त इत्यादिक शद्ध स्वतन्त्र न्यारे यदृच्छाशद्ध नहीं हैं, किन्तु उन डित्थ आदि शद्धों करके भी डित्थपना आदि आकृतिका ही कथन होता है, यानी अपने मनकी प्रसन्नतासे किसी जीव या वस्तुके यों ही इच्छानुसार रख लिये गये नाम यदृच्छा शद्ध माने गये थे सो वे भी आकृति शद्ध ही हैं। काठ के बने हुये हाथीका नाम डित्थ धर लिया, या खैरकी लकडीसे बने हुये मनुष्यका नाम डवित्थ मान लिया, पगडी बांधनेके शिरसदृश आकारवाले काठको पुस्त कहा जाता है, ये शद्ध आकृतिको कहते हैं।

इत्येवमाकृतिं शब्दस्यार्थं ये नाम मेनिरे।
तेनातिशेरते जातिवादिनं प्रोक्तनीतितः ॥ ४० ॥
जातिराकृतिरित्यर्थभेदाभावात्कथश्चन।
गुणत्वे त्वाकृतेर्व्यक्तिवाद एवास्थितो भवेत् ॥ ४१ ॥

इस प्रकार आठ वार्तिकों द्वारा जो कोई वादी शद्धका वाच्य अर्थ आकृतिको मानते हैं वे वादी भी हमारी कही हुयी बढिया नीतिके अनुसार केवल जातिको शद्धका वाच्यअर्थ मानने वाले मीमांसकोंसे अतिशय (आधिक्य) नहीं रखते हैं। अर्थात् जातिके व्याप्य आकृतिको शद्धका अर्थ मानना और जातिको अर्थ मानना एकसा ही ढंग है। जैसे ही नागनाथ वैसे ही सांपनाथ हैं, जातिसे आकृतिमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है, किसी अपेक्षासे जाति और आकृति एक ही हैं कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। यदि आकृतिको अवयवसंस्थान (परिमाण) रूप मानोगे तब तो व्यक्तिवाद ही आकर उपस्थित हो जावेगा। अर्थात् आकृतिको गुण माननेपर एक प्रकारसे गुणस्वरूप व्यक्तिको ही शद्धका वाच्य अर्थ मान लिया कहना चाहिये। व्यक्तिवादके एकान्त पक्षमें अनेक दोष दिये ही जा चुके हैं।

न सर्वा जातिराकृतिर्नापि गुणश्चतुरस्रादिसंस्थानलक्षणः। किं तर्हि? संस्थानविशेषव्यंग्या जातिर्लोहितत्वगोत्वादिराकृतिः सा च संस्थानविशेषानभिव्यंग्यायाः सत्त्वादिजातेरन्या। न सर्वे संस्थानविशेषेणैव व्यंग्यं तद्रहिताकाशादिष्वपि भावात्। द्रव्यत्वमनेनातद्व्यंग्यमुक्तं तथा गुणेषु संस्थानविशेषाभावात्। तद्वदात्मत्वादि तदनभिव्यंग्यं बहुधा प्रत्येयम्। गोत्वं पुनर्न सास्नादिसन्निवेशविशेषमन्तरेण पिण्डमात्रेण युज्यते अश्वादिपिण्डेनापि तदभिव्यक्तिप्रसंगात्। तथा राजत्वमानुषत्वादि सर्वमिति कश्चित्।

यहां कोई आकृतिवादी साधारण और व्यक्तियोंसे विलक्षण मानी गयी विशेष जाति तथा विशेष गुण व्यक्तिको आकृति मानता हुआ अपना पक्ष यों पुष्ट करता है कि सभी जातियां आकृति

नहीं हैं और संपूर्ण चौकोर, तिकौना, छःकौना, गोल आदि रचनाविशेष स्वरूप परिणाम गुण भी आकृति नहीं है, तब तो क्या है ? ऐसा पूंछनेपर हम आकृतिवादी कहते हैं कि जो जातियां विशेष संस्थानोंसे प्रगट की गयी हैं ऐसी लोहितत्व, गोत्व, अश्वत्व, आदि जातियां आकृतिरूप हैं, वह आकृति तो विशेषसंस्थानोंसे नहीं प्रगट हुयीं सत्त्व, द्रव्यत्व आदि जातियोंसे निराली है। सभी सामान्य उन विशेष संस्थानों करके ही प्रगट होते हैं, यह नियम नहीं है। क्योंकि उस विशेष रचनासे रहित माने गये आकाश, काल आदि पदार्थोंमें भी सत्त्व, द्रव्यत्व ये सामान्य (जाति) विद्यमान हैं। इस कथनसे द्रव्यत्व नामका सामान्य भी विशेष संस्थानसे व्यंग्य नहीं है, यह कह दिया गया समझ लेना चाहिये। तथा दूसरी बात यह है कि उन गुणोंमें तो विशेषसंस्थान नहीं माना गया है। गुणमें गुण नहीं रहते हैं। संस्थान (परिमाण) चौवीस गुणोंमेंसे एक गुण है। अतः गुणोंमें संस्थानके न होते हुए भी गुणत्व और सत्ता जाति रह जाती है। एवं उसीके समान आत्मत्व, दिशात्व आदि जातियां भी उन विशेषरचनाओंसे प्रगट नहीं होती है, इस बातको अनेक प्रकारसे समझ लेना चाहिये, किन्तु अनेक गौओंमें रहनेवाली गोत्व जाति तो फिर गलकम्बल, शृंग, ककुद (ढांठ), पूंछके प्रान्तमें बालोंका गुच्छा आदि विशेष रचनाके विना केवल शरीररूपी पिण्डके साथ युक्त नहीं हो जाती है, अन्यथा यानी सास्ना आदिके विना भी चाहे जहां गोत्वका योग मान लिया जावे तब तो घोडा, भैंस, हाथी आदिके शरीरसे भी उस गोत्वके प्रगट होनेका प्रसंग हो जावेगा। अतः सिद्ध है कि विशेष अवयवोंकी रचनासे जो जाति प्रगट होती है, वह आकृति है। तैसे ही अनेक राजाओंमें रहनेवाली राजत्व अनेक मनुष्योंमें विशिष्टरचनासे व्यक्त हुयी मनुष्यत्व, पशुत्व आदि सभी विशेषजातियां आकृति हो जाती हैं। वे शद्बके वाच्य अर्थ हैं, इस प्रकार कोई आकृतिवादी कहता है।

सोऽपि न विपश्चित्। लोहितत्वादेः संस्थानविशेषरहितेन लोहितादिगुणेन व्यवच्छेद्यमानत्वात्। पचत्यादिसामान्यस्य च पचनादिकर्मणा तादृशेन व्यंग्यत्वादाकृतित्वाभावानुषङ्गात्। सत्त्वादिजातेश्चाकृतित्वानभ्युपगमे कथमाकृतिरेव पदार्थ इत्येकान्तः सिध्येत्। जातिगुणकर्मणामपि पदार्थत्वसिद्धेः।

अब आचार्य महोदय कहते हैं कि वह आकृतिवादी भी विचारशील पण्डित नहीं है। क्योंकि लोहितपना (रक्तता) पीतता, सुगन्धत्व आदि जातियोंको विशेष संस्थानोंसे रहित माने गये लाल पीले आदि गुणों करके पृथग्भूत होगयापना देखा जाता है, यानी गुणोंमें रहनेवाली जातियां विशेष संस्थानोंसे रहित होरहे गुणों करके ही प्रगट हो जाती हैं। कारण वही है कि गुणमें गुण नहीं रहता है। और पकाता है, घूमता है, दौडता है इत्यादि क्रियाओंमें रहनेवाली जातियां भी वैसे संस्थान विशेषोंसे रहित कहे गये पचन आदि कर्मोंसे ही प्रगट हो जाती हैं, यदि विशेषसंस्थानोंसे ही आकृतिरूप जातिका उद्भूत होना मानोगे तो इन लोहितत्व, भ्रमणत्व, पाकत्व आदि जातियोंको

आकृतिपनेके अभावका प्रसंग होगा। यदि आकृतिवादी सत्त्व,द्रव्यत्व,आत्मत्व आदि जातियोंको आकृतिपना न मानोगे तो आकृति ही पदका वाच्यअर्थ है। ऐसा एकान्त कैसे सिद्ध होगा? सत्, द्रव्य, आदि पद भी तो किसी न किसी अर्थको कह रहे हैं। जाति, गुण और कर्म इन सबको भी पदका वाच्य अर्थपना सिद्ध है। किन्तु आकृतिवादी आप जाति, गुण और कर्मोंमें संस्थानविशेष मानते नहीं हैं, ऐसी दशामें विशेषसंस्थानसे अभिव्यंग्य होरही जातिरूप आकृति ही पदका वाच्यअर्थ है यह एकान्त भला कैसे रक्षित रह सकेगा ?।

व्यक्त्याकृतिजातयश्च पदार्थ इत्यभ्युपगच्छतामदोष इति चेन्न, तेषामपि कस्यचित् पदस्य व्यक्तिरेवार्थः कस्यचिदाकृतिरेव कस्यचिज्जातिरेवेत्येकान्तोपगमात् पक्षत्रयोक्तदोषानुषक्तेः।

यहां कोई गौतमसूत्र अनुसार कहते हैं कि घोडा, गौ, हाथी, नीला, लाल, सुगन्ध, घूमना आदि व्यक्तियां और विशेष संस्थानसे प्रगट की गयी जातिरूप आकृतियां तथा नित्य जाति ये तीनों ही पदके वाच्य अर्थ हैं, इस प्रकार स्वीकार करनेवाले नैयायिकोंके यहां कोई दोष नहीं आता है। यों गुण, कर्म, जाति आदि सभी पदके वाच्यअर्थ हो जावेंगे। ग्रन्थकार समझाते हैं कि सो यह तो नहीं कहना, क्योंकि तीनोंको पदका वाच्य अर्थ माननेवाले उनके मतमें भी किसी पदका अर्थ तो व्यक्ति ही माना है और किसी किसी पदका अर्थ आकृति ही माना है तथा किसी पदका अर्थ जाति ही स्वीकार किया है। इस प्रकार एकान्तरूप अंगीकार करनेसे तीनों पक्षोंमें कहे गये दोषोंका प्रसंग होगा, जो प्रत्येक पक्षमें दोष होता है वह स्वतन्त्र, अपेक्षा रहित, तीनों पक्षोंके माननेपर भी अवश्य लागू होगा।

किञ्च, संस्थानविशेषेण व्यज्यमानां जातिमाकृतिं वदतां कुतः संस्थानानां विशेषः सिध्येत् येनाकृतीनां विशेषस्तद्व्यंग्यतयावतिष्ठेत। न तावत् स्वत एव तन्निश्चितिरतिप्रसंगात्। परस्माद्विशेषणाच्चद्विशेषो निर्णीयते इति चेत्, तद्विशेषणस्यापि कुतो विशेषोवसीयताम् ? परस्माद्विशेषणादिति चेदनवस्थानात् संस्थानविशेषाप्रतिपत्तिरिति कथं तद्व्यंग्याकृतिविशेषनिश्चयः।

दूसरी एक बात यह भी है कि विशेषसंस्थानोंसे प्रगट हुयी जातिको आकृति कहनेवालोंके यहां संस्थानोंका विशेषपना किस हेतुसे सिद्ध होगा ? जिससे कि उस विशेष संस्थानसे व्यंग्यपने कर आकृतियोंका विशेष व्यवस्थित होता। भावार्थ—गौ और महिष आदिके रचनाओंकी विशेषताका हेतु बतलाओ ! जिससे कि गोत्व, महिषत्व, रूप विशेष आकृतियां जानी जा सकें। पहिले यह बात तो हो नहीं सकती कि उन संस्थानोंकी विशेषताका अपने आप ही निश्चय कर लिया जावे। क्योंकि यों तो अतिप्रसंग दोष हो जावेगा। अर्थात् सदृश अनेक गौओंमें भी कारण विना अपने आप ही विशेषताओंका निर्णय हो जाओ ! जो कि इष्ट नहीं है। यदि दूसरे प्रकार आप यों कहें कि अन्य

विशेषणोंसे उन संस्थानोंके विशेषका निर्णय कर लिया जावेगा, ऐसा कहने पर तो पुनः हम पूछेंगे कि संस्थानोंकी विशेषताको निर्णय करानेवाले उन विशेषणोंकी भी विशेषताका कैसे निश्चय किया जावे ? यहां भी उन विशेषणोंमें रहने वाले दूसरे विशेषणोंसे विशेषताका ज्ञान मानोगे, तब तो उन तीसरे विशेषणोंके लिये भी अन्य विशेषणोंकी आकांक्षा बढती जावेगी, इस ढंगसे अनवस्था दोष होगा । अतः विशेषसंस्थानोंका निर्णय नहीं हुआ । भला ऐसी दशामें उन विशेष संस्थानोंसे प्रगट हुयी विशेष आकृतियोंका कैसे निश्चय होगा ? यानी आकृतियोंका निश्चय नहीं हो सकेगा ।

यदि पुनराकृतिविशेषनिश्चयादेतदभिव्यञ्जकसंस्थानविशेषनिश्चयः स्यादिति मतं तदा परस्पराश्रयणं । संस्थानविशेषस्य निश्चये सत्याकृतिविशेषस्य निश्चयस्तन्निश्चये सति संस्थानविशेषनिश्चय इति । स्वत एवाकृतिविशेषस्य निश्चयाददोष इति चेन्न, संस्थानविशेषनिश्चयस्यापि स्वतः एवानुषंगात् ।

यदि फिर आकृतिवादी आप यों कहें कि व्यंग्य आकृति विशेषोंके निश्चय हो जानेसे उनको प्रगट करनेवाले विशेषसंस्थानोंका निश्चय हो जावेगा । सो आपका ऐसा मत होनेपर तो अन्योन्याश्रय दोष है । सुनिये ! संस्थान विशेषोंका निर्णय हो जानेपर तो विशेष आकृतिओंका निश्चय होवे तथा उन विशेष आकृतियोंका निश्चय हो चुकनेपर विशेषसंस्थानोंका निश्चय होवे । इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषवाले दोनों हेतुओं (ज्ञापक या कारक) मेंसे एककी भी सिद्धि नहीं होने पाती है । यदि आप यों कहें कि आकृतियोंकी विशेषताका निर्णय तो स्वयं अपने आपसे ही हो जाता है । अतः अतिप्रसंग, अनवस्था, अन्योन्याश्रय ये कोई दोष नहीं आते हैं, यह तो नहीं कहना चाहिये । क्योंकि यों तो विशेषसंस्थानोंके निश्चयका भी अपने आप ही हो जानेका प्रसंग होगा । भावार्थ— संस्थानोंकी विशेषताका निर्णय आकृतिके विशेषोंसे माना जावे और आकृतियोंकी विशेषता स्वतः जान ली जावे, इसकी अपेक्षा पहिली कोटिमें ही संस्थानोंकी विशेषताओंका ही क्यों न स्वतः निर्णय होना मान लिया जावे । परम्परा करनेका परिश्रम क्यों किया जाता है ?

प्रत्ययविशेषादाकृतिविशेषः संस्थानविशेषश्च निर्णीयत इति चेत्, कुतः प्रत्ययविशेषसिद्धिः ? न तावत्स्वसंवेदनतः सिद्धान्तविरोधात् । प्रत्ययान्तराच्चेदनवस्था । विषयविशेष निर्णयादिति चेत्, परस्पराश्रयणं, विषयविशेषस्य सिद्धौ प्रत्ययविशेषस्य सिद्धिः तत्सिद्धौ च तत्सिद्धिरिति ।

यदि आप यों कहें कि निर्णय आत्मक ज्ञानोंकी विशेषताओंसे आकृतियोंकी विशेषता जान ली जावेगी और उन ज्ञानोंसे ही आकृतियोंके व्यञ्जक हो रहे संस्थानोंकी विशेषताका भी निर्णय कर लिया जावेगा, ऐसा माननेपर सर्व व्यवस्था ठीक बन जाती है । अनवस्था आदि दोषोंका प्रसंग भी टल जाता है । आपके इस प्रकार कहनेपर तो हम पुनः प्रश्न करेंगे कि उन ज्ञानोंमें

विशेषताओंकी सिद्धि किससे करोगे ? सबसे प्रथम स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे तो ज्ञानोंकी विशेषताका निर्णय हो नहीं सकेगा, क्योंकि यों तो आपके सिद्धान्तसे स्वयं आपको विरोध होगा, जब कि नैयायिकोंने ज्ञानका प्रत्यक्ष होना अन्य ज्ञानोंसे माना है। एक आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले उत्तर समयवर्ती द्वितीय ज्ञानसे पहिले ज्ञानका प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया है। यहांतक कि किसी नैयायिकने तो ईश्वरके भी दो ज्ञान मान लिये हैं। एक ज्ञानसे यावत् पदार्थोंको जानता है और दूसरे ज्ञानसे ईश्वर उस ज्ञानका प्रत्यक्ष कर लेता है। अतः आप नैयायिकोंके सिद्धान्तानुसार स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे ज्ञानोंकी विशिष्टताका निर्णय नहीं हो सकता है, जो ज्ञान स्वयं अपनेको नहीं जानता है। वह भला अपनी विशेषताओंको कैसे जान सकेगा ? जिस अन्ध पुरुषको मोती नहीं दीखता है उसको मोतीके प्रतरोंकी विशेषता भी नहीं जंचती है, अन्यथा अपसिद्धान्त दोष बन बैठेगा। यदि आप अन्य ज्ञानोंसे प्रकृत ज्ञानोंकी विशेषताओंको जानोगे तो उन अन्य ज्ञानोंके लिये पुनः चौथे, पांचवें, छट्ठे आदि ज्ञानान्तरोंकी आवश्यकता पडेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। यदि अनवस्थाके निवारणार्थ ज्ञानोंकी विशेषताका निश्चय ज्ञेयविषयोंकी विशेषतासे होना मानोगे ऐसा माननेपर तो अन्योन्याश्रयदोष है, क्योंकि विषयोंके वैलक्षण्य (विशेषता) की सिद्धि होनेपर ज्ञानोंके विशेषकी सिद्धि होवे और ज्ञानोंमें विशेषताकी सिद्धि हो जानेपर विषयोंमें विशेषताकी सिद्धि होवे, इस प्रकार अनवस्था स्वरूप गम्भीर व्याघ्रीसे बच जानेपर भी अन्योन्याश्रयदोषरूपी तुच्छ भालूसे पिण्ड छुडाना कठिन है।

न चैवं सर्वत्र विशेषव्यवस्थापह्नवः स्वसंविदितज्ञानवादिनां प्रत्ययविशेषस्य स्वार्थव्यवसायात्मनः स्वतः सिद्धेः सर्वत्र विषयव्यवस्थोपपत्तेः।

यदि तुम हमारे ऊपर इस प्रकार कटाक्ष करोगे कि यों तो सभी स्थानोंपर विशेषताकी व्यवस्था करना छिप जावेगा यानी कहीं किसी दर्शनमें भी पदार्थोंके वैलक्षण्यकी व्यवस्था न हो सकेगी। घट और आत्मामें चेतन, अचेतनपनेकी विशेषताका जो हेतु दिया जावेगा उसमें भी कुचोद्य उठा दिया जा सकेगा कि घटमें जडता और आत्मामें ज्ञान क्यों है ? इत्यादि। सो आप नैयायिक हम जैनोंके ऊपर यह अपह्नवदोष नहीं लगा सकते हैं। क्योंकि हम ज्ञानोंकी विशेषतासे ही ज्ञेयोंकी विशेषताका निर्णय होना मानते हैं। सम्पूर्ण ज्ञानोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। अपना और अर्थका निश्चय करनेवाले स्वरूप ज्ञानोंकी विशेषताओंका हम स्वसंवेदनज्ञानवादी जैनोंके यहां स्वतः निर्णय कर लिया जाता है। अभ्यास दशामें ज्ञानोंकी प्रमाणताके निर्णय समान उनकी विशेषताओंका भी स्वतः निर्णय हो जाता है और उन ज्ञानकी विशेषताओंसे सभी स्थलोंपर विषयोंके विशेषताकी व्यवस्था होना बन जाता है। अतः हम स्याद्वादियोंके यहां कोई दोष नहीं आता है। हम अन्तमें सब पदार्थोंके निर्णय करनेका भार ज्ञानके ऊपर देते हैं और वह ज्ञान सूर्यके समान स्वांशोंका तथा अन्य अंशोंका युगपत् प्रकाशक माना गया है।

कथं चायमाकृतीनां गोत्वादीनां परस्परं विशिष्टतामपरविशेषण विरहेऽपि स्वयमुपयन् गवादिव्यक्तीनां विशेषणवशादेव तामुपगच्छेत् तथा दृष्टत्वादिति चेत् न, तत्रैव विवादात्। तदविवादे वा व्यक्त्याकृत्यात्मकस्य वस्तुनः पदार्थत्वसिद्धिस्तथा दर्शनस्य सर्वत्र भावात्।

और नैयायिकसे हमको यह कहना है कि यह नैयायिक गोत्व, अश्वत्व, आदि आकृतियोंकी परस्परमें हुयी विशेषता (वैलक्षण्य) को अन्य विशेषोंके न होनेपर भी स्वयं अपने आप होती हुयी स्वीकार करता हुआ भला गो, अश्व, आदि व्यक्तियोंकी उस विशिष्टताको विशेषणोंके अधीन ही स्वतः क्यों न मान लेवे। अर्थात् आकृतियोंकी विशेषताको बिना विशेष धर्मके जैसे तुम स्वीकार कर लेते हो तैसे ही गौ, अश्व आदि व्यक्तियोंकी उस विशेषताको सींग, सास्ना, ककुद् एक खुर वाला-पन, पूरीपूंछपर लम्बे बाल, आदि स्वात्मभूत विशेषोंसे ही स्वयं होती हुयी क्यों नहीं मान लेते हो। इसपर यदि तुम यह कहो कि गोत्व आदि आकृतियोंकी विशेषता तो अपने आप होती हुयी तिस प्रकार देखी गयी है, अतः हम मान लेते हैं। किन्तु व्यक्तियोंकी विशेषता तो केवल विशेषणोंसे होती हुयी नहीं देखी जाती है, अतः नहीं मानते हैं। आचार्य समझाते हैं कि यह तो नहीं कहो, क्योंकि वहां ही तो विवाद है कि व्यक्तियोंकी विशेषता विशेषणोंसे ही क्यों न हो जावे! किन्तु आप उस प्रश्नका वही उत्तर दे देते हैं। हम पूंछते हैं कि ईश्वर सृष्टिको क्यों बनाता है? इसका उत्तर मिलता है कि जिस कारणसे कि ईश्वर सृष्टिको बनाता है। अथवा यदि स्वभाव और वस्तु-स्थितिके अनुसार विशेषपनेकी व्यवस्थाको मानते हुए उसमें विवाद न करोगे तब तो व्यक्ति और आकृतिस्वरूप वस्तुको पदका वाच्य अर्थपना सिद्ध हो जाता है, क्योंकि तिसी प्रकार देखना सभी स्थलोंपर विद्यमान हैं। किसी भी शब्दको सुनकर संकेतग्राही श्रोताको व्यक्ति और आकृतिरूप वस्तुका ज्ञान हो जाता है। जहां व्यक्ति है वहां आकृति अवश्य है और जहां आकृति है वहां व्यक्ति भी अवश्य है दोनों ही वस्तुके तदात्मक अंश हैं। अतः नैयायिकोंके एकान्तका निरास कर सामान्यविशे-षात्मक वस्तुको शब्दका वाच्य अर्थपना सिद्ध हुआ।

योऽपि मन्यतेऽन्यापोहमात्रं शब्दस्यार्थ इति तस्यापि—

जो भी बौद्ध यह मानता है कि शब्दका वाच्य अर्थ केवल अन्यापोह ही है। वस्तुभूत भाव पदार्थ तो शब्दसे नहीं कहा जाता है। देवदत्त पण्डित है इसका अभिप्राय यही है कि वह अप-ण्डित यानी मूर्ख नहीं है, कोई धनवान् है इस शब्दका भी यही तात्पर्य है कि वह निर्धन नहीं है। संसारके दुःखाभावोंमें जैसे सुखशब्दका प्रयोग गौणरूपसे हो जाता है, वस्तुतः वहां सुखका अर्थ दुःखका अभाव तथा तीव्र दुःखोंके प्रहारका अभाव है, अधिक बोझसे लदे हुए पुरुषका बोझ उतार देनेपर सुखी हो जानेका अर्थ दुःखाभाव है। तैसे ही गो शब्दका अर्थ गौसे भिन्न सजा-तीय और विजातीय व्यक्तियोंसे अपोह यानी अभाव करना है। अश्व शब्दका अर्थ घोडोंसे भिन्न होरहीं व्यक्तियोंकी व्यावृत्ति करना है, इस प्रकार जो बौद्ध मानता है। उसके यहां भी—

यदि गौरित्ययं शद्बो विधत्तेन्यनिवर्तनम् ।
विदधीत तदा गोत्वं तन्नान्यापोहगोचरः ॥ ४२ ॥

यह गो ऐसा शद्ब यदि अन्यकी निवृत्ति करनेका विधान करता है, तब तो गौपनेका ही विधान करे । सर्वथा अभावको कहनेवाला शद्ब यदि विधान सीख गया है तो अच्छा ही हुआ । भले ही वह अभावका ही विधान करे । जिस रोगीका बोलना रुक गया है यदि वह रोवे सो ही अच्छा है । तैसे ही वह गौपनेका विधान भी कर सकेगा । अतः वह गो शद्ब एकान्तरूपसे अन्योंके अपोहको ही विषय करनेवाला न हुआ । विधायक भी हो गया ।

स्वलक्षणमन्यस्मादपोह्यतेऽनेनेत्यन्यापोहो विकल्पं यदि गोशब्दो विधत्ते तदा गामेव किं न विदध्यात्, तथा च नान्यापोहः शब्दार्थः गोशब्देनागोनिवृत्तेः कल्पनात्मिकायाः स्वयं विधानात् ।

बौद्ध लोग स्वलक्षणको वास्तविक तत्त्व मानते हैं, अन्यापोह शद्बकी निरुक्ति यह है कि अन्य पदार्थोंसे स्वलक्षण पृथक् किया जावे जिस करके वह विकल्परूप धर्म अन्यापोह है । यदि गो शब्द उस विकल्पका विधान करता है तब तो साक्षात् गोव्यक्तिका ही क्यों न विधान करें ? बौद्धोंके मतानुसार विकल्प या विकल्प्य और गोव्यक्ति प्रायः एकसी पडती हैं । विकल्प भी कल्पना किया गया भाव है । और गोव्यक्ति भी स्थूल अवयवीपनेसे कल्पित किया गया भाव है । गो शद्बको सुनकर भावरूप पदार्थकी प्रतीति होती है । तिस प्रकारसे तो सिद्ध हो जाता है कि बौद्धोंसे तो माना गया अन्यापोहशद्बका वाच्यअर्थ नहीं है । क्योंकि गोशद्ब करके कल्पनास्वरूप अगो निवृत्तिका स्वयं विधान होना बौद्धोंने मान लिया है । जब गो शद्ब अर्थका विधान करने भी लग गया तब बौद्धोंसे आग्रह किये गये अपोहरूप एकान्तको कहनेकी प्रतिज्ञा रक्षित नहीं रह सकी ।

अगोनिवृत्तिमप्यन्यनिवृत्तिमुखतो यदि ।
गोशद्बः कथयेन्नूनमनवस्था प्रसज्यते ॥ ४३ ॥

यदि आप बौद्ध यों कहें कि गो शद्ब अगो निवृत्तिको भी विधि भावसे नहीं करता है, किन्तु अन्य निवृत्तिको मुख्य करता हुआ अगोनिवृत्तिको कहेगा, तब तो निश्चय करके बौद्धोंके ऊपर अनवस्था दोषका प्रसंग है । अगोनिवृत्तिको अनगोनिवृत्ति–अभावरूप मुखसे कहेगा और इसको भी इसके ऊपर दो अभावोंको लादे हुए मुखसे कहेगा । फिर उसको भी छह अभावोंका बोझ झेलनेवाले अभिमुखपनेसे कहेगा, यों अनवस्था हो जावेगी । कहीं ठहरना नहीं होगा ।

न गौरगौरिति गोनिवृत्तिस्तावदेका ततो द्वितीया त्वगोनिवृत्तिस्ततोऽन्या तन्निवृत्ति-स्तृतीया ततोऽन्यनिवृत्तिश्चतुर्थी यदि गोशब्देन कथ्यते तन्मुखेन गतिप्रवर्तनात् तदा सापि न गोशब्देन विधिप्राधान्येनाभिधेया द्वितीयनिवृत्तेरपि तथाविधेयत्वप्रसंगात् ।

बौद्धोंके यहां गो शद्वका वाच्यअर्थ अगोनिवृत्ति माना गया है। यहां विचार यों करना है कि अगोनिवृत्तिमें पहिले निषेध करने योग्य अगो पडा हुआ है। जो गौ नहीं है वह अगो है। इस प्रकार सबसे पहिले एक गोनिवृत्ति आयी। तिसके अनन्तर अगोकी निवृत्ति की । यह तो दूसरी निवृत्ति हुई। इस दूसरी निवृत्तिको भी निषेधमुखसे कहेगा तो उसके पीछे एक उससे न्यारी तीसरी निवृत्ति खडी हो जावेगी। तिसके अनन्तर अपोहरूप चौथी निवृत्ति निराली हो जावेगी। इस प्रकार गोशद्व करके यह चौथी निवृत्ति कही जावेगी। तब तो उस निवृत्तिके मुख्यपनेसे शद्वगतिकी प्रवृत्ति होगी। किन्तु तब यह भी विधिको प्रधान रखनेवाले गोशद्व करके नहीं कही जावेगी। अपोह मुखसे ही उसका निरूपण होगा। यदि चौथी निवृत्ति विधिप्रधानतासे कह दी जाती तो दूसरी निवृत्तिको भी तिसी प्रकार कहे जानेपनका प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ——अनवस्थाके परिहारके लिए चौथी निवृत्तिको विधिप्रधान रखा जाता है तो दूसरी निवृत्तिको ही क्यों न रख लिया जावे। मूल गौके विधिरूप रखनेसे तो सर्वतोभद्र हो जावे। और दूसरी बात यह है कि बौद्ध लोग चौथी, छट्ठी, आठवी निवृत्ति होनेको विधिकी प्रधानतासे भला मानते कहां हैं ?

गौरिव विधिसिद्धिः स्वान्यनिवृत्तिद्वारेणाभिधीयत इति चेत्, तर्हि ततोऽन्या पञ्चमी निवृत्तिस्ततो निवृत्तिः षष्ठी सा गोशद्वस्यार्थ इत्यनवस्था सुदूरमप्यनुसृत्य तद्विधिद्वारेणाश्रयणात् निवृत्तिपरम्परायामेव शद्वस्य व्यापारात् ।

सौगत कहते हैं कि गौके समान विधानकी सिद्धिका भी अपनेसे अन्योंकी निवृत्तिके द्वारा ही कथन किया जाता है, अर्थात् सबसे प्रथम गौकी विधिसिद्धिकी जैसे चार कोटी चली हैं, तैसे ही चौथी निवृत्तिकी विधिसिद्धि भी अन्यापोह द्वारा कही जावेगी। अब आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे, तब तो उस चौथी निवृत्तिका भी अन्य निवृत्ति द्वारा कथन करनेसे अन्य पदसे पांचवीं निवृत्ति कथित हुयी और उससे अपोहरूप छठी निवृत्ति हुयी और वह गो शद्वका वाच्य अर्थ हुयी। इस प्रकार छठी निवृत्ति भी अन्यनिवृत्तिके द्वारा अन्यापोहको ही कहेगी यह अनवस्था दोष है। बहुत दूरतक भी पीछे पीछे जाकर आपको कहीं न कहीं अन्यनिवृत्ति द्वाराका अवलम्ब छोडकर विधिद्वाराका अवलम्ब लेना पडेगा। अन्यथा वैसा माननेसे तो गंगाकी अटूट धारके समान निवृत्तियोंकी परम्परामें ही शब्दका व्यापार बना रहेगा। अतः प्रथमसे ही विधि द्वार करके शद्वके वाच्य अर्थकी व्यवस्था करना ठीक है। वस्तुतः देखा जावे तो तुच्छ अन्यापोह कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है, बौद्धोंने भी नहीं माना है। बौद्ध जन "बुद्धो भवेयं जगते हिताय" मैं जगत्के प्राणियोंका हित करनेके लिये बुद्ध हो जाऊं, ऐसी बुद्धपनेको बनानेवाली विशिष्ट भावनासे बुद्ध होना मानते हैं तथा "तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां च महती कृपा" मोक्ष होनेके सम्पूर्ण कारण मिल जानेपर भी संसारी जीवोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेके लिये दयालुता वश वे बुद्ध कुछ दिनतक संसारमें टिके रहते

है। यदि शद्धका वाच्य कोई वस्तुभूत पदार्थ न होता तो आपके बुद्ध भगवान् भला किसका उपदेश देते हैं ? बतलाओ ! और यों तो आपके पिटकत्रय, न्यायबिन्दु, आदि ग्रन्थ निरर्थक हो जावेंगे। नहि शब्द वाच्यवस्तुभूतपदार्थमन्तरा मूकाद्वाग्मिनोवा विशेषं पारयामः ॥ अलम् ।

शद्धो विवक्षां विधत्ते न पुनर्बहिरर्थमित्यभ्युपगमे कथमन्यापोहकृत्सर्वः शद्धः सर्वथा।

फिर भी बौद्ध कहते हैं कि शद्ध वक्ताकी इच्छाका विधान करता है, अर्थात् किसीने घट शद्धको कहा। वह घट शद्ध घट बोलनेकी इच्छाको कह रहा है, उसको घटशद्ध कहनेकी कहास थी हां! घटशद्ध कम्बुग्रीवा आदिसे युक्त व्यक्तिको नहीं कहता है! इसी प्रकार सभी शद्ध बोलनेवालेकी इच्छाको कह रहे हैं, किन्तु फिर बहिरंग अर्थोंको नहीं कहते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा स्वीकार करनेपर बौद्धोंके यहां सभी शद्ध सब प्रकारसे अन्योपोहको करनेवाले कैसे हो सकेंगे ? भावार्थ—जब शद्ध विवक्षाका विधान करने लगे तो अन्यापोहरूप अभावको कैसे कह सकेंगे ? बतलाओ ! आपके हाथसे एकान्तपक्ष निकल गया।

वक्तुरिच्छां विधत्तेऽसौ बहिरर्थं न जातुचेत्।
शद्धोऽन्यापोहकृत्सर्वः यस्य वांध्यविजृम्भितम् ॥ ४४ ॥

जिस बौद्धके यहां वह शद्ध वक्ताकी इच्छाका विधान कर रहा है और कभी भी बहिर्भूत अर्थका विधान नहीं करता है, उसके यहां सभी शद्ध अन्यापोहका कथन कर रहे हैं, यह कहना बन्ध्यापुत्रकीसी चेष्टा करना है अथवा अर्थ उपहास कराना है।

यथैव हि शद्धेन बहिरर्थस्य प्रकाशने तत्र प्रमाणान्तरा वृत्तिः सर्वात्मना तद्वदनेनार्थस्य निश्चितत्वान्निश्चिते समारोपाभावात्। तद्यवच्छेदेऽपि प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेर्वस्तुनो धर्मस्य कस्यचिन्निश्चये सर्वधर्मात्मकस्य धर्मिणो निश्चयात्सर्वग्रहापत्तेरन्यथा तदात्मकस्यैकधर्मस्यापि निश्चयानुपपत्तिस्ततो भिन्नस्य धर्मस्य निश्चये धर्मिणि प्रवृत्त्यघटनात् तेन तस्य संबन्धाभावादनुपकार्योपकारकत्वात्। तदुपकारे वा धर्मोपकारशक्त्यात्मकस्य धर्मिणो धर्मद्वारेण शद्धात् प्रतिपत्तौ सकलग्रहस्य तदवस्थत्वात्तदुपकारशक्तेरपि ततो भेदेनानवस्थानात्। प्रत्यक्षवद्वस्तुविषयस्य शद्धप्रत्ययस्य स्पष्टप्रतिभासप्रसंगाच्च न शद्धस्य तद्विषयत्वं तथैव वक्तृविवक्षायाः शब्देनाभिधाने विशेषाभावात्। न च तत्र प्रमाणान्तरा वृत्तिरेवाभ्युपगन्तुं युक्ता शद्धात्सामान्यतः प्रतिपन्नायामपि तस्यां विशेषसंश्रयात् प्रमाणान्तरवृत्तेरेव निश्चयात्। ततो वक्तुरिच्छायां बहिरर्थवच्छब्दस्य प्रवृत्त्यसम्भवेऽपि तामेव शब्दो विदधातीति कथं न वांध्यविजृम्भितं, सर्वशब्दानामन्यापोहकारित्वप्रतिज्ञानात्।

इस यथैवका अन्वय पांच या छह पंक्तिके पीछे आने वाले तथैवके साथ है। बौद्धोंकी ओरसे शद्बके द्वारा बहिरर्थका प्रकाश करनेमें इतने दोष दिये जाते हैं कि शद्बके द्वारा बहिर्भूत घट, पट, आदि अर्थोंका प्रकाश होना माना जावेगा तो शद्बके उस वाच्य विषयमें अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति न हो सकेगी। क्योंकि सर्व स्वरूपों करके घट शद्बके द्वारा ही घट अर्थका ज्ञान हो जानेसे अर्थका सर्वांश निश्चय हो चुका है, निश्चय हो चुकने पर पुनः अर्थके किसी अंशमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप समारोप होता नहीं है, जिसको कि दूर करनेके लिये दूसरा प्रमाण उठाया जावे। किसी अंशमें उन समारोपका व्यवच्छेद (दूर होना) मान भी लिया जावे तो भी अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना नहीं बनता है। क्योंकि वस्तुके किसी भी एक धर्मका निश्चय हो जाने पर सम्पूर्ण धर्मोंसे तदात्मक हुए धर्मीका भी निश्चय हो जाता है। अतः सम्पूर्ण धर्मोंके ग्रहणका प्रसंग हो जावेगा, कारण कि एक एक धर्मके साथ सभी धर्मोंका तथा धर्मीका अभेद हो रहा है। अन्यथा यानी यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारोंसे मानोगे तो उस धर्मीसे अभिन्न एक धर्मका भी निश्चय हो जाना नहीं बन सकेगा, तादात्म्य सम्बन्धमें यही होता है कि या तो एकके प्रत्यक्ष हो जानेसे सभी तदात्मकोंका प्रत्यक्ष हो जावेगा अथवा जिनका निश्चय नहीं हुआ है उनसे अभिन्न माने गये प्रकृतका भी निश्चय न हो सकेगा। यदि उस धर्मीसे धर्मको भिन्न माना जावे तो धर्मका निश्चय हो जानेपर भी धर्मीका अथवा उसमें रहनेवाले अन्य धर्मोंका निश्चय कर लेना अनिवार्य नहीं रहा। किन्तु लड्डूको जानकर उससे भिन्न थाली या पत्तलके खानेमें जैसे किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती है, तैसे ही भिन्नधर्मका निश्चय हो जानेपर धर्मीमें प्रवृत्ति होना नहीं घटेगा। क्योंकि उस धर्मीके साथ उस धर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। सब ही सम्बन्धोंका व्यापक सम्बन्ध उपकार्य उपकारकभाव है। जन्यजनकभाव, गुरुशिष्यभाव, कार्यकारणभाव, आधार्यआधेयभाव, पतिपत्नीभाव, सहचरभाव आदि सम्बन्धोंमें प्रतियोगीकी ओरसे अनुयोगीमें उपकार आता है, अथवा दोनोंसे परस्पर दोनोंमें उपकार आते हैं, शिष्यको गुरु पढाता है, सदाचार सिखाता है और शिष्य गुरुकी वैयावृत्त्य करता है, अनुकूल प्रवर्तता है, एक उपकारक है, दूसरा उपकृत है। भेद होनेपर भी व्यवहारमें सहचर सम्बन्ध होनेसे नारदके कहनेसे भिन्न भी पर्वतका ग्रहण हो जाता है। रससे रूपका ज्ञान कर लिया जाता है। किन्तु प्रकृतमें उपकार्य उपकारकभाव न होनेके कारण धर्मका धर्मीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी दशामें धर्मके जान लेनेपर भी भला धर्मीमें प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? यदि उन धर्म धर्मीमें मिथः उपकार माना जावेगा तो हम बौद्ध पूंछेंगे कि धर्मीकी ओरसे धर्ममें उपकार पहुंचाया गया या धर्मकी ओरसे धर्मीमें उपकार पहुंचा है? बताओ। धर्मके लिये दी गयी उपकार स्वरूप शक्तिसे तदात्मक हो रहे अभिन्न धर्मीकी धर्मके द्वारा शद्बसे प्रतीति मानोगे; तब तो सम्पूर्णरूपसे धर्मीका ग्रहण हो जानारूप दोष वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा। अभेद पक्षमें धर्मीके लिये दी गयीं शक्तिओंसे अभिन्न धर्मका ज्ञान हो जानेसे भी यही दोष

होगा । यदि धर्मकी ओरसे आई हुई उस उपकार शक्तिको भी उस धर्मीसे या धर्मीकी ओरसे आई शक्तिको उस धर्मसे भिन्न मानोगे तो यहां भी सम्बन्ध व्यवस्थाके लिये उपकार्य उपकारकभाव मानना पडेगा, फिर भी उपकारककी ओरसे उपकृतमें उपकार पहुंचेगा, वह भी भिन्न पडा रहेगा। सह्य, विन्ध्यके समान सर्वथा भिन्नोंमें सम्बन्धके बिना षष्ठी विभक्ति नहीं उतरती है। अतः पुनः उन भिन्नोंको जोडनेके लिये घटकावयवोंकी आकांक्षा बढती ही जावेगी। इस प्रकार भेद माननेपर दोनों पक्षोंमें अनवस्था दोष होगा। अभेद पक्षमें हम दोष दे ही चुके हैं। दूसरी बात यह है कि वस्तुभूत अर्थको जाननेवाले सभी ज्ञानोंका प्रतिभास स्पष्ट होता है। हम बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञानको ही वस्तुस्पर्शी मानते हैं, वह स्पष्टप्रतिभासी प्रत्यक्ष है। यदि शब्दजन्य ज्ञानका विषय प्रत्यक्षके समान वस्तुभूत माना जावेगा तो शाब्दज्ञानको स्पष्ट प्रतिभास करनेका प्रसंग हो जावेगा। अतः शब्दका विषय वह बहिर्भूत अर्थ नहीं है। यहांतक बौद्धोंने शब्दका वाच्यअर्थ बहिर्भूत घट, पट आदिको न मानकर शब्दके द्वारा विवक्षाका विधान करना माना है। इसपर आचार्य कहते हैं कि जैसे ही शब्दके द्वारा बहिर्भूत वाच्यअर्थको प्रकाश करनेमें आप उक्त दोष उठाते हैं तैसे ही शब्दके द्वारा वक्ताके बोलनेकी इच्छाको कहनेमें भी वे ही दोष आते हैं, कोई अन्तर नहीं है। बौद्धोंने कहा था कि शब्दके उस वाच्यअर्थमें दूसरे प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं ही हो सकेगी सो यह स्वीकार करना उनको युक्त नहीं है। क्योंकि शब्दके द्वारा सामान्यरूपसे प्रतिपत्ति हो जानेपर भी वहां विशेष अर्थोंके जाननेका आश्रय लेनेसे अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होनेपर ही उनके द्वारा विशेष, विशेषांशोंका निश्चय हो पाता है अथवा वक्ताकी इच्छामें या उसके विषयमें अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका नहीं होना ही बौद्धोंको नहीं स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि सामान्यरूपसे शब्दके द्वारा इच्छा जान भी ली गयी तो भी विशेष अंशोंको जाननेके लिये अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना घटित हो जाता है। तिस कारण बौद्धोंके मन्तव्यानुसार शब्दके द्वारा बहिर्भूत अर्थके समान वक्ताकी इच्छामें भी प्रवृत्ति होना असंभव है। फिर भी शब्द उस विवक्षाका ही विधान करता है और बहिर्भूत अर्थका विधान नहीं करता है, यह कहते जाना क्यों नहीं निष्फल चेष्टा करना माना जावे ? पहिले संपूर्ण शब्दोंको अन्यापोह करनेवालेपनकी प्रतिज्ञा हो जानेसे फिर उसके विपरीत विवक्षाका विधान करनेको कहना निष्फल बकवाद है। अन्योंकी व्यावृत्तिरूप अभावको करनेवाले शब्द भला विवक्षाके विधान करनेवाले कैसे हो सकते हैं ? विचारो तो सही। निषेध और विधान तो विरुद्ध हैं।

ननु च विवक्षायाः स्वरूपे संवेद्यमाने शब्दो न प्रवर्तत एव कल्पितेऽन्यापोहे तस्य प्रवृत्तेस्ततोऽन्यापोहकारी सर्वः शब्द इति वचनान्न वान्ध्यविलसितमिति चेत्, स तर्हि कल्पितोऽन्यापोहः विवक्षातो भिन्नस्वभावो वक्तुः स्वसंवेद्यो न स्याद्भावान्तरवत् तस्य तत्स्वभावत्वे वा संवेद्यत्वसिद्धेः कथं न संवेद्यमाने तत्स्वरूपे शब्दः प्रवर्तते।

यहां बौद्ध शंकाकारकी पदवीपर आरूढ होकर अपने ऊपर आये हुए दोषोंका प्रतीकार करते हुये अपने मतका अवधारण करते हैं कि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाने जा रहे विवक्षाके स्वरूपमें शब्द नहीं प्रवर्तता है। यों तो शब्द वस्तुस्पर्शी हो जावेगा, किन्तु कल्पना किये गये अन्यापोहमें उस शब्दकी प्रवृत्ति है, तिस कारण सभी शब्द अन्यापोहको करनेवाले हैं ऐसा हम बौद्धोंने कहा है, अतः हमारा कहना निष्फल बकवाद नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछेंगे कि तब तो आपका कल्पना किया गया अन्यापोह विवक्षासे भिन्न स्वभाववाला होता हुआ अन्य घट, पट आदि दूसरे भावोंके समान वह वक्ताके स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय न होगा। क्योंकि जो इच्छास्वरूप ज्ञान, सुख, आदि पदार्थ हैं उनका ही स्वसंवेदन होता है। इच्छासे सर्वथा भिन्न घट, व्यजन, आदि बहिरंग विषय तो स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय नहीं हैं। यदि उस अन्यापोहको उस विवक्षाका स्वभाव मानोगे तो अन्यापोह स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय सिद्ध हो जावेगा, तब तो इस कारण संवेदन किये गये विवक्षास्वरूप अन्यापोहमें शब्द भला क्यों नहीं प्रवर्तेगा ? फिर अभी आपने निषेध कैसे कहा ?।

ननु च वक्तुर्विवक्षायाः स्वसंविदितं रूपं स्वसंवेदमात्रोपादानं सकलप्रत्यये भावात् कल्पनाकारस्तु पूर्वशब्दवासनोपादानस्तत्र वर्तमानः शब्दः कथं स्वसंवेद्ये रूपे वास्तवे प्रवर्तते नाम यतो वस्तुविषयः स्यादिति चेत्, नैवम्। स्वसंविदितरूपकल्पनाकारयोर्भिन्नोपादानत्वेन सन्तानभेदप्रसंगात्। तथा च सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति व्याहन्यते स्वसंवेदनाद्भिन्नस्य विकल्पस्य स्वसंविदितत्वविरोधात् रूपादिवत्।

फिर भी बौद्ध कहते हैं कि वक्ताकी विवक्षाका स्वसंवेदनसे जान लिया गया स्वरूप केवल इतना ही है कि वह शुद्ध संवेदनको उपादान कारण मानकर उत्पन्न हुआ है। शुद्ध ज्ञानको ही जान लेना स्वसंवेदन अंश है, जो कि सभी ज्ञानों में विद्यमान है, कहीं व्यभिचार नहीं है। किन्तु अन्य कल्पनाके आकाररूप विकल्प तो पहिली मिथ्या शब्दवासनाओंको उपादानकारण मानकर उत्पन्न हो गया है। जैसे कि पहिले घटज्ञानसे उत्तरकालमें पटज्ञान हुआ। यहां पहिला ज्ञान ही उत्तर ज्ञानका उपादान कारण है। घटपना और पटपना ये उपादान और उपादेयके अंश नहीं हैं, कल्पित हैं। अथवा जैसे रुपयासे रुपया बढ़ता है। यहां रुपयोंके सन् सम्वत्, छाप, कटी हुई बेल आदि कारण नहीं हैं, वे तो रुपयोंमें कल्पना किये गये अंश हैं। अतः उन कल्पित आकारोंमें प्रवर्त रहा शब्द भला वास्तविक स्वसंवेद्यस्वरूपमें प्रवर्तनेवाला कैसे कहा जावेगा ? जिससे कि वस्तुभूत अर्थोंको विषय करनेवाला हो जावे। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ऐसे तो यदि स्वसंविदित अंशका उपादान शुद्ध संवेदनको माना जावेगा और कल्पित आकारोंकी उपादान कारण पहिली शब्द वासनाओंको माना जावेगा तो इस प्रकार भिन्न भिन्न उपादान हो जानेसे विवक्षामें भिन्न भिन्न सन्तान होनेका प्रसंग होगा। अर्थात् एक ही विवक्षाका आधा अंश स्वसंविदित होगा और आधा अंश संविदित नहीं होगा और तैसा होनेपर

तो आप बौद्धोंके इस सिद्धान्तका व्याघात हो जाता है कि सम्पूर्ण आत्माके ज्ञानोंका अपनेको जानता हुआ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। स्वसंवेदनसे सर्वथा भिन्न पडे हुए विकल्पका स्वसंवेदनसे जानलियागयापन विरुद्ध है। जैसे कि रूप, रस, आदिकका स्वसंवेदनसे भिन्न होनेके कारण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं होने पाता।

स्वसंवेदनस्यैवोपादानत्वात् कल्पनोत्पत्तौ शद्बवासनायाः सहकारित्वाच्च स्वसंविदितस्वरूपात् कल्पनाकारो भिन्नसन्तान इति चेत्, कथमिदानीं ततोसावनन्य एव न स्यादभिन्नोपानत्वात्। तथापि तस्य ततोऽन्यत्वे कथमुपादानभेदो भेदकः कार्याणाम्? व्यतिरेकासिद्धेः कार्यभेदस्योपादानभेदमन्तरेणापि भावात् तस्य तत्साधनतानुपपत्तेः।

यदि फिर भी बौद्ध यों कहें कि कल्पनाकी उत्पत्तिमें स्वसंवेदन ज्ञान ही उपादान कारण है और शद्बवासनायें तो कल्पनाकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण हैं, इस कारण कल्पनाके आकारवाला ज्ञान स्वसंवेदन हुए प्रत्यक्षसे भिन्न सन्तानवाला नहीं है अर्थात् कल्पनाका उपादान कारण वासनायें नहीं है। किन्तु स्वसंवेदनसे जाना गया ज्ञान ही है। निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञानकी धारायें न्यारी न्यारी नहीं है। दोनों ज्ञान एकधारामें ही बहरहे हैं। बौद्धोंके इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन पूंछेंगे कि अब बतलाओ! वह विकल्परूप शाद्बबोध उस स्वसंवेदनसे अभिन्न ही क्यों न मान लिया जावे। जब कि दोनों ज्ञानोंके उपादान कारण भिन्न भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। यदि तो भी उस विवक्षारूप विकल्प ज्ञानको उस स्वसंविदित ज्ञानसे भिन्न मानोगे यानी उपादानके अभेद होनेपर भी कार्योंका भेद मानोगे तो उपादान कारणोंका भेद कार्योंके भेदका साधक भला कैसे हो सकेगा? क्योंकि यहां व्यतिरेक नहीं बनता है। जहां जहां उपादान भेद है वहां वहां कार्यभेद है। जैसे कि घट, पट, पुस्तक आदि, यह अन्वय है और जहां जहां उपादान कारणका भेद नहीं है, वहां कार्यभेद भी नहीं है, यह व्यतिरेक है। यहां अन्वय तो बन जाता है, किन्तु प्रकृतमें व्यतिरेक बिगड जाता है। उपादानके भेद विना भी कार्यका भेद हो जाना आपने मान लिया है। अतः उस उपादान भेदको उस कार्यभेदकी साधकता नहीं बन पाती है।

स्वसंविदिताकारस्य कल्पिताकारस्य चैकस्य विकल्पज्ञानस्य तथाविधानेकाकारविकल्पोपादानत्वाददोषोऽस्यामिति चेत्, नैकस्यानेकाकारस्य वस्तुनः सिध्यनुषंगात्।

पुनः बौद्ध कहते हैं कि एक विकल्पज्ञानके स्वसंविदित आकार और कल्पित आकारोंका उपादान कारण तो तिस प्रकारके अनेक आकारोंका धारण करनेवाला विकल्प ज्ञान है। भावार्थ—सविकल्पक ज्ञानका उपादान कारण निर्विकल्पक ज्ञान नहीं है, किन्तु स्वसंवेदन और कल्पित पदार्थोंका विकल्प करनेवाला अनेक आकारधारी ज्ञान है, अतः यह उक्त दोष हमारे ऊपर नहीं आ सकता है। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो न कहना। क्योंकि यों तो अनेक आकारवाले एक वस्तुकी सिद्धिका प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार आर्हतोंने एक वस्तुमें

अविरुद्ध अनेक आकार स्वीकार कर लिये हैं, किन्तु आप एकान्तवादी बौद्ध एक ज्ञानमें अनेक आकार मानेंगे तो आपको अपसिद्धान्त दोष लागू होगा और जैनमतकी पुष्टि हो जावेगी।

संविदि कल्पिताकारस्य भ्रान्तत्वान्नैकमनेकाकारं विकल्पवेदनमिति चेत् न, भ्रान्तेतराकारस्य तदवस्थत्वात्।

सौगत बोलते हैं कि ज्ञानमें कल्पना किये गये अनेक आकार तो भ्रान्त हैं, अतः एक विकल्पज्ञान वास्तविक अनेक आकारवाला नहीं हुआ। हमारा एकान्त प्रतिष्ठित हो गया और जैनमतकी पुष्टि भी नहीं हो सकी, तुच्छ पदार्थ या अभाव पदार्थ अथवा कल्पित पदार्थोंसे वस्तुमें बोझ नहीं बढता है। आचार्य समझाते हैं कि बौद्धोंको इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि फिर भी भ्रान्त आकार और अभ्रांत आकार ये दो आकार एक विकल्पज्ञानमें वैसेके वैसे अवस्थित मान लिये गये। अर्थात् एक विकल्पज्ञानमें अनेक कल्पित आकारोंकी अपेक्षासे भ्रान्तपना है और उपादान कारण माने गये ज्ञानके अनुसार स्वका संवेदन करना अभ्रान्त अंश है। यों तो फिर भी एक ज्ञानमें दो आकार रहे ही। वही अपसिद्धान्त दोष और जैन-सिद्धान्तकी पुष्टि लागू रही। अथवा ज्ञानमें अभ्रान्त आकार तो है ही और भ्रान्त आकार भी आपने मान लिये हैं। अतः अनेकान्त ही पुष्ट हुआ।

भ्रान्ताकारस्यासत्त्वे तदेकं सदसदात्मकमिति कुतो न सत्त्वसिद्धिः। यदि पुनरसदाकारस्याकिंचिद्रूपत्वादेकरूपमेव विकल्पवेदनमिति मतिः, तदा तत्र शब्दः प्रवर्तत इति न क्वचित् प्रवर्तत इत्युक्तं स्यात्। तथोपगमे च विवक्षाजन्मानो हि शब्दास्तामेव गमयेयुरिति रिक्ता वाचोयुक्तिः।

यदि विकल्पज्ञानमें जाने जारहे भ्रान्त आकारको असत् कहोगे तो भी वह एक ज्ञान सत् और असत् दो धर्मोंसे तदात्मक सिद्ध हुआ। अर्थात् भ्रान्त आकार असत् है और शुद्ध ज्ञान आकार सत् है। फिर भी वही अपसिद्धान्त दोष और अनेकान्तकी पुष्टि बनी रही। इस प्रकार जैनोंके माने गये अनेक धर्मात्मक सत्पनेकी सिद्धि क्यों न होगी? यानी अवश्य होगी। यदि फिर आप बौद्धोंका यह मन्तव्य होवे कि विकल्पज्ञानमें यों ही कोरे दीख रहे असत् आकार किसी भी स्वरूप नहीं हैं,अवस्तु हैं शून्य हैं। अतः वह विकल्पज्ञान एक स्वरूप ही है, अनेकरूप वाला नहीं। तब तो हम जैन यों कहेंगे कि आपके उन कल्पित आकारोंमें शब्द प्रवृत्ति करता है, इससे यही कहा गया कि शब्द कहीं भी नहीं प्रवृत्ति करता है यानी आपने शब्दकी प्रवृत्तिके विषय असत् पदार्थ मान लिये हैं और यदि तिस प्रकार शब्दके द्वारा कहीं भी प्रवृत्ति न होना तुम स्वीकार कर लोगे तो विवक्षाओंसे उत्पन्न होरहे सम्पूर्ण शब्द उन विवक्षाओंको ही समझावेंगे यह तुम्हारे वचनोंकी योजना रीती (खाली) पडेगी। अर्थात् शब्दोंके द्वारा विवक्षाके कहे जानेमें आपके पास कोई युक्ति नहीं है, कोरी बकवाद करना है।

गमयेयुरिति संभावनायां लिङ्प्रयोगात्तामपि माजीगमन गीर्बहिरर्थवत् सर्वथा निर्विषयत्वेन तेषां व्यवस्थापनादित्यप्यात्मघातिनो वचनं स्वयं साधनदूषणवचनानर्थक्यप्रसक्तेः।

गमयेयुः यह प्रयोग ण्यन्त गम्लृ धातुसे लिङ् लकारके प्रथम पुरुष सम्बन्धी बहुवचनका रूप है। होय और न भी होय ऐसे संभावना अर्थमें लिङ् लकारका प्रयोग किया गया है। अतः शब्द भले ही उस इच्छाको भी न समझावें हम बौद्धोंकी इसमें कोई क्षति नहीं है। सभी शब्द अपने वाच्य बहिरंग अर्थोंसे युक्त नहीं हैं। इन्द्र, सुमेरु, बन्ध्यापुत्र आदि शब्दोंके वाच्य पदार्थ जैसे यहां कोई नहीं है, अन्यत्र होंगे, इसमें भी कोई निर्णय नहीं। वैसे ही उन शब्दोंको इसी प्रकार विषयोंसे रहितपनेकी व्यवस्था कर दी गयी है। इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी अपने आप अपनेको घात करनेवालेका वचन है, क्योंकि यदि शब्द कुछ भी बहिरंग अर्थोंको नहीं कहेंगे तो बौद्धोंसे बोले गये अपने सिद्धान्तको साधन करनेवाले और अन्य सिद्धान्तोंको दूषण देनेवाले वचनोंके व्यर्थ हो जानेका प्रसंग होगा। यह तो एक प्रकारका आत्मघात है। सार्थक शब्दोंके विना बौद्ध भला स्वयं अपनी भी सिद्धि कैसे कर सकेंगे ?

संवृत्त्या तद्वचनमर्थवदिति चेत् केनार्थेनेति वक्तव्यम् ? तदन्यापोहमात्रेणेति चेत्, विचारोपपन्नेनेतरेण वा ? न तावत् प्रथमपक्षस्तस्य विचार्यमाणस्याकिञ्चिद्रूपत्वसमर्थनात्। विचारानुपपन्नेन त्वन्यापोहेन सांवृतेन वचनस्यार्थवत्त्वे बहिरर्थेन तथाभूतेन तस्यार्थवत्त्वं किमनिष्टं तथा व्यवहर्तुर्वचनाद्बहिः प्रवृत्तेरपि घटनात्।

यदि आप बौद्ध वस्तुतः नहीं किन्तु व्यवहार सत्यपनेसे उन वचनोंको अर्थयुक्त कहोगे यों बोलनेपर तो हम पूंछते हैं कि किस अर्थसे शब्दोंको अर्थयुक्त कह रहे हो ? यह तुमको कहना चाहिये। यदि उस केवल अन्यापोहरूप अर्थ करके शब्दोंको अर्थवान् कहते हो तो हम फिर पूंछेंगे कि विचारोंसे युक्त हो रहे अन्यापोह करके या विचारोंसे रहित अन्यापोह करके शब्दको अर्थवान् कहते हो ? बताओ। तिनमें पहिला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि उस अन्यापोहका यदि विचार किया जावेगा तो वह तुच्छ पदार्थ किसी भी स्वरूप न पडेगा। इसका हम समर्थन कर चुके हैं। अर्थात् विचारपर आरूढ अन्यापोह कुछ पदार्थ नहीं ठहरता है। ऐसी दशामें शब्द अन्यापोहको कहते हैं, यानी कुछ भी नहीं कहते हैं। यह तात्पर्य निकला दूसरे पक्षके अनुसार विचारोंसे नहीं परीक्षित किये गये कल्पित, व्यवहार्य, अन्यापोह करके तो वचनको अर्थवान् माना जावेगा, तब तो तिसी प्रकारके होते हुए बहिरंग घट, पट आदि पदार्थों करके उस शब्दको अर्थवान्पना क्या अनिष्ट है ? अर्थात् बहिरंग अर्थोंसे सहित होकर भी शब्द अर्थवान् हो सकता है, तथा व्यवहारी पुरुषकी वचनद्वारा बहिरंग अर्थोंमें प्रवृत्ति होना भी यों घटित हो जाता है। अतः अभावरूप अन्यापोह या विवक्षाके पक्षको छोडकर शब्दके वाच्य अर्थ बहिरंग घट, पट, आदि और अन्तरंग आत्मा, सुख, ज्ञान, आदि पदार्थ मानने चाहिये।

अन्यापोहे प्रतीते च कथमर्थे प्रवर्तनम् ।
शद्वात्सिध्येज्जनस्यास्य सर्वथातिप्रसंगतः ॥ ४५ ॥

एक बात यह भी है कि बौद्धोंके मतानुसार शद्बके द्वारा अन्यापोह प्रतीत कर लेनेपर इस व्यवहारी प्राणीकी शद्बसे अर्थमें प्रवृत्ति होना भला कैसे सिद्ध होगा ? सभी प्रकारोंसे अतिप्रसंग दोष होगा । वक्ता और गूंगेमें. कोई भेद न रह सकेगा । शिष्यको गुरु न पढा सकेगा । लेने देनेका व्यवहार नष्ट हो जावेगा । लिखापढीका व्यवहार टूट जावेगा । कुछ भी कहने पर अंटसंट समझने वाला पुरुष मिथ्याज्ञानी न कहा जाना चाहिये । ये सब अतिप्रसंग हो जावेंगे ।

न ह्यन्यत्र शद्वेन चोदितेऽन्यत्र तन्मूला प्रवृत्तिर्युक्ता गोदोहचोदने बलीवर्दवाहनादौ तत्प्रसंगात् ।

शद्बके द्वारा अन्य दूसरे ही पदार्थमें प्रेरणा करायी जावे और उस शद्बको मूल मानकर होने वाली प्रवृत्ति किसी अन्य तीसरे पदार्थमें हो जावे, यह तो कैसे भी युक्त नहीं है । अन्यथा गौको दोहो ! ऐसी वक्ता प्रभु द्वारा प्रेरणा करने पर बैलके लादनेमें या घोडेके घुमाने, भोजन करने आदिमें भी श्रोताकी उस प्रवृत्तिके होनेका प्रसंग हो जावेगा । अर्थात् शद्बका वाच्य तो अन्यापोह माना जावे और शद्बके द्वारा प्रवृत्ति बहिरंग अर्थमें हो जावे यह सर्वथा झूंठ है । यहां तो वही किंवदन्ती प्रसिद्ध होती है कि " कहे खेतकी सुने खलियानकी ", प्रष्टाम्रः कोविदारं ब्रूते अर्थात् आमका प्रश्न और अमरूदका उत्तर ।

एकत्वारोपमात्रेण यदि दृश्यविकल्पयोः ।
प्रवृत्तिः कस्यचिद्दृश्ये विकल्प्येप्यस्त्वभेदतः ॥ ४६ ॥
नैकत्वाध्यवसायोपि दृश्यं स्पृशति जातुचित् ।
विकल्पस्यान्यथा सिद्ध्येद् दृश्यस्पर्शित्वमंजसा ॥ ४७ ॥
विकल्प्यदृश्यसामान्यैकत्वेनाध्यवसीयते ।
यदि दृश्यविशेषे स्यात् कथं वृत्तिस्तदर्थिनाम् ॥ ४८ ॥
तस्य चेद् दृश्यसामान्यैकत्वारोपात्क वर्तनम् ।
सौगतस्य भवेदर्थेनवस्थाप्यनुषंगतः ॥ ४९ ॥

यदि बौद्ध लोग निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषय वस्तुभूत दृश्यमें और मिथ्याज्ञानस्वरूप सविकल्पकके विषय विकल्प्यमें एकपनेका आरोप करनेसे किसी भी पुरुषकी स्वलक्षणरूप दृश्यमें प्रवृत्ति

होना मानेंगे, तब तो एकत्वरूप अभेद होनेके कारण विकल्पज्ञानके विषय विकल्प्यमें भी प्रवृत्ति हो जाओ। दूसरी बात यह भी है कि दृश्य और विकल्प्य दोनों विषयोंका एकपनेके निर्णय करनेवाला ज्ञान भी कभी वस्तुभूत दृश्यको नहीं छूता है। अन्यथा शीघ्र ही विकल्प ज्ञानके भी दृश्यविषयको स्पर्श करनेवालापन सिद्ध हो जावेगा, अर्थात् जो ज्ञान दोनोंको विषय करेगा, वही तो दोनोंके एकपनेका आरोप कर सकता है। अग्नि और चंचलबालकको एक ज्ञानसे जाननेवाला जीव ही दोनोंके एकत्वका आरोप कर सकता है। अन्य नहीं। यहां प्रकरणमें एकत्वको निर्णय करनेवाला ज्ञान सविकल्पक माना गया है, सविकल्पक तो दृश्यको नहीं जानता है और निर्विकल्पक ज्ञान दृश्यको जानता है, किन्तु विकल्प्यको नहीं जानता है। अतः एकत्वका आरोप करना विषम समस्या है। विकल्पकज्ञान स्वलक्षणोंको विषय करे, तभी समस्या सिद्ध हो सकती है। यदि आप बौद्ध यों कहें कि विकल्प्य और दृश्य विषयोंमें विकल्पज्ञानके द्वारा सामान्यसे एकपने करके निर्णय कर लिया जाता है, तब तो हम पूछेंगे कि विशेषके अभिलाषी पुरुषोंकी विशेष दृश्य व्यक्तिमें प्रवृत्ति भला कैसे होगी ? बतलाओ ! एकपनेके आरोपसे दृश्य स्वलक्षणका अभी सामान्यरूपसे ज्ञान हुआ है, किन्तु प्रवृत्ति तो विशेष अर्थमें होती है। विशेष रहित कोरे सामान्य अन्न या जलसे क्षुधा, प्यास नहीं मिटती हैं। यदि फिर आप यों कहें कि उस दृश्य सामान्यका दृश्य विशेषके साथ एकत्वारोप हो जानेसे व्यक्तिस्वरूप (खास) दृश्यमें भी प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा होनेपर तो बौद्धकी भला किस अर्थमें प्रवृत्ति हो सकेगी ? यानी कहीं भी प्रवृत्ति न होगी। अर्थात् बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञानको ही प्रमाण मानते हैं। उनके यहां वस्तुभूत क्षणिकत्वमें हुए समारोपको दूर करनेके लिये विकल्पक ज्ञानरूप अनुमान भी प्रमाण मान लिया गया है। शेष सभी ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं, वे सामान्यरूपसे पदार्थको जानते हैं, किन्तु सामान्य तो वस्तुभूत नहीं माना गया है। धूमसे जैसे वह्निका ज्ञान सामान्यपनेसे होता है वैसे ही एकत्वारोप कर दृश्यसामान्यसे दृश्यविशेषका जो ज्ञान होगा वह भी सामान्यपनेसे ही होगा। यदि फिर भी सामान्य और विशेषका एकत्वारोप करके विशेषका ज्ञान करोगे तो वह भी सामान्यपनेसे ही जानेगा। अविनाभाव या आरोपके बलसे जो ज्ञान होवेंगे वे सामान्यरूपसे ही विषयोंको जान पावेंगे। क्योंकि विशेषांशोंके साथ व्याप्तिग्रहण या आरोप नहीं हुआ करता है, किन्तु लादना, दोहना आदि प्रवृत्तियां तो विशेष व्यक्तियोंमें होती हैं। यदि सामान्यसे विशेषोंको जाननेके लिये पुनः प्रयास किया जावेगा तो भी सामान्यमुद्रासे ही दृश्यको जान सकोगे। विशेषरूपसे नहीं। इस प्रकार बौद्धोंके ऊपर अनवस्था दोषका भी प्रसंग आया और फल कुछ नहीं निकला। अतः शब्दका वाच्य अर्थ अन्यापोह नहीं है और न कल्पना किया गया विकल्प्य ही है।

नान्यस्माद्व्यावृत्तिरन्यार्थस्य न च व्यावृत्तोऽन्य एवेत्युच्यते घटस्याघटव्यावृत्तेः निवर्तमानस्याघटत्वप्रसंगात्। तथा च न तस्या घटव्यावृत्तिर्नाम तस्यादैवान्या व्यावृत्तिः स एव व्यावृत्तः शब्दप्रतिपत्तिभेदस्तु संकेतभेदादेव व्यावृत्तिर्व्यावृत्त इति। धर्मधर्मि-

प्राधान्येन संकेतविशेषे प्रवृत्तेस्तद्वाच्यभेदस्तु न वास्तवोतिप्रसंगात् । तदुक्तं—" अपि चान्योन्यव्यावृत्तिवृत्त्योर्व्यावृत्त इत्यपि । शब्दाश्च निश्चयाश्चैवं संकेतं न निरुन्धते " इति दृश्यविकल्प्ययोर्व्यावृत्त्योरेकत्वारोपाद्व्यावृत्तिचोदनेऽपि शब्देन विकल्पेन वा व्यावृत्तेः प्रवृत्तिरर्थे स्यादिति कश्चित् ।

यहां बौद्धका एक देशीय वादी यों कहता है कि अन्य अर्थ का पृथग्भूत होना अन्य अर्थोंसे नहीं होता है और जो पृथग्भूत हुआ है वह अन्य ही है, यह भी नहीं कहना चाहिये । अर्थात् अन्य व्यावृत्तियोंसे वास्तविक पदार्थ (स्वलक्षण) व्यावृत्त नहीं होते हैं । व्यावृत्ति तुच्छ वस्तु है और व्यावृत्तियोंसे सहित पदार्थ भी तुच्छ है । घट आदिकी व्यावृत्तियोंसे घटरूपी स्वलक्षण जैसे पृथग्भूत है तैसे ही सजातीय घट या विजातीय पट आदिकी व्यावृत्तियोंसे भी घट पृथक् है । अन्यथा अघट (पट आदि) व्यावृत्तिसे निवृत्त हो रहे घटको पटके समान अघटपनेका प्रसंग होगा और तैसा होनेपर उस घटकी अघट व्यावृत्ति कैसे भी नहीं हुयी । तिस कारण जो ही भिन्न पड़ी हुयी व्यावृत्ति है वही पदार्थ व्यावृत्त कहा जाता है । अघट व्यावृत्ति, अपट व्यावृत्ति, अपुस्तक व्यावृत्ति इत्यादिक भिन्न भिन्न शब्दोंका होना और भिन्न भिन्न ज्ञानोंका होना तो संकेतग्रहणके भेदसे ही बन जाता है । भावमें क्ति प्रत्यय करके व्यावृत्ति धर्मरूप पदार्थ हो जाता है । और कर्ममें क्त प्रत्यय करनेसे व्यावृत्त धर्मीरूप पदार्थ है । हम धर्म और धर्मीको वास्तविक नहीं मानते हैं । कल्पना किये गये धर्म धर्मीकी प्रधानतासे विशिष्ट प्रकारके इच्छारूप संकेतोंमें या विशेष संकेतोंको निमित्त मानकर प्रवृत्ति हो जाती है । भिन्न भिन्न शब्दोंका भिन्न भिन्न वाच्य मानना तो वास्तविक नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष होगा । भिन्न भिन्न भाषाओंके अनेक शब्द न्यारे न्यारे हैं और अर्थ एक ही है । क्वचित् शब्द एकसे हैं और अर्थ न्यारे न्यारे हैं । सो ही हमारे बौद्ध ग्रन्थोंमें कहा है कि और भी परस्परमें होनेवाली एक दूसरेकी व्यावृत्ति और वृत्तियां भी ऐसे ही व्यावृत्त हैं । भाव और भाववान् ये सब कल्पना शिल्पीके गढे हुए निस्तत्त्व अंश हैं । व्यवहारमें चालू हो रहे शब्द और उन शब्दोंके अनुसार हुए निश्चय संकेतप्रणालीको रोकते नहीं हैं। भावार्थ—संकेतप्रणालीके अनुसार अनेक शब्द व्यवहारी जीवोंने मनगढंत प्रचलित कर दिये हैं और उन शब्दोंसे जन्य ज्ञान भी वैसे ही हैं । इस प्रकार शब्दरूप दृश्य और विकल्प्योंकी व्यावृत्तियोंमें एकपनेके आरोपसे व्यावृत्तिकी प्रेरणा करनेपर भी शब्द और विकल्पज्ञान करके व्यावृत्ति हो जानेसे किसीकी वास्तविक स्वलक्षण अर्थमें प्रवृत्ति हो जावेगी । भावार्थ—व्यावृत्ति और व्यावृत्तिके अनुसार अटकलपच्चू दृश्य अर्थमें प्रवृत्ति हो जाती है, इस प्रकार कोई कह रहा है ।

तस्य विकल्प्येऽपि कदाचित्प्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात् । न हि दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायाविशेषेऽपि दृश्य एव प्रवृत्तिर्न तु विकल्प्ये जातुचिदिति बुध्यामहे ।

अब आचार्य समझाते हैं कि उस बौद्धकी दृश्यके समान कभी कभी विकल्प्यमें भी प्रवृत्ति हो जाओ। दृश्य और विकल्प्यमें कोई अन्तर नहीं है। दृश्य विषय और विकल्प्य विषयमें एकत्वका अध्यवसाय अन्तररहित होते हुए भी दृश्यमें ही प्रवृत्ति होवे, किन्तु विकल्प्यमें तो कभी प्रवृत्ति न होवे, ऐसा नियम करनेमें हम कोई कारण ही समझते हैं, अर्थात् दृश्यका शद्धके द्वारा उच्चारण कर देनेपर वह विकल्प्य हो जाता है। दर्शनके विषय हो जानेसे दृश्य कहा जाता है और विकल्पके विषय हो जानेसे विकल्प्य कहा जाता है अर्थ वही एक है। फिर नहीं समझमें आता कि बौद्ध दृश्यमें ही प्रवृत्ति होना क्यों मानते हैं?

दृश्येऽर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिस्तस्यार्थक्रियायां समर्थनात्न पुनर्विकल्प्ये तस्य तत्रासमर्थनत्वादिति चेन्नार्थक्रियाऽसमर्थेन विकल्प्येन सहैकत्वाध्यारोपमापन्नस्य दृश्यार्थक्रियासमर्थत्वैकान्ताभावात्।

बौद्ध जो ऐसा कहते हैं कि निर्विकल्पक दर्शनसे जानने योग्य स्वलक्षणरूप दृश्यमें अर्थक्रियाके इच्छुक जीवोंकी प्रवृत्ति होती है, कारण कि अर्थक्रिया करनेमें वह दृश्य ही समर्थ है, किन्तु फिर विकल्प्यमें गोदोहन, भारवहन, तृप्ति, पिपासानिवृत्ति, पाक आदि अर्थक्रियाओंके अभिलाषी जीवोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि गो, अन्न, जल, अग्निके विकल्पज्ञानोंका विषय असत् पदार्थ है वह असत् पदार्थ उन अर्थक्रियाओंको करनेमें समर्थ नहीं है। अतः विकल्प्यमें जीवोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है। सो ऐसा पक्ष कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अर्थक्रिया करनेमे असमर्थ माने गये विकल्प्यके साथ एकपनेके अध्यारोपको प्राप्त हुए दृश्यका एकान्तरूपसे अर्थक्रिया करनेमें समर्थपनेका अभाव है। अर्थात् विकल्प्य और दृश्यका एकपना आपने मान लिया है तो विकल्प्यके धर्म दृश्यमें भी आये विना न रहेंगे। जब विकल्प्य अर्थक्रियाओंको नहीं कर सकता है तो उसके साथ एकमएक हो रहा दृश्य भी अर्थक्रियाओंको न कर सकेगा। अस्पृश्य शूद्र मनुष्यके साथ यदि रोटी बेटी व्यवहार नहीं है तो उसमें मिले हुए अन्य व्यक्तियोंके साथ भी त्रैवर्णिकोंका वह व्यवहार नहीं हो सकता है।

स्वतोर्थक्रियासमर्थं दृश्यमिति चेत् तदेकत्वाध्यारोपाद्विकल्प्यमपि। स्वतो न तत्समर्थमिति चेत् तदैक्यारोपाद्दृश्यमपि। तदनयोरेकत्वेनाध्यवसितयोरविशेषात् सर्वथा क्वचित्प्रवृत्तौ कथमन्यत्रापि प्रवृत्तिर्विनिवार्यते।

बौद्ध कहते हैं कि दृश्य स्वलक्षण तो स्वयं आपसे आप ही अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है। अब आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा कहोगे तो उस दृश्यके साथ एकत्वाध्यारोप हो जानेसे विकल्प्य अर्थ भी अर्थक्रिया करनेमें समर्थ हो जाओ। फिर भी बौद्ध कहें कि विकल्प्य अर्थ तो स्वतः अपनी गांठसे उन अर्थक्रियाओंको करनेमें समर्थ नहीं है, ऐसा कहनेपर तो हम कह देवेंगे कि निकम्मे विकल्प्यके साथ एकत्वारोप हो जानेसे दृश्य स्वलक्षण भी अर्थक्रियाओंको न कर सकेगा।

तिस कारण एकपनेसे निर्णीत किये गये दृश्य और विकल्प्य इन दोनोंमें सभी प्रकारसे कोई विशेषता नहीं है। फिर भी पक्षपातवश किसी दृश्यमें ही प्रवृत्ति होना मानोगे तो दूसरे विकल्प्यमें भी प्रवृत्ति होनेका विशेषरूपसे निवारण भला कैसे कर सकते हो ? अर्थात् नहीं। तब तो विकल्प्य अर्थमें भी प्रवृत्ति अवश्य हो जावेगी। कोई रोकनेवाला नहीं है।

न चानयोरेकत्वाध्यवसायः सम्भवति दृश्यस्याध्यवसायाविषयत्वात् अन्यथा विकल्पस्य वस्तुसंस्पर्शित्वप्रसंगात्। न च परमार्थतो दृश्यमविषयीकुर्वन् विकल्पो विकल्प्येन सहैकतयाध्यवस्यति नामातिप्रसंगात्।

और एक बात यह भी है कि उन दृश्य और विकल्प्योंके एकपनेसे आरोप करनेका निर्णय होना भी तो नहीं सम्भवता है, क्योंकि निश्चय ज्ञान तो बौद्धोंके मतानुसार वस्तुभूत दृश्यको नहीं जान पाता है। अन्यथा यानी दृश्य विषयका भी निश्चय ज्ञान कर लेना मान लोगे तो विकल्पज्ञानको वस्तुके भले प्रकार स्पर्श कर लेनेवालेपनका प्रसंग होगा। जोकि बौद्धोंने इष्ट नहीं किया है और जब तक विकल्पज्ञान वास्तवरूपसे दृश्यस्वलक्षणको विषय न कर पायेगा। तब तक विकल्प्यके साथ दृश्यका एकपनेरूपसे निर्णय नहीं कर सकेगा। दोनोंको जाने विना उन दृश्य और विकल्प्य दोनोंमें एकपनेका आरोप नहीं हो सकता है। यथा सिंहः, पुरुषो यष्टिः, शूर वीर पुरुषमें सिंहपनेका या पुरुषमें तत्र स्थित होनेके कारण यष्टिपनेका आरोप हो जाता है। क्योंकि दोनों पदार्थोंको ज्ञान द्वारा जान लिया गया है। यदि दोनोंको या दोनोंमेंसे एकको जाने विना ही एकपनेका आरोप कर-लिया जावे तो आकाश और परमाणु या आकाश और घटका अथवा परमाणु और पुस्तकका भी एकपनेसे आरोप हो जाना चाहिये यह अतिप्रसंग दोष होगा। लोकमें लठियावाले लठिया कह देते हैं।

ननु च दृश्यं विकल्पस्यालम्बनं मा भूदध्यवसेयं तु भवतीति युक्तं तद्विकल्प्येन सहैकतयाध्यवसायस्तस्येति चेत्, तर्हि न विशेषरूपं तेनैक्येनाध्यवसीयते सामान्याकारस्यैवाध्यवसेयत्वात्।

यहां बौद्ध अपने सिद्धान्तके पुष्ट हो जानेकी सम्भावना करते हुए फिर कहते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विषयभूत दृश्य स्वलक्षण भले ही विकल्पकज्ञानका आलम्बन कारण न होवे, किन्तु निर्णय करने योग्य तो हो जाता है, यह युक्त है। तिस कारण अध्यवसाय करनेवाला विकल्पकज्ञान विकल्प्यके साथ दृश्य पदार्थका एकपनेरूपसे निर्णय कर लेता है। जिस विषयको निमित्त मानकर ज्ञान उत्पन्न होता है वह आलम्बन कारण है, किन्तु ज्ञान जिस सद्भूत या असद्भूत पदार्थको जान लेता है वह अध्यवसेय कहा जाता है। निर्विकल्पक ज्ञानमें ही दृश्य पदार्थ आलम्बन पडता है, विकल्पकज्ञानमें नहीं। सीपमें हुए सीपके ज्ञानका आलम्बन और विषय दोनों सीप ही हैं, किन्तु सीपमें हुए चांदीके ज्ञानका अध्यवसेय विषय चांदी है। सीपस्वरूप स्वलक्षण भ्रान्तिज्ञानका

कारण नहीं है। बौद्धोंके इस प्रकार कहनेपर तब तो हम कहेंगे कि असाधारण विशेषरूप दृश्य उस विकल्प्यके साथ एकपनेसे नहीं जाना गया है। दृश्यके सामान्य आकारको ही एकपने करके निर्णय होने योग्यपना है। भावार्थ—अध्यवसायी ज्ञानसे जो दृश्य एकता करनेके लिये जाना गया है, वह दृश्य सामान्यरूपसे ही निर्णीत हुआ है और यहां प्रवृत्तिके लिये दृश्य विशेषकी आवश्यकता है। बौद्धोंके घरमें विशेषरूपसे दृश्य पदार्थको जाननेका अधिकार तो निर्विकल्पक प्रत्यक्षको ही प्राप्त है। ऐसी दशामें विकल्प्यके साथ विशेषरूप दृश्यका एकत्वारोप होना असम्भव है।

दृश्यसामान्येन सह विकल्प्यमेकत्वेनाध्यवसीयत इति चेत्, कथं दृश्यविशेषे तदर्थिनां प्रवृत्तिः स्यात्। दृश्यविशेषस्य दृश्यसामान्येन सहैकत्वारोपात्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत्, केदानीं सौगतस्य प्रवृत्तिरनवस्थानात्। सुदूरमप्यनुसृत्य विशेषेऽध्यवसायासम्भवात्।

आप बौद्ध यदि दृश्य सामान्यके साथ विकल्प्यका एकपनेसे निर्णय होना कहोगे, तब तो बतलाओ कि उस अर्थके या अर्थक्रियाके अभिलाषी जीवोंकी भला दृश्यविशेषमें प्रवृत्ति कैसे होगी! दृश्यसामान्यको जानकर दृश्यविशेषमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अन्यथा घटको जानकर पटमें भी प्रवृत्ति होने लग जावेगी। यदि तुम बौद्ध यों कहो कि हम एकत्वके आरोप करनेपर उतारू हो गये हैं, विकल्प्यके साथ दृश्य सामान्यका एकत्वारोप हो जावेगा और दृश्यसामान्यके साथ पुनः दृश्य-विशेषका एकत्वारोप कर लिया जावेगा, इस कारण उस विशेष दृश्यमें अभिलाषी जीवकी प्रवृत्ति होना बन जावेगा। ऐसा कहनेपर तो बतलाओ कि अब तुम बौद्धोंकी प्रवृत्ति भला कहां हो सकेगी? यानी अनवस्था दोष हो जानेके कारण बौद्ध किसी भी अर्थको प्राप्त करनेके लिये प्रवृत्ति न कर सकेंगे। बहुत दूरतक भी अनुसरण करते हुये पीछे पीछे चलकर विशेषोंमें निर्णय होना असम्भव है। भावार्थ—विकल्पज्ञानोंसे जो कोई आरोप होते हैं। वे सामान्यरूपसे ही होंगे। विशेष अंशोंको तो प्रत्यक्ष ही जान सकता है, किन्तु वह भिन्न भिन्न पदार्थोंमें एकपनेका आरोप नहीं कर सकता है। दृश्यसामान्यके साथ दृश्यविशेषका जो एकत्वारोप होगा वह सामान्यपनेसे ही होगा। फिर वहां भी सामान्यके साथ विशेषदृश्यका तीसरे विकल्पक ज्ञानसे एकत्वारोप करोगे तो वह भी एकत्वारोप सामान्यपनेसे हुआ। पुनः इस सामान्यके साथ दृश्य विशेषका चतुर्थ विकल्पज्ञानसे एकत्वारोप किया जावेगा। वहां भी यही सामान्यपनेसे आपत्ति (झंझट) खडी होगी। यह अनवस्थादोष हुआ। दूर जाकर भी विशेषोंमें निर्णय और प्रवृत्ति करनेका अवसर प्राप्त नहीं होगा। प्रत्यक्षके अतिरिक्त सम्पूर्ण परोक्षज्ञान या मिथ्याज्ञान सामान्यरूपसे ही पदार्थोंको जानते हैं। विकल्पज्ञान परोक्ष है। बौद्ध मतानुसार तो वह मिथ्याज्ञान है।

ततोऽर्थप्रवृत्तिमिच्छता शद्वस्य नान्यापोहमात्रं विषयोऽभ्युपेयो जातिमात्रादिवत्।

तिस कारण वास्तविक अर्थमें शद्बके द्वारा प्रवृत्ति होनेको चाहनेवाले बौद्धों करके उस

शद्बका वाच्य विषय केवल अन्यापोह ही नहीं स्वीकार करना चाहिये । जैसे कि बौद्धोंने अन्यमतियों करके मानी गयी केवल जातिको या अकेली व्यक्तिको अथवा अकेली आकृतिको ही शद्बका वाच्य नहीं स्वीकार किया है । तथा निरपेक्ष होकर वे दोनों या तीनों भी शद्बकी वाच्य नहीं हैं ।

सर्वथा निर्विषयः शद्बोऽस्त्वित्यसंगतं, वृत्त्यापि तस्य निर्विषयत्वे साधनादिवचनव्यवहारविरोधात् ।

यदि कोई बौद्ध यों कहें कि शद्बका विषय कुछ भी न माना जावे । अन्यापोह, विवक्षा, जाति, आदि कोई भी कल्पित या वस्तुभूत पदार्थ शद्बके विषय नहीं हैं। अतः सभी प्रकारोंसे शद्ब निर्विषय ही होओ ! सो यह कहना भी असंगत है, क्योंकि व्यवहार या संवृत्तिसे भी उस शद्बको निर्विषय माना जावेगा, तब तो पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, इन तीन अंगवाले हेतुका बोलना अथवा अपने पक्षको साधनेवाले और परपक्षको दूषण देनेवाले वचनोंके व्यवहार करनेका विरोध हो जावेगा । बौद्धोंके ग्रन्थ भी निरर्थक हो जावेंगे। शद्ब अपने वाच्य विषयोंसे रहित हैं यह वाक्य यदि निरर्थक है तो संपूर्ण शद्बोंके वास्तविक वाच्य सिद्ध हो जावेंगे। अन्यथा शद्बोंकी निर्विषयताको साधनेके लिये तुम्हारे पास कोई उपाय नहीं है ।

किं पुनरेवं शद्बस्य विषय इत्याह;:—

तो फिर आप जैन ही इस प्रकार बतलाइये कि शद्बका वाच्य विषय क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द महान् आचार्य उत्तर कहते हैं ।

जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु ततोऽस्तु ज्ञानगोचरः ।
प्रसिद्धं बहिरन्तश्च शाद्बव्यवहृतीक्षणात् ॥ ५० ॥

तिस कारण घट, पट, पुस्तक आदि बहिरंग अर्थ तथा आत्मा, ज्ञान, मन, आदि अंतरंग अर्थ ये सब जाति और व्यक्ति स्वरूप वस्तुयें ज्ञानके विषय हो रही हैं, ऐसा ही लोकमें प्रसिद्ध है। इस कारण शद्बजन्य ज्ञानके विषय भी जाति, व्यक्ति स्वरूप वस्तु मानना चाहिये । उस वस्तुमें ही शद्बजन्य व्यवहार होता हुआ देखा जाता है । भावार्थ——सामान्य और विशेष अंशोंसे तदात्मक हो रहा पदार्थ ही शाद्बबोधका विषय है । जो कि प्रत्येक ज्ञानका विषय होता दीख रहा है ।

यद्यत्र व्यवहृतिमुपजनयति तत्तद्विषयं यथा प्रत्यक्षादिजातिव्यक्त्यात्मके वस्तुनि व्यवहृतिमुपजनयत्तद्विषयं तथा च शब्दः । इत्यत्र नासिद्धं साधनं बहिरन्तश्च व्यवहृतेः सामान्यविशेषात्मनि वस्तुनि समीक्षणात् । तथा च यत्रैव शद्बात् प्रतिपत्तिस्तत्रैव प्रवृत्तिः तस्यैव प्राप्तिः प्रत्यक्षादेरिवेति सर्वं सुस्थम् ।

जो ज्ञान जिस विषयमें व्यवहारको उत्पन्न करा देता है वह उसको विषय करनेवाला माना जाता है, जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण जाति, व्यक्ति स्वरूप वस्तुमें व्यवहारको

पैदा कराते हुए उस वस्तुको विषय करानेवाले माने गये हैं, तैसे ही शद्ब भी ऐसा है । अतः जाति, व्यक्ति, स्वरूप वस्तुको विषय करनेवाला है । इस प्रकार पांच अवयववाले इस अनुमानमें दिया गया व्यवहारको उत्पन्न करानेवाला हेतु असिद्ध नहीं है, यानी पक्षमें रह जाता है, बहिरंग और अन्तरंग सामान्यविशेषात्मक पदार्थोंमें शद्बसे जन्य व्यवहार भले प्रकार देखा जाता है । तथा दूसरी बात यह है कि जिस ही विषयमें शद्बसे प्रतिपत्ति होवे और उसीमें प्रवृत्ति होवे, तथा उस ही विषयकी प्राप्ति होवे तो वह शद्बका विषय अवश्य माना जाता है । जैसे कि वह्निको जाननेवाले प्रत्यक्ष या अनुमान आदि प्रमाणोंसे प्रतिपत्ताको अग्नि विषयमें ही प्रतिपत्ति हुयी है और अग्निको ही लेनेके लिये प्रवृत्ति हुयी है, तथा अग्नि पदार्थ ही प्राप्त किया गया है, अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय अग्नि ही मानी जाती है । तैसे ही शद्बका वाच्य विषय भी प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति, और प्राप्ति की एकविषयताको लेता हुआ सामान्यविशेषात्मक वस्तु है । प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति, और प्राप्तिकी एकविषयता ही ज्ञानका सम्वादीपन है । इस प्रकार सभी व्यवस्था भले प्रकार स्थित हो जाती है, कोई दोष नहीं आता है ।

सत्ताशद्बाद्द्रव्यत्वादिशद्बाद्वा कथं सामान्यविशेषात्मनि वस्तुनि प्रतिपत्तिरिति चेत्, सद्विशेषोपहितस्य सत्सामान्यस्य द्रव्यादिविशेषोपहितस्य च द्रव्यत्वादिसामान्यस्य तेन प्रतिपादनात् । तदनेनाभावशद्बादद्रव्यत्वादिखाद्वा तत्र प्रतिपत्तिरुक्ता भावान्तरस्वभावत्वाद्भावस्य, गुणादिस्वभावत्वाच्चाद्रव्यत्वादेः भावोपहितस्याभावस्याभावशद्बेन गुणाद्युपहितस्य चाद्रव्यत्वादेरद्रव्यत्वादिशद्बेन प्रकाशनाद्वा । न च भावोपहितत्वमभावस्यासिद्धं सर्वदा घटस्याभावः पटस्याभाव इत्यादि भावोपाधेरेवाभावस्य प्रतीतेः । स्वातन्त्र्येण सकृदप्यवेदनात् ।

कोई पूंछता है कि सम्पूर्ण शद्बोंका अर्थ जाति और व्यक्ति स्वरूप माना जावेगा तो केवल जातिवाचक सत्ताशद्ब या द्रव्यत्व, गुणत्व, आदि शद्बोंसे कैसे सामान्यविशेष स्वरूप वस्तुमें प्रमिति होवेगी ? ऐसा कहनेपर तो हम जैन यों उत्तर देते हैं कि विशेष सत् माने गये घट, रूप, आदिकी उपाधियोंसे युक्त सत्तासामान्यका सत्ता शद्बसे प्रतिपादन होता है और उन द्रव्यत्व, पदार्थत्व, गुणत्व, आदि शद्बोंके द्वारा विशेष द्रव्य, गुण आदि विशेषणोंसे निष्ठत्व सम्बन्ध करके युक्त द्रव्यत्व, गुणत्व, पदार्थत्व आदि सामान्योंका निरूपण होता है । भावार्थ—विशेषोंसे रहित केवल सामान्य खरविषाणके समान अवस्तु है और सामान्यसे रहित कोरा विशेष भी अश्वविषाणके समान असत् पदार्थ है, यानी कोई वस्तुभूत नहीं है । वैशेषिकोंके समान सामान्यसे रहित विशेषोंको और विशेषसे रहित सामान्यको हम जैन इष्ट नहीं करते हैं । जहां सामान्य है, वहां विशेष अवश्य है । अतः जातिवाचक शद्ब भी विशेषोंसे विशिष्ट (आधेयता सम्बन्धसे) सामान्यको ही कहते हैं । यहां सामान्यका प्रधानरूपसे और विशेषोंका गौणरूपसे प्ररूपण हो जाता है । विशेष विशेषण हो

जाता है और सामान्य विशेष्य बन जाता है । भूतलमें संयोग सम्बन्धसे घट रहता है, किन्तु निष्ठत्व सम्बन्धसे घटमें भी भूतल रह जाता है । तैसे ही विशेषपदार्थस्वसमवेतत्वसम्बन्धसे सामान्यधर्ममें रह जाता है । तथा तिसी कारण इस उक्त कथनसे अभावको कहनेवाले अभाव शद्व या अद्रव्यत्व, अगुणत्व, अथवा असत्ता आदि शद्बोंसे भी उन सामान्यविशेषात्मक वस्तुमें ही प्रतिपत्ति होना कह दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि वैशेषिकोंके समान जैन तुच्छ अभाव पदार्थको नहीं मानते हैं, अभावपदार्थ अन्यभावरूप पड जाता है । जैसे कि घटको नहीं देखते हुए केवल भूतलका दीख जाना ही घटका अनुपलम्भ है तैसे ही घटका अभाव भी रिक्त (रीता) भूतल स्वरूप है । अनुपलम्भ यानी प्रकृतपदार्थका ज्ञान न होकर अन्य अप्रकृतका ज्ञान हो जाना तो ज्ञानका अभाव है । और रीता भूतलस्वरूप घटाभाव ज्ञेयका अभाव है । अतः दृष्टान्त और दार्ष्टांत सम हैं । अद्रव्यत्वशद्बसे गुण, कर्म आदि स्वभावोंका प्रतिपादन होता है । पर्युदास वृत्तिसे अब्राह्मणका अर्थ क्षत्रिय वैश्य आदि स्वरूप हो जाता है । अद्रव्यत्व यानी द्रव्यरहितपना गुणरूप है । अगुणत्व, अकर्मत्व ये द्रव्यरूप हो जाते हैं । इस प्रकार भावरूप विशेषणोंसे युक्त हो रहे अभावका अभाव शद्बकरके अथवा गुण, कर्म आदि उपाधियोंसे तदात्मक युक्त गुण आदिकका अद्रव्यत्व आदि शद्बोंकरके प्रकाशन (वाचन) होता है । स्वतन्त्र तुच्छाभाव कोई वस्तु नहीं है । अभाव पदार्थको भाव विशेषणोंसे सहितपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि घटका अभाव, पटका अभाव, पुस्तकका अभाव इत्यादिक भावरूप उपाधियोंसे युक्त ही अभाव की सदा प्रतीति हो रही है । स्वतन्त्रतासे कोरा अभाव ही अभावतत्त्व एकबार भी आजतक नहीं जाना गया है । अर्थात् न्यायवेत्ताओंके यहां शाद्बबोध करते समय प्रथमाविभक्त्यन्त पदका अर्थ मुख्य विशेष्य होता है और शेष विभक्तिवाले पदार्थ उसके विशेषण होजाते हैं । घटका अभाव है यहां अभाव विशेष्य है और घटका पटका ये सब उसके विशेषण हैं, अतः निर्णीत हुआ कि भावोंसे युक्त अभावोंका अभावशद्बसे प्रतिपादन होता है स्वतन्त्र तुच्छ अभाव कोई वस्तु नहीं, जिसका कि वैशेषिकोंके अनुसार अभाव शद्बसे प्रतिपादन हो सके ।

तथैवाद्रव्यं गुणादिरजीवो धर्मादिरिति गुणाद्युपाधेरद्रव्यत्वादेः सुप्रतीतत्वात् न तस्य तदुपहितत्वमसिद्धं तथा प्रतीतेरबाधत्वात् ।

तिस ही प्रकार अद्रव्य यह गुण, पर्याय, या गुण, कर्म आदि स्वरूप है और अजीव यह धर्म, अधर्म आदि स्वरूप है । इस कारण अद्रव्यशद्बसे गुण आदि उपाधियों (विशेषणों) की तथा अजीव शद्बसे धर्म, पुद्गल आदि द्रव्योंकी भले प्रकार प्रतीति हो रही है । अभावको कहने वाले और नञ् समाससे युक्त अद्रव्यत्वको उन गुण, कर्म आदि उपाधियोंसे सहितपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि तिस प्रकार गुण कर्मरूप अद्रव्य है । पुद्गल, धर्म आदि स्वरूप अजीव है, इन प्रतीतियोंका कोई बाधक प्रमाण नहीं है । बाधारहित प्रतीतिओंसे पदार्थोंकी सिद्धि हो जाती है ।

एतेन सत्सामान्यस्य विशेषोपहितत्वं द्रव्यत्वादिसामान्यस्य च द्रव्यत्वादिविशेषोपहितत्वमसिद्धं ब्रुवाणः प्रत्याख्यातः, सतां विशेषाणां भावः सत्ता द्रव्यादीनां भावो द्रव्यादित्वमिति सत्तादिसामान्यस्य स्वविशेषाश्रयस्यैव प्रत्ययाभिधानव्यवहारगोचरत्वात्। सद्द्रव्यं सुवर्णं वानयेत्युक्ते तन्मात्रस्यानयनादर्शनात् स्वविशेषात्मन एव सदादिसामान्यस्य तद्गोचरत्वं प्रतीतिसिद्धम्। सदादिविशेषमानयेति वचने तस्य सत्त्वादिसामान्यात्मकस्य व्यवहारगोचरत्ववत्। ततः सूक्तं सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनः शब्दगोचरत्वम्। तथा शब्दव्यवहारस्य निर्बाधमवभासनात्।

इस कथन करके सत्तासामान्यका सत्‌विशेषोंसे सहितपना और द्रव्यत्व, गुणत्व आदि जातियों का विशेषद्रव्यपना, गुणपना आदि उपाधियोंसे सहितपना असिद्ध है। इस प्रकार कहने वाले वैशेषिक मतका खण्डन हो गया समझ लेना चाहिये। घट, पट, रूप, रस, उत्क्षेपण, भ्रमण आदि विशेष सत्पदार्थोंका भाव ही तो सत्ता है। अनेक सत् पदार्थोंको कहनेवाले सत् शब्दसे भावमें तल् प्रत्यय करने पर सत्ता शब्द बनता है। पृथ्वी, जल, तेज: या जीव, पुद्गल आदि विशेष द्रव्योंके भावको द्रव्यत्व कहते हैं। जो विशेषोंका भावरूप सामान्य है वह उन विशेषोंसे युक्त अवश्य है। घोडे, पदाति आदिके समुदायरूप सेनामेंसे घोडे आदि संपूर्ण विशेषोंको पृथक् कर दिया जावे तो सेना कुछ भी नहीं रह जाती है। तैसे ही गुणत्व सामान्य भी गुणविशेषोंसे और कर्मत्वसामान्य कर्म विशेषोंसे युक्त है, इत्यादि और भी लगा लेना। सत्ता, द्रव्यत्व आदि सामान्य अपने अपने विशेषोंके आश्रय होते हुए ही ज्ञानव्यवहार और शब्दव्यवहारके विषय हो रहे हैं। भावार्थ—विशेषोंसे रहित कोरे सामान्यका न तो ज्ञान होता है और न कथन ही होता है। विशेषोंसे सहित ही सामान्यका जानना और बोलना हो रहा है। सामान्य सत्‌को या कोरे द्रव्यको अथवा सभी आकृतिविशेषोंसे रहित अकेले सोनेको लाओ! ऐसा कहनेपर विशेषोंसे युक्त ही द्रव्य, गुण, रूप सत्‌का या पृथ्वी, घट, आदि विशेषद्रव्योंका तथा रुचक, पांसा, डेली, कटक, कुण्डल, सौ टञ्च, अट्ठानवें टञ्च आदि विशेषोंसे युक्त होरहे नियत सुवर्णका लाना व्यवहारका विषय हो रहा है। केवल कोरे सत्ता, द्रव्य, और सुवर्णका लाना नहीं देखा जाता है। अपने विशेषोंके साथ, तादात्म्य रखते हुए ही सत्, द्रव्य, सुवर्ण, आदि सामान्योंका उस व्यवहारमें विषय होकर चलन होना प्रतीतियोंसे सिद्ध हो रहा है। तथा जैसे कि यदि कोई विशेषरूपसे सत्, घट, पट आदिको या विशेषरूपसे पृथ्वी, जलको तथा बाजू, कडे, फांसेको लानेके लिये कहे तब भी केवल विशेषोंका ही लाना नहीं होता है। किन्तु सत्त्व, द्रव्यत्व, सुवर्णत्वरूप सामान्यसे तादात्म्य रखते हुए उन विशेषोंके लानेका व्यवहारमें चलन होता है। अर्थात् सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तुमें तदात्मक ओतपोत हो रहे हैं। एकको छोडकर दूसरा नहीं रह सकता है, न आसकता है। तिस कारण हमने बहुत अच्छा कहा था कि सामान्यविशेषस्वरूप वस्तु ही सम्पूर्ण शब्दोंका वाच्य विषय है। तिसी प्रकार लोकमें शब्दजन्य

व्यवहारका बाधारहित होकर प्रतिभास हो रहा है । केवल सामान्य या केवल विशेष कोई वस्तु ही नहीं है । अतः उसका शद्बके द्वारा प्रतिपादन भी नहीं होता है ।

कथमेवं पञ्चतयी शद्बानां वृत्तिर्जात्यादिशद्बानामभावादिति न शंकनीयं, यस्मात्,–

किसीका कटाक्ष है, जब कि सम्पूर्ण शब्दोंका वाच्य सामान्यविशेषात्मक वस्तु एक ही है तो पूर्वोक्त प्रकार शद्बोंकी पांच अवयवोंमें विभक्त की गयी वृत्ति कैसे घटित होवेगी ? क्योंकि जाति, गुण, क्रिया, संयोगी, और समवायी इन पांच प्रकारके शद्बोंका तो अभाव मान लिया गया है । आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार किसीको जैनोंके ऊपर शंका नहीं करनी चाहिये, जिस कारणसे कि (क्योंकि)—

तत्र स्याद्वादिनः प्राहुः कृत्वापोद्धारकल्पनाम् ।
जातेः प्रधानभावेन कांश्चिच्छद्बान् प्रबोधकान् ॥ ५१ ॥
व्यक्तेः प्रख्यापकांश्चान्यान् गुणद्रव्यक्रियात्मनः ।
लोकसंव्यवहारार्थमपरान् पारिभाषिकान् ॥ ५२ ॥

तैसी शंकाके प्रकरणमें स्याद्वादसिद्धान्त रहस्यके वेत्ता आचार्य यों कहते हैं कि सामान्य-विशेषात्मक वस्तुओंके प्रतिपादक संपूर्ण शद्बोंमेंसे कुछ जातिवाचक शद्बोंकी व्यावृत्ति कल्पना करके प्रधानरूप जातिको समझानेवाले किन्हीं गो, अश्व, आदि शद्बोंको जाति शद्ब माना जाता है और अन्य न्यारे किये हुए कुछ गुण, द्रव्य, क्रिया, स्वरूप व्यक्तिभूत पदार्थोंका व्याख्यान करनेवाले शद्बोंको लोकव्यवहारके लिये गुणशद्ब, द्रव्यशद्ब और क्रियाशद्ब कहा जाता है, तथा अपने अपने सिद्धान्तानुसार परिभाषा किये गये सम्यग्दर्शन, पील्ड, ब्रह्म, स्वलक्षण, घु, बहुव्रीहि आदि अन्य शद्बोंको पारिभाषिक शद्ब कहा है । द्रव्यके दो भेदोंको द्रव्यशद्बसे ही ग्रहण कर न्यारा पांचवा भेद पारिभाषिक शद्ब हो जाता है सांकेतिक शद्ब इसीमें गर्भित हो जाते हैं ।

न हि गौरश्व इत्यादिशद्बाज्जातेः प्रधानभावेन गुणीभूतव्यक्तिस्वभावायाः प्रकाशने गुणक्रियाद्रव्यशद्बाद्वा यथोदिताद्व्यक्तेर्गुणाद्यात्मिकायाः प्राधान्येन गुणीभूतजात्यात्मनः प्रतिपादने स्याद्वादिनां कश्चिद्विरोधो येन सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयशद्बमाचक्षाणानां पञ्चतयी शद्बप्रवृत्तिर्न सिध्येत् ।

गाय, घोडा, महिष, इत्यादि शद्बोंसे गौण हुयी व्यक्तिके स्वभावरूप जातिका प्रधानपने करके प्रकाश करनेमें अथवा ग्रन्थमें पहिले कहे गये शुक्ल, पाटल, चरण, प्लवन, विषाणी, कुण्डली आदि गुण, क्रिया, और द्रव्यवाचक शद्बोंसे गौण हो रहा है तदात्मक जातिस्वरूप जिनका ऐसी

गुण, क्रिया, द्रव्य, स्वरूप व्यक्तियोंके प्रधानपने करके प्रतिपादन करनेमें हम स्याद्वादियोंको कोई विरोध नहीं है, जिससे कि सामान्यविशेष आत्मक वस्तुको शद्बका विषय बडे बलसे कहनेवाले अनेकान्तवादियोंके यहां व्यवहारमें पांच प्रकारके शद्बोंकी प्रवृत्ति होना सिद्ध न होवे। भावार्थ— सभी शद्बोंका वाच्य अर्थ जाति और व्यक्ति इन दोनोंसे तदात्मक पिण्डरूप हो रही वस्तु है। कहीं जाति प्रधान है और व्यक्ति गौण है, तथा अन्यत्र व्यक्ति प्रधान है, जाति गौण है। हमारे यहां व्यक्ति और जातिका रूप, रसके समान तदात्मक सहचर सम्बन्ध है।

तेनेच्छामात्रतन्त्रं यत्संज्ञाकर्म तदिष्यते।
नामाचार्यैर्न जात्यादिनिमित्तापन्नविग्रहम्॥ ५२॥

तिस कारण वक्ताकी केवल इच्छाके अधीन जो संज्ञा करना है, वह आचार्यो करके नामनिक्षेप इष्ट किया गया है। नामनिक्षेपका शरीर जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य, परिभाषा आदि निमित्तोंसे युक्त नहीं है। अर्थात् जाति आदिक निमित्तोंकी नहीं अपेक्षा करके वक्ताकी इच्छा मात्रसे किसी भी वस्तुका चाहे जो कोई नाम धर दिया जाता है, वह पहिला नामनिक्षेप है। जैसे कि जातिको निमित्त मानकर विशेष पशुओंमें घोडा शब्द व्यवहृत होता है, किन्तु किसी मनुष्यमें या बन्दूकके अवयवमें अथवा इञ्जनमें घोडा शद्बका व्यवहार करना नामनिक्षेप है। इसी प्रकार काक, शब्द भी जाति के सहारे पक्षी विशेषमें चालू है, किन्तु गले अवयवमें या शीशीकी डाटमें नामनिक्षेपसे व्यवहारमें आ रहा है। इनके अतिरिक्त भी आप काक, घोडा, पौंला आदि नाम चाहे जिस वस्तुका रख सकते हैं।

सिद्धे हि जात्यादिनिमित्तान्तरे विवक्षात्मनः शद्बस्य निमित्तात् संव्यवहारिणां निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नामेत्याहुराचार्यास्ततो जात्यादिनिमित्तं संज्ञाकरणमनादियोग्यतापेक्षं न नाम। केनचित् स्वेच्छया संव्यवहारार्थं प्रवर्तितत्वात्, परापरवृद्धप्रसिद्धेस्तथैवाव्यवच्छेदात्, बाधकाभावात्।

यतः (चूंकि) शद्बके विवक्षास्वरूप निमित्तसे न्यारे जाति, गुण, आदि निमित्तान्तर सिद्धि हो चुके हैं, उन निमित्तान्तरोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ किन्तु विवक्षारूप निमित्तसे व्यवहारियोंके द्वारा जो संज्ञा धर लेना है वह नाम है, ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं। तिस कारण अनादिकालीन योग्यताकी अपेक्षा रखता हुआ वह जाति, द्रव्य, आदिको निमित्त लेकर संज्ञा कर लेना नामनिक्षेप नहीं है, यह सिद्ध होगया। यानी नामनिक्षेप धर लेनेमें अनादि योग्यता की आवश्यकता नहीं है। और जाति आदि निमित्तोंकी भी अपेक्षा नहीं है। किसी भी पुरुषने अपनी इच्छासे समीचीन व्यवहारके लिये जो कुछ नामनिक्षेपकी प्रवृत्ति कर ली है, सो समीचीन है।

तिस ही प्रकार परवृद्ध (प्राचीन वृद्ध) और अपर (आधुनिक) वृद्धोंकी आम्नाय अनुसार प्रसिद्धिका टूटना नहीं हुआ है तथा इसका कोई बाधक प्रमाण भी नहीं है । अर्थात् भले ही नामनिक्षेप सुमेरुपर्वत, भरतक्षेत्र, नन्दीश्वर द्वीप, आदिमें अनादिसे प्रवृत्त है और कहीं वृद्ध प्राचीन परिपाटीसे मथुरा, पटना, भात, घडी, आदि नाम चले आ रहे हैं, कतिपय नाम अल्प समयके लिये ही धर लिये जाते हैं, किन्तु इसमें अनादि कालके संकेत करनेकी आवश्यकता नहीं है। यहां तक सूत्रके आदिमें कही गयीं दो वार्तिकोंके प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया है ।

का पुनरियं स्थापनेत्याह;—

फिर दूसरी यह स्थापना क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं;—

वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता ।
सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः ॥ ५४ ॥

कर लिया गया है नाम निक्षेप जिसका ऐसी वस्तुकी उन वास्तविक धर्मोंके अध्यारोपसे यह -वही है ऐसी प्रतिष्ठा करना स्थापना निक्षेप माना गया है । वह सद्भाव स्थापना और इतर यानी असद्भाव स्थापनाके भेदसे दो प्रकार है ।

स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिकृतिः सा चाहितनामकर्मकस्येन्द्रादेर्वास्तवस्य तत्त्वाध्यारोपात् प्रतिष्ठा सोऽयमित्यभिसम्बन्धेनान्यस्य व्यवस्थापना स्थापनामात्रं स्थापनेति वचनात् । तत्राध्यारोप्यमाणेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना मुख्यदर्शिनः स्वयं तस्यास्तद्बुद्धिसम्भवात् । कथञ्चित् सादृश्यसद्भावात् । मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति संप्रत्ययात् ।

ण्यन्त स्था धातुसे युट् और टाप् प्रत्यय करके स्थापना शद्ब बनता है । यों जो थापी जावे, सो स्थापना है, इसका अर्थ प्रतिकृति अर्थात् प्रतिबिम्ब मूर्ति (तस्वीर) है । वह स्थापना नाम धर लिये गये और वास्तविक इन्द्रराजा, जिनेन्द्र, जम्बूद्वीप, भारतवर्ष, आदिके तत्पने करके किये गये अध्यारोपसे यह वही है ऐसी प्रतिष्ठा है । इस स्थाप्यस्थापक सम्बन्धसे अन्यकी दूसरे पदार्थमें व्यवस्था कर देना हो जाता है, क्योंकि केवल स्थापना कर देना ही स्थापना है, ऐसा पूर्व ऋषियोंने स्थापनाको भावप्रधान कहा है । तिस स्थापनाके प्रकरणमें वास्तविक पर्यायोंसे परिणमे हुए और स्वर्गोंमें स्थित-भावनिक्षेपसे कहे गये सौधर्म, ईशान इन्द्र आदि हैं, तिनके समान बनी हुयी प्रतिमामें आरोपे हुए उन इन्द्र आदिकी स्थापना करना सद्भाव स्थापना है । किसी अपेक्षासे इन्द्र आदिका सादृश्य यहां विद्यमान है, तभी तो मुख्य पदार्थको देखनेवाले जीवकी तिस प्रतिमाके अनुसार सादृश्यसे स्वयं यह

नहीं है ऐसी बुद्धि हो जाती है। मुख्य आकारोंसे शून्य केवल वस्तुमें यह वही है, ऐसी स्थापना कर लेना फिर दूसरी असद्भाव स्थापना है। क्योंकि मुख्य पदार्थको देखनेवाले भी जीवको दूसरोंके उपदेशसे ही यह वही है, इस प्रकार वहां समीचीनज्ञान होता है। असद्भाव स्थापनामें परोपदेशके विना यह वही है ऐसा सम्यग्ज्ञान नहीं होता है। जैसा कि चावलोंमें जिनेन्द्रदेवकी स्थापनाके अवसरपर देखा गया है। यद्यपि अमूर्तभावोंमें भी अमूर्त अन्य भावोंकी स्थापना हो सकती है, किन्तु साधारण बुद्धिवाले जीवोंको उससे प्रतीति होना दुर्लभ है। तभी तो पञ्चपरमेष्ठी भगवान्के असाधारण गुणोंकी गृहस्थ या सामान्य मनुष्यमें स्थापना करना निषिद्ध है। हां ! इन्द्र, लौकान्तिक, आदिकी स्थापना कुछ समय तक रागी द्वेषी जनोंमें कर ली जा सकती है। आकाशमें धर्मद्रव्यकी स्थापना करनेका कोई फल नहीं।

सादरानुग्रहकांक्षाहेतुत्वात्प्रतिभिद्यते ।
नाम्नस्तस्य तथाभावाभावादत्राविवादतः ॥ ५५ ॥

वह स्थापना आदर करना, अनुग्रह करानेकी आकांक्षा रखना आदि हेतुपने करके नामनिक्षेपसे न्यारी होजाती है, क्योंकि उस नामनिक्षेपके अनुसार आदर, निरादार, अनुग्रह, निग्रह आदिके तैसे भाव नहीं हैं। इस सिद्धान्तमें मीमांसक, पौराणिक, नैयायिक, श्वेतांबर आदि किसीका भी विवाद नहीं है। किसी व्यक्तिका नाम महावीर रख देनेसे उसमें वर्धमान स्वामीकी प्रतिमाके सदृश आदर सत्कारके भाव नहीं होते हैं। किन्तु एक सम्राज्ञीकी प्रतिमाके मुखपर काला लेप करनेवाला अपराधी है। सम्राज्ञीके नामको धारण करनेवाली लडकीके मुखपर तो क्या ? सम्पूर्ण शरीरपर भी लेप कर देना वैसा अपराध नहीं है। महादेवके उपासक महादेवकी पिण्डीका निरादर करनेसे कुपित होवेंगे, किन्तु महादेव नामक पुरुषको गाली देनेसे क्षुब्ध न होंगे।

स्थापनायामेवादरोऽनुग्रहाकांक्षा च लोकस्य न पुनर्नाम्नीत्यत्र न हि कस्यचिद्विवादोऽस्ति येन ततः सा न प्रतिभिद्यते। नाम्नि कस्यचिदादरदर्शनान्न ततस्तद्भेद इति चेन्न, स्वदेवतायामतिभक्तितस्तन्नामकेऽर्थे तदध्यारोपस्याशुवृत्तेस्तत्स्थापनायामेवादरावतारात् ।

लौकिक जनोंका स्थापनामें ही आदर और अनुग्रह करानेकी आकांक्षा रखना है, किन्तु नाममें नहीं, इस विषयमें किसी भी वादीका विवाद नहीं है, जिससे कि वह स्थापना नामनिक्षेपसे भिन्न न होती। यदि कोई यों कहे कि ऋषभ, महावीर, बाहुबली, आदि नामोंमें भी किसीका आदर देखा जाता है, तब तो नामसे स्थापनाका भेद नहीं हुआ। यह तो नहीं कहना, क्योंकि अपने इष्ट देवतामें अत्यन्त भक्तिके वशसे उस नामवाले अर्थमें अतिशीघ्र ही उस देवताकी मूर्त्तिका अध्यारोप (स्थापन) कर लिया जाता है। अतः उस देवताकी स्थापनामें ही आदर उतर आता है, नाममें नहीं।

तदनेन नाम्नि कस्यचिदनुग्रहाकांक्षाशंका व्युदस्ता, केवलमाहितनामके वस्तुनि कस्यचित्कादाचित्की स्थापना कस्यचित्तु कालान्तरस्थायिनी नियता । भूयस्तथा संप्रत्ययहेतुरिति विशेषः ।

तिस कारण इस उक्त कथनसे किसीकी इस शंकाका भी खण्डन हो जाता है कि उस नामवाले व्यक्तिमें किसी भक्तकी अनुग्रह करानेकी आकांक्षा हो जाती है । अर्थात् महावीर नामके पीछे शीघ्र ही महावीरजीकी प्रतिमाका स्मरण होकर उस प्रतिबिम्बसे ही अनुग्रह करानेकी आकांक्षा हुयी है कोरे नामसे नहीं । यहां विशेषता केवल इतनी ही है कि उस नामको धारण करनेवाली वस्तुमें किसी पुरुषके तो कभी कभी होनेवाली कुछ कालतकके लिये स्थापना हो जाती है और किसी पुरुषके बहुत कालतक स्थित रहनेवाली वह स्थापना नियत हो रही है जो कि बहुत बार तिसी प्रकार सम्यग्ज्ञान होनेमें कारण है । अर्थात् चावलोंमें देव शास्त्र गुरुकी अथवा लौकिक कार्योंके लिये सभापति, मन्त्रीपने आदिकी कुछ कालके लिये स्थापना कर ली जाती है । तथा जिन मंदिरमें समवसरणकी प्रतिमामें त्रयोदश गुणस्थानवर्ती तीर्थंकरकी स्थापना बहुत कालतक नियत रहती है ।

नन्वनाहितनाम्नोऽपि कस्यचिद्दर्शनेऽञ्जसा ।
पुनस्तत्सदृशे चित्रकर्मादौ दृश्यते स्वतः ॥ ५६ ॥
सोऽयमित्यवसायस्य प्रादुर्भावः कथञ्चन ।
स्थापना सा च तस्येति कृतसंज्ञस्य सा कुतः ॥ ५७ ॥
नैतत्सन्नाम सामान्यसद्भावात्तत्र तत्त्वतः ।
कान्यथा सोयमित्यादिव्यवहारः प्रवर्तताम् ॥ ५८ ॥

यहां शंका है कि नहीं धरा गया है नाम जिसका ऐसे भी किसी पदार्थके देखनेपर पुनः शीघ्र ही उसके सदृश चित्रकर्म (तस्वीर) विशेष फल, विशेष पुष्प आदिमें यह वही है, इस प्रकारके निर्णयकी उत्पत्ति अपने आप होती हुयी देखी जाती है और वह किसी अपेक्षासे उसकी स्थापना अवश्य है । ऐसी दशामें जैनोंने नाम किये गये पदार्थकी ही वह स्थापना होती है यह कैसे कहा ? बताओ। आचार्य समझाते हैं कि सो यह शंका करना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि वहां भी परमार्थरूपसे सामान्य नाम विद्यमान है । विशेषपनेसे भले ही न होवे, अन्यथा यानी सामान्यरूपसे भी नामके द्वारा निक्षेप न हुआ होता तो तत् शब्द और इदम् शब्द करके यह वही है, इत्यादि व्यवहारोंकी प्रवृत्ति कहां होती ? अर्थात् सर्वनाम शब्दोंसे अथवा अवक्तव्य, अनुभवगम्य आदि शब्दोंसे नामनिक्षेप कर चुकनेपर ही स्थापनानिक्षेपकी प्रवृत्ति मानी गयी है ।

नन्वेवं सति नाम्नि स्थापनानुपपत्तेस्तस्यास्तेन व्याप्तिः कथं न तादात्म्यमिति चेन्न, विरुद्धधर्माध्यासात् । तथाहि—

यहां किसीकी शंका है कि ऐसा होनेपर नामके होते हुए ही स्थापना बन सकेगी और नामके न होनेपर स्थापना न बन सकेगी, तब तो उस स्थापनाकी नामके साथ तादात्म्यसम्बन्धरूप व्याप्ति क्यों न मान ली जावे ? ग्रन्थकार बोलते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये, क्योंकि नाम और स्थापनाका विरुद्ध धर्मोके आरूढ हो जानेसे तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है । तिस हीको स्पष्टरूपसे आचार्य महाराज कहते हैं ।

सिद्धं भावमपेक्ष्यैव स्थापनायाः प्रवृत्तितः ।
तदपेक्षां विना नाम भावाद्भिन्नं ततः स्थितम् ॥ ५९ ॥

जब कि निष्पन्न हुए भावकी अपेक्षा करके ही स्थापनाकी प्रवृत्ति होती है और उस सिद्ध पदार्थकी अपेक्षाके विना नामनिक्षेप प्रवर्त रहा है । तिस कारण सिद्ध हुआ कि परमार्थरूप करके नामनिक्षेप स्थापनानिक्षेपसे भिन्न है ।

किं स्वरूपप्रकारं द्रव्यमित्याह—

स्थापनासे हुए निक्षेपका स्वरूप समझकर किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि तीसरे द्रव्यनिक्षेपका लक्षण और भेद क्या है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं—

यात्स्वतोऽभिमुखं वस्तु भविष्यत्पर्ययं प्रति ।
तद्द्रव्यं द्विविधं ज्ञेयमागमेतरभेदतः ॥ ६० ॥

जो वस्तु भविष्यमें होनेवाली पर्यायके प्रति अपने आप अभिमुख हो रही है, वह द्रव्यनिक्षेप जान लेना चाहिये । आगम और नोआगमके भेदसे वह द्रव्यनिक्षेप दो प्रकारका है ।

न ह्यवस्त्वेव द्रव्यमबाधितप्रतीतिसिद्धं वा, नाप्यनागतपरिणामविशेषं प्रति ग्रहीताभिमुख्यं न भवति । पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थानलक्षणत्वाद्वस्तुनः सर्वथा तद्विपरीतस्य प्रतीतिविरुद्धत्वात् । तच्च द्विविधमागमनोआगमभेदात् प्रतिपत्तव्यम् ।

कोई अवस्तु ही द्रव्य नहीं है किन्तु वस्तु ही निर्बाधप्रतीतियोंसे सिद्ध होता हुआ भविष्यपर्यायरूप करके परिणत होगा । अथवा कोई यों कहें कि भविष्यमें आनेवाले विशेषपरिणामोंके प्रति वस्तु अभिमुखपनेको ग्रहण नहीं करती है, सो भी नहीं कहना क्योंकि पूर्व स्वभावोंको छोडना,

उत्तरवर्ती स्वभावोंका ग्रहण करना और द्रव्यपनेसे स्थित रहना ये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीन वस्तुके लक्षण हैं। क्योंकि सभी प्रकार उन तीन लक्षणोंसे विपरीत किसी भी वस्तुकी प्रतीति होनेका निरोध है। भावार्थ—दौडते हुए बढिया घोडेके समान सभी वस्तुओंमें उत्तरवर्ती स्वभावोंको ग्रहण करनेकी उत्सुकता रहती है। तदनुसार वे भविष्य परिणामोंको अभिमुख होकर ग्रहण करते रहते हैं। तथा वह द्रव्यनिक्षेप आगम, और नोआगम भेदसे दो प्रकारका समझ लेना चाहिये।

आत्मा तत्प्राभृतज्ञायी यो नामानुपयुक्तधीः।
सोऽत्रागमः समाम्नातः स्याद्द्रव्यं लक्षणान्वयात् ॥ ६१ ॥

जीव, सम्यग्दर्शन, आदिके प्रतिपादक शास्त्रोंका जाननेवाला जो आत्मा इस समय उन शास्त्रोंमें उपयोग लगाये हुए ज्ञानवाला नहीं है। अर्थात् जैसे कोई न्यायशास्त्रका विद्वान् भोजन करते समय या वाणिज्य करते समय न्यायशास्त्रोंमें उपयोग लगाये हुए नहीं है, तैसे ही उस आत्माका उपयोग जीवशास्त्रके जाननेमें नहीं लग रहा है, वह यहां सर्वज्ञकी धारावाही आम्नायके अनुसार आगमद्रव्य कहा गया है। द्रव्यके उक्त लक्षणसे अन्वित होनेके कारण वह द्रव्यनिक्षेप है या निक्षेपजनकतावच्छेदकावच्छिन्न द्रव्य है।

अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञायी आत्मागमः कथं द्रव्यमिति नाशंकनीयं द्रव्यलक्षणान्वयात्। जीवादिप्राभृतज्ञस्यात्मनोऽनुपयुक्तस्योपयुक्तं तत्प्राभृतज्ञानाख्यमनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यस्वभावत्वसिद्धेः।

शास्त्रोंको जाननेवाला किन्तु इस समय उनमें उपयोगरहित हो रहा आत्मा भला आगमद्रव्य कैसे होगा ? इस प्रकार यहां शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि इसमें द्रव्यनिक्षेपका लक्षण अन्वयरूपसे चला जाता है। जीव, ज्ञान, चारित्र, आदिके शास्त्रोंको जाननेवाले किन्तु उस समय उपयोग न लगाये हुए आत्माका आगमद्रव्यनिक्षेपसे व्यवहार होना उपयुक्त है। क्योंकि उस आत्माका भविष्यमें होनेवाले उन उन शास्त्रोंके ज्ञान नामक विशेषपरिणामोंके प्रति अभिमुखताको ग्रहण करनारूप स्वभाव सिद्ध होगया है। " द्रोष्यतीति द्रव्यम " यहां भविष्यकालके द्रवणकी अपेक्षासे द्रव्यशद्ब बना है। भावार्थ—आत्माके अनेक गुणोंमें ज्ञान गुण प्रधान है। अतः उपयोगात्मक ज्ञान गुणका उपलक्षण कर उसकी भविष्य पर्यायोंसे आत्मद्रव्यकी परिणति होना द्रव्यनिक्षेप द्वारा कही जाती है।

नो आगमः पुनस्त्रेधा ज्ञशरीरादिभेदतः।
त्रिकालगोचरं ज्ञातुः शरीरं तत्र च त्रिधा ॥ ६२ ॥

आगमद्रव्यका सहायक नोआगमद्रव्य होता है। नोआगमद्रव्य फिर ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त इन भेदोंसे तीन प्रकारका है। उनमेंसे जीवशास्त्र, मोक्षशास्त्र, सम्यक्त्वशास्त्र आदिको जाननेवाले आत्माका शरीर तो ज्ञायकशरीर है। वह भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीन कालोंका विषय होता हुआ तीन प्रकार है। वर्तमान और भावी शरीरका अर्थ सुगम है। क्योंकि वह आत्मा वर्तमान शरीरको धारण कर ही रहा है और आगामी भविष्यकालके शरीरको धारण करेगा ही, वे ही भविष्यद्रव्यपनेकी अपेक्षा रखते हुए वर्तमान और भावी शरीर हैं। इनमें तीसरा भूतशरीर च्युत, च्यावित और त्यक्तकी अपेक्षासे तीन प्रकार है। यद्यपि ये भूतकालके परिणाम हैं, किन्तु भूत, भविष्यकी योग्यतारूप [illegible] इनमें घट जाता है। ये शरीर भूतकालमें होते हुए उससे भविष्यकालमें होनेवाले ज्ञानके सहायक बन चुके हैं। नित्य आत्मद्रव्यके किसी परम्पराकी अपेक्षा शास्त्रज्ञान करनेमें फिर भी उपयोगी बन सकेंगे। षष्ठी तिथिको चौथ समझनेवाले किसी पुरुषने पूंछा कि अष्टमी कब है? उत्तरदाताने कहा कि परसों है। प्रश्नकर्त्ता सम्भ्रान्त होकर कहता है कि क्या अष्टमी परसों ही हो गयी। यहां भविष्यमें भूतकालका आरोप है। कार्तिक वदी चतुर्दशीको जैन जन कहते हैं कि वीरनिर्वाण कल दिन प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्तमें होगा। यह भूतमें भविष्यकालका आरोप है तथा क्वचित् द्रव्यनिक्षेप भूतपरिणामोंको भी विषय कर लेता है।

भाविनोआगमद्रव्यमेष्यत्पर्यायमेव तत्।
तथा तद्व्यतिरिक्तं च कर्मनोकर्मभेदभृत् ॥ ६३ ॥
ज्ञानावृत्यादिभेदेन कर्मानेकविधं मतम्।
नोकर्म च शरीरत्वपरिणामनिरुत्सुकम् ॥ ६४ ॥
पुद्गलद्रव्यमाहारप्रभृत्युपचयात्मकम्।
विज्ञातव्यं प्रपञ्चेन यथागममबाधितम् ॥ ६५ ॥

उन उन शास्त्रोंको जाननेवाला जो आत्मा भविष्यमें आनेवाली पर्यायोंकी ओर अभिमुख ही है, उन पर्यायोंसे आक्रान्त हो रहा आत्मा भाविनोआगम द्रव्य है। तथा कर्म और नोकर्म इन दो भेदोंको धारण करनेवाला तीसरा तद्व्यतिरिक्त नोआगम-द्रव्यनिक्षेप है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि भेद करके कर्म अनेक प्रकारका माना गया है। बाईस वर्गणाओंमेंसे कार्मणवर्गणाएं अष्टविध कर्मरूप परिणमसकेंगी। तथा वर्तमानमें शरीरपनारूप परिणतिके लिये उत्साहरहित जो आहार वर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तेजोवर्गणारूप एकत्रित हुआ पुद्गलद्रव्य है वह नोकर्म समझ लेना चाहिये। उक्त विषयोंको विस्तारसे आगमके अनुसार और बाधाओंसे रहित व्याख्यान कर लेना चाहिये। यहां संक्षेपसे कह दिया है।

नन्वनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमयुक्तं, गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति तस्य सूत्रितत्वात्, तदागमविरोधादिति कश्चित्, सोऽपि सूत्रार्थानभिज्ञः। पर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रयं द्रव्यमुक्तम्। तच्च यदानागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रान्तं परित्यक्तपूर्वपर्यायं च निश्चीयतेऽन्यथानागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः खरविषाणादिवत्। केवलं द्रव्यार्थप्रधानत्वेन वचनेऽनागतपरिणामाभिमुखमतीतपरिणामं वानपायि द्रव्यमिति निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम्। सूत्रकारेण तु परमतव्यवच्छेदेन प्रमाणार्पणाद्गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति सूत्रितं क्रमाक्रमानेकान्तस्य तथा व्यवस्थितेः।

यहां कोई शंका कर रहा है कि आप जैनोंने अभी द्रव्यका यह लक्षण कहा कि भविष्यमें आनेवाले विशेष परिणामोंके प्रति अभिमुखपनेको ग्रहण करनेवाला द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्यका लक्षण तो युक्त नहीं है क्योंकि श्रीउमास्वामी महाराजने उस द्रव्यके लक्षणका गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है, यह सूत्र कह दिया है। अतः श्रीविद्यानन्द आचार्यके लक्षणका उस आगमसे विरोध हो गया। इस प्रकार कहनेवाला वह कोई शंकाकार भी सूत्रके अर्थको नहीं समझ रहा है। देखिये ! पर्यायवाला द्रव्य होता है इस प्रकार कहनेवाले सूत्रकार उमास्वामी महाराजने तीनों कालमें क्रमसे होनेवाली अनन्त पर्यायोंका आश्रय हो रहा द्रव्य कहा है। वह द्रव्य जब भविष्यमें होनेवाले विशेषपरिणामके प्रति अभिमुख है तब वर्तमानकी पर्यायोंसे तो घिरा हुआ है और भूतकालकी पर्यायोंको छोड चुका है ऐसा निर्णीतरूपसे जाना जा रहा है। अन्यथा खरविषाण, गगनकुसुमके समान भविष्यपरिणामोंके प्रति अभिमुखपना न बन सकेगा। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तथा पूर्वस्वभावोंका त्याग, उत्तर स्वभावोंका ग्रहण, और स्थायी अंशोंसे ध्रुवपना, ये द्रव्यकी आत्मा हैं। भविष्यकी अभिमुखता कह देनेसे भूतको धारण कर चुका और वर्तमान पर्यायोंको झेल रहा है, यह तो अनायास कह दिया गया समझ लेना चाहिये। केवल विशेष बात यह है कि नित्य द्रव्यरूप अर्थकी प्रधानतासे कथन करनेपर भविष्यमें आनेवाले परिणामोंकी ओर अभिमुख और अतीत परिणामोंको धारण कर चुका, तथा जो नष्ट नहीं होनेवाला ध्रुव पदार्थ है वह द्रव्य है। इस प्रकार भविष्यपरिणामकी अभिमुखताकी प्रधानतासे निक्षेपके प्रकरणमें तिस प्रकार यह द्रव्यका लक्षण श्रीविद्यानन्द आचार्यने कहा है। किन्तु सूत्रकारने तो पांचवें अध्यायमें अन्यमतिओंसे माने गये द्रव्यलक्षणका खण्डन करके प्रमाणदृष्टिकी अपेक्षा सहभावीगुण और क्रमभावी पर्यायोंवाला द्रव्य होता है, इस प्रकार सूत्र बनाया है। प्रमाणदृष्टिसे तिस ही प्रकार द्रव्यका लक्षण करनेपर अक्रमसे होनेवाले अनेकान्त और क्रमसे होनेवाले अनेकान्तकी व्यवस्था हो जाती है। अर्थात् क्रमसे होनेवाली मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, काला, नीला आदि पर्यायें क्रमानेकान्त है और चेतना, सुखरूप, रस, आदि सहभावी पर्याय रूप अक्रमानेकान्त है, ये सभी द्रव्यके अंश हैं। अर्पणा और अनर्पणासे पदार्थकी सिद्धि हो जाती है।

कुतस्तर्हि त्रिकालानुयायी द्रव्यं सिद्धमित्याह:—

किसीका प्रश्न है तो बतलाओ कि तीनों कालमें अन्वय रखनेवाला द्रव्य कैसे सिद्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं:—

अन्वयप्रत्ययात्सिद्धं सर्वथा बाधवर्जितात् ।
तद्द्रव्यं बहिरन्तश्च मुख्यं गौणं ततोऽपरम् ॥ ६६ ॥

सभी प्रकार बाधकप्रमाणोंसे रहित हुये अन्वय ज्ञानसे वे शरीर आदि बहिरंग और आत्मा स्वरूप अन्तरंग द्रव्य तीनों कालमें ओतप्रोत हो रहे मुख्य द्रव्यसिद्ध हैं तथा उनसे भिन्न आरोपित किया गया गौण द्रव्य है ।

तदेवेदमित्येकत्वप्रत्यभिज्ञानमन्वयप्रत्ययः स तावज्जीवादिप्राभृतज्ञायिन्यात्मन्यनुपयुक्ते जीवाद्यागमद्रव्येऽस्ति । य एवाहं जीवादि प्राभृतज्ञाने स्वयमुपयुक्तः प्रागासं स एवेदानीं तत्रानुपयुक्तो वर्ते पुनरुपयुक्तो भविष्यामीति संप्रत्ययात् ।

" यह वही है, यह वही है " इस प्रकार एकत्वको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञान अन्वयज्ञान है, वह ज्ञान जब कि जीव, सम्यग्दर्शन, आदि शास्त्रोंको जाननेवाले किन्तु वर्तमानमें उपयुक्त नहीं ऐसे जीव आगमद्रव्य या सम्यक्त्व आगमद्रव्यरूप आत्मामें तो अवश्य विद्यमान है । क्योंकि जो ही मैं जीव आदिक शास्त्रोंको जाननेमें पहिले स्वयं उपयोगसहित था, वही मैं इस समय उस शास्त्रज्ञानमें उपयोगरहित होकर वर्त रहा हूँ और पीछे फिर शास्त्रज्ञानमें उपयुक्त हो जाऊंगा । इस प्रकार द्रव्यपनेकी लडीको लिये हुए भले प्रकार ज्ञान हो रहा है । अर्थात् एक विद्वान् श्रीत्रिलोकसारके अनुसार नन्दीश्वरद्वीपकी रचनाको जान चुका है, किन्तु इस समय अष्टसहस्रीको पढ रहा है । फिर दूसरे दिन नन्दीश्वरद्वीपको जान लेवेगा । इस प्रकार चित्तवृत्तिके अनुसार उपयोगसहितपना और उपयोगरहितपना देखा जा रहा है ।

न चायं भ्रान्तः सर्वथा बाधवर्जितत्वात् । न तावदस्मदादिप्रत्यक्षेण तस्य बाधस्तद्विषये स्वसंवेदनस्यापि विशदस्य वर्तमानपर्यायविषयस्याप्रवर्तनात् ।

देखो, यह समीचीन प्रत्यय भ्रमरूप नहीं है । क्योंकि सभी प्रकार बाधाओंसे रहित है । तहां हम सरीखे साधारण जीवोंके प्रत्यक्ष करके तो उस सम्यग्ज्ञानकी बाधा नहीं होती है । क्योंकि उस सम्यग्ज्ञानके विषयमें वर्तमान पर्यायोंको ही विषय करनेवाले विशद स्वरूप स्वसंवेदनकी भी जब प्रवृत्ति नहीं है तो फिर विचारे स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए प्रत्यक्षोंकी तो क्या चलेगी । भावार्थ—नित्य द्रव्यको सिद्ध करनेवाले प्रत्यभिज्ञानकी बाधा प्रत्यक्षोंसे नहीं हो सकती है ।

नाप्यनुमानेन तस्य बाधस्तस्य तद्विपरीतविषयव्यवस्थापकस्यासंभवात् । यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमक्षणिके सर्वथार्थक्रियाविरोधात्तल्लक्षणसत्त्वानुपपत्तेरित्यनुमानेन तद्बाध इति चेन्नास्य विरुद्धत्वात्। सत्त्वं ह्यर्थक्रियया व्याप्तं, सा च क्रमयौगपद्याभ्यां ते च कथञ्चिदन्वयित्वेन, सर्वथानन्वयिनः क्रमयौगपद्यविरोधादर्थक्रियाविरहात् सत्त्वानुपपत्तेरिति समर्थनात्।

और अनुमान प्रमाणसे भी उस सम्यग्ज्ञानकी बाधा नहीं होती है, क्योंकि उससे विपरीत होरहे साध्यकी व्यवस्था करनेवाले अनुमानका असंभव है, यानी अनित्यको सिद्ध करनेवाला कोई अनुमान नहीं है। यदि कोई यों अनुमान बनाकर कहे कि जो जो सत् हैं, वे सभी दूसरे क्षणमें नाश होनेवाले क्षणिक हैं, क्षणिकपनेसे रहित नित्यद्रव्यमें तो सभी प्रकारोंसे अर्थक्रिया होनेका विरोध है, अतः अर्थक्रियास्वरूप उस सत्पनेकी उस द्रव्यमें संघटना नहीं हो पाती है, अतः इस अनुमान करके वह प्रत्यभिज्ञान बाधित हो जाता है। आचार्य समझाते हैं कि सो इस प्रकार तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये, क्योंकि बौद्धोंका यह अनुमान विरुद्ध है, यानी सत्त्वहेतु विरुद्धहेत्वाभास है। देखिये, सत्त्वकी व्याप्ति अर्थक्रियाके साथ अवश्य है और वह अर्थक्रिया क्रम तथा युगपत्पनेसे होनेवाले परिणामोंके साथ व्याप्ति रखती है और वे क्रम यौगपद्य दोनों कथञ्चित् अन्वयीपनसे व्याप्ति रखते हैं। अर्थात् देवदत्त अपने बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थोंसे रस, रक्त, मांस आदिको क्रमसे बनाता है। गर्भिणी स्त्री अबुद्धि पूर्वक पुरुषार्थसे गर्भाशयमें यथायोग्य कुछ-कुछ बच्चेको बना रही है। स्तनमें दूध बननेके- उपयोगी साधन भी बनाये जा रहे हैं, भले ही बच्चेका पुण्य, पाप और पुरुषार्थ भी इसमें कारण होवे, तथा देवदत्त श्वास लेना, नाडी चलाना, रक्तगति कराना, पित्ताग्निके द्वारा अन्न, जल, वात, पित्त, कफ, दोषको पचाना इत्यादि क्रियाओंको बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थोंसे युगपत् कर रहा है। यह सब भी तभी हो सकता है जब कि देवदत्त द्रव्य अन्वयीरूपसे कालान्तरस्थायी होवे। सभी प्रकार अन्वय नहीं रखनेवाले क्षणिक स्वलक्षणके क्रम तथा यौगपद्य होनेका विरोध है। जहां क्रम, यौगपद्य, नहीं, वहां उनसे व्याप्य हो रही अर्थक्रियाका भी अभाव है और अर्थक्रियाके अभाव हो जानेसे उसका व्याप्य सत्त्व नहीं बन सकता है। इस प्रकार हेतुका समर्थन है। अतः सत्त्व हेतु कथञ्चित् अन्वयीपनसे व्याप्ति रखता है। क्षणिकपनसे नहीं। इस प्रकार बौद्धोंके असमीचीन अनुमानसे हमारे द्रव्यसाधक ज्ञानमें कोई बाधा नहीं आती है। जिस क्षणिकत्वकी आप सत्त्व हेतुसे सिद्धि करते हैं वह उससे होती नहीं और सत्त्व हेतुसे जिस कथञ्चित् नित्यानित्यत्वकी सिद्धि होती है वह हमारे द्रव्यनित्यत्वका बाधक नहीं किंतु सहायक ही है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमात्मन्येकत्वप्रत्ययं बाधत इति चेन्न एकत्र सन्ताने तस्य जातुचिदभावात् । नाना सन्तानचित्तेषु तद्दर्शनादेकसन्तानचित्तेषु सद्भाव इति चेन्न अनेक संतान विभागाभावप्रसङ्गात् । सदृशत्वाविशेषेऽपि केषाञ्चिदेव चित्तविशेषाणामेकसन्तानत्वं प्रत्यासत्तिविशेषात् परेषां नानासन्तानविभागसिद्धौ सिद्धमेकद्रव्यात्मकचित्तविशे-

पाणामेकसन्तानत्वं द्रव्यप्रत्यासत्तेरेव तथा भावनिबन्धनत्वोपपत्तेरुपादानोपादेयभावान-न्वयादेरपाकृतत्वात् ।

बौद्ध कहते हैं कि अपनी पर्यायोंमें तीनों काल अन्वित रहनेवाले आत्माके एकत्वको विषय करनेवाले ज्ञानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञान बाधक है। अर्थात् भिन्न भिन्न समयोंमें हुए निरन्वय परिणाम हैं, वे सदृश हैं, एक द्रव्यरूप नहीं हैं । केशोंके काट देनेपर पुनः उत्पन्न हुए केशोंमें ये वे ही केश हैं यह ज्ञान, जैसे पहिले केशोंके सदृश ये केश हैं इस सादृश्यप्रत्यभिज्ञानसे बाध्य हो जाता है, अथवा यह वही चूर्ण है जो वैद्यजीने कल दिया था तथा यह वही सहारनपुरसे बम्बईको जानेवाली रेलगाडी है जिससे कि कल इन्द्रदत्त बम्बईको गया था, यहां भी सादृश्यप्रत्यभिज्ञान उन एकत्व प्रत्यभिज्ञानोंको बाधता है । तैसे ही आत्मामें हुए एकत्वके ज्ञानका क्षणिक परिणामोंमें परस्पर होने वाला सादृश्यप्रत्यभिज्ञान बाधक है । इसपर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि पूर्वापरपरिणामोंकी एक सन्तानरूप लडीमें वह सादृश्यज्ञान कभी नहीं होता है । यदि आप बौद्ध यों कहें कि देवदत्त, जिनदत्त, चन्द्रदत्त, आदि अनेक सन्तानरूप चित्तों (आत्माओं) में वह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान होता हुआ देखा जाता है, देवदत्त जिनदत्तके सदृश है । जिनदत्तका ज्ञान चन्द्रदत्तके ज्ञानसरीखा है। अतः एक देवदत्तकी सन्तानरूप चित्तोंमें भी सादृश्यज्ञानका सद्भाव मानोगे यानी देवदत्तके पूर्वसमयवर्ती ज्ञान और सुखका सादृश्य वर्तमान ज्ञान सुखोंमें है, देवदत्तके अनेक ज्ञान सुख आदिकोंमें अन्वित रहनेवाला कोई एक द्रव्य नहीं है, सो इस प्रकार तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो देवदत्त, जिनदत्त आदिकी न्यारी-न्यारी अनेक सन्तानोंके विभाग न हो सकनेका प्रसंग होगा । भावार्थ—देवदत्तके पूर्वापर परिणाम भी सब सदृश हैं, किसीसे अन्वित नहीं, यानी द्रव्यरूप लडीसे बंधे हुए तदात्मक नहीं हैं और जिनदत्तके भी आगे पीछे होने वाले परिणाम सदृश होते हुए न्यारे-न्यारे पडे हैं, ऐसी दशामें एक एक देवदत्त, जिनदत्त, आदि चित्तकी किन किन परिणामोंसे लडी बनायी जावे ? । चार व्यक्तियोंके पास उसी सन्, मूर्त्ति, लेख, कमूराओंके ठीक समान सौ सौ रुपये हैं उन रुपयोंको इकट्ठा कर दिया जावे तो कौनसा उपाय है जिससे कि वे के वे ही रुपये उनके पास पहुंचे, जो कि उनके पास पहिले थे, अर्थात् कोई उपाय नहीं । तथा न्यारे न्यारे पत्रोंकी छपी हुयी किताबोंमेंसे बीसवां पत्र यदि अन्य वैसी ही पुस्तकमें मिला दिया जावे और उसका बीसवां पत्र इस पुस्तकमें मिला दिया जावे तो इसका निर्णय कैसे किया जावे कि यह पत्र इस पुस्तकका नहीं है, उसका है । इसी प्रकार द्रव्यसम्बन्धको न स्वीकार कर सदृश पदार्थोंमें एक सन्तानपनेको माननेवाले बौद्धोंके यहां सन्तानसांकर्यके निवारणका कोई उपाय नहीं है । अतः जिन-दत्त इन्द्रदत्त आदि अनेक सन्तानोंका विभाग करना अशक्य हुआ । यदि अनेक स्वकीय परकीय परिणामोंमें सदृशपनेका अन्तर न होते हुए भी किन्हीं ही विशेषचित्तोंका सम्बन्ध विशेष हो जानेके कारण एकसन्तानपना माना जावेगा और दूसरे किन्हीं चित्तविशेषोंका विशेषसम्बन्ध होनेसे दूसरी

सन्तान मानी जावेगी। तीसरे प्रकारके क्षणिक परिणामोंके सम्बन्धविशेषसे हुए पिण्डको तीसरी सन्तान कहा जावेगा। इस प्रकार बौद्ध लोग देवदत्त, जिनदत्त, आदि अनेक सन्तानोंके विभागकी सिद्धि करेंगे। तब तो एकद्रव्यस्वरूप भिन्नसे विशेष परिणामोंको एकसन्तानपना सिद्ध हो गया। द्रव्य नामक प्रत्यासत्तिको ही तिस प्रकार होनेवाले एक सन्तानपनेकी कारणता सिद्ध होती है। एक द्रव्यके नाना परिणामोंकी एक सन्तान करनेमें उपादानउपादेयभाव आनन्तर्य, क्षेत्रप्रत्यासत्ति, भावसम्बन्ध, आदिके प्रयोजकत्वका खण्डन किया जा चुका है। अर्थात् एक मिट्टीसे अनेक घडा, घडी, सकोरा, सराई आदि बन जाते हैं, किन्तु इनकी एकसन्तान नहीं है। हां! जितनी मिट्टीसे घडा बना है उसके ही पूर्वापर परिणामोंका विचार किया जावे तो उनमें एक-सन्तानपना बन जाता है। ऐसे ही बैलके मस्तकमें उत्पन्न हुए दायें, बायें, सींगोंका उपादानकारण एक है, फिर भी उन सींगोंकी एकसन्तान नहीं कही जा सकती है। तथा एक खेतमें एक ही समय जौ, चना, गेहूं, मटर, बोए गये कुछ समय बाद बीजोंके उत्तर परिणामरूप अंकुर पैदा हुए, यहां जौके बीज और जौके अंकुरका तो एकसन्तानपना है किन्तु गेहूं के बीज और जौके अंकुरका एकसन्तानपना नहीं है, भले ही अनन्तर उत्तर समयोंमें होना रूप कालप्रत्यासत्ति गेहूंके अंकुर और जौके बीजमें विद्यमान है। तथा एक थैलीमें अनेक रुपये, पैसे और मोहरें रक्खी हैं, किन्तु इनका एक द्रव्य सम्बन्ध न होनेके कारण एक क्षेत्रमें रहते हुए भी एकसन्तानपना नहीं है, अथवा वात, आतप, कार्मणवर्गणायें, आकाश, कालाणु, जीव, धर्म, अधर्म द्रव्य ये सब उन्हीं आकाशके प्रदेशोंपर हैं इनमें क्षेत्रप्रत्यासत्ति है किन्तु एकसन्तानपना नहीं। तथा शास्त्रीयपरीक्षा उत्तीर्ण अनेक छात्रोंमें एकसा शास्त्रज्ञान अथवा ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त चौबीस सिद्ध परमेष्ठियोंमें एकसा केव-लज्ञान होनेसे भावप्रत्यासत्ति है, किन्तु द्रव्यप्रत्यासत्ति न होनेसे इनमें एकसन्तानपना नहीं है। परिशेषमें द्रव्यप्रत्यासत्ति ही एकसन्तानपनेका अव्यभिचारी उपाय है। इसके अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध उनका घटक नहीं हो सकता है।

ततोऽस्खलत्सादृश्यप्रत्यभिज्ञानात् सादृश्यसिद्धिवदस्खलदेकत्वप्रत्यभिज्ञानादेकत्वसि-द्धिरेवेति निरूपितप्रायम्।

तिस कारण अबाधित सादृश्यप्रत्यभिज्ञानसे परिणामोंमें जैसे सदृशपनेकी सिद्धि हो जाती है, वैसे ही अविचलित (प्रामाणिक) एकत्वप्रत्यभिज्ञानसे एकपनेकी सिद्धि भी हो ही जाती है इस बातको हम पहिले प्रकरणोंमें प्रायः (बहुभाग) निरूपण कर चुके हैं। उपादान उपादेय भावका या एकसन्तानपनेका निर्दोष कारण एकद्रव्यप्रत्यासत्ति ही है। आत्मा आदि वस्तुओंके अनादि अनन्त पहिले पीछे होनेवाले परिणामोंमेंसे एक एक व्यक्तिरूप द्रव्यके नियमितपरिणामोंमें द्रव्यप्रत्यासत्ति ओतप्रोत हो रही है, जैसे कि दूध, दही, घीमें गोरसत्व तदात्मक हो रहा है।

एतेन जीवादिनोआगमद्रव्यसिद्धिरुक्ता । य एवाहं मनुष्यजीवः माभासं स एवाधुना देवो वर्ते पुनर्मनुष्यो भविष्यामीत्यन्वयप्रत्ययस्य सर्वथाप्यबाध्यमानस्य सद्भावात् । यदेव जलं शुक्तिविशेषे पतितं तदेव मुक्ताफलीभूतमित्याद्यन्वयप्रत्ययवत् ।

इस कथनसे जीव, सम्यग्दर्शन, आदिके नोआगम द्रव्यकी सिद्धि भी कह दी गयी है । जो ही मैं पहिले मनुष्य जीव था, सो ही मैं इस समय देव हूं यानी देव होकर वर्त रहा हूं, तथा भविष्यमें फिर मैं मनुष्य हो जाऊंगा, ऐसा सभी प्रकारोंसे भी हीन बाधने योग्य अन्वयज्ञान विद्यमान है । गृहस्थ मनुष्य प्रतिदिन विचारता है कि मैंने ही प्रातः जिनार्चा की थी । इस समय भोजन कर रहा हूं । कुछ समय पीछे वाणिज्य करूंगा । तथा जो ही जल मोतीकी जननी विशेषसीपमें पडा था । वही जल परिणाम करते हुए मोती होगया है इत्यादि प्रकारके अन्वयज्ञान जैसे निर्बाध हैं, तैसे ही भविष्य पर्यायोंमें परिणत होनेवाले नोआगम द्रव्यको समझ लेने वाले ज्ञान अबाधित हैं । अविसंवादी हैं ।

ननु च जीवादिनोआगमद्रव्यमसंभाव्यं जीवादित्वस्य सार्वकालिकत्वेनानागतत्वासिद्धेस्तदभिमुख्यस्य कस्यचिदभावादिति चेत्, सत्यमेतत् । तत एव जीवादिविशेषापेक्षयोदाहृतो जीवादिद्रव्यनिक्षेपो ।

यहां किसीकी और भी शंका है कि जीव, पुद्गल, आकाश, आदिका नोआगम द्रव्य तो असम्भव है, क्योंकि जीवपना, पुद्गलपना आदि धर्म तो उन द्रव्योंमें सर्व काल रहते हैं, इस कारण सामान्यजीवपने आदिको भविष्यमें प्राप्त होनापन असिद्ध है, जीवपने आदि धर्मोंकी ओर अभिमुख होनेवाले किसी भी पदार्थका अभाव है, अर्थात् पहिले जीव नहीं होकर पुनः जीव बने यानी, पुद्गल तत्त्व जीव द्रव्य बन जावे, या जीवद्रव्य पुनः पुद्गलद्रव्य बने तब तो द्रव्यनिक्षेपका लक्षण घट सकेगा । किन्तु कोई भी वस्तु जीव नहीं होता हुआ पश्चात् जीव बन जावे, अथवा पुद्गल न होता हुआ पीछेसे पुद्गल बन जावे ऐसा नहीं माना गया है । कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो सकता है । आचार्य समझाते हैं कि यदि इस प्रकार शंका करोगे तो हम जैन कहते हैं कि यह आपका कहना ठीक है । सामान्यरूपसे जीव, पुद्गल, आदिका नोआगमद्रव्य नहीं बनता है । तिस ही कारण जीव, पुद्गल आदिके विशेषोंकी अपेक्षासे जीव आदिके द्रव्यनिक्षेपका उदाहरण दिया गया है । मनुष्य, देव, पुनः मनुष्य, या खात, अन्न, पुनः खात ये दृष्टान्त नोआगम द्रव्यनिक्षेपके हैं, ऐसा समझना ।

नन्वेवमागमद्रव्यं वा बाधितात्तदन्वयप्रत्ययान्मुख्यं सिध्यतु ज्ञायकशरीरं तु त्रिकालगोचरं तद्व्यतिरिक्तं च कर्मनोकर्मविकल्पमनेकविधं कथं तथा सिध्येत् प्रतीत्यभावादिति चेन्न, तत्रापि तथाविधान्वयप्रत्ययस्य सद्भावात् । यदेव मे शरीरं ज्ञातुमारभमाणस्य तत्त्वं

तदेवेदानीं परिसमाप्ततत्त्वज्ञानस्य वर्तत इति वर्तमानज्ञायकशरीरे तावदन्वयप्रत्ययः। यदेवोपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य मे शरीरमासीत्तदेवाधुनानुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्येत्यतीतज्ञायकशरीरे प्रत्यवमर्शः। यदेवाधुनानुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य शरीरं तदेवोपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य भविष्यतीत्यनागतज्ञायकशरीरे प्रत्ययः।

किसीकी शंका है कि आपके पूर्वविवरणके अनुसार बाधारहित उसके अन्वयज्ञानसे मुख्य आगमद्रव्य तो भले ही सिद्ध हो जाओ, किन्तु तीनों कालमें ठहरनेवाला ज्ञायकशरीर और कर्म नोकर्मके भेदोंसे अनेक प्रकारका तद्व्यतिरिक्त भला कैसे तिस प्रकार मुख्य सिद्ध होवेगा ? बताओ। क्योंकि उसकी बाधारहित कोई प्रतीति नहीं हो रही है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, कारण कि वहां भी तिस प्रकार अनेक भेदोंको लिये हुए अन्वयज्ञान विद्यमान है। तत्त्वोंको जाननेके लिये आरम्भ करनेवाले मेरा जो ही शरीर पहिले था, वही तो इस समय तत्त्वज्ञानको भली भांति समाप्त करनेवाले मेरा शरीर वर्त रहा है, इस प्रकार वर्तमानके ज्ञायक शरीरमें तो अन्वयप्रत्यय यानी यह वही है, यह वही है, ऐसा ज्ञान विद्यमान है। और तत्त्वज्ञान करनेमें उपयोग लगाये हुए मेरा जो ही शरीर पहिले था वही इस भोजन करते समय तत्त्वज्ञानमें नहीं उपयोग लगाये हुए मेरा यह शरीर है, इस प्रकार भूतकालके ज्ञायकशरीरमें प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। तथा इस वाणिज्य करते समय तत्त्वज्ञानमें नहीं उपयोग लगा रहे मेरा जो भी शरीर है, पीछे तत्त्वज्ञानमें उपयुक्त हो जाने पर वही शरीर रहा आवेगा, इस प्रकार भविष्यके ज्ञायकशरीरमें सुन्दर अन्वयज्ञान हो रहा है।

तर्हि ज्ञायकशरीरं भाविनोआगमद्रव्यादनन्यदेवेति चेन्न, ज्ञायकविशिष्टस्य ततोऽन्यत्वात् तस्यागमद्रव्यादन्यत्वं सुप्रतीतमेवानात्मत्वात्।

तब तो भाविनोआगम द्रव्यसे ज्ञायकशरीर अभिन्न ही हुआ यह कटाक्ष तो नहीं करना, क्योंकि उस ज्ञायक शरीरसे ज्ञायक आत्मा करके विशिष्ट हो रहा भावि नोआगमद्रव्य भिन्न है और वह ज्ञायकशरीर आगमद्रव्यसे तो भिन्न भले प्रकार जाना ही जा रहा है। कारण कि आगमके ज्ञानके उपयोगरहित आत्माको आगमद्रव्य माना है, जो आगमको जाननेवाला आगे होवेगा वह भावी है और जीवके जड शरीरको ज्ञायकशरीर माना गया है। अतः आत्मास्वरूप चेतन न होनेके कारण ज्ञायकशरीर आगमद्रव्यसे भिन्न ही है।

कर्म नोकर्म वान्वयप्रत्ययपरिच्छिन्नं ज्ञायकशरीरादनन्यदिति चेत् न, कार्मणस्य शरीरस्य तैजसस्य च शरीरस्य शरीरभावमापन्नस्याहारादिपुद्गलस्य वा ज्ञायकशरीरत्वासिद्धेः, औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयस्यैव ज्ञायकशरीरत्वोपपत्तेरन्यथा विग्रहगतावपि जीवस्योपयुक्तज्ञानत्वप्रसंगात् तैजसकार्मण शरीरयोः सद्भावात्।

यहां कोई पुनः कहता है कि तद्व्यतिरिक्तके कर्म और नोकर्म भेद भी अन्वयज्ञानसे जाने जाते हैं। अतः ये दोनों ज्ञायकशरीरसे अभिन्न हो जावेंगे। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह तो नहीं

कहना, क्योंकि कार्मणवर्गणाओंसे बने हुए कर्मशरीर और उससे अविनाभावी तैजसवर्गणाओंसे बने हुए तैजसशरीरके शरीरपनेको प्राप्त हो गये पुद्गलको ज्ञायकशरीरपना सिद्ध नहीं है, अथवा आहारवर्गणा, भाषावर्गणा आदि पुद्गलोंको भी ज्ञायकशरीरपना असिद्ध है। वस्तुतः बन चुके औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंको ही ज्ञायकशरीरपना युक्त है। अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरी प्रकार मानोगे तो विग्रहगतिमें भी जीवके उपयोग आत्मक ज्ञान हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। कार्मण और तैजसशरीर दोनों वहां विद्यमान हैं। भावार्थ—औदारिक आदि तीन शरीरोंके न होनेसे ही विग्रहगतिमें उपयोगरूप ज्ञान नहीं माना गया है। क्षयोपशम होनेसे लब्धिरूप ज्ञान है। अतः ज्ञायकशरीरसे आदिके तीन शरीर ही पकडे जावेंगे, तैजस और कार्मण शरीर नहीं।

कर्मनोकर्म नोआगमद्रव्यं भाविनोआगमद्रव्यादनर्थान्तरमिति चेन्न, जीवादिप्राभृतज्ञायिपुरुषकर्मनोकर्मभावमापन्नस्यैव तथाभिधानात्, ततोऽन्यस्य भाविनोआगमद्रव्यत्वोपगमात्। तदेतदुक्तप्रकारं द्रव्यं यथोदितस्वरूपापेक्षया मुख्यमन्यथात्वेनाध्यारोपितं गौणमवबोद्धव्यम्।

कर्म और नोकर्मरूप नोआगमद्रव्य तो भाविनोआगम द्रव्यसे अभिन्न हो जावेगा, यह तो नहीं कहना। क्योंकि जीव, सम्यक्त्व आदि शास्त्रोंके जाननेवाले पुरुषके कर्म और नोकर्मपनेको प्राप्त हो चुके ही कर्मनोकर्मोंको तैसा कथन किया है। उससे भिन्न अन्य अतिरिक्त, पडे हुए या आगे होनेवाले कर्म नोकर्मोंसे युक्त जीवको नोआगमद्रव्यपना स्वीकार किया है। तिस कारण कहे हुए भेदवाला यह द्रव्यनिक्षेप शास्त्रानुसार पहिले कहे हुए लक्षणकी अपेक्षासे तो मुख्य समझना और दूसरे प्रकारोंसे कल्पना कर आरोपित किया गया गौणद्रव्य समझलेना चाहिये, यानी वह द्रव्य गौण और मुख्यकी अपेक्षासे दो प्रकारका है। भावार्थ—देवदत्तके शरीरको द्रव्यनिक्षेपसे जैसे हम मुख्यपनेसे विद्वान् कह देते हैं, उसी प्रकार देवदत्तके चित्र (तस्वीर), छाया, नामावलीको भी गौण रीतिसे विद्वान् कह देते हैं। नयचक्रकी समीचीन योजनासे स्याद्वादियोंके यहां यह सब युक्त बन जाता है, अन्यत्र नहीं। अब भावनिक्षेपको कहते हैं;—

साम्प्रतो वस्तुपर्यायो भावो द्वेधा स पूर्ववत्।
आगमः प्राभृतज्ञायी पुमांस्तत्रोपयुक्तधीः ॥ ६७ ॥
नोआगमः पुनर्भावो वस्तु तत्पर्ययात्मकम्।
द्रव्यादर्थान्तरं भेदप्रत्ययाद् ध्वस्तबाधनात् ॥ ६८ ॥

तिसी परिणामसे आक्रान्त होरहे वस्तुकी वर्तमानकालमें जो पर्याय है वह भावनिक्षेप है। पूर्वके द्रव्यनिक्षेप समान वह भावनिक्षेप आगम और नोआगम भेदसे दो प्रकार है। तिनमें जीव,

सम्यक्त्व, चारित्र आदिके शास्त्रको जाननेवाला उस शास्त्रज्ञानके उपयोगमें लगा हुआ आत्मा आगमभाव है और फिर जीव, सम्यक्त्व, आदि उन उन पर्यायस्वरूप नोआगमभाव है। यह भावनिक्षेप बाधारहित भेदज्ञानके द्वारा द्रव्यनिक्षेपसे भिन्न हो रहा है, यानी अन्वयज्ञानसे द्रव्यनिक्षेप जाना जाता है और पर्यायको जाननेवाले भेद (व्यतिरेक) ज्ञानसे भावनिक्षेप जाना जाता है।

वस्तुनः पर्यायस्वभावो भाव इति वचनात्तस्यावस्तुस्वभावता व्युदस्यते। साम्प्रत इति वचनात्कालत्रयव्यापिनो द्रव्यस्य भावत्वं निरस्तं।

वस्तुका पर्यायस्वरूप भावनिक्षेप है ऐसा कहनेसे उस भावनिक्षेपके अवस्तुस्वभावपनेका निराकरण हो जाता है और वर्तमानकाल वाची सांप्रत ऐसा कह देनेसे तीनोंकाल व्यापी द्रव्यको भावरूप हो जानेका खण्डन कर दिया जाता है।

नन्वेवमतीतस्यानागतस्य च पर्यायस्य भावरूपताविरोधाद्वर्तमानस्यापि सा न स्यात्तस्य पूर्वापेक्षयानागतत्वात् उत्तरापेक्षयातीतत्वादतो भावलक्षणस्याव्याप्तिरसंभवो वा स्यादिति चेन्न। अतीतस्यानागतस्य च पर्यायस्य स्वकालापेक्षया सांप्रतिकत्वाद्भावरूपतोपपत्तेरननुयायिनः परिणामस्य सांप्रतिकत्वोपगमादुक्तदोषाभावात्।

यहां शंका है कि इस प्रकार भूत और भविष्य कालकी पर्यायोंको भावनिक्षेपरूपपनेका विरोध हो जानेके कारण वर्तमानकालकी पर्यायको भी वह भावरूपपना न हो सकेगा। क्योंकि वर्तमानकालकी पर्याय पूर्वपर्यायकी अपेक्षासे भविष्यकालमें है और उत्तरकालकी अपेक्षासे वर्तमान पर्याय तो भूतकालकी है, यानी वर्तमान पर्याय भी भूत और भविष्यत् पर्यायोंमें ही अन्तर्भूत है, अतः भावनिक्षेपके लक्षणकी विशेष भावोंमें लक्षण न जानेसे अव्याप्ति हुयी, अथवा सम्पूर्ण भावोंमें लक्षण न जानेसे असम्भव दोष हुआ। एकान्तसे वर्तमान पर्याय कोई ठहरता ही नहीं है। नैयायिकोंके गौतमसूत्रमें पूर्वपक्षीने कहा है कि—" वर्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः " वृक्षसे गिरता हुआ फल जितने आकाश प्रदेशोंमें नीचे आचुका है, उतना पतितमार्ग है। और जिन प्रदेशोंपर भविष्यमें गिरना है वह पतितव्य मार्ग है। पतति यह वर्तमानमें पडते रहनेको काल कुछ भी नहीं शेष रहा। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि भूतकालकी पर्याय और वर्तमानकालकी पर्याय अपने अपने कालकी अपेक्षासे वर्तमानकी ही हैं। अतः भावरूपता बन जाती है जो पर्याय आगे पीछेकी पर्यायोंमें अनुगमन नहीं करती हुयी केवल वर्तमानकालमें ही रहती है वह वर्तमान कालकी पर्याय भावनिक्षेपका विषय मानी गयी है। अतः पूर्वमें कहा हुआ कोई दोष नहीं आता है। अर्थात् वर्तमान कालको माने विना भूत, भविष्य कालोंका भी अभाव हो जावेगा, वे दोनों वर्तमानकी अपेक्षासे ही सिद्ध हो सकते हैं, वर्तमानमें जिनका ध्वंस है वे भूत हैं और वर्तमानमें जिनका प्रागभाव है वे भविष्य हैं। अतः वर्तमान कालका एक समय मानना अत्यावश्यक है। अन्यथा क्षणोंके समुदायरूप भूत और भविष्यत् काल कुछ न

ठहर सकेंगे। कितनी भी महीन सुई क्यों न हो, उसकी नोंक आकाशके प्रदेशको अवश्य घेरेगी। सूक्ष्मऋजुसूत्रका विषय माना गया क्षणिक परिणाम भी सांश है। लोक सम्बन्धी नीचेके वातवलयसे ऊपरके वातवलयमें जानेवाला वायुकायका जीव या परमाणु एक समयमें चौदह राजू जाता है। अतः एक समयके भी असंख्यात अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं। संसारका कोई भी छोटेसे छोटा पूरा कार्य एक समयसे न्यूनकालमें नहीं होता है। चाहे मन्दगतिसे परमाणु एक प्रदेशका अतिक्रमण करे। चाहे शीघ्रतापूर्वक चौदह राजू गमन करे, किन्तु एक समय तो पूरे एक कार्यमें अवश्य लगेगा ही, अधूरा कार्य कोई वस्तु नहीं है। तभी तो वर्तनाके लक्षणमें एक समयकी पलटनको पूरा अनुभव करना प्रत्येक पर्यायके लिये आवश्यक बताया है। " प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना " ऐसा राजवार्तिकमें कथन है।

स तु भावो द्वेधा द्रव्यवदागमनोआगमविकल्पात्। तत्प्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमः जीवादिपर्यायाविष्टोऽन्य इति वचनात्।

वह भावनिक्षेप तो द्रव्यनिक्षेपके समान आगमभावनिक्षेप और नोआगमभावनिक्षेपके भेदसे दो प्रकारका है। उन जीव, चारित्र, आदि विषयोंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंके ज्ञानमें लगे हुए उपयोगसे तदात्मक हो रहा आत्मा तो आगमभावनिक्षेप है, और उसके सहायक जीवन, प्राणधारण, लब्धि, आदि पर्यायोंसे युक्त आत्मा दूसरा नोआगमभावनिक्षेप है। इस प्रकार आकरग्रन्थोंमें कहा है।

कथं पुनरागमो जीवादिभाव इति चेत्, प्रत्ययजीवादिवस्तुनः सांप्रतिकपर्यायत्वात्। प्रत्ययात्मका हि जीवादयः प्रसिद्धाः एवार्थाभिधानात्मकजीवादिवत्। तत्र जीवादिविषयोपयोगाख्येन तत्प्रत्ययेनाविष्टः पुमानेव तदागम इति न विरोधः, ततोऽन्यस्य जीवादिपर्यायाविष्टस्यार्थादेर्नोआगमभावजीवत्वेन व्यवस्थापनात्।

फिर ज्ञानरूप आगमको जीव आदि भावनिक्षेपपना कैसे है ? ऐसा पूंछनेपर तो हम कहेंगे कि ज्ञानस्वरूप जीव आदि वस्तुओंको वर्तमान कालकी पर्यायपना है जिस कारणसे कि जीव आदि पदार्थ ज्ञानस्वरूप होते हुए प्रसिद्ध हो ही रहे हैं, जैसे कि अर्थ और शब्दरूप जीव आदिक हैं। भावार्थ—समन्तभद्र स्वामीने कहा है कि—" बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः " जगत् के व्यवहारमें कोई भी पदार्थ होय, वह बुद्धि, शब्द और अर्थ इन तीन स्वरूपोंमें विभक्त हो सकता है। अग्नि कहनेसे तीन पदार्थ ध्वनित होते हैं। एक तो अग्नि यह शब्द है, दूसरा आत्मामें अग्निका ज्ञान है, तीसरा दाहकत्व या पाचकत्व आदि शक्तियोंसे युक्त पौद्गलिक अग्नि पदार्थ है। ऐसे ही घटमें भी समझ लेना। घट शब्द है, घटज्ञान है और घट अर्थ है, इन तीनके अतिरिक्त घट कुछ भी नहीं है। व्याकरण पढनेवालेसे घट पूंछा जावे तो " घटते इति घटः " या " घटः घटौ घटाः " इस प्रकार उसका लक्ष्य घट शब्दकी ओर जावेगा। तथा कुम्हारके प्रति घट कहनेसे उसका

लक्ष्य कम्बु, ग्रीवावाले घट व्यक्तिकी ओर जावेगा और उपदेश देते समय घट कहदेनेसे घटज्ञानकी ओर लक्ष्य जावेगा। प्रकरणमें उस विषयके शास्त्रज्ञानमें उपयोग लगाये हुए आत्माको आगमभाव कह दिया है सो युक्त है, इन्द्र कहनेसे सूक्ष्म एवम्भूत नयके द्वारा इन्द्रज्ञान ही लिया जाता है। अग्निका अर्थ अग्निज्ञान है। तहां जीव आदि विषयोंके उपयोग नामक उन ज्ञानोंसे सहित आत्मा ही उन उन जीव आदि आगमभावनिक्षेपों करके कहा जाता है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है, तिस आगमभावसे भिन्न नोआगमभाव है जो कि जीव आदि पर्यायोंसे आविष्ट सहकारी पदार्थ आदि स्वरूप व्यवस्थित हो रहा है।

न चैवंप्रकारो भावोऽसिद्धस्तस्य बाधारहितेन प्रत्ययेन साधितत्वात् प्रोक्तप्रकारद्रव्यवत्। नापि द्रव्यादनर्थान्तरमेव तस्याबाधितभेदप्रत्ययविषयत्वात्, अन्यथान्वयविषयत्वानुषङ्गाद्द्रव्यवत्।

इस प्रकारका भावनिक्षेप कैसे भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि बाधारहित ज्ञानोंसे उसकी सिद्धि की जा चुकी है। जैसे कि दो प्रकारके द्रव्यनिक्षेपको भले प्रकार सिद्ध कर दिया गया है, और वह भावनिक्षेप द्रव्यनिक्षेपसे अभिन्न ही है। यह भी नहीं समझना ! क्योंकि वर्तमानकी विशेष पर्यायको ही विषय करनेवाला वह भावनिक्षेप निर्बाध भेदज्ञानका विषय हो रहा है। अन्यथा द्रव्यनिक्षेपके समान भावनिक्षेपको भी तीनों कालके पदार्थोंका ज्ञान करनेवाले अन्वयज्ञानकी विषयताका प्रसंग होवेगा। भावार्थ—अन्वयज्ञानका विषय द्रव्यनिक्षेप है और विशेषरूप भेदके ज्ञानका विषय भावनिक्षेप है। भूतभविष्यत् पर्यायोंका संकलन द्रव्यनिक्षेपसे होता है। और केवल वर्तमानपर्यायोंका भावनिक्षेपसे आकलन होता है।

नामोक्तं स्थापना द्रव्यं द्रव्यार्थिकनयार्पणात्।
पर्यायार्थार्पणाद्भावस्तैर्न्यासः सम्यगीरितः॥ ६९॥

द्रव्यार्थिक नयकी अर्पणा करनेसे नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निक्षेप कहे गये हैं, तथा पर्यायार्थिक नयके प्रधानताकी विवक्षासे भावनिक्षेप है। इस प्रकार उन चार निक्षेपकोंसे जीव, सम्यग्दर्शन, आदि पदार्थोंका न्यास (व्यवहृतिजनकतावच्छेदक) होना भले प्रकार कहा गया है।

नन्वस्तु द्रव्यं शुद्धमशुद्धं च द्रव्यार्थिकनयादेशात्, नामस्थापने तु कथं तयोः प्रवृत्तिमारभ्य प्रागुपरमादन्वयित्वादिति ब्रूमः। न च तदसिद्धं देवदत्त इत्यादि नाम्नः कश्चिद्बालाद्यवस्थाभेदाद्भिन्नेऽपि विच्छेदानुपपत्तेरन्वयित्वसिद्धेः। क्षेत्रपालादिस्थापनायाश्च कालभेदेऽपि तथात्वाविच्छेदः इत्यन्वयित्वमन्वयप्रत्ययविषयत्वात्।

यहां शंका है कि शुद्ध द्रव्य और अशुद्धद्रव्य ये तो भले ही द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मान लिये जावें, किन्तु नाम और स्थापना तो भला द्रव्यार्थिक नयके विषय कैसे हो सकते हैं ?

बताओ ! इसपर आचार्य कहते हैं कि इस शंकाका उत्तर हम इस प्रकार स्पष्ट कहते हैं कि उन नाम और स्थापनामें भी प्रवृत्त हुए समयसे प्रारम्भ कर विराम (विसर्जन) से पहिले तक अन्वयीपना विद्यमान है, अन्वयीपना द्रव्यनिक्षेपका प्राण है। नाम और स्थापनामें वह अन्वयीपना असिद्ध नहीं है। देखिये ! देवदत्त, इन्द्रदत्त, इत्यादि नामोंका किन्हीं व्यक्तियोंमें बालक, कुमार, युवा आदि अवस्थाओंके भेदसे भिन्न होते हुए भी विच्छेद होना नहीं बनता है, तभी तो अपनेको पूर्वदृष्टकी स्मृति और दूसरेको एकत्वप्रत्यभिज्ञान हो जाते हैं। अतः नाममें अन्वयीपना सिद्ध हो गया। अर्थात् जबसे किसीका नाम देवदत्त रख लिया जाता है मरनेतक और उसके पीछे भी यह वही देवदत्त है, वह देवदत्त था, ऐसे अन्वयरूप ज्ञान हो जाते हैं। नाममें लडीका डोरा टूटता नहीं है। द्रव्यनिक्षेपको इतना ही द्रव्यपना चाहिये। तथा क्षेत्रपाल, यक्ष, इन्द्र, आदिकी स्थापनाका कालभेद होते हुए भी तिस प्रकार स्थापनापनेका अन्तराल नहीं पडता है, पाषाणके बने हुए स्थापित क्षेत्रपालमें " यह वही है, यह वही है " इस प्रकारके अन्वयज्ञानकी विषयता होनेसे अन्वयीपना बहुत काल तक धारारूपसे चलता रहता है। यह विषय द्रव्यार्थिक नयका ही व्यवहार्य है।

यदि पुनरनाद्यनन्तान्वयासत्त्वान्नामस्थापनयोरनन्वयित्वं तदा घटादेरपि न स्यात्। तथा च कुतो द्रव्यत्वम् ? व्यवहारनयात्तस्यावान्तरद्रव्यत्वे तत एव नामस्थापनयोस्तदस्तु विशेषाभावात्।

यदि फिर शंकाकार यों कहे कि अनादिसे अनन्तकालतक अन्वय नहीं बननेके कारण नाम और स्थापनामें अन्वयीपना नहीं है, अतः वे द्रव्यार्थिक नयके विषय नहीं हो सकते हैं, ऐसा कहोगे तब तो घट, मनुष्य, आदिको भी धाराप्रवाहरूप अन्वयीपना न हो सकेगा। और तैसा होनेपर फिर घट आदिको भला द्रव्यपना कैसे आवेगा ? बताओ ! अर्थात् कुछ कालतक अन्वय बन जानेके कारण अशुद्धद्रव्यार्थिक नयके विषय मनुष्य, पट, आदि हो जाते हैं। मनुष्य पर्याय तो सौ, पांच सौ वर्ष, कोटि पूर्व, तीन पल्य तक ही ठहर सकती है। अनादिकालसे अनन्तकाल तक नहीं। यदि द्रव्यमें अनादिसे अनन्ततक अन्वय बने रहनेका नियम कर दिया जावेगा तो मनुष्यको द्रव्यपना न ठहर सकेगा। इसी प्रकार कुछ दिनों या वर्षोंतक ही ठहरनेवाले घट, पट, आदिक भी अशुद्धद्रव्य न बन सकेंगे। यदि व्यवहार नयकी अपेक्षासे उन घट, पट, आदि कुछ दीर्घकालस्थायी स्थूल पर्यायोंको अनादि अनन्त महाद्रव्यका व्याप्य अवान्तर विशेष द्रव्य मानोगे तो तिस ही कारण नाम और स्थापनाको भी वह व्याप्य द्रव्यपना हो जाओ। घट आदिक और नाम, स्थापना इनमें विशेष द्रव्यपनेसे कोई अन्तर नहीं है। अल्प देश, कालमें रहनेवाले द्रव्यपनेसे घट, नाम आदिमें अन्वयीस्वरूप द्रव्यपना एकसा रक्षित है।

ततः सूक्तं नामस्थापनाद्रव्याणि द्रव्यार्थिकस्य निक्षेप इति। भावस्तु पर्यायार्थिकस्य सांप्रतिकविशेषमात्रत्वात्तस्य।

तिस कारण हम विद्यानन्द आचार्यने कारिकामें बहुत अच्छा कहा था कि नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे कहे गये हैं और भावनिक्षेप तो पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतासे कहा गया है, क्योंकि वह भावनिक्षेप वर्तमानकालमें होनेवाली केवल विशेष पर्याय स्वरूपका स्पर्श करता है।

तदेतैर्नामादिभिर्न्यासो न मिथ्या, सम्यगित्यधिकारात्। सम्यक्त्वं पुनरस्य सुनयैरधिगम्यमानत्वात्।

तिस प्रकार इन नाम, स्थापना, द्रव्य, और भावों करके किया गया निक्षेप झूठा नहीं है। क्योंकि आदिके सूत्रसे सम्यक् इस प्रकारका अधिकार (अनुवृत्ति) चला आ रहा है। अर्थात् नाम आदिकों करके सम्पूर्ण पदार्थोंका समीचीन न्यास (अभ्यवहार्यपना) होता है। इस निक्षेपको समीचीनपना तो फिर श्रेष्ठ नयों करके जानागयापन होनेके कारण है, यानी प्रमाणस्वरूप श्रुतज्ञानके विशेष अंश नय हैं। श्रुतज्ञानसे पदार्थका निर्णय कर विशेष अंशोंको असाधारण रूपसे जाननेके लिये नयज्ञान उठाये जाते हैं। संज्ञी जीवके नयज्ञान उत्पन्न होते हैं। सुनयोंके द्वारा वस्तुधर्मोंका निर्णय कर नाम स्थापना, द्रव्य और भावोंसे तत्त्वोंका समीचीन न्यास हो जाता है। अतः चारों ही निक्षेपक समीचीन हैं।

तेषां दर्शनजीवादिपदार्थानामशेषतः।
इति सम्प्रतिपत्तव्यं तच्छद्बग्रहणादिह ॥ ७० ॥

इस सूत्रमें पूर्वका परामर्श करनेवाले तत् शद्बके ग्रहण करनेसे उन दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा जीव आदिक सात तत्त्व, इन सम्पूर्ण पदार्थोंका शेषरहितपने करके न्यास हो जाता है, यह भले प्रकार विश्वास कर लेना चाहिये।

यदमंस्त कश्चित् तद्ग्रहणं सूत्रेऽनर्थकं तेन विनापि नामादिभिर्न्यासः। सम्यग्दर्शनजीवादीनामित्यभिसम्बन्धसिद्धेस्तेषां प्रकृतत्वाच्च जीवादीनामेव अनन्तरत्वात्तदभिसम्बन्धप्रसक्तिस्तेषां विशेषादिष्टत्वात् प्रकृतदर्शनादीनामबाधकत्वात् तद्विषयत्वेनाप्रधानत्वात् च। नापि सम्यग्दर्शनादीनामेव नामादिन्यासाभिसम्बन्धापत्तिः जीवादीनामपि प्रत्यासन्नत्वेन तदभिसम्बन्धघटनादिति। तदनेन निरस्तम्। सम्यग्दर्शनादीनां प्रधानानामप्रत्यासन्नानां जीवादीनां चाप्रधानानां प्रत्यासन्नानां नामादिन्यासाभिसंबन्धार्थत्वात् तद्ग्रहणस्य। तदभावे प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीय इति न्यायात् सम्यग्दर्शनादीनामेव तत्प्रसंगस्य निवारयितुमशक्तेः।

कोई एक वादी जो यह मान बैठा था कि सूत्रमें तत् शद्बका ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि उस तत् शद्बके विना भी नाम आदिकों करके सम्यग्दर्शन आदिक और जीव आदिकोंका न्यास हो

जाता है। इस प्रकार वाक्यके अर्थका आगे पीछेसे सम्बन्ध हो जाना सिद्ध है । वे सम्यग्दर्शन आदिक और जीव आदिक सभी प्रकरणमें प्राप्त होरहे हैं । यहां इस सूत्रके अव्यवहित पूर्वमें होनेसे जीव आदिक सात तत्त्वोंका ही उस न्याससे उचित सम्बन्ध होनेका प्रसंग होगा और सम्यग्दर्शन आदिकोंका न्याससे सम्बन्ध न हो सकेगा । ऐसा न समझना ! क्योंकि उन जीव आदिकोंका तो अभी विशेषरूपसे आदेश कर दिया है, व्यापक प्रकरण तो सम्यग्दर्शन आदिका ही है । अतः वे जीवादिक प्रकरणमें प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन आदिकोंके बाधक नहीं हैं । दूसरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन आदिक ही प्रधान हैं । सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये विषयी हैं। इनके विषय होनेके कारण जीव आदिक अप्रधान हैं, अतः प्रधानोंके साथ न्यास सम्बन्ध होना भी छूट नहीं सकता है । तथा सम्यग्दर्शन आदिकोंके ही साथ नाम आदिकों द्वारा न्यासके सम्बन्ध होनेकी आपत्ति होगी यह भी नहीं समझना, क्योंकि अत्यन्त निकट होनेके कारण जीवादिकोंके साथ भी उस न्यासका बढ़िया सम्बन्ध हो जाना घटित हो जाता है । आचार्य समझाते हैं कि यहांतक जो कोई जो कुछ मान-रहा था वह मन्तव्य इस कथनसे खण्डित कर दिया है " प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने सम्प्रत्ययः " प्रधान और अप्रधानके प्रकरण होनेपर प्रधानमें ही ज्ञान होता है । इस न्यायके अनुसार दूर पड़े हुए किन्तु प्रधान ऐसे सम्यग्दर्शन आदिकोंका नाम आदिक न्यासोंसे संबन्ध हो जाय इसके लिये सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण किया है । तथा " विप्रकृष्टाविप्रकृष्टयोरविप्रकृष्टस्यैव ग्रहणम् " निकटवर्ती और दूरवर्तीका प्रकरण उपस्थित होनेपर निकटवर्तीका ही ग्रहण होता है । इस परिभाषाके अनुसार अप्रधान किन्तु निकट पड़े हुए जीव आदिकोंका भी न्याससे सम्बन्ध हो जाय । एतदर्थ सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण किया गया है । उस तत् शब्दके ग्रहण नहीं करनेपर प्रत्यासत्तिसे प्रधान अधिक बलवान् होता है । इस न्यायसे केवल सम्यग्दर्शन आदिकोंके साथ ही न्यासके सम्बन्ध होनेका प्रसंग दूर नहीं किया जा सकता था । भावार्थ—" प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः " यह परिभाषा प्रबल है । अतः न्यासका सम्बन्ध सम्यग्दर्शन आदिसे ही होता, जीव आदिकोंके साथ नहीं होता, किन्तु तत् शब्द व्यर्थ पड़ा । गम्भीर अर्थके प्रतिपादक शब्दोंको कहनेवाले सूत्रकारकी एक मात्रा भी व्यर्थ नहीं होनी चाहिये। अतः तत् शब्द व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि यहां प्रधान और निकटवर्ती अप्रधान सभी पदार्थोंका न्यास होना इष्ट है । सांशमें तत्शब्द चरितार्थ भी होगया और दूसरे इन्द्र आदि जीवोंमें या अन्य तत्त्वोंमें न्यास करनेका फल प्राप्त हो गया ।

नन्वनन्तः पदार्थानां निक्षेपो वाच्य इत्यसन् ।
नामादिष्वेव तस्यान्तर्भावात्संक्षेपरूपतः ॥ ७१ ॥

यहां कोई शंका करता है कि पदार्थोंके निक्षेप अनन्त कहने चाहिये, आप जैनोंने चार ही क्यों कहे ? आचार्य समझाते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि उन अनन्त निक्षेपोंका संक्षेप-

रूपसे नाम आदिक चार निक्षेपोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है, यानी संक्षेपसे निक्षेप चार प्रकारका है और विस्तारसे अनन्त प्रकारका है।

संख्यात एव निक्षेपस्तत्प्ररूपकनयानां संख्यातत्वात्, संख्याता एव नयास्तच्छब्दानां संख्यातत्वात्। " यावन्तो वचनपथास्तावन्तः संभवन्ति नयवादाः " इति वचनात्। ततो न निक्षेपोऽनन्तविकल्पः प्रपञ्चतोऽपि प्रसंजनीय इति चेन्न, विकल्पापेक्षयार्थापेक्षया च निक्षेपस्यासंख्याततोपपत्तेरनन्ततोपपत्तेश्च तथाभिधानात्। केवलमनन्तभेदस्यापि निक्षेपस्य नामादिविजातीयस्याभावान्नामादिष्वन्तर्भावात् संक्षेपतश्चातुर्विध्यमाह।

शंकाकारके ऊपर किसीका कटाक्ष है कि निक्षेप संख्यात प्रकारका ही हो सकता है। क्योंकि उस निक्षेपके प्ररूपण करनेवाले नय संख्यात ही हैं, जब कि उन नयोंके प्रतिपादक शब्द संख्यात ही हैं, अतः वे नय भी संख्यात ही हैं। शास्त्रोंमें यों कहा है कि जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद संभवते हैं अधिक नहीं। पुनरुक्त या अपुनरुक्त सभी शब्दोंकी जोडकला करने पर संख्यात ही वाक्य बन सकते हैं। संख्यात बहुत बडा है। तिस कारण विस्तारसे भी निक्षेप संख्यात प्रकारका हो सकता है ऐसी दशामें व्यासरूपसे भी निक्षेपके अनन्त विकल्प होनेका प्रसंग नहीं देना चाहिये। अब आचार्य महाराज निर्णय करे देते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सच्ची कल्पना करने वाले विकल्पज्ञानोंकी अपेक्षासे और तद्विषय अर्थोंकी अपेक्षासे निक्षेपोंको असंख्यातपना बन जाता है और अनन्तपना भी सिद्ध हो जाता है। अतः हमने विस्तारकी अपेक्षासे तिस प्रकार अनन्तपना कह दिया है, यानी शब्द भले ही संख्यात हों किन्तु शब्दजन्य ज्ञान तो जातिकी अपेक्षा असंख्यात हैं और वाच्य अर्थ तो व्यक्तिकी अपेक्षा अनन्त हैं। अतः निक्षेप भी असंख्यात या अनन्त कहे जा सकते हैं। " गतोऽस्तमर्कः " सूर्य अस्त हो गया, इस एक वाक्यके अनेक प्रकरणोंके अनुसार भिन्न भिन्न व्यक्तियोंको न्यारे न्यारे अर्थ या अर्थान्तर भासते हैं " एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं "। कारिकाका तात्पर्य केवल इतना है कि अनन्त भेदवाला निक्षेप भी नाम आदि चारोंसे कोई भिन्न जातीय नहीं है। अतः उन सबका नाम आदिकोंमें ही गर्भ हो जाता है। तिस कारण संक्षेपसे निक्षेपको चार प्रकारका कहा है।

नन्वेवम्—

यहां कोई कटाक्ष सहित अनुनय करता है कि इस प्रकार तो—

द्रव्यपर्यायतो वाच्यो न्यास इत्यप्यसंगतम्।
अतिसंक्षेपतस्तस्यानिष्टेरन्यथास्तु सः॥ ७२॥

जब संक्षेपसे न्यासका निरूपण करने लगे हो, तब तो द्रव्य और पर्याय इन दोसे ही न्यास होना कहना चाहिये, ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना भी असंगत है।

क्योंकि यहां अत्यन्त संक्षेपसे उस न्यासका निरूपण करना हमको इष्ट नहीं है। अन्यथा यानी दूसरे प्रकार अतिसंक्षेपसे न्यासका निरूपण किया जाय तो वह द्रव्य और भावरूपसे दो प्रकारका ही निक्षेप होवे। हमको इष्ट है, कोई क्षति नहीं है।

न ह्यत्रातिसंक्षेपतो निक्षेपो विवक्षितो येन तद्द्विविध एव स्याद्द्रव्यतः पर्यायतश्चेति तथा विवक्षायां तु तस्य द्वैविध्ये न किञ्चिदनिष्टम्। संक्षेपतस्तु चतुर्विधोऽसौ कथित इति सर्वमनवद्यम्।

इस प्रकरणमें हमको अत्यन्तसंक्षेपसे निक्षेप कहना विवक्षित नहीं है जिससे कि द्रव्यसे और पर्यायसे यों वह दो प्रकारका ही है, ऐसे कहा जाता। हां! जिस प्रकार विवक्षा होनेपर तो उस निक्षेपको दो प्रकार कहनेमें हमको कोई अनिष्ट नहीं है। संक्षेपसे तो वह निक्षेप चार प्रकारका कहा गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्रका मन्तव्य निर्दोष रूपसे सिद्ध हो गया। अर्थात् अत्यन्त संक्षेपसे निक्षेप दो प्रकारका है और संक्षेपसे चार प्रकारका तथा विस्तारसे संख्यात, असंख्यात अनन्त प्रकारका है।

ननु न्यासः पदार्थानां यदि स्यान्न्यस्यमानता।
तदा तेभ्यो न भिन्नः स्यादभेदाद्धर्मधर्मिणोः॥ ७३॥

किसीकी शंका है कि न्यासका अर्थ यदि पदार्थोंकी न्यस्यमानता है तब तो न्यास उन पदार्थोंसे भिन्न नहीं होना चाहिये, क्योंकि धर्म और धर्मीमें अभेद होता है। भावार्थ—जैसे पाकका अर्थ पच्यमानता माना जाय। चावलोंमें पाक होता है। चावल पकते हैं। पच्यमानता चावलोंका धर्म है। कर्ममें यक् प्रत्यय करके शानच् करते हुए तल् प्रत्यय किया गया है। किसी अपेक्षासे वह्निमत्ता और वह्नि जैसे एक हैं तैसे ही कर्ममें रहनेवाले न्यास और न्यस्यमानता भी एक हो सकते हैं। धर्म और धर्मीका अभेद माननेपर तो न्यासको प्राप्त किये गये न्यस्यमान पदार्थ और न्यासका भेद नहीं हो सकेगा तो फिर नाम आदिसे जीव आदि पदार्थोंका न्यास होता है। यह भेद गर्भित सूत्रवाक्य कैसे घटित हुआ? यह शंका करनेवालेका भाव है।

भेदे नामादितस्तस्य परो न्यासः प्रकल्प्यताम्।
तथा च सत्यवस्थानं क स्यात्तस्येति केचन॥ ७४॥

धर्म और धर्मीका भेद माननेपर उस न्यासका नाम आदिकसे फिर दूसरा न्यास कल्पना करना चाहिये और इसी प्रकार भेद पक्षमें वह न्यास पुनः न्यस्यमान हो जावेगा। उसके लिये

तीसरा न्यास कल्पित करना पडेगा, और तैसा होने पर तो उसकी अवस्थिति भला कहां हो सकेगी ? यानी अनवस्था दोष हो जावेगा। इस प्रकार कोई पण्डित शंका कर रहे हैं।

न हि जीवादयः पदार्था नामादिभिर्न्यस्यन्ते, न पुनस्तेभ्यो भिन्नो न्यास इत्यत्र विशेषहेतुरस्ति यतोऽनवस्था न स्यात् धर्मधर्मिणोर्भेदोपगमात्। तन्न्यासस्यापि तैर्न्यासान्तरे तस्यापि तैर्न्यासांतरे तस्यापि तैर्न्यासान्तरस्य दुर्निवारत्वादिति केचित्।

इसका भाष्य यों है कि जीव आदिक पदार्थ ही नाम आदिकों करके निक्षेपको प्राप्त किये जाते हैं किन्तु फिर उन जीव आदिकोंसे भिन्न न्यास नामका पदार्थ नाम आदिकोंसे न्यस्यमान नहीं किया जाता है। यहां ऐसा पक्षपातग्रस्त नियम करनेका कोई विशेष कारण नहीं है, जिससे कि धर्म और धर्मीका भेद पक्ष मानलेनेसे जैनोंके यहां अनवस्था दोष न होवे। जीवरूप धर्मीसे न्यासरूप धर्म न्यारा पदार्थ है। उस न्यास पदार्थका भी जीवके समान पुनः उन अन्य नाम, स्थापना आदि करके न्यास किया जावेगा और उस न्यासका भी उन नाम आदि करके अन्य न्यास किया जावेगा। उसका भी उन नाम आदि करके अपर न्यास किया जावेगा और इसी प्रकार उस निराले न्यासका भी नाम आदिकों करके न्यासान्तर किया जावेगा। इस अनवस्थाका निवारण करना अत्यन्त कष्टसाध्य है। इस प्रकार कोई कह रहे हैं। अब ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि,—

तदयुक्तमनेकान्तवादिनामनुपद्रवात्।
सर्वथैकान्तवादस्य प्रोक्तनीत्या निवारणात्॥ ७५॥
द्रव्यार्थिकनयात्तावदभेदे न्यासतद्वतोः।
न्यासो न्यासवदर्थानामिति गौणी वचोगतिः॥ ७६॥

सो यह किन्हीका कहना युक्तियोंसे रहित है, क्योंकि अनेकान्तवादियोंके यहां किसी दोषका उपद्रव नहीं है। सर्वथा भेद या अभेदके एकान्तवाद पक्षका पूर्वोक्त अच्छे न्यायमार्गसे निवारण कर दिया है। हम स्याद्वादी द्रव्यार्थिक नयसे तो न्यास और न्यासवाले न्यस्यमान पदार्थका अभेद मानते हैं ऐसा होनेपर न्यासवाले अर्थोंका न्यास है यह वचनका प्रयोग करना गौण है। जैसे कि शाखा और वृक्षके अभेद माननेपर शाखा ही वृक्ष है यह प्रयोग तो मुख्य है और शाखाओंसे युक्त वृक्ष है यह व्यवहार गौण है। अभिन्न गुण गुणीके पिण्डरूप द्रव्यको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय धर्म धर्मीको एक स्वरूपसे जानता है। यहां मतुप् या षष्ठीविभक्तिका प्रयोग ठीक नहीं बनता है।

पर्यायार्थनयाद्भेदे तयोर्मुख्यैव सा मता।
न्यासस्यापि च नामादिन्यासेष्टेर्नानवस्थितिः॥ ७७॥

भेदप्रभेदरूपेणानन्तत्वात्सर्ववस्तुनः ।
सद्भिर्विचार्यमाणस्य प्रमाणान्नान्यथा गतिः ॥ ७८ ॥

हां ! पर्यार्थिक नयकी विवक्षासे उन न्यास और न्यासवाले पदार्थोंका भेद हो जानेपर पदार्थोंका न्यास यह भेदगर्भित वचनप्रयोग मुख्य ही माना गया है । जैसे कि वृक्षकी शाखाएं हैं, ऐसी दशामें भिन्न पडे हुए न्यास पदार्थका भी नाम आदि निक्षेपों करके पुनः न्यास करना इष्ट है । अतः मूलको रक्षित रखनेवाला होनेके कारण अनवस्थादोष नहीं है, किन्तु आम्नायको पुष्ट करनेवाला होनेसे गुण है । भावार्थ—आगको कहनेवाला अग्निशद्ध है । व्याकरणमें इकारान्त अग्नि शद्धकी सुसंज्ञा है । द्वन्द्वसमासमें सुसंज्ञक शद्धोंका पूर्वनिपात हो जाता है । यह नामका नामनिक्षेप है । भौंराके वाचक द्विरेफ शद्धसे दो रकारवाला भ्रमर शद्ध पकडा जाता है । रामचन्द्र, प्रेमचन्द्र नहीं । तब भ्रमर शद्धसे भौंरा जाना जाता है । इस नामनिक्षेपके समान स्थापनाकी स्थापना भी देखी जाती है । एक विशिष्ट व्यक्तिमें सभापतिपनेकी स्थापना करा ली जाती है । सभापतिके अनुपस्थित होनेपर उपसभापतिमें उस सभापतिकी स्थापना करली जाती है । उसकी भी स्थापना चित्र (तस्वीर) में करली जाती है । ऋण लेनेवाला पुरुष राजकीय पत्र (स्टाम्प) पर हस्ताक्षर करता है । यहां भी आत्मा, शरीर, हाथ और पत्रपर लिखे गये अक्षरोंमें स्थापित स्थापना है । तथा चिरभविष्य पर्यायके उदरमें शीघ्र भविष्य पर्यायोंकी उत्प्रेक्षा कर द्रव्यनिक्षेपका भी द्रव्यनिक्षेप बन जाता है और स्थूल वर्तमानमें सूक्ष्मवर्तमानपर्यायोंके तारतम्यसे भावनिक्षेप भी न्यस्यमान हो जाता है । सम्पूर्ण वस्तुएं भेद और प्रभेदरूप करके अनन्त हैं । वे प्रमाणोंके द्वारा सज्जन पुरुषों करके विचारली गयीं हैं, उनमें अनेक स्वभाव हैं । देवदत्तने एक रुपया करुणासे जिनदत्तको दिया, जिनदत्तने अनुग्रहके लिये वही रुपया इन्द्रदत्तको दिया । इस प्रकार उसी रुपयेके दानसे दस बीस व्यक्ति पुण्यशाली बन सकते हैं, किन्तु देवदत्तने एक रुपयेका बजाजसे कपडा मोल लिया और बजाजने सर्राफसे चांदी ली, सर्राफने उसी रुपयेसे मोदीकी दुकान परसे गेहूं लिये, इस क्रयव्यवहारमें पुण्य नहीं है । किन्तु उपर्युक्त नैमित्तिक परिणामोंको बनानेवाले अनेक स्वभाव उस रुपयेमें विद्यमान हैं । अनेक विद्यार्थी क्रमसे एक ही शास्त्रके दानसे शास्त्रदर्शी बन जाते हैं । दूसरे गुरुओंसे पढे हुए विद्वान् अन्य छात्रोंको पढाते हैं ।-भिक्षामेंसे भी भिक्षा दी जा सकती है । अर्थात् प्रत्येक वस्तु अनन्तानन्त स्वभावोंको लिये हुए है । दूसरे प्रकारसे यानी सर्वथा एकान्तमतोंके अनुसार मानली गयी वस्तुकी प्रतीति नहीं हो रही है ।

न्यस्यमानता पदार्थेभ्योऽनर्थान्तरमेव चेत्येकान्तवादिन एवोपद्रवन्ते न पुनरनेकान्तवादिनस्तेषां द्रव्यार्थिकनयार्पणात्तदभेदस्य, पर्यायार्थार्पणात्तद्भेदस्येष्टत्वात् । तत्राभेदविवक्षायां पदार्थानां न्यास इति गौणी वाचोयुक्तिः पदार्थेभ्योऽनन्यस्यापि न्यासस्य भेदेनोपचरितस्य तथा कथनात् । न हि द्रव्यार्थिकस्य तद्भेदो मुख्योऽस्ति तस्याभेदप्रधानत्वात् ।

जीव आदि पदार्थोंसे उनका निक्षेप द्वारा गोचर होजानापनरूप न्यस्यमानता धर्म अभिन्न-ही है। इस प्रकार कहते हुये सांख्य आदि एकान्तवादी जन ही ऊधम मचा रहे हैं। किंतु फिर अनेकान्तवादियोंके यहां कोई टंटा नहीं है। क्योंकि उन स्याद्वादियोंके सिद्धान्तमें द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे उस न्यास और न्यस्यमान पदार्थका अभेद इष्ट किया है तथा पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतासे उनका परस्परमें भेद माना गया है। तहां अभेदविवक्षा होनेपर तो पदार्थोंका न्यास इस भेदप्रतिरूपक षष्ठी विभक्तिके प्रयोगकी योजना करना गौण पडता है, कारण कि पदार्थोंसे अभिन्न हो रहे भी न्यासका भेद करके व्यवहार करते हुए तैसा कथन कर दिया गया है, जैसे कि आत्माका ज्ञान या स्तम्भका सार है। इसका हेतु यही है कि द्रव्यार्थिक नयसे उनका भेद निरूपण करना मुख्य नहीं है। क्योंकि वह द्रव्यार्थिक नय तो प्रधानरूपसे अभेदको विषय करता है।

भेदविवक्षायां तु मुख्या सा, पर्यायार्थिकस्य भेदप्रधानत्वात्। न च तथानवस्था, न्यासस्यापि नामादिभिर्न्यासोपगमात्।

किंतु भेदकी विवक्षा होनेपर तो पदार्थोंका न्यास है, यह वाचोयुक्ति मुख्य है। क्योंकि पर्यायार्थिक नय मुख्यरूपसे भेदको जानता है। जैसे सोनेका कंकण, चूनकी रोटी, चनेकी दाल ये वाक्य सुचारु हैं, तैसे ही पदार्थोंका निक्षेप है यह पर्यायार्थिक नयका गोचर है। एक बात यह भी है कि इस भेदपक्षमें अनवस्थादोष नहीं आता है। क्योंकि न्यासको भी भिन्न पदार्थ मानकर उसका भी नाम स्थापना आदिसे न्यास होना यथासम्भव और आकांक्षा अनुसार स्वीकार कर लिया है। अर्थात् जीव पदार्थके समान न्यास भी स्वतन्त्र पदार्थ है। उसके भी नाम, स्थापना आदि किये जाते हैं। तार द्वारा विद्युत्शक्तिसे दौडाये गये गट् गर् गद् आदि शब्दोंसे अंग्रेजी शब्दोंका ज्ञान हो जाता है। पीछे अंग्रेजी शब्दोंसे हिन्दी शब्दोंका परिज्ञान हो जाता है। उनसे भी अपभ्रंश शब्दोंकी प्रतीति होकर वाच्य अर्थोंकी ज्ञप्ति हो जाती है।

नामजीवादयः स्थापनाजीवादयो द्रव्यजीवादयो भावजीवादयश्चेति जीवादिभेदानां प्रत्येकं नामादिभेदेन व्यवहारस्य प्रवृत्तेः परापरतत्प्रभेदानामनन्तत्वात् सर्वस्य वस्तुनोऽनन्तात्मकत्वेनैव प्रमाणतो विचार्यमाणस्य व्यवस्थितत्वात् सर्वथैकान्ते प्रतीत्यभावात्।

नामजीव, नाममनुष्य आदिक और स्थापनाजीव स्थापनाइन्द्र आदिक तथा द्रव्यजीव द्रव्यराजा आदिक एवं भावजीव, भावज्ञान आदिक इस प्रकार जीव, अजीव आदिके प्रत्येक भेदोंका नाम, स्थापना आदि भेदों करके व्यवहार होना प्रवर्त रहा है। उन भेद प्रभेदोंके भी न्यारे नाम, स्थापना आदिकोंका पुनः नाम आदि निक्षेपोंसे व्यवहार हो रहा है। पदार्थोंके पर अपर भेद और उनके भी अवान्तर प्रभेद अनन्त हैं। जिस श्रुतज्ञानी जीवकी जितनी अधिक शक्ति होगी उतना ही अधिक वस्तुके उदरमें प्रविष्ट होकर नाम आदिकोंके द्वारा वस्तुके अन्तस्तलपर पहुंच जाता है। सम्पूर्ण वस्तुएं अनन्त धर्मोंसे तदात्मकपने करके ही प्रमाणोंके द्वारा विचारी गयीं व्यवस्थित हो रही

हैं। बौद्ध कापिल, आदिके सर्वथा एकान्त पक्षके अनुसार गढ लिये गये पदार्थोंकी प्रतीति नहीं हो रही है। अनेक धर्मोंसे जटिल हो रही वस्तुकी यथावत् परीक्षणा करना स्याद्वाद सिद्धान्तके वेत्ता स्याद्वादीकी नयचक्रपरिपाटीसे ही साध्य कार्य है। अन्य दार्शनिकोंको यह मार्ग दुर्गम है। तभी तो वे परस्परमें अनेक प्रकारके उपद्रव कर रहे हैं।

ननु नामादयः केऽन्ये न्यस्यमानार्थरूपतः।
यैर्न्यासोऽस्तु पदार्थानामिति केप्यनुयुञ्जते ॥ ७९ ॥
तेभ्योपि भेदरूपेण कथञ्चिदवसायतः।
नामादीनां पदार्थेभ्यः प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥ ८० ॥
नामेन्द्रादिः पृथक्तावद्भावेन्द्रादेः प्रतीयते।
स्थापनेन्द्रादिरप्येवं द्रव्येन्द्रादिश्च तत्त्वतः ॥ ८१ ॥
तद्भेदश्च पदार्थेभ्यः कथञ्चिद्घटरूपवत्।
स्थाप्यस्थापकभावादेरन्यथानुपपत्तितः ॥ ८२ ॥

यहां शंका है कि निक्षेप किये गये जीव आदि पदार्थोंके स्वरूपसे भिन्न नाम आदिक और क्या पदार्थ हैं ? जिनसे कि सम्यग्दर्शन आदि पदार्थोंका न्यास होना माना जावे। अर्थात् नाम आदिकोंसे जीव आदि पदार्थोंका न्यास होता है, इस वाक्यमें पडे हुए तीनों पदोंका न्यारा न्यारा अर्थ नहीं प्रतीत होता है, एक ही ढंग दीखता है। इस प्रकार कोई भी वादी जैनोंके ऊपर कटाक्ष कर रहे हैं। आचार्य समझाते हैं कि तिन वादियोंको हम प्रायः करके पहिले ही यह उत्तर दे चुके हैं कि नामनिक्षेप द्वारा व्यवहृत किये गये इन्द्र आदि पदार्थ निश्चय कर स्वर्गस्थ भावइन्द्र आदि पदार्थोंसे पृथग्भूत प्रतीत हो रहे हैं और इसी प्रकार, पाषाण, काष्ठ, आदिमें थापे गये इन्द्र आदि भी सौधर्म आदि भाव इन्द्रोंसे न्यारे न्यारे जाने जा रहे हैं। तथा द्रव्यइन्द्र, द्रव्यराजा आदि भविष्यमें परिणत होनेवाले पदार्थ भी वर्तमान सनत्कुमार आदि इन्द्रोंसे, या राजासे वस्तुतः विभिन्न हैं, तिस कारण पदार्थोंसे नाम आदिकका कथञ्चित् भेद इष्ट किया है और उन निक्षेपकोंसे निक्षेपका भी भेद माना है, तथा पदार्थोंसे भी नाम आदिका भेद है। जैसे घट और उसके रूपका कथञ्चित् भेद है। अन्यथा स्थाप्य स्थापकभाव, वर्तमान भविष्यभाव, परिणामी परिणामभाव आदिकी व्यवस्था न बन सकेगी। सर्वथा भेदपक्षमें उक्त भाव नहीं बन पाते हैं। अर्थात् पहिले स्वर्गका सौधर्म इन्द्र स्थाप्य है, निक्षेप करनेवाला स्थापक है, किसी पुरुषका इन्द्र यह नाम धरना संज्ञा है और वह पुरुष

संकेत है । अनेक कलिमलोंसे रहित जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव परिणामी है, और मृत्युके अनन्तर स्वर्गोंमें इन्द्र हो जाना परिणाम है, इत्यादि प्रकारसे नाम आदिक और न्यस्यमान पदार्थोंका कथञ्चित् भेद हो रहा है ।

नामादयो विशेषा जीवाद्यर्थात् कथञ्चिद्भिन्नाः निक्षिप्यमाणनिक्षेपकभावात् सामान्यविशेषभावात् प्रत्ययादिभेदाच्च । ततस्तेषामभेदे तदनुपपत्तेरिति । घटाद्रूपादीनामिव प्रतीतिसिद्धत्वान्नामादीनां न्यस्यमानार्थाद्भेदेन तस्य तैर्न्यासो युक्त एव ।

जीव आदिक पदार्थोंसे नाम, स्थापना आदिक विशेष परिणाम कथञ्चित् भिन्न हैं, क्योंकि जीव आदिक पदार्थ निक्षेपित किये जा रहे कर्म हैं और नाम आदिक निक्षेप करनेवाले करण हैं । तथा जीव आदिक पदार्थ सामान्य हैं और नाम आदिक निक्षेप विशेष हैं । अतः निक्षेप्यनिक्षेपकभाव और सामान्यविशेषभावसे पदार्थ और नाम आदिकोंका भेद है । इनका ज्ञान भी न्यारा न्यारा है । वाचक शब्द, प्रयोजन, संख्या, कारण आदिके भेदोंसे भी इनमें भेद है । यदि उन जीव आदिक अर्थोंसे उन नाम आदिकोंका अभेद माना जावेगा तो उक्त प्रकार वे निक्षेप्य, निक्षेपक, प्रयोजन, ज्ञान, आदि भेद नहीं बन सकेंगे । यों घटसे रूप आदिकोंके समान निक्षेप किये गये अर्थसे नाम आदिकोंकी भेदरूपसे प्रतीति होना सिद्ध है । अतः नाम आदिकोंका निक्षेपित अर्थसे भेद होनेके कारण उसका उन नाम आदिकोंसे न्यास होना युक्त ही है ।

न हि नामेन्द्रः स्थापनेन्द्रो द्रव्येन्द्रो वा भावेन्द्रादभिन्न एव प्रतीयते येन नामेन्द्रादिविशेषाणां तद्वतो भेदो न स्यात् ।

नामसे निक्षेप किया गया इन्द्र नामक पुरुष और स्थापनासे निक्षेप किया गया पाषाणका इन्द्र तथा भविष्यमें इन्द्र होनेवाला पूजक मनुष्य या कुछ पल्योंकी आयुको भोगचुका स्वर्गका द्रव्यनिक्षेपसे होनेवाला भावी इन्द्र ये सब पदार्थ इस वर्तमान कालके भावरूप इन्द्रसे अभिन्न ही प्रतीत हो रहे हैं, यह नहीं मानना । जिससे कि नाम इन्द्र, स्थापना इन्द्र आदि विशेष परिणामोंका उनसे सहित होरहे निक्षिप्यमाणपदार्थोंसे भेद न होता, अर्थात् निक्षिप्य और निक्षेपकोंमें कथञ्चित् भेद है ।

नन्वेवं नामादीनां परस्परपरिहारेण स्थितत्वादेकत्रार्थेऽवस्थानं न स्यात् विरोधात् शीतोष्णस्पर्शवत्, सत्त्वासत्त्ववद्वेति चेन्न, असिद्धत्वाद्विरोधस्य नामादीनामेकत्र दर्शनात् विरोधस्यादर्शनसाध्यत्वात् । परमैश्वर्यमनुभवन्कश्चिदात्मा हि भावेंद्रः सांप्रतिकेन्द्रत्वपर्यायाविष्टत्वात् । स एवानागतमिंद्रत्वपर्यायं प्रति गृहीताभिमुख्यत्वाद्द्रव्येन्द्रः, स एवेन्द्रान्तरत्वेन व्यवस्थाप्यमानः स्थापनेन्द्रः, स एवेन्द्रान्तरनाम्नाभिधीयमानो नामेन्द्र इत्येकत्रात्मनि दृश्यमानानां कथमिह विरोधो नाम अतिप्रसंगात् ।

यहां आक्षेप सहित शंका है कि इस प्रकार निक्षेप्य और निक्षेपकोंमें भेद होनेपर तो नाम, स्थापना आदिकोंका परस्परमें भी एक दूसरेका निराकरण करते हुए भेद होना स्थित होगा तब तो

ऐसी दशामें नाम आदिकोंका विरोध हो जानेके कारण एक पदार्थमें उनका स्थित रहना न बन सकेगा। जैसे कि शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श अथवा सत्त्व और असत्त्वधर्म एक पदार्थमें युगपत् नहीं पाये जाते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना। क्योंकि नाम आदिकोंका विरोध कहना असिद्ध है। कारण कि नहीं देखनेसे विरोध साध्य किया जाता है। अर्थात् योग्यता होते हुए भी एकके होने पर दूसरा कैसे भी वहां न दीखे तो उन दोनोंका परस्परमें विरोध मान लिया जाता है, किन्तु यहां एक पदार्थमें नाम, स्थापना, आदिक निक्षेप युगपत् होरहे देखे जाते हैं। अतः अनुपलम्भ प्रमाणसे साधने योग्य विरोध यहां कैसे भी नहीं है। जिस कारणसे कि सुधर्मा सभामें इदि धातुके अर्थ परमैश्वर्यको अनुभव कर रहा कोई आत्मा वर्तमानकालकी इन्द्र पर्यायसे घिरा हुआ होनेके कारण भावइन्द्र है। वही भावइन्द्र सौधर्म शचीपति भविष्यमें अनेक पल्योंतक भोगी जाने योग्य अपनी इन्द्रत्वपर्यायके प्रति अभिमुखताको ग्रहण करनेसे द्रव्यरूप इन्द्र है। अर्थात् जैसे कोई राजा वर्तमान राजसिंहासनपर आरूढ है और आगे भी कुछ वर्षोंतक आरूढ रहेगा। अतः भविष्य राजापनकी अपेक्षासे वर्तमानका राजा द्रव्यनिक्षेप करके भी राजा है। तथा वही शचीपति अन्य भवनवासी या कल्पवासी देवोंके दूसरे वैरोचन, ईशान, आदि इन्द्रपनेसे विशेषतया स्थापना कर लिया जाय तो भाव इन्द्र ही स्थापना इन्द्र हो जाता है। एक राजामें दूसरे राजाकी स्थापना की जा सकती है, कोई क्षति नहीं। तथा वही सौधर्म इन्द्र ब्रह्म, आनत, आदि दूसरे इन्द्रोंके नामसे कहा गया संता नामइन्द्र भी हो जाता है। इस प्रकार भाव इन्द्ररूप एक ही आत्मामें नाम, स्थापना, और द्रव्यनिक्षेप युगपत् पाये जाते हैं। इस प्रकार एक आत्मामें देखे जा रहे नाम आदिकोंका विरोध इस प्रकरणमें भला कैसे हो सकता है? अतिप्रसंग दोष हो जावेगा। यानी देखे हुए पदार्थोंमें भी परस्पर विरोध मान लिया जावेगा तो माता पुत्र, रूप रस, आदि या ज्ञान, सुख, आदिका भी विरोध हो जावेगा। कहीं कहीं रूप रसका और ज्ञान सुख आदि गुणोंका परस्पर परिहार लक्षण विरोध माना है। किंतु वह केवल गुणभेदका पोषक है। विरोधका सिद्धान्त लक्षण यही अच्छा है कि " एकत्र द्वयोः सहानवस्थानम् विरोधः " एक स्थानपर दो पदार्थोंका साथ न रहना विरोध है। सहानवस्थान, परस्पर परिहारस्थिति, बध्यघातक इन तीन विरोधोंमेंसे सहानवस्थान विरोधका ही शंकाकारने उत्थान किया था। गौ व्याघ्र या सर्प नकुल और वृक बकरी, बिल्ली मूसटा आदिका विरोध कहना भी उपचार है। दयालु मुनिके पास या समवसरणमें तथा आजकल भी अभ्यास करानेसे गौव्याघ्र आदि एक स्थानपर दीख सकते हैं। मन्त्र, तन्त्र, भय, अहिंसा आदिसे उनका साथ रहना अब भी बन जाता है। ठीक विरोध तो रूप और ज्ञान या चेतन तथा अचेतनपनेका है। दूसरी बात यह है कि विरोध भी एक धर्म है। भिन्न भिन्न विवक्षाओंसे विरोध भी धर्मीमें पडे रहें तो कोई बोझ नहीं बढता है। वस्तुका अंश होकर बना रहेगा।

तत एव न नामादीनां संकरो व्यतिकरो वा स्वरूपेणैव प्रतीतेः।

तिस ही कारण नाम आदिकोंका परस्परमें संकर व्यतिकर दोष भी नहीं है। परस्परमें परावर्तित (बदली हुयी) की गयी अपेक्षासे हुये सांकर्यको या सम्पूर्ण धर्मोंकी एक समयमें प्राप्ति हो जानेको संकर कहते हैं, और परस्परमें विषयके बदल जानेको या चाहे जिस अपेक्षाका चाहे जिस विषयमें चले जानेको व्यतिकर कहते हैं। यहां नाम आदि निक्षेपोंकी अपने अपने स्वरूपसे ही स्वतन्त्रतापूर्वक एक अर्थमें प्रतीति हो रही है। अतः उक्त दोनों दोष नहीं आते हैं।

तदनेन नामादीनामेकत्राभावसाधने विरोधादिसाधनस्यासिद्धिरुक्ता।

तिस कारण इस कथनसे यह कहा गया कि एक स्थानमें नाम आदि निक्षेपोंका अभाव सिद्ध करनेमें दिये गये विरोध, संकर आदि हेतु असिद्ध हेत्वाभास हैं। यानी विरोध आदि हेतु नाम आदिक पक्षमें नहीं रहते हैं, जब हेतु ही पक्षमें न रहा तो वहां साध्यको क्या सिद्ध करेगा ? यानी नहीं। भावार्थ यों है कि अवयवीको माननेवाले जैन-सिद्धान्तके अनुसार विचारा जाय तो लोकप्रसिद्ध विरोधोंका मिलना ही दुर्लभ है एक धूपघटके नीचले प्रदेशमें शीतस्पर्श है और ऊपर उष्णस्पर्श है। अग्नि भी शीतऋतुमें अपेक्षाकृत शीतल हो जाती है। मेरुको सब ओरसे उत्तर माननेके सिद्धान्त अनुसार सूर्यका उदय पश्चिम दिशामें भी हो जाता है। कोई कोई पत्थर पानीमें तैर जाता है। विशेष लकडी पानीमें डूब जाती है। स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा एक पदार्थमें सत्त्व और असत्त्व धर्म रह जाते हैं। शिक्षा, मंत्र, ऋद्धि, दयाभाव, भय, आदि कारणोंसे सर्प और नकुल तथा सिंह और गौ एवं चूहा बिल्ली भी एक स्थानपर पाये जाते हैं। परस्परमें एक दूसरेका परिहार कर स्थित रहनेवाले रूप, रस, तथा ज्ञान, सुख, आदि तो एक ही द्रव्यमें रहते हैं। हां ! शास्त्रीय मुद्रासे विरोध यों चरितार्थ हो जाता है कि आकाशमें ज्ञान या रूपके रहनेका विरोध है। आत्मामें वर्तनाके हेतुपन और स्पर्शका विरोध है। अभव्यके सम्यग्दर्शन हो जानेका विरोध है। सर्वज्ञ उसी समय अल्पज्ञ नहीं हो सकता है। सूर्य विमान नरकोंमें भ्रमण नहीं करता है। सिद्ध परमेष्ठी अब संसारी नहीं हो सकते हैं आदि।

येनात्मना नाम तेनैव स्थापनादीनामेकत्रैकदा विरोध एवेति चेत् न,तथानभ्युपगमात्।

किसीका पक्ष है कि जिस स्वभाव करके नाम निक्षेप है। उसी स्वरूप करके तो स्थापना निक्षेप या द्रव्यनिक्षेप नहीं है अतः एक इन्द्र आत्मामें भी नाम, स्थापना आदिकोंका एक कालमें विरोध ही हुआ, आचार्य उत्तर करते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तिस प्रकार तो हम स्वीकार नहीं करते हैं। यानी हमारे यहां जिस धर्मके द्वारा नाम है उसी धर्म करके स्थापनानिक्षेप नहीं माना गया है। सम्भावना होनेपर तो विरोधकी कल्पना की जा सकती है, किंतु जहां सम्भावना ही नहीं, वहां विरोध दोष उठाना भी कैसा ? भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे नाम आदिक एकमें युगपत् पाये जाते हैं।

एकत्रार्थे विरोधश्चेन्नामादीनां सहोच्यते ।
नैकत्वासिद्धितोऽर्थस्य बहिरन्तश्च सर्वथा ॥ ८२ ॥

एक पदार्थमें नाम आदिकोंके साथ रहनेका यदि विरोध कहोगे, सो तो नहीं कहना चाहिये क्योंकि बहिरंग और अन्तरंग अर्थोंमें सभी प्रकारोंसे एकपनेकी असिद्धि है । भावार्थ—ज्ञान, आत्मा, सुख आदि अन्तरंग पदार्थ तथा घट, अग्नि, पाषाण, आदि बहिरंग पदार्थ अनेक स्वभाववाले हैं । अतः न्यारे न्यारे स्वभावोंसे एक अर्थमें सभी नाम आदिक एक साथ सप्रसाद ठहर जाते हैं ।

न हि बहिरन्तर्वा सर्वथैकस्वभावं भावमनुभवामो नानैकस्वभावस्य तस्य प्रतीतेर्बाधकाभावात् । न च तथाभूतेर्थे, येन स्वभावेन नामव्यवहारस्तेनैव स्थापनादिव्यवहरणं तस्य प्रतिनियतस्वभावनिबन्धनतयानुभूतेरिति कथं विरोधः सिद्ध्येत् ?

इस कारिकाकी टीका यों है कि बहिरंग अथवा अन्तरंग सम्पूर्ण पदार्थोंका एक ही स्वभावसे युक्तपना हम नहीं जान रहे हैं, किंतु अनेक, एक, स्वभावोंसे युक्त उन पदार्थोंकी प्रतीति हो रही है । पदार्थोंके अनेक स्वभावरूप प्रधान धर्मको जाननेवाली उस प्रतीतिका कोई बाधक नहीं है । तिस प्रकार अनेक एक स्वभावोंसे तदात्मक परिणमे हुए अर्थमें जिस स्वभाव करके नाम व्यवहार है, उस ही करके स्थापना आदिका व्यवहार नहीं है, क्योंकि उन नाम, स्थापना, द्रव्य, आदि व्यवहारोंमेंसे प्रत्येकके लिये नियत न्यारे न्यारे स्वभावोंको कारणपनेकी प्रतीति हो रही है । यानी नाम आदि प्रत्येकका कारण न्यारा न्यारा वस्तुमें स्वभाव पडा हुआ है नाम निक्षेपकी योग्यतारूप स्वभाव न्यारा है और स्थापना निक्षेपकी योग्यतारूप स्वभाव वस्तुमें निराला है । वस्तुमें अनन्तानन्त स्वभाव हो जानेका भय नहीं करना चाहिये । देवदत्तकी भोजन क्रियाके अत्यल्पकालमें भी अनेक स्वभाव माने बिना कार्य नहीं चल सकता है । रोटी, दाल, खिचडी आदिको खानेके लिये न्यारी न्यारी आकृति और भिन्न भिन्न प्रयत्न करने पडते हैं । हलुआ खानेके ढंगरूप स्वभावसे सुपारी नहीं खायी जा सकती है और दूध पीनेके प्रयत्नरूप स्वभावसे मोदक नहीं खाया जा सकता है । कार्यमें थोडीसी भी विशेषता कारणोंके विशिष्ट स्वभावों बिना नहीं आसकती है । अतः भिन्न भिन्न स्वभावों करके ही एक वस्तुमें नाम आदिका व्यवहार अनुभूत हो रहा है तो फिर इस कारण नाम आदिकोंका विरोध कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् नहीं । "यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः" प्रत्येक वस्तुसे जितने भी छोटे बडे अनेक कार्य होरहे हैं उतने उसके असंख्य स्वभाव हैं ।

किञ्च नामादिभ्यो विरोधोनन्योऽन्यो वा स्यादुभयरूपो वा ?

शंकाकारके प्रति आचार्य दूसरी बात यह भी कहते हैं कि आप नाम, स्थापना, आदिकोंका परस्परमें विरोध मानते हैं, यानी एक समय एक पदार्थमें नाम आदिक चारों निक्षेपक विरोध होनेके

कारण नहीं ठहरते हैं, अब तुम बतलाओ कि नाम आदिकोंसे वह विरोध अभिन्न है अथवा भिन्न है या भिन्नाभिन्न उभयरूप होगा ? उत्तर दीजिये ।

प्रथमद्वितीयपक्षयोर्नासौ विरोधक इत्याह;—

तिन तीन प्रकारके विकल्पोंमें पहिला और दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर तो वह विरोध उन अपने आधारभूतोंका विरोध करनेवाला नहीं हो सकता है । इसी बातको आचार्य महाराज स्पष्ट कहते हैं—

नामादेरविभिन्नश्चेद्विरोधो न विरोधकः ।
नामाद्यात्मवदन्यश्चेत्कः कस्यास्तु विरोधकः ॥ ८४ ॥

नाम और स्थापना आदिके बीचमें पडा हुआ विरोध यदि नाम आदिकोंसे विशेषतया अभिन्न है तो वह विरोधक नहीं हो सकता है । जैसे नाम, स्थापना, आदिकका आत्मभूत स्वरूप स्वयं अपना विरोधक नहीं है । पदार्थोंके अभिन्न निजस्वरूप अपनेसे ही यदि विरोध करने लगेंगे, तब तो संसारमें कोई भी पदार्थ नहीं ठहर सकेगा । क्योंकि पदार्थोंका अपना अपना स्वरूप अपनेसे विरोध करके अपने आप अपना और पदार्थका मटियामेट कर लेगा । यों तो शून्यवाद छा जावेगा । अतः पहिला अभेद पक्ष गया । द्वितीय पक्षके अनुसार यदि नाम, स्थापना आदिके बीचमें पडा हुआ विरोध नाम आदिकोंसे भिन्न मानोगे तो कौन किसका विरोधक होगा ? अर्थात् सभी स्थानोंपर अनेक भिन्न पदार्थ पडे हुए हैं, अथवा भिन्न उदासीन पडा हुआ विरोध भी विरोध करनेवाला हो जाय तो चाहे जो पदार्थ जिस किसीका विरोधक बन बैठेगा । फिर भी शून्यवादका प्रसंग होगा । तथा विनिगमनाविरहदोष भी लागू होगा । सर्पसे नकुल जैसे विरोध करता है उसी प्रकार सर्पके भिन्न पडे हुए बच्चे भी उससे विरोध करने लग जावेंगे । विरुद्ध्य और विरोधक व्यवस्था न बन सकेगी ।

न तावदात्मभूतो विरोधो नामादीनां विरोधकः स्यादात्मभूतत्वान्नामादिस्वात्मवत् विपर्ययो वा । नाप्यनात्मभूतोऽनात्मभूतत्वाद्विरोधकोऽर्थान्तरवत् विपर्ययो वा ।

तीन पक्षोंमें पहिले अभेद पक्षको ग्रहण कर लेनेपर प्रतियोगी और अनुयोगी पदार्थोंमें नाम आदिकोंका आत्मस्वरूप विरोध तो विरोधक नहीं हो सकेगा, क्योंकि तदात्मक विरोध उनकी आत्मारूप ही हो रहा है, जैसे कि नाम, स्थापना, आदिकी आत्मा (स्वशरीर) नाम आदिकसे विरोध नहीं करती है । अथवा विपरीत नियम ही हो जाओ ! यानी नाम आदिकसे अभिन्न पडा हुआ विरोध यदि उनमें विरोध कर रहा है तो नाम आदिकका स्वयं डील ही अपना विरोध अपने आप कर बैठे । तब तो नाम आदिक स्वयं खरविषाणके समान असत् हो जावेंगे । तथा

द्वितीय पक्षके अनुसार नाम आदिकोंका आत्मभूत नहीं होता हुआ पृथक् विरोध भी विरोधक नहीं हो सकता है। क्योंकि वह विरोध सर्वथा भिन्न पडा हुआ है, जैसे कि अनेक तटस्थ पडे हुए भिन्न पदार्थ विरोधक नहीं होते हैं। अथवा विपरीत व्यवस्था हो जाओ। यानी भिन्न पडा हुआ विरोध भी विरोधक मान लिया जावे तो वहां पडे हुए अनेक उदासीन पदार्थ भी चाहे जिसके विरोधक हो जावेंगे। सभी स्थानोंपर कार्मणवर्गणायें, आकाश, कालाणुयें, जीवद्रव्य, धर्म आदि पदार्थ तो सुलभतासे पाये जाते हैं। यदि न्यारे पडे हुए उदासीन पदार्थ विरोधक नहीं हैं तो निराला पडा हुआ विरोध भी विरोधक नहीं होगा। न्याय सबके लिए समान होता है। अथवा भिन्न विरोध यदि पदार्थोंका विरोध करे तो पदार्थ ही विरोधका विरोध क्यों नहीं कर डालें ? देखो, जिसमें विरोध रहता है उसको अनुयोगी कहते हैं और जिसकी ओरसे विरोध है वह प्रतियोगी कहलाता है। विरोध संयोग आदिक पदार्थ एक एक होकर स्थूलदृष्टिसे दो आदि वस्तुओंमें रहते हैं। और सूक्ष्मदृष्टिसे दो संयोग या दो विरोध ही अनुयोगी और प्रतियोगी दो पदार्थोंमें रहते हैं। हां ! विशिष्ट पर्याय बन जानेपर हम संयोगको एक मान लेते हैं। नैयायिक या वैशेषिक एक ही संयोग गुणको पर्याप्त सम्बन्धसे दो आदिमें वर्तरहा स्वीकार करते हैं। और समवाय सम्बन्धसे प्रत्येकमें वृत्ति मानते हैं।

भिन्नाभिन्नो विरोधश्चेत्किं न नामादयस्तथा।
कुतश्चित्तद्वतः सन्ति कथञ्चिद्भिद्भृतः ॥ ८५ ॥

विरोधके आधारभूत माने गये अनुयोगी, प्रतियोगीरूप विरोधियोंसे विरोध पदार्थ यदि कथञ्चित् भिन्नाभिन्न है, तब तो तिसी प्रकार उन कथञ्चित् भेदको और अभेदको धारण करनेवाले तथा नाम आदि करके विशिष्ट किन्हीं पदार्थोंसे नाम, स्थापना, आदिक भी किसी अपेक्षासे भिन्नाभिन्न हो जाते हैं। भावार्थ—विरोधियोंमें विरोध जैसे भिन्न अभिन्नरूप होकर ठहर जाता है, तैसे ही एक पदार्थमें नाम आदिक भी चारों युगपत् रह जाते हैं। फिर नाम आदिकोंका विरोध कहां रहा ? अर्थात् कुछ भी विरोध नहीं है।

विरोधी विरोधिभ्यः कथञ्चिद्भिन्नोऽभिन्नश्चाविरुद्धो न पुनर्नामादयस्तद्वतोऽर्थादिति ब्रुवाणो न प्रेक्षावान्।

तृतीयपक्ष अनुसार विरोधियोंसे कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न रहता हुआ विरोध तो अविरुद्ध हो जाय, किन्तु फिर उन नाम आदि वाले पदार्थोंसे वे नाम स्थापना आदिक कथञ्चित् भिन्न अभिन्न न होंय, ऐसा कह रहा पक्षपातग्रस्त पुरुष तो विचारशालिनी बुद्धिसे युक्त नहीं है। कोरा आग्रही है।

एकस्य भवतोऽक्षीणकारणस्य यदुद्भवे ।
क्षयो विरोधकस्तस्य सोऽर्थो यद्यभिधीयते ॥ ८६ ॥
तदा नामादयो न स्युः परस्परविरोधकाः ।
सकृत्सम्भविनोऽर्थेषु जीवादिषु विनिश्चिताः ॥ ८७ ॥

परिपूर्ण कारणवाले एक पदार्थके होते हुए जिसके प्रगट होनेपर उस एकका क्षय हो जाय, वह अर्थ उसका विरोधक कहा जाता है। यदि यह विरोधकका सिद्धान्त लक्षण कहा जाता है तब तो जीव आदिक पदार्थोंमें उसी समय एक बारमें भले प्रकार होते हुए निश्चित किये गये नाम, स्थापना, आदिक पदार्थ परस्परमें विरोधक न हो सकेंगे। भावार्थ—अन्धेरेके परिपूर्ण कारण मिल जानेसे रात्रिमें अन्धेरा हो रहा है। प्रातःकाल सूर्यके उदय होनेपर उस अंधेरेका नाश हो जाता है। अतः सूर्यप्रकाश अन्धेरेका विरोधक है। आतप और अन्धेरा एक स्थानपर नहीं ठहरते हैं, अतः इनमें सहानवस्थान विरोध मानना सर्वसम्मत है। किन्तु अनेक स्थलोंपर नाम, स्थापना आदि एक साथ रहते हुए निर्णीत हो रहे हैं। एकके उत्पन्न हो जानेपर दूसरेका क्षय नहीं हो जाता है। अतः विरोधका सिद्धान्तलक्षण न घटनेसे इनमें परस्पर विरोध नहीं कहा जा सकता है।

न विरोधो नाम कश्चिदर्थो येन विरोधिभ्यो भिन्नः स्यात् केवलमक्षीणकारणस्य सन्तानेन प्रवर्तमानस्य शीतादेः क्षयो यस्योद्भवे, पावकादेः स एव तस्य विरोधकः। क्षयः पुनः प्रध्वंसाभावलक्षणः कार्यान्तरोत्पाद एवेत्यभिन्नो विरोधिभ्यां भिन्न इव कुतश्चिद्व्यवह्रियत इति यदुच्यते तदापि नामादयः क्वचिदेकत्र परस्परविरोधिनो न स्युः सकृत्सम्भवित्वेन विनिश्चितत्वात् ।

विरोध नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, जिससे कि वह विरोधियोंसे भिन्न माना जाय, वैशेषिक जन विरोधको स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं और विरोधियोंसे उसको भिन्न विचार करते हैं। धर्मीरूप सात पदार्थोंसे अतिरिक्त अवच्छेदकत्व, विरोध आदि धर्मस्वरूप पदार्थ अनेक हैं। किन्तु जैन-सिद्धान्तसे वह मन्तव्य खण्डित हो जाता है। निमित्त मिल जानेपर किन्हीं वस्तुओंका विशिष्ट परिणाम हो जाना ही विरोध है। विरोधका केवल व्याख्यान इतना ही है कि कारणोंकी क्षति नहीं होते हुए सन्तानसे प्रवर्तित चले आ रहे शीत, अन्धकार, आदिका नाश जिस अग्नि, सूर्य, आदिके प्रगट हो जानेपर हो जाता है वे अग्नि, आदिक ही उस शीत आदिकके विरोधक माने जाते हैं। अर्थात् अग्निके आ जानेपर शीतका क्षय होना विरोध है। यह क्षय होना फिर कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है किन्तु प्रध्वंसाभावरूप एक पर्याय है। वैशेषिकोंके यहां माना गया ध्वंस पदार्थ तुच्छ अभाव

है। जैन-सिद्धान्तके अनुसार तो दूसरे कार्यका उत्पाद हो जाना ही हेतुका ध्वंस है। घटका ध्वंस कपालका उत्पादरूप है। आत्माकी कैवल्य अवस्था हो जाना या कर्मद्रव्यकी कर्मपनेसे रहित पुद्गल पर्याय हो जाना ही कर्मोका ध्वंस है। श्रीसमन्तभद्राचार्यने कहा है कि "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" उपादान कारणका क्षय कार्यका उत्पाद होनारूप है। इस कारण विरोधियोंसे अभिन्न होता हुआ भी वह विरोध किसी कारणवश भिन्न सरीखा ही व्यवहारमें कहा जाता है। जैसे कि शीत उष्णका विरोध है। इस प्रकार जो कहा जावेगा तब भी नाम, स्थापना, आदिक निक्षेपक किसी एक पदार्थमें परस्पर विरोधवाले न हो सकेंगे, क्योंकि वे नाम आदि एक समय ही एक पदार्थमें दो, तीन, चार सकुशल हो रहेपनसे अच्छे निश्चित कर लिये गये हैं।

न हि द्रव्यस्य प्रबन्धेन वर्तमानस्य नामस्थापनाभावानामन्यतमस्यापि तत्रोद्भवे क्षयोऽनुभूयते नाम्नो वा स्थापनायाः भावस्य वा तथा वर्तमानस्य तदितरप्रवृत्तौ येन विरोधो गम्येत। तथानुभवाभावेऽपि तद्विरोधकल्पनायां न किञ्चित्केनचिदविरुद्धं सिद्ध्येत्।

बहुत कालसे पर्यायप्रवाहरूप रचनाविशेष करके वर्त रहे द्रव्यके होते संते वहां नाम, स्थापना और भावोंमेंसे किसी भी एकके प्रकट हो जानेपर उस द्रव्यका क्षय होना नहीं जाना जाता है। अथवा नाम या स्थापना अथवा भावके पूर्ण कारण होते हुए तैसी प्रवृत्ति करते संते उनमेंसे किसी अन्यकी प्रवृत्ति होनेपर उनका नाश होना नहीं देखा जाता है, जिससे कि नाम आदिकका परस्परमें विरोध होना समझ लिया जाय। यदि तिस प्रकार अनुभव नहीं होते हुए भी उन नाम आदिकमें विरोधकी कल्पना करोगे तब तो कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थसे अविरुद्ध सिद्ध न होगा। अर्थात् नाशको न करनेवाला भी विरोधी माना जावेगा, तब तो एक शरीरमें स्थित हो रहे अनेक अङ्गोंका अथवा पञ्चाङ्गुलमें अंगुलियोंका या एकत्र बैठे हुए अनेक विद्वानोंका भी विरोध ठन जावेगा। यहांतक अव्यवस्था हो जावेगी कि सबका सबसे विरोध हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

न च कल्पित एव विरोधः सर्वत्र तस्य वस्तुधर्मत्वेनाध्यवसीयमानत्वात् सत्त्वादिवत्। सत्त्वादयोऽपि सत्त्वेनाध्यवसीयमानाः कल्पिता एवेत्ययुक्तं तत्त्वतोऽर्थस्यासत्त्वादिप्रसंगात्।

दूसरी बात यह है कि बौद्ध जन विरोधको सर्वथा कल्पित ही कहें, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि सभी स्थलोंपर वह विरोध वस्तुका धर्म होकर निर्णीत किया जा रहा है। जैसे कि सत्त्व, क्षणिकत्व, अविसंवादकत्व, आदि वस्तुओंके मुख्य धर्म हैं। यदि बौद्ध यों कहें कि सत्त्व आदिक धर्म भी विकल्पज्ञान द्वारा सत्पनेकरके निश्चित किये हुए हैं, अतः वे कल्पित ही हैं। वस्तुतः सत्पना, स्वलक्षणपना, क्षणिकपना आदिकी सभी कल्पनाओंसे रहित और निर्विकल्पक प्रत्यक्षका

विषय हो रहा पदार्थ ही मुख्य है, निश्चय स्वरूप विकल्पज्ञानसे जाने गये सत्त्व आदिक तो सब कल्पितधर्म हैं, यह बौद्धोंका कहना युक्तिशून्य है। क्योंकि ऐसा मानने पर परमार्थरूपसे पदार्थोंको असत्पने, अक्षणिकपने आदिका प्रसंग हो जावेगा, यानी बौद्धोंके माने गये पदार्थ सत् और क्षणिक न हो सकेंगे। यह अनिष्टापत्ति हुयी।

सकलधर्मनैरात्म्योपगमाददोषोऽयमिति चेत् कथमेवं धर्मी तात्त्विकः ? सोऽपि कल्पित एवेति चेत्, किं पुनरकल्पितम् ? स्पष्टमवभासनं स्वलक्षणमिति चेत् नैकत्रेन्दौ द्वित्वस्याकल्पितत्वप्रसंगात् ।

यदि बौद्ध यों कहें कि हम तो वास्तविक तत्त्वमें सम्पूर्ण धर्मोंका निरात्मकपना (निषेध) स्वीकार करते हैं, अर्थात् हमारे पदार्थोंमें क्षणिकत्व, सत्त्व, धर्म भले ही न रहो। कोई क्षति नहीं। हमारी ओरसे सभी धर्म मिट जावें, सो ही अच्छा है। हम तो पदार्थोंके स्वभावरहितपनेरूप नैरात्म्य भावनाओंसे ही मोक्ष प्राप्त करना इष्ट करते हैं। बौद्धोंके ऐसा कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार आपका माना हुआ धर्मी भला वास्तविक कैसे होगा ? अर्थात् जब धर्म ही नहीं है तो धर्मोंको धारण करनेवाला धर्मी वस्तुभूत कैसे हो सकता है ? जब कि अश्वविषाण ही नहीं है तो उसको धारण करनेवाला आधार कैसे माना जा सकता है। यहां बौद्ध यदि यों कहें कि वह धर्मी भी कल्पित ही है। मुख्य नहीं है, ऐसा कहने पर तो हम पूछेंगे कि फिर तुम बतलाओ कि तुम्हारे यहां अकल्पित पदार्थ क्या माना गया है ? किसीको मुख्य माने बिना गौणकी कल्पना होती नहीं। यदि तुम यों कहो कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा स्पष्टरूपसे प्रकाशित हो रहा स्वलक्षण पदार्थ ही वास्तविक है, यह तो न कहना, क्योंकि जिसका स्पष्ट प्रतिभास होता है, वह वास्तविक है। ऐसा नियम करनेसे तो अंगुली लगाकर आंखको कुछ मींचने पर नेत्रजन्य स्पष्ट ज्ञान द्वारा एक चन्द्रमामें ज्ञात हुए दोपनेको भी अकल्पितपनेका प्रसंग होगा, यानी एक ही चन्द्रमा स्पष्ट दीखनेके कारण वास्तविक दो हो जावेंगे। स्वप्नमें भी अनेक पदार्थ स्पष्ट जाने जाते हैं, किन्तु वे मुख्य या वास्तविक नहीं।

यदि पुनरबाधितस्पष्टसंवेदनवेद्यत्वात्स्वलक्षणं परमार्थसत् नैकत्रेन्दौ द्वित्वादि बाधितत्वादिति मन्यसे तदा कथमबाधितविकल्पाध्यवसीयमानस्य धर्मस्य धर्मिणो वा परमार्थसत्त्वं निराकुरुषे ।

इस प्रसंगके निवारणार्थ यदि फिर तुम बौद्ध यह मानोगे कि बाधारहित स्पष्ट संवेदनके द्वारा जानने योग्य होनेके कारण स्वलक्षण तो वास्तविक सत्पदार्थ है, किन्तु एक चन्द्रमामें दोपना, तीनपना आदि वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि वे धर्म उत्तरकालमें हुए बाधक प्रमाणोंसे बाधित हो जाते हैं। स्वप्नमें हुआ ज्ञान भी बाधित है। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो आपका नियम बहुत अच्छा है। अब तुम पक्षपात रहित होकर विचारोगे तो स्वलक्षणके समान उसी प्रकार बाधारहित विकल्पज्ञानके

द्वारा निर्णीत किये जा रहे धर्म और धर्मीका परमार्थरूपसे सत्पना भला कैसे निराकृत करोगे ? यानी निर्बाध विकल्पज्ञानसे जाने गये धर्म और धर्मीको भी मुख्य वस्तु मान लो । हां ! सबाध ज्ञानोंसे जान लिये गये कल्पित पदार्थोंको न मानना ।

विकल्पाध्यवसितस्य सर्वस्याबाधितत्वासम्भवान्न वस्तुसत्त्वमिति चेत्, कुतस्तस्य तदसम्भवनिश्चयः । विवादापन्नो धर्मादिर्नाबाधितो विकल्पाध्यवसितत्वात् मनोराज्यादिवदित्यनुमानादिति चेत्, स तर्ह्यबाधितत्वाभावस्तस्यानुमान विकल्पेनाध्यवसितः परमार्थसन्नपरमार्थसन् वा ? प्रथमपक्षे तेनैव हेतोर्व्यभिचारः, पक्षान्तरे तत्त्वतस्तस्याबाधितत्वं अबाधितत्वाभावस्याभावे अबाधितत्वविधानात् ।

यदि बौद्ध यों कहें कि झूंठे विकल्पज्ञान द्वारा निर्णीत किये गये सम्पूर्ण धर्म, धर्मी, आदि पदार्थोंको अबाधितपना असम्भव है, यानी सभी विकल्पज्ञानोंसे जाने गये पदार्थोंमें बाधा उपस्थित हो ही जाती है अतः वे वास्तविक सत्पदार्थ नहीं हैं । ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि तुमने उनको अबाधितपनेके असम्भवका निश्चय कैसे किया बतलाओ ? अब यहां बौद्ध अनुमान प्रयोग रचते हैं कि विवादरूप क्रूर ग्रहसे ग्रसित हो रहे धर्म, धर्मी आदिक (पक्ष) अबाधित नहीं हैं (साध्य) विकल्पज्ञानसे निश्चित होनेके कारण (हेतु) जैसे कि मनमें राज्य प्राप्त कर लेना या स्वप्नमें धन प्राप्त कर लेना आदिक विषय विचारे कल्पनाओंसे ज्ञेय होनेके कारण परमार्थभूत नहीं हैं । इस अनुमानसे यदि अबाधितपनेका निषेध सिद्ध करोगे तो हम आपके ऊपर विकल्प उठाते हैं कि उस धर्म, धर्मी, आदिकको अबाधितपनेका अभाव जो कि आपने अनुमानरूप विकल्पज्ञानसे निर्णीत किया है वह वास्तविक सत् है या वस्तुभूत नहीं है ? बताओ । पहिला पक्ष लेनेपर यानी अबाधितत्वाभाव वास्तविक पदार्थ है तब तो तिस वास्तविक अबाधितत्वाभाव पदार्थसे ही तुम्हारे हेतुका व्यभिचार हुआ अर्थात् अबाधितत्वाभावमें विकल्पज्ञानसे निर्णीत किया गयापन हेतु रह गया और अबाधितत्वाभावरूप साध्य न रहा । क्योंकि आपने इसको अबाधित यानी वास्तविक मान लिया है । दूसरा पक्ष ग्रहण करनेपर यानी अबाधितत्वाभाव पदार्थ वास्तविक नहीं है तब तो वास्तविकरूपसे उसको अबाधितपना आगया, यानी अबाधितत्वाभाव जब वास्तविक नहीं रहा तो धर्म, धर्मी आदिमें अबाधितपना ही वास्तविक रहा । अबाधितपनेके अभावका अभाव हो जानेपर उसके अबाधितपनेका ठीक विधान हो जाता है । घटाभावके अभाव कर देनेपर घटके अस्तित्वका विधान हो जाता है । बात यह है कि निर्णय किये विना बौद्धोंका भी कार्य नहीं चल सकता है । बाधारहित निर्णयज्ञानके विषयको वास्तविक मानना उनको आवश्यक पडेगा, अन्यथा कोई गति नहीं है ।

न चाविचारसिद्धयोर्धर्मिधर्मयोरबाधितत्वाभावः प्रमाणसिद्धमबाधितत्वं विरुणद्धि संवृत्तिसिद्धेन परमार्थसिद्धस्य बाधनानिष्टेः । तद्दिष्टौ वा स्वेष्टसिद्धेरयोगात् ।

और दूसरी बात यह भी है कि बौद्धोंसे मान लिया गया और बिना विचारे सिद्ध कर लिये गये धर्मी तथा धर्मका अबाधितत्वाभाव (कर्त्ता) धर्म, धर्मीके प्रमाण द्वारा साधे गये अबाधितत्व (कर्म) का विरोध नहीं करता है। कल्पनारूप व्यवहार द्वारा सिद्ध कर लिये गये पदार्थसे परमार्थरूप करके सिद्ध हुए पदार्थका बाधित हो जाना इष्ट नहीं किया है। क्या मिट्टीसे बनाया गया नौला वस्तुभूत सर्पको बाधा पहुंचा सकता है ? पत्रपर लिख दी गयी अग्नि शीतको दूर नहीं कर सकती है, तैसे ही बौद्धोंके द्वारा कल्पनारूप अनुमानसे जान लिया गया धर्मधर्मीका बाधितत्वाभाव भी प्रमाणप्रसिद्ध अबाधितत्वका बाधक नहीं हो सकता है, और यदि कल्पित पदार्थोंसे वास्तविक अर्थोंका यह बाधित होना इष्ट कर लोगे तो बौद्धोंके द्वारा स्वयं अपने इष्टकी सिद्धि न हो सकेगी। जो कुछ तत्त्व वे मानेंगे कल्पना किये गये उसके विरुद्ध तत्त्वसे तिसका खण्डन हो जावेगा। पत्रमें सिंहके सिरपर बकरी बैठा देनेका चित्र खींचना सरल है, किन्तु वनमें स्वतन्त्र विचरते हुए सिंहके सिरपर छिरियाका बैठकर किलोल करना दुःसाध्य है।

कथं विकल्पाध्यवसितस्याबाधितत्वं प्रमाणसिद्धमिति चेत्, दृष्टस्य कथम् ? बाधकाभावादिति चेत्, तत एवान्यस्यापि। न हि दृष्टस्यैव सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वथा बाधकाभावो निश्चेतुं शक्यो न पुनरध्यवसितस्येति ब्रुवाणः स्वस्थः प्रतीत्यपलापात्।

बौद्ध पूंछते हैं कि विकल्पसे निर्णीत किया गया धर्म, धर्मीका अबाधितपना प्रमाणोंसे सिद्ध है यह आप जैनोंने कैसे जाना ? कहिये। ऐसा पूंछनेपर हम भी बौद्धोंसे पूंछते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप दर्शनसे जान लिये गये स्वलक्षणरूप दृष्टका अबाधितपना तुम बौद्धोंने कैसे जाना ? बताओ। दृश्यका अबाधितपना तो बाधक प्रमाणोंके न होनेसे जान लिया गया है। यदि आप सौगत ऐसा कहोगे तो हम जैन भी कहते हैं कि तिस बाधकाभाव होनेसे ही विकल्पसे निर्णीत किये गये दूसरे विकल्प्यका भी अबाधितपना जान लिया जाता है। बौद्ध कहता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे देखे गये पदार्थका ही सब स्थानोंमें सर्व कालमें सब जीवोंके सभी प्रकारसे बाधकका अभाव निश्चय किया जा सकता है किन्तु फिर अध्यवसायरूप ज्ञानसे जाने गये विकल्प्यका बाधकाभाव निश्चय नहीं किया जा सकता है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार कह रहा बौद्ध स्वस्थ नहीं है उसकी सुधि बुद्धि मारी गयी है, क्योंकि ऐसा मत्तता प्रयुक्त नियम करनेसे प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंको छिपाना पडेगा। अर्थात् सर्व देश, सर्व काल, सर्व व्यक्तियोंको बाधक प्रमाण नहीं उत्पन्न होनेसे प्रत्यक्षज्ञानमें जैसे प्रमाणता आजाती है, तैसे ही सर्वत्र, सर्वदा, सबको, बाधक प्रमाणका उदय न होनेसे विकल्पज्ञानको भी प्रमाणता आजावेगी, ऐसा ही लोकमें प्रतीतियोंसे प्रसिद्ध हो रहा है। हां ! जहां बाधक प्रमाणका उत्थान हो जाता है, वह प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं है और न विकल्पज्ञान ही प्रमाण है। भ्रान्त और अभ्रान्तका विवेक तो सभी ज्ञानोंमें मानना आवश्यक है।

ततो विरोधः क्वचित्तात्त्विक एवाबाधितप्रत्ययविषयत्वादिष्टो वस्तुस्वभाववदिति विरोधिभ्यां भिन्नसिद्धेः। स भिन्न एव सर्वथेत्ययुक्तमुक्तोत्तरत्वात्। ताभ्यां भिन्नस्य तस्य विरोधकत्वे सर्वः सर्वस्य विरोधकः स्यादिति।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि किन्हीं विशिष्ट पदार्थोंमें हो रहा विरोध वास्तविक ही है, क्योंकि वह विरोध निर्बाध ज्ञानके विषयपनेसे इष्ट किया है। जैसे कि वस्तुओंके स्वभाव परमार्थभूत हैं। अर्थात् जैसे अग्नि आदिके उष्णत्व, पाचकत्व, दाहकत्व, आदि स्वभाव वास्तविक हैं, क्योंकि वे कार्योंको कर रहे हैं, तैसे ही अग्नि और जलमें या अन्धकार और आतपके बीचमें पडा हुआ विरोध परिणाम भी वास्तविक है। कल्पित नहीं। चींटियोंको रोकनेके लिये लड्डुओंसे भरे हुए पात्रके चारों ओर पानी कर दिया। ऐसी दशामें दो चार मूर्ख चींटियां तो आकर लौट जाती हैं। किन्तु हजारों चींटियां तो आती ही नहीं, क्योंकि लड्डुओंका परिणाम ही न्यारा हो गया है। जो लड्डू प्रथम पानीसे बाहिर थे और वे ही पानीसे भरे पात्रके भीतर अब रक्षित कर दिये हैं, परिस्थितिके परावर्तनसे उन लड्डुओंका परिणाम ही परावर्तित हो गया है। उसी बदले हुए परिणामका अपनी इन्द्रियोंसे मतिज्ञान और तज्जन्य श्रुतज्ञान कर अनेक चींटियां लड्डुओंके निकट जानेका परिश्रम नहीं करती हैं। प्रबलशत्रुसे मैदानमें घेर लिये गये राजाकी अपेक्षा खाई करके वेष्टित हो रहे किलेमें सुरक्षित बैठे हुये नृपकी परिणति कुछ तो निर्भय है ही। अभिप्राय यह है कि विरोधी पदार्थोंका प्रकरण मिलनेपर उनमें भिन्न भिन्न परिणाम हो जाते हैं। जीरा और हींगडा मिला देनेसे दोनोंकी गन्ध मारी जाती है। औषधि रोगको दूर कर देती है, साथमें स्वयं भी निःसार हो जाती है। इस प्रकार अनुयोगी और प्रतियोगीरूप दोनों विरोधियोंसे विरोध पदार्थ कथञ्चित् भिन्न सिद्ध है। परिणामीसे परिणाम कथञ्चित् भिन्न होता है। वह विरोध सभी प्रकारोंसे भिन्न ही है, यह वैशेषिकोंका कहना तो युक्त नहीं है। क्योंकि इसका उत्तर हम पहिले कह चुके हैं। यानी उदासीन पडे हुए भिन्न पदार्थोंके समान पृथक् पडा हुआ विरोध भी विरोधक न हो सकेगा, अथवा भिन्न पडे हुये विरोधके समान चाहे जो भी भिन्न पदार्थ विरोधक बन बैठेगा। तथा विरोधियोंसे सर्वथा ही भिन्न उस विरोधको यदि विरोधक मानोगे तब तो सभी पदार्थ सबके विरोधक हो जावेंगे, अपनेसे भिन्न पदार्थोंका मिल जाना सर्वत्र सुलभ है यह हम कह चुके हैं।

ननु चार्थान्तरभूतोऽपि विरोधिनोर्विरोधको विरोधः तद्विशेषणत्वे सति विरोधप्रत्ययविषयत्वात्, यस्तु न तयोर्विरोधकः स न तथा, यथापरोर्थः ततो न सर्वः सर्वस्य विरोधक इति चेन्न, तस्य तद्विशेषणत्वानुपपत्तेः। विरोधो हि भावः स चानुच्छस्वभावो यदि शीतोष्णद्रव्ययोर्विशेषणं तदा सकृत्तयोरदर्शनापत्तिः। अथ शीतद्रव्यस्यैव विशेषणं तदा तदेव विरोधि स्यान्नोष्णद्रव्यम्। तथा च न द्विष्ठोऽसौ एकत्रावस्थितेः। न चैकत्र विरोधः सर्वदा तत्प्रसंगात्। एतेनोष्णद्रव्यस्यैव विरोधो विशेषणं इत्यपि निरस्तम्।

यहां भेदवादी शंकाकार वैशेषिक अपने ऊपर आये हुए दोषोंका यों समाधान करता है कि सर्वथा भिन्न पदार्थ होता हुआ भी विरोध दोनों विरोधियोंका विरोधक हो जाता है (प्रतिज्ञा)। क्योंकि वह उनका विशेषण होता संता विरोधज्ञानका विषय है (हेतु)। यहां व्यतिरेकदृष्टान्त तो इस प्रकार है कि जो पदार्थ उन विरोधियोंका विरोधक नहीं है वह तिस प्रकार विशेषण होता हुआ विरोधज्ञानका विषय भी नहीं है, जैसे कि भिन्न पड़ा हुआ दूसरा तटस्थ अर्थ है। तिस कारण सभी भिन्न पड़े हुए पदार्थ तो सबके विरोध करनेवाले नहीं होते हैं, किन्तु कोई कोई विशिष्ट पदार्थ ही विरोधक होते हैं। आचार्य समझाते हैं कि यह तो वैशेषिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि हेतुका अंश पक्षमें नहीं रहता है। शीत और उष्णका विरोध प्रसिद्ध है। उस विरोधको उन विरोधियोंका विशेषणपना नहीं बनता है। कारण कि वैशेषिकोंके यहां भाव और अभाव दो पदार्थ माने गये हैं। आधारता, कार्यता, आदि धर्मोंसे रहित होनेके कारण अभाव पदार्थ तुच्छ है और भाव पदार्थ स्वभावोंसे सहित होनेके कारण अतुच्छ है। विरोधको आपने भाव पदार्थ माना है। और वह कार्यता, कारणता आदि धर्मोंसे सहित होनेके कारण अतुच्छ स्वरूप है। ऐसा विरोध यदि शीत और उष्ण द्रव्यरूप विरोधियोंका विशेषण माना जा रहा है तब तो एक समयमें उन दोनोंके न दीखनेका प्रसंग होगा। दोनोंमें रहनेवाला कार्यकारी विरोध तो युगपत् दोनों का नाश कर देवेगा। " सुन्दोपसुन्दन्यायसे या शूकरसिंह " न्यायसे दोनों लड मरेंगे। जब आधार ही नष्ट हो गये, ऐसी दशामें वह विरोध विशेषण होकर भला कहां रहेगा ? अब यदि वैशेषिक एक ओर रहते हुये विरोधको शीतद्रव्यका ही विशेषण माने, तब वह शीतद्रव्य तो बना रहेगा, किन्तु उष्णद्रव्य नष्ट हो जावेगा, और तिस प्रकार तो वह शीतद्रव्य ही विरोधक हुआ, उष्णद्रव्य शीतका विरोधक न हो सकेगा। जो विरुद्ध है वह भला विरोधक कैसे हो सकता है ? सिंहको हरिण नहीं मार डालते हैं। तथा तैसा होनेपर तो एकमें स्थित रहनेके कारण वह विरोध पदार्थ दोमें रहने वाला नहीं कहा जावेगा और एक हीमें ठहरनेवाला तो विरोध नहीं हो सकता है। अन्यथा सबका सदा ही वह विरोध होते रहनेका प्रसंग होगा। अकेले अपने स्वरूपको लिये हुए पदार्थ सदा विद्यमान रहते ही हैं। वस्तुतः पृथक्त्व, विरोध, विभाग, द्वित्व, संयोग, आदिक भाव दो आदि पदार्थोंमें ही रहते हुए माने गये हैं, अकेलेमें नहीं। इस उक्त कथन करके वह विरोध उष्णद्रव्यका ही विशेषण है, यह भी खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। यानी उष्णद्रव्यका विशेषण होनेसे विरोधक उष्णद्रव्य तो शीतद्रव्यको नष्ट कर देवेगा। किन्तु शीतद्रव्य अपनेमें विरोध न होनेके कारण उष्णद्रव्यका नाश न कर सकेगा। तथा अकेले उष्णद्रव्यमें रहनेवाला विरोध बन भी तो नहीं सकता है। इस प्रकार वैशेषिकोंसे कहे गये अनुमानके हेतुका शत्यन्तदल सिद्ध न हो सका। हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

यदि पुनः कर्मस्थक्रियापेक्षया विरुद्ध्यमानत्वं विरोधः स शीतद्रव्यस्य विशेषणं, कर्तृस्थक्रियापेक्षया विरोधः स उष्णद्रव्यस्य। विरोधसामान्यापेक्षया विरोधस्योभयविशेषणत्वोपपत्तेर्द्विष्ठत्वं तदा रूपादेरपि द्विष्ठत्वनियमापत्तिस्तत्सामान्यस्य द्विष्ठत्वात्, रूपादेर्गुणविशेषात् तत्सामान्यस्य पदार्थान्तरत्वात् न तदनेकस्थत्वे तस्यानेकस्थत्वमिति चेत् तर्हि कर्मकर्तृस्थाद्विरोधविशेषात् पदार्थान्तरस्य विरोधसामान्यस्य द्विष्ठत्वे कुतस्तद्द्विष्ठत्वं येन द्वयोर्विशेषणं विरोधः।

फिर आप वैशेषिक यदि यों कहें कि सकर्मक धातुकी क्रिया कर्तामें रहती है। और कर्ममें भी रहती है, जैसे देवदत्त भातको पकाता है यहां पच्धातुका वाच्य अर्थ पचनक्रिया देवदत्तमें रहती है और भातमें भी रहती है, वैसे ही शीतद्रव्यका उष्णद्रव्य विरोध करता है। यहां कर्ममें स्थित हो रही क्रियाकी अपेक्षासे विरोधे जा रहे शीतद्रव्यका विरोधागयापनरूप विरोध है वह शीतद्रव्यरूप-कर्मका विशेषण है। और कर्तामें ठहरी हुयी क्रियाकी अपेक्षासे विरोध करनेवाले उष्णद्रव्यका विरोधकपनारूप विरोध है वह उष्णद्रव्यका विशेषण है। तथा विरोधसामान्यकी अपेक्षासे वह विरोध शीतद्रव्य और उष्णद्रव्य इन दोनोंका विशेषण हुआ बन जाता है। अतः विरोधको दो आदिमें रहनापन भी सिद्ध हो गया। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो रूप, रस आदिको भी दोमें रहनेपनके नियमका प्रसंग होगा। क्योंकि रूप आदिकके सामान्यको भी दोमें रहनापन बन जावेगा। यानी व्यक्तिस्वरूप गुण भले ही एक द्रव्यमें रहता है, किन्तु रूपका सामान्य रूपत्व तो अनेकोंमें रहता हुआ अनेकका विशेषण हो जायगा। रूपसे रूपसामान्य भिन्न तो नहीं माना गया है। इस पर यदि वैशेषिक यों कहें कि रूप, रस आदि तो गुणविशेष हैं और उनमें रहनेवाला रूपत्व, रसत्व, सामान्य स्वरूप जाति तो उस गुणपदार्थसे भिन्न चौथा सामान्य पदार्थ हम वैशेषिकोंके यहां माना गया है। अतः उन न्यारे सामान्योंके अनेकमें स्थित रहनेपर भी उन रूप, रस आदि गुणोंको अनेकमें स्थित रहनेपनका प्रसंग नहीं होगा। आचार्य बोलते हैं कि ऐसा पक्ष लेनेपर तो विरोध भी दोमें रहनेवाला न हो सकेगा। कर्ममें और कर्तामें ठहरे हुए व्यक्तिस्वरूप विशेषविरोधसे भिन्नपदार्थ-स्वरूप विरोध सामान्यविरोधत्वके दोमें ठहरते हुए भी उस विरोध विशेषका दोमें ठहरनापना भला कैसे माना जा सकता है? जिससे कि विरोधभाव दोनोंका विशेषण हो सके। अर्थात् विरोधत्व जाति भले ही दोनों विरुद्ध्य विरोधकस्वरूप कर्ता, कर्ममें या दोनोंमें रहनेवाले दोनों विरोधोंमें ठहर जाय, किन्तु विरोध तो रूप, रस, आदिकके समान दोमें ठहरनेवाला विशेषण नहीं हो सकता है।

एतेन गुणयोः कर्मणोर्द्रव्यगुणयोः गुणकर्मणोः द्रव्यकर्मणोर्वा विरोधो विशेषणं इत्यपास्तं, विरोधस्य गुणत्वे गुणादावसम्भवाच्च।

इस कथनसे वैशेषिकोंके इस मन्तव्यका भी खण्डन हो गया कि शीत स्पर्श, और उष्णस्पर्श इन दो गुणोंमें या सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि दो गुणोंमें रहनेवाला विरोध दोनोंका विशेषण है, तथा उत्क्षेपण और अवक्षेपण या आकुञ्चन और प्रसारण अथवा भ्रमण और एक दिग्गमन आदि दो दो कर्मों (क्रियाओं) में रहता हुआ विरोध उनका विशेषण है। एवं आत्मद्रव्य और रूप गुण, या आकाशद्रव्य और रस गुण, अथवा वायुद्रव्य और गन्ध गुण, आदि द्रव्य और गुणोंमें विरोध इनका विशेषण हो रहा है। तथैव परम महत्त्व और गमन या ज्ञान और उत्क्षेपण अथवा शब्द और रेचन आदि गुण और कर्ममें रहने वाला विरोध इतना विशेषण है, अथवा आकाश द्रव्य और प्रसारण या पृथ्वी और भ्रमण अथवा वायु और अपक्षेपण आदि द्रव्य और कर्म इन दो दोमें विरोध विशेषण हो रहा है। देखो, वैशेषिकोंके इस सिद्धान्तका खण्डन यों हो गया कि सामान्य पदार्थके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ वैशेषिकोंके यहां ऐसा नहीं माना गया है कि जो दो गुणोंमें या दो कर्मोंमें अथवा द्रव्य गुण दोमें या गुणकर्म दोमें एवं द्रव्य कर्म दोमें रह सके, प्रत्युत छहों भावोंमें रहता है, केवल नियत दोमें नहीं। हां ! गुणत्व, कर्मत्व और सत्ता जातियां ऐसी हैं जो कि दो गुण आदिमें रहती हैं, किन्तु ये जातियां भी सम्पूर्ण गुण या द्रव्य, गुण, कर्म इनका सर्वोपसंहार करके रहती हैं, नियतगुण या परिमित कर्मोंमें नहीं ठहरतीं हैं। नियत, दो हीमें रहनेवाली कोई पर अपर जाति वैशेषिकोंने नहीं मानी है। दूसरी बात यह है कि इस प्रकरणमें विरोधको जातिरूप स्वीकार करना भी अच्छा नहीं पडेगा, जातिका कार्य दोमेंसे एकका नाश कर देना नहीं है। जननीके समान जाति तो मित्रताको पुष्ट करती है शत्रुभावको नहीं। तथा जातिकी अपेक्षासे रूप, रस आदिको भी द्वित्वपनेके नियमका प्रसंग होगा, यह हम कह चुके हैं। तीसरी बात यह भी है कि आप वैशेषिकोंने विरोधको पृथक्त्व, विभागके अनुरूप स्वतन्त्र गुणपदार्थ माना है। " गुणादिर्निर्गुणक्रियः " सम्पूर्ण गुण निर्गुण होते हैं यानी गुणमें गुण नहीं रहता है। कर्म आदिमें भी गुण नहीं ठहरता है। गुण तो द्रव्यमें ही रहते हैं। अतः दो गुणोंमें या दो कर्मोंमें कोई विरोधस्वरूप गुण नहीं रह सकता है। अतः विरोधको गुणपना मानलेने पर गुण आदिमें विरोधके रहनेका असम्भव है। तथैव एक द्रव्य और एक गुणमें भी कोई एक गुण नहीं रहता है। एक गुण और एक कर्ममें तो विरोध एक ओरका भी नहीं रह पाता है, तथा एक द्रव्य और एक कर्ममें भी विरोधरूप गुणके रहनेका विरोध है तो फिर नाम आदिमें परस्पर विरोध हो जानेका प्रसंग बिना विचारे क्यों उठाया जाता है ? यहां भावस्वरूप विरोधका विचार कर दिया गया है।

तस्याभावरूपत्वे कथं सामान्यविशेषभावो येनानेकविरोधिविशेषणभूतविरोधविशेषव्यापि विरोधसामान्यमुपेयते ।

अब यदि वैशेषिक उस विरोधको भावपदार्थ न मानकर अभावरूप पदार्थ मानेंगे तो विरोधमें सामान्य और विशेषपना भला कैसे हो सकेगा ? जिससे कि अनेक अनुयोगी प्रतियोगी रूप

विरोधियोंका विशेषण हो रहे व्यक्तिरूप अनेक विरोधविशेषोंमें व्यापनेवाला विरोधत्वसामान्य स्वीकार किया जावे। यानी भावपदार्थोंमें तो सामान्यपना और विशेषपना होता है, जैसे कि घटसामान्य (घटत्व) और घटविशेष (व्यक्ति) तथा रूपसामान्य रूपविशेष अथवा पृथिवीत्वसामान्यविशेष है। सत्ताकी अपेक्षा पृथिवीत्व विशेषजाति है और घटत्वकी अपेक्षा पृथिवीत्व सामान्यजाति है। किन्तु चारों ही अभावोंमें सामान्य और विशेष आपने नहीं माने हैं। द्रव्य, गुण और कर्ममें सामान्य रहता है और नित्य द्रव्योंमें विशेष रहता है। किसी किसी जातिमें आपेक्षिक सामान्यविशेष भाव हैं। ऐसी दशामें अभावरूप विरोधमें सामान्यविशेषभाव नहीं बन सकेगा, अतः आपके माने हुए छह भाव या चार अभावपदार्थोंमें विरोधका अन्तर्भाव नहीं हो सका।

यदि पुनः षट्पदार्थव्यतिरेकात् पदार्थशेषो विरोधोऽनेकस्थः, स च विरोध्यविरोधकभावप्रत्ययविशेषसिद्धेः समाश्रीयते तदा तस्य कुतो द्रव्यविशेषणत्वम्? न तावत् संयोगात् पुरुषे दण्डवत्तस्याद्रव्यत्वेन संयोगानाश्रयत्वात्, नापि समवायाद्गवि विषाणवत्तस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषव्यतिरिक्तत्वेनासमवायित्वात्। न च संयोगसमवायाभ्यामसम्बन्धस्य विरोधस्य क्वचिद्विशेषणता युक्ता, सर्वस्य सर्वविशेषणानुषङ्गात्।

यदि फिर कमर बांधकर सन्नद्ध हुए वैशेषिक यों कहें कि हमने मोक्षके विशेष उपयोगी होनेके कारण भावस्वरूप छह पदार्थ स्वीकार किये हैं, इनके अतिरिक्त भी अवच्छेदकत्व, अवच्छिन्नत्व, प्रतियोगिता आदि अनेक भाव शेष बच जाते हैं, तदनुसार पदार्थोंसे अतिरिक्त शेष बचा हुआ पदार्थ विरोध है जो कि अनेक पदार्थोंमें स्थित रहता है। संसारमें कोई विरोध्य है। जैसे अन्धकार, चूहा, मृग, सज्जन, मिथ्यात्व, उपकारक आदि विरोध्य पदार्थ हैं और घाम, बिल्ली, सिंह, दुष्ट, सम्यक्त्व, कृतघ्न आदि विरोधक हैं और इस प्रकार विरोध्यविरोधक भावके ज्ञानविशेषसे सिद्ध हो जानेके कारण उस न्यारे विरोध पदार्थका भले प्रकार आश्रयण कर लिया जाता है। इसपर हम वैशेषिकोंसे पूछते हैं कि तब उस विरोधको द्रव्यका विशेषण कैसे कहोगे? बताओ। संयोग या समवाय सम्बन्धसे सम्बन्धित होता हुआ जो पदार्थ विशेष्यको अपने रंगसे रंग देता है वह विशेषण कहा जाता है। तहां प्रथम ही पुरुषमें दण्डके समान संयोगसम्बन्धसे वह विरोध अपने विशेष्यभूत द्रव्यका विशेषण हो नहीं सकता है, क्योंकि दो द्रव्योंका ही संयोग सम्बन्ध माना गया है। जब कि विरोधद्रव्य पदार्थ नहीं है तो संयोग सम्बन्ध स्वरूप गुणका आश्रय नहीं होगा। अतः विरोध पदार्थ संयोग सम्बन्धसे द्रव्यमें नहीं रह सकता है द्रव्यमें न ठहरता हुआ द्रव्यका विशेषण कैसे होगा? अर्थात् नहीं। तथा गौमें सींगके समान द्रव्यमें विरोधका समवायसम्बन्ध मानकर विरोधको द्रव्यका विशेषण मानोगे, सो भी ठीक नहीं पडेगा, क्योंकि स्वरूपसम्बन्धस्वरूप अनुयोगिता और प्रतियोगितामेंसे चाहे किसी भी एक सम्बन्धसे द्रव्य, गुण और कर्मोंमें समवायसम्बन्ध ठहर जाता है, तथा केवल प्रतियोगिता सम्बन्धसे सामान्य और विशेषमें समवाय सम्बन्ध रहता है। समवाय पदार्थमें तो स्वयं समवाय

रहता ही नहीं है । " द्रव्यादयः पञ्चभावा अनेके समवायिनः " द्रव्य आदिक पांच भाव ही समवायसम्बन्धवाले हैं । अन्य नहीं । जब कि विरोध पदार्थ इन द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, पांच भावोंसे अतिरिक्त है तो वह समवायवाला नहीं हो सकता है । जो प्रतियोगिता सम्बन्धसे समवायवाला नहीं है वह समवायसम्बन्धसे किसी विशेष्यमें नहीं रह पाता है । प्रकरणमें संयोग और समवाय सम्बन्धसे नहीं सम्बन्धको प्राप्त हुए विरोधका कहीं भी विशेषणपना कहना युक्त नहीं है, अन्यथा यानी विना सम्बन्धित हुए ही कोई पदार्थ विशेषण होने लगे तब तो सभीको सबके विशेषण हो जानेका प्रसङ्ग आ जावेगा जो कि इष्ट नहीं है । ज्ञान आकाशका विशेषण हो जावेगा, सह्यपर्वत विन्ध्यपर्वतका विशेषण हो जाओ । अतः यही नियम करना आवश्यक होगा कि संयोग या समवाय सम्बन्धसे जो स्वयं युक्त हो गया है वही अन्यत्र उस सम्बन्धसे वर्तता हुआ विशेषण होता है ।

समवायवत्समवायिषु संयोगसमवायासत्त्वेऽपि तस्य विशेषणतेति चेन्न, तस्यापि तथा साध्यत्वात् । न चाभाववद्भावेषु तस्य विशेषणता तस्यापि तथा सिद्ध्यभावात् । न ह्यसिद्धमसिद्धस्योदाहरणं, अतिप्रसङ्गात् ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि पांच भावोंसे अतिरिक्त समवाय पदार्थ जैसे संयोग या समवाय सम्बन्धसे सम्बद्ध न होता हुआ भी द्रव्य आदि पांच समवायियोंमें विशेषण हो जाता है, यानी समवायमें प्रतियोगिता सम्बन्धसे संयोग या समवाय नहीं भी रहता है फिर भी समवायको विशेषणपना है, तैसे ही विरोधको भी विशेषणपना बन जावेगा । सो यह तो नहीं कहना चाहिये । क्योंकि उस समवायको भी तिस बिना सम्बन्ध हुए प्रकारसे विशेषणपना बन जाना साधने योग्य है । अर्थात् सिद्ध हुए पदार्थका दृष्टान्त दिया जा सकता है । जो स्वयं रोगी है, वह दूसरेकी चिकित्सा क्या कर सकता है ? " अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते " परमाणु, आकाश, आदि नित्य द्रव्योंके अतिरिक्त सभी पदार्थ जब आधेय हैं तब समवाय भी किसी न किसी स्वरूप या विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्धसे ही अपने आश्रयोंमें आश्रित रह सकेगा । फिर समवायको बिना सम्बन्धके रहनेवाला आप क्यों कहते हो ? और तुम यदि यह भी कहो कि भाव पदार्थोंमें संयोग और समवाय सम्बन्धसे नहीं सम्बन्धित हुआ भी अभाव पदार्थ जैसे विशेषण हो जाता है तैसे ही विरोध भी विरोधियोंमें न सम्बन्धित हुआ विशेषण हो जायगा । सो यह भी न कहना । क्योंकि अभाव पदार्थको भी तिस बिना सम्बन्धित हुए प्रकारसे विशेषण हो जानेकी सिद्धि नहीं हुयी है । असिद्ध पदार्थ तो असिद्धका उदाहरण नहीं हो सकता है । मरा घोडा मरे हुए असवारको नहीं भगा लेजा सकता है, अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा । यानी चाहे जिस असिद्धसे किसी भी असिद्धकी सिद्धि करदी जावेगी । तब तो सबके मनोरथ सिद्ध हो जावेंगे । कोई भी दरिद्र या रोगी न रहेगा, अथवा चाहे जिस ज्ञापक असिद्ध उदाहरणका अवलम्ब लेकर किसी भी अप्रसिद्ध दार्ष्टान्तको सिद्धि कर दी जावेगी । कोई बाधा न पड़ेगी । अतः नहीं सिद्ध हुए समवाय और अभावका दृष्टांत लेकर विरोध

पदार्थ विरोधियोंका विशेषण सिद्ध नहीं हो सका। अतः विरोध और विरोधियोंका तुम्हारे यहां विशेषणविशेष्यभाव न बन सका।

ननु च विरोधिनावेतौ समवायिनाविमौ नास्तीह घट इति विशिष्टप्रत्ययः कथं विशेषणविशेष्यभावमन्तरेण स्यात्। दण्डीति प्रत्ययवद्भवति चायमबाधितवपुर्न च द्रव्यादिषट्पदार्थानामन्यतमनिमित्तोऽयं तदनुरूपत्वाप्रतीतेः, नाप्यनिमित्तः कदाचित्क्वचिद्भावात्। ततोऽस्यापरेण हेतुना भवितव्यमतो विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धशेषः पदार्थशेषेष्वविनाभाववदिति समवायवदभाववद्वा विरोधस्य कचिद्विशेषणत्वसिद्धौ तस्यापि विशेषणविशेष्यभावस्य स्वाश्रयविशेषणभाविनः कुतस्तद्विशेषणत्वम्। परस्माद्विशेषणविशेष्यभावादिति चेत् तस्यापि स्वविशेष्यविशेषणत्वं परस्मादित्यनवस्थादप्रतिपत्तिर्विशेष्यस्य विशेषणप्रतिपत्तिमन्तरेण तदनिष्टेः, नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति वचनात्। सुदूरमपि गत्वा विशेषणविशेष्यभावस्यापरविशेषणविशेष्यभावाभावेऽपि स्वाश्रयविशेषणत्वोपगमे समवायादेरपि क विशेषणत्वं, तदभावेऽपि किं न स्यात्? इति न विशेषणविशेष्यभावसिद्धिः। तदसिद्धौ च न किञ्चित्कस्यचिद्विशेषणमिति न विरोधो विरोधिविशेषणत्वेन सिद्ध्यति।

तथा वैशेषिक पुनः अपने पक्षका अवधारण करते हुए कहते हैं कि अग्नि, जल या आतप, अन्धकार आदि ये दोनों विरोधी हैं। आत्मा ज्ञान या पुद्गलरूप ये दोनों समवाय वाले हैं। यहां घट नहीं है, आदि इस प्रकारकी विशिष्ट बुद्धियां विशेष्यविशेषणभावको माने विना भला कैसे हो सकेंगी? जैसे कि दण्डवाला पुरुष है, यह ज्ञान किसी संयोग सम्बन्धके विना नहीं होता है। उक्त ज्ञानोंका यह पूर्णशरीर बाधाओंसे रहित प्रसिद्ध है। अर्थात् वैशेषिक जन विशेष सम्बन्धको सिद्ध करनेके लिये अनुमान बनाते हैं कि जो जो विशिष्ट बुद्धि होती हैं, वह विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध इन तीनोंको विषय करती है। जैसे कि दण्डी यह विशिष्ट बुद्धि दण्डरूप विशेषण पुरुषरूप विशेष्य और संयोगरूप सम्बन्ध इन तीनको विषय कर लेती है। घट यह बुद्धि भी घट, घटत्व और समवाय इन तीनोंको जान लेती है। तैसे ही विरोधी, समवायी, अभाववान्, ये ज्ञान भी विशेष्य और विशेषणोंसे अतिरिक्त किसी मध्यवर्ती सम्बन्धके विना नहीं हो सकते हैं। इन ज्ञानोंका द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह भाव पदार्थोंमेंसे कोई एक तो निमित्तकारण नहीं हो सकता है, क्योंकि उन द्रव्य आदिकोंके अनुसार होनेवाले ज्ञानोंकी सरूपता इन ज्ञानोंमें प्रतीत नहीं होती है। भावार्थ—द्रव्य आदिकोंको कारण मानकर होनेवाले ज्ञानोंसे विरोधी, समवायी, आदिक ज्ञान विलक्षण हैं। तथा विरोधी आदि ज्ञानोंको निमित्तके विना ही उत्पन्न हो गये भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि वे ज्ञान कभी कभी और कहीं कहीं उत्पन्न होते हैं। कार्यमें देश,

काल, और आकारोंका नियमित होना नियत कारण विना नहीं हो सकता है। वैसे तो सदा होनेवाले कार्योंको भी कारणोंकी आवश्यकता है किन्तु क्वचित् कभी कभी होनेवाले कार्योंको तो कारणविशेषकी स्पष्टरूपसे अधिक आवश्यकता है। तिस कारण उक्त विशेष्य बुद्धियोंका द्रव्य आदिकसे भिन्न कोई निराला हेतु होना चाहिये। अतः इनका संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, इन पांच सम्बन्धोंसे बचा हुआ छठा विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना जाता है। वह सम्बन्ध सात पदार्थोंसे अतिरिक्त बचे हुए धर्मस्वरूप अन्य पदार्थोंमें गिना जावेगा। जैसे कि हेतु और साध्यका अविनाभाव सम्बन्ध सात पदार्थोंसे अतिरिक्त पदार्थ है। इस प्रकार समवाय अथवा अभावके समान विरोधका भी किसीमें विशेषणपना सिद्ध हो जाता है। अतः हम वैशेषिकोंका तद्विशेषणत्वे सति यह हेतुका दल सिद्ध हो गया। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा माननेपर तो उस विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्धको भी आप दोमें रहनेवाला धर्म सम्बन्ध होता है, एतदर्थ अपने आश्रयविशेषोंमें रहनेवाला आधेय मानोगे तो वह कहां किस सम्बन्धसे ठहरता हुआ विशेषण होगा ? बताओ। यहां भी सम्बन्धपनेकी रक्षार्थ दूसरे विशेष्यविशेषणभावसे उस सम्बन्धको वर्तता हुआ ऐसा कहोगे तो उस दूसरे सम्बन्धको भी अपने विशेष्यमें विशेषणपना तीसरे विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्धसे माना जावेगा। इस प्रकार अनवस्थादोष हो जानेसे विशेष्यकी प्रतिपत्ति कैसे भी न हो सकेगी। क्योंकि विशेषणको भले प्रकार जाने विना विशेष्यका ज्ञान होना इष्ट नहीं किया है। आपके यहां भी कहा है कि विशेषणका ग्रहण किये विना विशेष्यको विषय करनेवाली बुद्धि नहीं होती है। अर्थात् विशिष्ट बुद्धिमें विशेष्य विशेषण और संसर्ग इन तीनका जानना आवश्यक माना गया है। विशेषणका ज्ञान तो अत्यधिक आवश्यक है। और सम्बन्ध भी जब दोमें रह लेगा, तभी वह मध्यवर्ती होता हुआ सम्बन्ध हो सकता है। जैसे कि पुरुषमें दण्ड रहता है। उनका योजक संयोग सम्बन्ध विचारा दण्ड और पुरुष दोनोंमें समवाय सम्बन्धसे वृत्तिमान् है, तथा वह समवाय भी सम्बन्ध तभी हो सकेगा, जब कि अपने संयोग और दण्ड या संयोग और घट स्वरूप आधारोंमें विशेषण होकर ठहर जाय। अतः संयोग और दण्डके मध्यमें पडा हुआ समवाय भी विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्धसे अपने आधारभूत संयोग और समवायमें रहेगा। वह विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध भी अपने आधारभूत विशेष्य और विशेषणमें दूसरे विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्धसे रहेगा और वह भी तीसरेसे रहेगा। इस प्रकार चौथे पांचमें आदिकी कल्पना करना बढते हुए अनवस्था दोष हुआ। पुरुष, दण्ड, संयोग, समवाय, विशेष्यविशेषणभाव, पुनः विशेष्यविशेषणभाव आदि सम्बन्धोंमेंसे पहिले दो दोके बीचमें पडा हुआ अग्रिम तीसरा सम्बन्ध अपने विशेष्यविशेषणमें वर्तेगा। तभी सम्बन्ध बन सकेगा, सम्बन्ध द्विष्ठ यानी दोमें रहनेवाला होता है। चांदी या सोनेका टांका जबतक दोनों टुकडोंमें नहीं चुपकेगा तबतक दोनोंको मिला नहीं सकेगा, तब तो उत्तरोत्तरके सम्बन्ध विशेषण होते जावेंगे। उनके

लिये भी पुनः सम्बन्धान्तरोंकी आकांक्षा बढती जावेगी। यह अनवस्था दोष होगा। बहुत दूर भी जाकर विशेष्यविशेषणभावका दूसरे विशेष्यविशेषणभावके विना भी यदि अपने विशेष्य विशेषण रूप विशेष्य आश्रयोंमें विशेषण हो जाना स्वीकार कर लोगे तब तो उसी प्रकार समवाय, अभाव और विरोधका भी विशेषणपना उस विशेष्यविशेषणभावके विना ही कहीं क्यों न मान लिया जाय? यानी समवाय और अभावका सम्मेलन करानेवाले विशेष्यविशेषणभावका स्वका ही रूप स्वरूप सम्बन्ध मान लोगे तो समवाय और अभावका भी अपना ही स्वरूप नामक स्वरूपसम्बन्ध क्यों नहीं मान लेते हो? दूर तक सम्बन्धोंकी अनावश्यक लम्बी पूंछ बढानेसे क्या लाभ है? ऐसी दशामें समवाय, स्वरूप, आदि सम्बन्धोंको भी विशेषणपना कहां आया? वे अन्य सम्बन्धोंसे सम्बन्धियोंमें रहते तब तो विशेषण हो सकते थे, अन्यथा नहीं। इस प्रकार वैशेषिकोंके प्राण स्वरूप विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्धकी सिद्धि नहीं हुयी और उस विशेषणविशेष्यभावके नहीं सिद्ध होनेपर कोई पदार्थ किसीका विशेषण नहीं हो सकता है। इस प्रकार विरोधियोंका विशेषण होकर विरोध पदार्थ सिद्ध नहीं होता है। फिर आपका " तद्विशेषणत्वे सति " यह हेतु अंश सिद्ध न हुआ। असिद्ध हेतु तो साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता।

विरोधप्रत्ययविषयत्वं तु केवलं विरोधमात्रं साधयेन्न पुनरनयोर्विरोध इति तत्प्रतिनियमं, ततो न विरोधिभ्योऽत्यन्तभिन्नो विरोधोऽभ्युपगन्तव्यः। कथञ्चिद्विरोध्यात्मकत्वे तु विरोधस्य प्रतिनियमसिद्धिर्न कश्चिदुपालम्भ इति सूक्तं विरोधवत्त्वाश्रयात्मादीनां भिन्नाभिन्नत्वसाधनम्।

वैशेषिकोंने भिन्न पडे हुए भी विरोधको विरोधियोंका विरोधकपना सिद्ध करनेके लिये उनका विशेषण होते हुए विरोधज्ञानका गोचरपना यह हेतु दिया था। तहां उनका विशेषणपना इस अंशका तो खण्डन कर दिया गया है। अब हेतुके विशेष्यदल विरोधज्ञानका गोचरपनापर विचार करते हैं। वह विरोधज्ञानका गोचरपना तो केवल विरोधको साध सकेगा, किन्तु उन नियमित शीत और उष्ण या अन्धकार और आतप इनका विरोध है, इस विशेष नियमको नहीं कह सकता है। रुपयेका ज्ञान रुपयेकी सिद्धि तो करा सकता है, किन्तु देवदत्तसे ही इन्द्रदत्तका ही रुपया आया है, इस विशेषताको सिद्ध नहीं कर सकता है। तिस कारण विरोधियोंसे सर्वथा भिन्न पडा हुआ विरोध नहीं स्वीकार करना चाहिये, वह कुछ कार्यकारी नहीं है। हां! जैनसिद्धान्तके अनुसार विरोधको विरोधियोंसे कथञ्चित् तदात्मक मान लिया जायगा तब तो विरोधका अपने अपने विरोधियोंके साथ प्रतिनियम बन जाना सिद्ध हो जाता है, यानी ध्वंसकपना परिणामरूप विरोध शीतद्रव्यसे कथञ्चित् अभिन्न है और नष्ट हो जानापन रूप विरोध उष्ण द्रव्यका तदात्मक उत्तरवर्ती अभिन्न परिणाम है। कभी उष्णताकी तीव्रशक्ति होनेपर उष्णद्रव्यमें नाशकपना और शीतद्रव्यमें नाश्यपना रूप परिणतियां अभिन्न हो रही हैं। तुल्यबल विरोध होनेपर तो अग्निको नाश करनेवाला पानी भी

मर चुका, शेष पानी तो निकम्मे नौकर या कार्य न होनेसे ठलुआ बैठे नौकरके समान दीख रहा है यह अधिक पानी और थोडी आगकी अवस्था बतलायी है, किन्तु जहां थोडा पानी और आग अधिक है वहां थोडे पानीको नष्ट करनेवाली आग भी नष्ट हो गयी है। अर्थात् पानी और आग अन्य पुद्गल पर्यायोंको धारण कर चुके हैं, शेष अग्नि जो दीख रही है वह मरे हुए सैनिकोंसे बचे हुये जीवित सैनिकोंके सम है इत्यादि। विरोधके फलस्वरूप उत्तरवर्ती परिणाम ये सब विरोधियोंसे कथञ्चित् अभिन्न हैं। देवदत्तकी मृत्यु उसका ही उत्तरवर्ती परिणाम है। विषका नाशकपना स्वभाव भी विषकी पर्याय है। विष और देवदत्तमें बन्ध हो जानेपर सर्वथा भेद नहीं रहता है। सर्वथा भिन्न पडा हुआ विष देवदत्तको नहीं मार सकता है। दूरसे प्रयुक्त किये गये मन्त्र, तन्त्र, भी सर्वथा भिन्न होते हुए विनाशक नहीं होते हैं। अन्यथा चाहे जिस किसीका विनाश कर डालेंगे, आत्माके साथ कर्म नोकर्मबन्ध भी ऐसा ही है। रूप और रसका परस्परपरिहारस्थिति नामका विरोध तो एक द्रव्यमें दोनोंका अभेद होनेपर ही बनता है। अतः समझलो कि नियत व्यक्तियोंका नियत व्यक्तियोंसे विरोध करना तभी बनेगा जब कि उनमें पडे हुए विरोधको कथञ्चित् अभिन्न माना जावेगा। इस कारण स्याद्वादियोंके ऊपर कोई भी उलाहना नहीं आता है। सर्वथा एकान्तवादियोंके यहां अनेक दोष आते हैं। सह्य और विन्ध्यका पर्वतपनेसे अभेद है, यदि इनका पृथ्वीपना, द्रव्यपना, पर्वतपना इन धर्मोंसे भी सर्वथा भेद माना जावेगा तो उन दोनोंमेंसे एक व्यक्ति तो पर्वत, द्रव्य, और पृथ्वी नहीं रह सकेगा। सर्वथा भिन्न सरीखे दीख रहे नियमित पिता, पुत्रमें ही जन्यजनक भाव है। अश्व और मनुष्यका तथा कबूतर और गायका जन्यजनक भाव सम्बन्ध क्यों नहीं है। यहां भी कथञ्चित् अभेदका अवलम्ब लिये विना वैशेषिकोंकी दूसरी कोई गति नहीं है। राजाका पुरुष, देवदत्तका घोडा आदि सब स्थानोंपर यही समझ लो कि कथञ्चित् भेदाभेद होनेपर ही सम्बन्ध व्यवस्था है, यह गम्भीरतत्त्व है। इसको प्रमेयकमलमार्तण्डमें भलीभांति पुष्ट किया है। इस कारण श्रीविद्यानन्द स्वामीने पिच्यासीवीं वार्त्तिकमें बहुत अच्छा कहा था कि विरोधके समान नाम, स्थापना, आदिकोंका अपने अपने आश्रयोंसे कथञ्चित् भिन्नपना और कथञ्चित् अभिन्नपना साधन करना युक्त है।

नामादिभिर्न्यासोऽर्थानामनर्थक इति चेन्न, तस्य प्रकृतव्याकरणार्थत्वादप्रकृताव्याकरणार्थत्वाच्च। भावस्तम्भप्रकरणे हि तस्यैव व्याकरणं नामस्तम्भादीनामव्याकरणं च अप्रकृतानां न नामादिनिक्षेपाभावेऽर्थस्य घटते, तत्संकरव्यतिकराभ्यां व्यवहारप्रसंगात्।

किसीका कहना है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भावोंसे पदार्थोंका न्यास करना व्यर्थ है। आचार्य समझाते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि प्रकरणमें पडे हुए ही पदार्थके व्युत्पादन करनेके लिये और प्रकरणमें नहीं प्राप्त हुए पदार्थोंकी नहीं व्युत्पत्ति करानेके लिये प्रयोजकता होनेके कारण वह न्यास करना सार्थक है। छत या छप्परको धारण करनेके लिये तो वर्तमानमें वैसी

पर्यायको प्राप्त हुए थम्भेके प्रकरणमें उस पाषाण या काष्ठके खम्भेकी ही नियमसे व्युत्पत्ति कराता है और प्रकरण प्राप्त कार्यके अनुपयोगी ऐसे किसीका नाम धर दिये गये खम्भ या पत्रमें चित्रित किये गये स्थापना खम्भ या भविष्यमें खम्भेरूप होनेवाले वृक्ष या शिलारूप द्रव्यथम्भ इन अप्रकृतोंका प्रबोध नहीं कराता है यह अर्थक्रिया समर्थ अर्थका प्रयोजन सधजाना प्रकरणमें नहीं प्राप्त हुये पदार्थोंका नाम आदिसे निक्षेप किये विना नहीं घटता है। अन्यथा उन प्रकरण प्राप्त और प्रकरणके अनुपयोगी पदार्थोके संकीर्णपने और व्यतिकीर्णपनेसे भी व्यवहार हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। जो कि किसीको भी इष्ट नहीं है। यानी किसी मनुष्यका नाम वृषभ रख देनेसे उस व्यक्तिमें भाववृषभरूप पर्याय हो जानेसे मनुष्यपने और पशुपनेका संकर हो जावेगा। अथवा लादने और गाडी खैंचने रूप कार्यको वृषभ नामका मनुष्य करने लग जायगा, और मनुष्यके कार्य अध्यापन और वाणिज्यको परस्पर विषयगमनरूप व्यतिकर हो जानेसे बैल पशू करने लग जायगा, किन्तु व्यवहारमें नाम, स्थापना आदिसे निक्षिप्त किये गये पदार्थोंके न्यारे न्यारे प्रयोजन देखे जाते हैं। अतः पदार्थोंका न्यास करना आवश्यक है। किसी बडे प्रासादमें लगे हुए स्तम्भका दूरवर्ती पुरुषको ज्ञान करानेके लिये उसके चित्रको ही पत्र द्वारा भेजकर कृतकृत्य हो सकते हैं। मुख्य खम्भा परदेशको नहीं भेजा जा सकता है तथा छतका बोझ साधनेके लिये मुख्य स्तम्भकी आवश्यकता है। पत्र पर लिखा हुआ खम्भा वहां कार्यकारी नहीं है।

ननु भावस्तम्भस्य मुख्यत्वात्प्रकरणं न नामादीनां "गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्यय" इति वचनात्। नैतन्नियतं, गोपालकमानय कटजकमानयेत्यादौ गौणे संप्रत्ययसिद्धेः। नहि तत्र यो गाः पालयति यो वा कटे जातो मुख्यस्तत्र संप्रत्ययोऽस्ति, किं तर्हि ? यस्यैतन्नाम कृतं तत्रैव गौणे प्रतीतिः। कृत्रिमत्वाद्गौणे संप्रत्ययो न मुख्ये तस्याकृत्रिमत्वात् " कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययः " इति वचनात्। नैतदैकान्तिकं पांशुलपादस्य तत्रैवोभयगतिदर्शनात्। सम्प्रकरणत्वादुभयं प्रत्येति किमयं योगाः पालयति यो वा कटे जातस्तमानयामि किं वा यस्यैषा संज्ञा तम् ? इति विकल्पनात्। प्रकरणज्ञस्य कृत्रिमे संप्रत्ययोऽस्तीति चेत् न, तस्याकृत्रिमेऽपि संप्रत्ययोपपत्तेस्तथा प्रकरणात्।

यहां शंका है कि लोहा, काठ, पत्थर, या ईंटोंसे बने हुए पर्यायरूप थम्भकी मुख्यता होनेसे सब स्थलोंपर असली खम्भका ही ज्ञान कराया जावेगा। नामखम्भ या स्थापनाखम्भ आदिकोंका नहीं। ऐसा नियम है कि गौण और मुख्यका प्रकरण होनेपर मुख्यमें ही भले प्रकार ज्ञान होता है ऐसा प्रसिद्ध परिभाषाके द्वारा कहा गया है। इसपर आचार्य कहते हैं कि उक्त परिभाषा नित्य नहीं है। गौण और मुख्यकी योग्यता होनेपर मुख्य हीका ज्ञान हो, यह नियम सब देश और सर्व कालमें लागू नहीं होता है। गोपालको लाओ। अथवा कटजको लाओ। इन्द्रको भोजन

कराओ आदि, ऐसा कहनेपर गौण पदार्थमें ही अच्छा ज्ञान होना सिद्ध है। वहां जो गौओंको पालता है ऐसे भावरूप गोपालका सम्यग्ज्ञान होकर लाना नहीं है, अथवा जो कट यानी चटाईपर उत्पन्न हुआ है ऐसे मुख्य कटेज व्यक्तिमें ज्ञान नहीं होता है। तब तो क्या होता है ? सो सुनो ! जिस पुरुषका गोपाल या कटज यह नामकरण कर दिया है, उस गौण व्यक्तिमें (की) ही प्रतीति होती है। बालकके मचल जानेपर मिट्टी या काठके बने हुए कल्पित (नकली) सांप और सिंहको लाया जाता है। मुख्य (असली) को नहीं। यदि कोई यों कहे कि गोपाल, कटज, सर्प आदिका प्रकरण होनेपर तो कृत्रिम (नकली बनाया गया) होनेसे गौण पदार्थमें ही लाने ले जानेका समीचीन ज्ञान होता है। मुख्यमें नहीं। क्योंकि वह मुख्य तो अकृत्रिम है। लौकिक पुरुष कृत्रिम (गढ लिये गये) और अकृत्रिम (बनावटी नहीं) इन दोनोंके प्रसंग प्राप्त होनेपर कृत्रिममें सुलभतासे ज्ञान कर लेते हैं, ऐसा वचन है। पहिली परिभाषाकी अपवादरूप यह परिभाषा है। अतः जहां मुख्यका ग्रहण होगा, वहां मुख्यका ही और जहां गौणका प्रकरण है, वहां गौण पदार्थका ही प्रज्ञापन होगा। दोनोंका नहीं हो सकता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह भी एकान्तरूपसे नियम नहीं है। यानी गौण और मुख्यमेंसे किसी एकका ही ग्रहण होय, अथवा कृत्रिम और अकृत्रिममेंसे कृत्रिमका ही ज्ञान होय, यह नियम सब देश, सब काल और सर्व व्यक्तियोंके लिये उपयोगी नहीं है। क्योंकि धूलिसे लिथडे हुए पगवाले गवांर मनुष्यके यहां ही दोनों प्रकारके ज्ञान होते हुए देखे जा रहे हैं, वह पामर प्रकरणका जाननेवाला नहीं होनेके कारण विचारा मुख्य और गौण दोनोंकी प्रतीति कर लेता है। वह विचारता है कि अधिकारीने मुझे गोपाल और कटेज लानेकी आज्ञा दी है। जो मनुष्य गौओंको पालता है अथवा जो चटाईपर उत्पन्न हुआ है, उस मुख्य पदार्थको मैं लाऊं ? अथवा क्या जिस पुरुषकी यह गोपाल या कटज संज्ञा है उस गौण पदार्थको ले जाकर कृतार्थ हो सकता हूं ? इस प्रकार मुख्य और गौण दोनों पदार्थोंको जानकर उसके हृदयमें किसी एकको ले जानेके लिये विकल्प उठ रहा है। इसपर शंकाकार यदि यों कहे कि प्रकरणको जाननेवाले पुरुषका कृत्रिम पदार्थमें ही सुलभतासे ज्ञान होता है। मुख्यमें नहीं, सो यह पक्ष तो नहीं लेना। क्योंकि प्रकरणको जाननेवाले उस पुरुषका मुख्य अकृत्रिममें भी तैसा प्रकरण होनेसे समीचीन ज्ञान होना बन जाता है। प्रतिदिन सहस्रोंबार यह व्यवहार देखा जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि प्रकरणके अनुसार गौणका या मुख्यका अथवा क्वचित् दोनोंका ज्ञान होना निक्षेपका विधि विधान करनेसे ही सम्भव है। अन्य उपाय नहीं है।

ननु च जीवशद्बादिभ्यो भावजीवादिष्वेव संप्रत्ययस्तेषामर्थक्रियाकारित्वादिति चेत् न, नामादीनामपि स्वार्थक्रियाकारित्वसिद्धेः। भावार्थक्रियायास्तैरकरणादनर्थक्रियाकारित्वं तेषामिति चेत्, नामाद्यर्थक्रियायास्तर्हि भावेनाकरणात्तस्यानर्थक्रियाकारित्वमस्तु।

यहां दूसरी शंका है कि जीव वाचक जीव शद्ब, वृषभशद्ब, तथा अजीव वाचक मोदक शद्ब अथवा चित्र, प्रतिबिम्ब, आदिसे वास्तविक पर्यायरूप आत्मा, बैल, लड्डू आदि पदार्थोंमें (का) ही सुलभतासे ज्ञान होता है, क्योंकि वे पदार्थ ही पढाना, लादना, क्षुधानिवृत्ति करना, आदि अर्थक्रियाओंको करनेवाले हैं। लड्डूके नाम या चित्रसे भूंख दूर नहीं होती है, अथवा भविष्यमें लड्डू बननेवाले चना, पोंडा, खाससे भी मोदकका स्वाद उपलब्ध नहीं होता है। अतः भावनिक्षेप मानना ही ठीक है, अन्य निक्षेपोंका मानना व्यर्थ है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि नाम आदिक भी अपनी अपनी अर्थक्रियाओंके करनेवाले सिद्ध हो रहे हैं। भावार्थ—इन्द्र जीव, आदि नामोंसे जान लिये गये पदार्थ अपने अनुरूप क्रियाओंको करते हैं, व्याकरणशास्त्रमें तो शद्ब ही प्रधान हैं, अर्थ और ज्ञानको वहां कोई नहीं पूंछता है। अग्नि शद्ब की "सु" संज्ञा है। पावक, अनल शद्बकी या अग्निके ज्ञानकी या उष्ण आग पदार्थकी सु संज्ञा नहीं है। मन्त्रमें शद्ब प्रधान हैं, अर्थ नहीं। किसी आतुरकी लड्डू नामसे भी लार टपक जाती है। राग रागिनियोंके सुननेमें शद्बकृत आनन्द है, अर्थकृत विशेष आनंद नहीं है। रुपया, पैसा, मोहर, नोट, स्टाम्प आदिमें सम्राट्के नाम या स्थापनासे ही कार्य चलता है। अकेला राजा कहां कहां जाता फिरेगा। आश्चर्य गृह (अजायब घर) या चित्रगृहोंके प्रेक्षणसे अनेक व्यवहारयोग्य कार्य होते हैं। पैरमें हाथी रोग हो जानेसे सिंहका चित्र कर देनेपर रोगका उपशम हो जाता है। रसोई आदिकी शीघ्रता दिखलानेके लिये द्रव्यनिक्षेप कार्यकारी है। अनिवृत्तिकरण अवस्थाका मिथ्याज्ञान भविष्यके सम्यग्ज्ञानमें उपयोगी हो रहा है। अतः नाम आदिक भी अपने योग्य अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं, जो कि उनसे ही हो सकती हैं। यदि तुम यों कहो कि वस्तुके पर्याय स्वरूपभावसे होनेवाली अर्थ क्रियाका करना उन नाम आदिकों करके नहीं होता है। अतः वे नाम आदिक अर्थक्रियाकारी नहीं हैं, ऐसा कहोगे तो हम जैन कहेंगे कि नाम आदिकसे की जानेवाली अर्थक्रियाओंका करना वास्तविक पर्यायरूप भावसे नहीं होता है। अतः भावको भी अर्थक्रियाकारीपन न होओ! यों तो अन्नका कार्य जलसे नहीं होता है और जलका कार्य अन्नसे नहीं होता है। इतनेसे ही क्या ये भी अर्थक्रियाको करनेवाली वस्तु न बन सकेगी ?।

कांचिदप्यर्थक्रियां न नामादयः कुर्वन्तीत्ययुक्तं तेषामवस्तुत्वप्रसंगात्। न चैतदुपपन्नं भाववन्नामादीनामबाधितप्रतीत्या वस्तुत्वसिद्धेः।

नाम, स्थापना, और द्रव्य, किसी भी अर्थक्रियाको नहीं करते हैं, यह कहना तो अयुक्त है। क्योंकि ऐसा कहनेपर उनको अवस्तुपनका प्रसंग हो जावेगा। नामनिक्षेप, संज्ञा संज्ञेय व्यवहार को करता है। इसको माने विना शास्त्रपरिपाटी, वाच्यवाचकपन, पण्डितमूर्खपन, वकालत, वक्तृता आदि बहुत कुछ व्यवहार मिट जायेंगे। यह वह है ऐसी प्रतिष्ठा कर देनेसे मुख्यपदार्थोंके द्वारा होनेवाले नैमित्तिक भावोंके समान परिणामोंको स्थापना निक्षेप करा देता है। इसको माननेपर ही

वर्तमानमें मूर्तिदर्शन, पूजन, नाटकोंका अभिनय सिक्का, दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब, समापत्तिपन, आदिके द्वारा अनेक प्रयोजन सिद्ध हो रहे हैं, जो कि अन्य प्रकारोंसे नहीं सध सकते हैं। भविष्यमें परिणत होने वाले द्रवणकी योग्यताको द्रव्यनिक्षेप सम्भालता है, द्रव्यनिक्षेपको माने विना कार्यके लिये उपादान कारणोंका ही आदान करना, तेलके अर्थ तिलोंका, घडेके लिये मिट्टीका ग्रहण करना नहीं बन सकेगा। सभी जीव या पुद्गलद्रव्य नवीन नवीन कार्योंको कर रहे प्रतीत हो रहे हैं। द्रव्यनिक्षेपने उनको विश्वास दे रखा है कि लगे रहो। सफल होगे। कार्यसिद्धि तुम्हारे सामने हाथ जोडे खडी हुयी बाट जो रही है। निमित्त मिलनेपर झट हाथ आ जायगी। जो पदार्थ कुछ भी अर्थक्रियाओंको करता है, वह वस्तु या वस्तुका एक अंश अवश्य है। नाम आदिक भी वस्तु हैं। इनको अवस्तुपना कहना युक्तिपूर्वक नहीं बनता है। भावके समान नाम आदिकोंको बाधा रहित प्रतीतिसे वस्तुपना सिद्ध है।

एतेन नामैव वास्तवं न स्थापनादित्रयमिति शब्दाद्वैतवादिमतं, स्थापनैव कल्पनात्मिका न नामादित्रयं वस्तु सर्वस्य कल्पितत्वादिति विभ्रमैकान्तवादिमतं, द्रव्यमेव तत्त्वं न भावादित्रयमिति च द्रव्याद्वैतवादिदर्शनं प्रतिव्यूढम्। तदन्यतमापाये सकलसंव्यवहारानुपपत्तेश्च युक्तः सर्वपदार्थानां नामादिभिर्न्यासस्तावता प्रकरणपरिसमाप्तेः।

उक्त इस कथनसे इन मतोंका भी खण्डन होगया समझ लेना चाहिये। तिनमें शब्दाद्वैतवादियोंका यों मन्तव्य है कि जगत्‌में शब्दस्वरूप नामनिक्षेप ही वस्तुभूत है। स्थापना, द्रव्य, भाव, ये तीनों परमार्थ नहीं हैं, कल्पित हैं। सम्पूर्ण अर्थोंको एकान्तसे भ्रान्तिरूप कहनेवालोंका यह मत है कि कल्पनास्वरूप स्थापना ही जगत्‌में पदार्थ है, नाम, द्रव्य, भाव, ये तीनों कोई वस्तु नहीं हैं कारण कि सब कल्पित हैं। तीसरे द्रव्याद्वैतवादीका यह सिद्धान्त है कि भविष्यमें द्रवण करने योग्य द्रव्य ही ठीक ठीक पदार्थ है, नाम, स्थापना, और भाव ये तीन कुछ वस्तु नहीं हैं, तुच्छ हैं। इन तीनों एकांतोंका जैन सिद्धान्तके अनुसार नाम, आदिक चारोंको वस्तुभूतपना सिद्ध कर देनेपर निराकरण हो जाता है। एक बात यह भी है कि उन नाम आदिक चारोंमेंसे किसी एकके भी न माननेपर जगत्‌के सम्पूर्ण श्रेष्ठ व्यवहार नहीं बन सकेंगे। सभी स्थलोंमें नाम आदिक चारोंका मुख्य या गौणरूपसे एक दूसरेको न छोडते हुए अविनाभाव हो रहा है। अतः सम्पूर्ण ही पदार्थोंका यथायोग्य नाम आदिक चारोंसे न्यास होना युक्तियोंसे सिद्ध है। तिनसे ही इस सूत्रके प्रकरणोंकी सब ओरसे समाप्ति हो जाती है पूर्वापर सम्बन्ध अन्वित हो जाता है।

पञ्चमसूत्रका सारांश

इस सूत्रके प्रकरणोंकी सूची संक्षेपसे इस प्रकार है कि प्रथम ही एक एक निक्षेपको मानने वाले एकान्तवादियोंके निराकरणार्थ और लोकप्रसिद्धिके अनुसार व्युत्पत्ति करानेके लिये नाम आदिक चारोंसे निक्षेपकी सिद्धि करनेवाले सूत्रका अवतार किया गया है। एक एक या दो दोसे अथवा उलट पलट कर नाम आदिसे निक्षेपकी व्यवस्था नहीं है। जाति आदि निमित्तान्तरोंकी नहीं अपेक्षा करके संज्ञाकरणको नाम कहते हैं, उसके अनेक भेद हैं। नामनिक्षेपकी उत्पत्तिमें वक्ताका अभिप्राय निमित्त माना गया है। शद्बका वाच्य अर्थसे सम्बन्ध न माननेवाले बौद्धोंके सन्मुख सादृश्यरूप जातिकी सिद्धि की है। विशेषके समान जाति भी नित्य, अनित्य, है। जातिका व्यक्तिसे कथञ्चित् भेद है। जातिको सिद्ध करनेके लिये आचार्योंका बौद्धोंके साथ अधिक ऊहापोह चला है। इसके अनन्तर पदका अर्थ जातिको ही स्वीकार करनेवाले मीमांसकोंके मन्तव्यका खण्डन किया है। वैयाकरणोंने गुणशद्ब, क्रियाशद्ब, आदिकोंका अर्थ भी जाति मान लिया है। आकाश, अभाव, आदिमें भी गौणरूपसे आकाशत्व, अभावत्व, आदि जातियोंको मानकर अपने एकान्तको पुष्ट किया है। इस मतका भी आचार्योंने खण्डन कर दिया है। लक्षित लक्षणा, अर्थापत्ति, आदिसे व्यक्तिकी प्रतीति नहीं हो सकती है। इस प्रकरणका विचार अतीव सुन्दर है। अन्तमें मीमांसकों करके सामान्यविशेषात्मक पदार्थको ही शद्बका वाच्य अर्थ मानना पडा है। बौद्धोंसे सर्वथा विपरीत नित्यद्रव्यको ही शद्बका विषय कहने वालोंका निराकरण किया गया है। यहां उपाधि और औपाधिककी चर्चा करते हुए द्रव्यपदार्थवादियोंका एकान्त हटाया गया है। शद्बाद्वैतवादीको भी यहां मुंहकी खानी पडी है। केवल अपने रूपको ही कहनेवाला शद्बतत्त्व विद्याके अनुकूल होता हुआ दूसरोंके समझानेका उपाय नहीं हो सकता है, अन्यथा रूप, रस, आदिकोंका अद्वैत भी पुष्ट हो जावेगा। पदका वाच्य अर्थ ब्रह्माद्वैत भी नहीं है। बौद्धोंके अन्यापोहको सन्मुख कर अद्वैतवादका निरास कर दिया है। अविद्यासे अपोह होना आवश्यक है। इस प्रकार नित्य द्रव्यवादियोंका निरास कर विशेष व्यक्तिको ही शद्बका अर्थ कहनेवाले व्यक्तिपदार्थवादीका निराकरण किया है। जाति और व्यक्ति दोनों मिल करके भी शद्बका अर्थ नहीं हो सकते हैं। स्याद्वाद सिद्धान्तकी शरण लेनेपर मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं। आगे केवल आकृतिको ही पदका अर्थ माननेवालोंका निवारण किया है। इस विषयमें दिये गये तर्क और उत्तर गम्भीरताको लिये हुये प्रशंसनीय हैं। इसके आगे अन्यापोहको शद्बका अर्थ माननेवाले बौद्धोंका विचार चलाया है। वक्ताकी इच्छा भी शद्बका अर्थ नहीं बन सकती है। यहांपर बौद्धोंकी ओरसे दी गयीं जटिल युक्तियोंका बडी विद्वत्ताके साथ निराकरण करके शद्बजन्य ज्ञानकी प्रमाणता बतायी है। शद्बका वाच्य विषय वस्तुभूत है, जो कि जाति और व्यक्तियोंसे तादात्म्यसम्बन्ध रखता हुआ परमार्थवस्तु है। प्रत्यक्ष आदिकके समान शद्बसे भी वस्तुमें

प्रवृत्ति, प्रतिपत्ति, और प्राप्ति होना पाया जाता है । सामान्यको छोडकर विशेष नहीं रहता है और विशेषको छोडकर सामान्य भी नहीं ठहरता है । हां ! कचित् एक प्रधान दूसरा गौण हो जाता है । जाति, गुण, आदिमेंसे एक एकको प्रधान मानकर विषय करते हुए शद्वोंके पांच भेद मान लेनेमें हमारा कोई विरोध नहीं है । ये सब सामान्यविशेषात्मक वस्तुको ही कह रहे हैं । अतः समीचीन व्यवहार करनेवाले जीवोंका अन्य निमित्तोंकी अपेक्षा न करके संज्ञा करनेको नामनिक्षेप कहते हैं । नाम की गयी वस्तुकी कहीं प्रतिष्ठा करना स्थापना है । स्थापनामें आदर, अनुग्रहकी आकांक्षा हो जाती है । नाममें नहीं । सामान्यरूपसे नाम करनेपर ही स्थापनाकी प्रवृत्ति मानी गयी है । भविष्य पर्यायके अभिमुख वस्तुको द्रव्य कहते हैं । द्रव्यनिक्षेपके भेद करके द्रव्यका तीनों कालोंमें अनुयायीपना सिद्ध किया है । द्रव्यकी अनन्त पर्यायोंमें एक सन्तानरूप डोरा पिरोया हुआ है । सम्पूर्ण द्रव्योंमें जीव प्रधान है और जीवका ज्ञानगुण प्रधान है । अतः उपयोग और अनुयोगकी अपेक्षाका विचार कर आगम, नोआगमद्रव्यको साधा है । वस्तुकी वर्तमान पर्याय भाव है । आदिके तीन निक्षेप द्रव्यकी प्रधानतासे हैं । और अन्तका भावनिक्षेप तो पर्यायकी प्रधानतासे पुष्ट किया गया है । द्रव्य और पर्याय दोनोंका समुदाय वस्तु है । तत् शद्वकी सार्थकता दिखलायी गयी है । शद्वकी अपेक्षासे निक्षेप संख्यात हैं । समान जातिवाले विकल्पज्ञानकी अपेक्षासे असंख्यात हैं और अर्थकी अपेक्षासे निक्षेप अनन्त हैं । उन सब भेदोंका चारोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है । न्यास और न्यस्यमान इनका कथञ्चित् भेद अभेद है । नाम निक्षेप और स्थापना आदि निक्षेपोंके विषयोंमें भी कथंचित् भेद है । चारों निक्षेपोंकी प्रवृत्ति एक स्थानपर पायी जा सकती है । इस प्रकरणमें विरोधका दृष्टान्त देकर भेद अभेदको सिद्ध किया है । सर्वथा भिन्न या अभिन्न पडा हुआ विरोध किसी कामका नहीं है । विरोध पदार्थकी अच्छी विवेचना की गयी है । भेदवादी वावदूक, नैयायिकोंके फटाटोपका निरास करते हुए विरोधियोंसे कथञ्चित् अभिन्न विरोधको सिद्ध कर दिया है । नाम, स्थापना, द्रव्य, भावोंसे निक्षेपकी व्यवस्थाको माने बिना प्रकृतकी सिद्धि और अप्रकृतका निराकरण नहीं हो सकता है । बडा भारी घुटाला मच जावेगा । नाम किये गये सिंहको मंगानेपर लानेवाला शिष्य मुख्य सिंहको ले आवेगा, अथवा सिंहके खिलौनेको भी लाकर कृतकृत्य बन जावेगा । इन सब झगडोंको मेटनेके लिये जैनसिद्धान्तमें निक्षेपकी व्यवस्था इष्ट की गयी है । नाम आदिक प्रत्येक निक्षेपसे अपने अपने योग्य न्यारी न्यारी अर्थक्रियाओंका होना सिद्ध है । अतः चारों ही वस्तुभूत हैं । एक एक निक्षेपको माननेवाले एकान्तवादियोंके मन्तव्य समुचित नहीं हैं । चारोंमेंसे एकको भी माने बिना लोकव्यवहार नहीं सध सकता है । इस प्रकार जैनसिद्धान्तमें ज्ञापक साधनोंके प्रकरण होनेपर नाम, स्थापना द्रव्य भावोंसे पदार्थोंका न्यास करनारूप अत्युपयोगी सिद्धान्तका इस सूत्रद्वारा निरूपण कर दिया गया है ।

सर्वार्थसंकलनविचितिनिदानभूतनामादिसुन्यसितवस्तुविधानदक्षम् ।
शब्दार्थगोचरविवादविनाशकं द्राक्, तत्त्वार्थशास्त्रमनुगच्छत भो सुधीन्द्राः ॥ १ ॥

अब आगेके सूत्रका अवतरण करानेके लिये शंका उठाते हुए तर्कणा करते हैं—

ननु नामादिभिर्न्यस्तानामखिलपदार्थानामधिगमः केन कर्तव्यो यतस्तद्व्यवस्था अधिगमजसम्यग्दर्शनव्यवस्था च स्यात्, न चासाधना कस्यचिद्व्यवस्था सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वव्यवस्थानुषंगादिति वदन्तं मत्वाह सूत्रकारः—

यहां शंका है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भावोंसे न्यस्त कर दिये गये सम्पूर्ण पदार्थोंका निर्णय किससे करना चाहिये ? बतलाइये । जिससे कि लोकप्रसिद्ध नाम आदिकों करके व्यवहृत उन पदार्थोंकी व्यवस्था हो सके तथा अन्यके उपदेश, या शास्त्रवाचनसे उत्पन्न हुए अधिगमजन्य सम्यग्दर्शनकी व्यवस्था बन सके । भावार्थ—चक्षुसे कुछ कुछ देखनेवाले पुरुषके लिये उपनेत्र (चश्मा) उपयोगी होता है । सर्वथा अन्धेको उपनेत्र या दूरवीक्षक (दूरबीन) सहायक नहीं होते हैं, वैसे ही आत्माके किसी स्वपर प्रकाशक परिणाम द्वारा पदार्थोंका निर्णय करचुकनेपर तो नाम आदिक सहकारी बन सकते हैं । ज्ञापक साधनके बिना किसीकी व्यवस्था नहीं होती है । अन्यथा सर्वथा प्रमाणविरुद्ध बोलनेवाले सभी वादियोंके या मत्त, मूर्च्छित, और स्वप्नदर्शियोंके अपने अपने इष्टतत्त्वोंकी व्यवस्था होनेका प्रसंग हो जावेगा । इस प्रकार बोलनेवाले जिज्ञासुके प्रति तत्त्वार्थ सूत्रको रचनेवाले श्रीउमास्वामी महाराज उत्तर कहते हैं—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

वस्तुको सकलादेश द्वारा जाननेवाले स्वपरप्रकाशक प्रमाणोंसे और संज्ञीके उत्पन्न हुए वस्त्वंशको विकलादेश द्वारा जाननेवाले श्रुतज्ञानांशरूप नयोंसे सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि सम्पूर्ण पदार्थोंका निर्णय होता है ।

सर्वार्थानां मुमुक्षुभिः कर्तव्यो न पुनरसाधन एवाधिगम इति वाक्यार्थः । कथमसौ तैः कर्तव्यः इत्याह;—

इस सूत्रवाक्यका अन्य उपयोगी पदोंके उपस्कार लेनेपर यह अर्थ हुआ कि मोक्षको चाहने वाले पुरुषोंको सम्पूर्ण अर्थोंका प्रमाण और नयोंसे निर्णय कर लेना चाहिये । फिर तो बिना ही ज्ञापक कारणके अधिगम नहीं किया जा सकता है । कोई भव्य कहता है कि वह अधिगम उन प्रमाण नयों करके कैसे करना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य उत्तर कहते हैं ।

सूत्रे नामादिनिक्षिप्ततत्त्वार्थाधिगमस्थितः ।
कार्त्स्न्यतो देशतो वापि स प्रमाणनयैरिह ॥ १ ॥

पूर्व सूत्रमें नाम आदिकके द्वारा निक्षिप्त किये तत्त्वार्थोंका सम्पूर्ण रूपसे अधिगम होना प्रमाणों करके और एक देशसे अधिगम होना भी नयों करके व्यवस्थित हो रहा है । वही इस सूत्रमें निर्णीत कर दिया गया है ।

तन्निसर्गादधिगमाद्वेत्यत्र सूत्रे नामादिनिक्षिप्तानां तत्त्वार्थानां योऽधिगमः सम्यग्दर्शनहेतुत्वेन स्थितः स इह शास्त्रे प्रस्तावे वा कात्स्न्यर्तः प्रमाणेन कर्तव्यो देशतो नयैरेवेति व्यवस्था ।

इस वार्तिकका विवरण यों है कि " तन्निसर्गादधिगमाद्वा " इस सूत्रमें नाम आदिकके द्वारा निक्षिप्त किये गये तात्त्विक पदार्थोंका जो अधिगम होना अधिगमजन्य सम्यग्दर्शनके हेतुपनेसे व्यवस्थित किया गया है । वह अधिगम इस शास्त्रमें या इस प्रकरणमें पूर्णरूपसे प्रमाण करके कर लेना चाहिये और एक अंशसे नयों करके ही कर लेना चाहिये । यह इस सूत्रने व्यवस्था दी है । भावार्थ—प्रमाण और नयोंसे पदार्थोंका अधिगम करके अधिगमज सम्यग्दर्शन किया जा सकता है ।

नन्वेवं प्रमाणनयानामधिगमस्तथान्यैः प्रमाणनयैः कार्यस्तदधिगमोप्यपरैरित्यनवस्था, स्वतस्तेषामधिगमे सर्वार्थानां स्वतः सोऽस्त्विति न तेषामधिगमसाधनत्वम् । न वानधिगता एव प्रमाणनयाः पदार्थाधिगमोपाया ज्ञापकत्वादतिप्रसंगाच्चेत्यपरः ।

यहां शंका है कि जैसे जीव आदिकोंका अधिगम प्रमाण और नयोंसे किया जाता है इस प्रकार उन प्रमाण नयोंका अधिगम भी तिसी प्रकार अन्य प्रमाण नयों करके किया जावेगा । तथा उनका भी अधिगम तीसरे प्रमाण नयों करके किया जावेगा । ज्ञापकोंको अन्य ज्ञापकोंसे जाने विना उनके द्वारा ज्ञाप्य जाना नहीं जाता है । अतः चौथे, पांचवें, आदिकी जिज्ञासा होते हुए आकांक्षाके बढ जानेपर जैनोंके ऊपर यों अनवस्था दोष लगता है । यदि जैन जन अनवस्थाको दूर करनेके लिये उन प्रमाण नयोंका अपने आप ही अधिगम हो जाना स्वीकार कर लेंगे, तब तो सम्पूर्ण जीव आदि पदार्थोंका भी अपने आपसे वह अधिगम हो जाओ ! इस कारण उन प्रमाण नयोंको अधिगमका साधकपना नहीं सिद्ध होता है । दूसरोंसे या स्वयं नहीं जाने गये ही प्रमाण और नय तो पदार्थोंके जाननेके उपाय नहीं हैं, क्योंकि वे ज्ञापक हैं । दूसरेसे या अपनेसे जो ज्ञात नहीं हुआ है, वह पदार्थ तो ज्ञापक नहीं होता है । अन्धेरेमें पडा हुआ धुंधला पदार्थ परका प्रकाशक नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष हो जावेगा । यानी अज्ञात घट, पट, आदिक पदार्थ भी चाहे जिस वस्तुके ज्ञापक बन बैठेंगे, यह न्यारी आपत्ति हुई, इस प्रकार कोई दूसरा वादी कह रहा है । अब आचार्य कहते हैं कि—

सोऽप्यवस्तुतवादी । प्रमाणनयानामभ्यासानभ्यासावस्थयोः स्वतः परतश्चाधिगमस्य वक्ष्यमाणत्वात् । परतस्तेषामधिगमे क्वचिदभ्यासात्स्वतोऽधिगमसिद्धेरनवस्थापरिहरणात् ।

यह शङ्काकार भी प्रस्ताव किये गये विषयको नहीं समझ कर बोल रहा है। क्योंकि अभ्यास दशामें प्रमाण और नयोंका अपने आप अधिगम हो जाता है और अनभ्यास दशामें प्रमाण तथा नयोंकी दूसरे ज्ञापकोंसे ज्ञप्ति होती है, इस विषयको भविष्यमें स्पष्ट कहने वाले हैं। भावार्थ—ज्ञानमें प्रामाण्यकी उत्पत्ति तो निर्मलता, अविनाभावीपन, आदि अन्य कारणोंसे ही होती है, किन्तु प्रमाणपनेकी ज्ञप्ति अभ्यास दशामें स्वतः यानी ज्ञानके सामान्य कारणोंसे ही और अनभ्यास दशामें दूसरों यानी ज्ञानके सामान्य कारणोंसे अतिरिक्त निर्मलता आदि कारणोंसे होती हुई मानी गयी है। अपने परिचित घरमें अन्धकार होनेपर भी अभ्यासके वश अर्थोंको जाननेवाले ज्ञानके प्रमाणपनेकी स्वतः ज्ञप्ति कर लेते हैं। किन्तु अपरिचित गृहमें अन्य कारणोंसे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति होती है। यहां जिन ज्ञापक दूसरे कारणोंसे अधिगम होना माना है उनके प्रामाण्यको जाननेमें कहीं तो प्रथम कोटिमें ही अभ्यास होनेसे अपने आप अधिगम होना सिद्ध है। नहीं दूसरी, तीसरी, चौथी, कोटि पर तो अभ्यासदशाका प्रमाणपना मिल ही जाता है, अतः अनवस्थादोषका निवारण होगया। अर्थात् अपरिचित घरमें टिक टिक शब्द करनेसे घटयन्त्र (व्यवहार समय घन्टा, मिनट, बतलानेवाली घडी) का ज्ञान कर लेते हैं। यदि टिक टिक शब्दमें भी यों संशय हो जाय कि यह घडीका शब्द है या किसी कीडेका शब्द है ? तो दूसरा अभ्यास दशाका ज्ञान उठाकर टिकटिक शब्दके ज्ञानमें प्रामाण्य जान लिया जाता है। यदि किसीको यहां भी संशय हो जाय तो तीसरी, चौथी, कोटिपर अवश्य निर्णय हो जावेगा। ज्ञापक प्रकरणमें दूसरी, तीसरी, चौथी, श्रेणिपर कृतकृत्य हो जानेसे अनवस्था नहीं आती। व्यर्थमें संशय और जिज्ञासाओंको उठानेकी धुन रखना प्रशस्त नहीं है, ऐसा कौन टट्टुआ बैठा है। जो कि अपने आप बारबार पांव धोनेके लिये अनेक बार कीचडको लगाता फिरे ? प्रामाण्यकी स्वतः ज्ञप्ति होनेपर उत्पत्ति और ज्ञप्तिमें समयभेद नहीं है, यानी इन्द्रियोंकी निर्मलता आदि कारणोंसे एकदम प्रामाण्यात्मक ज्ञान पैदा होकर उसी समय जान लिया जाता है। हां ! अन्य ज्ञापकोंसे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति होनेपर उत्पत्ति और ज्ञप्तिमें समयभेद है, अर्थात् प्रामाण्यके अन्य कारणोंसे ज्ञानमें प्रमाणपना तो प्रथम ही उत्पन्न हो चुका था, किन्तु अभ्यास न होनेके कारण उसको जाननेमें विलम्ब हुआ। विशेष बात यह है कि ज्ञान और प्रमाणकी उत्पत्तिमें भी समयभेद नहीं है। जो कोई ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रमाण या अप्रमाणरूप ही उत्पन्न होता है। समीचीन कारणोंसे एकदम प्रमाणज्ञान ही उत्पन्न होगा और दूषित कारणोंसे अप्रमाणरूप ज्ञान प्रथमसे ही उत्पन्न होगा। ऐसा नहीं है कि पहिले सामान्य ज्ञान उत्पन्न हो जाय और पीछेसे वह प्रमाण या अप्रमाणरूप बनाया जाय। यदि सामान्यज्ञान भी होता तो अपने ज्ञान शरीरको तो अवश्य ही जान लेता, किन्तु क्या किया जाय, विशेषके बिना कोई सामान्य अकेला होता नहीं है कोई भी ज्ञान होगा वह प्रथमसे ही प्रमाण या अप्रमाणस्वरूप होगा " निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् "

स्वतोऽधिगमे सर्वार्थानामधिगमस्य तेषामचेतनत्वेनातिप्रसंगात् । चेतनार्थानां कथञ्चित्प्रमाणनयात्मकत्वेन स्वतोऽधिगमस्येष्टत्वाच्च श्रेयान् प्रमाणनयैरधिगमोऽर्थानां सर्वथा दोषाभावात् ।

शंकाकारने पूर्वमें कहा था कि " प्रमाण नयोंका अपने आप अधिगम होना मानोगे तो सम्पूर्णअर्थोंका भी अपने आप अधिगम हो जावेगा " इसपर हमारा यह कहना है कि सभी जड या चेतन अर्थोंकी अपने आप ज्ञप्ति होना माना जावेगा तो ज्ञप्तिका अतिप्रसंगदोष हो जावेगा । क्योंकि वे घट, पट, आदिक अर्थ अचेतन होनेके कारण स्वयं अपना ज्ञान नहीं कर सकते हैं। अचेतन पदार्थ यदि ज्ञान करने लगें तो वे चेतन हो जावेंगे । ज्ञानके समान कंकड, डेल, भी अपनेको जानकर इष्टानिष्ट पदार्थोंका ग्रहण या त्याग करने लग जावेंगे । हां ! एक बात यह है कि सम्पूर्ण अर्थोंमेंसे ज्ञान, आत्मा, इच्छा, सुख, दुःख आदि चेतन या चेतनके अंशरूप पदार्थोंको किसी अपेक्षासे प्रमाणनयस्वरूप होनेके कारण अपने आप अधिगम होना इष्ट किया है । अतः सभी प्रकार दोष न होनेसे प्रमाण और नयोंके द्वारा पदार्थोंका अधिगम होना श्रेष्ठ है ।

ननु च प्रमाणं नयाश्चेति द्वन्द्ववृत्तौ नयस्य पूर्वनिपातः स्यादल्पाच्तरत्वात् प्रमाणस्य बह्वच्तरत्वादित्याक्षेपे प्राह;—

यहां दूसरी शंका है कि इस सूत्रमें प्रमाण और नय अथवा नय और प्रमाण इस प्रकार चाहे जैसे भी द्वन्द्व नामकी समासवृत्ति करनेपर नय शब्दका पहिले निपात (पहिले प्रयोग करना) हो जावेगा । क्योंकि " अल्पाच्तरं पूर्वम् " इस व्याकरणके सूत्रानुसार अनेक पदोंमेंसे थोडे स्वरवाले एक पदका पूर्वनिपात हो जाता है, जब कि विग्रह किये गये प्रमाण और नय पदमेंसे नय पदके अल्प स्वर हैं, यानी दो अच् हैं तथा प्रमाण पदके बहुत स्वर हैं, यानी तीन स्वर हैं, यों अपेक्षाकृत बहुत स्वर होनेसे प्रमाणका पूर्वमें वचनप्रयोग नहीं होना चाहिये । अतः नय शब्दको पहिले बोलना चाहिये । " नयप्रमाणैरधिगमः " ऐसा सूत्र कहो ! इस प्रकार कटाक्ष होनेपर आचार्य महाराज अच्छे ढंगसे उत्तर देते हैं;—

प्रमाणञ्च नयाश्चेति द्वन्द्वे पूर्वनिपातनम् ।
कृतं प्रमाणशब्दस्याभ्यर्हितत्वेन बह्वचः ॥ २ ॥

प्रमाण और नय भी इस प्रकार द्वन्द्व समास करनेपर बहुत स्वरवाले भी प्रमाण शब्दका पूज्य होनेके कारण पहिले निक्षेपण कर दिया है। अर्थात् अल्प स्वरवाला पहिले प्रयुक्त किया जाता है इस सामान्य नियमका " अभ्यर्हितं पूर्वम् " अतिपूज्यका पूर्वमें निपात होनारूप अपवादनियम बाधक है। अतः अंशी होनेके कारण पूज्यप्रमाण शब्दका पहिले प्रयोग किया है । लोकमें भी

प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित पुरुषोंके प्रकरण होनेपर प्रतिष्ठित पुरुषोंका नाम पहिले लिया जाता है। यहां अप्रतिष्ठितका पहिले नाम लेनेवाला पुरुष दूहरा समझा जाता है।

न ह्यल्पाच्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति कस्यचिदप्रसिद्धं लक्षणहेत्वोरित्यत्र हेतुशब्दादल्पाच्तरादपि लक्षणपदस्य बह्वचोऽभ्यर्हितस्य पूर्वप्रयोगदर्शनात् ।

प्रकृष्ट रूपसे अल्पस्वरवाले पदकी अपेक्षा अधिक पूज्यका वाचक पद पूर्वमें प्रयुक्त हो जाता है। यह नियम किसीके यहां भी अप्रसिद्ध नहीं है। यानी सभी शद्बशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध अष्टाध्यायी व्याकरणमें देखिये कि क्रियाके परिचय कराने वाले लक्षण और हेतु अर्थमें वर्तमान धातुसे हुए लट्के स्थानमें शतृ और शानच् हो जाते हैं। यहां "लक्षणहेत्वो" इस सूत्रमें लक्षण और हेतु या हेतु और लक्षण ऐसा इतरेतर द्वन्द्व करनेपर स्वल्प एवं अल्पस्वरवाले भी हेतु शद्बसे बहुत स्वरवाले किन्तु अधिकपूज्य लक्षणपदका पहिले प्रयोग होना देखा जाता है।

कथं पुनः प्रमाणमभ्यर्हितं नयादित्याह;—

तो फिर यह बताओ कि नयसे प्रमाण अधिक पूज्य कैसे है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं।

प्रमाणं सकलादेशि नयादभ्यर्हितं मतम् ।
विकलादेशिनस्तस्य वाचकोऽपि तथोच्यते ॥ ३ ॥

वस्तुके एक देशीय विकल अंशोंको कहने वाले नयज्ञानसे वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंको कहनेवाला प्रमाणज्ञान अधिक पूज्य माना गया है। अतः उस सम्यग्ज्ञानरूप अभिधेयको कहनेवाला प्रमाणपदरूप वाचक शद्ब भी तिसी प्रकार पूज्य कहा जाता है। अर्थात् सिंह पदार्थके समान सिंहज्ञान और सिंहशद्ब भी जैसे कुछ भयावह है, वैसे ही प्रमाणके समान प्रमाणशद्ब भी पूज्य माना जाता है। वास्तवमें विचारा जाय तो सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणपदार्थ पूज्य है। वाच्यकी पूज्यता वाचकमें भी उपचारसे आ जाती है। व्याकरण शास्त्रके अनुसार पदार्थोंके वाचक शद्बोंमें ही प्रत्यय, पदकार्य, आदि हुआ करते हैं, अर्थ और शद्बका वाच्यवाचक सम्बन्ध हो जानेसे वाच्यके धर्मोंका वाचकोंमें अध्यारोप होजाता है।

कथमभ्यर्हितत्वानभ्यर्हितत्वाभ्यां सकलादेशित्वविकलादेशित्वे व्याप्तिसिद्धे यतः प्रमाणनययोस्ते सिद्ध्यत इति चेत्, प्रकृष्टाप्रकृष्टविशुद्धिलक्षणत्वादभ्यर्हितत्वानभ्यर्हितत्वयोस्तद्व्यापकत्वमिति ब्रूमः। न हि प्रकृष्टां विशुद्धिमन्तरेण प्रमाणमनेकधर्मधर्मिस्वभावं सकलमर्थमादिशति, नयस्यापि सकलादेशित्वप्रसंगात् । नापि विशुद्ध्यपकर्षमन्तरेण नयो धर्ममात्रं वा विकलमादिशति प्रमाणस्य विकलादेशित्वप्रसंगात् ।

विनीत आक्षेपकार पूछता है कि पूज्यपन और अपूज्यपनके साथ सकलादेशीपन और विकलादेशीपनकी व्याप्ति कैसे सिद्ध करली है ? बताओ ! अर्थात् जो ज्ञान वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंका निरूपण करनेवाला है, वह अभ्यर्हित है और जो ज्ञान वस्तुके कुछ अंशका प्ररूपण करता है वह अपूज्य है । इस प्रकारकी व्याप्तियां आप जैनोंने किस प्रकार सिद्ध कर ली हैं ? बतलाइये । जिससे कि वे अपने अपने हेतुओंसे व्यापक हो रहे पूज्यपना और अपूज्यपना साध्यको प्रमाण और नयरूपी पक्षमें सिद्ध कर देवें । व्याप्तियोंको सिद्ध किये विना प्रमाण और नयमें पूज्यपना अथवा अपूज्यपना सिद्ध नहीं हो सकता है, ऐसा चोद्य करनेपर तो हम जिनाशासनके गौरवसे युक्त होकर यह स्पष्ट उत्तर कहते हैं कि पूज्यपनेका प्रयोजक अतिशययुक्त श्रेष्ठ विशुद्धि होना है और न्यून विशुद्धि होना अपूज्यपनेका लक्षण है । अतः सकलादेशीपनका व्यापक, पूज्यपना है और विकलादेशीपनका व्यापक अपूज्यपना है । बढती हुई अधिक श्रेष्ठ विशुद्धिके विना प्रमाणज्ञान अनेक धर्म और धर्मीरूप स्वभावोंसे तादात्म्य रखनेवाले सम्पूर्ण अर्थका निरूपण नहीं कर सकता है । अन्यथा थोडी विशुद्धिसे युक्त नयको भी पूरे वस्तुके समझानेवालेपनका प्रसंग हो जावेगा । तथा विशुद्धिकी घटवारी (अल्पता) के विना नयज्ञान एक अंशरूप विकल अकेले धर्म या केवल धर्मीका कथन नहीं कर सकता है । अन्यथा प्रमाणको भी विकलादेशीपनका प्रसंग होगा । भावार्थ—जैसे विशिष्ट प्रकाश होनेके कारण सूर्य अनेक पदार्थोंका प्रकाश कर देता है और मन्द ज्योतिः होनेके कारण प्रदीप अल्प पदार्थोंका प्रकाशक है । तिसी प्रकार ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ प्रमाणज्ञान सकलादेशी होनेके कारण पूज्य है । और ज्ञानावरणके साधारण क्षयोपशमसे या विशिष्टजातिके छोटे क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ नयज्ञान विकलादेशी होनेसे अपूज्य है ।

स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत् ।
स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः ॥ ४ ॥

कोई कहते हैं कि सभी ज्ञान जब अपना और अर्थका निश्चय कराते हैं । प्रमाणके समान नय भी एक ज्ञान है, तब तो अपना और अर्थका निश्चय करानेवाला होनेके कारण नयज्ञान भी प्रमाण हो जावेगा । ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना समीचीन नहीं है । क्योंकि नयका लक्षण अपना और अर्थका एकदेशरूपसे निर्णय करना है, ऐसा पूर्व आचार्योंकी परिपाटीसे स्मरण होता चला आया है । अर्थात् पूर्णरूपसे अपनेको और अर्थको जानना प्रमाणका लक्षण है । तथा अपनेको और अर्थको एकदेशरूपसे जानना नयका लक्षण आर्ष आम्नाय अनुसार मानते आये हैं ।

नयः प्रमाणमेव स्वार्थव्यवसायात्मकत्वादिष्टप्रमाणवत् विपर्ययो वा, ततो न प्रमाणनययोर्भेदोऽस्ति येनाभ्यर्हितेतरता चिन्त्या इति कश्चित् तदसत् । नयस्य स्वार्थैकदेशलक्षणत्वेन स्वार्थनिश्चायकत्वासिद्धेः ।

यहां कोई कहता है कि नयज्ञान प्रमाणरूप ही है। क्योंकि वह नय स्वयं अपना और अर्थका निर्णय करानेवाला है, जैसे कि जैनोंसे इष्ट किया गया प्रमाण प्रमाण ही है। अथवा यदि अपने और अर्थको जाननेवाला ज्ञान भी प्रमाण न होकर नय मान लिया जावेगा तो इष्ट प्रमाणको भी नय मानलो। इस प्रकार सिद्धान्तसे विपरीत नियम हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। तिस कारण प्रमाण और नयमें कोई भेद नहीं है जिससे कि प्रमाणको पूज्यपनेका और नयोंको अपूज्यपनेका विचार किया जाय। अर्थात् प्रमाणके समान नय भी पूज्य है। और अल्पस्वरवाला तो है ही, अतः सूत्रमें नय शब्दका पहिले प्रयोग करना होना चाहिये। इस प्रकार कोई अपनी पूर्व शंकाको दृढ करता हुआ कह रहा है। आचार्य बोलते हैं कि उसका वह कथन प्रशस्त नहीं है। क्योंकि अपना और अर्थका एकदेशसे निर्णय करना नयका लक्षण है। अतः पूर्णरूपसे अपना और अर्थका निश्चय करानेवाला हेतु असिद्ध है। यानी नयरूप पक्षमें हेतु नहीं रहता है। अतः किसीका उक्त हेतु असिद्धहेत्वाभास है।

स्वार्थांशस्यापि वस्तुत्वे तत्परिच्छेदे छेदलक्षणत्वात्प्रमाणस्य स न चेद्वस्तु तद्विषयो मिथ्याज्ञानमेव स्यात्तस्यावस्तुविषयत्वलक्षणत्वादिति चोद्यमसदेव। कुतः ?

अब पुनः किसीका कुतर्क है कि नयके द्वारा जाने गये स्वांश और अर्थांशको भी यदि वस्तुभूत माना जावेगा, तब तो उनको जान लेनेपर वस्तुका ग्रहण कर लेनेवाला हो जानेसे नयज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा। प्रमाणका लक्षण वस्तुको जानना है। यदि नयसे जाने गये स्व और अर्थके अंशको वस्तु न माना जावेगा तब तो उस अवस्तुको विषय करनेवाला नयज्ञान मिथ्याज्ञान ही हो जावेगा। क्योंकि अवस्तुको विषय करना उस मिथ्याज्ञानका लक्षण है। विद्वान् ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार किसीका कटाक्ष करना बहुत ही बुरा है। क्योंकि—

नाऽयं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥ ५ ॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्क्वास्तु समुद्रवित् ॥ ६ ॥

जिस कारणसे कि नयद्वारा विषय किया गया वस्तुका अंश न तो पूरा वस्तु है और वस्तुसे सर्वथा पृथक् अवस्तु भी नहीं कहा जाता है, किन्तु वस्तुका एक देश है। जैसे कि समुद्रका एक अंश (बङ्गालकी खाडी आदि) या खण्ड विचारा पूर्णसमुद्र नहीं है और घट या नदी, सरोवरके समान वह असमुद्र भी नहीं है, किन्तु वह समुद्रका एक अंश कहा जाता है। यदि समुद्रके केवल

उतने अंशको पूरा समुद्र मान लिया जावेगा तो शेष बचे हुए समुद्रके अंशोंको भी सरोवर [तालाब] आदिके समान समुद्ररहितपनेका प्रसंग हो जावेगा तो फिर अन्यत्र कहीं भी समुद्रपनेका व्यवहार न होगा। चालनी न्यायसे बंगालकी खाडी तो कालेसमुद्रकी अपेक्षा असमुद्र है और कालासागर बंगालकी खाडीकी अपेक्षासे असमुद्र हो जावेगा। अथवा दूसरा दोष यह है कि समुद्रके एक एक अंशको यदि पूरा समुद्रका कह दोगे तो एक एक टुकडोंके बहुतसे समुद्र हो जावेंगे, ऐसी दशामें तो बहुत लम्बे, चौडे एक अवयवी समुद्रका ज्ञान भला कहां क्या होगा? इसको तो विचारो!

यथैव हि समुद्रांशस्य समुद्रत्वे शेषसमुद्रांशानामसमुद्रत्वप्रसंगात् समुद्रबहुत्वापत्तिर्वा तेषामपि प्रत्येकं समुद्रत्वात्। तस्यासमुद्रत्वे वा शेषसमुद्रांशानामप्यसमुद्रत्वात् क्वचिदपि समुद्रव्यवहारायोगात्। समुद्रांशः स एवोच्यते। तथा स्वार्थैकदेशो नयस्य न वस्तु स्वार्थैकदेशान्तराणामवस्तुत्वप्रसंगात्, वस्तुबहुत्वानुषक्तेर्वा। नाप्यवस्तु शेषांशानामप्यवस्तुत्वेन क्वचिदपि वस्तुव्यवस्थानुपपत्तेः। किं तर्हि? वस्त्वंश एवासौ तादृक्प्रतीतेर्बाधकाभावात्।

जैसे ही समुद्रके अंशको पूर्णसमुद्र मान लेनेपर बचे हुए समुद्रके अंशोंको असमुद्रपनेका प्रसंग होता है। अथवा एक एक अंशको समुद्रपना हो जानेसे बहुतसे समुद्र हो जानेकी आपत्ति होवेगी। क्योंकि वे सम्पूर्ण एक एक अंश भी न्यारे न्यारे समुद्र बन जावेंगे। यदि उस समुद्रके अंशको समुद्रपना न माना जावेगा तो समुद्रके बचे हुए अंशोंको भी समुद्रपना न होगा। तब तो कहीं भी समुद्रपनेका व्यवहार न होने पावेगा। अतः परिशेषमें यही निर्णय करना पडेगा कि वह समुद्रका अंश न तो समुद्र है और न असमुद्र है, किन्तु वह समुद्रका एकदेश अंश ही कहा जाता है। तिसी प्रकार नयका गोचर स्व और अर्थका एक देश भी पूरा वस्तु नहीं है। अन्यथा स्वार्थके बचे हुए अन्य कतिपय एकदेशोंको अवस्तुपनेका प्रसंग हो जावेगा। अथवा वस्तुके एक एक अंशको यदि पूरा एक एक वस्तु मान लिया जावेगा तो एक वस्तुमें बहुतसी वस्तुएं हो जानेकी आपत्ति हो जावेगी। तथा नयसे जान लिया गया स्वार्थका अंश अवस्तु भी नहीं है, क्योंकि उस प्रकृत अंशके समान बचे हुए अन्य अंशोंको भी अवस्तुपना हो जानेसे कहीं भी वस्तुकी व्यवस्था सिद्ध न हो सकेगी। तब तो फिर नयके द्वारा जाना गया स्वार्थांश क्या है? आप जैन ही बतलाइये। इसका उत्तर यह है कि वह वस्तुका अंश ही है, तैसी प्रतीति होनेका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अकेले हाथको हम शरीर भी नहीं कह सकते हैं और अशरीर भी नहीं कहते हैं। किन्तु हाथ शरीरका एक देश है। उक्त पंक्तियोंमें यथाका अन्वय दूरवर्ती तथाके साथ कर देना। अभीष्ट पदार्थोंमें त्रुटि आ जानेपर प्रसंगदोष दिया जाता है। और विवक्षित पदार्थसे बढ जानेपर आपत्ति दोष दिया जाता है। जैसे कि दस और दस मिलाकर उन्नीस कह देनेसे प्रसंगदोष कहा जावेगा और इक्कीस कह देनेसे आपत्ति हो जावेगी। वही यहां असमुद्रपना और बहुसमुद्रपनाके समान अवस्तुपना और अनेक वस्तुपनेमें लगा लेना चाहिये।

नांशेभ्योऽर्थान्तरं कश्चित्तत्त्वतोंशीत्ययुक्तिकम् ।
तस्यैकस्य स्थविष्ठस्य स्फुटं दृष्टेस्तदंशवत् ॥ ७ ॥

बौद्ध जन कहते हैं कि अंशोंसे भिन्न पदार्थ कोई भी वास्तविकरूपसे अंशी नहीं है । यानी अन्य अंशोंसे रहित केवल अंशरूप अवयव ही पदार्थ हैं । क्षणिक परमाणुएं ही वास्तविक हैं, अवयवी कोई वस्तु नहीं है । अब आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना युक्तियोंसे रहित है । क्योंकि उस एक अवयवीरूप अधिक स्थूल अंशी (अवयवी) का स्पष्टरूपसे प्रत्यक्षज्ञान द्वारा दर्शन हो रहा है । जैसे कि प्रत्यक्षज्ञानसे उसके अंश दीख रहे हैं । भावार्थ—कपाल, तन्तु, आदि छोटे छोटे अनेक अवयवोंसे कथञ्चित् भिन्न एक स्थूल घट, पट, आदिक अवयवीका प्रत्यक्ष हो रहा है ।

नान्तर्बहिर्वांशेभ्यो भिन्नोंशी कश्चित्तत्त्वतोस्ति यो हि प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं न समर्पयति प्रत्यक्षतां च स्वीकरोति । सोयममूल्यदानक्रयीत्ययुक्तिकमेव, स्थविष्ठस्यैकस्य स्फुटं साक्षात्करणात् तद्व्यतिरेकेणांशानामिवाप्रतिभासनात् । तथा इमे परमाणवो नात्मनः प्रत्यक्षबुद्धौ स्वरूपं समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमुत्सहन्त इत्यमूल्यदानक्रयिणः ।

सौगतोंका मन्तव्य है कि ज्ञानपरमाणुरूप अन्तरंग और स्वलक्षण परमाणुरूप बहिरंग अंशोंसे भिन्न कोई अंशवान् स्थूल अवयवी पदार्थ वास्तविकरूपसे नहीं है जो कि अंशी प्रत्यक्षप्रमाणमें अपने स्वरूपको अर्पित नहीं करता है और अपने प्रत्यक्ष हो जानेको स्वीकार करना चाहता है । अतः जैन, नैयायिक, मीमांसक, आदिके द्वारा मान लिया गया वह यह अंशी मूल्य न देकर क्रय (खरीदना) करनेवाला है । अर्थात् हम बौद्धोंके यहां तो ज्ञान साकार है । वस्तुभूत पदार्थ अपना आकार ज्ञानके लिये अर्पण करते हैं और ज्ञान उनका प्रत्यक्ष कर लेता है । जैसे कि जो पदार्थ दर्पणके लिये अपना आकार दे देता है तो दर्पण उनका प्रतिबिम्ब करनारूप प्रतिफल दे देता है । जब कि आकाशका फूल कोई पदार्थ ही नहीं है तो दर्पणके लिये क्या दिया जाय और उससे क्या लिया जाय । ऐसी दशामें आकाशका फूल आकारको बिना दिये ही अपना प्रतिबिम्ब चाहे तो यह अन्याय है । जब कि अवयवी कोई पदार्थ नहीं है तो वह अपने स्वरूपको प्रत्यक्ष ज्ञानके लिये अर्पण नहीं कर सकता है । तभी तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है । ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना अयुक्त ही है । क्योंकि अधिक मोटे एक अर्थका स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष किया जा रहा है । प्रत्युत उस अवयवीसे सर्वथा भिन्न माने गये अंशोंका ही दीखना नहीं हो रहा है । तिस प्रकारसे आप बौद्धोंके यहां मानी गयीं परमाणुयें ही प्रत्यक्ष ज्ञानमें अपने स्वरूपको भले प्रकार अर्पण नहीं करती हैं । किन्तु अपना प्रत्यक्ष हो जानेपनको स्वीकार करनेके लिये उत्साहित हो रही

हैं, इस प्रकार तुम्हारी अंतरंग, बहिरंग, परमाणुयें ही बिना मूल्य देकर सौदा लेनेवाली हुयीं हमारा अवयवी नहीं। भावार्थ—घट, पुस्तक, आत्मा, हाथी, घोडा आदि अवयवियोंका स्पष्ट प्रतिभास हो जाता है। ये विषयता (स्वनिष्ठविषयतानिरूपित विषयिता) सम्बन्धसे ज्ञानमें रह जाते हैं। दर्पणके समान ज्ञानमें पदार्थोंका आकार पड़ता है। इस बातका खंडन कर दिया गया है। यदि ज्ञानमें अर्थोंका आकार माना जावेगा तो सर्वज्ञको भूत, भविष्यत् पदार्थोंका ज्ञान न हो सकेगा। क्योंकि जब वे वर्तमानकालमें हैं ही नहीं, तो वे ज्ञानमें अपना आकार कैसे डाल सकेंगे ? तथा संसारी जीवोंके नष्ट वस्तुका स्मरणज्ञान भी न हो सकेगा। अतः ज्ञान साकार है इसका अर्थ यह है कि आत्माके सम्पूर्ण गुणोंमें एक ज्ञान गुण ही विकल्पस्वरूप है। ज्ञान ही स्वयंको अनुभव करता है। दूसरेके प्रति समझाया जा सकता है इत्यादि प्रकारके उल्लेख ज्ञानमें ही होते हैं। सुख, इच्छा आदिमें ज्ञानसे अभिन्न होनेके कारण भलें ही चैतन्यपनेकी स्वसंवित्ति हो जाय, किन्तु उक्त कार्योंमें ज्ञानको ही स्वतन्त्रता प्राप्त है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे स्थूल अवयवीका स्पष्टरूपसे दर्शन हो रहा है। बौद्धोंसे मानी गयी क्षणिक, निःस्वभाव, निरंश, परमाणुओंका ज्ञान संसारी जीवोंको आजतक कभी नहीं हुआ है। अतः मूल्य नहीं देकर विक्रेतासे क्रय कर लेनारूप दोष परमाणुओंमें है। अवयवीमें नहीं। प्रेमसे नहीं किन्तु स्वकारणवश अपने ज्ञानका आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमस्वरूप ही मानमूल्य प्राप्त हो जानेपर आत्मा उन वास्तविक अवयवी आदि पदार्थोंको जान लेता है। यही सालङ्कार वचन अच्छा है।

कल्पनारोपितोंशी चेत् स न स्यात् कल्पनान्तरे।
तस्य नार्थक्रियाशक्तिर्न स्पष्टज्ञानवेद्यता ॥ ८ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि अंशी वास्तविक पदार्थ नहीं है कल्पित है। जैसे कि छोटे छोटे अनेक धान्योंका समुदायरूप धान्यराशिए लम्बी चौडी मान ली गयी है, किन्तु वह राशि छोटे छोटे धान्योंसे अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। तिसी प्रकार छोटे छोटे परमाणुओंसे अतिरिक्त अवयवी कोई पदार्थ नहीं है, कोरी कल्पनाओंसे गढ लिया गया आरोप है। तमारा रोगवाला मनुष्य घाममेंसे आकर छाया या अन्धेरेमें बडे बडे चमकीले पिण्डोंको देखता है, किन्तु हाथ लगानेपर वे कुछ नहीं प्रतीत होते हैं। पूर्ववासनाओंसे केवल भ्रम हो जाता है। बौद्धोंके ऐसा कहनेपर तो हम जैन यह प्रतिवाद करते हैं कि यदि अवयवी पदार्थ कल्पित होता तो दूसरी कल्पनाओंके उत्पन्न हो जानेपर वह नहीं रहने पाता। किन्तु हृदयमें अनेक कल्पनाओंके उठते रहनेपर भी श्रीमान् अवयवी वहीं बैठे रहते हैं, दूर नहीं भाग जाते हैं, ओझल भी नहीं होते हैं, कल्पना किये हुए पदार्थोंमें तो ऐसा नहीं होता है। अतः अवयवी कल्पित नहीं है किन्तु वस्तुभूत है। दूसरी बात यह है कि कल्पित किया गया वह अवयवी अर्थक्रियाओंको नहीं कर सकता है। झूंट मूंठके

लड्डू भूंखको दूर नहीं कर सकते हैं। किन्तु प्रकरणमें घट, पट, सौध थम्भ, शरीर, आदि अवयवी पदार्थोंसे जलधारण, शीत दूर करना, छतको लादे रहना, अंग उपांगोंका जकडे रखना आदि अर्थक्रियायें हो रही हैं। तीसरी बात यह है कि स्थिर स्थूल साधारण, अवयवी पदार्थका प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञानद्वारा स्पष्ट संवेदन हो रहा है। कल्पित पदार्थ झूंठे ज्ञानोंसे अस्पष्ट भले ही दीख जांय किन्तु वे स्पष्ट ज्ञानसे नहीं जाने जाते हैं, प्रकरणमें अवयवी तो स्पष्टज्ञान द्वारा जाना जारहा है। प्रमाणोंके द्वारा प्रमेयकी परमार्थरूप व्यवस्थाका निर्णय कर दिया जाता है।

शक्यन्ते हि कल्पनाः प्रतिसंख्यानेन निवारयितुं नेन्द्रियबुद्धय इति स्वयमभ्युपेत्य कल्पनान्तरे सत्यप्यनिवर्तमानं स्थवीयान्सं एकमवयविनं कल्पनारोपितं ब्रुवन् कथमवयवेऽवयविविवक्षनः ?।

जब कि बौद्ध यह मान रहे हैं कि कल्पनायें तो उनके प्रतिकूल अन्य कल्पनाओंसे निवारण की जा सकती हैं, किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान तो अन्य प्रतिकूल ज्ञानोंसे हटाये नहीं जा सकते हैं, क्योंकि इन्द्रियजन्यज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं अच्छे हैं। इस प्रकार स्वयं स्वीकार करता हुआ भी बौद्ध अन्य कल्पनाओंके होते सन्ते भी नहीं निवृत्त हो रहे अधिक स्थूल एक अवयवीको कल्पनासे आरोपित कह रहा है, वह बौद्ध भला किस प्रकार अवयवमें अवयवीको कल्पित कहनेवाला समझाया जा सकता है ?। अर्थात् नवीन कल्पनाओंसे अन्य कल्पनाओंका तो नाश हो जाता है। धूली पटलमें धूम या भापपनेकी कल्पनाएं तो नष्ट हो जाती हैं। किन्तु प्रमाणज्ञानोंका नाश नहीं हो पाता है। अन्य कल्पनाओंके होनेपर भी अवयवीका ज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है। अतः प्रमाण ज्ञानसे जाना गया अवयवी वस्तुभूत पदार्थ मानना पडेगा। बौद्धोंने एक कल्पना ज्ञान और दूसरा निर्विकल्पक प्रमाण ज्ञान ये दो ज्ञान तो एक समयमें होते हुए नहीं माने हैं। किन्तु दो कल्पना ज्ञान एक ही समयमें होते हुये नहीं माने हैं, जब कि दूसरे कल्पनाज्ञानके होते हुए भी अवयवीका ज्ञान हो रहा है निवृत्त नहीं होता है तो सिद्ध हुआ कि वह एक अवयवीका ज्ञान प्रमाणज्ञान है। कल्पित नहीं है।

यदि पुनरवयविकल्पनायाः कल्पनान्तरस्य वाशुवृत्तेर्विच्छेदानुपलक्षणात् सहभावाभिमानो लोकस्य। ततो न कल्पनान्तरे सति कल्पनात्मनोप्यवयविनोऽस्तित्वमिति मतिः तदा कथमिन्द्रियबुद्धीनां क्वचित्सहभावस्तात्त्विकः सिद्ध्येत्। तासामप्याशुवृत्तेर्विच्छेदानुपलक्षणात्सहभावाभिमानसिद्धेः।

यदि फिर बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि अंशोंका निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान करते समय अवयवीका कल्पना ज्ञान हुआ। उस कल्पना ज्ञानके अव्यवहित उत्तर समयमें अत्यन्त शीघ्र दूसरा कल्पनाज्ञान वर्त गया। कुम्हारके चक्रभ्रमणके समान शीघ्रता होनेसे मध्यवर्ती देश, कालका अन्तराल स्थूल दृष्टिवाले लोकको नहीं दीखा। अतः एक समयमें साथ उत्पन्न हो गये दो कल्पना

ज्ञानोंकी समर्थ मानता हो गयी है। यानी जनसमुदाय दो कल्पना ज्ञानोंका एक समयमें होना भ्रमवश कह रहा है। वस्तुतः विचारा जाय तो दो कल्पनाएं दो समयोंमें हुयी हैं तिसकारण दूसरी कल्पनाके उत्पन्न होते हुए पूर्वसमयकी कल्पना स्वरूपसे आरोपे गये भी अवयवीका वस्तुतः अस्तित्व नहीं है। बौद्धोंका ऐसा विचार होनेपर हम जैन कहते हैं कि तब तो इन्द्रियजन्य ज्ञानोंका कहीं वास्तविकरूपसे साथ रहनापन कैसे सिद्ध होगा? वहां भी कह दिया जा सकता है कि उन ज्ञानोंकी भी अतिशीघ्रतासे अव्यहित उत्तरोत्तर समयोंमें प्रवृत्ति होनेके कारण मध्यका अन्तराल नहीं दीखा है। अतः संसारी जीवोंको इंद्रिय ज्ञानोंके एक साथ होनेकी मानना सिद्ध हो रही है। वस्तुतः इंद्रियजन्य ज्ञान भी एक साथ कई उत्पन्न नहीं हुए हैं। किंतु यह बात आप बौद्धोंके सिद्धान्तसे विरुद्ध पडेगी। आपने भुरभुरी कचौडीके खाते समय पांचों इन्द्रियोंसे जन्य पांच ज्ञान एक साथ हुए माने हैं। जैन जन उपयोग आत्मक पांचका तो क्या दो ज्ञानोंका भी एक साथ होना नहीं अभीष्ट करते हैं। चेतना गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय हो सकती है। न्यून अधिक नहीं।

कथं चाश्वं विकल्पयतोपि च गोदर्शनाद्दर्शनकल्पनाविरहसिद्धिः? कल्पनात्मनोऽपि गोदर्शनस्य तथाश्वविकल्पेन सहभावप्रतीतेरविरोधात्। ततः सर्वत्र कल्पनायाः कल्पनान्तरोदये निवृत्तिरेष्टव्या, अन्यथेष्टव्याघातात्। तथा च न कल्पनारोपितोंशी कल्पनान्तरे सत्यप्यनिवर्तमानत्वात् स्वसंवेदनवत्।

और हम आपसे पूंछते हैं कि अश्वका विकल्पज्ञान करते हुए पुरुषके भी गायका निर्विकल्पक दर्शन हो जानेसे दर्शनरूप कल्पनाके अभावकी सिद्धि भला कैसे करोगे? बताओ। क्योंकि कल्पनास्वरूप भी गोदर्शनकी तिस प्रकार अश्वविकल्प ज्ञानके साथ होनेवाली प्रतीतिका कोई विरोध नहीं है। आपने दो कल्पनाओंका साथ रहना स्वीकार कर ही लिया है। तिस कारण आपको अपने सिद्धान्तके रक्षित रखनेका अब यही उपाय अवशिष्ट है कि सभी स्थलोंपर दूसरी कल्पनाके उदय हो जानेपर पहिली कल्पनाकी निवृत्ति हो जाना इष्ट कर लेना चाहिये। अन्यथा आपके अभीष्ट मन्तव्योंका व्याघात हो जावेगा और तैसा होनेपर तो सिद्ध हो जाता है कि अवयवी या अंशी कल्पनासे गढा गया नहीं है। क्योंकि दूसरी कल्पनाओंके उत्पन्न हो जानेपर भी वह निवृत्त नहीं हो रहा है, जैसे कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कल्पित नहीं है। भावार्थ—चाहे निर्विकल्पक ज्ञान हो या भले ही सविकल्पकज्ञान हो, पूरा मिथ्याज्ञान भी क्यों न हो। ये सब अपनेको तो प्रमाणस्वरूप संवेदनसे जानते हैं, वह संवेदन प्रत्यक्ष जैसे कल्पित ज्ञान नहीं है। " भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिन्हवः (आप्तमीमांसा) "। तिसी प्रकार अंशी पदार्थ कल्पित नहीं है। अनेक अंशवाला एक अंशी पदार्थ वस्तुभूत है। बौद्धोंने स्वांशमें प्रमाण और बहिरंग विषयके ग्रहण करनेमें अप्रमाण ऐसे दो अंशोंसे युक्त मिथ्याज्ञानका स्वसंवेदन होना मान लिया है। वह उसका ग्राहक

स्वसंवेदन भी दो अंशवाला होगा। तैसे ही बहिरंग पदार्थोंके भी अनेक अवयव मान लेना चाहिये। अथवा शुद्ध स्वसंवेदन ज्ञान जैसे आप बौद्धोंको मान्य है, तद्वत् अवयवीको भी मानलो ! अयुक्त आग्रह करना प्रशस्त नहीं है।

तस्यार्थक्रियायां सामर्थ्याच्च न कल्पनारोपितत्वम् । न हि माणवकेऽग्निरध्यारोपितः पाकादावाधीयते । करांगुलिष्वारोपितौ वैनतेयो निर्विषीकरणादावाधीयत इति चेत् न, समुद्रोल्लंघनाद्यर्थक्रियायामपि तस्याधानप्रसंगात् । निर्विषीकरणादयस्तु तदा पानादिमात्रनिबन्धना एवेति न ततो विरुध्यन्ते ।

जो अर्थक्रियाओंको करता है वह वस्तुभूत है (अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुनो लक्षणम्)। घट, पट, आदिक अवयवी और आत्मा, आकाश, आदि अंशी पदार्थोंको सिद्ध करनेमें यह अच्छी युक्ति है कि वह अंशी अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है ! अतः कोरी कल्पनासे मान लिया गया नहीं है। एक तेजस्वी चंचल बालकमें अग्निपनेका आरोप कर लिया गया। इतने हीसे वह आरोपी गयी अग्नि विचारी पचाना, जलाना, फफोडा डालना, पानी सुखाना आदि क्रियाओंके उपयोग करनेमें नहीं ली जाती है। यों कल्पित अवयवी कुछ कार्य नहीं कर सकेगा। इधर अवयवीसे कार्य हो रहे दीख रहे हैं। यदि कोई यों कहे कि हाथकी अंगुलियोंमें कल्पित कर लिया गया गरुडपक्षी विष उतारने रूप क्रिया आदिमें अर्थक्रियाकारी माना गया है। अर्थात् गारुडिक जन अपनी अंगुलियोंमें गरुडकी स्थापना कर उसके द्वारा सांपके काटे हुए मनुष्यका विष उतार देते हैं। इस प्रकार कल्पित पदार्थ भी कुछ कार्य कर देते हैं। बौद्धोंके इस कटाक्षपर आचार्य समझाते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यों तो समुद्रका उल्लंघन करना, पर्वतको लांघ जाना आदि अर्थक्रियाओंमें भी उस अंगुलीरूप गरुडके उपयोग हो जानेका प्रसंग होगा। मुख्यसे ही होनेवाले कतिपय कार्य कल्पित पदार्थसे कैसे भी नहीं हो सकते हैं। विषरहित करना आदिक कार्य तो उस समय मन्त्रित जलके पान अथवा गरुडकी आकृति आदिको कारण मानकर ही उत्पन्न हो गये हैं। इस कारण उस कल्पित गरुडसे होते हुए विरुद्ध नहीं माने जाते हैं। किन्तु समुद्रका उल्लंघन करना तो वस्तुभूत मुख्य गरुडका कार्य है। अन्धे पुरुषको समझानेके लिये कोहनीसे ऊपर आधा हाथ उठाकर अंगुलियोंको समेट कर पौंचेको टेढा करके बगुलाकी सूरत बनायी जाती है। अन्धा पुरुष उसको हाथसे टटोलता है। एतावता यह हाथ बकके समान आकाशमें गमन नहीं कर पाता है। प्रकरणमें यों कहना है कि अवयवी अनेक अर्थक्रियाओंको करता हुआ दीख रहा है, अतः अंशी परमार्थ है। कल्पित नहीं।

नन्वर्थक्रियाशक्तिरसिद्धावयविनः, परमाणूनामेवार्थक्रियासमर्थसिद्धेस्त एव असाधारणार्थक्रियाकारिणो रूपादितया व्यवह्रियंते । जलाहरणादिलक्षणसाधारणार्थक्रियायां प्रवर्तमानास्तु घटादितया । ततो घटाद्यवयविनो अवस्तुत्वसिद्धिस्तस्य संवृतसत्त्वादिति चेत् न, परमाणूनां जलाद्यर्थक्रियायां सामर्थ्यानुपपत्तेर्घटादेरेव तत्र सामर्थ्यात् परमार्थसिद्धेः ।

यहां बौद्ध अपने पक्षका यों अवधारण करते हैं कि अवयवीके अर्थक्रिया करनेकी शक्ति सिद्ध नहीं है, परमाणुओंके ही अर्थक्रिया करनेकी सामर्थ्य सिद्ध है, वे परमाणु ही अपनी अपनी असाधारण अर्थक्रियाओंको करते हुए रूपपरमाणु, रसपरमाणु अथवा रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध आदिपनेसे व्यवहारमें प्रचलित हो रहे हैं। अर्थात् प्रत्येक वस्तुभूत परमाणुकी अर्थक्रिया न्यारी न्यारी है। जिस समय अनेक परमाणुएं एकसी जलधारण, शीतको दूर करना, छतको लादे रहना, पानी खैंचना आदि स्वरूप साधारण अर्थक्रियाओंको करनेमें प्रवृत्ति करते हैं तब तो वे घट, पट, सौड, लेज, आदि रूपसे व्यवहृत किये जाते हैं, जैसे कि सेनाके प्रत्येक घोडा पदाति आदिका असाधारण कार्य न्यारा है, किन्तु जिस समय सभी प्रत्यासन्न होकर कार्य कर रहे हैं वह सब सेनाका एकसा साधारण कार्य मान लिया जाता है। तिस कारण घट, पट, आदिक अवयवियोंको वस्तुभूतपना सिद्ध नहीं है। जो कुछ भी अर्थक्रिया हो रही है सब परमाणुओंकी है वह अवयवी तो केवल व्यवहारसे सत् मान लिया जाता है। वस्तुतः नहीं। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जलको लाना, जलको धारण किये रहना, छतको लादे रहना आदि अर्थक्रियाओंके करनेमें सूक्ष्मपरमाणुओंकी सामर्थ्य नहीं सिद्ध होती है। उन क्रियाओंको करनेमें तो घट, पट, आदि अवयवियोंकी ही सामर्थ्य है। अतः घट, पट, आदिक अवयवी वास्तविक अर्थ सिद्ध हो जाते हैं।

परमाणवो हि तत्र प्रवर्तमानाः कञ्चिदतिशयमपेक्षन्ते न वा ? न तावदुत्तरः पक्षः सर्वदा सर्वेषां तत्र प्रवृत्तिप्रसंगात्। स्वकारणकृतमतिशयमपेक्षन्त एवेति चेत्, कः पुनरतिशयः ? समानदेशतयोत्पाद इति चेत्, का पुनस्तेषां समानदेशता ? भिन्नदेशानामेवोपगतत्वात्। जलाहरणाद्यर्थक्रियायोग्यदेशता तेषां समानदेशता नान्या, यादृशि हि देशे स्थितः परमाणुरेकस्तत्रोपयुज्यते तादृशि परेऽपि परमाणवः स्थितास्तत्रैवोपयुज्यमानाः समानदेशाः कथ्यन्ते न पुनरेकत्र देशे वर्तमाना विरोधात्। सर्वेषामेकपरमाणुमात्रत्वप्रसंगात् सर्वात्मना परस्परानुप्रवेशादन्यथैकदेशत्वायोगादिति चेत्। का पुनरियमेका जलाहरणाद्यर्थक्रिया ? यस्यामुपयुज्यमाना भिन्नदेशत्वयोऽप्यणवः समानदेशाः स्युः। प्रतिपरमाणुभिद्यमाना हि सानेकैव युक्ता भवतामन्यथानेकघटादिपरमाणुसाध्यापि सैका स्यादविशेषात्।

हम बौद्धोंसे पूछते हैं कि उन अर्थक्रियाओंको करनेमें प्रवृत्त हो रही परमाणुएं क्या अवश्य किसी अतिशयकी अपेक्षा रखती हैं अथवा नहीं ? बताओ ! प्रथम पहिली ओरका दूसरा पक्ष ग्रहण करना तो ठीक नहीं है, क्योंकि विना किसी चमत्कारके उत्पन्न हुए ही यदि परमाणुएं जलधारण आदि कर्मोंको कर लेवेंगी तो सदा ही सम्पूर्ण परमाणुओंको उन कार्योंमें प्रवृत्ति करनेका प्रसंग होगा यानी बालूरेत भी जलको भरे रहेगा, सडी हुयी टूटी हुई सोट या तृण भी छतके बोझको सम्हाल

लेवेंगे। यदि पहिले पक्षके अनुसार आप बौद्ध यों कहें कि अपने अपने कारणोंसे किये गये अतिशयोंकी परमाणु अपेक्षा करते ही हैं, यानी जिन कारणोंसे परमाणु उत्पन्न होते हैं उन्हीं कारणोंसे जलाहरण, शीतापनोद आदिको उत्पन्न करानेवाले अतिशय भी उनमें साथ ही पैदा हो जाते हैं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन फिर पूंछते हैं कि परमाणुओंमें उत्पन्न हुआ वह अतिशय क्या पदार्थ है ? बताओ ! यदि तुम यों कहो कि अनेक परमाणुओंका वहीं अतिनिकट समानदेशवाली होकर उत्पन्न हो जाना अतिशय है, ऐसा कहनेपर तो फिर हम पूंछेंगे कि उन परमाणुओंका समान देशवानपना क्या है ? । इसपर आप बौद्ध यदि यों उत्तर देंगे कि वस्तुतः प्रत्येक परमाणु न्यारे न्यारे ही देशमें रहती हैं। अतः सम्पूर्ण परमाणुयें भिन्न भिन्न देशोंमें उत्पन्न हो रही मानी गयी हैं, किन्तु जलधारण, छतको धारण आदि अर्थक्रियाओंके लिये उपयोगी उन परमाणुओंका व्यवधान रहित सदृश देशोंमें उत्पन्न हो जाना ही उनकी समानदेशता है। अन्य नहीं। जैसे ही एक देशमें बैठा हुआ परमाणु उस अर्थक्रियामें उपयुक्त हो रहा है। तिस सरीखे दूसरे अव्यवहित देशमें भी बैठे हुए दूसरे भी परमाणुऐं उस ही अर्थक्रियामें उपयोग करते हुए समान देशवाले कहे जाते हैं। केवल एक ही देशमें वर्तते हुए परमाणु ही फिर समानदेशवाले नहीं कहे जाते हैं, क्योंकि विरोध है। यानी समानदेश और एकदेशमें भारी अन्तर है। उस ही एक आधारको एकदेश कहते हैं और उसके समान दूसरे देशोंमें रहनेपर समानदेश कहे जाते हैं। मूर्त एक परमाणु जब एक प्रदेशको घेर लेवेगी तो वहां दूसरे परमाणुके ठहरनेका विरोध है। " मूर्तयोरेकदेशताविरोधात् "। जैनोंके समान हम एक प्रदेशपर अनन्त परमाणुओंको बैठा हुआ नहीं स्वीकार करते हैं। यदि एक प्रदेशमें अनेक परमाणु स्थित हो जावेंगी तो सम्पूर्ण परमाणुओंको केवल एक परमाणुरूप हो जानेका प्रसंग होगा। जिस स्थानपर एक ही घट समा सकता है, वहां यदि दो, तीन, घटोंकी सत्ता मानोगे तो दो, तीनका ठीक अर्थ एक ही समझा जावेगा। एक घडेके नीचे मध्य या ऊपरी भागमें दूसरे घडेका सम्बन्ध हो जानेसे तैरानेके लिये दुघडा या चौघडा बन जाता है। यदि एक घडा दूसरे घडेमें ऊपर, नीचे, मध्य, ग्रीवा, पेट, आदि सम्पूर्ण अवयवोंसे सर्वाङ्गीण संयुक्त हो जावेगा तो दो, चार, तो क्या बीस, पचास, घडे भी मिला देनेपर एक घडेके बरोबर ही रहेंगे। जब कि परमाणु अपने सम्पूर्ण स्वरूपसे परस्पर एक दूसरेमें प्रविष्ट हो जावेंगी तो अनेक परमाणुओंका पिण्ड भी एक परमाणुरूप हो जावेगा यह स्पष्ट है। अन्यथा परमाणुओंका एकदेशपना न बन सकेगा। भावार्थ— आप जैनोंने भी परमाणुओंको एकप्रदेशी कहा है। हां ! यदि परमाणुके अनेक प्रदेश होते तो भिन्न भिन्न प्रदेशोंसे संयुक्त होकर अनेक परमाणुओंका एक बडा अवयवी बन सकता था, किन्तु परमाणुको एकप्रदेशी माननेपर एक प्रदेशमें अनेक परमाणुओंकी रक्षा नहीं हो सकती है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि यह अनेक परमाणुओं करके साधारणरूपसे हुयी एक जलाहरण आदि अर्थक्रिया भला क्या है ? जिसमें कि उपयोगी हो रहे भिन्न भिन्न देशमें वर्तते

हुए भी परमाणुएं समानदेशवाले कहे जावें ? बताओ। आपके यहां प्रत्येक परमाणु परमाणुके प्रति भिन्न भिन्न हो रही इस अर्थक्रियाको अनेक ही मानना युक्त पडेगा। अन्यथा यानी अनेक परमाणुओंकी यदि एक ही अर्थक्रिया हो सके तो घट आदिकके अनेक परमाणुओंसे साध्य भी वह अर्थक्रिया एक हो जावेगी कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्—अनेक परमाणुओंसे जैसे एक जल लानारूप अर्थक्रिया हो सकती है, उसी प्रकार अनेक परमाणुओंसे एक अवयवी घट भी बन सकता है हमारे और आपके मन्तव्यमें कोई विशेषता नहीं है विचार लीजिये।

सत्यं, अनेकैव सा जलाहरणाद्याकारपरमाणूनामेव तत्क्रियात्वेन व्यवहरणात्। तद्व्यतिरेकेण क्रियायाः विरोधात्। केवलमेककार्यकरणादेकत्वेनोपचर्यत इति चेन्न, तत्कार्याणामप्येकत्वासिद्धेस्तत्त्वतोनेकत्वेनोपगतत्वात् स्वकीयैककार्यकरणात् तत्कार्याणामेकत्वोपगमे स्यादनवस्था तत्त्वतः सुदूरमपि गत्वा बहूनामेकस्य कार्यस्यानभ्युपगमात्। तदुपगमे वा नानाणूनामेकोऽवयवी कार्यं किं न भवेत्।

बौद्ध कहते हैं कि आप जैनोंका मानना सच है, वह अनेक परमाणुओंसे की गयी जल लानारूप क्रिया अनेक ही हैं, जल लाना आदि आकारवाले परमाणुओंका ही उस क्रियापनेसे व्यवहार हो रहा है। जितने परमाणु हैं उतनी ही तद्रूप क्रियायें हैं। उन परमाणुओंसे भिन्न होकर क्रियाका विरोध है। यानी वैशेषिकके समान हम बौद्धवादी कर्मको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते हैं। वे सब क्रियास्वरूप परमाणुएं एक जल लानारूप कार्यको कर रही हैं इस कारण अनेक अर्थक्रियायें एकपनेसे व्यवहृत हो जाती हैं, वस्तुतः वे अनेक हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन अनेक परमाणुओंके जल लानारूप अनेक कार्योंको भी एकपना असिद्ध है। वास्तविकरूपसे वे कार्य आप बौद्धोंके यहां अनेकपनेसे स्वीकार भी किये गये हैं। यदि उन कार्योंको भी अपने अपने द्वारा सम्पादित हुए एक कार्य करनेकी अपेक्षासे एकपना स्वीकार करोगे तब तो अनवस्थादोष होगा। क्योंकि अनेक कार्योंके बनाये गये कार्य भी वस्तुतः अनेक हैं, फिर उनके भी कार्य अनेक ही होवेंगे। अतः अनेकोंको एकपना उपचारसे भी सिद्ध नहीं हो सकता है। बहुत दूर भी जाकर अनेक अर्थोंसे हुआ वस्तुतः एक कार्य आपने नहीं माना है। यदि बौद्ध अनवस्था दोषको हटानेके लिये उत्तर उत्तरवर्ती अनेक कार्योंसे अन्तमें जाकर उस एक कार्यका होना स्वीकार कर लेंगे तब तो नाना परमाणुओंका कार्य एक अवयवी क्यों न हो जावे ? इस ढंगसे अवयवी सिद्ध हो जाता है।

यदि पुनरेकतया प्रतीयमानत्वादेकैव जलाहरणाद्यर्थक्रियोपेयते तदा घटाद्यवयवी तत एवैकः किं न स्यात् ? संवृत्त्यास्तु तदेकत्वप्रत्ययस्य सांवृतत्वादिति चेत्, जलाहरणाद्यर्थक्रियापि संवृत्त्यैकास्तु तदविशेषात्। तथोपगमे कथं तत्त्वतो भिन्नदेशानामणूनामेक-

स्यामर्थक्रियायां प्रवृत्तेः समानदेशता यथोत्पादेतिशयस्तैस्तत्रापेक्षते । तदनपेक्षाश्च कथं साधारणार्थक्रियाहेतवोऽतिप्रसंगादिति न घटादिव्यवहारभाजः स्युः ।

यदि फिर बौद्ध यों कहें कि एकपनेसे प्रतीतिका विषय होनेके कारण जल लाना, छत लादना, आदि अर्थक्रिया एक ही मान ली गयी है । यानी अनेक परमाणुओंसे यद्यपि अनेक क्रियायें होती हैं फिर भी अनेक एकोंमें एकत्वधर्म रहता है । अतः वे सब एक हैं, तब तो हम कहेंगे कि तिस ही कारण घट, सोट, आदि अवयवी भी एक क्यों न हो जावेगा । यदि बौद्ध यों कहें कि केवल व्यवहारसे एक अवयवी हो जाओ । क्योंकि उन अनेक अवयवोंमें एकपनेका ज्ञान उपचारसे कल्पित माना गया है, ऐसा कहनेपर तो आप बौद्धोंके द्वारा मान ली गयी जल लाना, पानी खींचना, आदि अर्थक्रिया भी कल्पित व्यवहारसे एक हो जाओ ! क्योंकि व्यवहारसे वह एकपनेका ज्ञान होना यहांपर भी अन्तर रहित है । वस्तुतः जल लाना आदि अर्थक्रियायें भी अनेक ही ठहरेंगी । तिस प्रकार स्वीकार करनेपर तो वास्तविकरूपसे भिन्न भिन्न देशमें रहनेवाले परमाणुओंकी एक अर्थ-क्रियामें प्रवृत्ति होनेसे समनदेशपना कैसे सिद्ध होगा ? बताओ । जिस समानदेशतासे कि उत्पाद होनेपर उन परमाणुओं करके वहां वह अतिशय अपेक्षणीय होवे । अर्थात् प्रायः दस पंक्तियोंके पूर्व बौद्धोंने समानदेशपनेसे उत्पाद होनारूप अतिशयकी अपेक्षा परमाणुओंके मानी थी, किन्तु अनेक परमाणुओंसे हुयी एक अर्थक्रिया सिद्ध नहीं मानी जा रही है तो वह अतिशय नहीं बना । और उस अतिशयकी नहीं अपेक्षा रखते हुए परमाणु अनेक परमाणुओंके द्वारा साधारणरूपसे साध्य जल लाना आदि अर्थक्रियाके कारण भला कैसे हो सकते हैं ? अतिप्रसंग हो जावेगा । यानी अतिशयोंसे रहित वालू, पारा आदि भी जल लाना, जल धारण करना आदि क्रियाओंको करनेमें समर्थ हो जावेंगे । इस प्रकार अतिशयोंसे रीते परमाणु विचारे घट, पट आदि व्यवहारको धारण करनेवाले नहीं होसकते हैं, किन्तु एक घट अवयवी है । एक पट अवयवी है इत्यादि व्यवहार वस्तुभूत हो रहे हैं। ये अवयवी अपने योग्य असाधारण कार्योंको भी कर रहे हैं।

न चायं घटाद्येकत्वमत्ययः सांवृतः स्पष्टत्वादक्षजत्वाद्बाधकाभावाच्च यतस्तदेकत्वं पारमार्थिकं न स्यात् । ततो युक्तांशिनोऽर्थक्रियायां शक्तिरंशवदिति नासिद्धं साधनम् ।

घट, पट, आदि अवयवियोंके एकपनेका ज्ञान (पक्ष) झूंठा या कल्पित नहीं है (साध्य) क्योंकि यह ज्ञान विशद है और इन्द्रियोंसे जन्य है तथा बाधक प्रमाणोंसे रहित है । इन तीन हेतु-ओंसे घटमें एकत्वज्ञान प्रमाणरूप सिद्ध हो जाता है जिससे कि उस अवयवीका एकपना पारमार्थिक न होवे। यानी एकपनेके प्रमाणज्ञानसे अवयवीमें एकपना वस्तुभूत सिद्ध हो जाता है । तिस कारण अंशवाले अवयवीकी अर्थक्रिया करनेमें सामर्थ्य मानना युक्त है । जैसे अवयव (अंश) अपने योग्य अर्थक्रियाको करता है । अतः कल्पनारोपित नहीं है । आप सौगत परमाणुओंको मानते ही हैं।

तिसी प्रकार धारण, आकर्षण, भारवहन, आदि अर्थक्रियाओंको अवयवी करता है। इस प्रकार अकल्पित, मुख्य, अवयवीको सिद्ध करनेके लिये प्रायः बीस बाईस पंक्तियोंके पूर्वमें हम जैनोंके द्वारा दिया गया अर्थक्रिया करनेमें सामर्थ्यरूप हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। अर्थात् अवयवोंसे न हो सकें ऐसी अर्थक्रियाओंको अवयवी स्वतन्त्ररूपसे करता है जो अर्थक्रियाको कर रहा है। वह वस्तुभूत तो मानना ही पडेगा। हमारा हेतु पक्षमें ठहर गया।

स्पष्टज्ञानवेद्यत्वाच्च नांशी कल्पनारोपितोंशवत्। नन्वंशा एव स्पष्टज्ञानवेद्या नांशी तस्य प्रत्यक्षेऽप्रतिभासनादिति चेत् न, अक्षव्यापारे सत्ययं घटादिरिति संप्रत्ययात्। असति तदभावात्।

अर्थक्रिया करनेकी सामर्थ्यसे अवयवीको सिद्धकर पुनः वार्तिकमें व्यतिरेक मुखसे कहे गये दूसरे अनुमानसे भी अंशीको सिद्ध करते हैं। अंशी (पक्ष) कल्पनाओंसे गढ लिया गया नहीं है, यानी वस्तुभूत है, (साध्य) विशद प्रत्यक्षज्ञानसे जाना गया होनेसे (हेतु) जैसे कि परमाणुरूप अंश (दृष्टान्त)। यह उदाहरण बौद्धोंके मन्तव्यानुसार दिया गया है। वस्तुतः छद्मस्थ जीवोंके इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षसे परमाणुओंका ज्ञान नहीं होता है। हां ! अवयवीको बनानेवाले छोटे छोटे कपाल, तन्तु, आदि अंशोंका ज्ञान हो जाता है। इस अनुमानपर बौद्ध अनुनय सहित कटाक्ष करते हैं कि स्पष्टज्ञानके द्वारा अंश ही जान जाते हैं। अंशी नहीं, उस अंशीका तो प्रत्यक्षमें कभी प्रतिभास ही नहीं होता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि चक्षुः, स्पर्शन, आदि इन्द्रियोंके व्यापार होनेपर यह स्थूल घट है, यह एक बडा पट है इत्यादिक भले प्रकार ज्ञान हो रहे हैं। इन्द्रियोंके व्यापार न होनेपर मोटे घट आदिकका ज्ञान नहीं होता है। अतः अन्वय, व्यतिरेकसे अवयवीका इन्द्रियजन्य स्पष्ट ज्ञान होना प्रसिद्ध है। यही हम जैनोंने हेतु दिया है।

नन्वक्षव्यापारेंशा एव परमसूक्ष्माः संचिताः प्रतिभासन्ते त एव स्पष्टज्ञानवेद्याः केवलप्रतिभासानन्तरमाश्वेवांशिविकल्पः प्रादुर्भवन्नक्षव्यापारभावीति लोकस्य विभ्रमः, सविकल्पाविकल्पयोर्ज्ञानयोरेकत्वाध्यवसायाद्युगपद्वृत्तेर्लघुवृत्तेर्वा। यदांशदर्शनं स्पष्टं सदैव पूर्वांशदर्शनजनितांशिविकल्पस्याभावात्। तदुक्तं—" मनसोर्युगपद्वृत्तेस्सविकल्पाविकल्पयोः। विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति " इति। तदप्ययुक्तम्।

बौद्ध सतर्क होकर अपने पक्षका अवधारण कहते हैं कि इन्द्रियोंके व्यापार होनेपर अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुरूप अंश ही एकत्रित हुए जाने जा रहे हैं वे अंश ही स्पष्ट ज्ञानसे जानने योग्य विषय हैं, केवल इतनी विशेषता है कि अंशों की ज्ञप्तिके अव्यवहित उत्तरकालमें शीघ्र ही अंशीका झूंठा विकल्पज्ञान प्रकट हो जाता है। वह इन्द्रियोंके व्यापार होनेपर हुआ है ऐसा जनसमुदायको भ्रम हो रहा है। अर्थात् इन्द्रियव्यापारसे अंशोंका निर्विकल्पक ज्ञान होता है और शीघ्र ही वासना-

ओंके वश अंशीका विकल्पज्ञान गढ लिया जाता है। बहुतसे लोग भ्रान्तिवश हुए अंशीके ज्ञानको इन्द्रियोंसे हुआ मान लेते हैं। किन्तु उनको यह विवेक नहीं है कि अंशीको जाननेवाले सविकल्पकज्ञान (मिथ्याज्ञान) और अंशको जानने वाले निर्विकल्पकज्ञान (सम्यग्ज्ञान) में युगपत् (एक साथ) वृत्ति होनेसे अथवा घूमते हुए पहियेके समान अधिक शीघ्रतापूर्वक लघुवृत्ति होनेसे एकपनेका अध्यवसाय (मनमानी कल्पना कर लेना) हो रहा है। अतः जिस समय अंशोंका स्पष्टरूपसे दर्शन हो रहा है उस समय ही पहिले अंशोंके देखनेसे उत्पन्न हुआ अंशीका विकल्पज्ञान नहीं है। वह विकल्पज्ञान तो दूसरे समयमें गढ लिया जाता है। वही हमारे ग्रन्थोंमें इस प्रकार कहा है कि विशेष मूढ पुरुष ही चित्तधाराओंकी उसी समय एक साथ वृत्ति होनेसे अथवा चक्रभ्रमणके समान उत्तर उत्तर आगेके समयोंमें शीघ्र लघुवृत्ति होनेसे उन सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानोंमें एकपनेका निर्णय कर लेता है। अर्थात् सविकल्पक और निर्विकल्पककी न्यारी न्यारी दो ज्ञानधाराओंके मानने पर एक समयमें ही हो गयीं अंशीज्ञान और अंशज्ञानरूप दो पर्यायोंमें एकपना जान लिया जाता है। दो धाराओंके अनुसार एक समयमें दो पर्यायें हो सकती हैं। हां! यदि एक ही ज्ञानधारा मानी जाय तब तो उस चित्तधाराकी एक समयमें एक ही पर्याय होगी। एक गुण या विज्ञान एक समयमें एक ही पर्यायको धारण कर सकता है। अतः क्षणिक विज्ञानकी निर्विकल्पक पर्याय होने पर शीघ्र ही अव्यवहित उत्तर समयमें सविकल्पकज्ञानरूप पर्याय हो जाती है। अतः दोनों पक्षोंके अनुसार उत्पन्न हुए दो ज्ञानोंमें एकपनेका आरोप कर लिया जाता है। वस्तुतः इन्द्रियोंसे अंशीका सविकल्पक ज्ञान हो नहीं सकता है। अब आचार्य कहते हैं कि सो बौद्धोंका वह कहना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि—

विकल्पेनास्पष्टेन सहैकत्वाध्यवसाये निर्विकल्पस्यांशदर्शनस्यास्पष्टत्वप्रतिभासनानुषंगात्। स्पष्टप्रतिभासेन दर्शनेनाभिभूतत्वाद्विकल्पस्य स्पष्टप्रतिभासनमेवेति चेत् न, अश्वविकल्पगोदर्शनयोर्युगपद्वृत्तौ तत एवाश्वविकल्पस्य स्पष्टप्रतिभासप्रसंगात्।

अविशदरूपसे अवस्तुरूप विकल्प्यको जाननेवाले विकल्पज्ञानके साथ यदि निर्विकल्पक दर्शनका एकपना आरोपित कर लिया जावेगा तब तो अंशको देखनेवाले निर्विकल्पक ज्ञानको भी अविशदरूपसे प्रतिभास करनेपनका प्रसंग होगा। अत्यन्त घनिष्ठ मित्रता हो जानेपर निर्विकल्पकका स्पष्टपना धर्म जैसे सविकल्पकमें आ जाता है, उसी प्रकार सविकल्पका अविशदपना धर्म निर्विकल्पकमें भी घुस जावेगा। यदि आप बौद्ध यों कहें कि तारागणसे सूर्य नहीं छिप जाता है, किन्तु स्पष्ट-प्रकाशवाले सूर्यसे जैसे मन्द प्रकाशवाले तारागण प्रच्छन्न हो जाते हैं, वैसे ही स्पष्ट प्रतिभासवाले निर्विकल्पक दर्शन करके विकल्पके अस्पष्टपनेका तिरोभाव हो जानेके कारण यहां विकल्पज्ञानका ही आरोपित स्पष्ट प्रतिभास हो गया है। यानी निर्विकल्पकके स्पष्टत्व धर्मने विकल्पके अस्पष्टत्व धर्मको दबा दिया है। सो यह तो न कहना, क्योंकि अश्वका विकल्पज्ञान और गायका निर्विकल्पक

दर्शन इन दोनोंकी एक साथ प्रवृत्ति होनेपर तिस ही कारण अश्वके विकल्पका स्पष्ट प्रतिभास हो जाना चाहिये, यह प्रसङ्ग तुम्हारे ऊपर आता है। यानी तिरोभूत करनेवाला गोदर्शन अश्वविकल्पके अविशदपनका अभिभवकर उसका स्पष्ट प्रकाश कर देवे।

तस्य भिन्नविषयत्वान्न गोदर्शनेनाभिभवोऽस्तीति चेत्, किमिदानीमेकविषयत्वे सति विकल्पस्य दर्शनेनाभिभवः साध्यते ततः तस्य स्पष्टप्रतिभास इति मतम्। नैतदपि साधीयः। शब्दस्वलक्षणदर्शनेन तत्क्षणक्षयानुमानविकल्पस्याभिभवप्रसंगात्। न हि तस्य तेन युगपद्भावो नास्ति विरोधाभावात् ततोऽस्य स्पष्टप्रतिभासः स्यात्।

बौद्ध यदि यों कहें कि गोदर्शन और अश्वविकल्पका भिन्न भिन्न विषय होनेके कारण गौके निर्विकल्पक दर्शन करके अश्वविकल्पके अस्पष्टपनेका तिरोभाव नहीं होपाता है। जहां एक ही विषयमें दर्शन होय और उसी विषयमें विकल्पज्ञान उत्पन्न होवेगा, वहां निर्विकल्पसे विकल्पज्ञान दब जावेगा। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूछते हैं कि क्या आपका यह मन्तव्य है कि एक विषयता होनेपर यह विशेषण लगाते हुये विकल्पज्ञानका निर्विकल्पक करके तिरोभूत हो जाना साधा जाता है। अभिभूत हो जानेके कारण उस विकल्पज्ञानका विशदरूपसे प्रतिभास हो रहा है। सो यह बौद्धोंका मन्तव्य भी बहुत अच्छा नहीं है। क्योंकि शब्दस्वरूप स्वलक्षणके निर्विकल्पक ज्ञानसे उस शब्दके क्षणिकत्वको जाननेवाले अनुमानरूप विकल्पज्ञानके छिप जानेका प्रसंग हो जावेगा। क्षणिकत्वको जाननेवाले उस विकल्पका उस निर्विकल्पकके साथ एक समयमें विद्यमानपना नहीं है यह न समझ लेना, क्योंकि दोनोंके साथमें रहनेका कोई विरोध नहीं है। सविकल्पक और निर्विकल्पक दो ज्ञानोंकी एक समयमें दो पर्यायें हो सकती हैं। तिस कारण इस अनुमानरूप विकल्पका विशदज्ञान होजाना चाहिये। भावार्थ—कर्ण इन्द्रिय द्वारा वस्तुभूत शब्दस्वलक्षणके जान लेनेपर शब्दसे अभिन्न क्षणिकत्व भी जान लिया जाता है वस्तुभूत पदार्थमें प्रत्यक्षकी ही प्रवृत्ति बौद्धोंने मानी है। यदि क्षणिकत्वको प्रत्यक्षने न जाना होता तो क्षणिकपना वास्तविक न हो पाता। किन्तु शब्दमें कुछ देरतक ठहरने या नित्यपनेके समारोप हो जानेपर उसको दूर करनेके लिये पुनः क्षणिकत्वके निर्णयार्थ सत्त्वहेतुसे अनुमान किया जाता है। यहां प्रत्यक्षरूप निर्विकल्पकज्ञान और अनुमानरूप विकल्पज्ञानका विषय एक है। ऐसी दशामें दर्शनकी स्पष्टतासे विकल्पकी अस्पष्टताका अभिभव हो जाना चाहिये। किन्तु आप बौद्धोंने उसको इष्ट नहीं किया है।

भिन्नसामग्रीजन्यत्वादनुमानविकल्पस्य न दर्शनेनाभिभव इति चेत्, स्यादेवम्। यद्यभिन्नसामग्रीजन्ययोर्विकल्पदर्शनयोरभिभाव्याभिभावकभावः सिद्ध्येत् नियमात्। न चासौ सिद्धः सकलविकल्पस्य स्वसंवेदनेन स्पष्टावभासिना प्रत्यक्षेणाभिन्नसामग्रीजन्येनाप्यभिभवाभावात्। स्वविकल्पवासनाजन्यत्वाद्विकल्पस्य पूर्वसंवेदनमात्रजन्यत्वाच्च स्वसंवे-

दनस्य। तयोर्भिन्नसामग्रीजन्यत्वमेवेति चेत्। कथमेवमंशदर्शनेनांशिविकल्पस्याभिभवो नाम तथा दृष्टत्वादिति चेन्न, अंशदर्शनेनांशिविकल्पोऽभिभूत इति कस्यचित्प्रतीत्यभावात्।

यदि इसपर बौद्ध फिर यों कहें कि विषय भी एक होना चाहिये और सामग्री भी एकसी होनी चाहिये। तब दर्शनसे विकल्पका अभिभव हो जावेगा। अनुमानरूप विकल्पकी हेतुदर्शन, व्याप्तिस्मरण, आदि सामग्री है और निर्विकल्पककी अर्थजन्यता इन्द्रियवृत्ति, आलोक आदि सामग्री हैं। अतः भिन्न भिन्न सामग्रीसे जन्य होनेके कारण क्षणिकत्व जाननेवाले अनुमानरूप विकल्पका शुद्धस्वरूप स्वलक्षणको जाननेवाले निर्विकल्पक दर्शनसे छिपाया जाना नहीं होता है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका यह कहना तो तब हो सकता था कि यदि अभिन्न सामग्रीसे उत्पन्न हुए विकल्पज्ञान और निर्विकल्पकका अभिभूत हो जाना तथा अभिभूत करादेनापन नियमसे सिद्ध हो जाता, किन्तु वह छिपजाना छिपादेनापन तो सिद्ध नहीं हुआ है। दोनों ज्ञान स्वतन्त्र जाने जा रहे हैं। दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण विकल्पज्ञानोंको स्पष्टरूपसे जाननेवाले और अभिन्न सामग्रीसे उत्पन्न हुए भी ऐसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करके अभिभव नहीं हो रहा है। अर्थात् बौद्धोंके यहां भी चाहे निर्विकल्पक ज्ञान हो या भले ही सविकल्पक ज्ञान हो, सभी सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञानोंका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हो जाना माना गया है। जिज्ञासा होनेपर प्रत्येक विकल्पज्ञानको जाननेवाला स्वसंवेदनप्रत्यक्ष अवश्य होगा स्वसंवेदनप्रत्यक्षमें स्पष्टपना है। विकल्पमें अस्पष्टपना है। ऐसी दशामें सभी विकल्पज्ञान स्वसंवेदनके वैशद्यप्रभावसे दब जावेंगे। एक ज्ञानधारामें दोनों ज्ञान पोये (पिरोये) हुए हैं। अतः उनकी उपादानसामग्री भी भिन्न नहीं है। यदि बौद्ध यों कहें कि यहां सामग्री अभिन्न नहीं है, किन्तु भिन्न भिन्न है। विकल्पज्ञान तो झूंठी गढ ली गयीं अपनी विकल्पवासनाओंसे उत्पन्न हुआ है और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष पहिले समयके केवल शुद्धसम्वेदनसे ही उत्पन्न हुआ है। अतः वे दोनों भिन्न भिन्न सामग्रीसे ही जन्य हैं। ऐसा माननेपर तो हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार तो अंशके दर्शनसे अंशीके विकल्पज्ञानका अभिभव भला कैसे होगा? क्योंकि ये दोनों भी न्यारी न्यारी सामग्रीसे उत्पन्न हो रहे हैं। इसी बातको बौद्धोंके मुखसे कहलवानेके लिये आचार्य महाराजने इतना ऊहापोह किया है। इस अवसरपर बौद्धको बहुत बुरे ढंगसे मुंहकी खानी पडी, जिसकी कि उसको सम्भावना नहीं थी। ग्रन्थकारका यह चातुर्य अतीव प्रशंसनीय है। अतः अंशीके स्पष्टदर्शन हो जानेसे अंशीका वस्तुभूतपना सिद्ध हो जाता है। यदि हारकर बौद्ध यों कहें कि हम क्या करें, तिस प्रकार होता हुआ देखा जा रहा है। अर्थात् अंशके निर्विकल्पकसे अंशीके विकल्पज्ञानका छिपाया जाना देखा जाता है। सो यह तो न कहना। क्योंकि अंशके दर्शनसे अंशीका विकल्पज्ञान छिपाया गया है। इस प्रकार आजतक किसीको भी प्रतीति नहीं हुयी है। व्यर्थकी झूंठी बात गढनेसे कोई लाभ नहीं निकलता है। पत्र (कागज) की हण्डिया भात पकानेके लिये एक बार भी काम नहीं देती है।

ननु चापि विकल्पः स्पष्टाभोऽनुभूयते न चासौ युक्तस्तस्यास्पष्टावभासित्वेन व्याप्तत्वात्, तदुक्तम्—" न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासता " इति। ततोऽस्य दर्शनाभिभवादेव स्पष्टप्रतिभासोऽन्यथा तदसम्भवादिति चेन्न, विकल्पस्यास्पष्टावभासित्वेन व्याप्त्यसिद्धेः। कामाद्युपप्लुतचेतसां कामिन्यादिविकल्पस्य स्पष्टत्वप्रतीतेः सोऽक्षज एव प्रतिभासो न विकल्पज इत्ययुक्तं, निमीलिताक्षस्यांधकारावृतनयनस्य च तदभावप्रसंगात्।

यहां बौद्ध फिर भी अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि स्याद्वादियोंके यहां विकल्पज्ञान जो स्पष्टप्रकाश करता हुआ अनुभवमें आ रहा कहा जाता है, किन्तु वह तो युक्त नहीं है, क्योंकि उस विकल्पज्ञानकी अस्पष्ट प्रकाशीपनके साथ व्याप्ति सिद्ध हो रही है। यानी जो जो विकल्पज्ञान हैं वह वह अविशदरूपसे प्रकाशक है। वही हमारे ग्रन्थोंमें इस प्रकार कहा है कि कल्पनाओंसे बिंध रहे विकल्पज्ञानको अर्थका स्पष्ट प्रकाशपना नहीं है। संसारी जीवोंकी राग, द्वेष, मोहवश अनाप सनाप की गयीं कल्पनाएं क्या वस्तुको भला स्पर्श कर सकती हैं? कभी नहीं। तिस कारण इस विकल्पज्ञानका निर्विकल्पकसे अभिभव हो जानेके कारण ही स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है। अन्यथा यानी दर्शनके प्रभाव विना विकल्पमें स्पष्टताका होना असम्भव है। डंकके विना कांचमें इतनी बढिया चमक नहीं आ सकती है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि विकल्पज्ञानकी अस्पष्ट प्रकाशीपनके साथ व्याप्ति असिद्ध है। घट, पट, आदिकके अनेक विकल्पज्ञान स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। काम, शोक भय, उन्मत्तता, आदिकसे घिरे हुए चित्तवाले पुरुषको कामिनी, इष्ट पुत्र, पिशाच, सिंह आदिक पदार्थोंके विकल्पज्ञानका स्पष्टपना प्रतीत हो रहा है। बौद्धोंका ऐसा कहना कि वह विकल्प प्रतिभास तो इन्द्रियजन्य ही है। विकल्पजन्य नहीं है। इन्द्रियोंसे ज्ञानमें स्पष्टता आ जाती है, सो यह तो युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि इन्द्रियव्यापारको संहृत कर अथवा आंखोंको मींचकर विचार करनेवाले या गाढान्धकारसे ढकी हुयीं आंखवाले पुरुषको कामिनी आदिमें उस विकल्पज्ञान होनेके अभावका प्रसंग होगा। अर्थात् इन्द्रियव्यापारके विना भी कामिनी आदिके ज्ञानमें स्पष्टता झलक रही है।

भावनातिशयजनितत्वात्तस्य योगिप्रत्यक्षतेत्यसम्भाव्यं, भ्रान्तत्वात्। ततो विकल्पस्यैवाक्षजस्य मानसस्य वा कस्यचित्स्पष्टप्रतिज्ञानावरणक्षयोपशमापेक्षस्याभ्रान्तस्य भ्रान्तस्य वा निर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वाद्व्यवविकल्पस्य स्वतः स्पष्टतोपपत्तेः सिद्धमंशिनः स्पष्टज्ञानवेद्यत्वमंशवत्। तच्च न कल्पनारोपितत्वे सम्भवतीति तस्यानारोपितत्वसिद्धेः।

भावना ज्ञानके चमत्कारसे उत्पन्न हो जानेके कारण उस कामिनी आदिके ज्ञानको योगिप्रत्यक्षपना मान लिया जाय यह तो असम्भव है। क्योंकि कामपीडित पुरुषोंको वियुक्त अवस्थामें कामिनीका ज्ञान होना या शोकी पुरुषको मृतपुत्रका सन्मुख दीखना ये सब विपर्ययज्ञान हैं। भला अतीन्द्रियदर्शी योगीके विपर्ययज्ञान होनेकी सम्भावना कहां है? बौद्धोंका साहस तो देखिये

कि जिन्होंने इन्द्रियोंकी सहायता विना हुए झूंठे विकल्पज्ञानोंमें स्पष्टताकी रक्षा करनेके लिये कामुक, शोकी जीवोंको प्रत्यक्षदर्शी योगी माननेका विचार कर लिया है । ऐसी बुद्धपनेकी बातोंको भोला मनुष्य ही कह सकता है । कल मेरा भाई आवेगा, चांदीका भाव गिर जावेगा इत्यादि प्रकारके प्रतिभास उत्पन्न हुए भावना ज्ञान कभी तो सच्चे हो जाते हैं, सर्वदा नहीं । किन्तु कामपीडित, शोकग्रस्त आदि पुरुषोंके तो मिथ्यावासनाओंसे हुए कामिनी, पुत्र आदिकको सन्मुख देखनेवाले स्पष्ट ज्ञान तो सर्वथा ही झूंठे हैं । तिस कारण बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य अथवा अन्तरंग मन इन्द्रियसे जन्य किसी भी विकल्पज्ञानको स्पष्ट मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षासे स्पष्टपना प्राप्त होता है। भावार्थ—स्पष्टपना इन्द्रियोंसे नहीं आता है । किन्तु ज्ञानावरणके स्पष्ट क्षयोपशमसे ज्ञानमें स्पष्टता मानी गयी है । चाहे समीचीन ज्ञान हो अथवा भले ही भ्रान्तज्ञान हो । दोनोंमें स्पष्टपना अपने कारणरूप क्षयोपशमसे ही प्राप्त होगा । प्रकरणमें अवयवीका विकल्पज्ञान बाधकरहित प्रतीतियोंसे सम्यग्ज्ञानस्वरूप सिद्ध हो रहा है, उसकी स्पष्टता भी स्वयं अपने आप होती हुयी बन रही है । अतः अंशीका अंशके समान स्पष्ट ज्ञानसे जाना गयापन सिद्ध होगया । यदि अंशीको कल्पनासे आरोपित मान लिया जाय तो वह स्पष्टज्ञानसे जानागयापन नहीं सम्भवता है । इस कारण उस अंशीको वास्तविक होनेके कारण कल्पनाओंसे अनारोपितपना सिद्ध है । यहांतक पहिले दिये हुये इस अनुमानकी पुष्टि हो गयी कि अंशके समान अंशी भी स्पष्ट ज्ञानसे वेद्य होनेके कारण कल्पना गढन्त नहीं है । अर्थात् अंशी या अवयवी वास्तविक पदार्थ है ।

ननु स्पष्टज्ञानवेद्यत्वं नावयविनो अनारोपितत्वं साधयति कामिन्यादिना स्पष्टभावनातिशयजनितद्विकल्पवेद्येन व्यभिचारादिति चेन्न, स्पष्टसत्यज्ञानवेद्यत्वस्य हेतुत्वात् । तथा स्वसंवेद्येन सुखादिनानैकांत इत्यपि न मन्तव्यं, कल्पनानारोपितत्वस्याक्षजत्वस्य साध्यतयानभ्युपगमात् । परमार्थसत्त्वस्यैव साध्यत्वात् ।

यहां बौद्धोंका स्वपक्षके अवधारणार्थ आक्षेप है कि स्पष्ट ज्ञानसे जानागयापनरूप हेतु तो अवयवीका अनारोपितपना नहीं सिद्ध करा सकता है । क्योंकि विशदरूप हुयी भावनाके अतिशयसे उत्पन्न हुए उन विकल्पज्ञानों द्वारा जाने गये कामिनी, पिशाच, आदि करके हेतुका व्यभिचार हो जाता है। भावार्थ—स्पष्टज्ञानसे वेद्यपना कामिनी आदिमें है, किन्तु वहां अनारोपितपना नहीं है। जैसे कामिनी आदिक कल्पित हैं, तैसे ही अवयवी कल्पित है । अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि हमारे हेतुके शरीरमें सत्यशद्ब निविष्ट हो रहा है । वास्तविक स्पष्टपना सत्यज्ञानमें ही माना गया है जो स्पष्टपनेसे सत्यज्ञानके द्वारा जाना जावेगा । वह अनारोपित अवश्य होगा । अब कोई व्यभिचार दोष नहीं है । तथा हमारे हेतुका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जान लिये गये सुख, इच्छा, आदिसे व्यभिचार हो जायगा यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि इन्द्रियोंसे जन्य कल्पना अनारोपितपनेको हमने साध्य नहीं स्वीकार किया है, जिससे कि सुख आदिमें

साध्यके न रहनेसे हेतु व्यभिचारी होता किन्तु वास्तविक रूपसे विद्यमानपनेको ही हम साध्य कह रहे हैं। भावार्थ--कल्पनासे नहीं आरोपितपने साध्यमें इन्द्रियोंसे जन्यपना हमको इष्ट नहीं है। यद्यपि घट, पट, आदि अवयवियोंमें इन्द्रियजन्य ज्ञानसे वेद्य होकर अकल्पितपना है, फिर भी सुख, ज्ञान, आदिसे व्यभिचार होनेकी सम्भावनाका लक्ष्य कर शुद्ध अनारोपितपनेको यानी परमार्थरूपसे सत्पनेको ही हमने साध्य किया है।

ननु परमार्थसतोऽवयविनः स्पष्टज्ञानेन वेदनं सर्वावयववेदनपूर्वकं कतिपयावयवेदन पूर्वकं वावयवावेदनपुरःसरं वा ? न तावदाद्यः पक्षः सर्वदा तदभावप्रसंगात्, किंचिज्ज्ञस्य सर्वावयववेदनासम्भवात्। तदवयवानामपि स्थवीयसामवयवित्वेन सकलावयववेदनपुरःसरत्वे तस्य परमाणूनामवयवानामवेदनेन तदारब्धशताणुकादीनां वेदनाननुषंगादभिमतपर्वतादेरपि वेदनानुपपत्तेः। एतेन द्वितीयपक्षोपाकृतः, कतिपयपरमाणुवेदने तद्वेदनानुपपत्तेरविशेषात्। तृतीयपक्षे तु सकलावयवशून्ये देशेऽवयविवेदनप्रसंगस्ततो नावयविनः स्पष्टज्ञानेन वित्तिः। यतः स्पष्टज्ञानवेद्यत्वं तत्त्वतः सिद्ध्येत्। इत्यपि प्रतीतिविरुद्धं, सर्वस्य हि स्थवीयानर्थः स्फुटतरमवभासत इति प्रतीतिः।

बौद्ध पुनः कुचोद्य उठाते हैं कि जैनोंसे माने गये वास्तविक सत् रूप अवयवीका स्पष्ट ज्ञान करके जो जानना हो रहा है। वह सम्पूर्ण अवयवोंका पहिले ज्ञान होकर पश्चात् उत्पन्न होता है ? अथवा कितने ही अवयवोंको पहिले जानकर पीछे पूरे अवयवीका ज्ञान हो जाता है ? या पूर्वमें किसी भी अवयवको न जानकर झट अवयवीका ज्ञान हो जाता है। बताओ ! तिन तीन पक्षोंमेंसे पहिले आदिका पक्ष ग्रहण करना तो आप जैनोंको ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि सदा ही उस अवयवीके अभावका प्रसंग हो जावेगा। सर्वज्ञके ही सम्पूर्ण सूक्ष्म, स्थूल, अवयवोंका ज्ञान होना बन सकता है। कुछ थोडासा जाननेवाले हम लोगोंके तो सम्पूर्ण अवयवोंका ज्ञान होना असम्भव है। उन घट, पट आदिक अवयवियोंके कपाल, तन्तु, आदिक अवयव भी तो अतीव स्थूल होनेके कारण अवयवी हैं। अतः उन अवयवरूप अवयवियोंका ज्ञान भी पहिले सम्पूर्ण कपालिका, छोटे तन्तु, आदि सम्पूर्ण अवयवोंके ज्ञान हो चुकनेपर ही होगा, इस प्रकार षडणुक, पञ्चाणुक, आदिके क्रमसे परमाणुरूप अवयवोंतक पहुंचना पडेगा। अन्तमें प्राप्त हुए परमाणुरूप अवयवोंका ज्ञान नहीं होनेके कारण उनसे मिलाकर बनाये गये सौ परमाणुओंके शताणुक आदिकोंका ज्ञान न हो सकेगा। इस प्रसंगकी आपत्ति होनेसे अभीष्ट बडे पर्वत, समुद्र, आदिक अवयवियोंका भी ज्ञान होना न बन सकेगा। मूल ही नहीं तो शाखा कहांसे बन सकती है। परमाणुओंका ज्ञान न होनेसे द्व्यणुकका और द्व्यणुकका ज्ञान न होनेसे त्र्यणुकका ज्ञान न होगा। इस प्रकार कारणभूत नीचेके अवयवोंका ज्ञान न होनेसे कार्यरूप ऊपरके महाअवयवीका ज्ञान न हो सकेगा। इस कथनसे जैनोंके दूसरे पक्षका भी खण्डन हो चुका समझा लिया जाता है। सुनिये।

द्वितीय पक्षके अनुसार कितने ही एक परमाणुओंका अस्मदादिकको ज्ञान होता नहीं है। अतः किसी भी अवयवीका ज्ञान होना न बन सकेगा। पहिले और दूसरे पक्षमें कुछ परमाणुओंका ज्ञान करना तो आवश्यक है, किन्तु जैन मतानुसार परमाणुओंका ज्ञान हम लोगोंको होता नहीं है। अतः उनसे बने हुए अवयवीका ज्ञान न हो सकनारूप दोष दोनों पक्षोंमें समानरूपसे लागू होजाता है कोई अन्तर नहीं है। तीसरा पक्ष ग्रहण करनेपर तो सम्पूर्ण अवयवोंसे रीते पडे हुए देशमें अवयवीके ज्ञान होनेका प्रसंग होगा। अर्थात् अवयवोंका सर्वथा ज्ञान हुए विना ही जब अवयवीका ज्ञान होने लगेगा तो जहां घट, पट, आदिकका अंशमात्र भी नहीं है। वहां भी घट, पट, पर्वत, आदिकका ज्ञान हो जाना चाहिये। अवयवोंके विद्यमान रहनेकी या उनके ज्ञान होनेकी तो कोई आवश्यकता पडती नहीं है। तिस कारण आप जैनोंके यहां अवयवीकी स्पष्ट ज्ञानद्वारा प्रमिति नहीं हो सकती है। जिससे कि स्पष्ट ज्ञानसे जानागयापन हेतु वास्तविकरूपसे सिद्ध होवे। यानी अवयवीको वास्तविक सिद्ध करनेके लिये आप जैनोंसे कहा गया स्पष्टज्ञानवेद्यपना हेतु अवयवीमें न रहनेके कारण असिद्ध हेत्वाभास है। अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धोंका यह सब कहना भी लोकप्रसिद्ध प्रतीतियोंसे विरुद्ध पडता है। क्योंकि अतीव स्थूल, घट, पट, पर्वत, आदिक अर्थ अधिक स्पष्टपनेसे जाने जा रहे हैं, यह प्रतीति सब जीवोंको निश्चयसे हो रही है। जिस अवयवीका स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है, व्यर्थमें कोरे झूंठे विकल्प लगानेसे उसके बालाग्रका भी खण्डन नहीं हो सकता है। कोई दरिद्र पुरुष किसी श्रेष्ठीके द्रव्य कमानेका विकल्प उठाकर खण्डन करना चाहे कि मैं भी पुरुष हूं और सेठ भी पुरुष है। हम दोनोंके ही हाथ पांव विद्यमान हैं, इत्यादि कुतर्कोंसे उस भाग्यवान्‌के सेठपनेका खंडन नहीं हो जाता है। बाल गोपालोंको भी स्वतन्त्र अवयवीका स्पष्टरूपसे ज्ञान हो रहा है। ऐसी दशामें पक्षमें रहता हुआ हेतु अवयवीके वास्तविकपनेको सिद्ध कर ही देता है। लेज, या लाठीके एकदेशको खींचनेपर पूरे पिण्डका आकर्षण होता है। यदि अवयवीको न माना जावेगा तो रेत अथवा बालूके समान खण्डित टुकडोंके द्वारा पानी खींचना, बोझ लादना आदि कार्य नहीं हो पाते। किन्तु उक्त कार्य होते हैं। अतः भेद अथवा संघात या उभयसे उत्पन्न हुए स्थूल अवयवीका स्पष्टज्ञान होना प्रतीतिसिद्ध है।

भ्रान्तिरिन्द्रियजेयं चेत्स्थविष्ठाकारदर्शिनी ॥
क्वाभ्रान्तमिन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षमिति सिद्ध्यतु ॥ ९ ॥
प्रत्यासन्नेष्वयुक्तेषु परमाणुषु चेन्न ते ॥
कदाचित्कस्यचिद्बुद्धिगोचराः परमात्मवत् ॥ १० ॥

यहां बौद्ध यों कहें कि अधिक स्थूल आकारको दिखलानेवाली यह इन्द्रियजन्य ज्ञप्ति तो भ्रान्तिरूप है। जैसे कि अनेक धान्योंके समुदायको एक राशि मान लेना विपर्ययज्ञान है। इस

प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि इस ढंगसे भला इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भ्रान्तिरहित प्रत्यक्ष कहां सिद्ध होवेगा ? बताओ ! भावार्थ—आप बौद्धोंने भी प्रत्यक्षको अभ्रान्त स्वीकार किया है और बहिरंग इन्द्रियां स्थूलपदार्थोंका ही प्रत्यक्ष कराती हैं। ऐसी दशामें इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानोंमेंसे किसी एकको भी भ्रमरहितपना सिद्ध नहीं हो पाता है। बौद्धोंके मन्तव्यानुसार इन्द्रियजन्य सभी ज्ञान भ्रान्त हुए जाते हैं। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि जिसको तुम जैन या नैयायिक पण्डित भ्रान्तिवश अवयवी मान रहे हो, प्रमाणिक विद्वानोंको वहां परस्पर अतिनिकट रखे हुए किन्तु एक दूसरेसे संयुक्त नहीं ऐसे अनेक सूक्ष्म परमाणुओंमें इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अभ्रान्त प्रत्यक्ष हो जावेगा, यह उन बौद्धोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अतीन्द्रिय होनेके कारण परमशुद्ध आत्माका कभी किसीको जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान होना नहीं होता है, उसीके समान वे सूक्ष्म अतीन्द्रिय परमाणुएं भी कभी किसी भी जीवके इन्द्रियजन्य ज्ञानके विषय नहीं होते हैं। भावार्थ—बौद्धजन परमात्माको सर्वथा स्वीकार नहीं करते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा परमात्माका ज्ञान होना तो किसी भी वादीने इष्ट नहीं किया है। अतः परमात्माका दृष्टान्त देकर सूक्ष्म परमाणुओंमें भ्रान्तिरहित इन्द्रियज्ञान होनेका निषेध सिद्ध कर दिया है। अथवा ब्रह्माद्वैतवादियोंके परमब्रह्मका जैसे जैन या बौद्धोंको ज्ञान नहीं होता वैसे ही बौद्धोंकी मानी गयी परमाणुओंका भी ज्ञान होना नहीं बनता है।

सर्वदा सर्वथा सर्वस्येन्द्रियबुद्ध्यगोचरान् परमाणूनसंस्पृष्टान् स्वयमुपयंस्तत्रेन्द्रियजं प्रत्यक्षमभ्रान्तं कथं ब्रूयात्, यतस्तस्य स्थविष्ठाकारदर्शनं भ्रान्तं सिद्ध्येत्।

बौद्ध लोक परस्परमें भले प्रकार नहीं चुपटे हुए परमाणुओंको सदा सर्व प्रकारसे सभी जीवोंके इन्द्रियजन्य ज्ञानोंमें नहीं विषय होते हुए स्वयं स्वीकार करते हैं। ऐसा मन्तव्य कर चुकनेपर वे उन परमाणुओंमें इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए प्रत्यक्षज्ञानको भला अभ्रान्त कैसे कह सकेंगे ? जिससे कि उन बौद्धोंके यहां अत्यन्त स्थूल आकारवाले अवयवीका दीखना भ्रान्त सिद्ध हो जावे। अर्थात् माणिक रेती या रत्नराशिके समान परस्परमें नहीं भिडे हुए न्यारे न्यारे सूक्ष्म परमाणुओंका जब इन्द्रियोंसे ज्ञान ही नहीं होता है तो ऐसी दशामें उनसे माने गये परमाणुओंका भ्रम भिन्न प्रत्यक्षज्ञान भला कैसे हो सकेगा ? किन्तु यहां विपर्ययरहित समीचीन ज्ञान हो रहा है। अतः स्थूल आकारवाले एक अवयवीका प्रत्यक्ष प्रमाणसे दीखना बन जाता है। इसमें कोई भ्रान्ति नहीं है। हमारा हेतु निर्दोष होकर सिद्ध है।

कयाचित् प्रत्यासत्त्या तानिन्द्रियबुद्धिविषयानिच्छन् कथमवयविवेदनमपाकुर्वीत सर्वस्यावयव्यारम्भकपरमाणूनां कात्स्न्र्यतोऽन्यथा वा वेदनासिद्धेस्तद्वेदनपूर्वकावयविवेदनोपपत्तेः सहावयवावयविवेदनोपपत्तेर्वा नियमाभावात्।

आप बौद्ध किसी सम्बन्धविशेषसे उन परमाणुओंका इन्द्रियजन्य ज्ञानमें विषय पड जाना यदि इष्ट कर रहे हो तब तो स्थूल अवयवीके प्रत्यक्ष होनेका खंडन आप कैसे कर सकेंगे ? सभी वादियोंके यहां अवयवीको बनानेवाले परमाणुओंका सम्पूर्णरूपसे अथवा अनुमान द्वारा दूसरे प्रकारसे ज्ञान होना सिद्ध है। पहिले उन परमाणुरूप अवयवोंका ज्ञान करके पीछे अवयवीका ज्ञान होना बन जाता है, अथवा एक साथ भी अवयव और अवयवीका ज्ञान होना बन जाता है। कोई एकान्त रूपसे नियम नहीं है। अर्थात् इन्द्रियगोचर अवयवोंका ज्ञान होकर पीछे अवयवीका ज्ञान हो जाता है। जैसे कि तन्तुओंको देखकर पट (थान) का ज्ञान हो जाता है। तथा अवयव और अवयवीका दोनोंका ज्ञान एक साथ भी हो जाता है। जैसे पमोली और पौंडेका या बूंदी और लड्डुका एक साथ ज्ञान हो जाता है। स्याद्वादियोंने जैनसिद्धान्तमें अवयव और अवयवीके प्रत्यक्ष करनेमें नैयायिक या सांख्योंके समान कोई कुत्सित हठ नहीं पकड रखा है।

यदि पुनर्न परमाणवः कथंचित्कस्यचिदिन्द्रियबुद्धेर्गोचरा नाप्यवयवी। न च तत्रेन्द्रियजं प्रत्यक्षमभ्रान्तं सर्वमालम्बते, भ्रान्तमिति वचनात्। सर्वज्ञानानामनालम्बनत्वादिति मतिस्तदा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति वचोनर्थकमेव स्यात् कस्यचित्प्रत्यक्षस्याभावात्।

यदि फिर बौद्धोंका यह मन्तव्य हो कि परमाणुएं किसी भी प्रकार किसीके भी इन्द्रियजन्य ज्ञानके विषय नहीं हैं और अवयवी भी किसीके ज्ञानसे नहीं जाना जाता है। तथा उनमें उत्पन्न हुआ इन्द्रियजन्य भ्रान्ति रहित प्रत्यक्षज्ञान भी ठीक सभी विषयोंको आलम्बन नहीं करता है। क्योंकि बहिरंग विषयोंको जाननेवाले सम्पूर्ण ज्ञान भ्रान्त हैं ऐसा हमारे शास्त्रोंमें कहा है। सम्पूर्ण ज्ञान स्वको ही जानते हैं। विषयको नहीं। सभी ज्ञानोंका विषयभूत कोई आलम्बन कारण नहीं है, जिसको कि ज्ञानद्वारा जाना जाय, इस प्रकार योगाचार या वैभाषिकोंका विचार है। तब तो हम कहेंगे कि आप बौद्धोंने प्रत्यक्षका लक्षण कल्पनाओंसे रहित और भ्रान्तिरहित जो स्वीकार किया है वह वचन व्यर्थ ही हो जावेगा। क्योंकि आपके विचारानुसार तो किसी भी प्रत्यक्षज्ञानका होना सम्भव नहीं है। यानी सौत्रान्तिक बौद्धोंने बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य और मनसे जन्य तथा योगियोंका एवं स्वसंवेदन इस प्रकार चार प्रत्यक्ष माने हैं। किन्तु ये चारों ही अपने विषयोंको जानते हुए आलम्बनसहित हैं। सभी ज्ञानोंको यदि निर्विषय माना जावेगा तो कोई भी प्रत्यक्ष नहीं बन सकेगा।

स्वसंवेदनमेवैकं प्रत्यक्षं यदि तत्त्वतः।
सिद्धिरंशांशिरूपस्य चेतनस्य ततो न किम् ॥ ११ ॥

यदि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध अन्य प्रत्यक्षोंको न मानकर केवल स्वसंवेदनको ही वास्तविकरूपसे एक प्रत्यक्ष स्वीकार करेंगे, तब तो उस स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अंश और अंशीस्वरूप महान् (लम्बे चौडे) चेतन आत्माकी सिद्धी क्यों न हो जावेगी ? अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो स्थूल,

सांश, आत्माको सिद्ध कर देवेगा। प्रत्युत बौद्धोंके माने हुए परमाणुरूप विज्ञानकी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्धि न हो सकेगी।

यथेन्द्रियजस्य बहिःप्रत्यक्षस्य तत्त्वतोऽसद्भावस्तथा मानसस्य योगिज्ञानस्य च स्वरूपमात्रपर्यवसितत्वात्। ततः स्वसंवेदनमेकं प्रत्यक्षमिति चेत् सिद्धं तर्हि चेतनातत्त्वमंशांशिस्वरूपं स्वसंवेदनात्तस्यैव प्रतीयमानत्वात्। न हि सुखनीलाद्याभासांशा एव प्रतीयन्ते स्वशरीरव्यापिनः सुखादिसंवेदनस्य महतोऽनुभवात्। नीलाद्याभासस्य चेन्द्रनीलादेः प्रचयात्मनः प्रतिभासनात्।

बौद्ध कहते हैं कि जैसे चक्षुः आदि पांच इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए बहिरंग प्रत्यक्षकी परमार्थरूपसे सत्ता सिद्ध नहीं है, तिसी प्रकार अन्तरंग मन इन्द्रियसे उत्पन्न हुए मानस प्रत्यक्षकी और योगियोंके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षकी भी सत्ताको हम नहीं मानते हैं। कोई भी बहिरंग ज्ञेय पदार्थ वस्तुभूत नहीं है, केवल विज्ञान परमाणुएं ही परमार्थस्वरूप हैं। सभी ज्ञान केवल अपने स्वरूपको जाननेमें ही लवलीन (टकटकी लगाये रखना) रहते हैं, तिस कारण हम योगाचार केवल स्वको जाननेवाले एक स्वसंवेदनको ही प्रत्यक्ष मानते हैं। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो अंश और अंशीस्वरूप चेतना (ज्ञान) तत्त्व सिद्ध हो जाता है। क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे तो उस धर्म धर्मीरूप चेतनकी ही प्रतीति की जारही है, अन्तरंग सुख, इच्छा, आदिको और बहिरंग नील, पीत आदिको प्रकाश करनेवाले केवल अंश ही नहीं प्रतीत हो रहे हैं। किन्तु साथमें अपने शरीर (डील) में व्यापक रूपसे रहनेवाले महान् (लम्बे, चौडे, मोटे,) सुख आदि अंशीके संवेदनका भी अनुभव होरहा है, तथा इन्द्रनील मणि, माणिक्य, आदिके अनेक प्रदेशोंका समुदायरूप नील, रक्त, आदि प्रकाशोंका प्रतिभास हो रहा है। भावार्थ—नील, लाल, आदिको जाननेवाले ज्ञानोंमें अंशोंके समान लम्बे चौडे अंशीरूप ज्ञानप्रकाशका भी अनुभव हो रहा है। अतः बहिरंग और अन्तरंग पदार्थोंके ज्ञानोंमें अंशीपना भी स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जान लिया गया मान लेना चाहिये।

विज्ञानप्रचयोऽप्येष भ्रान्तश्चेत् किमविभ्रमम्।
स्वसंवेदनमध्यक्षं ज्ञानाणोरप्रवेदनात् ॥ १२ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि यह विज्ञानोंका प्रदेशसमुदायरूप महान् प्रकाश भी भ्रान्तरूप है। अर्थात् घट, पट, आत्मा, आदिक पदार्थोंका महान्पना जैसे कोरा कल्पित है वास्तविक नहीं, तैसे ही विज्ञानके प्रकाशका महान्पना भी भ्रान्त है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि बताओ! कौनसा तुम्हारा माना हुआ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भला प्रमाणरूप अभ्रान्तसिद्ध होगा ? सभी स्वसंवेदन तो अंश अंशीरूप होकर अनुभूत हो रहे हैं। कहीं भी प्रमाणज्ञानके प्रसिद्ध होनेपर दूसरे स्थलमें वस्तुके नहीं होते सन्ते भ्रान्तज्ञान होता हुआ माना जाता है। सर्वत्र भ्रान्ति होनेपर

तो प्रमाणकी व्यवस्था नहीं बनती है। बौद्धोंसे माने गये ज्ञानस्वरूप सूक्ष्म परमाणुओंका ज्ञान तो होता नहीं है। ऐसी दशामें आप स्वसंवेदनको और उससे जानने योग्य विज्ञानको वस्तुभूत कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? सोचिये।

न हि स्वसंविदि प्रतिभासमानस्य विज्ञानप्रचयस्य भ्रान्ततायां किञ्चित्स्वसंवेदनमभ्रान्तं नाम यतस्तदेव प्रत्यक्षं सिद्ध्येत्, विज्ञानपरमाणोः संवेदनं तदिति चेत् न, तस्य सर्वदाप्यप्रवेदनात्। सर्वस्य ग्राह्यग्राहकात्मनः संवेदनस्य सिद्धेः।

स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें स्पष्टरूपसे प्रतिभास रहे अंशीरूप विज्ञान समुदायको भ्रान्त माना जावेगा। तब तो ऐसे अन्धेरमें कोई भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भला भ्रान्तिरहित प्रमाणात्मक कैसे भी नहीं माना जा सकता है। जिससे कि योगाचारसे माना गया वह स्वसंवेदन ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध हो सके। यहांपर बौद्ध यदि यों कहें कि क्षणिक विज्ञानके परमाणुका भले प्रकार स्वकीय ज्ञान होना ही वह स्वसंवेदनप्रत्यक्ष है। सो यह तो न कहना। क्योंकि उस विज्ञानके परमाणुका सब कालोंमें भी भली भांति ज्ञान नहीं होता है। सभी जीवोंके यहां ग्राह्य और ग्राहकरूप संवेदनकी सिद्धि हो रही है। भावार्थ—प्रत्येक ज्ञान अपने ग्राह्य स्वरूपके ग्राहक हैं। ग्राह्य अंश और ग्राहक अंशोंका समुदायरूप अंशी ज्ञान है। दीपकमें प्रकाश्यपना और प्रकाशकपना दोनों अंश विद्यमान हैं। नाव स्वयं तैरती है तथा उसमें बैठे हुए अन्य जीवोंको भी तारती है। पाचक चूर्ण स्वयं पचता है और अन्य भुक्त पदार्थको भी पचाता है। निर्मली या फिटकिरी पानीमें स्वयं नीचे बैठती है और मलको भी नीचे बैठा देती है। उक्त पदार्थोंमें दोनों शक्तियां विद्यमान हैं। तैसे ही ज्ञानमें भी ज्ञापकपने और ज्ञेयपनेके दो स्वभाव विद्यमान हैं। यह सिद्धान्त सभी वादियोंको परिशेषमें स्वीकार करना पड़ता है।

स्यान्मतं, न बुद्ध्या कश्चिदनुभाव्यो भिन्नकालोऽस्ति सुप्रसिद्धभिन्नकालाननुभाव्यवत्। तस्य हेतुत्वेनाप्यनुभाव्यत्वसाधने नयनादिनानेकान्तात्। स्वाकारार्पणक्षमेणापि तेन तत्साधने समानार्थसमनन्तरप्रत्ययेन व्यभिचारात् तेनाध्यवसायसहितेनापि तत्साधने भ्रान्तज्ञानसमनन्तरप्रत्ययेनानेकान्तात्। तत्त्वतः कस्यचित्कारणत्वाद्यसिद्धेश्च।

इस प्रकरणमें शुद्ध ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंका सौत्रान्तिक बौद्धों द्वारा माने गये द्वैतवाद या ज्ञान ज्ञेयव्यवस्थाके खण्डनार्थ सम्भवतः यह मन्तव्य भी होवे कि उत्तरक्षणमें ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला पूर्वक्षणवर्ती भिन्न कालमें रहनेवाला कोई भी पदार्थ बुद्धिके द्वारा अनुभव करने योग्य नहीं है। जैसे कि भले प्रकार प्रसिद्ध हो रहे चिरतर भूत, या भविष्यत् यों भिन्न कालोंमें रहनेवाले पदार्थ वर्तमान बुद्धिके ज्ञेय नहीं हैं, तैसे ही अव्यवहित पूर्वसमयमें रहनेवाला जनक पदार्थ भी बुद्धिका ज्ञेय नहीं है। बुद्धि स्वयं बुद्धिको ही जानती रहती है, अन्यको नहीं। यदि उस पूर्व समयवर्ती विषयको बुद्धिका कारणपना होनेसे भी उसके द्वारा ज्ञेयपना साधोगे तो चक्षुः, पुण्य, पाप, आदिसे व्यभिचार दोष

हो जावेगा। क्योंकि चक्षु, पुण्य, पाप, ये विज्ञानके कारण हैं, किन्तु इनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान तो अतीन्द्रिय चक्षुः और कर्मोंके क्षयोपशमको नहीं जान पाता है। अतः ज्ञानका कारणभूत विषय तज्जन्यज्ञानसे जाना ही जाय यह व्याप्ति बनाना अच्छा नहीं है। इस दोषको दूर करनेके लिये तज्जन्मपनेके साथ अपने आकारको देनेमें समर्थपनेसे ज्ञेयपना यदि सौत्रान्तिकों द्वारा माना जावेगा। अर्थात् इन्द्रियां और अदृष्टज्ञानके जनक अवश्य हैं, किन्तु ज्ञानमें अपने आकारोंका समर्पण नहीं करते हैं। अतः ज्ञान इनको नहीं जानता है। घट, पट, आदिक विषय तो अपने आकारोंको ज्ञानके लिये अर्पण कर देते हैं, अतः ज्ञान उन घट आदिकोंको जान लेता है। इस प्रकार अपने आकारको सौंप देनेकी उस सामर्थ्यसे भी वह अनुमाप्यपना यदि साधा जावेगा तो भी समान अर्थके अव्यवहित उत्तर कालवर्ती ज्ञानसे व्यभिचार हो जावेगा। भावार्थ—एक सांचेमें ढले हुए घट, कटोरा या एकसी मुद्रित पुस्तकें अथवा रुपये, पैसे आदि इनमेंसे एकको देख लेनेपर बची हुयी सभी एक जातिकी समान वस्तुओंका प्रत्यक्षज्ञान हो जाना चाहिये। कारण कि सदृश अर्थके उत्तरक्षणवर्ती-ज्ञानमें परिशिष्ट पदार्थोंके भी आकारोंका अर्पण हो गया है। सन्मुख रखे हुए घटको जाननेवाले घटज्ञानमें प्रकृत घटने अपना आकार दे दिया है। यद्यपि बचे हुए देशान्तर कालान्तर-वर्ती अन्य सदृश घडोंने अपना आकार स्वकीय उन्मुखतासे इस ज्ञानको अर्पित नहीं किया है तो भी सर्वथा समान पदार्थोंका प्रतिबिम्ब एकसा ही होता है। जब कि ज्ञानमें समान आकार आ चुका है। तो परिशिष्ट पदार्थोंको जाननेमें क्यों आनाकानी की जा रही है? दूसरी बात यह है कि पहिले ज्ञानमें भले ही बचे हुये सदृश पदार्थोंका आकार न आया हो किन्तु पहिले ज्ञानके उत्तरका-लमें उत्पन्न हुआ ज्ञान जैसे प्रकृत घटको आकारके बलसे जानता है, उसी प्रकार आकार देनेकी सामर्थ्य होनेके कारण परिशिष्ट पदार्थोंको भी क्यों न जान लेवें? उत्तरवर्ती ज्ञानमें प्रकृत घट और समान घटोंका आकार बडी सुलभतासे आ जाता है। जैसे कि एक प्रतिबिम्ब (तस्वीर) से दूसरी तस्वीर उतारनेपर सदृशोंका आकार आ जाना अनिवार्य है। अतः तज्जन्यत्वके समान तदा-कारता भी ज्ञेयपनेकी नियामक नहीं है। अकेले तज्जन्यत्वका इन्द्रिय, अदृष्ट आदिसे व्यभिचार है तथा अकेले तदाकारपनेका समान अर्थोंसे व्यभिचार है। यानी घटका ज्ञान अनेक समान घटोंको भी जान लेवे, किन्तु चक्षु द्वारा जानता नहीं है। तथा तज्जन्यत्व और तदाकारता इन दोनोंको मिलाकर यदि ज्ञेयपनेका नियम करानेवाला माना जावेगा तो समान अर्थके अव्यवहित उत्तरवर्ती ज्ञानसे व्यभिचार होगा। समनन्तरज्ञान परम्परा करके सदृश पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ भी है और सदृश पदार्थोंके आकार (तस्वीर) को भी धारण करता है, तो फिर प्रकृत अर्थोंको क्यों नहीं जानता है? बताओ। जिस ज्ञानका उपादान कारण घटज्ञान है वह सदृशघटके अव्यवहित उत्तर-कालवर्ती ज्ञानको सानन्द जान लेवे, तदाकारता तदुत्पत्ति दोनों घटजाते हैं, किन्तु जानता तो नहीं यह व्यभिचार हुआ, इन दोषोंके निवारणार्थ यदि तज्जन्यत्व और तदाकारता इन दोनोंको उस

तदध्यवसायसे सहित करके वह ज्ञेयपनेका नियामकपना साधा जावेगा। अर्थात् विषयसे जन्य और विषयके आकारवाले निर्विकल्पक ज्ञानके उत्तरकालमें जिस विषयका निर्णयात्मक विकल्पकज्ञान उत्पन्न हो जायगा उसी विषयको निर्विकल्पकज्ञान जान सकेगा। समान अर्थके उत्तर समयवर्ती ज्ञानके पीछे परिशिष्ट सदृश पदार्थोंका या उसके ज्ञानका अध्यवसाय करनेवाला विकल्पज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ है। अतः वह सभी सदृश पदार्थों या ज्ञानको नहीं जान पाता है, इस प्रकार उक्त व्यभिचारोंका वारण हो जाता है। फिर भी भ्रान्त ज्ञानके अव्यवहित उत्तर समयवर्तीज्ञानसे व्यभिचार हो ही जावेगा। कामल या पीलिया रोगवाले पुरुषको शुक्ल शंखमें पैदा हुए पीलेपनके भ्रमज्ञानके पीछे उत्पन्न हुए उत्तरवर्तीज्ञानसे व्यभिचार है। वह ज्ञान शंखसे उत्पन्न हुआ है, शंखके आकारको भी लेता है और शंखका अध्यवसाय (निर्णय) करानेवाला भी है। उत्तरज्ञानमें पूर्वका-लवर्ती भ्रान्तज्ञानका आकार पड गया है। और उत्तरवर्तीज्ञान उस पूर्ववर्ती भ्रान्तज्ञानको उपादान कारण मानकर उत्पन्न हुआ भी है। फिर उस भ्रमज्ञानसे शंखकी या उसके ज्ञानकी समीचीन ज्ञप्ति क्यों न मानी जावे, किन्तु शंखकी प्रमिति होती हुयी नहीं मानी गयी है। अतः सिद्ध होता है कि तज्जन्यपना, तदाकारपना और तदध्यवसायीपन ये तीनों मिलकर भी बुद्धिके द्वारा अनुभाव्यपनेका नियम नहीं करा सकते हैं। शुद्ध ज्ञानाद्वैतका पक्ष लेते हुये योगाचार बौद्ध कह रहे हैं कि वास्तवमें विचारा जाय तो एक बात यह भी है कि किसी भी क्षणिक परमाणुरूप विज्ञानको उस बुद्धिका कारणपना, आकार देनापना और निर्णय करानापन आदि ये सब धर्म असिद्ध हैं। अतः विषयवि-षयीभाव वास्तविक नहीं है। केवल बुद्धि (विज्ञान) ही एक पदार्थ है। यहां सौत्रान्तिकोंके ऊपर जो दोष जैनोंकी ओरसे उठाये जाते हैं, योगाचार या शुद्धज्ञानाद्वैतवादी वैभाषिक भी उन्हीं दोषोंको ज्ञान ज्ञेय व्यवस्था माननेवाले सौत्रान्तिकोंके ऊपर उठा रहे हैं।

नापि समानकालस्तस्य स्वतन्त्रत्वात्, योग्यताविशेषस्यापि तद्व्यतिरिक्तस्यासम्भवात् तस्याप्यनुभाव्यत्वासिद्धेः, परेण योग्यताविशेषेणानुभाव्यत्वेनवस्थानात्, प्रकारान्तरा-सम्भवाच्च।

अभी विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ही अपना मत कह रहे हैं कि बुद्धिके आगे पीछे रहनेवाले भिन्न कालीन पदार्थ उस बुद्धिके द्वारा अनुभव कराने योग्य नहीं हैं। इसका विचार हो चुका। अब बुद्धिके समानकालमें रहनेवाला पदार्थ भी बुद्धिका अनुभाव्य नहीं है, इसका हम योगाचार बौद्ध खण्डन करते हैं। सौत्रान्तिकोंने विषयको ज्ञानका कारण मानते हुए ज्ञेय और ज्ञानका पूर्वापर-भाव माना है, समानकालमें रहनेवाले दोनों पदार्थ अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न होकर वर्तमानमें स्वतन्त्र हैं ऐसी दशामें किसको विषयरूप कारण कहा जाय और किसको विषयीरूप कार्य कहा जाय ? कार्यको करते समय एक (कारण) स्वतन्त्र होय और दूसरा (कार्य) परतन्त्र होय तब कार्यकारण भाव माना गया है। सौत्रान्तिकोंने ज्ञाप्यज्ञापकभावमें भी यही व्यवस्था मानी है।

किन्तु स्वतन्त्र दोनोंके एक कालमें विद्यमान होनेपर अनुभाव्य अनुभावकभाव नहीं बन सकता है। यदि समानकालवाले पदार्थोंमें भी किसी दूसरे योग्यता विशेषसे अनुभाव्यपना माना जावेगा तो उस योग्यता विशेषका भी उस शुद्धज्ञानसे अतिरिक्त होरहेका असम्भव है। अतः उस योग्यताविशेषको भी अनुभाव्यपना असिद्ध है। यदि इस योग्यताविशेषको दूसरे योग्यताविशेषसे अनुभाव्यपना माना जावेगा तब तो अनवस्था दोष होगा। अर्थात् बुद्धिमें ही अनुभावकपनेकी योग्यता है, विषयमें नहीं। और विषयमें अनुभाव्यपनेकी योग्यता है, बुद्धिमें नहीं। इसके नियम करानेके लिये पुनः दूसरी योग्यताकी आवश्यकता पडेगी, इसी प्रकार दूसरी योग्यताकी व्यवस्था करनेके लिये तीसरी विशेषयोग्यताकी आकांक्षा बढती जावेगी। यह अनवस्थादोष हुआ और दूसरे प्रकारोंकी शरण लेना यहां संभव भी नहीं है। विशेष यह है कि हम शुद्धाद्वैतवादियोंके यहां जब बुद्धिसे अतिरिक्त कोई भिन्नकाल या समकालमें रहनेवाला पदार्थ ही नहीं माना गया है तो बुद्धिसे निराला अनुभव कराने योग्य भला कौन हो सकता है? अतः उस योग्यताविशेषकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

नापि बुद्धेर्ग्राहकत्वेन परोऽनुभवोऽस्ति सर्वथानुभाव्यवदनुभावकस्यासम्भवे तदघटनात्। ततो बुद्धिरेव स्वयं प्रकाशते ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्। तदुक्तं—" नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्यानानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते " इति। अत्रोच्यते।

बुद्धिका ग्राहकपनेसे अतिरिक्त कोई दूसरा अनुभव भी तो नहीं है। सभी प्रकारोंसे अनुभाव्य पदार्थके समान अनुभव करनेवाले ज्ञानके असम्भव होजानेपर वह अनुभव होता नहीं घटता है। अर्थात् दो पदार्थ होवें तब तो एक अनुभाव्य और दूसरा अनुभावक माना जावे। किन्तु अकेले शुद्ध ज्ञान माननेपर अनुभावक द्वारा अनुभाव्यका अनुभव होता है इस प्रकार करण, कर्म और क्रिया इन तीनोंका विवेचन असम्भव है। तिस कारण अकेली शुद्धबुद्धि ही स्वयं प्रकाशमान होती रहती है कारण कि वह ग्राह्यपने और ग्राहकपनेसे रहित है। जैनोंसे माने गये ज्ञानमें ग्राह्य अंश और ग्राहक अंश हमको तो इष्ट नहीं है। सो ही हमारे यहां कहा है कि बुद्धिके द्वारा कोई उससे भिन्न पदार्थ अनुभव कराने योग्य नहीं है, तथा बुद्धिसे भिन्न उसका फल कोई अनुभव भी नहीं है। ग्राह्यभाव और ग्राहकभावोंसे सर्वथा खाली होनेके कारण वह बुद्धि स्वयं ही अकेली चमकती रहती है। मूलग्रन्थमें बुद्धिका विशेषण ग्राह्यग्राहकविवेक है। यहां विवेक शब्द विचारने अर्थमें प्रसिद्ध विचृल् धातुसे बनाया जाता है। तब तो जैनोंके समान सौत्रान्तिक पण्डित बुद्धिमें ग्राह्यग्राहक अंशोंको स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु पृथग्भाव अर्थको कहनेवाली विचिर् धातुसे विवेकशब्दको बनाकर वैभाषिक बौद्ध बुद्धिमें ग्राह्य, ग्राहक अंशोंका अभाव मान लेते हैं। कामधेनु वेदके समान अनेकार्थक वाक्योंसे अपने अपने मनमाने अर्थ निकाले जा रहे हैं। जो कि हिंसा, अहिंसा, सर्वज्ञ, सर्वज्ञाभाव, पौरुषेय अपौरुषेय आदिके समान परस्परमें विरुद्ध हैं। इस प्रकार स्याद्वादसे आगे प्रारम्भकर अपनी

ग्रन्थोक्त कारिका पर्यन्त शुद्ध विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध अपना मन्तव्य कह चुके हैं। ऐसा साटोप कटाक्ष कर चुकने पर अब यहां आचार्य महाराज करके ज्ञानको सांश सिद्ध करनेके लिये प्रकरण कहा जाता है।

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सा न प्रकाशते ॥ १३ ॥

बौद्धोंकी कारिकामेंसे ही एव के स्थानमें न को धरके एक अक्षरका परिवर्तन कर आचार्य महाराज बौद्धमतके निरासार्थ वार्तिक कहते हैं कि बुद्धिके द्वारा कोई ज्ञेयरूप अनुमाव्य नहीं है और बुद्धिका कोई न्यारा अनुभवरूपी फल नहीं है। ऐसी दशामें ग्राह्यग्राहक भावोंसे रिक्त होनेके कारण वह बुद्धि स्वयं कभी प्रकाशमान नहीं हो रही है, किन्तु तीनों अंशोंसे तदात्मक होती हुयी बुद्धि सदा चकचका रही है। प्रदीपको यदि डिब्बीमें भी बन्द कर दिया जाय तो भी उसमें प्रकाश्यपना और प्रकाशकपना विद्यमान है। बुद्धि अपने पतिपुत्र समान ग्राहक, ग्राह्य, अंशोंसे युक्त होरही सदा सुहागिन है। आजतक किसीको भी ग्राह्य, ग्राहक, गृहीति, अंशोंसे रहित बुद्धिका प्रतिभास नहीं हुआ है। अतः बुद्धि (ग्राहिका) के द्वारा अनुभाव्य (ग्राह्य) का प्रकाश (गृहीति) होना मान लेना चाहिये। अनुभवसिद्ध पदार्थोंका अपलाप करना न्याय्य नहीं है। सारांश यह है कि बुद्धिसे जानने योग्य पदार्थ निराला है। उसका अनुभव भी बुद्धिसे कथंचित् भिन्न हो रहा है। ग्राह्य ग्राहक स्वभावोंसे सहित बुद्धि सदा प्रकाशित हो रही है।

न हि बुद्ध्यान्योऽनुभाव्यो नास्ति सन्तानान्तरस्यानुभाव्यत्वानुषंगात्। कुतश्चिदव्यवस्थितेरयोगात्। तदुपगमे च कुतः स्वसन्तानसिद्धिः? पूर्वोत्तरक्षणानां भावतोऽननुभाव्यत्वात्।

बुद्धिके द्वारा कोई अन्य विषय अनुभव कराने योग्य नहीं है यह नहीं कहना। क्योंकि अपनी सन्तानसे अतिरिक्त दूसरी देवदत्त, जिनदत्त, आदिकी सन्तानोंको अनुभवमें नहीं प्राप्त होनेपनका प्रसंग हो जावेगा। बुद्धिके अतिरिक्त किसी भी अन्य उपायसे दूसरे सन्तानोंकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। बुद्धिके द्वारा अन्य सन्तानोंको नहीं जानने योग्यपनको यदि स्वीकार कर लोगे तो बताओ अपनी सन्तानकी सिद्धि भी कैसे करोगे? क्योंकि अन्य सन्तानोंके समान अपनी सन्तानके आगे पीछे होनेवाले क्षणिक परिणामोंको भी वास्तविकरूपसे अनुभाव्यपना नहीं आता है। अर्थात् बौद्धमतमें क्षणिक बुद्धि अपने एक क्षणके परिणामरूप होती हुयी चमकती रहती है। वह अपने पहिले और पीछेके अनेक परिणामोंको प्रकाशित नहीं करती है। अतः बुद्धिके द्वारा ज्ञेय नहीं होनेके कारण अन्य सन्तानोंका जैसे अभाव कर दिया जाता है तैसे ही अपनी सन्तानका भी अभाव हो जावेगा, केवल एक समयका क्षणवर्ती परिणाम ही सिद्ध हो सकेगा। चालिनी न्यायसे उसका भी अभाव अनिवार्य है। देवदत्त यदि जिनदत्तकी सन्तानका अभाव मानता है तो जिनदत्त भी देवदत्तकी सन्तानको नहीं जानता है, इस प्रकार शून्यवाद छा जावेगा। दूसरोंकी सन्तानको मेटनेवाला स्वयं

भी तो जीवित नहीं रह सकता है अन्योंकी अपेक्षा वह भी दूसरा है । सार्वजनिक ज्ञानमें अन्यायी राजाके समान पक्षपात चलाना समुचित नहीं है । देवदत्त कोई विशिष्ट ज्योतिःपिण्डमेंसे थोडा ही निकला है जिससे वही अकेला जगत्में बना रहे ।

स्यादाकूतं यथा वर्तमानबुद्धिः स्वरूपमेव वेदयते न पूर्वामुत्तरां वा बुद्धिं सन्तानान्तरं बहिरर्थं वा । तथातीतानागता च बुद्धिस्ततः स्वसंविदितः स्वसंतानः स्वसंविदितक्रमवर्त्यनेकबुद्धिक्षणात्मकत्वादिति । तदसत् । वर्तमानया बुद्ध्या पूर्वोत्तरबुद्ध्यसंवेदनात्, स्वरूपमात्रवेदित्वानिश्चयात् । ते चानुमानबुद्ध्या वेद्येते । स्वरूपमात्रवेदिन्याविल्यप्यसारम्, सन्तानान्तरसिद्धिप्रसंगात् । तथा च सन्तानान्तरं स्वसन्तानश्चानुमानबुद्ध्यानुभाव्यौ न पुनर्बहिरर्थ इति कुतो विभागः सर्वथा विशेषाभावात् ।

सम्भव है, इस खंडनका प्रतिखंडन करनेके लिये बौद्धोंकी यह भी अकाण्ड चेष्टा होवे कि जैसे वर्तमानकालमें होनेवाली बुद्धि अपने स्वरूपका ही ज्ञान कराती है पहिले और पीछे होनेवाले अपने बुद्धिरूप परिणामोंका तथा जिनदत्त, इन्द्रदत्त, आदि अन्य सन्तानोंका अथवा घट, पट, नील, पीत, आदि बहिरंग अर्थोंका ज्ञान नहीं कराती है । क्योंकि ज्ञेय पदार्थोंके कालमें ज्ञान नहीं उपज पाया और ज्ञानकालमें ज्ञेय नहीं रहे । तिस प्रकार भूत, भविष्यत, कालमें परिणत हो रहे बुद्धिके क्षणिक परिणाम भी अपने अपने क्षणवर्त्ती स्वरूपको ही जान पाते हैं । तिस कारण अपनी लम्बी चौडी ज्ञानधारारूप सन्तान तो स्वसंवेदनसे जानने योग्य है । क्योंकि वह सन्तान स्वसंवेदनसे जान लिये गये और क्रम क्रमसे होनेवाले बुद्धिके क्षणिक परिणामोंका समुदायरूप है । अतः अपनी लम्बी ज्ञानधारा तो बुद्धिसे अनुभाव्य मान ली जाती है, इस प्रकार बौद्ध अपने सन्तानकी सिद्धि करते हैं । आचार्य समझाते हैं कि उनका वह चेष्टित प्रशंसनीय नहीं है । कारण कि वर्तमान समयकी बुद्धिके द्वारा आगे पीछे होनेवाले बुद्धिक्षणोंका ज्ञान नहीं हो पाता है, तब तो वे बुद्धिके पूर्वसमयवर्त्ती या उत्तरसमयवर्त्ती परिणाम स्वको ही जानते हैं, बहिरंग विषयोंको नहीं जानते हैं, इसका पता नहीं चला । अतः केवल स्वरूपको ही जाननेवालेपनका निश्चय नहीं हुआ । ऐसी दशामें अपनी सन्तान (क्षणोंकी लम्बी डोरी) भला स्वसंवेदनसे जानने योग्य कैसे मानी जा सकती है ? केवल एक क्षणवर्ती बुद्धि क्षणका ज्ञान तो सन्तानका स्वसंवेदन नहीं हो सकता है, तथा इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि अनुमानस्वरूप बुद्धि करके उन आगे पीछे होनेवाले बुद्धिक्षणोंका ज्ञान कर लिया जावेगा और वे (क्षणिकबुद्धियां) केवल अपने स्वरूपको जान रहे भी हैं, यह भी बौद्धोंका कहना निस्सार है । क्योंकि यों तो स्वसन्तानके समान अन्य सन्तानोंकी भी सिद्धि हो जानेका प्रसंग होगा और नील, पीत, आदि बहिरर्थोंकी सिद्धि हो जाना भी क्यों छोड दिया जावेगा ? और तिस प्रकार अनुमान ज्ञानोंसे अन्य सन्तान और स्वसन्तानको अनुभव कराने योग्य मान लिया जाय, किन्तु फिर बहिरंग अर्थको ज्ञेय न माना जाय इस प्रकार पक्षपातपूर्ण विभाग कैसे किया जा सकता है ? सभी प्रकारोंसे

स्वसन्तान और परसन्तान तथा बहिरंग अर्थोंमें अनुमानसे जानने योग्यपनकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है।

विवादापन्ना बहिरर्थबुद्धिरनालम्बना बुद्धित्वात् स्वप्नादिबुद्धिवदित्यनुमानाद्बहिरर्थोननुभाव्यो बुद्ध्या सिद्ध्यति न पुनः सन्तानान्तरं स्वसन्तानश्चेति न बुध्यामहे, स्वप्नसन्तानान्तरस्वसन्तानबुद्धेरनालम्बनत्वदर्शनादन्यत्रापि तथात्वसाधनस्य कर्तुं शक्यत्वात्। बहिरर्थग्राह्यतादूषणस्य च सन्तानान्तरग्राह्यतायां समानत्वात् तस्यास्तत्र कथञ्चिददूषणत्वे बहिरर्थग्राह्यतायामप्यदूषणत्वात्। कथं ततस्तत्प्रतिक्षेप इत्यस्त्येव बुध्यानुभाव्यः।

बौद्ध जन अपनी सन्तानको सिद्ध करनेके लिये " अपना जीवन चाहते हो तो दूसरेका जीवन स्थिर रखो " इस न्यायसे दूसरोंकी ज्ञानसन्तानको तो इष्ट कर लेते हैं, किन्तु घट, पट, आदिक बहिरंग अर्थोंको नहीं मानते हुए अनुमान करते हैं कि " विवादमें प्राप्त हुयीं बहिरंग अर्थोंको जाननेवाली बुद्धि (पक्ष) अपने जानने योग्य विषयरूप आलम्बनसे रहित है (साध्य), क्योंकि वह बुद्धि है (हेतु), जैसे कि स्वप्न अवस्था, नशेकी दशा, उन्मत्तपनेमें हुयीं बुद्धियां अपने विषयभूत अर्थोंसे रहित हैं। इस अनुमानसे बहिरंग अर्थ तो बुद्धिके द्वारा नहीं अनुभवमें आने योग्य सिद्ध कर दिया जाता है। किन्तु दूसरे सन्तान और अपनी आगे पीछे समयोंमें वर्तनेवाली सन्तानको जाननेवाली बुद्धियां आलम्बनरहित नहीं सिद्ध की जा रही हैं। हम नहीं समझते हैं कि ऐसी पक्षपातकी कृतिमें क्या रहस्य है। स्वप्नका दृष्टान्त लेकर वास्तविक घट, पट, नील, आदिकके ज्ञानको यदि निर्विषय मान लिया जाता है तो स्वप्न, मद्यपान, कठिन रोग, आदिकी अवस्थामें नहीं विद्यमान हो रहे अन्य सन्तान और स्वसन्तानको जाननेवाली बुद्धियोंका निर्विषयपना दीखनेसे अन्य जागृत, स्वस्थ आदि अवस्थाओंमें हुए वस्तुभूत स्वपरसन्तानोंके ज्ञानको भी तिस प्रकार निर्विषयपना साधा जा सकता है। दृष्टान्त तो सभी प्रकारके मिल जाते हैं किन्तु उनके धर्म दार्ष्टान्तिकमें घटें तब तो तदनुसार सिद्धि की जा सके अन्यथा नहीं। भ्रान्तज्ञानका दृष्टान्त देकर अभ्रान्त ज्ञानके विषयको न स्वीकार करना प्रामाणिकपना नहीं है। दूसरी बात यह है कि बहिरंग अर्थके ग्राह्यपनेमें जो दूषण आपकी ओरसे दिये जावेंगे वे ही दूषण सन्तानान्तरके ग्राह्यपनेमें भी समानरूपसे लागू हो जावेंगे। आप बौद्धोंकी मानी हुयी क्षणिक बुद्धि केवल अपने स्वरूपको ही जानती है, बहिरर्थको नहीं। अतः बहिरर्थका ग्राह्यपना यदि दूषण है तो वह सन्तानान्तरके ग्राह्यपनेमें भी उसी प्रकार लगेगा। अपनी बुद्धिकी अपेक्षा सन्तानान्तर भी तो बहिर्भूत अर्थ है। यदि उस सन्तानान्तरके ग्राह्यपनेमें उस बहिरर्थकी ग्राह्यताको किसी इष्ट कारण वश कैसे भी दूषण न मानोगे तो बहिरर्थकी ग्राह्यतामें भी बुद्धिसे बहिर्भूत अर्थका जान लेनापन दूषण न होगा। तब तो उन नील परमाणु आदि बहिर्भूत अर्थोंका निराकरण आप कैसे कर सकेंगे ? अर्थात् नहीं। इस प्रकार बुद्धिके द्वारा सन्तानान्तर या बहिर्भूत अर्थ अवश्य अनुभव कराने योग्य है ही। बौद्धोंकी कही हुयी कारिकाके

" नान्योनुभाव्यो बुध्यास्ति " इस प्रथम पादका खण्डन हो चुका। अब द्वितीय, तृतीय पाद, का निरास करते हैं। —

एतेन बुद्धेर्बुध्यन्तरेणानुभवोऽपि परोस्तीति निश्चितं ततो न ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं बुद्धिरेव प्रकाशते।

इस पूर्वोक्त कथनसे यह भी निर्णीत हो चुका कि दूसरी बुद्धिसे प्रकृत बुद्धिका अनुभव भी निराला हो जाता है। स्वयं बुद्धिसे अपना अनुभव भी कथंचित् भिन्न है, जैसे कि वह्निकी दाहकत्व शक्तिसे दाहपरिणाम कथंचित् भिन्न है। उसी प्रकार करणस्वरूप बुद्धिसे भावरूप अनुभव किसी अपेक्षा भिन्न है। तिस कारण ग्राह्य और ग्राहक अंशोंसे रीतापने स्वरूपसे स्वयं बुद्धि ही प्रकाश रही है, यह न मानना। निष्कर्ष यह है कि विषयके साथ बुद्धि स्वयं अपनेको भी उसी समय जान लेती है। अतः संवेद्य, संवेदक, और संवेदन तीनों अंश युगपत् बुद्धिमें हैं। किन्तु चलाकर इच्छा होनेपर दूसरी बुद्धिसे प्रकृत बुद्धिको जाननेकी दशामें बुद्धिका अनुभव भिन्न होकर भी स्पष्ट प्रकाशित हो जाता है। यहां ग्राह्य, ग्राहक, अंशोंसे सहितपना भी स्पष्टरूपसे दीख रहा है।

मा भूत् सन्तानान्तरस्य स्वसन्तानस्य वा व्यवस्थितिर्बहिरर्थवत्संवेदनाद्वैतस्य ग्राह्यग्राहकाकारविवेकेन स्वयं प्रकाशनादित्यपरः। तस्यापि सन्तानान्तराद्यभावोऽनुभाव्यः, संवेदनस्य स्यादन्यथा तस्याद्वयस्याप्रसिद्धेः।

शुद्धसंवेदनाद्वैतवादी वैभाषिक बौद्ध कहते हैं कि बहिरंग अर्थके समान अन्य सन्तानोंकी और अपने सन्तानोंकी भी व्यवस्था भले ही नहीं होवे हमको इष्ट है। क्योंकि ग्राह्य, ग्राहक, आकारोंसे पृथग्भाव करके अकेले संवेदनाद्वैतका स्वयं प्रकाश हो रहा है। " विचिर् पृथग्भावे " धातुसे बने हुए विवेक शद्बका अर्थ पृथग्भाव होता है और " विचिऌ विचारणे " धातुसे निष्पन्न हुए विवेकशद्बका अर्थ जानना होता है, यहां पृथग्भाव अर्थ इष्ट है, इस प्रकार दूसरा बौद्ध कह रहा है। इसपर आचार्य कहते हैं कि उस बौद्धके यहां भी अन्य सन्तान, स्वसन्तान, नील, आदिका अभाव तो संवेदनके द्वारा अवश्य अनुभव कराने योग्य होगा। अन्यथा यानी सन्तानान्तर आदिके अभावको यदि ज्ञेय नहीं माना जावेगा तो सन्तानान्तर आदिकी सत्ता बन बैठेगी। ऐसी दशामें उसके अद्वैतपनेकी भले प्रकार सिद्धि नहीं हो सकती है। द्वैत आगया। " सेयमुभयतः पाशा रज्जुः "।

स्वानुभवनमेव सन्तानान्तराद्यभावानुभवनं संवेदनस्येति च न सुभाषितं, स्वरूपमात्रसंवेदनस्यैवासिद्धेः। नहि क्षणिकानंशस्वभावं संवेदनमनुभूयते, स्पष्टतयानुभवस्यैव क्षणिकत्वात् क्षणिकं वेदनमनुभूयत एवेति चेत् न, एकक्षणस्थायित्वस्याक्षणिकत्वस्याभिधानात्।

अकेले अपने स्वरूपका अनुभव करना ही संवेदनका सन्तानान्तर आदिके अभावका अनुभव करना है। संवेदनसे अभाव कोई भिन्न पदार्थ नहीं है जो कि अनुभाव्य होय। इस प्रकार अद्वैतवा-

दियोंका भाषण अच्छा नहीं है। क्योंकि संवेदनसे अतिरिक्त सन्तानान्तर आदि पदार्थोंके अभावको स्वतंत्ररूपसे व्यक्त जाने विना केवल स्वरूपके संवेदनकी सिद्धि ही नहीं हो सकती है। एक बात यह भी तो है कि जिस प्रकारके क्षणिक निरंश स्वभाववाले संवेदनको बौद्ध इष्ट करते हैं वैसा उसका अनुभव नहीं होता है। यदि बौद्ध यों कहें कि स्पष्टज्ञान तो क्षणवर्ती पदार्थका ही होता है। स्पष्टरूपसे अपना अनुभव हो जाना ही क्षणिकपना है। अतः एकक्षणवर्त्ती अद्वैत संवेदनका ज्ञान होना अनुभूत हो रहा ही है, यह तो न कहना। क्योंकि एक क्षणमें स्थितिस्वभावसे रहनेका अर्थ अक्षणिकपना कहा गया है, अर्थात् जो एक क्षण भी स्थिरशील है वह ध्रुव है। उत्पाद, व्ययके समान ध्रुवपना भी एक समयमें स्वीकार किया है, तभी वह सत् पदार्थ हो सकेगा। यही ढंग पूर्वकालोंसे चला आ रहा है और आगे भी यही क्रम (सिलसिला) रहेगा।

अथ स्पष्टानुभवनमेवैकक्षणस्थायित्वं अनेकक्षणस्थायित्वे तद्विरोधात्। तत्र तदविरोधे वानाद्यनन्तस्पष्टानुभवप्रसंगात्। तथा चेदानीं स्पष्टं वेदनमनुभवामीति प्रतीतिर्न स्यादिति मतम्, तदसत्। क्षणिकत्वे वेदनस्येदानीमनुभवामीति प्रतीतौ पूर्वं पश्चाच्च तथा प्रतीतिविरोधात्। तदविरोधे वा कथमनाद्यनन्तसंवेदनसिद्धिर्न भवेत्, सर्वदेदानीमनुभवामीति प्रतीतिरेव हि नित्यता सैव च वर्तमानता तथाप्रतीतेर्विच्छेदाभावात्, ततो न क्षणिकसंवेदनसिद्धिः।

इसके अनन्तर पुनः बौद्ध कहनेका प्रारम्भ करते हैं कि स्पष्टरूपसे अनुभव होना ही एक क्षणमें स्थित रहनापन है। यदि ज्ञानको अनेकक्षणस्थायी माना जावेगा तो वह स्पष्ट अनुभव होना विरुद्ध पडेगा। पुनरपि यदि अनेक क्षणमें स्थायी होते हुए भी वहां उस स्पष्ट अनुभव होते रहनेका कोई विरोध न मानोगे तो अनादिकालसे अनन्तकाल तकके ज्ञानक्षणोंका स्पष्टरूप करके अनुभव होनेका प्रसंग होगा। सभी त्रिकालदर्शी हो जावेंगे और तब तो इसी समय क्षण मात्र ठहरे हुए स्पष्ट संवेदनका मैं अनुभव कर रहा हूं, इस प्रकारकी प्रतीति नहीं हो सकेगी। इस प्रकार बौद्धोंका मन्तव्य है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो वह प्रशस्त नहीं है। क्योंकि ज्ञानको यदि सर्वथा क्षणिक माना जावेगा तो इस समयमें अनुभव कर रहा हूं, ऐसी प्रतीति होनेपर पहिले और पीछे कालोंमें तिस प्रकारकी प्रतीति होनेका विरोध हो जावेगा। अनुभवामिका कर्त्ता तो ज्ञान ही है और वह ज्ञान सर्वथा क्षणिक है। ज्ञानका अन्वय माने विना पहिले पीछेके ज्ञानक्षणोंमें स्पष्ट अनुभव नहीं हो सकता है। यदि क्षणिक होते हुए भी उस पहिले पीछे सदा ही स्पष्ट अनुभव होते रहनेका कोई विरोध न माना जावेगा तब तो अनादि अनन्त संवेदनकी सिद्धि क्यों न हो जावेगी ? इस समय वर्तमानकालमें मैं अनुभव कर रहा हूं। इस प्रकार सदा प्रतीति होते रहना ही नित्यपना है और वही वर्तमानपना है। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीति होनेका कभी अन्तराल नहीं पडा है। अतः अनेक कालस्थायी नित्य संवेदनकी सिद्धि हो जाती है। तिस कारण आपके क्षणिक सम्वेदनकी सिद्धि नहीं हुयी।

इदानीमेवानुभवनं स्पष्टं न पूर्वं न पश्चादिति प्रतीतेः क्षणिकं संवेदनमिति चेत्, स्यादेवं यदि पूर्वं पश्चाद्वानुभवस्य विच्छेदः सिध्येत् । न चासौ प्रत्यक्षतः सिध्यति तदनुमानस्य वैफल्यप्रसंगात् । पश्यन्नपीत्यादिग्रन्थस्य विरोधात् । प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पादिदानीमनुभवनं ममेति निश्चयान्नोक्तग्रन्थविरोधः । तद्बलादिदानीमेवेत्यनिश्चयाच्च नानुमाने नैष्फल्यं ततस्तथा निश्चयादिति चेत्, नैतत्सारम् । प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्येदानीमनुभवो मे न पूर्वं पश्चाद्वेति विधिनिषेधविषयतयानुत्पत्तौ वर्तमानमात्रानुभवव्यवस्थापकत्वायोगात् । पश्यन्नपीत्यादिविरोधस्य तदवस्थत्वादन्यथा सर्वत्रेदमुपलभे नेदमुपलभेऽहमिति विकल्पद्वयानुत्पत्तावपि दृष्टव्यवहारप्रसंगात् । तदन्यव्यवच्छेदविकल्पाभावेऽपीदानीं तेनानुभवननिश्चये तदेवानुमाननैष्फल्यमिति यत्किंचिदेतत् ।

बौद्ध कहते हैं कि इस समय वर्तमानकालमें ही स्पष्ट अनुभव हो रहा है, पहिले पीछे समयोंमें नहीं, इस प्रकार प्रतीति होनेसे एक क्षणवर्ती संवेदन ही सिद्ध हुआ । यों बोलनेपर तो अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना तो तब सिद्ध होता कि यदि स्पष्ट अनुभवका पहिले और पीछे कालके परिणामोंसे व्यवधान सिद्ध हो जाता, किन्तु वह अन्तराल तो प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं हो रहा है, ऐसी दशामें मध्यवर्ती अकेले क्षणिकज्ञानका स्पष्ट अनुभव कैसे माना जा सकता है ? । यदि अन्तरालकी प्रत्यक्षसे सिद्धि हो गयी तो उसके अनुमान करनेकी निष्फलताका प्रसंग होता है और आपके इस ग्रन्थवाक्यका भी विरोध होता है कि " पश्यन्नपि न पश्यति " देखता हुआ भी नहीं देख रहा है । जब कि भूत, भविष्यत् क्षणोंके मध्यवर्ती अन्तरालका प्रत्यक्ष हो रहा है फिर बलात्कारसे अन्तरालका प्रत्यक्ष न होना क्यों कहा जाता है ? । इसपर यदि आप बौद्ध यों कहें कि प्रत्यक्षज्ञानके पीछे होनेवाले विकल्पज्ञानसे " इस समय मुझको स्पष्ट अनुभव है " इस प्रकार निश्चय हो जाता है । अतः हमारे कहे हुए कथनका हमारे सिद्धान्तग्रन्थसे कोई विरोध नहीं है। तथा उस प्रत्यक्ष और विकल्पकी सामर्थ्यसे " इस ही समय अनुभव है ऐसा पक्का निश्चय नहीं हो पाया है । अतः अनुमानमें भी निष्फलता नहीं है । तिस प्रकारका निश्चय उस अनुमानसे कराया जाता है । ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि बौद्धोंका यह कहना साररहित है । क्योंकि प्रत्यक्षके पीछे होनेवाला विकल्पज्ञान " इसी समय मुझको स्पष्ट अनुभव है । पहिले पीछेके क्षणोंका स्पष्ट अनुभव नहीं है । इस प्रकारके विधि और निषेधको विषय करता हुआ नहीं उत्पन्न हुआ है । ऐसी दशामें उस विकल्पको केवल वर्तमान कालीन संवेदनके अनुभव करनेकी व्यवस्था करा देनापन बनता नहीं है । बौद्धोंके यहां प्रत्यक्षके द्वारा जाने हुए विषयको ही निश्चय करनेवाला विकल्पज्ञान इष्ट किया है, प्रत्यक्षज्ञान विचार करनेवाला नहीं है । दूसरी बात यह है कि अप्रमाण ज्ञानसे प्रमाण ज्ञानकी व्यवस्था करना भला क्या हो सकेगा ? पण्डितपनेका निर्णय यदि मूर्ख करने लगे तब तो सबके इष्ट मनोरथ सिद्ध हो जावेंगे । तथा देखता हुआ भी

नहीं देख रहा है इत्यादि ग्रन्थका विरोध वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा। अन्यथा इसको मैं देख रहा हूं। इसको मैं नहीं देख रहा हूं। इस प्रकार दो विकल्पोंके उत्पन्न न होनेपर भी प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थके निर्णीत व्यवहार करा देनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—इतर पदार्थोंका निषेध करनेपर ही प्रकृत पदार्थका निर्णय होता है। आगे पीछेके परिणामोंका निषेध करते हुए ही मध्यवर्ती परिणामोंका अवधारण हो सकेगा। केवल घटका ही निश्चय तब हो सकता है जब कि अन्य पट आदिकोंके अभावका निश्चय कर दिया जाय। यदि उन अन्य पूर्व अपरवर्ती ज्ञानक्षणोंके व्यवधानका विकल्प नहीं होनेपर भी इस वर्तमान क्षणमें उस विकल्प करके केवल संवेदनके अनुभवका निश्चय मान लिया जावेगा तो वही अनुमानके निष्फल हो जानेका दोष लागू रहेगा। इस प्रकार यह बौद्धोंका स्वमत—पोषण करना मन चाहा जो कुछ भी कहना है। इसमें तत्त्व कुछ नहीं है। " मुखमस्तीति वक्तव्यम " मात्र है।

एतेनानुमानादनुभवस्य पूर्वोत्तरक्षणव्यवच्छेदः सिध्यतीति निराकृतं स्वतस्तेनाध्यक्षतो व्याप्तेरसिद्धेः, परतोनुमानात् सिद्धावनवस्थाप्रसंगात् ।

इस पूर्वोक्त कथन करके इसका भी निराकरण हो गया कि अनुमानसे पूर्व उत्तर क्षणवर्ती परिणामोंका व्यवधान सिद्ध हो जाता है। क्योंकि अनुमानमें व्याप्तिकी आवश्यकता है। अपने आप तो इस साध्यके साथ हेतुकी प्रत्यक्षप्रमाणसे व्याप्ति बन जाना सिद्ध नहीं होता है। मालाके दानोंका अन्तराल जैसे प्रत्यक्षगम्य है। उसी प्रकार सत्त्व आदि हेतुओंके साथ रहनेवाला क्षणोंका मध्यवर्ती अन्तराल प्रत्यक्षगम्य नहीं है, दूसरी बात यह है कि अनुमाताओंका प्रत्यक्ष सम्पूर्ण देशकालके पदार्थोंका उपसंहार (संकोच) नहीं कर सकता है और व्याप्ति तो सब देश और कालके प्रकृत साध्य, हेतुओंका उपसंहार करनेवाली होती है। यदि दूसरे अनुमानसे प्रकृत अनुमानमें पडे हुए साध्योंकी व्याप्तिका निर्णय सिद्ध करोगे तो अनवस्थादोष होनेका प्रसंग आता है। व्याप्तिका निर्णय यदि अनुमानसे होने लगे तो अनवस्थादोष स्पष्ट ही है। अनुमानके उत्थानमें व्याप्तिकी आवश्यता पडनेकी आकांक्षा बढती चली जावेगी।

विपक्षे बाधकप्रमाणबलाद्व्याप्तिः सिद्धेति चेत्, किं तत्र बाधकं प्रमाणम् ? न तावद् ध्यक्षं तस्य क्षणिकत्वनिश्चायित्वेनाक्षणिके बाधकत्वायोगात् । नाप्यनुमानं क्षणिकत्वविषयं तस्यासिद्धव्याप्तिकत्वात् । प्रथमानुमानात्तद्व्याप्तिसिद्धौ परस्पराश्रयणात् । सति सिद्धव्याप्तिके विपक्षे बाधकेऽनुमाने प्रथमानुमानस्य सिद्धव्याप्तिकत्वं तत्सिद्धौ च तत्सद्भाव इति । विपक्षे बाधकस्यानुमानस्यापि परस्माद्विपक्षे बाधकानुमानाद्व्याप्तिसिद्धौ सैवानवस्था ।

निश्चयसे साध्यके अभाववाले विपक्षमें हेतुके सद्भावका बाधक प्रमाण है। इस सामर्थ्यसे हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध हो जावेगी। ऐसा कहने पर तो बौद्धोंके प्रति हम प्रश्न करते हैं

कि बताओ, वहां बाधक प्रमाण कौनसा है ? सबसे पहिले प्रत्यक्ष प्रमाण तो बाधक है नहीं, क्योंकि वह तो क्षणिकपनेका निश्चय करानेवाला माना गया है । अतः अक्षणिकपनेमें बाधक नहीं हो सकता है । शुक्लको जाननेवाला प्रत्यक्ष कृष्ण आदिका निषेध करनेवाला नहीं होता है । विशिष्ट बात यह है कि प्रत्यक्षज्ञान विचारक नहीं है । वह इतने व्याप्ति सम्बन्धी विचारोंको नहीं कर सकता है । क्षणिकपनेको विषय करनेवाला अनुमान प्रमाण भी विपक्षमें बाधक प्रमाण नहीं है । क्योंकि स्वयं उस अनुमानमें पडे हुए सत्त्व और क्षणिकत्वकी व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकी है। जो स्वयं रुग्ण है वह दूसरोंकी चिकित्सा क्या करेगा ? पूर्वोत्तर क्षणोंके मध्यवर्ती व्यवच्छेदको सिद्ध करनेवाले पहिले अनुमानसे इस क्षणिकत्वको सिद्ध करनेवाले अनुमानकी व्याप्तिको साधोगे तो अन्योन्याश्रयदोष होगा। जो कि इस प्रकार है। विपक्षमें हेतुके सद्भावका बाधक अनुमानकी उत्थापक व्याप्तिके सिद्ध हो चुकनेपर पहिले अनुमानका व्याप्ति सिद्ध हो चुकनापन बनता है, और सिद्ध हो चुकी है हेतुके साथ व्याप्ति जिसकी ऐसे प्रथम अनुमानके सिद्ध हो जानेपर इस प्रकृत अनुमानकी सिद्धि होवे । विपक्षमें बाधा करनेवाले अनुमानकी व्याप्तिका निर्णय भी यदि विपक्षमें बाधा करनेवाले दूसरे अनुमानसे साधोगे तो फिर वही अनवस्थादोष होगा ।

एतेन व्यापकानुपलम्भात् सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिं साधयन् निक्षिप्तः । सत्त्वमिदमर्थक्रियया व्याप्तं सा च क्रमयौगपद्याभ्यां, ते चाक्षणिकाद्विनिवर्तमानेऽर्थक्रियां स्वव्याप्यां निवर्तयतः सापि निवर्तमाना सत्त्वं । ततस्तीरादर्शिशकुनिन्यायेन क्षणिकत्व एव सत्त्वमवतिष्ठत इति हि प्रमाणान्तरं क्रमयौगपद्ययोरर्थक्रियया तस्याश्च सत्त्वेन व्याप्यव्यापकभावस्य सिद्धौ सिध्यति । तस्य चाध्यक्षतः सिध्यसम्भवेनुमानान्तरादेव सिद्धौ कथमनवस्था न स्यात् ? ।

जहां व्यापक ही नहीं है वहां व्याप्य तो भला कैसे भी नहीं रहता है । जैसे वृक्षके न रहने पर शीशमका न रहना । अतः अक्षणिकरूप विपक्षमें अर्थक्रिया और क्रम यौगपद्यरूप व्यापकोंके न दीखनेसे व्याप्यरूप सत्त्व भी नहीं दीखता है। अतः सत्त्व हेतुकी अक्षणिकत्वके साथ व्याप्ति सिद्ध हो जाती है । ऐसा भी कहनेवाला बौद्ध इस उक्त कथनसे तिरस्कृत हो जाता है । बौद्ध यों साध रहा है कि यह सत्त्व हेतु अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति रखता है और वह अर्थक्रिया क्रम और यौगपद्यके साथ व्याप्त है वे क्रम और यौगपद्य यदि अक्षणिक पदार्थसे निवृत्त होवेंगे तो अपने व्याप्य अर्थक्रियाको साथमें निवृत्त करा देवेंगे तथा वह अर्थक्रिया भी निवृत्त होती हुयी अपने व्याप्य सत्त्वको हटा लेवेगी । अर्थात् जैसे घोडे आदिक पशुओंसे निवृत्त होता हुआ मनुष्यत्व अपने व्याप्य माने गये ब्राह्मणत्व, गौडत्व, आदिको भी निवृत्त करा देता है, तैसे ही जो सत् पदार्थ है, उसमें अर्थक्रिया अवश्य होवेगी और अर्थक्रिया जो होगी वह अवश्य क्रम या युगपत्पनेसे ही होगी । कूटस्थ नित्यमें क्रम और युगपत्पना नहीं है । अतः अर्थक्रिया भी नहीं है । अर्थक्रिया

न होनेसे सत्त्व भी नहीं है। इस कारण समुद्रमें तीरको नहीं देखनेवाले पक्षीके अनुसार सत्त्वहेतु क्षणिकत्वके होनेपर ही अवस्थित रहता है। भावार्थ—पोतके काकको नाव (जहाज) के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार सत्पदार्थोंका क्षणिकपना ही शरण है। इस प्रकार बौद्धोंका व्याप्तिको सिद्ध करनेके लिये दूसरा प्रमाण देना तब सिद्ध हो सकता है जब कि क्रम और यौगपद्यका अर्थक्रियाके साथ और उस अर्थक्रियाका सत्त्वके साथ व्यापकव्याप्यभावसिद्ध हो जावे, किन्तु उसकी प्रत्यक्षसे तो सिद्धि होना सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष विचारोंको नहीं करता है, वह तो भभकेसे झट (एकदम) पैदा हो जाता है। चाहे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो, भले ही केवलज्ञान हो। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षसे यदि उक्त संबन्ध निर्णीत हो जाते तो विवाद क्यों पड़ता? बालगोपाल सभी प्रसन्नतापूर्वक प्रत्यक्ष किये सिद्धान्तको मान लेते। तथा यदि दूसरे अनुमानोंसे ही सत्त्वका व्यापक अर्थक्रियाको और अर्थक्रियाका व्यापक क्रम, यौगपद्यको साधोगे तब तो अनवस्थादोष कैसे नहीं होगा? क्योंकि उन अनुमान प्रमाणोंकी प्रवृत्ति भी व्याप्तिके विना न होगी और वहां व्याप्यव्यापकभावको सिद्ध करनेके लिये पुनः अनेक प्रमाणों की मूलतत्त्वको नाशनेवाली आकांक्षा बढ़ती ही जावेगी। जो कि अनवस्थाका कारण है।

तत्सिद्धावपि नाक्षणिके क्रमयौगपद्ययोर्निवृत्तिर्सिद्धा शश्वद्विच्छिन्नात्मन्येवानुभवेऽनेककालवर्तित्वलक्षणस्य क्रमस्योपपत्तेर्यौगपद्यस्य चाविच्छिन्नानेकप्रतिभासलक्षणस्य तत्रैव भावात्।

अस्तुतोष न्यायसे उस व्याप्यव्यापक भावके सिद्ध हो जानेपर भी अनेक क्षणोंतक रहनेवाले अक्षणिकमें क्रम और यौगपद्यकी निवृत्ति सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि सदा ही (सर्वदा) नहीं विच्छिन्न स्वरूप वस्तुमें ही अनुभव (विज्ञान) द्वारा अनेक कालोंमें वर्तनेवालापन स्वरूप क्रमका होना बन पाता है और अविच्छिन्न होकर अनेक प्रतिभास कराना स्वरूप युगपत्पना भी अनेक क्षणवर्ती उस वस्तुमें ही अनुभव द्वारा पाया जाता है। भावार्थ—मृत्तिकाके अनेक क्षणोंतक अविच्छिन्नरूपसे स्थित रहनेपर ही स्थास, कोष, कुशूल, आदि पर्यायोंके क्रम बनते हैं और आत्माके कालान्तरस्थायी होनेपर बाल्य, कुमार, यौवन, आदि अवस्थाओंके क्रम बनते हैं तथा घटके नील, मीठा, सुगन्ध, ठण्डा, गोल, आदि परिणामोंका युगपत्पना कालान्तरतक घटके स्थित रहनेपर ही बनता है। एक क्षणमें ही समूल चूल घटके नष्ट हो जानेपर वे परिणाम कैसे भी नहीं हो सकते हैं। ऐसे ही आत्माके स्थिर होनेपर ही इच्छा, क्रोध, राग, द्वेष, मतिज्ञान, आदि परिणामोंका युगपत्पना बनता है। अन्यथा अश्वविषाणके समान असत्से उपादान कारणके विना किसीकी भी युगपत् उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तैसे ही ज्ञानका अनेक कालोंमें वर्तना रूप क्रम और एकदम अनेक नील, पीत, आदिक आकारोंका प्रतिभास होनारूप यौगपद्य उस ज्ञानके अविच्छिन्न अनेक क्षणवर्ती अक्षणिक माननेपर ही बनते हैं। सर्वथा क्षणिक ज्ञानमें नहीं।

सुखसंवेदने प्राच्यदुःखसंवेदनाभावान्नाविच्छिन्नमेकं संवेदनं यदनाद्यनन्तकालवर्तितया क्रमवत् स्यादिति चेन्न. सुखदुःखाद्याकाराणामनाद्यविद्योपदर्शितानामेव विच्छेदात् । एतेन नानानीलपीतादिप्रतिभासानां देशविच्छेदाद्युगपत्सकलव्यापिनोनुभवस्याविच्छेदाभावः प्रत्युक्तः, तत्त्वतस्तद्विच्छेदाभावात् । ततो न क्षणिकमद्वयं संवेदनं नाम तस्य व्यापि नित्यस्यैव प्रतीतिसिद्धत्वात् ।

यदि यहां कोई यों कहे कि सुखका भले प्रकार ज्ञान करनेपर पहिलेके दुःखका प्रतिभास नहीं होता है । अतः अन्तरालसहित चला आया हुआ एक संवेदन नहीं सिद्ध हुआ जो कि अनादिकालसे अनन्तकालतक वर्तनेवाला होकरके क्रमवान् (क्रमसहित) हो जाता । आचार्य समझाते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि सुख, दुःख, पश्चात्ताप, आत्मगौरव आदि विकल्पनाएं जो कि अनादिकालकी अविद्याके द्वारा दिखायी जारहीं हैं उन्हींका विच्छेद हो रहा है । भावार्थ— सुखमें दुःखका तथा कषाय करते समय मन्दकषाय भावोंका भले ही अन्वय न होय, किन्तु प्रतिभासपनेकी सन्तति अविच्छिन्न होकर चलती रहती है । इस कथनसे अनेक नील, पीत, आदि स्वसंवेदनोंका देशसे व्यवधान होनेके कारण एक समयमें ही सम्पूर्ण सम्वेदनोंमें व्यापक रहनेवाले अनुभवका अविच्छिन्नपना नहीं है यह भी खण्डित कर दिया गया है । क्योंकि परमार्थरूपसे उस प्रकाशरूप संवित्तिका विच्छेद नहीं हो पाया है । अर्थात् एक द्रव्यके क्रमसे होनेवाले परिणामोंमें और एक साथ होनेवाले परिणामोंमें ध्रौव्यरूप अन्वय बने रहनेके कारण कालान्तरस्थायी पदार्थमें ही क्रम, युगपत्पना, अर्थक्रिया, और सत्त्व, बन सकते हैं । कूटस्थ या क्षणिकमें उसीका क्रमसे होकरके हो जानापन और युगपत् नवीन नवीन अनेक परिणामोंकी धाराका बहना ये दोनों नहीं बनते हैं । तिस कारण सिद्ध हुआ कि एक क्षणमें ही नष्ट हो जानेवाला शुद्ध अद्वैत संवेदन कोई नाम मात्रको भी वस्तु नहीं है । किन्तु अनेक आकारोंमें व्यापनेवाले तथा अनेक समयों तक ठहरने वाले स्वरूप नित्य उस संवेदन की ही प्रतीतियोंसे सिद्धि हो रही है ।

तदेवास्तु ब्रह्मतत्त्वमित्यपरस्तं प्रत्याह;—

सर्वथा क्षणिक और अणुरूप विज्ञानके अद्वैतको माननेवाले बौद्धों प्रति स्याद्वादियोंके द्वारा नित्य और व्यापक संवेदनकी सिद्धि करा देनेपर दूसरे ब्रह्माद्वैतवादी अपना प्रयोजन सिद्ध हो गया समझते हुए बोल उठे कि वह नित्य, व्यापक, चैतन्य ही परब्रह्म तत्त्व हो जाओ । इस प्रकार सुयोग्य अवसर पाकर एकान्तकी पुष्टि करनेवाले उन ब्रह्माद्वैतवादियोंके प्रति आचार्य महाराज प्रकर्ष पूर्वक स्पष्ट उत्तर कहते हैं—

यच्चित्प्रकाशसामान्यं सर्वत्रानुगमात्मकम् ।
तत्प्रकाशविशेषाणामभावे केन वेद्यते ॥ १४ ॥

जो तुम्हारा माना हुआ चैतन्यस्वरूप प्रतिभाससामान्य सर्वत्र अविच्छिन्नरूपसे रहनेवाला अनुगम स्वरूप है वह विशेष विशेष प्रकारोंके न होनेपर भला किससे जाना जा सकता है ? अर्थात् सभी प्रकार विशेषोंसे रीते उस चित्सामान्यका ज्ञान नहीं हो सकता है। जगत्में कोई भी पदार्थ विशेष अंशोंसे रहित नहीं है। " निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् "

केनचिद्विशेषेण शून्यस्य संवेदनस्यानुभवेऽपि विशेषान्तरेणाशून्यत्वाच सकलविशेष-विरहितत्वेन कस्यचित्तदनुभवः खरशृंगवत् ।

किसी एक विशेषसे सर्वथा रहित संवेदनका अनुभव हो जानेपर भी अन्यविशेषोंसे वहां शून्यपना नहीं है कारण कि गर्दभके सींग समान सम्पूर्ण विशेषोंसे रहितपनेसे किसी भी पदार्थका वह समीचीन अनुभव नहीं हो सकता है। अर्थात् किसी न किसी विशेषसे सहित (आक्रान्त) ही सामान्यका संवेदन होता है विशेषोंसे रीता कोरा सामान्य खरविषाणके समान असत् है।

नात्र संवेदनं किंचिदनंशं बहिरर्थवत् ।
प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च सांशस्यैकस्य वेदनात् ॥ १५ ॥

इस जगत्में बहिर्भूत अर्थके समान कोई भी संवेदन अंशोंसे रहित नहीं है। यानी नील, घट, आदि बहिरंग अर्थ जैसे अंशोंसे परिपूर्ण हैं उसी भान्ति अंतरंग ज्ञान, सुख, आदि भी अनेक स्वांशोंसे भरे हुए हैं। वहिरंग पदार्थ हो और चाहे अन्तरंग पदार्थ हो, एक सांशका ही प्रत्यक्षरूपसे ज्ञान हो रहा है। ऐसी दशामें ब्रह्माद्वैत भला कैसे ठहर सकता है ? अर्थात् नहीं। विशेष अंशोंको मानना ही पडा जो कि अद्वैतका विरोधी है।

यथैव हि क्षणिकमक्षणिकं वा नानैकं वा बहिर्वस्तु नानंशं तस्य क्षणिकेतरात्मनो नानैकात्मनश्च साक्षात् प्रतिभासनात् तथान्तःसंवेदनमपि तदविशेषात् ।

जिस ही प्रकार पर्यायार्थिक नयसे एक क्षणतक ठहरनेवाला क्षणिकरूप और नानारूप तथा द्रव्यार्थिक नयसे अक्षणिक और एकरूप बहिरंग वस्तु अंशोंसे रहित नहीं है। क्योंकि हम क्या करें। क्षणिक और इससे निराला अक्षणिकरूप तथा अनेक और एक स्वरूप तदात्मक हो रही उस बहिरंग वस्तुका प्रत्यक्षसे प्रतिभास हो रहा है। तिस ही प्रकार अन्तरंग संवेदन भी अनंश नहीं है। क्योंकि अन्तरंग और बहिरंग पदार्थोंके अंशसहितपनेकी प्रत्यक्ष द्वारा उस प्रतीति होनेमें कोई विशेषता नहीं है, समानता है।

स्वांशेषु नांशिनो वृत्तौ विकल्पोपात्तदूषणम् ।
सर्वथार्थान्तरत्वस्याभावादंशांशिनोरिह ॥ १६ ॥

तादात्म्यपरिणामस्य तयोः सिद्धेः कथञ्चन ।
प्रत्यक्षतोऽनुमानाच्च न प्रतीतिविरुद्धता ॥ १७ ॥

स्याद्वादियों करके अंतरंग और बहिरंग पदार्थोंकी सांश रूपसे सिद्धि हो चुकनेपर एकान्तवादी अपने अंशोंमें अंशीके वर्तनेके विकल्प ग्रहण कर पहिले दिये गये दूषणोंको कहते हैं, सो ठीक नहीं है । क्योंकि वैशेषिकोंके यहां अंश अंशीका सर्वथा भेद माननेपर वे दोष लागू हो जाते हैं। किन्तु यहां स्याद्वादसिद्धान्तमें अंशी और अंशोंका सभी प्रकारोंसे भेद होना नहीं माना है । उन अंश और अंशीका कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध नामका परिणाम होना प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हो रहा है । किसी भी प्रतीतिसे विरोध नहीं है । हस्त, पाद, ग्रीवा, पेट, आदि अवयवोंमें शरीर अवयवीका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध हो रहा है यह प्रतीतिसिद्ध है । संयोग, समवाय, आदि सम्बन्ध माननेपर अनेक दोष आते हैं ।

स्वांशेष्वंशिनः प्रत्येकं कार्त्स्न्येन वृत्तौ बहुत्वमेकदेशेन सावयवत्वमनवस्था चेति न दूषणं सम्यक्तस्य स्वांशेभ्यो भिन्नस्यानभ्युपगमात् । कथंचित्तादात्म्यपरिणामस्य प्रसिद्धेस्तस्यैव समवायत्वेन साधनात् ।

उक्त वार्तिकोंका भाष्य इस प्रकार है । अद्वैतवादी कहते हैं कि अपने अंशोंमें अंशीका पूर्ण रूपसे वर्तना मानोगे तब तो जितने अंश हैं उतने प्रत्येक अंशी हुए । इस ढंगसे अंशी बहुत हो जावेंगे । यदि एक देशसे वृत्ति मानोगे तो उक्त दोष टल गया । किन्तु प्रथमसे ही अवयवीको सांशपना मानना पडेगा और इन पहिले अंशोंमें भी अवयवीकी एक देशसे वृत्ति मानी जावेगी तो फिर भी पहिलेसे ही अवयवीको सांशपना यानी पूर्ववर्ती अन्य अवयवोंसे सहितपना सिद्ध हो चुका होगा। तब तो तीसरे एकदेशरूपी अंशोंसे सहित अवयवीको सांशपना मानते हुए अनवस्था हो जावेगी । भावार्थ—सहस्र तन्तुरूप अवयवोंमें एक पटरूप अंशीकी यदि सम्पूर्ण पटपनेसे एक एक तन्तुमें वृत्ति मानी जावेगी तब तो एक तन्तुमें पूरा एक पट रह गया और दूसरेमें दूसरा पट रह गया, इस प्रकार वे पटसहस्र हो जावेंगे । यदि हजार तन्तुओंमें एक एक भागसे पटकी वृत्ति मानी जावेगी, यानी हजार भागोंसे एक पट हजार तन्तुओंमें विद्यमान है, इस पक्षमें पटके बहुत्त (हजार) पनेका प्रसंग तो निवृत्त हो गया, किन्तु अवयवोंमें वृत्ति होनेके पूर्व ही दूसरे अवयवोंकी अपेक्षा पटमें सांशपना था यों मानना पडेगा । तभी तो वह अपने एक देशसे रहेगा अब उन दूसरे अनेक अंशोंमें भी एक एक भागसे पटकी वृत्ति मानी जावेगी तो तीसरे अंशोंसे भाग सहितपना पटको पहिले हीसे मान लेना पडेगा । उन तीसरे अंशोंमें भी चौथे अंशोंसे सहित पटकी एक एक भाग करके वृत्ति मानते मानते अनवस्था हो जावेगी । पांचवें अंशोंमें वर्तनेके लिये छठवें आदि अंशोंसे बनाये गये एक एक भागकी आकांक्षायें बढती जावेगी । कहीं दूर जाकर भी ठहर नहीं

सकोगे । अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार दिये गये दूषण समीचीन नहीं है। क्यों कि उस अवयवीको अपने अंशोंसे सर्वथा भिन्न हम स्वीकार नहीं करते हैं। अंश और अंशीका सम्बन्ध कथञ्चित् तादात्म्य परिणाम ही प्रसिद्ध हो रहा है । उस तादात्म्य सम्बन्धकी ही समवायपनेसे सिद्धि की गयी है । अर्थात् वैशेषिकोंके माने गये नित्य, एक, और अनेकोंमें रहनेवाले समवायमें अनेक दूषण आते हैं । परिशेषमें वह समवाय कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्धरूप ही निर्दोष सिद्ध होता है । अंश और अंशी कथञ्चित् भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं । जबसे वे दोनों हैं, तभीसे कथञ्चित् तदात्मक परिणमन करते हुए ही चले आ रहे हैं, ऐसा सबको दीख रहा है ।

न चांशांशिनोस्तादात्म्यातादात्म्ये विरुद्धे प्रत्यक्षतस्तथोपलम्भाभावप्रसंगात् । न च तथोपलम्भोनुमानेन बाध्यते तस्य तत्साधनत्वेन प्रवृत्तेः । तथाहि—ययोर्न कथञ्चित्ता-दात्म्यं तयोर्नांशांशिभावो यथा सह्यविन्ध्ययोः, अंशांशिभावश्चावयवावयविनोर्धर्मधर्मि-णोर्वा स्वेष्टयोरिति नैकान्तभेदः । तदेवं परमार्थतोंशांशिसद्भावात्सूक्तं वस्त्वंश एव तत्र च प्रवर्तमानो नयः ।

अंश और अंशियोंका कथञ्चित् तदात्मक होना और कथञ्चित् तदात्मक न होकर कथञ्चित् भेद होना ये दोनों धर्म परस्परमें विरुद्ध नहीं है, यदि विरुद्ध माने जावेंगे तो प्रत्यक्षके द्वारा अंश और अंशीके तिस प्रकार भिन्न अभिन्न रूपसे दीखनेके अभावका प्रसंग होगा । परस्परमें कथंचित् भिन्न, अभिन्न, हो रहे तन्तु और पट तथा लेज और डोरा ये प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाने जा रहे हैं। तथा तिस प्रकार अंश और अंशीका दीखना अनुमान प्रमाणसे भी बाधित नहीं है। वह अनुमान तो प्रत्युत उस प्रत्यक्षका साधक होकर प्रवर्त रहा है । तिसीको स्पष्ट कर दिखाते हैं कि जिन पदार्थोंमें कथंचित् तादात्म्य नहीं है उनमें अंश अंशीपना भी नहीं है । जैसे कि दूरवर्ती उत्तर और दक्षिणमें पडे हुए विन्ध्याचल तथा सह्यपर्वतमें अवयव अवयवीपना नहीं है । कपाल घट, तन्तु पट, डोरा लेज, आदि अवयव अवयवियोंमें तथा ज्ञान आत्मा, प्रतिभास विज्ञान, रूप पुद्गल अथवा सत्त्व वस्तु, आदि अपने अपने इष्ट होरहे धर्म और धर्मियोंमें अंशअंशी भाव है। अतः उनमें कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है । उनमें एकान्तसे भेद नहीं है । तिस कारण इस प्रकार परमार्थरूप करके अंशअंशीभावके विद्यमान होनेसे हमने इस सूत्रकी चौथी पांचवीं कारिकाओंमें बहुत अच्छा कहा था कि विकलादेशी वाक्यका विषय वस्तुका अंश ही है । अवस्तु नहीं है। उसमें प्रवर्त रहा स्व और अर्थके एकदेशका निर्णय स्वरूपनय ज्ञान है। भावार्थ—स्व और अर्थके एकदेशको निर्णय करनेवाला वस्त्वंशग्राही नय होता है । यहांतक उस प्रकरणका सन्दर्भ मिला दिया है ।

स्वार्थैकदेशव्यवसायफललक्षणो नयः प्रमाणमिति कश्चिदाह ।

अपने ज्ञानस्वरूप और विषयरूप अर्थके एकदेशका निर्णय करनारूप फल है, स्वरूप जिसका, ऐसा नयज्ञान तो प्रमाण हो जावेगा, इस प्रकार कोई कह रहा है ।

यथांशिनि प्रवर्त्तस्य ज्ञानस्येष्टा प्रमाणता ॥
तथांशेष्वपि किं न स्यादिति मानात्मको नयः ॥ १८ ॥

चौथी वार्त्तिकमें उठायी गयी शंकाका किया गया समाधान हमको सन्तोषजनक नहीं हुआ है। क्योंकि अंशीमें प्रवर्त रहे ज्ञानको प्रमाणपना जैसे इष्ट किया है, तिसी प्रकार अंशोंमें प्रवृत्त हो रहे नयज्ञानोंको भी स्वार्थ ग्राहकपना होनेसे प्रमाणपना क्यों न हो जावे। इस कारण नयज्ञान भी प्रमाणस्वरूप ही है। अंशीने भी वस्तुके पूरे शरीरका ठेका नहीं ले रखा है। वह अंशी भी तो वस्तुका एक कोण है, यह किसी तार्किकका आक्षेप है।

यथांशो न वस्तु नाप्यवस्तु। किं तर्हि ? वस्त्वंश एवेति मतं, तथांशी न वस्तु नाप्यवस्तु तस्यांशित्वादेव वस्तुनोंशांशिसमूहलक्षणत्वात्। ततोंशेष्विव प्रवर्तमानं ज्ञानमंशिन्यपि नयोस्तु नो चेत् यथा तत्र प्रवृत्तं ज्ञानं प्रमाणं तथांशेष्वपि विशेषाभावात्। तथोपगमे च न प्रमाणादपरो नयोस्तीत्यपरः।

आप जैनोंने पांचवीं कारिकामें कहा था तदनुसार नयके द्वारा जाना गया अंश ही पूर्ण वस्तु नहीं है और वह अंश वस्तुका सर्वथा निषेधरूप अवस्तु भी नहीं है। तो क्या है ? इसका उत्तर यह है कि वह वस्तुका अंश ही है। इस प्रकार जैसे आप जैनोंका मन्तव्य है। तिसी प्रकार यों भी कहो कि अंशी ही पूरा वस्तु नहीं है। और अवस्तु भी नहीं है। क्योंकि वह तो अंशी ही है जब कि इन अंगरूप प्रत्येक अंश और अंशियोंसे निराली अंश अंशियोंका समुदायस्वरूप ही पूर्ण वस्तु है। तिस कारण एक कोण अंशोंमें प्रवर्त रहा ज्ञान जैसे नय माना जाता है, वैसे ही वस्तुके अंशीमें भी प्रवर्त रहा ज्ञान नय हो जाओ ! उसको बलात्कारसे प्रमाण क्यों कहा जाता है। यदि अंशीमें वर्त रहे ज्ञानको नय न कहोगे तो जैसे अंशीमें प्रवृत्त हो रहा ज्ञान प्रमाण माना जाता है, तिसी प्रकार अंशोंमें भी प्रवर्त रहा ज्ञान प्रमाण हो जाओ ! उसको पक्षपात वश नय क्यों कहा जाता है ? क्योंकि वस्तुके अंगभूत अंश और अंशीके जाननेकी अपेक्षा इनमें कोई अन्तर नहीं है और ऐसी परिस्थिती हो जानेपर हमारे प्रभावमें आकर आप जैन यदि तिस प्रकार स्वीकार कर लोगे यानी एक एक अंशको जाननेवाले ज्ञानको भी प्रमाण मान लोगे तो प्रमाणसे भिन्न कोई दूसरा नय ज्ञान नहीं हो पाता है। इस प्रकार कोई दूसरा वादी आक्षेप कर रहा है। अब ग्रंथकार उत्तर देंगे कि--

तत्रांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ।
द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः ॥ १९ ॥
धर्मिधर्मसमूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः।
प्रमाणत्वेन निर्णीतेः प्रमाणादपरो नयः ॥ २० ॥

वह आक्षेप करना ठीक नहीं है क्योंकि जब सम्पूर्ण धर्मोंको गौणरूपसे जानना अभिप्रेत है और अंशीका प्रधानरूपसे जानना इष्ट है। तब उस अंशीमें भी मुख्यरूपसे द्रव्यार्थिक नयका ही व्यापार माना गया है। प्रमाणका नहीं। किन्तु जब धर्म और धर्मी दोनोंके समूहको प्रधानपनेकी विवक्षासे जानना अभीष्ट है। तब उस ज्ञानको प्रमाणपनेसे निर्णय किया गया है। इस कारण प्रमाणसे भिन्न नयज्ञान है। भावार्थ—अंशीको प्रधान और अंशको गौण या अंशोंको प्रधान अंशीको गौणरूपसे जाननेवाला ज्ञान नय है और अंश अंशी दोनोंको प्रधानरूपसे जाननेवाला ज्ञानप्रमाण है।

गुणीभूताखिलांशेंऽशिनि ज्ञानं नय एव तत्र द्रव्यार्थिकस्य व्यापारात्। प्रधानभावार्पितसकलांशे तु प्रमाणमिति नानिष्टापत्तिरंशिनोऽत्र ज्ञानस्य प्रमाणत्वेनाभ्युपगमात्। ततः प्रमाणादपर एव नयः।

गौण हो रहे हैं अंश जिसके ऐसे अंशीको विषय करनेवाला ज्ञान नय ही है। क्योंकि वहां द्रव्यार्थिक नयका जाननेके लिये व्यवहार हो रहा है। किन्तु प्रधानपनेसे विवक्षित हो रहे हैं सम्पूर्ण अंश जिसके ऐसे अंशीमें प्रवृत्त हो रहा ज्ञान तो प्रमाण है। इस प्रकार हम जैनोंको यहां कोई अनिष्ट प्रसंग हो जानेकी आपत्ति नहीं है। यहां प्रधान अंशवाले अंशीके ज्ञानको प्रमाणपनेसे हमने स्वीकार किया है। तिस कारण उस अंशीको जाननेवाले प्रमाणसे भिन्न ही नय है।

नन्वेवमप्रमाणात्मको नयः कथमधिगमोपायः स्यान्मिथ्याज्ञानवदिति च न चोद्यम्। यस्मात्—

यहां शंका है कि नय यदि इस प्रकार प्रमाणसे भिन्न है तो अप्रमाणस्वरूप नय भला जीवादिकोंके समीचीन अधिगम करनेका उपाय कैसे हो सकेगा ? जैसे कि मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञप्तिको नहीं करा सकता है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह तो कुचोद्य न करना। जिस कारणसे कि—

नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥ २१ ॥

नयज्ञान न तो अप्रमाण है और न प्रमाणस्वरूप माना गया है। किन्तु वह ज्ञानस्वरूप होता हुआ प्रमाणका एकदेश तो हो सकेगा। सभी प्रकारोंसे कोई विरोध नहीं है। विरोध यहां उपलक्षण है। साधमें कोई अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, संशय, व्यभिचार आदि भी दोष नहीं आते हैं।

**प्रमाणादपरो नयोऽप्रमाणमेवान्यथा व्याघातः सकृदेकस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वनिषेधासम्भवात्। प्रमाणत्वनिषेधेनाप्रमाणत्वविधानादप्रमाणप्रतिषेधेन च प्रमाणत्वविधेर्गत्यन्तराभावादिति न चोद्यं, प्रमाणैकदेशस्य गत्यन्तरस्य तद्भावात्। नहि तस्य प्रमाणत्वमेव

प्रमाणादेकान्तेनाभिन्नस्य निषिद्धत्वात् नयस्याप्रमाणत्वं भेदस्यैवानभ्युपगमात् देशदेशिनोः कथञ्चिद्भेदस्य साधनात् ।

इसका कारिका भाष्य यों है कि जैनोंके द्वारा प्रमाणसे भिन्न मान लिया गया नयज्ञान अप्रमाण ही है । अन्यथा यानी प्रमाणपने और अप्रमाणपने दोनोंका उसमें निषेध करोगे तो व्याघात दोष होगा । एक ही समय एक पदार्थमें विप्रतिषिद्ध प्रमाणपने और अप्रमाणपनेका निषेध करना असंभव है। अर्थात् जीव और अजीव या घट और अघट ये तुल्यबल विरोधी पदार्थ दोनों एक समय कहीं नहीं पाये जाते हैं । जो घट है, वह अघट नहीं और जो अघट है, वह घट नहीं है । घटका निषेध करनेपर उसी समय अघटका विधान हो जावेगा और अघटका निषेध करनेपर उसी समय घटकी विधि होजावेगी । दोनोंका निषेध किसी वस्तुमें एक समय नहीं कर सकते हो । ऐसे ही जीव अजीवमें लगा लेना । जीवका निषेध करते ही उसी समय अजीवपनेकी विधि हो जाती है और अजीवके निषेध करनेपर तत्काल जीवकी विधि हो जाती है। दोनोंका एकदम किसीमें निषेध नहीं कर सकते हो। यहां प्रकरण प्राप्त नयमें प्रमाणपनेका निषेध करनेसे उसी समय अप्रमाणपनका विधान हो जावेगा और अप्रमाणपनेका प्रतिषेध करनेसे प्रमाणपनेकी विधि हो जावेगी । विप्रतिषिद्ध हो रहे दोनों धर्मोंके युगपत् निषेध करनेका आप जैनोंके पास अन्य कोई उपाय नहीं है । दो नाव या दो घोडेपर चढनेवालेके समान वस्तुका विरुद्ध धर्मोसे आरूढ हो जानेपर पेट फटकर नाश हो जाता है । अब आचार्य महाराज कहते हैं कि यह कुचोद्य न करना। क्योंकि प्रमाणका एकदेशपन हमारे पास अन्य तीसरा उपाय विद्यमान है । जैसे सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद इन दोनोंसे न्यारा तीसरा कथंचित्भेद, अभेद प्रशस्त मार्ग है अथवा समुद्र और असमुद्रसे भिन्न समुद्रका एकदेश है । तैसे ही प्रमाण और अप्रमाणसे भिन्न होता हुआ नयज्ञान प्रमाणका एकदेश है । उस नयको पूर्णरूपसे प्रमाणपना ही नहीं है । क्योंकि एकान्त करके प्रमाणसे अभिन्न नयको हमने इष्ट नहीं किया है । तथा वह नय सर्वथा अप्रमाणरूप भी नहीं है । क्योंकि एकान्तरूपकरके प्रमाणसे नयका भेद ही हमने स्वीकार नहीं किया है । देश और देशवान्का किसी अपेक्षासे भेद माना गया है । एकदेशरूप नयका और सर्वदेशीस्वरूप प्रमाणका कथंचित् भेद हमने सिद्ध किया है । जहां सर्वथा दो ही प्रकार हैं । वहां विप्रतिषिद्ध दोनोंका एकदम निषेध नहीं कर सकते हैं, किन्तु जहां तीसरा, चौथा, मार्ग अवशिष्ट है । वहां दोका निषेध करनेपर भी तीसरा पथ निकल आता है ।

येनात्मना प्रमाणं तदेकदेशस्य भेदस्तेनाप्रमाणत्वं येनाभेदस्तेन प्रमाणत्वमेवं स्यादिति चेत् किमनिष्टं देशतः प्रमाणाप्रमाणत्वयोरिष्टत्वात्, सामस्त्येन नयस्य तन्निषेधात् समुद्रैकदेशस्य तथासमुद्रत्वासमुद्रत्वनिषेधवत् ।

कोई कहता है कि जिस स्वरूप करके उस एकदेशरूप नयका प्रमाणसे अपेक्षाकृत भेद माना गया है तिस स्वरूपसे नयको अप्रमाणपना आया और जिस स्वरूप करके प्रमाणसे नयका अपेक्षाकृत अभेद है उस स्वरूपसे एकदेश नयको प्रमाणपना ही प्राप्त होगा। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो कहना क्या हमको अनिष्ट है ? अर्थात् इष्ट है। हम नयज्ञानमें एक एक देशसे प्रमाणपन और अप्रमाणपन दोनों इष्ट करते हैं। हां, नयको सम्पूर्णपनेसे प्रमाणपन और अप्रमाणपनेका निषेध किया गया है, जैसे कि समुद्रके एकदेशको तिस प्रकार पूर्णरूपसे समुद्रपन और असमुद्रपनका निषेध किया जाता है। हां एक अंशसे उसमें दोनों धर्म विद्यमान हैं।

कार्त्स्न्येन प्रमाणं नयः संवादकत्वादिष्टप्रमाणवदिति चेन्न, अस्यैकदेशेन संवादकत्वात् कार्त्स्न्येन तदसिद्धेः। कथमेवं प्रत्यक्षादेस्ततः प्रमाणत्वसिद्धिस्तस्यैकदेशेन संवादकत्वादिति चेन्न, कतिपयपर्यायात्मकद्रव्ये तस्य तत्त्वोपगमात्। तथैव सकलादेशित्वप्रमाणत्वेनाभिधानात् सकलादेशः प्रमाणाधीन इति।

यहां कोई अनुमान करता है कि नय (पक्ष) सम्पूर्णपनेसे प्रमाण है (साध्य) सफल प्रवृत्ति या समीचीन ज्ञप्ति करानेवाला होनेसे (हेतु) जैसे कि अपनेको इष्ट प्रत्यक्ष आदि प्रमाण प्रमाण हैं (दृष्टान्त)। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इस नयको एकअंश करके संवादकपना है। पूर्णरूपसे संवादकपना वह हेतु पक्षमें न रहनेके कारण असिद्ध हेत्वाभास है। इसपर पुनः कोई बोलता है कि तब तो प्रत्यक्ष, स्मृति आदिको उस संवादकपना हेतुसे इस प्रकार प्रमाणपना कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि वे अस्मदादिकोंके प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान, आदिक भी तो एकदेश करके ही सम्वादक हैं। संपूर्णरूपसे सफल प्रवृत्ति करानेवाले नहीं हो सकते हैं। द्रव्यकी कुछ इनी गिनी पर्यायोंको जाननेवाला प्रत्यक्ष भला पूर्णरूपसे निर्णय करानेवाला संवादक कैसे हो सकता है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि कितनी एक पर्यायस्वरूप द्रव्यमें प्रवर्त रहे उस प्रत्यक्षको पूर्णतासे वह संवादकपना इष्ट किया है। सकल वस्तुको कहनेवाले वाक्यका तिसही प्रकार प्रमाणपने करके कथन किया गया है। वस्तुका पूर्णरूपसे कथन करनारूप सकलादेश तो प्रमाणके अधीन है। भावार्थ——सर्वज्ञके अतिरिक्त अस्मदादिकोंके प्रमाणज्ञानोंको सकलादेशीपना यथायोग्य संभवतः ही माना जाता है वस्तुका जितना अंश हम लोग जान सकते हैं उसमें ही सकलपने और विकलपनेका विभाग कर दिया जाता है, उतने अंशमें प्रत्यक्ष, स्मरण, आदिको संवादकपना प्रसिद्ध हो ही रहा है, यह तात्पर्य है।

न च सकलादेशित्वमेव सत्यत्वं विकलादेशिनो नयस्यासत्यत्वप्रसंगात्। न च नयोऽपि सकलादेशी, विकलादेशो नयाधीन इति वचनात्। नाप्यसत्यः सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात् प्रमाणवत्। ततः सूक्तं सकलादेशि प्रमाणं विकलादेशिनो नयादभ्यर्हितमिति सर्वथा विरोधाभावात्।

वस्तुके सकल अंगोंको कथन करनारूप सकलादेशीपन ही अकेला सत्य नहीं है । यों तो वस्तुके विकल अंगका निरूपण करनेवाले नयको असत्यपनेका प्रसंग होगा, जो कि इष्ट नहीं है। मिश्रित अन्नोंके स्वाद समान प्रत्येक अन्नमें भी गम्भीर स्वाद है । इस प्रसंगको दूर करनेके लिये नयको भी सकलादेशी कह देना ठीक नहीं पडेगा । क्योंकि विकल आदेश करना नयके अधीन है । ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है । और वह वस्तुका एकदेशी निरूपण करना रूप विकलादेश या नयज्ञान असत्य भी नहीं है । क्योंकि प्रमाण ज्ञानकी सत्यताके समान बाधक प्रमाणोंका भले प्रकार निश्चयरूपसे असम्भव होनेके कारण नयज्ञान भी सत्य माना गया है । तिस कारण हमने इस सूत्रकी तीसरी वार्तिकमें बहुत अच्छा कहा था कि सकलादेशी प्रमाण उस विकलादेशी नयसे अधिक पूज्य है । इस प्रकार कहनेमें सभी प्रकारोंसे विरोधका अभाव है ।

प्रमाणेन गृहीतस्य वस्तुनोंशेविगानतः ।
संप्रत्ययनिमित्तत्वात्प्रमाणाच्चेन्नयोर्चितः ।। २२ ।।
नाशेषवस्तुनिर्णीतिः प्रमाणादेव कस्यचित् ।
तादृक् सामर्थ्यशून्यत्वात् सन्नयस्यापि सर्वदा ।। २३ ।।

प्रमाणके द्वारा ग्रहण कर लिये गये वस्तुके अंशमें निर्दोषरूपसे भली प्रतीतिका निमित्त हो जानेके कारण नयज्ञान प्रमाणसे पूज्य है । अथवा प्रमाणसे जान लिये गये विषयके अवान्तर अंशमें कुछ संशय रह गया था । उस संशयको दूर कर समीचीन ज्ञप्तिका जनक होनेके कारण नयज्ञान प्रमाणसे पूज्य है । इस प्रकार कटाक्ष होनेपर आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि चाहे किसी भी प्रमाणके सम्पूर्णरूपसे वस्तुका निर्णय करना प्रमाणज्ञानसे ही होता हुआ संभव है । समीचीनसे भी अधिक समीचीन किसी भी नयकी तिस प्रकार सम्पूर्ण वस्तुका निर्णय कर लेनेकी सदा (कभी भी) सामर्थ्य नहीं है । अर्थात् वस्तुको संपूर्णरूपसे प्रमाण ज्ञान जानता है । प्रमाणसे जान चुकनेपर उस वस्तुके एक अंशमें नयज्ञान प्रवर्तता है । ऐसी दशामें प्रमाणसे अधिक पूज्य नयज्ञान नहीं हो सकता है । एक विदग्ध विद्वान् व्याकरण, सिद्धांत, न्याय, साहित्य, दर्शन आदि अनेक विषयोंका पारगामी है । और दूसरा विद्वान् केवल साहित्यके कुछ विशेष अंशोंको ही भले प्रकार जानता है । फिर भी वह उस षट् शास्त्रीसे अधिक आदरणीय कैसे भी नहीं माना जाता है ।

नयोऽभ्यर्हितः प्रमाणात् तद्विषयांशे विप्रतिपत्तौ संप्रत्ययहेतुत्वादिति चेन्न, कस्यचित्प्रमाणादेवाशेषवस्तुनिर्णयात्तद्विषयांशे विप्रतिपत्तेरसम्भवान्नयात् संप्रत्ययासिद्धेः । कस्यचित् तत्संभवे नयात्संप्रत्ययसिद्धिरिति चेत्, सकले वस्तुनि विप्रतिपत्तौ प्रमाणात् किं न

संप्रत्ययसिद्धिः। सोयं सकलवस्तुविप्रतिपत्तिनिराकरणसमर्थात् प्रमाणाद्वस्त्वेकदेशविप्रतिपत्तिनिरसनसमर्थं सन्नयमभ्यर्हितं ब्रुवाणो न न्यायवादी।

व्याख्या इस प्रकार है नैयायिकका आक्षेप है कि प्रमाणसे नय अधिक पूज्य है (प्रतिज्ञा)। क्योंकि उस प्रमाणके विषयभूत वस्तुके विशेष अंशमें विवाद उत्पन्न होनेपर नयज्ञान ही निर्णय करानेका निमित्त होता है (हेतु)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना चाहिये। कारण कि किसी भी जीवको प्रमाण द्वारा पूरे वस्तुका निर्णय हो जानेसे उस विषयके विशेष अंशमें जब संशयपूर्वक विवाद होना ही असम्भव है, तब नयसे सम्प्रतिपत्ति होना तो असिद्ध है। यदि यहां पर नैयायिक यों कहें कि किसी किसी ज्ञाताको विशेष अंशमें उस विप्रतिपत्तिके सम्भव होनेपर नयज्ञानसे भली प्रतीति होना सिद्ध देखा गया है, अतः नय पूज्य है। ऐसा कहनेपर तो हम समझाते हैं कि सम्पूर्ण वस्तुमें विवाद हो जानेपर क्यों नहीं प्रमाणके द्वारा समीचीन निर्णय होना सिद्ध माना जाता है। वस्तुके एक अंशमें विवाद होनेपर निर्णय करानेवाले नयज्ञानसे वस्तुके सकल अंशमें समारोप हो जानेपर निर्णय करानेवाले प्रमाणज्ञानको ही पूज्यपना आता है। एक रोगको दूर करनेवाली औषधिसे सम्पूर्ण रोगोंका नाश करनेवाली औषधि अधिक आदरणीय है। अतः यह प्रसिद्धवादी पक्षपातवश संपूर्ण वस्तुमें हुयी विप्रतिपत्तिके निराकरण करनेमें समर्थ हो रहे प्रमाण ज्ञानसे वस्तुके एक अंशमें हुयी विप्रतिपत्तिके निवारणमें समर्थ हुये समीचीन नयको पूज्य कह रहा है, ऐसा आग्रही पण्डित न्यायपूर्वक कहनेवाला नहीं समझा जा सकता है। नामसे नहीं किन्तु अर्थसे भी जिसको न्यायपूर्वक कहनेकी टेव है उसके ऊपर भारी उत्तरदायित्व स्थित है। तभी तो आचार्यने नयकी अपेक्षा पूज्य प्रमाणका पहिले प्रयोग किया है।

मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोपि वा।
ज्ञातस्यार्थस्य नांशेस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥ २४ ॥
निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात्।
तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितः ॥ २५ ॥

कोई शंका करते हैं कि आप जैनोंने यों कहा था कि प्रमाणोंसे जान ली गयी वस्तुके अंशोंमें नयज्ञान प्रवर्तते हैं, किन्तु मतिज्ञानसे अथवा अवधिज्ञानसे भी एवं मनःपर्ययज्ञानसे भी जान लिये गये अर्थके अंशोंमें तो नयोंकी प्रवृत्ति नहीं हो रही है। क्योंकि वे मति आदिक तीन ज्ञान सम्पूर्ण देश कालके अर्थोंको विषय नहीं कर पाते हैं ऐसा विशेषरूपसे निर्णीत हो चुका है। किन्तु सम्पूर्ण देशकालवर्ती वस्तुका समीचीन ज्ञान होनेपर ही नयज्ञानकी प्रवृत्ति होना माना गया है।

अतः तीन प्रमाणोंसे जान ली गयी वस्तुके अंशमें तो उस नयकी प्रवृत्ति न हुयी । इस प्रकार किन्हीं तर्क करनेवालोंने भाषण किया था । ग्रन्थकार कहते हैं कि सो युक्त ही है, क्योंकि तिस प्रकार हम इष्ट करते हैं । यानी मति, अवधि और मनःपर्ययसे जान ली गयी वस्तुके अंशमें नयकी प्रवृत्ति नहीं है ।

न हि मत्यवधिमनःपर्ययाणामन्यतमेनापि प्रमाणेन गृहीतस्यार्थस्यांशे नयाः प्रवर्तन्ते तेषां निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वात् मत्यादीनां तदगोचरत्वात् । न हि मनोमतिरप्यशेषविषया करणविषये तज्जातीये वा प्रवृत्तेः ।

जो अर्थ मति, अवधि, और मनःपर्यय, इन तीन ज्ञानोंमेंसे किसी एक प्रमाणसे भी ग्रहण कर लिया गया है । उस अर्थके अंशमें नयज्ञान नहीं प्रवर्तते हैं, क्योंकि वे नयज्ञान संपूर्ण देश,काल, सम्बन्धी अर्थके अंशोंको विषय करते हैं। जैसे कि द्रव्यार्थिक नयसे सभी नित्य हैं, पर्यायार्थिक नयसे सब पदार्थ अनित्य हैं । किन्तु मति आदि यानी मति, अवधि, मनःपर्यय, ये तीनों ज्ञान परिमित देश कालोंके अर्थोंको जानते हैं, उन सम्पूर्ण देश कालोंके अर्थोंको ये तीन ज्ञान विषय नहीं करते हैं । मन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ मानस मतिज्ञान भी सम्पूर्ण देश कालके विषयोंको नहीं जान पाता है। क्योंकि इन्द्रियोंके योग्य विषयमें अथवा उनकी जातिवाले अतीन्द्रिय विषयोंमें भी मानस मतिज्ञान प्रवर्तता है । पुद्गल, धर्मद्रव्य, संसारी आत्मा, आदिके संपूर्ण देश कालवर्ती अंशोंमें परोक्षरूपसे भी मानस मतिज्ञान नहीं प्रवर्तता है। भले ही धर्म आदिको कुछ अंशोंसे जानले, किन्तु नैगम, संग्रह, आदि नयोंकी प्रवृत्तिका क्षेत्र तो बहुत बडा माना गया है ।

त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः ।
केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥ २६ ॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु ।
श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥ २७ ॥

तीनों काल संबन्धी विषय होरहे संपूर्ण पदार्थोंके अंशोंमें प्रवृत्ति होनेके कारण उन नयज्ञानोंका मूल कारण केवलज्ञान मान लिया जाय, यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि अपने विषयोंकी परोक्ष (अस्पष्ट) रूपसे विकल्पना करते हुए नयज्ञान वर्त रहे हैं । किन्तु केवलज्ञानका प्रतिभास तो स्पष्ट होता है । केवलज्ञानको मूल भित्ति मानकर यदि नयज्ञानोंकी प्रवृत्ति होती तो नयोंके द्वारा पूर्ण विशद प्रतिभास हो जानेका प्रसंग आवेगा । नयज्ञान तो विषयोंको विशद जानता नहीं है । अतः परिशेष न्यायसे श्रुतज्ञानको मूलकारण मानकर ही नयज्ञानोंकी प्रवृत्ति होना सिद्ध माना गया है । प्रमाणोंके समान नयके इस सिद्धान्तको भविष्य ग्रन्थमें स्पष्ट कहेंगे अथवा जैसे समीचीन युक्तियोंसे

प्रमाण की सिद्धि है वैसे ही प्रथम अध्यायके अन्तिम सूत्रमें नय कही जावेंगी। वे भी श्रुतज्ञान मूलक ही सिद्ध होवेंगी।

यथैव हि श्रुतं प्रमाणमधिगमजसम्यग्दर्शननिबन्धनतत्त्वार्थाधिगमोपायभूतं मत्यवधिमनःपर्ययकेवलात्मकं च वक्ष्यमाणं तथा श्रुतमूला नयाः सिद्धास्तेषां परोक्षाकारतया वृत्तेः।

तात्पर्य यह है कि जैसे ही प्रमाणभूत श्रुतज्ञान अधिगमसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनके कारण होरहीं तत्त्वार्थोंकी अधिगतिका समीचीन उपाय होता हुआ सिद्ध है। और मति, अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान स्वरूप प्रमाणोंकी सिद्धि भी भविष्य ग्रन्थमें कह दी जावेगी। तिस ही प्रकार श्रुतज्ञानको मूल कारण मानकर सिद्ध हो रहे नयज्ञान भी कह दिये जावेंगे। अर्थात् मति आदिक पांच ज्ञानोंको जैसे प्रमाणपना कहा जावेगा, तैसे ही श्रुतमूलक नैगम आदिको नयपना भी सिद्ध कर दिया जावेगा। प्रमाण और नय दोनों करके पदार्थोंका अधिगम होता है। वे नय परोक्ष आकारपनेसे वर्त रहे हैं, यानी नयोंसे जाने गये पदार्थका अस्पष्ट प्रतिभास होता है। सर्वज्ञके पास नयज्ञान नहीं है। निर्विकल्पक समाधि अथवा उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणीमें श्रुतज्ञान तथा नयज्ञान होते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्यय, ज्ञानका वहां विशेष उपयोग नहीं है। हां! कभी कभी अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञानसे पदार्थका प्रत्यक्ष कर उसका ध्यान लगाया जा सकता है। पांच ज्ञानोंमें चार ज्ञान अविचारक हैं। अकेला श्रुतज्ञान ही विचार करनेवाला है। नयज्ञान भी विचारक हैं। तभी तो श्रुतज्ञानको मूलकारण मानकर नयोंकी प्रवृत्ति मानी है।

ततः केवलमूला नयास्त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वर्तनादिति न युक्तमुत्पश्याम स्तद्वत्तेषां स्पष्टत्वप्रसंगात्। तर्हि स्पष्टस्यावधेर्मनःपर्ययस्य वा भेदाः स्वयमस्पष्टा न युज्यन्ते श्रुताख्यप्रमाणमूलत्वे तु नयानामस्पष्टावभासित्वेनाविरुद्धानां सूक्तं तेभ्यः प्रमाणस्याभ्यर्हितत्वात् प्राग्वचनम्।

तिस ही कारण यानी नयोंके द्वारा परोक्ष (अस्पष्ट) प्रतिभास होनेके कारण ही हम इस कथनको युक्त नहीं समझते हैं कि तीनों काल सम्बन्धी संपूर्ण पदार्थोंके अंशोंमें वर्तनेके कारण नयोंका मूलकारण केवलज्ञान मान लिया जाय। क्योंकि उस केवलज्ञानके समान उन नयोंको भी स्पष्ट प्रतिभासीपनका प्रसंग हो जावेगा। मूलके अनुसार शाखायें होती हैं। तब तो विशदस्वरूप अवधि अथवा मनःपर्ययज्ञानोंके भेद स्वयं अस्पष्ट होयं, यह भी तो युक्त नहीं है। इस कारणसे भी नयज्ञान अवधि, मनःपर्ययके विशेष अंश नहीं कहे जा सकते हैं। किन्तु श्रुतज्ञान नामक प्रमाण ज्ञानको मूल कारण माननेपर तो नयोंका अस्पष्ट प्रतिभासीपनेसे कोई विरोध नहीं है। अतः हमने इस सूत्रकी दूसरी वार्तिकमें बहुत ठीक कहा था कि अकेले श्रुतज्ञानसे जाने गये अंशको अविशदरूप जाननेवाले उन नयोंसे स्पष्ट और अस्पष्टरूप करके संपूर्ण सारा वस्तुओंको जाननेवाले केवलज्ञान,

अवधि, मनःपर्यय, और मति, श्रुतज्ञानरूप प्रमाणोंका पूज्यपन होनेके कारण सूत्रमें पहिले वचनप्रयोग किया गया है ।

ननु प्रमाणनयेभ्योऽधिगमस्याभिन्नत्वान्न तत्र तेषां करणत्वनिर्देशः श्रेयानित्यारेकायामाह;—

यहां तर्क है कि प्रमाण और नयोंसे अधिगम होना जब अभिन्न है तो सूत्रमें उन प्रमाण नयोंको साधकतमरूप करणपनेसे तृतीयान्त कथन करना अच्छा नहीं है । अधिगमके समान प्रमाण नय भी प्रथमान्त होने चाहिये । इस प्रकार शंका होनेपर श्रीविद्यानंद आचार्य स्पष्ट (प्रकाश) उत्तर कहते हैं—

प्रमाणेन नयैश्चापि स्वार्थाकारविनिश्चयः ।
प्रत्येयोधिगमस्तज्ज्ञैस्तत्फलं स्याद्भेदभृत् ॥ २८ ॥
तेनेह सूत्रकारस्य वचनं करणं कृतः ।
सूत्रे यद्घटनां याति तत्प्रमाणनयैरिति ॥ २९ ॥

प्रमाण और नयों करके भी अपने और अर्थका उल्लेख करता हुआ ठीक निश्चय होना है उन प्रमाण नयोंके वेत्ता विद्वानों करके उस निश्चयको ही अधिगम समझ लेना चाहिये । प्रमाण नयोंसे अभेदको धारण करनेवाला अधिगम उन प्रमाण नयोंका फल है । तिस कारण इस सूत्रमें सूत्रकार श्रीउमास्वामीका वचन करणरूप कर दिया गया है । जिस प्रकार सूत्रमें घटित हो जाता है । उस प्रकार " प्रमाणनयैः " ऐसा तृतीयान्त निर्देश किया गया है । क्रियारूप फल प्रथमान्त होता है । उसका जनक तृतीयान्त होता है । भावार्थ—अग्निना दहति, अग्निसे जलता है, यहां करणसे क्रिया अभिन्न हो रही है । तैसे ही प्रमाण और नयोंसे अधिगम होना यहां भी करणसे फलरूप क्रिया कथंचित् अभिन्न है । किसी अपेक्षासे भिन्न भी है ।

न हि प्रमाणेन नयैश्चाव्यवसायात्माधिगमः क्वचित्संभाव्यः क्षणक्षयादावपि तत्प्रसंगात् । व्यवसायजननः स्वयमनध्यवसायात्माप्यधिगमो युक्त इति चेन्न, तस्य तज्जननविरोधात् स्वलक्षणवत् ।

बौद्धोंके प्रति आचार्य महाराज कहते हैं कि तुम्हारे मतमें प्रमाण और नयों करके निश्चय रूप अधिगम होना कहीं भी संभावित नहीं है । अन्यथा क्षणिकपने, स्वर्गप्रापणशक्ति आदिमें भी निश्चय हो जानेका प्रसंग हो जावेगा । भावार्थ—बौद्धोंने निर्विकल्पक प्रमाण ज्ञानसे अनध्यवसाय रूप निर्विकल्पक ज्ञप्ति होना ही इष्ट किया है । निर्विकल्पक प्रमाणोंसे निश्चयात्मक ज्ञप्ति होना असम्भव है । स्वलक्षणके क्षणिकपनेका और दानी जीवकी स्वर्गप्रापणशक्तिका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं

होता है, किन्तु अनध्यवसाय रूप ज्ञान होता है। बौद्धोंके यहां वास्तविक पदार्थोंका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (अनिश्चयरूप) ज्ञान होना माना है। निश्चयरूप ज्ञप्ति तो मिथ्याज्ञानोंसे होती है। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि स्वयं अनध्यवसाय स्वरूप निर्विकल्पक अधिगमसे भी उत्तरक्षणमें व्यवसाय (निश्चय) हो जाना युक्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि स्वलक्षणके समान निर्विकल्पक ज्ञानसे निश्चयात्मक सविकल्पककी उत्पत्ति होनेका विरोध है। अर्थात् बौद्धोंके यहां स्वलक्षण अनिर्देश्य है। धर्म धर्मी, स्वभाव स्वभाववान्, आधार आधेय, आदि झूंठी कल्पनाएं उसमें नहीं हैं। अतः विकल्परहित है। तभी तो विकल्परहित स्वलक्षणसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्पक माना गया है। इसी युक्तिसे हमारा कहना है कि निर्विकल्पक अर्थ (स्वलक्षण) से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान जैसे व्यवसायरूप नहीं होता है, उसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञानसे भी निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। बौद्धोंके यहां वस्तुभूत क्षणिक परमाणु, विज्ञान, नील, पीत आदि पदार्थोंकेलिये स्वलक्षण शब्दका प्रयोग करना पारिभाषिक है।

बोधः स्वयमविकल्पकोपि विकल्पमुपजनयति न पुनरर्थ इति किं कृतो विभागः ? पूर्वविकल्पवासनापेक्षादविकल्पप्रतिभासाद्विकल्पस्योत्पत्तौ कथमर्थात्साक्षात्तदुत्पत्तिः । यथा चाप्रतिभातादर्थात्तदुत्पत्तावतिप्रसंगस्तथा स्वयमनिश्चितादपि ।

बौद्धोंकी निर्बलताको आचार्य महाराज बता रहे हैं कि प्रमाण ज्ञान स्वयं निर्विकल्पक होता हुआ भी निश्चयरूप विकल्पको उत्पन्न कर देवे, किन्तु निर्विकल्पक स्वलक्षणरूप अर्थ सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न न करे, यह विभाग किस नियमसे किया गया है ? अर्थात् जिस कारणसे ज्ञान उत्पन्न होगा वह ज्ञान उस कारणके अनुरूप ही बनेगा। तभी तो निर्विकल्पक अर्थसे उत्पन्न निर्विकल्पक प्रमाण माना है। तिसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञानसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी निर्विकल्पक ही होगा। निश्चयरूप सविकल्पक कैसे भी नहीं। यदि आप बौद्ध पूर्वकालमें हुयीं विकल्प वासनाओंकी अपेक्षा रखते हुए निर्विकल्पक ज्ञानसे निश्चयस्वरूप विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति मान लोगे तो पूर्व विकल्पवासनाओंकी अपेक्षा रखनेवाले तैसे अर्थसे ही क्यों नहीं सीधी (व्यवधानरहित) विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति मान ली जाय, बीचमें निर्विकल्पक ज्ञानकी परम्परा देनेका परिश्रम व्यर्थ क्यों उठाया जाता है ? जिस प्रकार आप बौद्ध यों कह सकते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञानसे नहीं जान लिये गये अर्थसे एकदम उस विकल्पकी उत्पत्ति माननेमें अतिप्रसंगदोष होगा। यानी नील, पीत, आदि अर्थसे पर्वत, समुद्र, आदि चाहे जिसका भी विकल्पज्ञान बन बैठेगा। तिस प्रकार ही हम कह सकते हैं कि स्वयं नहीं निश्चय किये निर्विकल्पकसे भी विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें अतिप्रसंगदोष होगा। अर्थात् चाहे जिस अनिश्चित अर्थका विकल्पक ज्ञान हो जाओ ! कौन रोक सकता है ? ।

यदि पुनरर्थदर्शनं तद्विकल्पवासनायाः प्रबोधकत्वाद्विकल्पस्य जनकं तदा क्षणक्षयादौ विकल्पजननप्रसंगस्तत एव तस्य नीलादाविव तत्राप्यविशेषात् ।

यदि फिर बौद्ध यों कहें कि अर्थका निर्विकल्पक दर्शन तो उसकी विकल्पवासनाका जगानेवाला होनेसे विकल्पज्ञानको उत्पन्न कर देता है। विना जाने हुए अर्थसे चित्तमें बैठी हुयी विकल्पवासनाएं प्रबुद्ध नहीं होपाती हैं। तब तो हम कहेंगे कि तिस ही कारण क्षणमें क्षय हो जाना, स्वर्गप्रापण करा देना आदि निर्विकल्पकसे जाने हुए विषयोंमें भी विकल्पके उत्पन्न हो जानेका प्रसंग होगा जब कि नील पीत, आदि स्वलक्षणोंके उस निर्विकल्पक ज्ञानने नील आदिमें होनेवाले विकल्पज्ञानकी जननी विकल्पवासनाका जैसे प्रबोध कराया है। उसी प्रकार क्षणिकत्वका निर्विकल्पक ज्ञान भी वहां क्षणिकत्वके विकल्पज्ञानको उत्पन्न करानेमें भी सहायक हो रही विकल्पवासनाका प्रबोधक हो जावेगा। कोई अन्तर नहीं है तो फिर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा अनध्यवसायरूपसे जानलिये गये क्षणनाशीकपनेका या दानी विज्ञानकी स्वर्गप्रापणशक्तिका अथवा हिंसककी नरकप्रापणशक्तिका निश्चयरूप विकल्पज्ञान क्यों न हो जाय ? जो कि आपको इष्ट नहीं है।

क्षणक्षयादावनभ्यासान्न तत्तद्विकल्पवासनायाः प्रबोधकमिति चेत्, कोयमभ्यासो नाम ? बहुशो दर्शनमिति चेन्न, तस्य नीलादाविव तत्राप्यविशेषादभावासिद्धेः। तद्विकल्पोत्पत्तिरभ्यास इति चेत् तस्य कुतः क्षणक्षयादिदृष्टावभावः ? तद्विकल्पवासनाप्रबोधकत्वाभावादिति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः। सिद्धे हि क्षणक्षयादौ दर्शनस्य तद्विकल्पवासनाप्रबोधकत्वाभावेऽभ्यासाभावस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च तत्सिद्धिरिति।

यदि बौद्ध यों कहें कि क्षणिकत्व आदिमें अभ्यास नहीं होनेके कारण वह क्षणिकत्वका निर्विकल्पक ज्ञान उसकी विकल्पवासनाका उद्बोधक नहीं है। नील, पीतमें अभ्यास हो जानेसे वासना शीघ्र उद्बुद्ध हो जाती है, इसपर तो हम पूंछेंगे कि आपके यहां यह अभ्यास भला क्या पदार्थ माना गया है ? बताओ ! बहुत बार किसी विषयका निर्विकल्पक ज्ञान हो जाना तो अभ्यास नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसा अभ्यास तो नील, पीत, आदि स्वलक्षणोंमें जैसे है उसीके समान उन क्षणक्षय आदिके दर्शनमें भी विद्यमान है कोई अन्तर नहीं है। अतः उस अभ्यासका क्षणिकत्व आदिमें अभाव कहना असिद्ध है। जो नील, पीत, आदिको जानता है उसी समय उनके वस्तुभूत क्षणिकत्व आदिको भी निर्विकल्पक द्वारा जान लेता है। यदि उनके विकल्पज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जाना ही अभ्यास माना जावेगा तो क्षणिकत्व आदिके निर्विकल्पक दर्शनमें उस अभ्यासका अभाव है। यह कैसे कहा जाय ? बताओ। यदि उनकी विकल्पवासनाओंका प्रबोध करानेवाला न होनेसे अभ्यासका अभाव कहा जावेगा तब तो यह वही अन्योन्याश्रयदोष हुआ। क्षणिकत्व आदिमें हुए निर्विकल्पकदर्शनको उन क्षणक्षय आदिकी विकल्पवासनाओंके प्रबोधकपनेका अभाव सिद्ध हो जाय। तब विकल्प उत्पन्न हो जानारूप अभ्यासका अभाव सिद्ध होय, और अभ्यासके अभावकी सिद्धि हो जानेपर क्षणिकत्वमें हुए निर्विकल्पकको उसकी विकल्पवासनाका प्रबोधकत्वाभाव सिद्ध

होवे । विकल्पकी उत्पत्तिके नियम करनेका प्रश्न चल रहा है, किन्तु उसीमें विकल्पकी उत्पत्तिरूप अभ्यासको नियामक माना जावेगा तो स्पष्टरूपसे परस्पराश्रय दोष है ।

एतेन नीलादौ दर्शनस्य तद्वासनाप्रबोधकत्वाभ्यासेऽभ्योऽन्योन्याश्रयो व्याख्यातः । सति तद्वासनाप्रबोधकत्वे तद्विकल्पोत्पत्तिलक्षणोऽभ्यासस्तत्र च सति तदिति नीलादाविव क्षणक्षयादावपि दर्शनस्यास्याविशेष एव, क्वचिदभ्यासस्यानभ्यासस्य वा व्यवस्थापयितुमशक्तेः ।

इस कथनसे नील, पीत आदिमें हुए दर्शनको उनकी विकल्प वासनाओंका प्रबोधकत्वरूप अभ्याससे भी अन्योन्याश्रय है ऐसा व्याख्यान कर दिया गया समझ लेना चाहिये । उन नील, आदिकोंकी वासनाओंका प्रबोधकपना होनेपर उनका विकल्पज्ञान उत्पन्न होना स्वरूप अभ्याससिद्ध होय और विकल्पोत्पत्तिरूप उस अभ्यासके सिद्ध हो जानेपर उनकी वासनाका प्रबोधकत्व सिद्ध होय । भावार्थ—पहिले विकल्पवासनाओंके प्रबोधकपनेको मध्यमें डालकर विकल्पोत्पत्तिरूप अभ्यासका अन्योन्याश्रयदोष दिया था और अब वासनाको प्रबोध करनेवाले विकल्पकी व्यवस्था करनेके लिये विकल्पोत्पत्तिको मध्यमें डालकर वासनाप्रबोधकत्वसे अन्योन्याश्रयदोष दिया है । इस प्रकार नील आदिके समान क्षणक्षय, स्वर्गप्रापणशक्ति आदिमें भी इस निर्विकल्पक दर्शनके हो जानेका कोई अन्तर नहीं है । ऐसी दशामें कहीं नील, पीत, आदिकों हीमें तो अभ्यास स्वीकार कर लेना और कहीं क्षणिकत्व आदिमें अभ्यास न मानना ऐसी पक्षपातपूर्ण व्यवस्था नहीं की जा सकती है ।

वस्तुस्वभावान्नीलादावनुभवः पटीयांस्तद्वासनायाः प्रबोधको न तु क्षणक्षयादाविति चेत्, किमिदं तत्रानुभवस्य पटीयस्त्वं ? तद्विकल्पजनकत्वमिति चेत् तदेव कुतः ? तद्वासनाप्रबोधकत्वादिति चेत् सोयमन्योन्यसंश्रयः । स्पष्टत्वं तु यदि तस्य पटीयस्त्वं तदा क्षणक्षयादावपि समानम् ।

बौद्ध कहते हैं कि हम क्या करें ? वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है । जिससे कि नील, पीत, आदि स्वलक्षणोंमें उत्पन्न हुआ अत्यन्त कुशल अनुभव तो उन नील, पीत, आदिके विकल्पज्ञानोंकी वासनाका प्रबोधक हो जाता है । किन्तु क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति, आदिकोंमें उत्पन्न हुआ अनुभव इतना दक्ष नहीं है जो कि उनके विकल्पोंकी वासनाओंका जगानेवाला हो सके । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि बतलाओ ! उन नील, आदिमें हुए प्रत्यक्ष ज्ञानरूप अनुभवकी यह अत्यन्त कुशलता क्या पदार्थ है ? । इसपर बौद्ध यदि यह उत्तर देवें कि उनमें विकल्पज्ञानको पैदा करा देना ही अनुभव की दक्षता है, तब तो फिर हम पूंछेंगे कि वह विकल्पज्ञानकी जनकतारूप दक्षता भला कहांसे आयी ? बतलाओ ! इसका समाधान बौद्ध यदि यह करें कि उन नील, आदिककी विज्ञानरूप आत्मामें बैठी हुयी वासनाका उद्बोधकपना हो जानेसे अनु-

भवको विकल्पज्ञानकी जनकता आ जाती है ऐसा माननेपर तो यह वही परस्पराश्रयदोष हुआ। कारकपक्षमें हुआ अन्योन्याश्रय विशेष खटकनेवाला दोष है। यदि स्पष्टपना उस अनुभवकी दक्षता कही जावेगी तब तो वह स्पष्टपना क्षणिकत्व आदिमें भी समानरूपसे विद्यमान है। भावार्थ— बौद्ध मतके अनुसार नील, पीत, आदि स्वलक्षणोंका निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा जैसे स्पष्ट अनुभव हुआ है, वैसा ही पदार्थोंके क्षणिकपनेका या हिंसक जीव की नरकप्रापणशक्ति आदिका भी स्पष्ट ज्ञान हो चुका है, अन्यथा वे क्षणिकत्व आदिक वास्तविक नहीं हो सकते थे। वस्तुभूत पदार्थोंका प्रत्यक्ष होना ही बौद्धोंने माना है। अनुमान प्रमाण तो जान लिये गये विषयमें भ्रमवश उत्पन्न हुए समारोपको दूर करनेवाला बौद्धोंने स्वीकार किया है।

प्रकरणार्थित्वापेक्षो नीलादावनुभवस्तद्वासनायाः प्रबोधक इत्यप्यसारम्, क्षणक्षयादावपि तस्याविशेषात्। सत्यपि क्षणक्षयादौ प्रकरणेऽर्थित्वे च तद्विकल्पवासनाप्रबोधकाभावाच्च नीलादौ न तदपेक्षं दर्शनं तत् प्रबोधकं युक्तं, व्यभिचारात्।

अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव और अर्थीपन ये चार उद्बोधक कारण माने गये हैं। नील, पीत, आदिके समान क्षणिकपने आदिमें भी विकल्पज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता है ? बौद्धोंकी ओरसे इसके उत्तरमें दिये गये अभ्यास और बुद्धिकी अतीव पटुताका विचार होकर खण्डन कर दिया गया है। अब प्रकरण और अर्थीपनका विचार करते हैं। बौद्ध कहते हैं कि नील आदिकोंके विकल्पज्ञान होनेका प्रकरण है। तथा अभिलाषुकता है। अतः प्रकरण और अभिलाषा या जिज्ञासाका विषय हो जानापनकी अपेक्षा रखनेवाला नील आदिकोंमें उत्पन्न हुआ अनुभव तो उनकी विकल्पवासनाओंका उद्बोधक हो जाता है, किन्तु क्षणिकत्व आदिका प्रकरण और प्रयोजन नहीं है। अतः क्षणिकपनेको जाननेवाला निर्विकल्पक ज्ञान उसकी वासनाका प्रबोधक नहीं होता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी साररहित है। क्योंकि क्षणिकत्व आदिमें भी उत्पन्न हुए उस अनुभवको प्रकरण और अर्थित्वकी अपेक्षासे सहितपना समानरूपसे विद्यमान है। कोई विशेषता नहीं है। दूसरी बात यह है कि क्षणिकत्व आदिमें प्रकरण और अर्थित्वके होनेपर भी अनुभवको उनके विकल्पज्ञानोंकी वासनाका उद्बोधपना नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि नील, आदिकमें भी उन प्रकरण और अर्थित्वकी अपेक्षा रखते हुए निर्विकल्पक ज्ञानको भी उस वासनाका प्रबोधक कहना युक्तिसहित नहीं है। क्योंकि आप बौद्धोंके माने गये कार्यकारणभावमें व्यभिचारदोष देखा जाता है। कारणके होनेपर कार्यका न होना यह अन्वयव्यभिचार लागू हुआ। व्यभिचारदोष लगजानेसे कोई कार्य समीचीन नहीं हो पाते हैं।

नीलादौ दर्शनस्य सामर्थ्यविशेषस्तत्कार्येण विकल्पेनानुमीयमानस्तद्वासनायाः प्रबोधको नाभ्यासादिरिति चेत् तर्हि सामर्थ्यविशेषोऽर्थस्यैव साक्षाद्व्यवसायेनानुमीयमानोऽव्यवसायस्य जनकोऽस्तु किमदृष्टपरिकल्पनया ?

बौद्ध कहते हैं अभ्यास, बुद्धिपाटव, प्रकरण, और अभिलाषीपनेसे उन वासनाओंका प्रबोध होना हम नहीं मानते हैं। किन्तु नील आदिकके निर्विकल्पक ज्ञानके अनन्तर उसका कार्य नील आदिका सविकल्पक ज्ञान होना देखा जाता है और क्षणिकत्वके ज्ञानके पश्चात् उसका विकल्पज्ञानरूप कार्य होता हुआ नहीं दीखता है। अतः नील आदिमें हुए उस निर्विकल्पक दर्शनके कार्यरूप विकल्पज्ञानसे नीलदर्शनकी विशेष सामर्थ्यका अनुमान कर लिया जाता है। वह अनुमानसे ज्ञात किया विलक्षण सामर्थ्य ही नील आदिककी विकल्पवासनाका उद्बोधक है। किन्तु वह विशेषसामर्थ्य क्षणिकत्वके दर्शनमें नहीं है। अतः उसकी विकल्पवासनाओंका प्रबोध नहीं हो पाता है। इस प्रकार बौद्धोंके माननेपर तब तो हम कहेंगे कि यह आपका कार्यकारण भाव ठीक है, कार्योंके अनुसार कारणोंमें सामर्थ्य मानना अच्छा मार्ग है। किन्तु आपके कहनेमें थोडीसी कसर है, उसको दूर कर दीजिये। एकदम पदार्थोंमें उत्पन्न हुए निश्चय ज्ञानके द्वारा अनुमान किया गया वह विशेषसामर्थ्य अर्थके ही साक्षात् निर्णय करनेका जनक हो जाओ। नहीं देखे गये अप्रामाणिक पदार्थकी कल्पनासे क्या लाभ है? अर्थात् अर्थसे पहिले निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न करना और पीछे उस निर्विकल्पकी सामर्थ्यसे सविकल्पक ज्ञान पैदा होना, ऐसा क्रम दीखता नहीं है। किन्तु पहिलेसे ही एकदम वास्तविक अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। विशेष शक्तिका मानना तो आपको आवश्यक है ही, फिर शिरका चक्कर देकर नाक पकडनेके समान परम्परा डालनेकी क्या आवश्यकता है? आप ही सोचो।

यतश्च सामर्थ्यविशेषाद्दर्शनं व्यवसायस्य जनकं तद्वासनायाश्च प्रबोधकं तत एवात्मा तज्जनकस्तत्प्रबोधकश्चास्तु। तथा च नाम्न्येव विवादो दर्शनमात्मेति नार्थे तत्तदावरणविच्छेदविशिष्टस्यात्मन एवेन्द्रियादिबहिरंगकारणापेक्षस्य यथासम्भवं व्यवसायजनकत्वेनेष्टत्वात् तद्व्यतिरेकेण दर्शनस्याप्रतीतिकत्वाच्चेति निवेदयिष्यते प्रत्यक्षप्रकरणे। ततो नाव्यवसायात्मा प्रत्यक्षोधिगमोर्थानां सर्वथानुपपन्नत्वात्।

दूसरी बात यह है कि निर्विकल्पक ज्ञान जिस विशेष शक्तिके बलसे निश्चयात्मक विकल्पज्ञानका उत्पादक है और उसकी वासनाका उद्बोधक है, तिसही सामर्थ्यसे आत्मा उस निश्चयका जनक और उसकी वासनाका प्रबोधक हो जाओ। एवं तिस प्रकार होनेपर तो हम स्याद्वादी और आप बौद्धोंके नाम रखनेमें ही विवाद है, सिद्धान्त अर्थमें कोई विवाद नहीं। जिसको आप दर्शन कहते हैं, वही हमारे यहां आत्मा है। उन उन ज्ञानावरणोंके क्षयोपशमरूप विशेष अपगमसे युक्त हुआ आत्मा ही इन्द्रिय, मन:, क्वचित् प्रकाश, आदि बहिरंग कारणोंकी अपेक्षा रखता हुआ यथायोग्य निश्चय ज्ञानका जनक होरहा है, ऐसा हम स्याद्वादियोंने इष्ट किया है। यह भी समझने योग्य है कि उस आत्मद्रव्यके अतिरिक्त कोई निर्विकल्पक दर्शन कभी प्रतीत भी नहीं हुआ है।

इस बातका आगेके प्रत्यक्ष प्रकरणमें विस्तारके साथ निवेदन कर दिया जावेगा। तिस कारण अब तक सिद्ध हुआ कि प्रमाण और नयोंके द्वारा अर्थोंका निश्चयात्मक अधिगम होता है। प्रमाण नयोंसे अर्थोंका अनिश्चयात्मक दर्शन या अनध्यवसाय स्वरूप ज्ञान नहीं होता है। यह विश्वास रक्खो क्योंकि सब ही प्रकारोंसे बौद्धोंका सिद्धान्त युक्तियोंसे सिद्ध नहीं हो सका है। यहांतक प्रकरणका उपसंहार कर दिया है।

पुरुषस्य स्वव्यवसाय एवाधिगमो नार्थव्यवसायस्तद्व्यतिरेकेणार्थस्याभावादिति केचिद्वेदान्तवादिनः, तेऽपि न तात्त्विकाः। पुरुषाद्भिन्नस्याजीवार्थस्य जीवादिसूत्रे साधितत्वात् तद्व्यवसायस्यापि घटनात्।

अट्ठाइसवीं कारिकामें श्रीविद्यानन्द आचार्यने कण्ठोक्त कहा है कि प्रमाण और नयों करके स्वयं अपना और अर्थका विकल्प (आकार) करनेवाला निश्चय होता है। इसपर ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि आत्माके अपना व्यवसाय होनेरूप अधिगम ही होता है। अर्थका निश्चय करना रूप अधिगम नहीं होता। क्योंकि उस ब्रह्मके अतिरिक्त बहिरंग अर्थ कोई नहीं है। इस प्रकार कोई वेदान्तवादी कह रहे हैं, वे भी वास्तविक तत्त्वोंको जाननेवाले नहीं हैं। क्योंकि आत्मासे भिन्न होरहे अजीव पदार्थको हमने चौथे " जीवाजीवास्रव " आदि सूत्रमें सिद्ध कर दिया है। अतः ज्ञान या आत्माके सिवाय उस अजीव अर्थका निर्णय होना भी घटित हो जाता है।

अर्थस्यैव व्यवसायो न स्वस्य स्वात्मनि क्रियाविरोधात् इत्यपरः सोऽपि यत्किञ्चनभाषी, स्वात्मन्येव क्रियायाः प्रतीतेः। स्वात्माहि क्रियायाः स्वरूपं यदि तदा कथं तत्र तद्विरोधः सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपे विरोधानुषक्तेर्निःस्वरूपत्वप्रसंगात्। क्रियावदात्मा स्वात्मा चेत्, तत्र तद्विरोधे क्रियायाः निराश्रयत्वं सर्वद्रव्यस्य च निष्क्रियत्वमुपढौकेत। न चैवम्। कर्मस्थायाः क्रियायाः कर्मणि कर्तृस्थायाः कर्तरि प्रतीयमानत्वात्।

वैशेषिकका कहना है कि प्रमाण या नयों करके अकेले अर्थका ही निश्चय होता है, स्वयं अपना व्यवसाय नहीं हो पाता है। क्योंकि स्वयं की अपनी आत्मामें क्रिया होनेका विरोध है। कितनी ही पैनी तलवार क्यों न हो, स्वयं अपनेको आप ही नहीं काट सकती है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार किसी दूसरे वैशेषिक या नैयायिकका कहना है। वह भी जो कुछ मनमें आवे, वैसा कहनेवाला है, युक्त अयुक्तका विचार करनेवाला नहीं है। वास्तवमें देखा जाय तो सम्पूर्ण क्रियाओंकी अपनी आत्मामें ही प्रवृत्ति होना प्रतीत होरहा है। निश्चय नयसे घट, पट, गृह, आत्मा, लोक, आदि सम्पूर्ण पदार्थ अपने आपमें ही रहते हैं। व्यवहार नयसे भी दीपक अपना प्रकाश अपने आप करता है। स्वात्मामें क्रियाका होना विरुद्ध है ऐसा सिद्धान्त करनेपर

आपसे हम पूंछते हैं कि क्रियाका स्वरूप ही यदि स्वात्मा है तब तो भला उस क्रियाके स्वरूपमें क्रियाके वर्तनेका विरोध क्यों होने लगा ? अन्यथा सभी वस्तुओंका अपने अपने स्वरूपमें विरोध होनेका प्रसंग होगा। तथा च सम्पूर्ण पदार्थोंको स्वरूपरहितपनेका प्रसंग हो जावेगा। अग्निका स्वरूप उष्णता है। आत्माका स्वरूप ज्ञान है। यदि स्वरूपके साथ विरोध होने लग जाय तो अग्नि अनुष्ण हो जायगी और आत्मा अज्ञान जड हो जायगा। यदि स्वात्मामें क्रियाका विरोध है। यहां स्वात्माका अर्थक्रिया आधारस्वरूप अर्थ लिया जाय और ऐसा करनेपर उस क्रियावान्में उस क्रियाके रहनेका विरोध माना जाय। तब तो सम्पूर्ण क्रियायें आश्रयरहित हो जायगी और सम्पूर्ण द्रव्योंको क्रिया-रहितपनेका प्रसंग बढेगा। भावार्थ—जब क्रिया अपने अधिकरणमें ही न रहेगी। विरोध होनेके कारण क्रियावान् पदार्थ क्रियाको अपने पास न आने देंगे तो क्रिया अवश्य निराश्रय हो जायगी। और विना आश्रयके क्रिया रह नहीं सकती, तथा विरोध होनेके कारण क्रिया जब क्रियावानोंमें न वर्तेगी तो सम्पूर्ण जीव, पुद्गल द्रव्य क्रियारहित होते हुए जहांके तहां ठहरे रहेंगे। किन्तु इस प्रकार क्रियाओंका निराधारपना और द्रव्योंका क्रियारहितपना नहीं देखा जाता है। प्रत्युत देवदत्त भातको पकाता है। यहां कर्ममें रहनेवाली सकर्मक पाकक्रियाका भातरूप कर्ममें ठहरना प्रतीत हो रहा है और बालक डरता है। विद्यार्थी जागता है। यहां कर्तामें रहनेवाली डरना, जागना, रूप अकर्मक क्रियाएं बालक और विद्यार्थियोंमें ठहरती हुयी देखी जा रही हैं। यानी क्रिया साश्रय है और द्रव्य सक्रिय है।

यदि पुनः ज्ञानक्रियायाः कर्तृसमवायिन्याः स्वात्मनि कर्मतया विरोधस्ततोन्यत्रैव कर्मत्वदर्शनादिति मतं, तदा ज्ञानेनार्थमहं जानामीत्यत्र ज्ञानस्य करणतयापि विरोधः स्यात् क्रियातोऽन्यस्य करणत्वदर्शनात्। ज्ञानक्रियायाः करणज्ञानस्य चान्यत्वादविरोध इति चेत्, किं पुनः करणज्ञानं का वा ज्ञानक्रिया ? विशेषणज्ञानं करणं विशेष्यज्ञानं तत्फलत्वात् ज्ञानक्रियेति चेत्, स्यादेवं यदि विशेषणज्ञानेन विशेष्यं जानामीति प्रतीति-रुत्पद्येत्। न च कस्यचिदुत्पद्यते। विशेषणज्ञानेन विशेषणं विशेष्यज्ञानेन च विशेष्यं जानामीत्यनुभवात्। करणत्वेन ज्ञानक्रियायाः प्रतीयमानत्वादविरोधे कर्मत्वेनाप्यत एवा-विरोधोऽस्तु, विशेषाभावात्।

यदि फिर किसीका यह मन्तव्य होय कि कर्तामें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाली सकर्मक ज्ञान-क्रियाका स्वयं अपने स्वरूपमें कर्मपनेसे रहनेका विरोध है। क्योंकि उस अपने स्वरूपसे भिन्न पदार्थमें ही कर्मपना देखा जाता है। देवदत्त लड्डूको खाता है। यहां खानेवाला देवदत्त है, लड्डूका खाना है, खानारूप क्रिया स्वयं खानेमें नहीं रहती। भक्षणका भक्षण नहीं हो सकता है। इसीके सदृश घटका ज्ञान हो सकता है। ज्ञानका स्वयं ज्ञान नहीं हो सकता है। एक ज्ञानको

जाननेके लिये दूसरा ज्ञान उठाना पडता है, ऐसा मन्तव्य होनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि तब तो " ज्ञान करके अर्थको मैं जानता हूं । " इस स्थलमें ज्ञानका करणपनेके साथ भी विरोध हो जायगा। क्योंकि देवदत्त कुठार करके काठको काटता है, यहां छेदनक्रियासे भिन्न कुठारको करणपना देखा जाता है । अतः ज्ञानक्रियाका ज्ञानकरण भी न होना चाहिये । इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि ज्ञप्तिरूप ज्ञानक्रियासे करणरूप ज्ञान भिन्न है । अतः भिन्न ज्ञानद्वारा ज्ञप्तिक्रिया हो जानेका कोई विरोध नहीं है, ऐसा कहनेपर हम स्याद्वादी पूंछते हैं कि फिर बताओ ! आप वैशेषिकोंके मतमें करणज्ञान क्या पदार्थ है ? और उससे न्यारी ज्ञानक्रिया क्या वस्तु है ? बतलाइये । यदि आप विशेषणके ज्ञानको करण और विशेष्यके ज्ञानको उसका फल हो जानेसे ज्ञानक्रिया कहोगे तो इस प्रकार कहना तब सिद्ध हो सकता था कि यदि विशेषणके ज्ञानसे विशेष्यको मैं जान रहा हूं ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती। किन्तु किसी भी जीवके उक्त प्रकारकी प्रतीति उत्पन्न नहीं हो रही है । प्रत्युत विशेषण ज्ञान करके विशेषणको और विशेष्यके ज्ञान करके विशेष्यको मैं जान रहा हूं ऐसा सबको अनुभव हो रहा है । दण्डज्ञानसे दण्डीका ज्ञान नहीं होता है, किन्तु करणरूप दण्डज्ञानसे दण्डज्ञप्ति और करणरूप दण्डिज्ञानसे दण्डीकी ज्ञप्ति हो रही है । हां ! कचित् अनुमानके प्रकरणमें धूमज्ञानसे व्याप्तिस्मरण और पक्षधर्मता ज्ञान द्वारा अग्निकी ज्ञप्ति अथवा पुरुष स्मरणकी सहायता पाकर दण्डज्ञानसे दण्डी पुरुषकी ज्ञप्ति हो जाती है । वहां कारकपक्ष या परम्परा ज्ञापकपक्ष है। धूमज्ञान अग्निज्ञानका सहायक कारक हो सकता है, किन्तु यहां अव्यवहित ज्ञापकका पक्ष चल रहा है । यदि वैशेषिक यों कहें कि प्रतीतिके अनुसार वस्तुव्यवस्था मानी जाती है, ज्ञानक्रियाकी करणपनेसे ज्ञानके साथ रहनेकी प्रतीति हो रही है, अतः कोई विरोध नहीं है, तब तो हम कहेंगे कि इस ही प्रतीति होनेके कारण ज्ञानक्रियाका ज्ञानके साथ कर्मपनेसे भी विरोध न होओ ! कथञ्चित् भेदकी अपेक्षा कर्मपने और करणपनेमें कोई अन्तर नहीं है ।

चक्षुरादिकरणं ज्ञानक्रियातो भिन्नमेवेति चेन्न, ज्ञानेनार्थं जानामीत्यपि प्रतीतेः। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं चक्षुराद्येव ज्ञानक्रियायां साधकतमं करणमिति चेत् न, तस्य साधकतमत्वनिराकरणात् । तत्र ज्ञानस्यैव साधकतमत्वोपपत्तेः ।

वैशेषिकोंका नेत्र, आलोक, सन्निकर्ष, आदिक करण तो ज्ञानक्रियासे भिन्न ही हैं । इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि चक्षुःकरके मैं देख रहा हूं । इससे बढकर ज्ञान करके मैं अर्थको जान रहा हूं ऐसी भी प्रतीति हो रही है । इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि ज्ञान करके मैं जान रहा हूं, यहां जाना जाय जिस करके इस निरुक्ति द्वारा ज्ञान शब्दके अर्थ नेत्र, आलोक, आदिक ही ज्ञानक्रियामें प्रकृष्ट उपकारक करण पडते हैं सो यह तो न कहना । क्योंकि उन नेत्र,

सन्निकर्ष, आदिको ज्ञप्ति क्रियाके साधकतमपनेका खण्डन कर दिया गया है। उस ज्ञप्ति क्रियामें ज्ञानको ही करणपना युक्तियोंसे सिद्ध हो चुका है।

ननु यदेवार्थस्य ज्ञानक्रियायां ज्ञानं करणं सैव ज्ञानक्रिया, तत्र कथं क्रियाकरणव्यवहारः प्रातीतिकः स्याद्विरोधादिति चेन्न, कथञ्चिद्भेदात्। प्रमातुरात्मनो हि वस्तुपरिच्छित्तौ साधकतमत्वेन व्यापृतं रूपं करणम्, निर्व्यापारं तु क्रियोच्यते, स्वातन्त्र्येण पुनर्व्याप्रियमाणः कर्तात्मेति निर्णीतमायम्। तेन ज्ञानात्मक एवात्मा ज्ञानात्मनार्थं जानातीति कर्तृकरणक्रियाविकल्पः प्रतीतिसिद्ध एव। तद्वत्तत्र कर्मव्यवहारोऽपि ज्ञानात्मात्मानमात्मना जानातीति घटते।

यहां [साक्षेप] शंका है जो ही अर्थकी ज्ञानक्रिया करनेमें ज्ञानकरण है वही तो ज्ञानक्रिया है। फिर भला उसमें क्रियापने और करणपनेका व्यवहार कैसे प्रमाणप्रतीतियोंसे सिद्ध माना जावेगा। यह तो ठेठ विरोध दीख रहा है। जो ही ज्ञानक्रिया है, भला वही करण कैसे हो सकता है? आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करना। क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्तमें ज्ञप्तिक्रियाका और करणज्ञानका किसी अपेक्षासे भेद माना गया है। जैसे कि अग्निका दाहक परिणाम और दाहक्रिया न्यारी है। प्रमितिको करनेवाले आत्माके वस्तुकी ज्ञप्ति करनेमें प्रकृष्ट उपकारकपनेसे ही व्यापार करनेवाले स्वरूपको तो करणज्ञान कहते हैं और व्यापाररहित शुद्धज्ञानरूप धात्वर्थको ज्ञप्तिक्रिया कहते हैं। तथा " स्वतन्त्रः कर्ता " फिर स्वतन्त्रतासे व्यापार करनेमें लग रहा कर्ता आत्मा है। इस सिद्धान्तको पहिले हम बहुभाग निर्णीत कर चुके हैं। तिस कारण ज्ञानस्वरूप ही आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव करके अर्थको ज्ञानस्वरूपपन जानता है। इस प्रकार कर्ता, कर्म और क्रियाके आकारोंका विकल्प करना प्रतीतियोंसे सिद्ध ही है। तिन ही के समान उस ज्ञानमें कर्मपनेका व्यवहार भी प्रतीतिसिद्ध समझ लेना। ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपको अपने ज्ञानस्वरूप करके ही जानता है यह समीचीन व्यवहार होना घट जाता है। " जानातीति ज्ञानं " जो जानता है, वह ज्ञान है। इस प्रकार कर्तामें युट् प्रत्यय करनेसे ज्ञानका अर्थ आत्मा हो जाता है और " ज्ञायते अनेन " ऐसा करणमें युट् करनेसे ज्ञानका अर्थ प्रमाणरूप करणज्ञान हो जाता है तथा " ज्ञायते यत् " ऐसा कर्ममें युट् करनेपर ज्ञानका अर्थ स्वयं ज्ञानका स्वरूप हो जाता है। " ज्ञानं ज्ञप्तिर्वा ज्ञानं " इस प्रकार भावमें युट् करनेपर ज्ञानका अर्थ ज्ञप्तिक्रिया हो जाता है। ज्ञान पदार्थमें अनेक स्वभाव हैं। अतः भिन्न भिन्न निमित्तोंकी अपेक्षासे कर्ता, कर्म, करण, और क्रियापन बन जाता है।

सर्वथा कर्तृकरणकर्मक्रियानामभेदानभ्युपगमात्, तासां कर्तृत्वादिशक्तिनिमित्तत्वात् कथञ्चिद्भेदसिद्धेः। ततो ज्ञानं येनात्मनार्थं जानाति तेनैव स्वमिति वदतां स्वात्मनि

क्रियाविरोध एव, परिच्छेद्यस्य रूपस्य सर्वथा परिच्छेदकस्वरूपादभिन्नस्योपगतेश्च । कथञ्चित्तद्भेदवादिनां तु नायं दोषः ।

सभी प्रकारोंसे कर्तापन, करणपन, कर्मपन और क्रियापनका अभेद होना हम स्वीकार नहीं करते हैं। उन कर्ता, करण, कर्म और क्रियाओंका कर्त्तापन आदि न्यारी न्यारी शक्तियोंके निमित्तसे किसी अपेक्षा भेद भी सिद्ध हो रहा है। अथवा एक ज्ञान धर्मीमें कर्तापन आदिका सर्वथा अभेद नहीं है, किन्तु द्रव्यकी अपेक्षा कथञ्चित् अभेद है। और कर्तापने आदि पर्यायोंकी अपेक्षा कथञ्चित् भेद है। तिस कारण ज्ञान जिस स्वरूपकरके अर्थको जान रहा है, उस ही स्वरूपकरके यदि स्वयं अपनेको जानता है, इस प्रकार कहनेवाले वादियोंके यहां तो अवश्य ही स्वात्मामें क्रियाके होनेका विरोध है ही। क्योंकि जानने योग्य स्वरूपको ज्ञापक स्वरूप करणसे सभी प्रकार अभिन्न मान लिया गया है। विचारकर देखो तो बैलमें स्वयं चलने और गाडी चलानेके स्वभाव न्यारे न्यारे हैं। दीपकमें भी अपनेको प्रकाश करनेवाली और घट आदिकको प्रकाश करनेवाली शक्तियां न्यारी न्यारी हैं। अतः एक ही स्वभावसे स्वको और अर्थको जानने माननेवालोंके मतमें स्वात्मनि क्रियाविरोध नामका दोष अवश्य लागू होगा। किन्तु उन ज्ञेयस्वरूप और ज्ञायक स्वभावका कथञ्चित् भेद माननेवाले स्याद्वादियोंके यहां तो यह दोष लागू नहीं होता है।

ननु च येनात्मना ज्ञानमात्मानं व्यवस्यति येन चार्थं तौ यदि ततोऽनन्यौ तदा तावेव न ज्ञानं तस्य तत्र प्रवेशात् स्वरूपवत् ज्ञानमेव वा तयोस्तत्रानुप्रवेशात्, तथा च न स्वार्थव्यवसायः, यदि पुनस्तौ ततोऽन्यौ, तदा स्वसंवेद्यौ, स्वाश्रयज्ञानवेद्यौ वा ? प्रथमपक्षे स्वसंविदितज्ञानत्रयप्रसंगः तत्र च प्रत्येकं स्वार्थव्यवसायात्मकत्वे स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च। द्वितीयपक्षेऽपि स्वार्थव्यवसायहेतुभूतयोः स्वस्वभावयोर्ज्ञानं यदि व्यवसायात्मकं तदा स एव दोषोऽन्यथा प्रमाणत्वाघटनात्। ततो न स्वार्थव्यवसायः सम्भवतीत्येकान्तवादिनामुपालम्भः, स्याद्वादिनां न, यथाप्रतीति तदभ्युपगमात् स्वार्थव्यवसायस्वभावद्वयात् कथञ्चिदभिन्नस्यैकस्य ज्ञानस्य प्रतिपत्तेः, सर्वथा ततस्तस्य भेदाभेदयोरसम्भवात्, तत्पक्षभाविदूषणस्य निर्विषयत्वाद्दूषणाभासतोपपत्तेः ।

यहां स्वको और अर्थको जाननेवाला ज्ञान है। इस प्रकार माननेवाले जैनोंके ऊपर बौद्धोंका कटाक्ष है कि जिस स्वभाव करके ज्ञान अपना निश्चय करता है और जिस स्वभाव करके अर्थका निश्चय करता है। ज्ञानके वे दोनों स्वभाव यदि उस ज्ञानसे अभिन्न हैं तब तो उन दो स्वभावोंको ही मानलो ! ज्ञानको मत मानो ! क्योंकि उस ज्ञानका उन दोनों स्वभावोंमें अन्तर्भाव हो जायगा। जैसे

कि दोनों स्वभावोंके स्वभाव (निजस्वरूप)का तादात्म्य होनेके कारण दोनों स्वभावोंमें गर्भ हो जाता है। अथवा ज्ञान और ज्ञानके दोनों स्वभाव यदि अभिन्न हैं तो अकेले ज्ञानको ही मान लिया जाय। उसके दो स्वभावोंको नहीं मानो ! उन दोनों स्वभावोंका उस ज्ञानमें अन्तर्भाव हो जायगा और तिस प्रकार अवस्था होनेपर ज्ञानके द्वारा स्व और अर्थका निर्णय होना नहीं बनता है। यदि जैन फिर उन दोनों स्वभावोंको उस ज्ञानसे भिन्न मानेंगे, तब तो हम बौद्ध पूछेंगे कि वे ज्ञानके दोनों स्वभाव अपनेको अपने आप जान लेते हैं अथवा अपने आधारभूत ज्ञानके द्वारा दोनों जाने जाते हैं ? बतलाइये। पहिला पक्ष ग्रहण करनेपर तो जैनोंको अपने आप अपनेको जाननेवाले तीन स्वसं-वेदी ज्ञान माननेका प्रसंग होगा। एक तो आधारभूत ज्ञान स्वसंविदित माना, दूसरे उसमें रहनेवाले भिन्न दो स्वभाव स्वसंवेद्य मानें। फिर उन तीनों ज्ञानोंमें भी प्रत्येकको स्व और अर्थका निश्चया-त्मकपना माना जायगा तो वे ही दो प्रश्न पुनः उठाये जायंगे। अर्थात् वे तीनों ज्ञान या एकज्ञान दो स्वभाव विचारे जिस स्वभावसे अपना और जिस स्वभावसे अर्थका निर्णय करते हैं वे स्वभाव-ज्ञानसे भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? बताओ। अभेद पक्षलेनेपर दो स्वभावोंको ही मानो ! या अकेले ज्ञानको ही मानो ! तीनको माननेकी क्या आवश्यकता है ? और तैसा माननेपर ज्ञानके द्वारा स्व और उससे न्यारे अर्थका व्यवसाय होना नहीं बन पाता है। भेद पक्ष लेनेपर यद्यपि यह दोष तो लागू नहीं होता है, किन्तु उनको स्वसंवेद्य माना जायगा तो नौ ९ स्वसंविदित ज्ञान मानने पडेंगे और फिर उन नौ ज्ञानोंमें भी प्रत्येकको स्वार्थ निश्चायक मानते हुए यह प्रश्नमाला तदवस्थ रहेगी और महती अनवस्था हो जायगी। दूसरा पक्ष लेनेपर अर्थात् ज्ञानके भिन्न दो स्वभावोंको उनके आधारभूत ज्ञानके द्वारा वेद्य माना जावेगा तो भी स्व और अर्थके निश्चय करानेके कारणभूत उन अपने दोनों स्वभावोंका ज्ञान यदि निश्चयात्मक है तब तो फिर वही दोष लागू होगा। भावार्थ— भिन्न दो स्वभावोंको ज्ञानके द्वारा स्वव्यवसायी माननेपर भिन्न भिन्न अनेक स्वभावोंकी कल्पना करनी पडेगी और वे स्वभाव भी अपने अपने आधारभूत ज्ञानोंके द्वारा जानने योग्य होंगे। अतः पुनः वे ही प्रश्न उठाये जावेंगे और महान् अनवस्था दोष होगा। अन्यथा यानी अपने स्वभावोंको जाननेवाला ज्ञान यदि निश्चयात्मक न माना जायगा तो उसमें प्रमाणपना घटित न होगा क्योंकि जैन लोग निश्चयात्मक ज्ञानको ही प्रमाण मानते हैं। तिस कारण हम बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानके द्वारा अपना और अर्थका निश्चय होना नहीं सम्भवता है। अब आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्रकार एका-न्तवादी बौद्धोंका उलाहना बौद्धोंके ऊपर ही लागू होता है। स्याद्वादियोंके ऊपर कोई दोष नहीं आता है। क्योंकि हम स्याद्वादी प्रतीतिके अनुसार उस व्यवस्थाको स्वीकार करते हैं। अपने और अर्थके निश्चय करानेवाले दो स्वभावोंसे किसी अपेक्षा अभिन्न ऐसे एक ज्ञानकी विश्वाससहित प्रतीति हो रही है। ज्ञानके स्वभावोंसे ज्ञानका सर्वथा भेद या अभेद होना असम्भव है। अतः बौद्धोंकी ओरसे दिये गये सर्वथा भेद या अभेद पक्षमें होनेवाले दूषणोंका यह स्थल नहीं है। आधारभूत

विषयके बिना दूषण भला कहां रहे ? इस कारण उस दिये गये अनवस्थादोषको दोषाभासपना सिद्ध हुआ। स्वभाव और स्वभाववानोंका अग्नि और उष्णताके समान कथंचित् भेद इष्ट किया गया है।

परिकल्पितयोर्भेदाभेदैकान्तयोस्तद्दूषणस्य प्रवृत्तौ सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसंगात् कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्थानुपपत्तेः। स्वसंवेदनमात्रमपि हि स्वरूपं संवेदयमानं येनात्मना संवेदयते तस्य इतो भेदाभेदैकान्तकल्पनायां यथोपवर्णितदूषणमवतरपि, किं पुनरन्यत्र।

अपने अपने घरमें दूसरों द्वारा कल्पना कर लिये गये सर्वथा भेद और एकान्तरूपसे अभेदको मानकर यदि उन अनवस्था आदि दूषणों की प्रवृत्ति मानी जायगी, तब तो सभी प्रमाणसिद्ध पदार्थोंमें अनेक दूषणोंकी प्रवृत्तिका प्रसंग हो जावेगा। किसी भी वादीके यहां अपने अपने अभीष्ट तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। आंखें दो होनी चाहिये और अंगूठा एक। काणेपनके समान दो अंगूठेका होना भी दोष है। काणा अपने घरमें एक अंगूठेका दृष्टान्त देकर निर्दोष नहीं हो सकता है और तिस ही प्रकार दो अंगूठेवाला भी दो आंखोंका दृष्टान्त देकर अपनेको निर्दोष सिद्ध नहीं कर सकता है। प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंके द्वारा वस्तुकी व्यवस्था मानी जाती है। मनमानी घरजानी नहीं चल सकती है। हम कहते हैं कि आप बौद्धोंका माना हुआ केवल संवेदनाद्वैत भी अपने स्वरूपका वेदन करता हुआ जिस स्वभावसे संवेदन करा रहा है, उस स्वभावका अपने कारणभूत संवेदनसे सर्वथा भेद या एकान्त अभेद माना जावेगा ठीक वैसा ही तो कुछ तो कल्पना करोगे। आप बौद्धोंके ऊपर भी उन ही उक्त दूषणोंका अवतार होता है जिस प्रकार कि आपने हम जैनोंके ऊपर दूषण उठाये हैं। फिर अन्य स्थलोंकी तो क्या बात कही जाय ? भावार्थ—अपनी शाखाओंके बोझसे वृक्ष टूट रहा है। दीपक अपने प्रकाशकपन स्वभावसे प्रकाश कर रहा है। बांस अपनी लम्बाई या भारीपनसे नम रहा है। जल अपने द्रवत्वसे बह रहा है, आदि स्थानोंमें भी स्वभाव और स्वभाववानोंका सर्वथा भेद या अभेद माननेपर अनेक दूषण आजावेंगे। जब अद्वैतवादमें ही अनेक दोष उतर आते है तो सौत्रान्तिकोंके द्वैतवादमें तो सुलभतासे कल्पित दोषोंका प्रसार हो जायगा। किन्तु जैनोंके कथञ्चित् भेद, अभेद, रूप अभेद्य गढमें दोष सेनाका प्रवेश असम्भव है।

यदि पुनः सम्वेदनं संवेदनमेव, तस्य स्वरूपे वेद्यवेदकभावात् संवृत्या तत्स्वरूपं संवेदयत इति वचनम्। तदा स्वार्थव्यवसायः स्वार्थव्यवसाय एव स्वस्यार्थस्य च व्यवसाय इत्यपोद्धारकल्पनया नयव्यवहारात्। ततो नासम्भवः।

यदि फिर योगाचार यों कहें कि संवेदन तो संवेदन ही है हम बहिरंग पदार्थोंको नहीं मानते हैं। उस विज्ञानके स्वरूपमें ही वेद्यपना और वेदकपना विद्यमान है। वह सम्वेदन अपने स्वरूपको जान रहा है। इस प्रकार भेदपक्षमें होनेवाला वचन केवल व्यवहारसे मान लिया गया है। वस्तुतः अकेले संवेदनमें कर्ता, कर्म, क्रियापना भला कैसे बन सकता है ? इस प्रकार बौद्धोंके

कहनेपर तब तो हम जैन भी कहते हैं कि स्व और अर्थका निर्णय करना तो स्वार्थ निर्णय ही है। अपना और अर्थका निश्चय इस प्रकार पृथक्पनेकी कल्पनासे तो व्यवहार नयके द्वारा भेद मान-लिया गया है। सूर्य स्व, पर, प्रकाशक है ही। यहां भेद डालकर स्व और परके टुकडे कर देना केवल शिष्योंके समझानेका उपाय है। वस्तुतः ज्ञानके स्व पर व्यवसायमें न तो भेद करना चाहिये और न उसका कोई उपमान ही बन सकता है। तिस कारण प्रमाणका स्वार्थ निश्चय करना यह लक्षण असम्भव दोषवाला नहीं है। जैसा कि बौद्धोंने असम्भव दोष देनेका प्रक्रम बांधा था। प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रमाणसे स्वार्थका निश्चय होना प्रत्येक सहृदयके अनुभवमें आरहा है।

स्वार्थविनिश्चयस्य स्वसंवेदनेऽर्थव्यवसायासत्त्वादव्याप्तिरिति चेन्न, ज्ञानस्वरूपस्यैवार्थत्वात् तस्यार्थमाणत्वात् अन्यथा बहिरर्थस्याप्यनर्थत्वप्रसंगात्।

बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानको जाननेवाले स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें बहिरंग अर्थका निश्चय होना विद्यमान नहीं है। अतः प्रमाणके स्वार्थविनिश्चय इस लक्षणकी अव्याप्ति हुयी। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वहां ज्ञानका स्वरूप ही अर्थ हो जाता है। "अर्यते गम्यत इत्यर्थः" इस निरुक्तिसे जो जाना जाय या अपनी पर्यायों करके अनुगत किया जाय वह अर्थ है। अतः वह ज्ञानका स्वरूप ही गम्यमान् होनेके कारण अर्थ है। अन्यथा बहिरंग माने गये घट, पट, आदि अर्थोंको भी अनर्थपनेका प्रसंग हो जायगा। भावार्थ—निरुक्तिसे प्राप्त हुए अभिप्रायके अनुसार जैसे परमाणु, घट, आदि अर्थ हैं उसीके समान ज्ञान भी अर्थ है। यदि ज्ञानको अनर्थ कहोगे तो बहिरंग पदार्थ भी अनर्थ हो जांयगे। ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंके द्वारा ज्ञानको वास्तविक अर्थ मानना तो अत्यावश्यक पडेगा।

ननु स्वरूपस्य बाह्यस्य चार्थत्वेऽर्थव्यवसाय इत्यस्तु, नार्थः स्वग्रहणेन। सत्यम्, केवलं स्वस्मै योग्योऽर्थः स्वात्मापरात्मा तदुभयं वा स्वार्थ इत्यपि व्याख्याने तद्ग्रहणस्य सार्थकत्वान्न दोषः।

फिर बौद्धोंका कटाक्ष है कि अन्तरंग ज्ञानके स्वरूपको और बहिरंग घट, स्वलक्षण, आदि पदार्थोंको यदि अर्थपना इष्ट है तो प्रमाणका लक्षण "अर्थका व्यवसाय करना" इतना ही रहो। स्वपदके ग्रहणसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु स्व शद्बका अन्तिम निष्कर्ष यह है कि जो प्रमाणका विषय अर्थ है, वह स्वके लिये योग्य होना चाहिये। केवल स्वके लिये यानी ज्ञानके लिये योग्य अर्थ स्वस्वरूप है। अर्थात् ज्ञान स्वरूप है, अन्य परस्वरूप, यानी घट, पट आदि रूप है। अथवा उन दोनों स्वरूप स्वार्थ है, इस प्रकारका भी व्याख्यान करनेपर उस स्वका ग्रहण करना प्रयोजनसहित हो जाता है। अतः हमारे प्रमाणके लक्षणमें कोई दोष नहीं आता है। अर्थात् स्व पदके दिये बिना स्वयं ज्ञानके योग्य स्व, पर

और उभय अर्थका ज्ञान द्वारा निर्णय होता है यह अर्थ नहीं निकल सकता था। ज्ञानके द्वारा योग्य अर्थका ही ग्रहण होता है। अयोग्यका नहीं। ज्ञान महाराज प्रभु हैं दूरवर्तीको जान लें। निकटवर्तीको छोड दें। छोटेको जानें, मोटेको न जानें। सगे कारणको न जानें, बिना लग्गाके तटस्थ पदार्थोंको जान लें। पवित्रोंको न जानें, अपवित्रोंको जान लें, योग्यताके विना उनको कोई पराधीन नहीं कर सकता है। मनमौजी सम्राट्के ऊपर पर्यनुयोग नहीं चलता है।

स्वरूपलक्षणेऽर्थे व्यवसायस्याप्रमाणेऽपि भावादतिव्याप्तिरिति चेन्न, तत्र सर्ववेदनस्य प्रमाणत्वोपगमात्। न च प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोरेकत्र विरोधः, संवादासंवाददर्शनात्तथा व्यवस्थानात्। सर्वत्र प्रमाणेतरत्वयोस्तावन्मात्रायत्तत्वादिति वक्ष्यते।

किसीका आक्षेप है कि यदि ज्ञानके स्वरूपको भी अर्थ मान लिया जायगा तो संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप अप्रमाण ज्ञानोंमें भी प्रमाणका लक्षण पाया जा सकेगा। मिथ्याज्ञान भी अपने स्वरूपको जानते हैं। अतः जैनोंके ऊपर अतिव्याप्ति दोष लगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि उस अपने स्वरूपको जाननेमें प्रमाण, अप्रमाण, रूप सभी ज्ञानोंको प्रमाणपना इष्ट किया गया है। " भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः " इस कारिकाके द्वारा श्री समन्तभद्र आचार्यने सभी सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञानोंको स्वांशमें प्रमाणपन माना है। अतः लक्ष्यमें लक्षण चले जानेसे अतिव्याप्तिका भय नहीं है। एक मिथ्याज्ञानमें स्वको जाननेकी अपेक्षा प्रमाणपन और बहिरंग चांदी, स्थाणु, आदि विषयोंको जाननेकी अपेक्षा अप्रमाणपनाका कोई विरोध नहीं है। क्योंकि स्वांशको जाननेमें संवाद और बहिरंग विषयको जाननेमें विसंवाद देखा जाता है। अतः एक मिथ्याज्ञानमें प्रमाण और अप्रमाणपनेकी व्यवस्था हो रही है। सभी ज्ञानोंमें प्रमाणपना और अप्रमाणपना केवल उतने संवाद और विसंवादके अधीन ही माना जाता है। इस बातको आगेके ग्रन्थमें और भी स्पष्ट कह दिया जावेगा। स्वविषयकी निश्चितिको संवाद कहते हैं और स्व विषयकी अनिश्चिति या निष्फलप्रवृत्तिजनकत्वको विसंवाद कहते हैं।

चक्षुर्दर्शनादौ किञ्चिदिति स्वार्थविनिश्चयस्य भावादतिव्याप्तिरित्यपि न शंकनीयम्। आकारग्रहणात्। न हि तत्र स्वार्थाकारस्य विनिश्चयोऽस्ति निराकारस्य सन्मात्रस्य तेनालोचनात्।

पुनः आरेका है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष या रासनप्रत्यक्षके पूर्वमें होनेवाले चक्षुर्दर्शन या अचक्षुर्दर्शन आदिमें " कुछ है " ऐसा महासत्ताका आलोचनेवाला अपना और अर्थका निश्चय हो जाता है। अतः प्रमाणके लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष हुआ। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह भी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि लक्षणमें आकारका ग्रहण हो रहा है। " स्वार्थाकार विनिश्चयः " उस दर्शनमें अपना और अर्थका विकल्प करना रूप आकारका विनिश्चय नहीं है। आकाररहित केवल

महासत्ताका तिस दर्शनके द्वारा सामान्य आलोचन होता है। अतः विशेषरूपसे स्वार्थ आकारके निश्चय करानेवाले प्रमाण, नय ज्ञान ही हैं।

विपर्ययज्ञाने कस्यचित्कदाचित् क्वचित्स्वार्थाकारनिश्चयस्य भावादपि नातिव्याप्तिर्विग्रहणात् । विशेषेण देशकालनरान्तरापेक्षबाधकाभावरूपेण निश्चयो हि विनिश्चयः, स च विपर्ययज्ञाने नास्तीति निरवद्यः स्वार्थाकारविनिश्चयोऽधिगमः कार्त्स्न्यतः प्रमाणस्य देशतो नयानामभिन्नफलत्वेन कथञ्चित्प्रत्येयः प्रमाणनयतत्फलविद्भिः । एवञ्च प्रमाणनयैरधिगम इत्यत्र सूत्रे प्रमाणनयानां परकरणत्वेन वचनं सूत्रकारस्य तद्घटनां यात्येव, तेभ्योऽधिगमस्य फलस्य कथञ्चिद्भेदसिद्धेः ।

किसी निरपेक्ष व्यक्तिको कभी घाम चमकनेपर किसी स्थलपर मृगतृष्णामें जलको जान लेने रूप हुये विपर्यय ज्ञानमें अपने और अर्थके आकारका निश्चय विद्यमान है तो भी प्रमाणके कार्य लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है। क्योंकि विनिश्चयमें वि पदका ग्रहण हो रहा है। विशेषरूपसे अर्थात् दूसरे देश, काल, और मनुष्योंकी अपेक्षा बाधकोंके उत्पन्न न होने स्वरूप करके जो निश्चय है। वही विनिश्चय है। ऐसा विशेष निश्चय विपर्ययज्ञानमें नहीं है। रेलगाडीमें जाते हुए मनुष्यको मध्याह्नके समय दूरस्थलमें भले ही बालू, रेत या फूले हुये कासोंमें जलज्ञान हो जाय। किन्तु अन्य निकट रहनेवाले अभ्रान्त मनुष्योंको प्रातःकालके समय वहां जलका विशेष निश्चय नहीं होता है। इस कारण उक्त कारिकाओंमें कही गयी यह बात निर्दोष सिद्ध हो गयी कि प्रमाणरूप करणका सर्वाङ्गरूपसे स्वार्थाकार विनिश्चय स्वरूप अधिगम अभिन्न फल है और एकदेशरूपसे स्वार्थकारका विनिश्चयरूप अधिगम नयोंका अभिन्न फल है। इस ढंगसे प्रमाण, नय और उनके फलको जाननेवाले विद्वानों करके प्रमाणनयोंके अधिगमकी कथंचित् अभिन्न फलपनेसे प्रतीति कर लेनी चाहिये। भावार्थ—प्रमाण और नयकरण हैं तथा उनके द्वारा होनेवाला अधिगम फल है। वह करणज्ञानोंसे कथञ्चित् भिन्न है। कथञ्चित् अभिन्न है। ऐसी व्यवस्था होनेपर " प्रमाणनयैरधिगमः " ऐसे सूत्रमें प्रमाण और नयोंको जो तृतीयान्त करणपनेसे कथन किया है। वह सूत्रकारका वचन घटित हो ही जाता है। तिन प्रमाण और नयोंसे अधिगमरूपी फलका कथञ्चित् भेद होना प्रसिद्ध है। जैसे कि प्रकाशक प्रदीपका प्रकाशसे कथञ्चित् भेदाभेद है।

सारूप्यस्य प्रमाणस्य स्वभावोऽधिगमः फलम् ।
तद्भेदः कल्पनामात्रादिति केचित्प्रपेदिरे ॥ ३० ॥

प्रमाण और फलका सर्वथा अभेद माननेवाले बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानमें दर्पणके समान पदार्थोंका आकार पड जाता है। अतः संवेदनकी अर्थके साथ तदाकारता हो जाना प्रमाण है। कहा

गया है कि " तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता " तदाकारतारूप प्रमाणका स्वभाव अधिगम है और वही फल है। अतः केवल कल्पनासे उन प्रमाण, फलोंका भेद मान लिया जाता है। वास्तवमें नहीं है। इस प्रकार कोई समझ बैठे हैं।

संवेदनस्यार्थेन सारूप्यं प्रमाणं तत्र ग्राहकतया व्याप्रियमाणत्वात्। पुत्रस्य पित्रा सारूप्यवत्। पितृस्वरूपो हि पुत्रः पितृरूपं गृह्णातीति लोकोभिमन्यते न च तत्त्वतस्तस्य ग्राहको नीरूपत्वप्रसंगात्। तद्वदर्थस्वरूपसंवेदनमर्थं गृह्णातीति व्यवहरतीति तत् तस्य ग्राहकत्वात् प्रमाणमर्थाधिगतिः फलं तस्य तदर्थत्वात्। न च संवेदनादर्थसारूप्यमन्यदेव स्वसंवेद्यत्वादधिगमिवत्। न ह्यधिगतिः संवेदनादन्या तस्यानधिगमप्रसंगात्। ततस्तदेव प्रमाणं फलं न पुनः प्रमाणात्तत्फलं भिन्नमन्यत्र कल्पनामात्रादिति केचित्।

सौगत कह रहे हैं कि संवेदनकी अर्थके साथ तदाकारता हो जाना प्रमाण है, क्योंकि उस आकारको देनेवाले विषयमें ग्राहकपनेसे प्रमाण व्यापार कर रहा है। जैसे कि पुत्रको पिताके साथ घटना करानेवाला पिताका सदृश आकार है। जननी और जनकसे उत्पन्न हुआ पुत्र पितास्वरूप होता हुआ ही पिताके रूपको ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार सभी लौकिक जन मान रहे हैं। " आत्मा वै जायते पुत्रः "। किन्तु वस्तुतः विचारा जाय तो पुत्र उस पिताके आकारको ग्रहण नहीं करता है। यदि ऐसा मान लिया जायगा तब तो पिता अपना स्वरूप जब पुत्रको दे चुकेगा तो स्वयं निःस्वरूप हो जायगा। अतः वह पुत्र प्रथमसे ही तदाकार उत्पन्न हुआ है, यह मानो। तिस ही के समान अर्थके आकारवाला ज्ञान अर्थको ग्रहण करता है। यह केवल लोक-व्यवहार है कि वह ज्ञान उस ज्ञेयका ग्राहक होनेसे प्रमाण है और अर्थका अधिगम होना उसका फल है। क्योंकि उस प्रमाणकी उत्पत्ति उस प्रमाणके अधिगमके लिये ही हुयी थी। किन्तु विचारा जाय तो अर्थाकारता संवेदनसे भिन्न ही नहीं है क्योंकि, वह स्वसंवेद्य है। जैसे कि स्वसंवेद्य होनेके कारण अधिगम प्रमाणसे भिन्न नहीं है। तथा अधिगम भी संवेदनसे भिन्न नहीं है। अन्यथा संवेदनको अज्ञान हो जानेका प्रसंग हो जायगा। तिस कारण वही प्रमाण है और वही फल है। तो फिर प्रमाणसे वह फल भिन्न कैसे भी नहीं है, केवल कल्पनाके सिवाय। यानी कल्पना भले ही करली जाय, हम तो सारूप्य प्रमाण और अधिगमको भिन्न नहीं मानते हैं। इस प्रकार कोई कह रहे हैं। यहांतक पूर्वपक्षीकी कारिकाका व्याख्यान हुआ। अब आचार्य बोलते हैं कि——

तन्न युक्तं निरंशायाः संवित्तेर्द्वयरूपताम्।
प्रतिकल्पयतां हेतुविशेषासम्भवित्वतः ॥ ३१ ॥

बौद्धोंका वह कथन युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि स्वभाव या अंशोंसे रहित कोरे संवेदनके

प्रमाण और फलस्वरूप दो स्वभावोंकी कल्पना करनेवालोंके यहां विशेष हेतुका असम्भव है। अर्थात् बिना कारण निरंश ज्ञानमें प्रमाणपन और फलपन व्यवहृत नहीं हो सकता है।

न हि निरंशां संविर्त्ति स्वयमुपेत्य प्रमाणफलद्वयरूपतां तत्त्वप्रविभागेन कल्पयन्तो युक्तिवादिनस्तथाकल्पने हेतुविशेषस्यासम्भवित्वात् ।

स्वभाव, अतिशय, धर्म, आदि अंशोंसे सर्वथा रहित माने गये संवेदनको स्वीकार कर तत्त्वोंके प्रकृष्ट विभाग करके उस प्रमाण फलके व्यवहारसे संवेदनमें प्रमाण और फलपना ऐसे दो स्वरूपोंकी कल्पना करनेवाले बौद्ध युक्तिपूर्वक कहनेकी टेव रखनेवाले नहीं हैं। क्योंकि निःस्वभाव पदार्थमें तिस प्रकार प्रमाण फलपनेकी कल्पना करनेमें किसी विशेष हेतुका होना नहीं सम्भवता है।

विना हेतुविशेषेण नान्यव्यावृत्तिमात्रतः ।
कल्पितोऽर्थोऽर्थसंसिद्ध्यै सर्वथातिप्रसंगतः ॥ ३२ ॥

विशेष हेतुके विना केवल अन्यव्यावृत्तिसे ही कल्पना कर लिया गया अर्थ तो प्रयोजनकी भले प्रकार सिद्धिके लिये सभी प्रकारसे समर्थ नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् लकडीका बना हुआ घोडा भी बालकको भगा ले जायगा। कागजके फूलसे भी गन्ध आने लगेगी। कल्पित मोदक भी तृप्तिके कारण हो जायेंगे। यदि कल्पनासे ही कार्य होने लग जांय तो हाथ, पैर हिलाने और पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता ही न रहेगी। अतः कोरी अप्रमाण व्यावृत्तिसे प्रमाणपना और अफल व्यावृत्तिसे फलपना ज्ञानमें व्यवस्थित नहीं हो सकता है। किन्तु तदनुरूप यथार्थ स्वभाव मानने पडेंगे।

न हि तत्र निमित्तविशेषाद्विना कल्पितं सारूप्यमन्यद्वा किञ्चिदर्थं साधयति, मनोराज्यादेरपि तथानुषंगात् । नाप्यसारूप्यव्यावृत्तितः सारूप्यं अनधिगतिव्यावृत्तोऽधिगतिः संवेदनेनंशेपि वस्तुतो व्यवह्रियत इति युक्तं, दरिद्रेऽराज्यव्यावृत्त्या राज्यं अनिन्द्रत्वव्यावृत्त्या इंद्रत्वमित्यादिव्यवहारानुषंगात् ।

आचार्य कहते हैं कि विशेष निमित्तके विना कोरा कल्पना करलिया गया सारूप्य अथवा दूसरे घोडा मनोमोदक आदि पदार्थ किसी भी प्रयोजनको सिद्ध नहीं कराते हैं। फिर भी आग्रह करोगे तो खेलते हुए बालकोंके समान अपने मनमें कल्पना कर लिये गये राजापन या पण्डिताई आदिको भी तिस प्रकार राजा और पण्डितोंके समान अर्थक्रिया करानेका प्रसंग होगा। यदि बौद्ध यों कहें कि हम अन्यापोहको मानते हैं, वस्तुतः गौ कोई पदार्थ नहीं है। हमारे यहां वस्तुभूत माना गया स्वलक्षण तो अवाच्य है। गौसे भिन्न अश्व, महिष, आदिक सभी अगो हैं और उन अगो

पदार्थोंसे पृथग्भूत अगोव्यावृत्तिरूप गौ है। अतः अगोव्यावृत्ति ही गोपना है। प्रकृत गो वस्तुसे पृथग्भूत अनन्त पदार्थोंकी ओरसे भिन्नपनेके न्यारे न्यारे स्वभावोंका बोझ वस्तुके शिरपर व्यर्थ क्यों लादा जाय ? प्रकरणमें सारूप्य प्रमाण है और अधिगम फल है। ये सब संवेदनस्वरूप हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुतः अंशोंसे रहित माने गये संवेदनमें भी सारूप्यसे भिन्न असारूप्यकी पृथग्भूततासे प्रमाणभूतसारूप्यका व्यवहार हो जाता है। और अनधिगमकी व्यावृत्तिसे अधिगमरूप फलका व्यवहार हो जाता है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि दरिद्रमें भी अराज्यकी व्यावृत्तिसे राजापने और अनिन्द्रपनेकी व्यावृत्तिसे इन्द्रपन इत्यादि व्यवहार हो जानेका प्रसंग होगा। बौद्धोंके मतानुसार व्यावृत्ति तुच्छ पदार्थ माना गया है। वह सर्वत्र सुलभतासे मिल जाता है। उनके यहां वस्तुगत स्वभावोंके अनुसार चलनेवाली व्यावृत्तियां नहीं मानी गयी हैं। अग्निमें जैसे अनुष्णव्यावृत्ति है वैसे ही उष्णव्यावृत्ति भी है। इसमें वास्तविक उष्णपन और शीतपनकी कोई अपेक्षा नहीं रखी गयी है। तिस ही के सदृश दरिद्रपुरुषमें जैसे अदरिद्रव्यावृत्ति है वैसे ही राजारहितपनेकी भी व्यावृत्ति है। निर्धनता और प्रभुतारूप परिणामोंकी अपेक्षा नहीं है। तैसा होनेपर दरिद्रमें भी राजापनेका व्यवहार हो जाना चाहिये। तुच्छ पदार्थोंमें कोई बोझ नहीं होता है। चाहे जिस वस्तुमें चाहे कितने भी असंख्य तुच्छ पदार्थ लादे जा सकते हैं। बौद्धमतानुसार तुच्छ पदार्थोंमें कोई विरोध भी नहीं पडता है।

यदि पुनस्तत्र राज्यादेरभावात्तद्व्यावृत्तिरसिद्धा तदा संवेदनस्य सारूप्यादिशून्यत्वात् कथमसारूप्यादिव्यावृत्तिः ? यतस्तन्निबन्धनं सारूप्यकल्पनं तस्याश्च स्यात्। ततो न साकारो बोधः प्रमाणम्।

यदि फिर बौद्ध यों कहे कि उस दरिद्रमें वस्तुतः राजापन, इन्द्रपन, पण्डिताई आदिका अभाव है इस कारण अराज्यव्यावृत्ति या अनिन्द्रव्यावृत्ति उसमें सिद्ध नहीं होती हैं। आचार्य समझाते हैं कि तब तो बहुत अच्छा हुआ, आप वस्तुधर्मोंके अनुसार व्यावृत्तियोंको मानने लग गये। किन्तु आपका निरंश संवेदन तो सारूप्य, अधिगम, आदि स्वभावोंसे शून्य है। अतः असारूप्य व्यावृत्ति या अनधिगम व्यावृत्ति भी उसमें कैसे सिद्ध मानी जा सकती है ? जिससे कि उन व्यावृत्तियोंको कारण मानकर उस संवेदनको प्रमाणरूप सारूप्यकी और अधिगमरूप फलकी कल्पना करना यहां हो सके। तिस कारण सिद्ध होता है कि बौद्धों द्वारा माना गया दर्पणके समान विषयोंके आकारको धारण करनेवाला ज्ञान प्रमाण नहीं है। आकारका अर्थ स्व और अर्थका विकल्प करना है, ऐसे साकार ज्ञानको तो हम जैन प्रमाण मानते हैं। यदि आकारका अर्थ प्रतिबिम्बको ग्रहण करना है तो ऐसे साकार ज्ञानको हम प्रमाण नहीं मानते हैं। क्योंकि ऐसी दशामें स्मृतिज्ञान और सर्वज्ञका ज्ञान प्रमाण न हो सकेगा। ज्ञानको साकार माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं। पुद्गलका विवर्त माना

गया प्रतिबिम्ब भला चेतन ज्ञानमें कैसे पड सकता है ? । प्रतिबिम्बको लेना और देना दोनों पुद्गलके पर्याय है । अमूर्तज्ञानके नहीं ।

प्रतिकर्मव्यवस्थानस्यान्यथानुपपत्तितः ।
साकारस्य च बोधस्य प्रमाणत्वोपवर्णनम् ॥ ३३ ॥
क्षणक्षयादिरूपस्य व्यवस्थापकता न किम् ।
तेन तस्य सरूपत्वाद्विशेषान्तरहानितः ॥ ३४ ॥

बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानको साकार माने विना प्रतिनियत विषयको जाननेकी व्यवस्था होना दूसरे प्रकारोंसे बन नहीं सकती है। इस कारण प्रतिबिम्बको धारण करनेवाले साकार ज्ञानको प्रमाणपनेका कथन किया जाता है । अर्थात् जब कि घटज्ञान प्रकाशमान चेतन पदार्थ है तो वह घटको ही क्यों जानता है ? पट, पुस्तक, आदिको क्यों नहीं प्रकाशता है ? सूर्य क्या शूद्र या अपवित्र पदार्थके प्रकाश करनेमें आनाकानी करेगा? अर्थात् नहीं। इससे प्रतीत होता है कि ज्ञानमें जिसका आकार (छाया) पडा है उसीको ज्ञान जान सकता है, अन्यको नहीं । तदाकारपनेसे तत्को जाननेकी व्यवस्था नियत हो रही है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि वह ज्ञान क्षणिकत्व, स्वर्गगमन शक्ति, आदि विषयस्वरूपकी व्यवस्था क्यों नहीं करा देता है ? उस क्षणक्षयादिकका उन नीलादिकके साथ अभेद होनेके कारण ज्ञानमें तदाकारता तो है ही, अन्य कोई विशेषता है नहीं । अर्थात् बौद्धोंने नीलज्ञानको नीलका व्यवस्थापक तो माना है। किन्तु नीलसे माने गये अभिन्न उसके क्षणिकपनेका व्यवस्थापक नहीं माना है, तभी तो क्षणिकत्वके निर्णयार्थ अनुमान और विकल्पज्ञान उठाये जाते हैं । आत्माकी स्वर्गप्रापणशक्तिको जाननेके लिये भी आत्मज्ञानसे निराले ज्ञान उपयोगी होते हैं। अतः तदाकार होनेसे ज्ञान तत्का व्यवस्थापक है इस नियममें व्यभिचार हुआ ।

यथैव हि नीलवेदनं नीलस्याकारं बिभर्ति तथा क्षणक्षयादेरपि तदभिन्नत्वाद्विशेषान्तरस्य चाभावात् । ततो नीलाकारत्वान्नीलवेदनस्य नीलव्यवस्थापकत्वे क्षणक्षयादिव्यवस्थापकतापत्तिरन्यथा तदाकारेण व्यभिचारात् ।

जिस ही प्रकार नीलस्वलक्षणको जाननेवाला निर्विकल्पक ज्ञान नीलके आकारको धारण करता है, तैसे ही नीलके स्वभावभूत क्षणिकत्व, अणुत्व, असाधारणत्व, आदिके आकारोंको भी धारण करता है । क्योंकि वे उससे अभिन्न हैं, तथा नीलके आकार क्षणिकत्वादिके आकारोंके धारणमें भेद सूचक अन्य कोई विशेषता नहीं है । तिस कारण नीलका आकार धारण करनेसे नीलज्ञानको यदि नील विषयका व्यवस्थापक माना जायगा तो उस ज्ञानको क्षणिकत्व आदिकी व्यवस्था करानेवालेपनकी आपत्ति हो जायगी । अन्यथा यानी पेटसे निकाले हुए पुत्रोंके साथ ही यदि पक्षपात किया

जायगा तो तदाकारके द्वारा विषयव्यवस्था करनेके नियमका व्यभिचार हो जायगा । देखिये, ज्ञानमें क्षणिकत्वका आकार है, किन्तु वह उसका व्यवस्था करानेवाला नहीं माना गया है ।

न तदाकारत्वात्तद्व्यवस्थापकत्वं साध्यते । किं तर्हि तद्व्यवस्थापकत्वात्तदाकारत्वमिति चेन्न, स्वरूपव्यवस्थापकत्वेनानेकान्तात् ।

बौद्ध कहते हैं कि हम घटका आकार लेनेसे घटज्ञान घटविषयकी व्यवस्था करा देता है । यों ज्ञानमें तदाकारपनेसे तत्की व्यवस्था करादेनापनको नहीं साधते हैं तब तो क्या कहते हैं । सो पहिले सुन लो । तत्की व्यवस्था करा देनेसे ही ज्ञान तत्के आकारको धारण करनेवाला है । अतः उक्त व्यभिचार नहीं होता है । आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त व्याप्तिको नहीं माननेसे क्षणिकत्व आदिका व्यभिचार तो टल गया । किन्तु ज्ञान जिस पदार्थकी व्यवस्था करता है उसका आकार अवश्य लेता है । तुम्हारी यह भी व्याप्ति ठीक नहीं है । क्योंकि फिर भी ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपकी व्यवस्था करादेनेपनसे व्यभिचार दोष लग जायगा । भावार्थ---स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अपने ज्ञान स्वरूप शरीरका व्यवस्थापक तो है । किन्तु उस ज्ञानमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं पडा हुआ है । अभिमुख पदार्थका प्रतिबिम्ब पडा करता है, स्वयं दर्पणका अपनेमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता है, ज्ञानका भी ज्ञानमें प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता है । बौद्ध भी ऐसा मानते हैं । अतः व्यभिचार स्थल उनके अनुसार ही प्रसिद्ध है ।

प्रमाणं योग्यतामात्रात्स्वरूपमधिगच्छति ।
यथा तथार्थमित्यस्तु प्रतीत्यनतिलंघनात् ॥ ३५ ॥
स्वरूपेऽपि च सारूप्यान्नाधिगत्युपवर्णनम् ।
युक्तं तस्य द्विनिष्ठत्वात् कल्पितस्याप्यसम्भवात् ॥ ३६ ॥
कल्पने चानवस्थानात् कुतः सम्वित्तिसम्भवः ।
स्वार्थेन घटयत्येनां प्रमाणे स्वाकृतिश्चयात् ॥ ३७ ॥
नायं दोषस्ततो नैव सारूप्यस्य प्रमाणता ।
नाभिन्नोधिगमस्तस्मादेकान्तेनेति निश्चयः ॥ ३८ ॥

तदाकार न होते हुए भी प्रमाणज्ञान केवल योग्यतासे जैसे अपने स्वरूपको ठीक जान लेता है, तैसे ही केवल योग्यतासे ही अर्थको भी जान लेता है, ऐसा मान लो ! प्रतीतिके अनुसार वस्तु व्यवस्था मानी जाती है । ज्ञानमें विषयोंका आकार माननेसे प्रतीतिका उल्लंघन होता है । स्मृतिके

द्वारा मृत मनुष्यको जाननेपर या नष्ट पदार्थका स्मरण करनेपर एवं ज्योतिष या निमित्तशास्त्रसे भविष्य चन्द्र–ग्रहण, इष्टप्राप्ति आदिको जान लेनेपर ज्ञानमें उन पदार्थोंका आकार नहीं पड रहा है। फिर भी वे ज्ञान प्रमाण माने गये हैं। वर्तमानमें वे पदार्थ होते तो अपनी छाया ज्ञानमें डाल सकते थे। अतः ज्ञानको प्रतिबिम्बरहित माननेसे ही प्रतीतियोंका उल्लंघन नहीं होता है। बौद्धोंका ज्ञानके स्वरूपमें भी तदाकारता होनेसे ही ज्ञानशरीरका अधिगम हुआ है, यह कहना भी युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि वह तदाकारता प्रतिबिम्ब्य और प्रतिबिम्बक दोमें रहनेवाला धर्म है। अकेले ज्ञानमें तदाकारता नहीं बन सकती है। कल्पना की गयी तदाकारताका भी एक ज्ञानमें रहना असम्भव है। यदि एकमें भी सारूप्यकी कल्पना करोगे, तो अनवस्था हो जायगी। प्रतिबिम्बक दर्पणमें प्रतिबिम्ब्य दर्पणका यदि आकार पड जाना माना जायगा तो प्रतिबिम्ब्य दर्पण भी तो दर्पण है। वह प्रतिबिम्बक बन बैठेगा। पुनः उसमें प्रतिबिम्ब्य दर्पणके शरीरका आकार माना जायगा। यह क्रम दूरतक अमर्यादित होकर चला जायगा। इस ही प्रकार ज्ञानके शरीरमें स्वयं ज्ञानका आकार पड जानेसे अनवस्था हो जायगी। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार जब ज्ञान अपने डील की ही व्यवस्था नहीं कर सकेगा तो भला उससे पदार्थोंकी सम्बित्ति होना कैसे सम्भवेगी ?। आप बौद्ध जो यह मान बैठे हैं कि " अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपतां, तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता " चेटीसमान सविकल्पक बुद्धि इस निर्विकल्पक बुद्धिस्वरूप नववधूको अर्थ नामक दूल्हाके साथ सम्बन्ध करा देती है। वह सम्बन्ध अर्थका आकार पड जानेको छोडकर अन्य कोई नहीं है, उस अर्थाकारसे प्रमेयका परिज्ञान होजाता है, अतः पडगया अर्थाकार ही प्रमाण है। यों चेतन ज्ञानका अचेतन घट आदिकके साथ यदि कोई सम्बन्ध है तो वह तदाकारता ही है। सो यह आपका मानना समुचित नहीं है। स्वावरणके क्षयोपशम या क्षयसे इस सविकल्पक बुद्धिको अपने विषयके साथ सम्बन्ध करा देनेवाले प्रमाणके माननेपर कोई दोष नहीं आता है। अर्थात् घटका ज्ञान घटको ही जानता है। उसका कारण यही है कि वह घटावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ है। हाटमें गेहूं, चावल, फल, वस्त्र, आदि अनेक भोग उपभोगके पदार्थ पडे हुए हैं। उन सर्वथा भिन्न पदार्थोंमेंसे देवदत्तके भोगनेमें वे ही आसकते हैं जिनका कि देवदत्तके पुण्य, पापसे सम्बन्ध है। प्रत्येक गेहूं, तन्तु या घृत, दूध, पानीकी बूंदमें भोक्ताके अदृष्टका सम्बन्ध ही नियामक है। तभी तो वे नियत पदार्थ ही देवदत्तके पास आजाते हैं। अन्य नहीं आते हैं। लाखों कोस दूर पडी हुयी वस्तुका यदि हमको भोग करना है तो वह हमारे पास कथमपि आजायगी। कोई चोर, डाकू, कीट, बिगाड न सकेगा। पदार्थोंके परिणमनोंका पुण्य पापसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ज्ञानका भी ज्ञेयके साथ स्वावरण क्षयोपशम द्वारा विषयविषयिभाव सम्बन्ध हो रहा है। पतिपत्नी, या देवदत्त और धनके स्वस्वामिसम्बन्धमें भी तो कोई तदाकार सम्बन्ध नहीं है। तैसे ही प्रमाणका भी अर्थके साथ तदाकार होना कोई योजक सम्बन्ध नहीं है। तिस कारण बौद्धोंकी मानी गयी तदा-

कारताको प्रमाणपना नहीं है और न उस प्रमाणसे सर्वथा एकान्तरूपसे अभिन्न मान लिया गया अधिगम उसका फल ही कहा जा सकता है । यह निश्चय कर दिया है । " स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति " यही परीक्षामुखमें कहा है ।

स्वरूपे प्रतिनियमव्यवस्थापकत्वं संवेदनस्य सारूप्यापायेऽपि ब्रुवाणः कथमर्थे सारूप्यं ततः साधयेत् । निराकारस्य बोधस्य केनचिदर्थेन प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात् सर्वैकवेदनापत्तिरित्ययुक्तं, स्वरूपसंवेदनस्यापि तथा प्रसंगात् ।

संवेदनके अपने स्वरूपमें तदाकारता न होते हुए भी प्रतिनियत अपने ज्ञानरूपविषयकी व्यवस्थापकपनेको कह रहा बौद्ध उस प्रतिनियत विषयकी व्यवस्थापकतासे अर्थमें भी तदाकारताको कैसे सिद्ध करा सकेगा ? अर्थात् नहीं । जैनोंके ऊपर बौद्ध यह कटाक्ष किया करते हैं कि यदि ज्ञानको साकार नहीं माना जायगा तो निराकार ज्ञानका किसी अर्थके साथ सदा निकटसम्बन्ध या दूरका नाता तो है नहीं, तब फिर सम्पूर्ण पदार्थोंका एक ज्ञानके द्वारा वेदन होनेका प्रसंग होगा । अर्थात् एक ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ जान लेने चाहिये। ज्ञान अभ्यन्तर स्वतन्त्र पदार्थ है। किसी भी रुपयेसे बाजारकी कोई भी वस्तु मोल ली जा सकती है, यह उनका कटाक्ष भी अयुक्त है । क्योंकि आपके मतमें भी स्वसंवेदन प्रत्यक्षको निराकार माना है । अकेले ज्ञानको जाननेवाले निराकार स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे भी तिस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञान हो जानेका प्रसंग आवेगा । उसका निवारण आप बौद्ध क्या करेंगे । बताओ ? वही समाधान यहां समझ लेना ।

ननु च सम्वेदनमसम्वेदनाद्भिन्नं स्वकारणाद्युत्पन्नं स्वरूपप्रकाशकं युक्तमेव अन्यथा तस्यासम्वेदनत्वप्रसक्तेरिति चेत्, तदर्थसंवेदनमप्यनर्थसंवेदनाद्भिन्नं स्वहेतोरुपजातमर्थप्रकाशकमस्तु तस्यान्यथानर्थसंवेदनत्वापत्तिरिति समानम् ।

ऊपरसे अपने मन्तव्यका अवधारण करते हुए बौद्ध अपने सिद्धान्तमें शंकित होकर कहते हैं कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही है । वह असंवेदनसे भिन्न होता हुआ अपने कारणोंसे उत्पन्न होकर स्वरूपका प्रकाशक है यह युक्त ही है । अन्यथा यानी बहिरंग घट आदिकोंको तो वह निराकार होनेके कारण प्रथमसे ही नहीं जानता है। अब यदि स्वशरीरको भी न जानेगा तो उस संवेदनको अज्ञानपनेका प्रसंग होगा । ऐसा बौद्धोंके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि तब तो अर्थका संवेदन भी अर्थसंवेदन ही है । वह अनर्थसंवेदनसे भिन्न होकर अपने चक्षुः, क्षयोपशम, आदि कारणोंसे उत्पन्न होता हुआ अर्थका प्रकाशक हो जाओ ! अन्यथा यानी अर्थसंवेदनमें दर्पणके समान तदाकारताका या चक्षुजन्यके समान तज्जन्यताका पुच्छल्ला लगाया जायगा तो उसको अनर्थसंवेदनपनेकी आपत्ति हो जायगी । इस प्रकार आपके स्वसंवेदन और हमारे अर्थसंवेदनमें आक्षेप या समाधान सदृश हैं । रेफमात्र अन्तर नहीं है ।

सर्वस्यार्थस्य प्रकाशकं कस्मान्नेति चेत्, स्वसंवेदनमपि पररूपस्य कस्मान्न प्रकाशकम् ? स्वरूपप्रकाशने योग्यतासद्भावात् । पररूपप्रकाशने तु तदभावादिति चेत्, प्रतिनियतार्थप्रकाशने सर्वप्रकाशनाभावात् समः परिहारः । प्रतीत्यनतिलंघनस्याप्यविशेषात् ।

बौद्ध यदि यों कहें कि जब ज्ञानमें विषयोंका आकार ही नहीं है तो वह घटज्ञान सभी अर्थोंका प्रकाशक क्यों नहीं हो जाता ? ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कह सकते हैं कि आप बौद्धोंका निराकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी ज्ञानके समान अन्य घट, पट, आदि स्वरूप स्वलक्षणोंका प्रकाशक क्यों नहीं हो जाता है ? बताओ ! । इसका उत्तर आप यदि यों कहें कि स्वसंवेदनकी अपने स्वरूपको प्रकाश करनेमें योग्यता विद्यमान है, अन्य रूपके प्रकाशनमें तो योग्यता नहीं है। इस कारण वह स्वको ही जानता है । इस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी भी कहते हैं कि घटज्ञानकी प्रतिनियत अर्थमें प्रकाश करनेकी योग्यता है । अतः उस घटज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण अर्थोंका प्रकाशन नहीं हो सकता है । इस ढंगसे दोषका परिहार करना हमारा और आपका समान है । देवदत्तके घरका दीपक परिमित पदार्थोंका ही प्रकाश कर सकता है । सूर्य भी पचास हजार योजन तक अपना प्रकाश फैंकता है । अधिक नहीं । निकटवर्ती या दूरवर्ती पदार्थोंसे कोई भाईचारा या शत्रुता तो नहीं है । हम क्या करें ? योग्यता ही इतनी है । योग्यताको मान लेनेपर तो प्रतीतिका उल्लंघन नहीं करना भी हमारे और तुम्हारे यहां अन्तररहित है ।

संवृत्या सारूप्येऽपि संवेदनस्य सारूप्यादधिगतिरित्ययुक्तं, तस्य द्विष्ठत्वादेकत्रासम्भवात् । ग्राह्यस्य स्वरूपस्य ग्राहकात् स्वरूपाद्भेदकल्पनया तस्य तेन सारूप्यकल्पनाददोष इति चेत् । तदपि ग्राह्यं ग्राहकं च स्वरूपम् । यदि स्वसंविदितं तदान्यग्राह्यग्राहकस्वरूपकल्पने प्रत्येकमनवस्था । तदस्वसंविदितं चेत् कथं संवेदनस्वरूपमिति यत्किञ्चिदेतत् ।

व्यवहारसे कल्पना कर संवेदनकी तदाकारतामें भी सारूप्यसे ही स्वका अधिगम होना मानना यह भी अयुक्त है । क्योंकि सदृशरूपता दोमें रहती है । संयोग, सादृश्य, सारूप्य, विभाग आदि द्विष्ठ पदार्थोंका एकमें रहना असम्भव है । बौद्ध फिर यों कहें कि हम स्वसंवेदनमें दो अंश कल्पित करेंगे । एक ग्राह्य अंश, दूसरा ग्राहक अंश । यानी एक आकारको देनेवाला और दूसरा आकारको लेनेवाला । ग्राह्यस्वरूपकी ग्राहकस्वभाव स्वशरीरसे भेदकल्पना करके उसकी उसके साथ तदाकारता कल्पना कर लेनेसे कोई दोष नहीं आता है । ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि वे स्वसंवेदनके दोनों ग्राह्य और ग्राहक स्वरूप यदि स्वका संवेदन करनेवाले हैं, तब तो फिर इनमें दूसरे ग्राह्यग्राहक स्वरूपोंकी कल्पना की जायगी और वे भी प्रत्येक अंश ग्राह्य, ग्राहकरूप होकर स्वसंवेदी माने जायंगे । इस प्रकार एकके दो, और दोके छह, तथा छहके अठारह इत्यादि प्रकारसे ग्राह्य ग्राहक अंशवाले स्वसंवेदनोंकी कल्पना करते करते अनवस्थादोष होगा । हां, अनवस्था

दोषसे भयभीत होकर यदि आप बौद्ध उन स्वसंवेदनके ग्राह्यग्राहक स्वरूपोंको स्वसंविदित नहीं मानोगे तो वे स्वसंवेदन प्रत्यक्षके स्वरूप भला कैसे कहे जा सकते हैं ? इस प्रकार आप बौद्धोंका यह उक्त निरूपण करना जो कुछ भी कह देना मात्र है। इसमें सार कुछ नहीं है। " मुखमस्तीति वक्तव्यम् " मुख है, इस कारण कुछ कहते रहना चाहिये। सैकडों श्रोताओंमेंसे सम्भव है कोई हमारे निःसार तत्त्वका ही समर्थन समझने लग जाय, किन्तु यह वञ्चना प्रशंसा मार्ग नहीं है।

न चायं दोषः समानः संविर्त्ति स्वार्थेन घटयति सति प्रमाणे स्वावरणक्षयात् क्षयोपशमाद्वा तथा स्वभावत्वात् प्रमाणस्य। तत्र सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमेकान्ततोऽनर्थान्तरं तत इति निश्चितम्।

एक बात यह भी है कि यह उक्त दोष आप बौद्धोंके समान हम स्याद्वादियोंके ऊपर लागू नहीं होता है, जब कि प्रमाणज्ञान संवित्तिको अपने विषयके साथ स्वावरणोंके क्षय अथवा क्षयोपशमसे संयोजन करा रहा है। ऐसा होनेपर विषय और विषयीका स्वावरणक्षयोपशमस्वरूप योग्यता ही सखी बनकर सम्बन्ध करा देती है। हम क्या करें ? प्रमाणका तिस ही प्रकार स्वभाव है। स्वभावमें तर्क नहीं चलती है। तिस कारण इस विषयकी तदाकारता ही प्रमाण है और एकान्तरूपकरके प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न उसका फल है। यह बौद्ध सिद्धान्त उससे सिद्ध नहीं होता है। इस बातका हम स्पष्टरूपसे निर्णय कर चुके हैं।

भिन्न एवेति चायुक्तं स्वयमज्ञानतागतेः।
प्रमाणस्य घटस्येव परत्वात् स्वार्थनिश्चयात् ॥ ३९ ॥

तथा स्व और अर्थका अधिगमरूप फलसे प्रमाणको यदि भिन्न ही कहा जाय, यह भी अयुक्त है। क्योंकि तब तो स्वार्थ निश्चयसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण प्रमाणको घटके समान जडपनेकी प्राप्ति हो जायगी। अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप निश्चयसे सभी प्रकार भिन्न है, वह जड है।

यत्स्वार्थाधिगमादत्यन्तं भिन्नं तदज्ञानमेव यथा घटादि। तथा च कस्यचित्प्रमाणं न चाज्ञानस्य प्रमाणता युक्ता।

व्याप्तिपूर्वक अनुमान बनाते हैं कि जो अपने और अर्थोके अधिगमसे अत्यन्त भिन्न है, (हेतु) वह अवश्य अज्ञान है (साध्य)। जैसे कि घडा, कपडा, आदि (दृष्टान्त) तिस प्रकार किसी एक नैयायिकके द्वारा माना गया प्रमाण है (उपनय)। तिस कारण वह प्रमाण जड हो जायगा (निगमन) और अज्ञान पदार्थको तो प्रमाणपना युक्त नहीं है। अज्ञानकी निवृत्तिरूप प्रमिति चेतन ज्ञानके द्वारा ही साध्य है। अन्धकारका नाश प्रकाशसे ही हो सकता है। अन्धकारके सजातीयसे नहीं।

चक्षुरादिप्रमाणं चेदचेतनमपीष्यते ।
न साधकतमत्वस्याभावात्तस्याचितः सदा ॥ ४० ॥
चितस्तु भावनेत्रादेः प्रमाणत्वं न बाध्यते ।
तत्साधकतमत्वस्य कथंचिदुपपत्तितः ॥ ४१ ॥

यदि वैशेषिक या नैयायिक यों इष्ट करें कि " चक्षुषा प्रमीयते, धूमेन प्रमीयते, शद्बेन प्रमीयते " यानी चक्षु करके जाना जाता है, धूमसे अनुमिति हो जाती है । शद्बसे श्रुतज्ञान होता है इत्यादि स्थलोंपर अचेतन नेत्र, आदिक भी प्रमाण माने गये हैं, सो यह उनका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उन जड कहे गये नेत्र आदिकोंको प्रमितिका प्रकृष्ट साधकपना सर्वदा नहीं है । प्रमितिका करण वस्तुतः ज्ञान ही है । ज्ञानका सहायक होनेसे चक्षुः आदिको उपचारसे करणपना मानकर स्थूल दृष्टिवाले वैयाकरणोंने करणमें तृतीया विभक्ति कर दी है । जड पदार्थ कभी भी ज्ञप्तिका करण नहीं हो सकता है। हां ! चेतनस्वरूप नेत्र आदि भावेन्द्रियोंको तो प्रमाणपना निषिद्ध नहीं है। क्योंकि उस प्रमिति क्रियामें प्रकृष्ट उपकारक करणपनेकी सिद्धि भावेन्द्रियोंमें किसी न किसी अपेक्षासे हो जाती है । लब्धि और उपयोगरूप भावेन्द्रियां चेतनस्वरूप हैं । चेतनको प्रमाणपना हमें अभीष्ट है ।

साधकतमत्वं प्रमाणत्वेन व्याप्तं तदर्थपरिच्छित्तौ चक्षुरादेरुपलभ्यमानं प्रमाणत्वं साधयतीति यदीष्यते तदा तद्द्रव्यचक्षुरादि भावचक्षुरादि वा ? न तावद्द्रव्यनेत्रादि, तस्य साधकतमत्वासिद्धेः । न हि तत्साधकतमं स्वार्थपरिच्छित्तावचेतनत्वाद्विषयवत् । यत्तु साधकतमं तच्चेतनं दृष्टं यथा विशेषणज्ञानं विशेष्यपरिच्छित्तौ । न च चेतनं पौद्गलिकं द्रव्यनयनादीति न साधकतमं, यतः प्रमाणं सिद्ध्येत् ।

प्रमितिके साधकतमपनेकी प्रमाणपनेके साथ व्याप्ति है । वह अर्थकी ज्ञप्तिमें साधकतमपना चक्षु आदि जड पदार्थोंके भी दीख रहा है । अतः वह उनको प्रमाणपना सिद्ध करा देवेगा । यदि इस प्रकार वैशेषिक मानेंगे तो हम जैन पूंछते हैं कि वह अर्थपरिच्छित्तिका करणपना द्रव्यचक्षु, द्रव्यकर्ण आदिको मानते हो या भावचक्षुः भावरसना आदिको मानते हो ? बताओ । देखो, इन्द्रियां दो प्रकारकी हैं । बाल, वृद्ध, सबको प्रतीत हो रहे नेत्र गोलकके भीतर बाहरके अवयव तो द्रव्येन्द्रिय हैं । इन्द्रियोंके निकट विद्यमान आत्माके प्रदेश भी द्रव्येन्द्रिय हैं । तथा कर्मवियोगसे होनेवाली आत्मविशुद्धिरूप लब्धि और उस लब्धि द्रव्यचक्षु आदिसे जन्य ज्ञानोपयोग, या दर्शनोपयोग, ये भावेन्द्रिय हैं । तहां पहिले द्रव्यनेत्र आदिक तो प्रमितिके साधकतम नहीं हैं । क्योंकि उनको प्रमितिका प्रधान उपकारकपन असिद्ध है । अनुमान है कि ये द्रव्यनेत्र आदिक (पक्ष)

अपने और अर्थकी प्रमिति करनेमें प्रकृष्टपनेसे साधक नहीं हैं (साध्य)। जड होनेसे (हेतु)। जैसे कि घट, पट, आदिक ज्ञेय विषय साधकतम नहीं हैं (दृष्टान्त)। हां, जो भला ज्ञप्तिका साधकतम देखा गया है वह तो चेतनपदार्थ ही है। जैसे कि विशेषणका ज्ञान चेतन होनेसे ही विशेष्यकी ज्ञप्तिमें करण हो सका है। अर्थात् प्रथम सामान्यरूपसे दस मनुष्योंको जानलेनेपर पुनः एकके हाथमें दण्डके दीख जानेपर उस मनुष्यके दण्डीपनका ज्ञान हो जाता है। यह दृष्टान्त वैशेषिकोंके प्रति उनके मतानुसार दे दिया है। वस्तुतः ज्ञप्तिके करणपनका यदि विचार किया जायगा तो विशेषणके ज्ञानसे विशेषणकी ही परिच्छित्ति होगी और विशेष्यके ज्ञानसे ही विशेष्यकी ज्ञप्ति हो सकेगी। यों धूमज्ञानसे वह्निज्ञानके सदृश सामान्य ज्ञापक कारणकी अपेक्षासे भले ही अन्यके ज्ञानको ज्ञापक कह दिया जाय। प्रकरणमें यह कहना है कि पुद्गल द्रव्यके बनाये गये द्रव्यनेत्र आदिक तो चेतन नहीं है। इस कारण परिच्छित्तिमें साधकतम करण नहीं हो सकते हैं। जिससे कि वे प्रमाणस्वरूप सिद्ध हो सकें। यानी द्रव्यनेत्र, कान आदि प्रमाणरूप नहीं हैं। रहे अभ्यन्तर द्रव्य इन्द्रिय इस नामको धारनेवाले थोडे आत्मप्रदेश, वे भी अखंडपिण्ड या ज्ञान तादात्म्यकी अपेक्षा नहीं रखते हुये पुद्गल सदृश ही हैं। हां, परिपूर्णप्रदेशी ज्ञानी आत्मा तो ज्ञप्तिका कर्ता है, करण नहीं।

छिदौ परश्वादिना साधकतमेन व्यभिचार इति चेन्न, स्वार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावस्य साध्यत्वात्। न हि सर्वत्र साधकतमत्वं प्रमाणत्वेन व्याप्तं परश्वादेरपि प्रमाणत्वप्रसंगात्। भावनेत्रादि चेतनं प्रमाणमिति तु नानिष्टं तस्य कथञ्चित्साधकतमत्वोपपत्तेः, आत्मोपयोगस्य स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वात्तस्य भावेन्द्रियत्वोपगमात्।

यदि कोई यों कटाक्ष करे कि " परशुना काष्ठं छिनत्ति " यहां छेदनक्रियामें साधकतम तो कुठार, फरसा, वसूला, आदि भी देखे जाते हैं। अतः जो जो छित्तिमें साधकतम हैं वे वे चेतनप्रमाण हैं, इस व्याप्तिका व्यभिचारदोष हुआ। सो यह तो न कहना। क्योंकि पूर्वोक्त अनुमान द्वारा स्व और अर्थकी ज्ञप्तिमें साधकतमपनेका अभाव परशु आदिमें साध्य किया है। अर्थात् फरसा आदिक तो ज्ञप्तिक्रियाको करनेमें प्रकृष्ट उपकारक नहीं हैं, जब कि सभी क्रियाओंमें साधकतमपना प्रमाणपनके साथ व्याप्ति नहीं रखता है। अन्यथा तब तो फरसा, दण्ड आदिकको भी प्रमाणपनका प्रसंग हो जायगा। हां ! भावइन्द्रियस्वरूप नेत्र, कान आदि तो चेतन होनेके कारण प्रमाण हैं, यह तो अनिष्ट नहीं है, यानी इष्ट ही है। उनको किसी अपेक्षासे ज्ञप्तिक्रियाका करणपना सिद्ध हो रहा है। आत्माके उपयोगरूप ज्ञानको अपनी और अर्थकी प्रमिति करनेमें साधकतमपना है। जैनसिद्धान्तमें उस उपयोगको भावेन्द्रियपना स्वीकार किया गया है। "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्"। इस ही प्रकार अग्निकी ज्ञप्ति और वाच्यअर्थकी ज्ञप्तिमें भी अग्निज्ञान और वाच्यज्ञान करण हैं, धूम और शब्द तो कथमपि करण नहीं हैं। अन्यथा सोते हुए बालकको या संकेतको नहीं ग्रहण करनेवाले

पुरुषको भी धूम और शब्दसे अग्नि और वाच्यार्थका ज्ञान हो जाना चाहिये था ! हां ! करणज्ञानके सहायक होनेसे धूमज्ञान और शब्दज्ञान उपचारसे ज्ञापक माने जा सकते हैं ।

हानादिवेदनं भिन्नं फलमिष्टं प्रमाणतः ।
तदभिन्नं पुनः स्वार्थाज्ञानव्यावर्तनं समम् ॥ ४२ ॥
स्याद्वादाश्रयणे युक्तमेतदप्यन्यथा न तु ।
हानादिवेदनस्यापि [illegible] ॥ ४३ ॥

हेय पदार्थमें हानका ज्ञान करना और आदि पदसे उपादेयको उपादानरूपसे समझना तथा उपेक्षणीयमें उपेक्षा ज्ञान होना ये तीनों ज्ञानरूप फल तो प्रमाणसे भिन्न इष्ट किये गये हैं और फिर उस क्षण अपने तथा अर्थके विषयमें अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमितिका होना तो प्रमाणसे अभिन्न फल है । इस प्रकार स्याद्वादसिद्धान्तके आश्रय करनेपर तो यह भेद अभेदकी व्यवस्था करना युक्त भी है । अन्यथा यानी अन्य प्रकार बौद्धोंके मतानुसार प्रमाण और फलका सर्वथा अभेद मानना और वैशेषिकोंके मतानुसार प्रमाण और फलका सर्वथा भेद मानना तो समुचित नहीं है । हान, उपादान, और उपेक्षाके ज्ञानका भी प्रमाणसे कथञ्चित् अभेद दीख रहा है । यानी ये प्रमाणसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं । कभी घट, सर्प, चन्द्रमा आदिको देखकर कुछ समय पीछे उपादान, हान, उपेक्षा, बुद्धियां होती हैं और कभी प्रमाणके समय ही उपादान आदि बुद्धियां संकरात्मक हो जाती हैं । हां, अज्ञाननिवृत्ति तो नियमसे प्रमाणके समयमें ही होती है । अतः प्रमाण और फलका कथञ्चित् भेदाभेद मानना ही सर्व सम्मत होना चाहिये ।

हानोपादानोपेक्ष्यज्ञानं व्यवहितं फलं प्रमाणस्याज्ञानव्यावृत्तिरव्यवहितमित्यपि स्याद्वादाश्रयणे युक्तमन्यथा तदयोगात्, हानादिज्ञानस्यापि प्रमाणात् कथंचिदव्यवधानोपलब्धेः सर्वथा व्यवहितत्वासिद्धेः । तथाहि—

हेयको छोडना, उपादेयको ग्रहण करना, उपेक्षणीयकी अपेक्षा नहीं करना, उपेक्षा करना ये कृतियां या इनका ज्ञान तो प्रमाणके व्यवहित फल हैं । क्योंकि प्रमाण होनेके पीछे होनेवाले हैं और उस विषयके अज्ञानकी व्यावृत्ति हो जाना साक्षात् अव्यवहित फल है । कारण कि प्रमिति उसी समय हो जाती है । यह कथञ्चित् भेदाभेदका सिद्धान्त भी कथञ्चिद्वाद अथवा अनेकान्त मतका सहारा लेनेपर युक्त होगा । अन्यथा उस प्रमाणफलपनेका अयोग है । क्वचित् हेयका छोडना आदि ज्ञान भी प्रमाणसे कथञ्चित् व्यवधान रहितपनेसे होते हुए देखे जाते हैं । अतः सभी प्रकारोंसे उनको व्यवहितपना असिद्ध है । तिसी प्रकारको ग्रन्थकार स्पष्टरूपसे भविष्यग्रन्थ द्वारा कथन करते हैं ।

येनैवार्थो मया ज्ञातस्तेनैव त्यज्यतेऽधुना ।
गृह्यतोपेक्ष्यते चेति तदैक्यं केन नेष्यते ॥ ४४ ॥
भेदैकान्ते पुनर्न स्यात् प्रमाणफलता गतिः ।
सन्तानान्तरवत्स्वेष्टेऽप्येकत्रात्मनि संविदोः ॥ ४५ ॥

जिस ही मुझने अर्थको जाना था, उसी मेरे द्वारा वह हेय अर्थ अब छोड दिया जारहा है और मैंने जो अर्थ जाना था वह उपादेय अर्थ मुझसे ग्रहण किया जाता है । अथवा जो अप्रयोजनीय अर्थ मैंने जाना था, वही मुझसे उपेक्षणीय होरहा है । इस प्रकार उसी समय प्रमाण और फलका एकपना किसके द्वारा इष्ट नहीं किया गया है ? अर्थात् प्रमाणके हानबुद्धि आदि फल भी प्रमाणके समसमयवर्ती होकर अव्यवहित अभिन्न फल प्रतीत हो रहे हैं, यह बात सबको माननी पडती है । यदि यहां एकान्तरूपसे सर्वथा भेद माना जायगा तब तो फिर प्रमाणपने और फलपनेका निर्णय न हो सकेगा । जैसे कि देवदत्तके घटज्ञानका फल अन्य सन्तान माने गये इन्द्रदत्तकी पटज्ञप्ति या हान आदि ज्ञान नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार अपने अभीष्ट विवक्षित एक आत्मामें भी उत्पन्न हुये सर्वथा भिन्न दो ज्ञानोंमें प्रमाणपन और फलपना निर्णीत नहीं हो सकता है ।

न ह्येकेन प्रमितेऽर्थे परस्य हानादिवेदनं तत्प्रमाणफलं युक्तमतिप्रसंगात् । यस्य यत्र प्रमाणं ज्ञानं तस्यैव तत्र फलज्ञानमित्युपगमे सिद्धं । प्रमाणफलयोरेकप्रमात्रात्मकयोरेकत्वम् । न चैवं तयोर्भेदप्रतिभासो विरुध्यते, विशेषापेक्षया तस्य व्यवस्थानात् ।

एक पुरुषके द्वारा अर्थकी प्रमिति कर चुकनेपर दूसरे पुरुषके हुआ हान (त्याग) आदिकका ज्ञान उस पूर्व पुरुषके प्रमाणका फल है यह युक्त नहीं है । क्योंकि अतिप्रसंगदोष हो जायगा । यानी चाहे जिसके ज्ञानसे किसी भी तटस्थ पुरुषको ज्ञप्ति होना बन बैठेगा, तब तो सर्वज्ञके ज्ञानसे अल्पज्ञोंको भी सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्रत्यक्षज्ञप्ति हो जायगी । ऐसे ही पंडितोंके पुत्र मूर्ख नहीं रह सकेंगे, उनको कौन रोक सकेगा ? । यदि वैशेषिक यों कहें कि जिस आत्माको जिस ज्ञेयमें प्रमाणज्ञान हुआ है उस ही आत्माको तिस ज्ञेयमें हुआ हान आदिका ज्ञान तो फल ज्ञान माना जायगा । अन्यका अन्यमें नहीं, इस प्रकार नियमका संकोच स्वीकार करनेपर तो एक प्रमातास्वरूप प्रमाण और फलको एकपना (अभेद) सिद्ध होगया । यही तो हम स्याद्वादी कह रहे हैं । इस प्रकार कथञ्चित् अभेद हो जानेपर उन प्रमाण फलोंका कथञ्चित् भिन्नरूपसे दीखना विरुद्ध पड जायगा । सो नहीं समझना । कारण कि विशेषकी अपेक्षासे उनमें भेद प्रतिभासकी व्यवस्था हो रही है । एक ज्ञानमें प्रमाणपन और प्रमिति जैसे अविभक्त हो रहे हैं, उसी प्रकार किसी ज्ञानमें हानोपादान बुद्धियां भी संकरपनेसे तदात्मक हो रही हैं ऐसा अनुभवमें आ रहा है । बढिया क्षयोपशम होनेपर प्रमाणकालमें ही क्वचित् प्रमाणसे अभिन्न हान, उपादान, बुद्धियां हो जाती हैं । केवल ज्ञानी महाराजके

उसी समय निजस्वरूपसे भिन्न सम्पूर्ण पदार्थोंमें प्रमाणआत्मक उपेक्षा बुद्धि हो रही है। विशेष अंशोंकी अपेक्षा प्रमाण और उपेक्षा बुद्धिमें कथञ्चित् भेद भी है।

पर्यायार्थार्पणाद्भेदो द्रव्यार्थादभिदास्तु नः।
प्रमाणफलयोः साक्षादसाक्षादपि तत्त्वतः ॥ ४६ ॥

हम स्याद्वादियोंके यहां पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता की विवक्षा होनेपर प्रमाण और फलका भेद है, तथा द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे अभेद रहो। और वास्तविक रूपसे करणज्ञानरूप प्रमाणमें और अज्ञाननिवृत्तिरूप फलमें समयका व्यवधान नहीं है, अतः अभेद है। और प्रमाणके पीछे व्यवधान होनेवाले हान आदिके ज्ञानरूप फलसे भेद है। दोनोंका एक ही आत्मा उपादान है। इस कारण भी प्रमाण और फलमें अभेद है।

साक्षात्प्रमाणफलयोरभेद एवेत्ययुक्तं पर्यायभेदशक्तिमन्तरेण करणसाधनस्य भावसाधनस्य च फलस्यानुपपत्तेः सर्वथैक्ये तयोरेकसाधनत्वापत्तेः करणाद्यनेककारकस्यैकत्रापि कल्पनामात्रादुपपत्तिरिति चेन्न, तत्त्वतः संवेदनस्याकारकत्वानुषक्तेः न चाकारकं वस्तु कूटस्थवत्।

प्रमाण और फलका साक्षात् अव्यवहित रूपसे अभेद ही है यह एकान्त करना अयुक्त है। क्योंकि पर्यायरूप शक्तियोंका भेद माने विना करणमें निरुक्ति कर साधा गया प्रमाण और भावमें युट् प्रत्यय कर साधागया फलरूप प्रमाण बन नहीं सकता है। यदि सभी प्रकारसे उनमें एकपना (अभेद) माना जायगा तो दोनों प्रमाण शब्दोंकी करण या भावमेंसे किसी एक द्वारा ही निरुक्ति कर सिद्ध हो जानेका प्रसंग हो जायगा। अकौआमेंसे ही शिलाजीत निकल आवे तो पर्वतपर जानेका क्लेश क्यों उठाया जाय ? किन्तु ऐसा है नहीं। यदि बौद्ध यों कहें कि करण आदि अनेक कारकोंकी एक पदार्थमें भी केवल कल्पनासे ही सिद्धि हो सकती है। सभी कारक प्रायः कल्पित होते हैं, आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि यों तो संवेदनको वास्तविकरूपसे कारकपना प्राप्त न होगा। अश्वविषाणके समान अकारकपनेका प्रसंग हो जायगा। किन्तु बौद्धोंने संवेदनको करणकारक, कर्ताकारक, व्यवहृत किया है और देखो जो यथार्थरूपसे अर्थक्रियाका कारक नहीं है, वह वस्तुभूत नहीं है, जैसे कि सांख्योंका कूटस्थ आत्मा। आप बौद्ध सांख्योंके प्रति अर्थक्रिया न करनेकी अपेक्षासे कूटस्थ आत्माको अवस्तुपनेका दोष लगाते हैं, उस ही प्रकार कारकोंको वास्तविक रूपसे न माननेवाले क्षणिकवादी बौद्धोंके ऊपर वही दोष लग बैठता है।

तयोरसाक्षाद्भेद एवेत्यप्यसंगतं, तदेकोपादानत्वाभावप्रसंगात्। न च तयोर्भिन्नोपादानता युक्ता संतानान्तरवदनुसन्धानविरोधात्।

उन प्रमाण और हान आदि फलरूप बुद्धिका समयव्यवधान होनेके कारण भेद ही है। यह भी कहना पूर्वापर संगतिसे रहित है, क्योंकि ऐसा माननेपर उन दोनोंका उपादान कारण एक आत्मा न हो सकेगा यह प्रसंग अच्छा नहीं। यदि नैयायिक या बौद्ध यों कहें कि उनका उपादान कारण भिन्न ही मान लिया जाय क्या हानि है ? सो यह कहना भी युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि भिन्न सन्तानोंके समान प्रत्यभिज्ञान होनेका विरोध हो जायगा। अर्थात् जैसे देवदत्तसे जाने गये विषयका यज्ञदत्तके द्वारा हानोपादान नहीं होता है वैसे ही प्रमाण और फलज्ञानके भिन्न उपादान कारण मान लेनेपर जिसी मैंने जो अर्थ जाना है उसी मुझसे वह अर्थ छोडा जाता है या ग्रहण किया जाता है। इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान न हो सकेगा, किन्तु होता है। अतः प्रमाण और फलका सर्वथा भेद मानना उचित नहीं है।

यदा पुनरव्यवहितं व्यवहितं च फलं प्रमाणाद्द्रव्यार्थादभिन्नं पर्यायार्थाद्भिन्न-मिष्यते तदा न कश्चिद्विरोधस्तथाप्रतीतेः।

और जब अज्ञाननिवृत्तिरूप साक्षात् फल तथा हान आदि बुद्धिरूप व्यवहित फल ये दोनों प्रमाणसे द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभिन्न माने जाय और पर्यायार्थिक नयसे भिन्न इष्ट किये जावें। तब तो किसी प्रकार कोई भी विरोध नहीं आता है। क्योंकि तिस रीतिसे प्रमाण और फलकी कथंचित् भेद अभेद स्वरूपकरके प्रतीति हो रही है। सर्वथा भेद या अभेद माननेपर प्रमाणफलपनेका विरोध है। तभी तो श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्यने कहा है कि जो ही प्रमाता जाननेवाला है, वही तत्क्षण अज्ञानकी निवृत्तिको करता हुआ शीघ्र हानोपादान उपेक्षाओंको कर लेता है। अतः बौद्ध और नैयायिकोंके द्वारा माने गये अभेद एकान्त तथा भेद एकान्त दोनों युक्तिरहित हैं।

तत्प्रमाणान्नयाच्च स्यात्तत्त्वस्याधिगमोऽपरः।
स स्वार्थश्च परार्थश्च ज्ञानशब्दात्मकात्ततः ॥ ४७ ॥
ज्ञानं मत्यादिभेदेन वक्ष्यमाणं प्रपञ्चतः।
शब्दस्तु सप्तधा वृत्तो ज्ञेयो विधिनिषेधगः ॥ ४८ ॥

तिस कारण सूत्रका अर्थ सिद्ध हो जाता है कि प्रमाण और नयसे तत्त्वोंका अधिगम होता है जो कि प्रमाण और नयसे कथञ्चित् भिन्न है। ज्ञानस्वरूप उन प्रमाण और नयोंसे होता हुआ वह अधिगम स्वयं अपने लिये उपयोगी है। क्योंकि ज्ञान गुण आत्मामें ही जडा हुआ रहता है दूसरेकी ओर फेंका नहीं जा सकता है। तथा वचनस्वरूप उन प्रमाण और नयोंसे हुआ अधिगम दूसरोंके लिये उपयोगी है। क्योंकि शब्दको सुनकर संकेतज्ञ जन झट ज्ञान कर लेते हैं। वह प्रमाण स्वरूपज्ञान मति, श्रुत, आदि भेदों करके विस्तारसे भविष्य ग्रन्थमें कहा जायगा। जो कि स्वार्थ

माना गया है और दूसरोंके लिये उपयोगी हो रहा शद्व तो विधि और निषेधका अवलम्ब लेकर सात प्रकारसे प्रवृत्त होता हुआ समझ लेना चाहिए। विशेष बात यह है कि स्वयं गानेमें या चिल्लाकर पाठ करनेमें शद्व स्वयंको भी उपयोगी हो जाता है। ऐसी दशामें श्रावण प्रत्यक्ष या श्रुतज्ञान करनेवाले उसी आत्मामें कथञ्चित् भेद है। दूसरोंका गाना सुनकर जैसा आनन्द आता है वैसा ही स्वयं गाना गाकर भी हर्ष विशेष होता है। यहां गाना गानेवाले और उसका आनन्द लेनेवाले आत्माके दो परिणाम हैं। इस अपेक्षा शद्व परार्थ हो गया वही पाठ करनेमें समझ लेना। कुछ तो पहिले समझे हुए थे और अपने ही शद्व कानोंमें गये, अतः दृढ प्रतिपत्ति हो गयी। यहां भी दो परिणाम हैं। किसी समय एक ही आत्मा गुरु और चेला बन जाता है। अपने ही विचारोंसे निकाले गये नवीन तत्त्वसिद्धान्तको पुनः स्मरण रखनेके लिये पुस्तकमें लिख लेते हैं। अपनी आत्मासे हम स्वयं पढते हैं तथा कभी कभी स्वयं अपने भावोंमें विशिष्ट ज्ञान कर लेते हैं, उसीसे शिष्यको ज्ञान हो जाता है। शद्व बोलनेकी आवश्यकता नहीं पडती है। यहां भी अव्यक्त, अनुक्त, शद्वोंके अभिप्राय मान लिये जाते हैं। दूसरी बात यह है कि स्वयं गायनमें शद्वोंके आलापका जो श्रावण प्रत्यक्ष हुआ है वह ज्ञान स्वके लिये उपयोगी है शब्द तो नहीं। जैनसिद्धान्त अगाध है, एकान्त नहीं है। अपेक्षासे अनेक धर्मोंकी सिद्धि होती है।

मत्यादिज्ञानं वक्ष्यमाणं तदात्मकं प्रमाणं स्वार्थं, शद्वात्मकं परार्थं, श्रुतविषयैकदेशज्ञानं नयो वक्ष्यमाणः स स्वार्थः शद्वात्मकः परार्थः कार्त्स्न्यतो देशतश्च तत्त्वार्थाधिगमः फलात्मा स च प्रमाणनयाच्च कथञ्चिद्भिन्न इति सूक्तं प्रमाणनयपूर्वकः।

आगे ग्रन्थमें कहे जानेवाले मति श्रुत आदिक ज्ञान प्रमाण हैं वे ज्ञान स्वरूप होते हुये तो स्वकीय आत्माके लिये हैं और शद्वस्वरूप वे दूसरे श्रोताओंके लिये हैं। " तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् " तथा श्रुतज्ञानसे जाने गये विषयके एकदेशको जाननेवाला नय जो कि आगे कहा जायगा, वह भी ज्ञान स्वरूप तो स्वके लिये है और शद्वस्वरूपनय दूसरे आत्माओंके प्रयोजनका साधक है। वचनको भी उपचारसे प्रमाण माना है। पूर्णरूपसे और एकदेशसे हुआ तत्त्वार्थोंका अधिगम तो फलस्वरूप है। और वह साधकतम प्रमाण और नयसे कथंचित् भिन्न है। इस कारण श्रीउमास्वामी महाराजने बहुत अच्छा कहा था कि प्रमाण और नयको कारण मानकर हमको और सर्व श्रोताओंको अधिगम हो जाता है। विशेष यह है कि सभी गुणोंमेंसे अकेले ज्ञानका ही शद्वके द्वारा प्रतिपादन होता है। सुमेरुपर्वतका वर्णन, नन्दीश्वरका निरूपण, धर्मद्रव्यका कथनरूप रसका प्ररूपण, सम्यग्दर्शनका व्याख्यान करना इन सबका अभिप्राय यह है कि सुमेरु आदिके ज्ञानका प्रतिपादन किया गया है। तभी तो सुमेरुकी लम्बाई, चौडाई, ऊंचाई, सौमनसवन, पाण्डुकवनका विन्यास समझानेपर हमारी आत्मामें सुमेरुका ज्ञान उत्पन्न होता है। कोई मनुष्य अपने सुखदुःखका निरूपण करता है तो श्रोताकी आत्मामें सुख या दुःख उत्पन्न नहीं होता है,

किन्तु सुखदु:खोंका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। शुद्ध निर्विकल्पक आत्माका स्वयं अनुभव तो हो सकता है। किन्तु सहस्र गलोंसे भी कोई उपदेष्टा उसका उपदेश नहीं कर सकता है। श्रीपूज्यपाद स्वामीने कहा है कि " यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं, यत्परान् प्रतिपादये। उन्मत्तचेष्टितं तन्मे, यदहं निर्विकल्पकः "। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान ही समझा और समझाया जा सकता है। ज्ञानोंमें भी बहुभाग ज्ञान अवक्तव्य हैं। " पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिवद्धो। " गोम्मटसारमें कहा है कि प्रज्ञापनीय (अवक्तव्य) पदार्थोंका अनन्तवां भाग ज्ञान द्वारा समझाने योग्य है और समझाने योग्यमेंसे अनन्तवां भाग शास्त्रोंमें लिखा जा सकता है। वक्ताके हृदयमें जितना ज्ञान है उतना वह सिर, हाथ, आदिकी चेष्टा या भावपूर्ण शद्बोंके उच्चारण, सुनियोजनसे समझा जा नहीं सकता है और जितना चेष्टा, शद्ब बोलना, आरोह, अवरोह, आंखोंका स्पन्दन, अतिशययुक्तभाव आदिसे समझा जा सकता है, उतना लिखा नहीं जा सकता है। तभी तो वक्ताके उपदेशको सुननेके लिये दूर दूरके मनुष्य पहुंचते हैं। पत्रोंपर लिखे हुए उनके भाषण पढ लेनेसे उतना सन्तोष नहीं हो पाता है। बडी प्रसन्नतासे कहना पडता है कि आत्माओंमें यह स्वभाव बहुत अच्छा है कि थोडासा निमित्त पाकर क्षयोपशमके अनुसार अपने आप बहुत ज्ञानको उत्पन्न कर लेता है। सभी श्रुतज्ञान शद्बोंके ही अधीन होय ऐसा नियम नहीं। तभी तो क्वचित् गुरुके ज्ञानसे शिष्यका ज्ञान बढकर हो जाता है। किन्तु यहां गुरुकी कृतज्ञता शिष्यको विस्मरणीय नहीं होनी चाहिये। अभव्योंके उपदेशसे असंख्य विनीत भव्यजीव कैवल्य प्राप्त कर सिद्ध हो गये। पांच ज्ञानोंमें मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये चार तो अवाच्य हैं। दूध, मोदक, मिश्री, आदिकके रासन प्रत्यक्षोंका कथन नहीं हो सकता है आदि। हां, अकेले श्रुतज्ञानके भी अल्पभागका प्रतिपादन हो सकता है। फिर भी यहां पांचों ज्ञानोंको यथायोग्य शद्बात्मक इस अपेक्षासे कह दिया है कि वे भी अपने अविनाभावी श्रुतज्ञानोंके साथ समझे समझाये जा सकते हैं। साझेदारीमें एकका धर्म दूसरेमें भी व्यवहृत हो जाया करता है। आत्माके जब सभी गुणोंमें भाईचारा है तो उसके ज्ञानोंमें समानाभिहार होना अवश्यंभावी है।

शद्बो विधिप्रधान एवेत्ययुक्तं, प्रतिषेधस्य शद्बादप्रतिपत्तिप्रसंगात्। तस्य गुणभावेनैव ततः प्रतिपत्तिरित्यप्यसारं, सर्वत्र सर्वदा सर्वथा प्रधानभावेनाप्रतिपन्नस्य गुणभावानुपपत्तेः। स्वरूपेण मुख्यतः प्रतिपन्नस्य क्वचिद्विशेषणत्वादिदर्शनात्।

ब्रह्माद्वैतवादीका कथन है कि शद्बको सुनकर श्रोताकी पदार्थोंके विधान करनेमें ही प्रवृत्ति होती है। " घटमानय " को सुनकर श्रोता घटको ले आता है। " गां नय " को सुनकर गौ को ले जाता है। अतः भाव पदार्थकी विधिको ही प्रधानतासे कहनेवाले सभी शद्ब हैं। आप जैनोंने उक्त वार्त्तिकमें विधि और निषेधको कहनेवाले सभी शद्बोंको कैसे कहा ? आचार्य बोलते हैं कि यह कहना अयुक्त है। क्योंकि शद्बके द्वारा विधि होना ही माना जायगा तो शद्बसे निषेध की

प्रतिप्रत्ति न होनेका प्रसंग होगा। घटको लानेवाला मनुष्य अन्य कपडा, भैंसा, पुस्तक, आदिका निषेध करता हुआ ही अभीष्ट घटको लाता है। यदि विधिवादी यों कहें कि शद्ध द्वारा निषेधकी गौणरूपसे ही प्रतिपत्ति होती है, प्रधानरूपसे तो निषेधकी प्रतीति कभी नहीं होती है, सो यह कहना भी निस्सार है। क्योंकि जो निषेध सभी स्थलोंमेंसे कहीं भी और सभी कालोंमेंसे कभी तथा सभी प्रकारोंमें किसी भी प्रकार प्रधानरूप करके नहीं जाना गया है उसका गौणपना भी असिद्ध है। अपने स्वरूप करके जो कहीं मुख्यपनेसे जान लिया गया है वह अन्यत्र भी विशेषण, गौणपन, आदि धर्मोंसे व्यवहृत होता हुआ देखा जा सकता है। मुख्यरूपसे प्रसिद्ध अग्नि या बैलका किसी बालकमें अध्यारोप किया जा सकता है। अन्यथा नहीं।

प्रतिषेधप्रधान एव शद्ध इत्यनेनापास्तम्।

प्रधानरूपसे निषेध करनेको ही शद्ध कहता है यह एकान्त भी इस कथनसे खण्डित हो जाता है। क्योंकि प्रायः सभी शद्बोंसे विधि और निषेध दोनोंकी प्रतीति हो रही है। यह बात दूसरी है कि कहीं विधिका विशेषण निषेध है और क्वचित् निषेधका विशेषण विधि है। अतः द्वितीय भंगका एकान्त ठीक नहीं।

क्रमादुभयप्रधान एव शद्ध इत्यपि न साधीयः, तस्यैकैकप्रधानत्वप्रतीतेरप्यबाधितत्वात्।

क्रमसे विधि और निषेध दोनोंको ही प्रधानरूपसे शद्ध कहता है। यह भी एकान्तरूपसे कहना अधिक अच्छा नहीं है। क्योंकि उस शद्धकी एक एकको प्रधानपनेसे कहनेकी प्रतीति भी बाधारहित हो रही है। " स्वाध्यायं कुर्यात् " तहां स्वाध्यायकी विधि तो प्रधान है और वृथा क्रीडन आदिका निषेध गौण है। " मधु नाश्नीयात् " यहां मधुभक्षणका निषेध प्रधान है। शुद्ध प्रासुक पदार्थके सेवनकी विधि गौण है। अतः उभयआत्मक तृतीय भंगका भी एकान्त उचित नहीं।

सकृद्विधिनिषेधात्मनोऽर्थस्यावाचक एवेति च मिथ्या, तस्यावाच्यशद्धेनाप्यवाच्यत्वप्रसक्तेः।

एक वारमें विधि और निषेधरूप दोनों अर्थका कथन करनेवाला कोई वाचक शद्ध है ही नहीं। अतः शद्ध अवाचक ही है। यह कथन भी झूंठा है। क्योंकि यदि अर्थ सभी प्रकारसे अवाच्य है तो अवाच्य शद्धसे भी उसको अवाच्यपनेका प्रसंग होगा। अन्यथा शद्ध उसका अवाचक नहीं कहा जा सकेगा। अतः शद्ध वाचक सिद्ध हो गया है। अर्थात् अर्थ जब वाच्य है तो उसका वाचक शद्ध है। अतः अवक्तव्य नामका चतुर्थभङ्ग भी एकान्तरूपसे नहीं व्यवस्थित हुआ।

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचक एवोभयात्मनो युगपदवाचक एवेत्येकान्तोऽपि न युक्तः, प्रतिषेधात्मनः उभयात्मनश्च सहार्थस्य वाचकत्वावाचकत्वाभ्यां शद्धस्य प्रतीतेः।

शद्ध विधिस्वरूप अर्थका वाचक ही है और विधि, निषेध द्वयस्वरूप अर्थका एक समयमें अवाचक ही है। इस प्रकार पांचवे भंगका एकान्त करना भी युक्त नहीं है। क्योंकि प्रतिषेधस्वरूप

अर्थका वाचकपन और विधिनिषेध उभयस्वरूप अर्थके एक साथ अवाचकपनसे भी शद्बकी प्रतीति हो रही है।

इत्थमेवेत्यप्यसंगतमन्यथापि संप्रत्ययात् ।

इस छटवे ढंगसे ही अर्थात् प्रतिषेधरूप अर्थका वाचकपन और विधि निषेधरूप अर्थका एक साथ अवाचकपनेसे ही शद्बकी प्रतीति हो रही है यह कहना भी असंगत है। क्योंकि अन्य प्रकारोंसे भी यानी पांचवें, तीसरे, पहिले, आदि भंगोंसे भी शद्बकी प्रतीति हो रही है।

क्रमाक्रमाभ्यामुभयात्मनोऽर्थस्य वाचकश्चावाचकश्च नान्यथेत्यपि प्रतीतिविरुद्धं विधिमात्रादिप्रधानतयापि तस्य प्रसिद्धेरिति सप्तधा प्रवृत्तोऽर्थे शद्बः प्रतिपत्तव्यो विधिनिषेधविकल्पात् ।

शब्द क्रमसे विधि निषेधात्मक अर्थका वाचक है और अक्रमसे विधि निषेधद्वयस्वरूप अर्थका अवाचक है। इस सातवें ढंगके सिवाय अन्य कोई प्रकार नहीं है। यह भी एकान्त करना प्रतीतियोंसे विरुद्ध पडता है। क्योंकि केवल विधि या अकेले निषेध आदि प्रथम, द्वितीय प्रभृति भंगोंकी प्रधानतासे भी उस शब्दकी प्रवृत्ति होना प्रसिद्ध है। इस कारण पूर्वोक्त एकान्तोंको समुदितकर सात प्रकारसे अर्थमें प्रवृत्त हो रहा शद्ब मान लेना चाहिये। विधि और निषेधके अवाच्यको साथ लेकर सात भेद हो सकते हैं। अतः उक्त वार्तिकमें सात प्रकारसे शद्बकी प्रवृत्ति कही गयी समझनी चाहिये। वाच्य धर्म सात हैं। अतः उनके वाचक शब्दोंके विकल्प भी सात हैं।

तत्र प्रश्नवशात्कश्चिद्विधौ शद्बः प्रवर्तते ।
स्यादस्त्येवाखिलं यद्वत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ॥ ४९ ॥
स्यान्नास्त्येव विपर्यासादिति कश्चिन्निषेधने ।
स्याद्द्वैतमेव तद्द्वैतादित्यस्तित्वनिषेधयोः ॥ ५० ॥
क्रमेण यौगपद्याद्वा स्यादवक्तव्यमेव तत् ।
स्यादस्त्यवाच्यमेवेति यथोचितनयार्पणात् ॥ ५१ ॥
स्यान्नास्त्यवाच्यमेवेति तत एव निगद्यते ।
स्याद्द्वयावाच्यमेवेति सप्तभंग्यविरोधतः ॥ ५२ ॥

तिन सात प्रकारके वाचक शद्बोंमें कोई शद्ब तो प्रश्नके वशसे विधान करनेमें प्रवृत्त रहा है। जैसे कि स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन अपने स्वरूपभूत चार अवयवोंसे सम्पूर्ण पदार्थ कथञ्चित् अस्तिरूप ही हैं (१)। तथा कोई शद्ब यों निषेध करनेमें प्रवृत्त रहा है। जैसे कि स्वरूप

आदिके विपर्यास यानी परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे सम्पूर्ण पदार्थ कथञ्चित् नास्तिस्वरूप ही है (२)। विधि और निषेधके क्रमसे उस द्वैतपनकी विवक्षासे सम्पूर्ण पदार्थ कथञ्चित् अस्तिनास्ति उभयरूप ही हैं (३)। अथवा अस्तित्व और निषेधकी युगपत् कथन विवक्षा होनेपर वह वस्तु अवक्तव्य ही है (४)। तथा यथायोग्य उचित नयकी विवक्षा करनेसे यानी स्वरूपचतुष्टय और एक समयमें दोनोंके कहनेकी अपेक्षासे वस्तु कथञ्चित् अस्त्यवक्तव्यरूप ही है (५)। तिस उचित नयकी योजनासे ही यानी परचतुष्टय और युगपत् कथनकी विवक्षासे वस्तु कथञ्चित् नास्त्यवक्तव्य ही कही जाती है (६)। तथा स्वचतुष्टय और परचतुष्टय एवं युगपत् कथनकी अर्पणा करनेसे वस्तु कथञ्चित् अस्तिनास्त्यवक्तव्य स्वरूप ही है (७)। इस प्रकार धर्मोंके अविरोधसे शब्दोंकी प्रवृत्ति द्वारा सात भंगोंके समुदायकी योजना हो जाती है।

न ह्येकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद्विधिनिषेधयोर्व्यस्तयोः समस्तयोश्च कल्पनयोः सप्तधा वचनमार्गो विरुध्यते, तत्र तथाविधयोस्तयोः प्रतीतिसिद्धत्वादेकान्तमन्तरेण वस्तुत्वानुपपत्तेरसम्भवात्।

प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें न्यारे न्यारे विधि और निषेधकी अथवा मिले हुए विधि निषेधकी उन कल्पनाओंके हो जानेपर सात प्रकार वचन मार्ग प्रवर्तना विरुद्ध हो जाय, सो नहीं समझना। क्योंकि उस एक वस्तुमें तिस प्रकारके उन विधिनिषेधोंकी कल्पना करना प्रतीतियोंसे सिद्ध हो रहा है। एक ही धर्मस्वरूपके विना वस्तुपनकी उपपत्ति न होनेका असम्भव है। अर्थात् एकान्तपनेके आग्रहको छोडकर वस्तुत्वकी सिद्धि हो सकती है। एक एकको ही एकत्रित करनेसे अनेक बन जाते हैं। अकेला एक धर्म अवस्तु है और है भी तो नहीं। सम्पूर्ण वस्तुओंमें विधि और निषेधकी वस्तुभूत कल्पनाएं प्रतीतिसिद्ध हो रही हैं।

स्वलक्षणे तयोरप्रतीतेर्विकल्पाकारतया संवेदनान्न प्रतीतिसिद्धमिति चेत्, किं पुनर्व्यस्तसमस्ताभ्यां विधिप्रतिषेधाभ्यां शून्यं स्वलक्षणमुपलक्ष्यते कदाचित्? संहृतसकलविकल्पावस्थायामुपलक्ष्यत एव तदनन्तरं व्युत्थितचित्तदशायामिदमित्थमस्त्यन्यथा नास्तीत्यादिविधिप्रतिषेधधर्मविशेषप्रतीतेः पूर्वं तथाविधवासनोपजनितविकल्पबुद्धौ प्रवृत्तेः। केवलं तान् धर्मविशेषांस्तत्र प्रतिभासमानानपि कुतश्चिद्विभ्रमहेतोः स्वलक्षणेऽध्यारोपयंस्तदपि तद्धर्मात्मकं व्यवहारी मन्यते। वस्तुतस्तद्धर्माणामसम्भवात्। सम्भवे वा प्रत्यक्षे प्रतिभासप्रसंगादेकत्रापि नानाबुद्धीनां निवारयितुमशक्तेरिति केचित्।

बौद्ध कहते हैं कि हमारे माने गये स्वलक्षण तत्त्वमें उन विधि निषेधोंकी प्रतीति नहीं हो रही है। वस्तुको नहीं छूनेवाले कोरे विकल्पाकार ज्ञानसे उनका संवेदन हो जाता है। अतः वे धर्म प्रतीतियोंसे सिद्ध नहीं हैं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन उनसे पूंछते हैं कि क्या फिर अकेले या मिले हुए विधि प्रतिषेधोंसे रहित स्वलक्षणको कभी आपने देखा है? बताओ! भला जिसका

शरीर स्वकी विधि और परके निषेधसे अलंकृत नहीं है उसका देखना भी क्या होगा ? । इसके उत्तरमें कोई बौद्ध यों कह रहे हैं कि जिस समय सम्पूर्ण मेरे, तेरे, अनित्य, है, नहीं, आदि विकल्पोंका संहार (निरोध) कर दिया जाता है उस अवस्थामें विधि निषेधोंसे रहित स्वलक्षण तत्त्व दीख ही जाता है । हां ! उसके पीछे रागद्वेषकी दशामें चित्तवृत्तिके नाना विकल्पोंमें संलग्न हो जानेपर " यह इस प्रकारका है, दूसरे प्रकारसे नहीं है " इत्यादिक अनेक विधि प्रतिषेध रूप विशेषधर्मोंकी प्रतीति होने लग जाती है । पहिले समयोंमें तिस प्रकारके झूंठे विकल्पक ज्ञान हो चुके हैं, उनकी वासनाएं हृदयमें बैठी हुयी हैं । उन वासनाओंसे उत्पन्न हुयी विकल्प बुद्धिमें अस्ति, नास्ति, की कल्पना प्रवृत्त हो जाती है । केवल उस झूंठी विकल्प बुद्धिमें प्रतिभास रहे भी उन अस्ति नास्ति आदि विशेष धर्मोंको जो कि स्वलक्षणमें नहीं प्रतिभास रहे हैं किसी भ्रान्तिके कारणसे वस्तुभूत स्वलक्षणमें भी अध्यारोप करता हुआ यह व्यवहार करनेवाला जीव उस स्वलक्षणको भी उन कल्पित धर्मस्वरूप मान रहा है। जैसे कोई भोला बालक या बन्दर दर्पणमें स्थित प्रतिबिम्बके वास्तविक धर्मोंको मान लेता है, अथवा कोई उद्भ्रान्त पुरुष स्वप्नको देखकर भयभीत, कम्पित, हो जाता है । अपनी छतके ऊपर उदित हो रहे चन्द्रमाको शिशु अपना जान रहा है । सर्व साधारणका समान अधिकार या कुछ भी अधिकार न होते हुए भी बाजारकी चांदी, या कपडेमें मेरी तेरी कल्पना गढ ली जाती है परमार्थरूपसे विचारा जाय तो निरंश निर्विकल्पक स्वलक्षणोंमें उन धर्मोंकी वृत्ति असम्भव है । वे धर्म यदि वस्तुमें ठीक ठीक होते तो वस्तुके पूर्ण स्वरूपको देखनेवाले प्रत्यक्ष ज्ञानमें अवश्य प्रतिभासको प्राप्त हो जाने चाहिये थे । जो वस्तुभूत हैं उनका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हो जाना प्रसंग प्राप्त है, तब तो एक पदार्थमें भी धर्मी धर्मोंके अनेक ज्ञान हो जानेको रोका नहीं जा सकता है । किन्तु हमारा मत ऐसा है कि " प्रत्यर्थं ज्ञानाभिनिवेशः " अंश, धर्म, पर्याय, इन सबसे रहित कोरा एक द्रव्य है उस एक अर्थका ही ज्ञान होता है, न एक पदार्थके अनेक ज्ञान हैं और न अनेक पदार्थोंका एक ज्ञान होता है । तथा जैनोंके द्वारा माने गये दर्शनमें भी तो धर्मोंका प्रतिभास नहीं होता है । इस प्रकार कोई सौगत कह रहे हैं । अब आचार्य बोलते हैं कि—

तेऽपि पर्यनुयोज्याः । कुतः ? सकलधर्मविकलं स्वलक्षणमभिमतदशायां प्रतिभासमानं विनिश्चितमिति । प्रत्यक्षत एवेति चेन्न तस्यानिश्चायकत्वात् । निश्चयजनकत्वान्निश्चायकमेव तदिति चेत्, तर्ह्यस्तित्वादिधर्मनिश्चयजननात्तन्निश्चयोऽपि प्रत्यक्षोऽस्तु तस्य तन्निश्चायकत्वोपपत्तेः अन्यथा स्वलक्षणनिश्चायकत्वस्य विरोधात् ।

वे बौद्ध भी इस प्रकार प्रश्नमालाको उठाकर आपादन करने योग्य हैं कि जिस दशामें विकल्पोंका संहार हो चुका है उस इष्ट दशामें स्वलक्षणतत्त्व सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित प्रतिभास रहा है, इस बातको आप बौद्धोंने विशेषरूपसे कैसे निश्चय किया ? बताओ ! यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही निश्चय

किया कहो सो तो ठीक नहीं। क्योंकि आपने उस प्रत्यक्षको निश्चय करानेवाला नहीं माना है। यदि आप यों कहे हैं कि प्रत्यक्षज्ञान स्वयं तो निश्चयरूप नहीं है। किन्तु निश्चयका जनक होनेसे वह प्रत्यक्ष प्रमाण निश्चायक अवश्य है। तब यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि अस्तिपन, नास्तिपन, आदि धर्मोंका विकल्पज्ञानरूप निश्चयकी उत्पत्ति करनेसे उनका निश्चयज्ञान भी प्रत्यक्षप्रमाण हो जाओ। क्योंकि जो निश्चयको पैदा करता है वह प्रत्यक्ष आपने माना है। पीछेसे दृढतर निश्चयका उत्पाद करनेसे अस्तित्वादिके पहिले उस निश्चय ज्ञानको उसका निश्चायकपना सिद्ध हो रहा है अथवा प्रत्यक्षके पीछे निश्चय और उसके अनन्तर दृढतर निश्चयको करानेवाले उस प्रत्यक्षको उन अस्तित्वादिका निश्चायकपन सिद्ध हो रहा है। अन्यथा प्रत्यक्षको स्वलक्षणके निश्चायकपनेका विरोध होगा।

यदि पुनरस्तित्वादिधर्मवासनावशात्तद्धर्मनिश्चयस्योत्पत्तेर्न प्रत्यक्षं तन्निश्चयस्य जनकमिति मतं तदा स्वलक्षणं शुद्धं प्रतिभातमिति निश्चयस्यापि स्वलक्षणवासनाबलादुदयान्न तत्तस्य जनकं स्यात्। स्वलक्षणेऽनुभवनाभावे निश्चयायोगो न पुनरस्तित्वादिधर्मेष्विति स्वरुचिप्रकाशमात्रम्।

यदि फिर बौद्धोंका इस प्रकार मन्तव्य है कि अस्तित्व आदि धर्मोंकी हृदयमें बैठी हुयी मिथ्या वासनाओंकी अधीनतासे उन अस्तित्व आदि धर्मोंका निश्चय उत्पन्न होता है। अतः उस निश्चयका जनक प्रत्यक्ष नहीं है, यानी मिथ्या संस्कार अस्तित्वादि धर्मोंके निश्चायक हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण उनका निश्चायक नहीं है, तब तो हम बौद्धोंके प्रति कहेंगे कि सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित शुद्ध स्वलक्षण प्रतिभासित हो गया है इस निश्चयकी भी उत्पत्ति स्वलक्षणकी झूंठी वासनाके सामर्थ्यसे हो जायगी। अतः वह प्रत्यक्ष उस निश्चयका जनक न होवे। स्वलक्षण और अस्तित्वादि धर्म इन सबके निश्चय करानेका उपाय वासनाएं हो सकती हैं। स्वलक्षणमें प्रत्यक्षरूप अनुभवके न करनेपर पीछेसे निश्चय नहीं हो सकेगा, यह तो माना जाय और फिर अस्तित्वादि धर्मोंमें प्रत्यक्षरूप अनुभव किये विना निश्चय न होना यह न माना जाय, इस प्रकार पक्षपात करना केवल अपनी मनमानी रुचिका प्रकाश करना मात्र है। जैसे कि दरिद्र मनुष्य अपने अनेक मनोरथोंमें रुचि करते रहते हैं। इस ढंगसे प्रामाणिक पुरुषोंके सन्मुख तत्त्वव्यवस्था नहीं हो सकती है।

श्रुतिमात्रात्तद्धर्मनिश्चयोत्पत्तौ स्वलक्षणनिर्णयस्यापि तत एवोत्पत्तिरस्तु। तथा च न वस्तुतः स्वलक्षणस्य सिद्धिस्तद्धर्मवत् स्वलक्षणस्य तन्निश्चयजननासमर्थादपि प्रत्यक्षात्सिद्धौ तद्धर्माणामपि तथाविधादेवाध्यक्षात् सिद्धिः स्यात्।

वासनाओंसे न मानकर केवल शब्द सुननेसे ही उन अस्तित्वादि धर्मोंके निश्चयकी उत्पत्ति मानी जायगी तो स्वलक्षणके निर्णयकी भी उत्पत्ति तिस ही सुनने मात्रसे हो जाओ, और तैसा होने पर तो वास्तविकरूपसे स्वलक्षणकी सिद्धि नहीं हुयी। जैसे कि उसके धर्म अस्तित्वादिकोंकी सिद्धि कोरे शद्बके सुननेसे नहीं होती। यदि उस स्वलक्षणके निश्चयको उत्पन्न करनेमें नहीं समर्थ

भी प्रत्यक्षसे स्वलक्षणकी सिद्धि मानी जायगी तब तो उस स्वलक्षणके अस्तित्वादि धर्मोंकी भी निश्चयको पैदा न करनेवाले तिस ही प्रकारके प्रत्यक्षसे सिद्धि हो जावेगी। फिर आप स्वलक्षणको अस्तित्व आदि सात धर्मोंसे रहित कैसे कह रहे हैं ?

प्रत्यक्षे स्वलक्षणमेव प्रतिभाति न तु कियन्तो धर्मा इत्ययुक्तं, सत्त्वादिधर्माक्रान्तस्यैव वस्तुनः प्रतिभासनात्। प्रत्यक्षादुत्तरकालमनिश्चिताः कथं प्रतिभासन्ते नाम तद्धर्मा इति चेत्, स्वलक्षणं कथम् ? स्वलक्षणत्वेन सामान्येन रूपेण निश्चितमेव तत् प्रत्यक्षपृष्ठभाविना निश्चयेनेति चेत्, तद्धर्माः कथं सामान्येनानिश्चिताः। सामान्याकारस्यावस्तुत्वात् तेन निश्चिता न ते वास्तवा स्युरिति चेत् स्वलक्षणं कथं तेन निश्चीयमानं वस्तुसत्। तथा तदवस्त्वेवेति चेत् यथा न निश्चीयते तथा वस्तुसदित्यायातम्। तच्चानुपपन्नम्। पुरुषाद्यद्वैतवत्।

प्रत्यक्ष प्रमाणमें स्वलक्षण ही स्पष्ट प्रतिभास रहा है, उसके कितने ही धर्म तो नहीं दीख रहे हैं। इस प्रकार बौद्धोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मोंसे घिरी हुयी वस्तुका ही प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिभास हो रहा है। बौद्ध पूंछते हैं कि प्रत्यक्षसे पीछे उत्तरकालमें उसके धर्म होकर नहीं निश्चित किये गये अस्तित्वादिक धर्म भला कैसे प्रतिभास हो रहे हैं ! अर्थात् किसी प्रकार उनका प्रतिभास भी हो जाय किन्तु पीछेके निश्चय हुये विना वे धर्म उस स्वलक्षणके हैं इसका नियम कैसे होय ?। ऐसा कहनेपर तो हम जैन उनसे पूंछते हैं कि तुम्हारा स्वलक्षण भी कैसे प्रतिभास रहा है ? अर्थात् उसका भी तो प्रत्यक्षके पीछे निश्चय नहीं हुआ है ! बताओ। इसपर आप बौद्ध यदि यों कहें कि वह स्वलक्षण तो प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले निश्चयके द्वारा सामान्यस्वरूप स्वलक्षणपने करके निश्चित ही है, इसपर तो हम जैन भी कहते हैं कि इस स्वलक्षणके अस्तित्व आदि धर्म भी सामान्यस्वरूपसे निश्चित हो चुके हैं वे भला अनिश्चित क्यों समझे जावें ? इसपर बौद्ध यों कहेंगे कि विशेष ही वास्तविक पदार्थ है समान आकार तो अवस्तु है। इस कारण उस सामान्यपनेसे निश्चित किये गये वे धर्म वास्तविक न हो सकेंगे। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम पूंछते हैं कि उस सामान्यपनेसे निश्चित किया गया स्वलक्षण तत्त्व भी भला वास्तविक सद्भूत कैसे कहा जारहा है ? बताओ। इसपर बौद्ध यों कहते हैं कि तिस प्रकार उस अवास्तविक सामान्यसे निश्चय किया गया वह स्वलक्षण अवस्तु ही है। ऐसा कहनेपर तो यह अभिप्राय आया कि जिस प्रकार स्वलक्षणका निश्चय न किया जाय, उसी प्रकारसे वह परमार्थभूत है, किन्तु वह बात तो उपपत्तिसे रहित है, यानी इस ढंगसे स्वलक्षणकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे कि ब्रह्माद्वैतवादी, शद्वाद्वैतवादी, आदि अपने ब्रह्म, शद्व, आदिका निश्चय न कराते हुए कोरे स्वपनेसे या शद्वानुविद्धपनेसे अपने अभीष्ट तत्त्वोंको सिद्ध नहीं कर पाये हैं, वैसे ही बौद्ध अनिश्चित स्वलक्षणको नहीं सिद्ध कर सके हैं। अर्थात् जैसा वस्तुका स्वस्वरूप निश्चित हो रहा

है । वैसा वे मानते नहीं हैं । और जो स्वरूप नहीं निश्चित हो रहा है उसे वे मान बैठे हैं भला कहीं खहा भी पैदा हुआ करता है ? नहीं ।

स्वलक्षणमेव वस्तु सत् स्वार्थक्रियानिमित्तत्वाद्ब्रह्माद्यद्वैतमित्यपि न सत्यं, सत्त्वादिधर्माणामभावे तस्य तन्निमित्तत्वासिद्धेः खरशृंगादिवत् सर्वत्र सर्वथैकान्तेऽर्थक्रियानिमित्तत्वस्य निराकृतत्वाच्च बहिरन्तर्वानेकान्तात्मन्येव तस्य समर्थनात् ।

स्वलक्षण तत्त्व ही वास्तविकरूपसे सत्पदार्थ है, क्योंकि वह अपने योग्य अर्थक्रियाओंका कारण है । ब्रह्म, शब्द, ज्ञान, आदिका अद्वैत अर्थक्रियाका कारण न होनेसे वास्तविक नहीं है । इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सत्त्व, आदि धर्मोंका अभाव माननेपर उस स्वलक्षणको उस अर्थक्रियाका निमित्तपना सिद्ध नहीं होता है, जैसे कि गधेके सींग, आकाशके फूल, आदिको सत्त्व न होनेसे अर्थक्रियाकारीपन नहीं है । जो सत् होगा वही तो अर्थक्रियाको करेगा । आप बौद्धोंने उक्त अनुमानमें सत्त्वको साध्य बना रखा है, वह स्वलक्षणरूप पक्षमें रहना ही चाहिये । दूसरी बात यह है कि सभी प्रकारसे क्षणिकपनका एकान्त ग्रहण करनेपर सर्व पदार्थोंमें अर्थक्रियाके निमित्तपनका निराकरण कर दिया गया है जो प्रथम क्षणमें आत्मलाभ कर चुका है, वही तो द्वितीय क्षणमें ठहर कर अर्थक्रियाको कर सकता है । किन्तु जो द्वितीय क्षणमें समूलचूल मर जायगा, वह किस कार्यको करेगा । घट, पट, आदि बहिरंग अथवा आत्मा, ज्ञान, आदि अन्तरंग पदार्थोंके अनेक धर्मात्मक होनेपर ही उस अर्थक्रियाके निमित्तपनका युक्तिपूर्वक समर्थन किया गया है ।

क्षणिकस्वलक्षणस्य तन्निमित्तत्वमंगीकृत्याशक्यनिश्चयस्यापि धर्माणां तत्प्रतिक्षेपे तानप्यंगीकृत्य स्वलक्षणे तत् प्रतिक्षेपस्य कर्तुं सुशकत्वात् । तथाहि—सत्त्वादयो धर्मा एवार्थक्रियाकारिणः संहृतसकलविकल्पावस्थायामुपलक्ष्यन्ते न स्वलक्षणं तस्य स्ववासनाप्रबोधाद्विकल्पबुद्धौ प्रतिभासनात् । केवलं तत्रानभासमानमपि तद्धर्मेऽध्यारोपयन् कुतश्चिद्विभ्रमादर्थक्रियानिमित्तमिव जनोऽनुमन्यते परमार्थतस्तस्यासम्भवात् । सम्भवे वाध्यक्षेऽवभासानुषंगात् चित्रसंविदां सकृदपनेतुमशक्तेः ।

एक क्षण ठहर कर झट दूसरे क्षणमें नष्ट हो जानेवाले स्वलक्षणको उस अर्थक्रियाका निमित्तपना स्वीकार करके जिसका निश्चय न किया जा सके ऐसे भी स्वलक्षणके अस्तित्व आदि धर्मोंका वह अर्थक्रियाका निमित्तपन निषिद्ध किया जायगा । ऐसा होनेपर तो उन धर्मोंको भी अर्थक्रियाका निमित्तपन अंगीकार करके स्वलक्षणमें उस अर्थक्रियाके निमित्तपनका निषेध सुलभतासे किया जा सकता है । उसीको हम स्पष्ट कर कहते हैं कि सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित निर्विकल्पक दशामें सत्त्व, आदिक धर्म ही अर्थक्रियाको करते हुए दीख रहे हैं । स्वलक्षण तो अर्थक्रियाको करता हुआ नहीं जाना जा रहा है । अपनी वासनाके जागृत हो जानेसे उस विकल्पबुद्धिमें ही प्रतिभास रहे भी उस स्वलक्षणको निष्ठत्वसम्बन्धसे उसके सत्त्वादि धर्मोंमें अध्यारोप करता हुआ व्यवहारी मनुष्य किसी

भ्रान्तिसे अर्थक्रियाका निमित्त सदृश स्वलक्षणको मान रहा है। वास्तविकरूपसे उस स्वलक्षणके अर्थक्रियाका असम्भव है अथवा वास्तविक धर्मोंमें असद्रूप स्वलक्षणका आरोप करना असम्भव है। यदि सम्भव माना जावेगा तो प्रत्यक्षमें ही स्वलक्षणके प्रतिभासनेका प्रसंग होगा ऐसा होनेपर धर्म और स्वलक्षणके अनेक आकारवाले ज्ञानोंका एक बार भी दूरीकरण नहीं किया जा सकता है। विनिगमनाविरह होनेसे दोनों सिद्ध हो जावेंगे। भावार्थ—जैसे बौद्धोंने प्रायः बीस पंक्तिके पहिले पूर्वपक्ष करते समय अस्तित्वादि धर्मोंका खण्डन कर दिया था, तिस ही प्रकार उनके स्वलक्षणका भी निराकरण किया जा सकता है। न्याय्य आपादन करनेमें लज्जाकी कोई बात नहीं है। दूसरेके ऊपर कटाक्ष करनेवालेको अपने ऊपर आये हुये आक्षेपोंका भी सहन करना पडेगा।

स्वलक्षणस्य वस्तुतोऽसत्त्वे कस्याश्रयाः सत्त्वादयो धर्मा इति चेत् तेषां परमार्थतोऽसत्त्वे कस्य स्वलक्षणमाश्रय इति समः पर्यनुयोगः। स्वरूपस्यैवेति चेत् तर्हि धर्माः स्वरूपाश्रया एव सन्तु स्वलक्षणमनिर्देश्यं स्वस्य परस्य वाश्रयत्वेनान्यथा वा निर्देष्टुमशक्यत्वादिति चेत् तत एव धर्मास्तथा भवन्तु विरोधाभावात्। स्याद्वादिनां शुद्धद्रव्यस्येवार्थपर्यायाणामनिर्देश्यत्वोपगमात्। यथा च व्यञ्जनपर्यायाणां सदृशपरिणामलक्षणानां निर्देश्यत्वं तैरिष्टं तथा द्रव्यस्याप्यशुद्धस्येति नैकान्ततः किञ्चिदनिर्देश्यं निर्देश्यं वा।

बौद्ध कहते हैं कि यदि स्वलक्षणको वास्तविकरूपसे असत्पना माना जायगा तो किसके अधीन होकर वे सत्त्व आदिक धर्म ठहर सकेंगे? ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कहेंगे कि यदि उन अस्तित्वादि धर्मोंको परमार्थरूपसे असत् माना जायगा तो तुम्हारा स्वलक्षण किसका आश्रय होगा? जैसे कि अग्निके विना उष्णता नहीं ठहरती तैसे ही उष्णता आदिके विना अग्नि भी किसका आधार होगी? इस प्रकार दोनों ओरसे प्रश्न उठानारूप कटाक्ष समान हैं। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि अस्तित्व, आदिके विना भी अपने स्वरूप ही का स्वलक्षण हो जायगा। तब तो हम जैन भी कह देंगे कि स्वलक्षणरूप आधारके विना भी अस्तित्व आदिक धर्म अपने स्वरूपके अधीन होकर ही ठहर जावें। यदि बौद्ध यों कहें कि स्वलक्षण तत्त्व तो अवाच्य है, निर्विकल्पक है। अपने या दूसरोंके आश्रयपनेसे अथवा अन्य प्रकारोंसे शब्दद्वारा उसका कथनोपकथन नहीं किया जा सकता है। ऐसा कहनेपर तो हम भी कहेंगे कि तिस ही कारण धर्म भी शब्द द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं। अतः तिस प्रकार स्वरूपके ही अधीन होते हुए वे अवक्तव्य हो जाओ! कोई विरोध नहीं आता है। स्याद्वादियोंके यहां शुद्धद्रव्यके समान सूक्ष्म अर्थपर्यायोंको भी शब्द द्वारा अवक्तव्य माना गया है और जिस प्रकार कि सदृश परिणाम है स्वरूप जिनका ऐसी व्यञ्जन पर्यायोंका शब्दके द्वारा कथन किया जानापन उन्होंने स्वीकृत किया है। तिस ही प्रकार परद्रव्यके साथ बन्धको प्राप्त हो रहे अशुद्ध द्रव्यका भी शब्द द्वारा वचन होना माना है। भावार्थ—" वृत्तिर्वाचामपरसदृशी " वचनोंकी प्रवृत्ति दूसरोंके सदृश होती है। न्यायदर्शनके शब्द खण्ड ग्रन्थोंमें इसपर भारी विवेचन

है, जैनसिद्धान्त अनुसार सहज योग्यता और संकेतग्रहणसे शद्ब वाच्यअर्थका प्रतिपादन करते हैं, यह व्यवहारद्वारा संकेतग्रहण व्यक्त मोटी पर्यायोंमें या अशुद्धद्रव्य संसारी जीव और स्कन्धात्मक पुद्गलोंमें होता है। शुद्धद्रव्य और सूक्ष्म परिणामोंका जानना ही अतीव कठिन है, तथा शद्ब द्वारा समझना, समझाना तो असम्भव है। अतः एकान्तरूपसे कोई भी पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य भी नहीं है अथवा सर्वथा वक्तव्य भी नहीं है। प्रत्येक पदार्थके सदृश परिणामरूप अंश कहे जाते हैं और उसके सूक्ष्मअंश अर्थपर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, नहीं कहे जा सकते हैं। अनेक द्रव्य ऐसे हैं जो कथमपि नहीं कहे जा सकते हैं। उनकी यहां विवक्षा नहीं है। वस्तुस्थितिको द्वादशांगवाणी भी नहीं पकड सकती है। सर्वत्र अनेकान्त व्याप रहा है।

कुतः समानेतरपरिणामा धर्मा इति चेत् स्वलक्षणानि कुतः ? तथा स्वकारणादुत्पत्तेरिति चेत् तुल्यमितरत्र। स्वलक्षणान्येककार्यकरणाकरणाभ्यां समानेतररूपाणीत्ययुक्तं, केषाञ्चिदेक कार्यकारिणामपि विसदृशत्वेक्षणात् कथमन्यथेन्द्रियविषयमनस्काराणां गडूच्यादीनां च ज्ञानादेर्ज्वरोपशमनादेश्चैककार्यस्य करणं भेदे स्वभावत एवोदाहरणार्हम्। चित्रकाष्ठकर्माद्यनेककार्यकारिणामपि मनुष्याणां समानत्वदर्शनात् समान इति प्रतीतेरन्यथानुपपत्तेः।

ऊर्ध्वता और तिर्यक् सामान्यरूप समान परिणाम तथा पर्याय, व्यतिरेकरूप विशेष परिणाम, एवं अस्तित्व आदि ये वस्तुके धर्म कैसे सिद्ध हैं ? बताओ ! ऐसा आक्षेप करनेपर तो हम भी बौद्धोंसे पूंछते हैं कि तुम्हारे यहां स्वलक्षण तत्त्व कैसे सिद्ध माने गये हैं ? यदि तुम यों कहो कि तिस प्रकार अपने अपने कारणोंसे उत्पत्ति होनेसे वे स्वलक्षण हैं। तब यों बोलनेपर तो अन्यत्र (दूसरी जगह) भी यह समाधान समान है। अर्थात् समान परिणाम और विशेष परिणाम भी अपने अपने विशेष कारणोंसे उत्पन्न होकर वस्तुके धर्म बन रहे हैं। बौद्धोंके माने गये स्वलक्षण ही एक कार्यको करने और न करने की अपेक्षासे समान और विसमानस्वरूप हो जाते हैं। समान धर्म और विसदृश धर्म कोई न्यारे नहीं हैं, इस प्रकार कहना तो युक्तिरहित है। क्योंकि उसमें व्यभिचार देखा जाता है। एक कार्यको करनेवाले किन्हीं किन्हीं पदार्थोंके विसमानता देखी जाती है। अन्यथा इन्द्रिय, विषय और मनको ज्ञान, सुख आदिमेंसे किसी एक कार्यका करनापन भला कैसे सम्भव है ? अर्थात् इन्द्रिय पुद्गलकी बनी हुयी है उससे जानने योग्य विषय बाहर पडा हुआ है और मन अन्तरंग इन्द्रिय है। किन्तु ये कई विजातीय पदार्थ एक ज्ञानरूप कार्यको करते हैं, तथा गिलोय, कुटकी, चिरायता, आदि पदार्थ प्रकृति (तासीर) से भेद होनेपर भी ज्वरका उपशम, खांसी दूर करना आदि किसी भी एक कार्यको कर देते हैं। अन्यथा वे कोई औषधियां एक रोगको दूर कैसे करतीं ? अतः अनेक भी एक कार्यको करते हैं। इसमें इन्द्रिय आदिक और गडूची (गिलोय) आदिक उदाहरण देने योग्य हैं। यह व्यभिचार हुआ, तथा चित्र लिखना, काठका

काम करना, ईंटें चिनना, आदि अनेक कार्योंको करनेवाले भी मनुष्योंके समानपन देखा जाता है। अन्यथा ये चितेरा, बढ़ई, राज आदि समान हैं इस प्रकारकी प्रतीति नहीं हो सकती थी। अतः व्यभिचार हो जानेसे एक कार्यको करने और न करनेकी अपेक्षासे समानपने और विसमानपनेकी व्यवस्था करना ठीक नहीं।

समानासमानकार्यकरणाद्भावानां तथाभाव इति चेत् कुतस्तत्कार्याणां तथा भावः ? समानेतरस्वकार्यकरणादिति चेत्, स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च।

जो समान कार्योंको करें वे समान पदार्थ हैं और जो विसदृश कार्योंको करें, वे विसमान भाव हैं, इस प्रकार सदृश और विसदृश कार्योंके करनेसे पदार्थोंके तिस प्रकार सदृशपन और विसदृशपन व्यवस्थित हैं ऐसा बौद्धोंके कहनेपर तो हम पूंछेंगे कि उन सदृश, विसदृश, कार्योंका तिस प्रकार समानपन और असमानपन कैसे हुआ ? बताओ ! इसका उत्तर तुम बौद्ध यदि यों दो कि उन कार्योंने भी सदृश और विसदृश अपने उत्तरवर्ती कार्योंको किया, अतः वे सदृश विसदृश माने गये, तब तो पुनः उन कार्योंके कार्योंपर भी वही हमारा प्रश्नरूप आक्षेप होता जायगा और आप बौद्ध उत्तर भी वही अपने अपने सदृश विसदृश कार्योंके करनेका देते जांयगे और यों अनवस्था दोष हो जाता है।

तथोत्पत्तिरिति चेत् सर्वभावानां तत एव तथाभावोऽस्तु। समानेतरकारणत्वात्तेषां तथाभावः इत्यप्यनेनापास्तं, समानेतरपरिणामयोगादर्थास्तथेत्यप्यसारं, तत्परिणामानामपरथापरिणामयोगात् तथाभावेनवस्थितेः। स्वतस्तु तथात्वेऽर्थानामपि व्यर्थस्तथापरिणामयोगः।

यदि बौद्ध यों कहें कि तिस प्रकार समान और असमानपनेसे पदार्थोंकी उत्पत्ति हो जाती है हम क्या करें ? इसमें अनवस्थादोष कुछ नहीं है, ऐसा उनके कहनेपर तो सम्पूर्ण पदार्थोंकी तिस ही कारणसे वैसी समान और विसमानपनेकी व्यवस्था हो जाओ ! यह उपाय अच्छा है। स्याद्वादियोंको अभीष्ट है। समान और विसमान कारणोंसे उत्पन्न हो जानेके कारण उन पदार्थोंकी तिस तिस प्रकार सदृशता और विसदृशता है इस प्रकार बौद्धोंका निर्वाह करना भी इस उक्त कथनसे निराकृत हो गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि उन कारणोंमें और उनके भी कारणोंमें सदृशता, विसदृशताकी व्यवस्था करनेके लिये प्रश्न उठाते उठाते अनवस्था हो ही जायगी। समान परिणतियों और विसमान परिणतियोंके योगसे पदार्थ तिस प्रकार सदृश, विसदृश हैं। इस प्रकार कहना भी निस्सार है। क्योंकि उन परिणामोंके सदृश विसदृशपनेके नियामक दूसरे प्रकारसे अन्य परिणाम माने जांयगे, उनके योगसे तिस प्रकार व्यवस्था माननेपर फिर वहां भी प्रश्न उठेगा। उसका उत्तर भी तिस प्रकारका दिया जायगा। ऐसा होनेपर अनवस्थादोष है। इस ढंगसे किसी पदार्थकी व्यवस्था नहीं होती है। हां ! अन्यकी अधीनताके विना स्वतः ही अपनी अपनी योग्यतावश उन परिणामोंके सदृशविसदृशपन, की व्यवस्था मानोगे तब तो पदार्थोंकी भी अपनी योग्यतावश

स्वतः ही सदृश, विसदृशपनकी व्यवस्था हो जायगी, बीचमें तिस प्रकारके परिणामका सम्बन्ध मानना व्यर्थ है। अर्थात् परिणामोंमें सदृशता, विसदृशता, स्वतः मानी जाय और पदार्थोंमें उन परिणतियोंसे सदृशता, विसदृशताकी व्यवस्था की जाय, इस प्रकार परम्पराकी क्या आवश्यकता है ? भावार्थ—सम्पूर्ण पदार्थ अपनी योग्यतासे ही समान और विसमान स्वरूपसे परिणत हो रहे हैं पहिले हीसे तिस प्रकार आत्मलाभ कर रहे हैं। तभी तो जैनसिद्धान्त अनुसार समान परिणाम और विसदृश परिणाम वस्तुके तदात्मक धर्म हैं।

समानेतराकारौ विकल्पनिर्भासिनावेव स्वलक्षणेष्वध्यारोप्येते न तु वास्तवावित्य-प्ययुक्तं तयोस्तत्र स्पष्टमवभासनात् तद्विकलानां तेषां जातुचिदप्रतिपत्तेरिति। तथा परिण-तानामेव स्वलक्षणानां तथात्वसिद्धिरप्रतिबन्धा तद्धर्माणामस्तित्वादीनामपीति परमार्थत एव समानाकाराः पर्यायाः शब्दैर्निर्देश्याः पर्यायिवत्। सूक्ष्मास्त्वर्थपर्यायाः केचिदत्यन्ता-समानाकारा न तैर्निर्देश्या इति निरवद्यं दर्शनं न पुनर्विकल्पप्रतिभासिनो विकल्पात्मन एव समानाकाराः शब्दैरभिधेयाः। बाह्यार्थः सर्वथानभिधेय इत्येकान्तः प्रतीतिविरोधात्। प्रतिपादयित्रा य एवोद्धृत्य कुतश्चिज्जात्यन्तरादर्थात् स्वयमधिगत्य धर्मी धर्मो वा शब्देन निर्दिष्टः स एव मया प्रतिपन्न इति व्यवहारस्य विसंवादिनः सुप्रसिद्धत्वाच्च तद्भ्रान्तत्व-व्यवस्थापनोपायाभावात्।

बौद्ध कहते हैं कि हमको स्वलक्षणके सदृशपने और विसदृशपनेकी व्यवस्था करना आवश्यक नहीं है। पदार्थोंके समान विसमान आकार तो वस्तुको नहीं छूनेवाले विकल्पज्ञानमें प्रतिभासते हुए ही मोटी बुद्धिवाले व्यवहारियोंके द्वारा स्वलक्षणमें आरोपित कर दिये जाते हैं। वे सदृश, विसदृश, आकार तो वस्तुभूत नहीं हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी अयुक्त है। क्योंकि उन समान, विसमान, आकारोंका उस स्वलक्षणमें स्पष्टरूपसे प्रत्यक्षद्वारा प्रति-भास हो रहा है। उन सामान्य, विशेष, आकारोंसे रहित हो रहे स्वलक्षणोंकी तो कभी प्रतिपत्ति नहीं होती है। अतः तिस प्रकार समान, असमानरूपसे परिणमन करते हुए ही स्वलक्षणोंके तिस प्रकार सदृश, विसदृशपनकी सिद्धि हो जाती है, कोई प्रतिबन्ध करनेवाला नहीं है। उसीके सदृश अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मों या उनके भी सदृश, विसदृशपनेकी बाधारहित सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार वास्तविकरूपसे ही विद्यमान हो रहीं सदृश आकाररूप पर्यायें तो शब्दोंके द्वारा कथन करने योग्य हैं। जैसे कि समान पर्यायोंसे युक्त अशुद्ध द्रव्यरूप पर्यायी पदार्थ शब्दोंका वाच्य है। हां ! सूक्ष्म अर्थपर्यायें तो कोई अत्यन्तपनेसे असमान आकारवाली हैं। भावार्थ—घट, पट, गौ, घोडा, आदि व्यक्त पर्याय या पर्यायी पदार्थ तो शब्दोंके वाच्य हैं और दुग्ध, धृत, शर्करा, मिश्री आदिके मीठेपनके तारतम्य समान अनेक ज्ञानांश, कषायांश, वेदनांश आदि अर्थपर्यायोंका शब्दोंद्वारा कथन नहीं हो पाता है। अतः समान ही अर्थोंका प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंद्वारा किसीके समान

नहीं ऐसी सूक्ष्म अर्थपर्यायोंका निरूपण नहीं होता है। भला आप यह तो विचारो कि मैं यदि उन अर्थपर्यायोंको शद्बके द्वारा आपको समझा देवें कि कौनसी अर्थपर्यायें अवाच्य हैं, तब तो वे वाच्य ही हो जातीं, इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त निर्दोष सिद्ध हुआ। यानी कुछ पदार्थ वक्तव्य हैं और कुछ पदार्थ अवक्तव्य हैं । बौद्धोंके मतानुसार झूंठे विकल्पज्ञानमें प्रतिभास हो रहे विकल्प्य स्वरूप सदृश आकार ही शद्बोंके द्वारा कहे जाने योग्य हैं। किन्तु वास्तविक बहिरंग घट, पट, आदि अर्थ अथवा अन्तरंग अर्थ तो सभी प्रकारोंसे अवाच्य हैं, इस प्रकारका एकान्त तो फिर सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध आ रहा है । दूसरी बात यह है कि वस्तुको शद्बके द्वारा कथन करनेवाले वक्ता करके किसी भी सजातीय, विजातीय, अन्य अर्थसे उद्धार कर जो ही धर्मी अथवा धर्म स्वयं जानकर शद्बके द्वारा कहा जाता है, वही अर्थ सुझ श्रोता करके जान लिया गया है इस प्रकारका अविसंवादी प्रत्यभिज्ञा प्रमाणस्वरूप व्यवहार भले प्रकार प्रसिद्ध हो रहा है। उस प्रमाणभूत व्यवहारके भ्रान्तपनकी व्यवस्था करानेका कोई उपाय नहीं है । अर्थात् बौद्ध अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्षके समान प्रत्यभिज्ञान और आगमज्ञान भी अभ्रान्त तथा अविसंवादी हैं । वक्तासे जो कहा जाय, वही श्रोतासे सुना समझा और प्रवृत्त किया जाय अथवा एक प्रमाणसे जाने गये विषयमें दूसरे प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होनारूप यह अविसंवाद शद्बसे जन्य वाच्यके समीचीन ज्ञानोंमें है, अतः वस्तुके कतिपय वास्तविक धर्म वक्तव्य सिद्ध हुए ।

नन्वेकत्र वस्तुन्यनन्तानां धर्माणामभिलापयोग्यानामुपगमादनन्ता एव वचनमार्गाः स्याद्वादिनां भवेयुः न पुनः सप्तैव वाच्यैयत्तायत्तत्वात् वाचकेयत्तायाः। ततो विरुद्धैव सप्तभंगीति चेत् न, विधीयमाननिषिध्यमान धर्मविकल्पापेक्षया तदविरोधात् " प्रतिपर्यायं सप्तभंगी वस्तुनी " इति वचनात् तथानन्ताः सप्तभंग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टं, पूर्वाचार्यैरस्तित्वनास्तित्वविकल्पात्सप्तभंगीमुदाहृत्य " एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् । प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयैर्नयविशारद " इति अतिदेशवचनात् तदनन्तत्वस्याप्रतिषेधात् ।

यहां शंका है कि स्याद्वादियोंने एक वस्तुमें व्यञ्जनपर्यायस्वरूप अनन्तधर्मोको शद्बके द्वारा कथन करने योग्य स्वीकार किया है । अतः अनन्त धर्मोके कहनेवाले वचनोंके मार्ग भी अनन्त ही हो सकेंगे फिर स्याद्वादियोंके यहां सात ही वचनमार्ग तो नहीं हो सकते हैं। क्योंकि वाचक शद्बोंका इतना परिमाणपना वाच्य अर्थोके इतने परिमाणपनके अधीन हैं यानी जितने वाच्य हैं, उतनी संख्या वाले वाचक शद्ब होने चाहिये । कमती नहीं। अनन्त धर्मोको भला सात शद्ब कैसे कह सकते हैं ? तिस कारण स्याद्वादियोंकी सात भंगोंका समाहाररूप सप्तभंगी विरुद्ध ही है । अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि विधान करने योग्य और निषेध करने योग्य धर्मके भेदोंकी अपेक्षासे उन सात सात वचन मार्गोके होनेका कोई विरोध नहीं है । प्रत्येक पर्यायका अवलम्ब

लेकर वस्तुमें सप्तभंगी हो जाती है ऐसा सिद्धान्तवचन है। तिस प्रकार कथन करने योग्य अनन्त धर्मोंके विधि, निषेध, द्वारा अनन्त सप्तभंगी भी हो जावें यह भी हमें अनिष्ट नहीं है। पहिलेके पूज्य श्रीसमन्तभद्र आचार्य महाराजने अस्तित्व, नास्तित्व, धर्मोंके विकल्पसे सप्तभंगीका उदाहरण देकर आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) में कहा है कि अस्तित्व, नास्तित्व, धर्मोंके समान एक, अनेक, नित्य, अनित्य, तत्, अतत् आदि उत्तरोत्तर धर्मोंमें भी इस सप्तभंगके अधीन होनेवाली प्रक्रियाको नयवादमें प्रवीण स्याद्वादी विद्वान् सुनयों करके युक्तिपूर्वक जोड देवें या समझा देवें। जो नयच-क्रको नहीं जानता है, ऐसे एकान्तवादीका सप्तभंगकी प्रक्रियाकी योजना करनेमें अधिकार नहीं है, इस प्रकार भगवान् श्री समन्तभद्र आचार्यके श्रद्धा करने योग्य और उपलक्षणरूपसे एक अर्थको समझाकर असंख्य अर्थको कहनेवाले वृद्ध-वाक्यसे उस सप्तभंगीके अनन्तपनका निषेध नहीं है किन्तु विधान है। भावार्थ—किसी भी कथन करने योग्य विवक्षित धर्मको लेकर और उससे प्रति-षेध्य धर्मकी वस्तुभूत कल्पना कर तथा दोनों धर्मोंको युगपत् न कह सकनेके कारण अवक्तव्य मानकर तीन धर्म बना लिये जाते हैं। इस प्रकार एक ही पर्यायके प्रत्येक भंग तीन, द्विसंयोगी तीन और त्रिसंयोगी एक यों मिलाकर सात भंग बन जाते हैं। इसी ढंगसे अनन्त धर्मोंकी अनन्त सप्त-भंगियां हो जाती हैं। शब्दोंके द्वारा संख्यात अर्थ कहे जाते हैं। जैनोंका संख्यात भी दूसरोंके अनन्तसे बडा है। परम्परा व्युत्पत्तिकी अपेक्षासे तो शब्दद्वारा अनन्त अर्थ भी कहा जा सकता है।

ननु च प्रतिपर्यायमेक एव भंगः स्याद्वचनस्य न तु सप्तभंगी तस्य सप्तधा वक्तुम-शक्तेः। पर्यायशब्दैस्तु तस्याभिधाने कथं तन्नियमः सहस्रभंग्या अपि तथा निषेद्धुमश-क्तेरिति चेत् नैतत्सारं, प्रश्नवशादिति वचनात्। तस्य सप्तधा प्रवृत्तौ तत्प्रतिवचनस्य सप्तविधत्वोपपत्तेः प्रश्नस्य तु सप्तधा प्रवृत्तिः वस्तुन्येकस्य पर्यायस्याभिधाने पर्याया-न्तराणामाक्षेपसिद्धेः।

पुनः बौद्धकी आक्षेपसहित शंका है कि प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षासे वचनका भंग एक ही होना चाहिये। सात भंग तो नहीं हो सकते हैं, क्योंकि एक अर्थका सात प्रकारसे कहना अशक्य है। यदि घट, कलश, कुम्भ या इन्द्र, शक्र, पुरन्दरके समान यहां भी पर्यायवाची सात शब्दों करके उस एकका निरूपण करोगे तब तो उन सातका ही नियम कैसे रहा ? दसों, पचासों, और हजारों, भंगोंके समाहारका भी निषेध नहीं कर सकते हो। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहोगे तो यह आप बौद्धोंका कथन साररहित है। क्योंकि सप्तभंगीका लक्षण प्रश्नके वशसे ऐसा पद डालकर कहा है। जब कि वह प्रश्न सात प्रकारसे प्रवृत्त हो रहा है तो उसके प्रत्युत्तररूप वचनको सात प्रकारपना युक्त ही है। प्रश्नोंकी सात प्रकारसे प्रवृत्ति होना तो वस्तुमें एक पर्यायके कथन करनेपर अन्य प्रतिषेध्य, अवक्तव्य आदि पर्यायोंके आक्षेप कर लेनेसे सिद्ध है। यानी एकके कथन करनेपर

उसके साथी गम्यमान छह धर्मोंका अर्थापत्तिसे ग्रहण कर लिया जाता है। उनको प्रश्नकोटिमें डालकर सात प्रकारके भंगरूप उत्तर दे दिये जाते हैं।

कुतस्तदाक्षेप इति चेत् तस्य तन्नान्तरीयकत्वात्। यथैव हि क्वचिदस्तित्वस्य जिज्ञासायां प्रश्नः प्रवर्तते तथा तन्नान्तरीयके नास्तित्वेऽपि क्रमार्पितोभयरूपत्वादौ चेति जिज्ञासायाः सप्तविधत्वात् प्रश्नसप्तविधत्वं ततो वचनसप्तविधत्वम्।

बिना कहे सुने उन छह धर्मोंका आक्षेपसे लाभ कैसे होगा? इसपर यही उत्तर है कि वह एक धर्म अपने साथी उन छह धर्मोंके बिना नहीं हो सकता है, उसका उनके साथ अविनाभाव है। जैसे कि किसीमें अस्तिपनके जाननेकी इच्छा होनेपर नियमसे अस्तित्वका प्रश्न प्रवर्तता है, तिस ही प्रकार उस अस्तित्वके अविनाभावी नास्तित्वमें भी और क्रमसे विवक्षा किये गये अस्तित्व नास्तित्वके उभयस्वरूप या अस्त्यवक्तव्यपन आदिमें भी प्रश्न खडा हो जाता है। इस प्रकार जाननेकी इच्छायें जब सात प्रकारकी हैं। अतः जिज्ञासुके प्रश्न भी सात प्रकारके हो जाते हैं और उन प्रश्नोंके सात प्रकारपनसे उनके उत्तरमें दिये गये वक्ताके वचन सात प्रकारके होते हैं।

क्वचिदस्तित्वस्य नास्तित्वादिधर्मषट्कनान्तरीयकत्वासिद्धेस्तज्जिज्ञासायाः सप्तविधत्वमयुक्तमिति चेन्न, तस्य युक्तिसिद्धत्वात्। तथाहि—धर्मिण्येकत्रास्तित्वं प्रतिषेध्यधर्मैरविनाभावि धर्मत्वात् साधनास्तित्ववत्। न हि क्वचिदनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नं तस्य साधनाभासत्वप्रसंगात् इति सिद्धमुदाहरणम्। हेतुमनभ्युपगच्छतां तु स्वेष्टतत्त्वास्तित्वमनिष्टरूपनास्तित्वेनाविनाभावि सिद्धं, अन्यथा तदव्यवस्थितेरिति तदेव निदर्शनम्।

कोई पूंछता है कि कहीं कहीं तो अस्तित्वका नास्तिपन आदि छह धर्मोंसे अविनाभावीपना असिद्ध है। दस और पांच पन्द्रह होते हैं। दूसरेको दुःख उपजावनेसे पाप बन्ध होता है, आदि स्थलोंपर अकेला अस्तिपन ही वर्त रहा है, अन्य नास्तिपन, अवक्तव्य, आदि नहीं। अतः उनकी जिज्ञासाओंको भी सात प्रकारपन अयुक्त है, मूल ही नहीं तो शाखा कैसे उपज सकती है? आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस एक धर्मका छह धर्मोंसे अविनाभावीपन युक्तियोंसे सिद्ध है। उसीको ग्रन्थकार स्पष्ट कर कहते हैं। अनेक धर्मवाले एक धर्मीमें एक अस्तिपना धर्म (पक्ष) अपने निषेध करने योग्य नास्तित्व और अवक्तव्य आदि धर्मोंके साथ अविनाभावी है। भेद प्रतिपादक षष्ठी विभक्तिके अर्थ प्रतियोगीपनसे युक्त हो रहे पदार्थ यहां निषेध्य शब्दसे लिये गये हैं (साध्य)। क्योंकि वह धर्म है (हेतु)। जैसे कि बौद्धोंके द्वारा माना गया हेतुका अस्तित्व धर्म (दृष्टान्त)। इस अनुमानमें दिया गया उदाहरण तो साध्य और साधनोंसे सहित है, कहीं सर्व या आत्मामें अनित्यपन, क्षणिकपन आदिको साध्य करनेपर दिये गये सत्त्व, कृतकत्व, आदि हेतुओंका पक्षमें रहना, विपक्षमें नास्तिपनके बिना नहीं सिद्ध माना गया है, अन्यथा उस हेतुको हेत्वाभासपनेका

प्रसंग हो जायगा। अर्थात् जिस सद्धेतुमें पक्षवृत्तित्व धर्म है उसमें विपक्षकी अपेक्षा नास्तित्वधर्म भी है तभी वह समीचीन हेतु है। अन्यथा विरुद्ध या व्यभिचारी है। इस प्रकार हमारा साधनास्तित्वरूप उदाहरण सिद्ध हो गया। यह साधन यानी हेतुको माननेवालोंकी अपेक्षा उदाहरण बन गया और जो चार्वाक या अद्वैतवादी हेतुको स्वीकार नहीं करते हैं उनके लिए तो माना गया तत्व ही दृष्टान्त बना दिया जायगा। अपने अभीष्ट जड, पृथ्वी आदि तत्वोंका अस्तिपन भी अनिष्ट चेतनरूप तत्त्वोंके नास्तित्वपनेके साथ अविनाभावी सिद्ध है। अथवा अपने अभीष्ट चेतन, ब्रह्म तत्त्वका अस्तित्व अनिष्ट जड, द्वैत आदि स्वरूपोंके नास्तिपनके विना नहीं हो सकता है। अन्यथा उन अभिप्रेत अपने तत्त्वोंके साधनेकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इस कारण उन उनके अभीष्ट तत्त्वोंको ही दृष्टान्त समझ लेना। दृष्टान्तका अर्थ अपने अपने साधने योग्य तत्त्वोंका अस्तित्व कर लेना चाहिये। सबको सन्तोष रहे यह हमारी आन्तरिक भावना है।

ननु च साध्याभावे साधनस्य नास्तित्वं नियतं साध्यसद्भावेऽस्तित्वमेव तत्कथं तत् प्रतिषेध्यत्वानुपपत्तेः। स्वरूपनास्तित्वं तु यत्तत्प्रतिषेध्यं तेनाविनाभावित्वेन स्वरूपास्तित्वस्य व्याघातस्तेनैव रूपेणास्ति नास्ति चेति प्रतीत्यभावात्। तथा स्वेष्टतत्त्वेऽस्तित्वमेवानिष्टतत्त्वे नास्तित्वमिति न तत्प्रतिषेध्यं येन तस्य तदविनाभावित्वं सिध्येत्। तेनैव तु रूपेण नास्तित्वं विप्रतिषिद्धमिति कथं निदर्शनं नाम प्रकृतसाध्ये स्यादिति चेन्न, हेतोस्त्रिरूपत्वादिविरोधात्। स्वेष्टतत्त्वविधौ चावधारणवैयर्थ्यात्।

इस बातपर बौद्धका पुनः पूर्वपक्ष है कि उक्त प्रकारके अस्तित्व, नास्तित्व, ये दो धर्म नहीं हैं। साध्यके न होनेपर साधनका नियमरूपसे नास्तिपन तो साध्यके होनेपर ही हेतुका अस्तिपन स्वरूप ही है तो फिर आप जैन उस नास्तित्वको आस्तिपनका निषेध करने योग्य धर्म कैसे कहते हैं ? घटसे घटका ही निषेध योग्यपना असिद्ध है। इस प्रकार पररूपसे नास्तिपन तो स्वरूपसे अस्तिपन ही है और जो स्वरूपसे नास्तिपनको उसका प्रतिषेध्य माना जायगा तब तो तिस स्वरूप नास्तिपनके साथ स्वरूप अस्तित्वका अविनाभावीपनसे कथन करनेमें व्याघात दोष है। तिस ही स्वरूप करके अस्ति और तिस ही अपने स्वरूपसे नास्ति इस प्रकारकी प्रामाणिक प्रतीति नहीं होती है। आप जैनोंने भी स्वरूप ही करके अस्तिपन और नास्तिपनकी व्यवस्था नहीं की है। तथा चार्वाक या ब्रह्माद्वैत वादियोंके लिये जो दृष्टान्त आपने दिया था उसपर भी यह कहना है कि अपने अभीष्ट तत्त्वमें अस्तिपन ही अनिष्टतत्त्वमें नास्तिपन है। इस कारण वह भी प्रतिषेध्य नहीं हुआ। जिससे कि उस अभिप्रेत अर्थके अस्तित्वका उस अनभिप्रेत अर्थके नास्तित्वके साथ अविनाभावीपना सिद्ध होवे, यानी एक ही धर्ममें अविनाभाव नहीं बनता है। जिस ही स्वरूप करके तो अस्तिपन होय और उस ही रूप करके नास्तिपन होय इस बातमें तुल्यबल विरोध है। अर्थात् दोनों एक दूसरेके शीत, उष्ण, या सुन्द, उपसुन्द, अथवा मुनिरक्षक मुनिभक्षक शूकर, सिंहके समान

तुल्यबलवाले विरोधी हैं। एक स्थानमें मिल जानेपर दोनों नष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार प्रकरण प्राप्त सात धर्मोंके अविनाभावीपन साध्यको सिद्ध करनेवाले अनुमानमें दिया गया दृष्टान्त भला कैसे बनेगा ? अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेपर हेतुके तीन रूपपन आदिका विरोध हो जायगा। पक्षे सत्त्व, और विपक्षे नास्तिको यदि एक मान लिया जायगा तो हेतुके दो या एक ही रूप हो सकेंगे। किन्तु आप बौद्धोंने हेतुके पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, और विपक्षे नास्तित्व, ये तीन स्वरूप माने हैं। तथा चार्वाक या अद्वैतवादियोंको अपने इष्टतत्त्वके विधान करनेमें एवकारके द्वारा अवधारण करना व्यर्थ पडेगा। पृथ्वी आदिक चार तत्त्व हैं। इसीका अर्थ अन्य आत्मा, पुण्य, पाप, परलोक, आदि नहीं हैं यह है तब तो चार ही तत्त्व हैं इसमें ही लगाना व्यर्थ है।

पक्षसपक्षयोरस्तित्वमन्यत्साधनस्य विपक्षे नास्तित्वं ब्रुवाणः स्वेष्टतत्त्वस्य च कथमेकस्य विधिप्रतिषेधयोर्विप्रतिषेधान्निदर्शनाभावं विभावयेत्।

पक्ष और सपक्षमें हेतुका अस्तिपन भिन्न है और विपक्षमें नास्तिपन न्यारा है। ऐसा कहनेवाला अपने अभीष्ट एक तत्त्वकी विधि और निषेधका तुल्यबल विरोध हो जानेसे दृष्टान्तका अभाव भला कैसे विचार सकेगा ? अर्थात् हेतुके पक्ष, विपक्षकी, अपेक्षासे अस्तित्व, नास्तित्वमें और विधिप्रतिषेधोंमें तुल्यबलवाला विरोध नहीं है। इष्टानिष्ट तत्त्वोंके विधि, निषेध, का अविनाभाव सिद्ध हो जाता है। कथमपि दृष्टान्त सिद्ध होना चाहिये।

क्वचिदस्तित्वसिद्धिसामर्थ्यात्तस्यान्यत्रनास्तित्वस्य सिद्धेर्न रूपान्तरत्वमिति चेत् व्याहतमेतत् सिद्धौ सामर्थ्यासिद्धं च न रूपान्तरं चेति कथमवधेयं कस्यचित् क्वचिन्नास्तित्वसामर्थ्याच्चास्तित्वस्य सिद्धेस्ततो रूपान्तरत्वाभावप्रसंगात्। सोयं भावाभावयोरेकत्वमाचक्षाणः सर्वथा न क्वचित् प्रवर्तेत नापि कुतश्चिन्निवर्तेत तन्निवृत्तिविषयस्य भावस्याभावपरिहारेणासम्भवादभावस्य च भावपरिहारेणेति। वस्तुतोऽस्तित्वनास्तित्वयोः क्वचिद्रूपान्तरत्वमेष्टव्यम्। तथा चास्तित्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि धर्मरूपं च यत्र हेतौ स्वेष्टतत्त्वे वा सिद्धं तदेव निदर्शनमिति न तदभावाशंका।

यदि बौद्ध यों कहें कि कहीं अस्तित्वकी सिद्धिके सामर्थ्यसे उसका दूसरे स्थलोंपर नास्तित्व अपने आप सिद्ध हो जाता है, अतः अस्तित्व और नास्तित्व ये दो भिन्नस्वरूप नहीं हैं एक ही हैं। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेपर तो यह व्याघातदोष है कि एककी सिद्धि हो चुकनेपर अन्यतरको सामर्थ्यसे सिद्ध कहना और फिर उनको भिन्नस्वरूप न मानना, भला धूमकी सामर्थ्यसे अग्निकी सिद्धि होनेपर क्या धूम और अग्नि एक हो जायंगे। जिस जीवके कान हैं उस जीवके आंख अवश्य हैं यह सामर्थ्यसे ही जान लिया जाता है। एतावता आंखें और कान दोनों अभिन्न

नहीं हो जाते हैं, किन्तु भिन्न ही रहते हैं। अतः उक्त प्रकार बौद्धोंके वचन कैसे विश्वास करने योग्य हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं। किसी पदार्थके कहीं नास्तिपनकी सामर्थ्यसे दूसरे स्थानपर अस्तित्वकी भी सिद्धि हो जाती है। तिस कारण उसको भी उससे भिन्न स्वरूपपनके अभावका प्रसंग हो जायगा। जीवित देवदत्तके घरमें न रहनेकी सामर्थ्यसे बाहिर रहना अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है, फिर भी घरमें न रहना और बाहिर रहना ये दो धर्म माने गये हैं। दूसरी बात यह है कि भाव और अभावके सर्वथा एकपनेको कह रहा वह यह बौद्ध किसी भी प्रकारसे किसी भी पदार्थमें न तो प्रवृत्ति ही कर सकेगा और न जिस किसी भी पदार्थसे निवृत्ति भी कर सकेगा। क्योंकि उसकी निवृत्तिका विषय भाव पदार्थ अभावको छोडकर कुछ नहीं है और अभावका भावको छोडकर सम्भव नहीं है। निवृत्तिके विषय और प्रवृत्तिके विषयका भेद माने विना इष्टमें प्रवृत्ति और अनिष्टमें निवृत्तिकी व्यवस्था नहीं बन सकती। दोनोंके एक माननेसे भारी गुटाला मचता है। इस कारण किसी पदार्थमें अस्तित्व, नास्तित्वका परमार्थरूपसे भिन्न स्वरूपपना मान लेना चाहिये। तिस प्रकार " अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि " अस्तित्व धर्म (पक्ष) अपने प्रतिषेध करने योग्य नास्तित्व धर्मके साथ अविनाभावी (साध्य) और धर्मस्वरूप (हेतु) होकर जिस हेतु (दृष्टान्त) में या अपने अभीष्ट तत्त्व (दृष्टान्त) में सिद्ध हो रहा है वही हमारे अनुमानका दृष्टान्त बन जायगा। इस प्रकार दृष्टान्तके अभावकी आशंका न करना। बौद्ध, चार्वाक, या अद्वैतवादीके प्रति प्रयोग करनेके लिये उदाहरण बन गया।

प्रतिषेध्यं पुनर्यथास्तित्वस्य नास्तित्वं तथा प्रधानभावतः क्रमार्पितोभयात्मकत्वादिधर्मपञ्चकमपि तस्य तद्वत् प्रधानभावार्पितादस्तित्वादन्यत्वोपपत्तेः। एतेन नास्तित्वं क्रमार्पितं द्वैतं सहार्पितं चावक्तव्योत्तरशेषभंगत्रयं वस्तुतोऽन्येन धर्मषट्केन प्रतिषेध्येनाविनाभावि साधितं प्रतिपत्तव्यम्।

फिर अस्तित्वका निषेध करने योग्य जैसे नास्तित्व है, तिस ही प्रकार प्रधानपन करके क्रमसे विवक्षित किये गये उभयस्वरूप यानी अस्तिनास्ति, अवक्तव्य, अस्त्यवक्तव्य, आदि पांचों धर्म भी अस्तित्वके प्रतिषेध्य हैं। क्योंकि उस नास्तित्वके समान उन पांचोंको भी प्रधान भावसे विवक्षित किये गये अस्तिपनसे कथञ्चित् भिन्नपना सिद्ध है। प्रतिषेध्यका अर्थ सर्वथा अभाव करने योग्य ऐसा नहीं है। किन्तु प्रकृत धर्मसे विपरीत होकर कथञ्चित् प्रतियोगी होते हुए वहां एक वस्तुमें सहयोगितारूप साथमें रहना है। तभी तो सातों धर्म हाथमें पांच अंगुलियोंके समान परस्परमें एक दूसरेके प्रतिषेध्य बन जाते हैं। गाडीमें जुते हुए दो बैलोंमेंसे एक दूसरेका प्रतियोगी है। मल्ल प्रतिमल्लोंमें प्रतियोगी भाव है। इस कथनसे नास्तित्व १ या क्रमसे विवक्षित किया गया उभय २ अथवा एक साथ विवक्षित किया गया अवक्तव्य ३ तथा अस्त्यवक्तव्य १ नास्त्यवक्तव्य २ अस्तिनास्त्यवक्तव्य ३ ये तीन भंग इस प्रकार १+३+३=७ सात धर्मोंमेंसे कोई भी

एक धर्म पकड लिया जाय। वह अपने प्रतिषेध्य दूसरे वास्तविक छह धर्मोंके साथ अविनाभाव रखनेवाला सिद्ध कर दिया गया समझ लेना चाहिये।

क्रमार्पितोभयादीनां विरुद्धत्वेन सम्भवाच्च तदविनाभावित्वं शक्यसाधनं धर्मिणः साधनस्य वाऽसिद्धेरिति चेन्न, स्वरूपादिचतुष्टयेन कस्यचिदस्तित्वस्य पररूपादिचतुष्टयेन च नास्तित्वस्य सिद्धौ क्रमतस्तद्द्वयादस्तित्वनास्तित्वद्वयस्य सहावक्तव्यस्य सहार्पितस्वपररूपादिचतुष्टयाभ्यां स्वरूपचतुष्टयाच्चास्त्यवक्तव्यत्वस्य ताभ्यां पररूपादिचतुष्टयाच्च नास्त्यवक्तव्यत्वस्य क्रमाक्रमार्पिताभ्यां ताभ्यामुभयावक्तव्यत्वस्य च प्रसिद्धेर्विरोधाभावाच्च धर्मिणः साधनस्य च प्रसिद्धेः।

अब फिर शंका है कि क्रमसे अर्पित किये गये उभय, या अवक्तव्य, आदि धर्मोंकी विरुद्धपनेसे सम्भावना हो रही है। अर्थात् जहां उभय है, वहां अवक्तव्य नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र विरोध है। अतः उनका अविनाभावीपना सिद्ध नहीं किया जा सकता है। तब तो एक वस्तुमें अवक्तव्यत्व आदि किये गये धर्मोंकी और विशेषणपन हेतुकी सिद्धि नहीं हुयी। पक्षमें हेतु न रहा। भला विरुद्ध अनेक विशेषण एकमें कैसे रह सकते हैं? आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो न करना। क्योंकि स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके चतुष्टय करके किसीके अस्तित्व और पररूप आदि चतुष्टय करके नास्तित्व धर्मकी सिद्धि हम कर चुके हैं। ऐसा होनेपर क्रमसे उनके उभयसे तीसरे अस्तित्व नास्तित्व उभयका और स्वरूप, पररूप, आदि चतुष्टयोंसे एक साथ कहनेकी अपेक्षा चौथे सहावक्तव्य धर्मका कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार स्वपर चतुष्टयसे एक साथ कहा नहीं जा सकता है। किन्तु स्वरूप चतुष्टयसे अस्ति है ही, अतः पांचवें अस्त्यवक्तव्य भंगका विरोध नहीं है। एवं उन सहार्पित स्वपररूप चतुष्टयके साथ पररूप आदि चतुष्टयसे नास्तिपनकी विवक्षा करनेपर छठवें नास्त्यवक्तव्यपनका इस वस्तुमें कोई विरोध नहीं है। तथा क्रमसे विवक्षित किये गये दोनों चतुष्टय और अक्रमसे अर्पित उन दोनों चतुष्टयों करके सातवें उभयावक्तव्यपन धर्मकी प्रसिद्धि हो रही है। अतः सातों धर्मोंका परस्परमें कोई विरोध नहीं है। वे प्रसन्नता पूर्वक रह जाते हैं। हमारे पक्ष और हेतुकी प्रमाणसे सिद्धि हो गयी है।

न हि स्वरूपेस्ति वस्तु न पररूपेऽस्तीति विरुध्यते, स्वपररूपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुत्वस्य, स्वरूपोपादानवत् पररूपोपादाने सर्वथा स्वपरविभागाभावप्रसंगात्। स चायुक्तः, पुरुषाद्वैतादेरपि पररूपादपोहस्य तथाभावोपपत्तेरन्यथा द्वैतरूपतयापि तद्भावसिद्धेरेकानेकात्मवस्तुनां निषेद्धुमशक्तेः। पररूपापोहनवत्स्वरूपापोहने तु निरुपाख्यत्वप्रसंगात्। तच्चानुपपन्नम्। ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यस्यापि संविन्मात्रत्वस्य स्वरूपोपादानादेव तथा व्यवस्थापनादन्यथा प्रतिषेधात्।

अपने स्वरूपमें वस्तु है। ऐसा कहनेपर परके स्वरूपमें वस्तु नहीं है ऐसा कथन करना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि अपने स्वरूपका ग्रहण करना और परके स्वरूपोंका त्याग करना इस व्यवस्थासे वस्तुका वस्तुपन सिद्ध करा दिया जाता है। यह अकलंक सिद्धान्त है। अपने स्वरूपके ग्रहण समान यदि वस्तु पररूपका भी ग्रहण करेगा तब तो सभी प्रकारोंसे अपने और परके विभाग न होनेका प्रसंग होगा। भारी सांकर्यदोष छा जायगा। किन्तु वह प्रसंग होना अयुक्त है। जो ब्रह्माद्वैतवादी या ज्ञानाद्वैतवादी आदि पंडित वस्तुको एक ही स्वरूप मानते हैं, उनके यहां भी पररूपसे रहित करनेपर ही तिस प्रकार आत्मा, ज्ञान, आदिका अद्वैतपन बन सकता है। अन्यथा द्वैत या घट, पट आदि पररूप करके भी उस अद्वैतपनकी सिद्धि हो जायगी। तब तो बहुत अच्छा हुआ। अद्वैतवादी भी एक, अनेक, स्वरूप वस्तुका निषेध नहीं कर सकते हैं। तथा पर स्वरूपके त्याग समान यदि वस्तु अपने स्वरूपका भी पृथग्भाव करती रहेगी तब तो वस्तु स्वके भावोंसे शून्य होकर निरुपाख्य हो जायगी, यह बहुत बुरा प्रसङ्ग प्राप्त हुआ। किसी भी प्रकारसे उसका ज्ञान या कथन नहीं किया जा सकेगा। किन्तु वस्तुका आकाश–कुसुमके समान वह रूपरहित हो जाना तो सिद्ध नहीं है। वे स्वयं एक अद्वैतको मान रहे हैं। ग्राह्यग्राहकभाव, वाच्यवाचकभाव आदिसे रहित भी केवल अद्वैत संवेदनकी स्वरूपके ग्रहण करनेपर ही तिस प्रकारकी व्यवस्था हो सकती है। अन्यथा उस अद्वैतका निषेध हो जायगा। स्वका ग्रहण और अपनेसे विरुद्ध होरहे परका भी ग्रहण करनेसे तुल्यबल विरोध भी है।

तथा सर्वं वस्तु स्वद्रव्येऽस्ति न परद्रव्ये तस्य स्वपरद्रव्यस्वीकारतिरस्कारव्यवस्थितिसाध्यत्वात्। स्वद्रव्यवत् परद्रव्यस्य स्वीकारे द्रव्याद्वैतप्रसक्तेः स्वपरद्रव्यविभागाभावात्। तच्च विरुद्धम्। जीवपुद्गलादिद्रव्याणां भिन्नलक्षणानां प्रसिद्धेः।

अब संपूर्ण वस्तुओंको प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे न्यारा न्यारा सिद्ध करते हैं। तिस प्रकार सम्पूर्ण वस्तु अपने द्रव्यमें है। यानी अनन्तगुणोंके अखण्ड पिण्डरूप अपने देशमें है परद्रव्यमें नहीं है। क्योंकि उस वस्तुकी व्यवस्था होना स्वकीय द्रव्यके स्वीकार करनेसे और परकीय द्रव्यके तिरस्कार करनेसे साधी जाती है। यदि वस्तु स्वद्रव्यके समान परद्रव्यको भी अंगीकार करे तो संसारमें एक ही द्रव्य होनेका प्रसंग हो जायगा। स्वद्रव्य और परद्रव्यका विभाग न हो सकेगा। तथा चालिनी न्यायसे उस एक द्रव्यका भी अभाव हो जायगा। जीवको माननेपर जैसे पुद्गल आदिका अभाव हो जाता है, वैसे ही एक पुद्गलको स्वीकार कर लेनेपर जीव भी नहीं ठहर सकेगा। किन्तु वह बद्ध मुक्त, जड चेतन, सर्वज्ञ अल्पज्ञ, आदिका विभाग नहीं होना प्रतीतियोंसे विरुद्ध है। क्योंकि जीव, पुद्गल, आदि न्यारे न्यारे भिन्न लक्षणवाले अनेक द्रव्य बाल गोपालों तकमें प्रसिद्ध हो रहे हैं।

कथमेकं द्रव्यमनन्तपर्यायमविरुद्धमुक्तमिति चेत्, जीवादीनामनन्तद्रव्याणामनिराकरणादिति ब्रूमः, । सन्मात्रं हि शुद्धं द्रव्यं तेषामनन्तभेदानां व्यापकमेकं तदभावे कथमात्मानं लभते ।

यहां कोई अद्वैतवादी कटाक्ष करता है कि यदि एक द्रव्यके जड, चेतन, आदि अनन्त विवर्त होना विरुद्ध है तो आप जैनोंसे कहा गया एक द्रव्य अनन्तपर्यायवाला अविरुद्ध कैसे होगा ? ऐसा कहनेपर तो हम जैन गौरवके साथ कहते हैं कि जीव आदि अनन्तद्रव्योंका जैन सिद्धान्तमें निराकरण नहीं है । यानी एक द्रव्यकी अनन्त पर्यायें हो सकती हैं । अनन्तद्रव्य अपनी अपनी पर्यायोंको लिये हुए स्वतन्त्र ठहर सकते हैं । किन्तु एक द्रव्यके विवर्त अनन्तद्रव्य नहीं हो सकते हैं । स्याद्वाद सिद्धान्तमें धर्म, अधर्म, और आकाश, एक एक द्रव्य हैं । कालद्रव्य असंख्याते हैं । जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं और पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्त गुणे हैं । किन्तु अद्वैतवादी तो अनन्तविवर्तोंको वास्तविक स्वीकार नहीं करते हैं । अतः स्वपर–विधिनिषेधसे उनके अद्वैतकी व्यवस्था नहीं होती है । भला विचारो तो सही कि यदि अनन्तद्रव्योंको न माना जायगा तो उनके मतानुसार भी उन अनन्तभेदोंका व्यापक शुद्ध सत्तामात्र एक द्रव्य कैसे आत्मलाभ कर सकता है ? । अर्थात् अद्वैतवादियोंने विधिस्वरूप सन्मात्रको ब्रह्मतत्त्व माना है । अवान्तर सत्तावाले अनेक-द्रव्योंको माने विना शुद्ध धात्वर्थ सत्तारूप भाव भला किनका व्यापक होकर स्वरूप लाभ कर सकेगा ? सोचिये ।

कथमिदानीं तदेव स्वद्रव्येऽस्ति परद्रव्ये नास्तीति सिध्येत् । न हि तस्य स्वद्रव्यमस्ति पर्यायत्वप्रसंगाद्यतस्तत्रास्तित्वम् । नापि द्रव्यान्तरं यतः नास्तित्वमिति चेन्न कथञ्चित् न हि सन्मात्रं स्वद्रव्येऽस्ति परद्रव्ये नास्तीति निगद्यते । किं तर्हि, वस्तु । न च तत्संग्रहनयपरिच्छेद्यं वस्तु वस्त्वेकदेशत्वात् पर्यायवत् ततो यथा जीववस्तु पुद्गलादिवस्तु वा स्वद्रव्ये जीवत्वेऽन्वयिनि पुद्गलादित्वे वा पर्याये च स्वभावे ज्ञानादौ रूपादौ वास्ति न परद्रव्ये परस्वरूपे वा तथा परमं वस्तु सत्त्वमात्रे स्वद्रव्ये स्वपर्याये च जीवादिभेदप्रभेदेऽस्ति न परिकल्पिते सर्वथैकान्ते कथञ्चिदिति निरवद्यम् ।

पुनः अद्वैतवादीकी शंका है कि अब यह बताओ कि वही पदार्थ स्वकीय द्रव्यमें है और परकीय द्रव्यमें नहीं है यह कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि उसका कोई गांठका अपना द्रव्य तो है नहीं, अन्यथा पर्यायपनका प्रसंग हो जायगा । यानी पर्यायोंके द्रव्य हुआ करते हैं, द्रव्यके स्वकीय द्रव्य नहीं होते हैं । जिससे कि वह द्रव्य वहां अपने द्रव्यमें अस्ति सिद्ध हो सके और उस प्रकृत द्रव्यका नातेदार कोई दूसरा द्रव्य भी जैनोंने नहीं माना है जिससे कि प्रकृतद्रव्यका नास्तिपन सिद्ध किया जाय । अब आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना । क्योंकि हम द्रव्यको कथञ्चित् अस्ति और नास्तिपनस्वरूप मानते हैं । शुद्ध केवल महासत्ता " स्वद्रव्यमें है, परद्रव्यमें नहीं है " ऐसा हम नहीं कहते हैं ।

तब तो हम क्या कहते हैं उसको समझलो ! जिससे कि पुनः शंका न होवे। हम वस्तुको स्वद्रव्यमें अस्ति और परद्रव्यमें नास्ति कहते हैं। द्रव्य और पर्याय तो वस्तुके अंश हैं। प्रमाण का विषय वस्तु है। वस्तुके एकदेशको जाननेवाली संग्रह नयसे सत्ता जानी जाती है। वह पूर्ण वस्तु उस संग्रहनयसे नहीं जानी जाती है। अन्य पर्यायोंके समान महासत्ता तो वस्तुका एक देश है। तिस कारण जीव वस्तु या पुद्गल, आकाश, आदि वस्तुएं अन्वयसे रहनेवाले जीवपन या पुद्गल आदिपनरूप अपने अपने द्रव्यमें विद्यमान हैं। अथवा अपने स्वभावभूत ज्ञान, सुख आदि या रूप, रस, अवगाह, आदि पर्यायोंमें विद्यमान हैं। किन्तु परद्रव्य, काल, आदिमें अथवा वर्तना आदि परकीय पर्यायस्वरूपोंमें वर्तमान नहीं हैं। तिस ही प्रकार परम व्यापक वस्तु अपने सत्ता मात्र द्रव्यमें तथा जीव, पुद्गल, देव, घट, आदि भेद प्रभेदरूप अपने अंशस्वरूप पर्यायोंमें विद्यमान है। दूसरोंके द्वारा झूंठ मूंठ गढ लिये गये सर्वथा एकान्तरूप आत्मा, स्वलक्षण, आदि द्रव्य और क्षणिक नील आदि पर्यायोंमें कैसे भी नहीं विद्यमान है। इस प्रकार सत्तामात्र तत्त्वमें भी जैन सिद्धान्तके अनुसार अस्तिनास्तिपन निर्दोष होकर घट जाते हैं अन्यथा उसकी व्यवस्था नहीं हो सकती। इस प्रकार वस्तुका स्वद्रव्य और स्वपर्याय भाव सिद्ध कर दिया गया है।

तथा स्वक्षेत्रेऽस्ति परक्षेत्रे नास्तीत्यपि न विरुध्यते स्वपरक्षेत्रप्राप्तिपरिहाराभ्यां वस्तुनो वस्तुत्वसिद्धेरन्यथा क्षेत्रसंकरप्रसंगात्। सर्वस्याक्षेत्रत्वापत्तेश्च। न चैवत्साम्प्रतीयः प्रतीतिविरोधात्।

तिस प्रकार वस्तु स्वक्षेत्रमें है दूसरे क्षेत्रमें नहीं है। यह कहना भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि अखण्डित अनेक देशवाली या अखण्डित एकदेशरूप वस्तुके तिर्यगंश कल्पनारूप स्वकीय क्षेत्रकी प्राप्तिसे और परकीय क्षेत्रके परित्याग कर देनेसे वस्तुका वस्तुपना सिद्ध हो रहा है। दूसरे प्रकारसे मानोगे तो स्वक्षेत्रके अस्तिपन विना सबके क्षेत्रोंके संकर हो जानेका प्रसंग होगा। तथा सम्पूर्ण पदार्थोंको क्षेत्ररहितपनेकी आपत्ति हो जायगी, अर्थात् परका क्षेत्र जब स्वके क्षेत्रमें ही प्रविष्ट हो जायगा तो परका क्षेत्र रहा ही नहीं और चालिनी न्यायसे स्वका क्षेत्र भी इस प्रकार नष्ट हो गया तब क्षेत्रपना ही नष्ट हो जायगा, सभी वस्तुएं क्षेत्ररहित हो गयी। किन्तु यह क्षेत्ररहितपना प्रशस्त नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध आ रहा है। प्रत्येक वस्तुके अपने अपने क्षेत्र प्रतीत हो रहे हैं। बाल, गोपाल, पशु, पक्षी भी अपने अपने क्षेत्रोंका और परक्षेत्रोंका ग्रहण, परित्याग, करते हुए अनुभव कर रहे हैं।

तत्र परमस्य वस्तुनः स्वात्मैव क्षेत्रं तस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापित्वात् तद्व्यतिरिक्तस्य क्षेत्रस्याभावात् तदपरस्य वस्तुनो गगनस्यानेन स्वात्मैव क्षेत्रमित्युक्तं तस्यानन्त्यात् क्षेत्रान्तराघटनात्। जीवपुद्गलधर्माधर्मकालवस्तूनां तु निश्चयनयात् स्वात्मा व्यवहारनयादाकाशं क्षेत्रं ततोऽप्यपरस्य वस्तुनो जीवादिभेदरूपस्य यथायोगं पृथ्व्यादिक्षेत्रं प्रत्येयम्। न

चैवं स्वरूपात्स्वद्रव्याद्वा क्षेत्रस्यान्यता न स्यात् तद्व्यपदेशहेतोः परिणामविशेषस्य ततोऽन्यत्वेन प्रतीतेरविरोधात् ।

तहां क्षेत्रके प्रकरणमें परम महासत्तारूप वस्तुका स्वकीय आत्मा ही अपना क्षेत्र है । क्योंकि वह परमवस्तु सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंमें व्यापक रहता है । उस स्वात्माके अतिरिक्त दूसरा कोई क्षेत्र नहीं है । वास्तवमें स्वकीय आत्मा ही अपना क्षेत्र हो सकता है । गृह, ग्राम, प्रान्त, देश, आकाश तो यों ही व्यवहारसे गढ लिये गये क्षेत्र हैं । उस परमसत्त्वसे कथञ्चित् भिन्न आकाशरूप वस्तुका क्षेत्र भी स्वात्मा ही है, उक्त कथनसे यह बात स्पष्ट कह दी गयी है । क्योंकि वह आकाश महापरिमाणवाला अनन्तक्षेत्रमें फैला हुआ है । अनन्त संख्यावाले प्रदेशोंको धारनेके कारण उस आकाशसे लम्बा चौडा बडा कोई पदार्थ नहीं है । अतः आकाशका क्षेत्र स्वयंके अतिरिक्त दूसरा कोई (क्षेत्र) घटित नहीं होता है । व्यवहार और निश्चयसे वह स्वयं अपना क्षेत्र है, तथा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल इन पांच वस्तुओंका तो निश्चय नयसे स्वकीय अखण्डदेश अपना स्वरूप ही क्षेत्र है और व्यवहारनयसे लोकाकाश भी क्षेत्र है । उनसे भी न्यारे जीव आदिकके व्याप्य भेद प्रभेदस्वरूप मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, घट, पट, जल, विजयार्ध, सुमेरु, आदि वस्तुओंके यथायोग्य मनुष्यलोक, ऊर्ध्वलोक, आदि क्षेत्र समझ लेने चाहिये । हां ! इस प्रकार स्वरूप भाव अथवा स्वद्रव्यसे क्षेत्रकी भिन्नता न होगी यह न समझना । क्योंकि वस्तुमें उन उन भाव स्वरूप या स्वद्रव्य और स्वक्षेत्रोंके व्यवस्थापक न्यारे न्यारे विशेष परिणाम परस्परमें उनसे भिन्न होकरके प्रतीत हो रहे हैं । जो कि परिणाम उन उनके नियत द्रव्य आदिके व्यवहार करादेनेमें कारण हैं, अतः कोई विरोध नहीं है । साढे तीन हाथ लम्बा चौडा देवदत्त अपने पूर्ण देश, देशांश, गुण, गुणांशोंमें तादात्म्य सम्बन्धसे व्यापक हो रहा है, यही उसका स्वरूप है । अनेक गुणोंका पिण्डरूप देश स्वद्रव्य है और साढे तीन हाथके विष्कम्भ क्रमसे किया गया देशांशस्वरूप ही स्वक्षेत्र है तथा ऊर्ध्वांश कल्पनारूप गुणांश पर्यायोंका पिण्ड ही स्वकाल है । एवं गुण, वर्तमानके परिणाम, अविभागप्रतिच्छेद, आदि स्वके भाव हैं ।

तथा स्वकालेऽस्ति परकाले नास्तीत्यपि न विरुद्धं, स्वपरकालग्रहणपरित्यागाभ्यां वस्तुनस्तत्त्वप्रसिद्धेरन्यथा कालसांकर्यप्रसंगात् । सर्वदा सर्वस्याभावप्रसंगाच्च ।

तिसी प्रकार स्वकीय कालमें वस्तु है दूसरेके कालमें नहीं है । उस प्रकार कथन करना भी विरुद्ध नहीं है । क्योंकि अपने कालका ग्रहण करने और दूसरे कालका हान करनेसे वस्तुको वस्तुपन सिद्ध हो रहा है । अन्यथा कालके संकर हो जानेका प्रसंग होगा । बालक यदि वृद्धपनेके समयोंकी अपेक्षा विद्यमान हो जाय तो वह बालक न रहेगा । बुड्ढा हो जायगा । इसी प्रकार बुड्ढा भी बालक हो जायगा । दूसरी बात यह है कि सभी कालोंमें सम्पूर्ण वस्तुओंके अभावका प्रसंग हो जायगा । जब कि कोई किसीका स्वकीय काल नियत नहीं है और वह परकीय कालके व्याप्त

नहीं है तो चालिनी न्यायसे अपने अपने नियत कालोंका अभाव हो जानेसे कोई कहीं भी नहीं रह सकता है। शून्यवाद छा जायगा। अनादिसे अनन्तकालतक महाप्रलय हो जायगा।

तत्र परमस्य वस्तुनोऽनाद्यनन्तः कालोऽपरस्य च जीवादिवस्तुनः सर्वदा विच्छेदाभावात् तत्र तदस्ति न परकालेऽन्यथा कल्पिते क्षणमात्रादौ महान् दोषः स्यात्, जीवविशेषरूपं तु मानुषादिवस्तु स्वायुः प्रमाणस्वकालेऽस्ति न परायुःप्रमाणे, पुद्गलविशेषरूपं च पृथिव्यादि तथा परिणामस्थितिनिमित्ते स्वकालेऽस्ति न तद्विपरीते तदा तस्यान्यवस्तुविशेषत्वेनभावात्।

तहां कालके विचारमें परम सत् वस्तुका अपना अनादि अनन्तकाल है और उसके व्याप्य जीव, पुद्गल, आदि वस्तुओंका भी स्वकाल अनन्तानन्त है। क्योंकि ये वस्तुएं अनादिसे अनन्त तक तीनों कालोंमें स्थिर रहनेवाली हैं। सभी कालोंमें इनका विच्छेद (मध्यमें टूट जाना) नहीं होता है। तिन पदार्थोंमें कोई भी वस्तु हो वह अपने भूत, भविष्यत्, वर्तमान, त्रिकालवर्ती अनन्तपरिणाम रूप स्वकीय गुणांशोंमें है। परगुणांशरूप कालमें नहीं है। अन्यथा कल्पना किये गये एक क्षण या दो क्षण आदिमें भी यदि द्रव्यरूपसे वस्तुकी स्थिति हो जायगी, तब तो सत्का विनाश और असत्के उत्पादका महान् अक्षम्यदोष उपस्थित होगा। कोई समय तीन लोक तीनों कालोंका भी महाप्रलय हो जायगा। जो कि अनिष्ट है तथा जीव द्रव्यके व्याप्यरूप मनुष्य, देव, आदि वस्तुओंका स्वकीय व्यवहारकाल अपने अपने आयु प्रमाण हैं। यानी अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्यतक या दस हजार वर्षसे प्रारम्भ कर तेंतीस सागर पर्यन्त आदि है। दूसरेकी आयुके परिमाण नहीं है। यानी पुद्गल स्कन्धोंके समान शरीरधारी जीवकी आयु एक, दो, समय या पचासों सागर की नहीं है। एवं पुद्गलके विशेषस्वरूप पृथ्वी, जल, गृह, वस्त्र आदि भी तिसी प्रकार अपनी पर्यायकी स्थितिके निमित्त कारण अपने व्यवहार कालमें हैं। उनसे विपरीत न्यून अधिक कालोंमें नहीं हैं। उस समय उसका अन्य वस्तुओंके विशेषपनेसे परिणाम हो रहा है। अतः स्वकालमें रहना और परकालमें न रहना ही वस्तुका व्यवस्थित हो रहा है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहारसे नियत किये गये स्वचतुष्टय और पर चतुष्टयके अस्ति, नास्तिपनको समझ लेना। यों तो मोटेरूपसे एक द्रव्यमें अनन्त द्रव्य समारहे हैं। जिस प्रदेशमें एक द्रव्य है। वहां असंख्य द्रव्य बैठे हुये हैं। जिस समय एक एक द्रव्य है, उसी समय अनन्त द्रव्य भी हैं। ज्ञान, शब्द, आदिकी अपेक्षा मात्र भी असंख्य द्रव्योंका एक हो सकता है। फिर भी सूक्ष्म दृष्टिसे विचार कर निश्चयसे ऐसे चतुष्टयको लक्षित करना जिससे कि स्वद्रव्यमें परद्रव्यमें एक छोटासा अंश भी न मिल सके, तभी स्वपना व्यवस्थित हो सकेगा। अन्यथा नहीं। जैन सिद्धान्त महान् गहन है।

नन्वेवं युगपदेकत्र वस्तुनि सत्त्वासत्त्वद्वयस्य प्रसिद्धेस्तदेव प्रतिषेध्येनाविनाभावि साध्यं न तु केवलमस्तित्वं नास्तित्वादि वा तस्य तथाभूतस्यासम्भवादिति चेन्न, नयोपनीतस्य केवलास्तित्वादेरपि भावात् सिद्धे वस्तुन्येकत्रास्तित्वादौ नानाधर्मे वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धो धर्मस्तदप्रसिद्धेन धर्मेणाविनाभावी साध्यत इति युक्तिसिद्धमस्तित्वादिधर्मसप्तकं कुतश्चित्प्रतिपत्तुर्विप्रतिपत्तिसप्तकं जनयेत्। जिज्ञासायाः सप्तविधत्वं तच्च प्रश्नसप्तविधत्वं तदपि वचनसप्तविधत्वमिति सूक्ता प्रश्नवशादेकत्र सप्तभंगी, भंगान्तरनिमित्तस्य प्रश्नान्तरस्यासम्भवात्। तदभावश्च जिज्ञासान्तरासम्भवात् तदसम्भवोऽपि विप्रतिपत्त्यन्तरायोगात् तदयोगोऽपि विधिप्रतिषेधविकल्पनया धर्मान्तरस्य वस्तुन्यविरुद्धस्यानुपपत्तेः, तदनुपपत्तावपि प्रश्नान्तरस्याप्रवर्तमानस्यासम्बन्धप्रलापमात्रतया प्रतिवचनानर्हत्वात्।

नवीन शंका है कि इस प्रकार एक वस्तुमें एक समय सत्त्व और असत्त्व इनका उभय जब प्रसिद्ध होगया है तब तो वह उभय ही अपने प्रतिषेध्य अवक्तव्य, आदिसे अविनाभावी साध्य करना चाहिये। केवल अस्तित्व या अकेले नास्तित्व अथवा रीतिसे अवक्तव्यत्व आदिको तो प्रतिषेध्य के विना न रहनापन नहीं सिद्ध करना चाहिये। क्योंकि अकेले अस्तित्व आदिकको तिस प्रकार प्रतिषेध्योंके साथ रहनेपनका सम्भव नहीं है। अर्थात् जैनसिद्धान्तके अनुसार जब कभी पाये जायेंगे तो दोनों ही धर्म पाये जायेंगे अकेलेका मिलना असम्भव है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि नयोंके द्वारा ज्ञानलक्षणासे जान लिये गये केवल अस्तित्व या अकेले नास्तित्व आदि धर्मोंका भी सद्भाव है। एक वस्तुमें अस्तित्व, अवक्तव्यत्व आदि अनेक धर्मोंके सिद्ध हो चुकनेपर वादी और प्रतिवादीके यहां जो कोई भी एक धर्म प्रसिद्ध होगया है वह अप्रसिद्ध दूसरे धर्मोंके साथ अविनाभावी है ऐसा साध लिया जाता है। इस प्रकार अस्तित्व आदि सातों ही धर्म युक्तियोंसे सिद्ध होते हुये समझनेवाले पुरुषके किसी कारण सात प्रकार विवादोंको उत्पन्न करा देते हैं और वे सात प्रकारके विवाद स्थल ज्ञाताके सात प्रकार जाननेकी इच्छाओंको प्रकट करा देते हैं, तथा सात प्रकारकी जिज्ञासायें सात प्रकारके प्रश्नोंका उत्पाद कराती हैं। एवं श्रोताके वे सात प्रकार प्रश्न भी वक्ताके द्वारा उनके उत्तरमें दिये गये प्रतिवचनोंके सात प्रकारपनेको उत्पन्न कराते हैं या ज्ञापन कर देते हैं। इस प्रकार हमने एक वस्तुधर्ममें प्रश्नके वशसे सप्तभंगीका प्रवर्तना बहुत अच्छा कहा था। पचासवीं आदि वार्त्तिकोंसे इसी बातको पुष्ट किया है। सात भंगोंके समुदायसे अतिरिक्त अन्य आठवें नौमे आदि दूसरे प्रश्नोंके उत्थापन करनेका निमित्त असम्भव है। जब सातसे अधिक प्रश्न ही नहीं हैं तो उनके प्रत्युत्तरमें दिये जानेवाले आठवें आदि भंगोंके प्रतिवचन भी नहीं हो सकते, तथा उन सातसे अतिरिक्त प्रश्नोंका अभाव भी सात जिज्ञासाओंके अतिरिक्त आठवीं आदि जिज्ञासाओंके असम्भव होनेसे है और उन अन्य जिज्ञासाओंका

असम्भव भी सात विवाद-स्थलोंके सिवाय आठवीं आदि विवाद-भूमिके अभाव होनेसे है, तथा उन आठवें आदि विवाद-स्थलोंका अभाव भी क्यों है ? इसका उत्तर यही है कि एक वस्तुमें विधि और निषेधकी विभिन्न कल्पनासे सात ही अविरुद्ध धर्म बन सकते हैं। अन्य आठवें आदि धर्म अविरुद्ध होकर नहीं बनते हैं। उन आठवें आदि धर्मोंकी नहीं सिद्धि होनेमें भी यह कारण है कि सात प्रश्नोंके अतिरिक्त अन्य प्रश्नोंकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है। यदि कोई बलात्कारसे व्यर्थ ही आठवें आदि प्रश्नोंको उठावें, तो वे प्रश्न विना सम्बन्धके बोले हुए केवल प्रलाप (बकवाद) स्वरूप होनेसे प्रत्युत्तर देनेके योग्य नहीं हैं। अर्थात् अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यके सात ही प्रश्न उठाये जा सकते हैं। आठवें आदि प्रश्नोंको उठानेवाला असम्बन्ध प्रलापी है। जब कि मूल कारण सात ही धर्म है तो उनके निमित्तसे सात विवाद और सात ही जिज्ञासाएँ तथा सात प्रश्न एवं उनके उत्तर सप्तभंगीरूप ही हो सकते हैं। नोंन, मिर्च, धनियांके अकेले और मिलाकर सात ही स्वाद बनते हैं। इसी भी प्रकार इनसे अतिरिक्त स्वादोंको नहीं बना सकता है।

तद्धि प्रश्नान्तरं व्यस्तास्तित्वनास्तित्वविषयं समस्ततद्विषयं वा ? प्रथमपक्षे प्रधानभावेन प्रथमद्वितीयप्रश्नावेव गुणभावेन तु सत्त्वस्य द्वितीयप्रश्नः स्यादसत्त्वस्य प्रथमः।

वे आठवें नवमें आदि अतिरिक्त प्रश्न किये जांय, उसपर हम जैनोंका यह पूंछना है कि वे प्रश्न न्यारे न्यारे अस्तित्व, नास्तित्वको विषय करनेवाले होंगे ? या मिले हुए उन अस्तित्व, नास्तित्वको विषय करेंगे ? बताओ। पहिला पक्ष लेनेपर तो प्रधानपनसे अस्तित्व, नास्तित्वको यदि पूंछा जायगा, तब तो पहिले और दूसरे ही प्रश्न हो गये। यदि सत्त्वको गौण करके और नास्तित्वको प्रधान करके पूंछा जायगा, तो दूसरा प्रश्न ही हुआ तथा असत्त्वको गौणकर और सत्त्वको प्रधानपनेसे पूंछनेपर पहिला ही प्रश्न होगा। भला ये न्यारे प्रश्न कहां हुए ?

समस्तास्तित्वनास्तित्वविषये तु प्रश्नान्तरं क्रमतस्तृतीयः सह चतुर्थः प्रथमचतुर्थसमुदायविषयः पञ्चमः द्वितीयचतुर्थसमुदायविषयः षष्ठस्तृतीयचतुर्थसमुदायविषयः सप्तम इति सप्तस्वेवान्तर्भवति।

द्वितीय पक्षके अनुसार उन आठवें आदि प्रश्नोंको मिले हुए अस्तित्व, नास्तित्वके विषय करनेवाले कहोगे तो क्रमसे दोनोंको विषय करनेपर तो वह न्यारा प्रश्न तीसरा ही प्रश्न हुआ और अस्तित्व नास्तित्व दोनोंको साथ कहनेका प्रश्न चौथा ही हुआ तथा पहिले अस्तित्व और चौथे अवक्तव्यके समुदायको विषय करता हुआ वह प्रश्न न्यारा न होगा। पांचमा ही है। एवं दूसरे नास्तित्व और चौथे अवक्तव्यके समूहको विषय करनेवाला वह प्रश्न छठा ही होगा तथा तीसरे अस्तिनास्ति उभय और चौथे अवक्तव्यके समुदायमें उठाया गया प्रश्न सातवां ही है। इस प्रकार इन सातों ही प्रश्नोंमें वे आपके अतिरिक्त माने गये प्रश्न भी गर्भित हो जाते हैं। अतः वे न्यारे नहीं माने जा सकते हैं।

प्रथमतृतीययोः समुदाये तु प्रश्नः पुनरुक्तः, प्रथमस्य तृतीयावयवत्वेन पृष्टत्वात् । तथा प्रथमस्य चतुर्थादिभिर्द्वितीयस्य तृतीयादिभिस्तृतीयस्य चतुर्थादिभिश्चतुर्थस्य पञ्चमादिभिः पंचमस्य षष्ठादिना षष्ठस्य सप्तमेन सहभावे प्रश्नः पुनरुक्तः प्रत्येयस्ततो न त्रिचतुःपञ्चषट्सप्तयोगकल्पनया प्रतिवचनान्तरं सम्भवति । नापि तत्संयोगानवस्थानं यतः सप्तभंगीप्रसादेन सप्तशतभंग्यपि जायत इति चोद्यं भवेत् ।

पहिले अस्तित्व और तीसरे अस्तिनास्तिपनके समुदायमें यदि कोई नया प्रश्न खडा किया जायगा, तब तो वह प्रश्न पुनः कहा गया होनेसे व्यर्थ पडेगा। क्योंकि पहिला अस्तित्व तो तीसरे उभयका अवयव होनेके कारण पूंछा जा चुका है। एक धर्मके दो अस्तित्वोंका प्रश्न नहीं उठाया जाता। तिस प्रकार पहिलेको चौथे आदिके साथ समुदित कर एवं तृतीयको चौथे अवक्तव्य आदिके साथ मिश्रित कर पूंछा जायगा तो भी पुनरुक्त दोष होगा। क्योंकि ये कुछ तो पांचमें छठे, सातवेंमें पूंछे जा चुके हैं। शेष दो दो अवक्तव्य या दो दो अस्तित्व, नास्तित्व होनेके कारण पुनरुक्त हैं। असंगत कोरी बकवाद है। ऐसे ही चौथे अवक्तव्यको पांचमें अस्त्यवक्तव्य आदिके साथ तथा पांचमें अस्त्यवक्तव्यको छठे नास्त्यवक्तव्य आदिके साथ, एवं छठेको सातवें अस्तिनास्त्यवक्तव्यके साथ सम्मिश्रित करनेपर जो भी प्रश्न किये जावेंगे, वे सब पुनरुक्त समझ लेने चाहिये। तिस कारण इन सात भंगोंके पुनः तीन, चार, पांच, छह और सातके संयोगी भंगोंकी कल्पना कर उत्तरमें दिये गये अन्य आठवें आदि प्रतिवचन नहीं सम्भवते हैं। और उन सातों या सातोंके सम्बन्धसे बने हुए अन्य भंगोंके संयोगसे पुनः प्रश्नोंके बनानेपर हो सकनेवाला अनवस्थादोष भी नहीं है, जिसके कि सात भंगोंके समुदायके प्रसादसे सातसौ भंगोंका भी अथवा इससे भी अधिक असंख्य भंगोंका परिवार उत्पन्न हो जाय। इस प्रकारका आपादन हम जैनोंके ऊपर हो सके। भावार्थ—तीनके जैसे सात बना लिये हैं, इसी प्रकार सातके प्रत्येक भंग सात, द्विसंयोगी इकईस, त्रिसंयोगी पैंतीस, चतुःसंयोगी पैंतीस, पंचसंयोगी इक्कीस, छह संयोगी सात, सप्तसंयोगी एक। इस प्रकार एक सौ सत्ताईस प्रश्न भी बनाये जा सके और एक सौ सत्ताईसके प्रत्येक भंग एकसौ सत्ताईस (१२७) द्विसंयोगी आठ हजार एक (८००१) और त्रिसंयोगी तीन लाख तेतीस हजार तीनसै पिचहत्तर (३३३३७५) आदि होते हुए असंख्य प्रश्न बनाये जा सकें। वास्तवमें विचारा जाय तो अपुनरुक्त प्रश्न सात ही हो सकते हैं। अतः अनवस्थादोष नहीं है। हां ! असंख्य धर्मोंमें सात प्रश्न उठाकर भले ही असंख्य सप्तभंगी बनालो ! कोई क्षति नहीं है। फलमुख गौरव दोषाधायक नहीं होता है।

नन्वेवं तृतीयादीनामपि प्रश्नानां पुनरुक्तत्वप्रसक्तिरिति चेन्न, तृतीये द्वयोः क्रमशः प्रधानभावेन पृष्टेः प्रथमे द्वितीये वा तथा तयोरपृष्टेः । सत्त्वस्यैवासत्त्वस्यैव च प्रधानतया पृष्टत्वात् । चतुर्थे तु द्वयोः सह प्रधानत्वेन पृष्टेर्न पुनरुक्तता । पञ्चमे तु सत्त्वावक्तव्यत्वयोः

प्रधानतया पृष्टेः पूर्वं तयोरपृष्टेरपुनरुक्तता। षष्ठेऽपि नास्तित्वावक्तव्यतयोस्तथा पृष्टेरेव सप्तमे क्रमाक्रमार्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोः प्रधानतया पृष्टेः कुतः पौनरुक्त्यम्?

शंकाकार कहते हैं कि इस प्रकार तो तीसरे, चौथे, आदि प्रश्नोंको भी पुनरुक्तपनेका प्रसंग हो जायगा। केवल पहिला और दूसरा प्रश्न ही ठीक तौरसे अपुनरुक्त रक्षित हो सकेगा। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि तीसरेमें पहिले दो भंगोंको क्रमसे प्रधानपने करके पूंछा गया है। पहिले अथवा दूसरेमें तो तिस प्रकार क्रमसे वे दोनों नहीं पूंछे जा चुके थे। किन्तु अकेले सत्त्वको ही प्रधानरूपसे पहिलेमें पूंछा गया है और दूसरेमें प्रधानरूपसे असत्त्वको ही पूंछा गया है। एवं चौथे प्रश्नमें तो दोनोंके साथ कहनेकी प्रधानतासे पूंछा गया है। अतः पुनरुक्तपना नहीं है; क्योंकि पहिले प्रश्नोंमें तो दोनोंका युगपत् कहनापन विवक्षित नहीं हो चुका है। इसी प्रकार पांचमेंमें तो अस्तिपन और अवक्तव्यत्वको प्रधानपनेसे पूंछा गया है। पहिले प्रश्नोंमें उन दोनोंको नहीं पूंछा गया था। इस कारण पांचमेंमें भी अपुनरुक्तपन है। तथैव छठवेंमें भी प्रधानता नास्तित्व और अवक्तव्यपनको ही पूंछा है। अन्य भंगोंमें तिस प्रकार नहीं पूंछा गया है। ऐसी ही सातवेंमें क्रमसे सत्त्व, असत्त्व, और अक्रमसे विवक्षित किये गये सत्त्व असत्त्वके अवक्तव्यकी प्रधानतासे प्रश्न किया गया है। अतः पिछले पांच भंगोंमें भला कैसे पुनरुक्तपना आया? अर्थात् नहीं। ये सातों प्रश्न अपुनरुक्त हैं। इनके उत्तरमें स्याद्वादी वक्ताकी ओरसे दिये गये सात उत्तर उपयुक्त हैं।

नन्वेवं तृतीयस्य प्रथमेन संयोगे द्वयोरस्तित्वयोरेकस्य नास्तित्वस्य प्राधान्याद् (१) द्वितीयेन संयोगे द्वयोर्नास्तित्वयोरेकस्यास्तित्वस्य क्रमशः पृष्टेना(२)पुनरुक्तातास्तु पूर्वं तथा पृष्टेरभावात्। तथा चतुर्थस्य पञ्चमेन संयोगे द्वयोरवक्तव्ययोरेकस्यास्तित्वस्य षष्ठेन संयोगे द्वयोरवक्तव्ययोरेकस्य नास्तित्वस्य (४) सप्तमेन संयोगे द्वयोरव्यक्तयोरेकस्यास्तित्वस्य नास्तित्वस्य (५) च क्रमेण प्रधानतया पृष्टेर्न पुनरुक्तता तथा पञ्चमस्य षष्ठेन संयोगे द्वयोरवक्तयोरेकस्यास्तित्वस्य नास्तित्वस्य (६) पृष्टेः पञ्चमस्य सप्तमेन संयोगे द्वयोरवक्तव्ययोरस्तित्वयोश्चैकस्य नास्तित्वस्य प्रधानतया पृष्टेस्तथा (७) षष्ठस्य सप्तमेन संयोगे द्वयोरवव्यक्तव्ययोर्नास्तित्वयोश्चैकस्यास्तित्वस्य (८) सप्तमस्य प्रथमेन संयोगे द्वयोरस्तित्वयोरेकस्य नास्तित्वावक्तव्यस्य (९) च द्वितीयेन संयोगे द्वयोर्नास्तित्वयोरेकस्यास्तित्वस्यावक्तव्यस्य (१०) च तृतीयेन संयोगे द्वयोरस्तित्वयोनास्तित्वयोश्चैकस्यावक्तव्यस्य क्रमशः (११) प्रधानभावेन पृष्टेर्न पुनरुक्तत्वमिति तत्प्रति वचनानामप्येकादशानामपुनरुक्तत्वसिद्धेरष्टादशभंगास्तथा संयोगे च भंगान्तराणि सिध्येयुस्तथा तत्संयोगेऽपि ततो भंगांतराणीति कथं सप्तभंगी नियम्यते? द्विभंगीप्रसंगादिति केचित्।

यहां पुनः अधिक भंगोंके बढ जानेका आपादान करनेके लिये शंका उठायी जाती है कि इस प्रकार तो तीसरे उभयका पहिले अस्तित्वके साथ संयोग होनेपर दो अस्तित्व और नास्तित्वकी प्रधानतासे (१)। तथा तृतीय उभयका दूसरे नास्तित्वके साथ सम्मेलन करनेपर दो नास्तित्व और एक अस्तित्वका क्रमसे पूंछना होनेके कारण (२), उभय अस्ति और उभय नास्ति ये दो भंग भी अपुनरुक्त हो जाओ। क्योंकि पहिले तिस प्रकार पूछना हुआ नहीं। तिस ही प्रकार चौथेका पांचवेंके साथ संयोग होनेपर दो अवक्तव्य और एक अस्तिपनका नया प्रश्न है (३)। चौथेका छठेके साथ संयोग होनेपर दो अवक्तव्य और एक नास्तित्वका भी नवीन प्रश्न है (४)। तथा चौथेका सातवेंके साथ मेल होनेपर दो अवक्तव्य एक अस्तित्व और एक नास्तित्वका क्रमसे प्रधानपन करके प्रश्न हो सकता है। पुनरुक्तपन नहीं है (५)। तथा पांचमेंका छठेके साथ मेल होनेपर दो अवक्तव्य एक अस्तित्व और एक नास्तित्वका नया प्रश्न होगा (६)। पांचमेंका सातवेंके साथ संयोग होनेपर दो अवक्तव्य दो अस्तित्व और एक नास्तित्वका प्रधानपनेसे प्रश्न हो जानेके कारण एक सातवां नया प्रश्न अरित हो जाता है (७)। तथा छठे नास्त्यवक्तव्यका सातवें अस्तिनास्त्यवक्तव्यके साथ संयोग होनेपर दो अवक्तव्य दो नास्तित्व और अस्तित्वका आठवां प्रश्न हुआ (८)। एवं सातवेंका पहिलेके साथ संयोग होनेपर दो अस्तित्व एक नास्तित्व और एक अवक्तव्यपनका नवमा प्रश्न हुआ (९)। तथा सातवेंका दूसरे भंगके साथ योग होनेपर दो नास्तित्व एक अस्तित्व और एक अवक्तव्यका दशवां (१०)। एवं सातवेंकी तृतीय भंगके साथ संयुक्ति होनेपर दो अस्तित्व दो नास्तित्व और एक अवक्तव्यका प्रधानभाव करके क्रमसे पूंछना होनेके कारण ग्यारहवां प्रश्न हुआ (११)। इन सात भंगोंमेंसे दो का संयोग कर बनाये गये ग्यारह प्रश्न पुनरुक्त नहीं हैं। क्योंकि पहिलेके सातों भंगोमें ये पूंछे जा चुके नहीं हैं। इस कारण उनके प्रत्युत्तरमें दिये गये ग्यारह भंगोंको भी अपुनरुक्तपना सिद्ध होता है। अतः सात और ग्यारहको मिलानेपर अठारह भंग हो जाते हैं। तिस प्रकार इन अठारहकोंके भी द्विसंयोगी आदि करनेपर अन्य भी पचासों, सैकडों, प्रश्नोंकी सन्तान बढेगी और हजारों अन्य भंग सिद्ध हो जायंगे। तथा उनके भी संयोग करनेपर उनसे असंख्य दूसरे दूसरे भंग होते जांयगे। फिर सैकडो भंग हो जानेका आप जैन कैसे निषेध कर सकते हैं ? कबूतरोंकी सन्तान प्रतिसन्तानके समान यह भंग परिवार बढता ही चला जायगा। यदि संयोगजन्य भंगोंको न माना जायगा तो जैनोंको पहिलेके केवल दो भंग माननेका ही प्रसंग होगा। इस प्रकार कोई कह रहे हैं।

तदयुक्तम्। अस्तित्वस्य नास्तित्वस्य तदवक्तव्यस्य चानेकस्यैकत्र वस्तुन्यभावात् नानावस्तुषु सप्तभंग्याः स्वयमनिष्टेः। यत् पुनर्जीववस्तुनि जीवत्वेनास्तित्वमेवाजीवत्वेन च नास्तित्वं मुक्तत्वेनापरममुक्तत्वेन चेत्याद्यनन्तस्वपरपर्यायापेक्षयानेकं तत्सम्भवति वस्तुनोऽनन्तपर्यायात्मकत्वादिति वचनं, तदपि न सप्तभंगीविघातकृत्, जीवत्वाजीवत्वापेक्षाभ्यामिवा-

स्तिनास्तित्वाभ्यां मुक्तत्वामुक्तत्वाद्यपेक्षाभ्यामपि पृथक् सप्तभंगीकल्पनात् विवक्षितवक्तव्यत्वावक्तव्यत्वाभ्यामपि सप्तभंगी प्रकल्प्यमानान्यैवानेन प्रतिपादिता। प्रकृताभ्यामेव धर्माभ्यां सहार्पिताभ्यामवक्तव्यत्वस्यानेकस्यासम्भवादेकत्र तत्प्रकल्पनया भंगान्तरानुपपत्तेः। यत्तु ताभ्यामेवासहार्पिताभ्यां वक्तव्यत्वं तदपि न शेषभंगेभ्यो भिद्यते, तेषामेव वक्तव्यत्वात्। ततो नातिव्यापिनी सप्तभंगी नाप्यव्यापिन्यसम्भविनी वा यतः प्रेक्षावद्भिर्नाश्रियते।

यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व तथा उन दोनोंका यौगपद्य होनेपर अवक्तव्य ये तीन धर्म एक वस्तुमें एक एक ही रहते हैं। एक वस्तुमें अनेक अस्तित्व आदि नहीं पाये जाते हैं। अनेक वस्तुओंमें यद्यपि अनेक अस्तित्व और अनेक नास्तित्व ठहर सकते हैं। किन्तु "प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी" प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें विरोध रहितपनेसे विधि और निषेधकी सद्भूत कल्पनाको सप्तभंगी कहते हैं। अनेक वस्तुओंमें सप्तभंगी होनेको हम स्वयं इष्ट नहीं करते हैं। हां! फिर जीव वस्तुमें जीवपने करके अस्तित्व ही अजीवपनेसे नास्तिपन है। मुक्तपनेसे अस्तिपन और अमुक्तपनेसे दूसरा नास्तिपन है। ज्ञानीपनसे अस्तित्व और अज्ञानपनसे नास्तित्व इत्यादिक अनन्त अपने परिणाम और परपरिणामोंकी अपेक्षा करके भले ही वे अस्तित्व नास्तित्व अनेक सम्भवते हैं। क्योंकि एक वस्तु अनन्त पर्यायोंमें तदात्मक परिणत हो रही है और एक एक पर्यायमें एक अस्तित्व एक नास्तित्व और एक अवक्तव्य आदि धर्म रह जाते हैं। अतः एकमें अनेक भंगोंको कथन करनेवाला वह वचन भी सप्तभंगीकी व्यवस्थाका विघातक नहीं है। जैसे एक जीव वस्तुमें जीवत्वकी अपेक्षासे अस्तित्व और अजीवत्वकी अपेक्षासे नास्तित्व आदि सप्तभंग हैं। उसीके समान मुक्तपन और संसारीपन या भव्यत्व, अभव्यत्व, आदिकी अपेक्षासे अस्तित्व नास्तित्व करके दूसरी दूसरी न्यारी सप्तभंगियां कल्पित कर ली जाती हैं। इस उक्त कथनसे यह भी कह दिया गया समझ लेना चाहिये कि विवक्षा किये गये वक्तव्यपन या अवक्तव्यपन करके भी यदि प्रश्न उठाये जायगे तो वक्तव्य १, अवक्तव्य २, इनका उभय ३, दोनोंका युगपत् नहीं कह सकनारूप अवक्तव्य ४, आदिकी न्यारी ही सप्तभंगी कल्पना कर ली जायगी। प्रकरणमें प्राप्त हुए वक्तव्य अवक्तव्य धर्मोके ही साथ कहनेकी विवक्षा हो जानेसे एक ही चौथा अवक्तव्य धर्म बनेगा। अनेक अवक्तव्योंका असम्भव है। एक पर्यायमें अनेक अवक्तव्यकी कल्पना करनेसे दूसरे भंग बन नहीं सकते हैं। यानी एक एक होकर सात भंग बनेंगे। अधिक नहीं। और जो तिन ही क्रमसे विवक्षित किये गये वक्तव्य अवक्तव्यपनसे वक्तव्यपना है, सो वह वक्तव्यपना भी शेष भंगोसे भिन्न नहीं है। क्योंकि वे छह भंग शब्दोंके द्वारा कहे तो जा रहे हैं और चौथा भंग भी अवक्तव्य शब्दसे कहा जा रहा है। अस्ति कहो या अस्ति शब्दसे कहने योग्य कहो। एक ही तो बात है इत्यादि नास्तिके कहनेमें भी लगा लेना। तिस कारण सप्तभंगीमें अतिव्याप्ति दोष नहीं है यानी सैकडों हजारों भी भंग नहीं हो सकते हैं और सप्तभंगीमें अव्याप्तिदोष भी नहीं है। यानी

केवल दो या तीन भंगोंसे ही कार्य नहीं चल सकता है। तथा सप्तभंगी असम्भवदोषग्रस्त भी नहीं है यानी वस्तुमें सातों भंग पाये जाते हैं। जिससे कि हिताहितको विचार कर कार्य करनेवाले प्रेक्षावालोंसे सप्तभंगी आश्रित न की जाती। भावार्थ—सप्तभंगी निर्दोष है। अतः विचारशील वादियोंको उसका सहारा लेना चाहिये।

ननु च सप्तसु वचनविकल्पेष्वन्यतमेनानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रधानगुणभावेन प्रतिपादनाच्छेषवचनविकल्पानामानर्थक्यादनाश्रयणीयत्वमेवेति चेत् न, तेष्वपरापरधर्मप्राधान्येन शेषधर्मगुणभावेन च वस्तुनः प्रतिपत्तेः साफल्यात्।

अन्य शंका है कि सात प्रकारके वचन भेदोंमेंसे एक भंगके वचन करके अनन्त धर्मात्मक वस्तुका प्रधानपन या गौणपनेसे कथन हो ही जाता है। अतः बचे हुए छह वचनभेदोंका प्रतिपादन करना व्यर्थ पडता है। इस कारण सप्तभंगीका आसरा कथमपि नहीं लेना चाहिये। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन भंगोंमें अन्य दूसरे दूसरे धर्मकी प्रधानतासे और शेषधर्मोंके गौणपनेसे वस्तुकी भले प्रकार प्रतीति हो जाती है। अतः परिशिष्ट धर्मोंका कथन करना भी सफल हो जाता है। दूसरी बात यह है कि वे शेष धर्म कहे गये या न कहे गये होकर विद्यमान हैं, तभी तो एकके कहनेसे सभीका प्रतिपादन हुआ। कभी अस्तित्वके कहनेसे नास्तित्व आदि छहका और कभी नास्तित्वके कथनसे अस्तित्व आदि छहका कथन होता है। अतः विनिगमनाविरह या चालिनीन्यायसे स्वतन्त्र सात भंग माननीय करने चाहिये। आप यदि एक नियत धर्मका नाम लेते, तब तो अन्य वचनोंकी निरर्थकता आ सकती थी, किन्तु जब साधारणरूपसे एक द्वारा दूसरे छहोंका ज्ञान हो जाना मानते हैं, तब तो सात धर्म अवश्य सिद्ध हो जाते हैं। गम्यसे गमक न्यारा होता है। अतस्तत्सिद्धेः इसी तुम्हारे कटाक्षसे शेषभङ्गोंका कथन सिद्ध हो जाता है।

तत्रास्त्येव सर्वमित्यादिवाक्येऽवधारणं किमर्थमित्याह;—

उन सात भंगोंमें "अस्त्येव सर्वम्" "नास्त्येव सर्वम्" सभी पदार्थ किसी अपेक्षासे हैं ही तथा सभी वस्तुएं किसी अन्य अपेक्षासे नहीं ही हैं इत्यादि वाक्योंमें एवकार करके नियम करना किस लिये है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य वार्तिकको कहते हैं।

वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये।
कर्त्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ॥ ५३ ॥

वाक्यमें एव लगाकर ही ऐसा जो नियम किया जाता है, वह तो अवश्य अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये करना चाहिये। अन्यथा कहीं कहीं वह वाक्य नहीं कहा गया सरीखा समझा जाता है। भावार्थ— जैसे कोई व्रती पुरुष अष्टमीको जल पीता है। एक विद्यार्थी विचारकर उत्तर देता

है। यहां यदि ही लगाकर अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति न की जायगी तो कहना न कहना एकसा है। प्रायः सभी मनुष्य जल पीते हैं। अनेक बातोंका विचार कर उत्तर दिया जाता है, किन्तु यहां यह अर्थ अभीष्ट है कि अष्टमीको जल ही पीता है। अन्न हरित, औषधि आदि नहीं खाता है। विद्यार्थी सभी बातोंका विचार पूर्वक ही उत्तर देता है। अण्टसण्ट नहीं। इस प्रकार हीको कहनेवाले एव करके ही अन्य अनिष्ट अर्थकी व्यावृत्ति हो सकती है। अन्य कोई उपाय नहीं है।

ननु गौरेवेत्यादिषु सत्यप्यवधारणेनिष्टार्थनिवृत्तेरभावादसत्यपि चैवकारे भावाभावधारणसाध्यान्यनिवृत्तिस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्। न ह्येवकारोऽनिष्टार्थनिवृत्तिं कुर्वन्नेवकारान्तरमपेक्षते अनवस्थाप्रसंगात्। तत्प्रयोगे प्रकरणादिभ्योऽनिष्टार्थनिवृत्तिरयुक्ता सर्वशब्दप्रयोगे तत एव तत्प्रसक्तेस्ततो न तदर्थमवधारणं कर्त्तव्यमित्येके, तेऽपि न शब्दान्यायं विन्दन्ति। तत्र हि ये शब्दाः स्वार्थमात्रेऽनवधारिते संकेतितास्ते तदवधारणविवक्षायामेवकारमपेक्षन्ते तत्समुच्चयादिविवक्षायां तु चकारादिशब्दम्, न चैवमेवकारादीनामवधारणाद्यर्थं ब्रुवाणानां तदन्यनिवृत्तावेवकारान्तराद्यपेक्षा सम्भवति यतोऽनवस्था तेषां स्वयं द्योतकत्वात् द्योतकारान्तरानपेक्षत्वात् प्रदीपादिवत्।

इसमें किन्हींको शंका है कि बैल ही है, भोजन ही है इत्यादि वाक्योंमें एवकार द्वारा नियम करनेपर भी अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति नहीं हो रही है। जहां बैल खड़ा हुआ है, किसी अज्ञात पुरुष द्वारा पूंछनेपर बैल है या अतिथिके लिये भोजन तयार है। इसका जो अर्थ निकलता है, ही लगाकर भी वही अर्थ निकलता है। कोई अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति नहीं की गयी है। यह अन्वय व्यभिचार हुआ तथा कहीं एवकारके नहीं होनेपर भी अन्य अनिष्ट अर्थसे निवृत्ति हो जाती है। देवदत्त व्याकरणको पढता है। भेदसे अणु उत्पन्न होता है, आदि स्थलोंमें ही को न लगानेपर भी नियम करना बन जाता है। यह व्यतिरेक व्यभिचार हुआ। अतः अन्य पदार्थोंसे निवृत्ति होना अवधारणसे ही साधने योग्य कार्य नहीं है। क्योंकि अन्य निवृत्तिका उस एवके साथ अन्वय व्यतिरेक धारण करना नहीं है। देखो! एवकार भी अनिष्ट अर्थ की निवृत्तिको करता हुआ दूसरे एवकारकी तो नहीं अपेक्षा करता है। अन्यथा अनवस्थादोष होनेका प्रसंग होगा। अस्तिको ही की आवश्यकता है और हीको दूसरे हीकी तथा उसको भी तीसरे ही की इस प्रकार आकांक्षाएं बढती ही जावेंगी। हां! अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति तो प्रकरण, अवसर, आदिकोंसे हो जाती है। यदि जैन इसके लिये एवकारका प्रयोग करोगे तो प्रकरण आदिसे अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति होना अयुक्त पडेगा। सभी शब्दोंके प्रयोग करनेपर उस एवकारसे ही उस अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिका प्रसंग होगा। लोकमें भी ऐसा ही देखा सुना जाता है। कोई भी सभी स्थल (जगह) में एवकारका पुच्छल्ला नहीं लगाता है। तिस कारण उस अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये

अवधारण नहीं करना चाहिये। इस प्रकार कोई एक वादी कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि वे भी अनादि कालसे चली आयी हुयी शद्वकी परिपाटीको नहीं समझते हैं। तिन शद्वोंमें जो शद्व नहीं नियमित किये गये अपने सामान्य अर्थके प्रतिपादन करनेमें संकेत ग्रहण किये हुए हो चुके हैं, वे शद्व तो उस अर्थके नियम करनेकी विवक्षा होनेपर अवश्य एवकारको चाहते हैं। जल शद्वका अर्थ सामान्यरूपसे जल है। और हमें जल ही ऐसा अर्थ अभीष्ट हो रहा है, तो 'जलं एव' जल ही है, यह एवकार लगाना चाहिये। तथा जब कभी जल और अन्नके समुच्चय या समाहार अथवा अन्वाचयकी विवक्षा हो रही है। तब चकार शद्व लगाना चाहिये जलं अन्नं, च, तथा विकल्प अर्थकी विवक्षा होनेपर वा शद्व जोडना चाहिये, इत्यादि। यदि यहां कोई यों कहे कि अवधारण, समुच्चय, विकल्प आदि अर्थोंको कह रहे एवकार चकार हिकार वाकार आदिकोंको भी अन्यनिवृत्ति समुच्चय आदि करनेमें दूसरे एवकार चकार आदिकोंकी अपेक्षा होना सम्भवेगी, ग्रन्थकार कहते हैं कि सो नहीं कहना। जिससे कि अनवस्थादोष हो जाय। वे एवकार आदिक निपात तो अन्य अर्थके द्योतक हैं और स्वयं अपने अर्थके भी द्योतक हैं। प्रदीप सूर्य, चंद्र, आदिके समान उनको दूसरे अर्थद्योतक शद्वोंकी अपेक्षा नहीं है। भावार्थ—एवकार घट आदिककी अन्यसे निवृत्ति करा देता है। और अपनी भी अन्योंसे निवृत्ति करा लेता है। इसी प्रकार च शद्व भी घट, पटको परस्परमें जोड देता है और स्वयं भी समुचित हो जाता है।

नन्वेवमेवेत्यादि शद्वप्रयोगे द्योतकस्याप्येवं शद्वस्यान्यनिवृत्तौ द्योतकान्तरस्यैवकारा-देरपेक्षणीयस्य भावात्सर्वो द्योतको द्योत्येर्थे द्योतकान्तरापेक्षः स्यात् तथा चानवस्थानाञ्च क्वचिदवधारणाद्यर्थप्रतिपत्तिरिति चेत् न, एवशद्वादेः स्वार्थे वाचकत्वादन्यनिवृत्तौ द्योतका-न्तरापेक्षोपपत्तेः। न हि द्योतका एव निपाताः क्वचिद्वाचकानामपि तेषामिष्टत्वात्। द्योतकाश्च भवन्ति निपाता इत्यत्र च शद्वाद्वाचकाश्चेति व्याख्यानात्। न चैवं सर्वे शद्वाः निपातव-त्स्वार्थस्य द्योतकत्वेनाम्नाता येन तन्नियमे द्योतकं नापेक्षेरन्। ततो वाचकशद्वप्रयोगे तदनिष्टार्थनिवृत्त्यर्थः श्रेयानेवकारप्रयोगः।

यहां शंका है कि इस प्रकारका नियम करनेपर यानी द्योतक शद्वको दूसरे द्योतक शद्वकी अपेक्षा नहीं है। इसमें तो व्यभिचारदोष देखा जाता है। " एवमेव " इस प्रकार ही है। " एवञ्च " और ऐसा होनेपर तथा " न चैवम् एवमपि " चैव, च हि इत्यादि शद्वोंके प्रयोगमें द्योतक हो रहा एवं शद्व भी अन्य निवृत्ति करनेके लिए दूसरे द्योतक एवकार आदिककी अपेक्षा रखता हुआ विद्यमान है। अतः सभी द्योतक शद्व अपने अपने द्योतन करने अर्थमें दूसरे द्योतकोंकी अपेक्षा करनेवाले होंगे और तैसा होनेपर तो अनवस्था हो जायगी। इस कारण कहीं भी नियम करना आदि अर्थोंकी प्रतीति नहीं हो सकती है। यों कहनेपर आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना। क्योंकि एव, च आदिक शद्व जब अपने अर्थमें वाचक होकर प्रवृत्त रहे हैं तो अन्य

निवृत्ति करनेके लिए उनको दूसरे एव, हि, आदि द्योतकोंकी अपेक्षा करना युक्तिसिद्ध है। निपात द्योतक ही होय, ऐसा एकान्त नहीं है। कहीं उनको वाचक भी इष्ट किया गया है, यानी नियम, समुच्चय, अथवा, आदि, अर्थोंको स्वतन्त्रतासे एव, च और वा शद्ब कह रहे हैं। और निपात द्योतक होते हैं। इस प्रकार शद्बसिद्धान्त मानेपर यहां च शद्बसे वाचक भी होते हैं। ऐसा व्याख्यान किया गया है। प्रकृति, प्रत्यय, विकरण या निपतन आदि द्वारा स्वयं गांठके अर्थको संकेत द्वारा प्रतिपादन करनेवाले घट, पट, अस्ति आदि शद्ब वाचक माने गये हैं। जाति शद्ब, गुणशद्ब इत्यादिक सर्व वाचक शद्ब हैं। जो कि स्वातन्त्र्यतासे अपने ऊपर लदे हुए अर्थका स्पष्ट परिभाषण करते हैं तथा स्वयं गांठका कुछ अर्थ न रखते हुए भी केवल अपनी विद्यमानता होनेपर उन वाचक शद्बोंसे ही अधिक अर्थको निकालनेमें जो सहायक हो जाते हैं। वे द्योतक शद्ब हैं। जैसे प्रदीपने घटका कोई शरीर नहीं बना दिया है किन्तु अन्धकारमें रखे हुए घट अर्थका वह द्योतक होजाता है। इस प्रकार सभी शद्ब निपातोंके समान अपने अर्थको द्योतकरूपसे ही समझाते हुए सदातन कालसे धाराप्रवाहरूप चले आरहे हैं, यह तो नहीं समझ बैठना। जिससे कि स्वार्थके नियम करनेमें वे द्योतक होते सन्ते दूसरे द्योतक शद्बोंकी अपेक्षा न करें। अर्थात् निपात भले ही द्योतक हैं किन्तु सभी अस्तित्व, घट आदि शद्ब तो स्वार्थके द्योतक नहीं हैं। वे तो वाचक हैं। तब तो अन्य व्यावृत्ति या समुच्चय आदि अर्थको निकालनेके लिये एवकार चकार आदिकी आवश्यकता पड जाती है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि वाचक अस्ति आदि शद्बोंके प्रयोग करनेपर उनसे भिन्न अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये एवकारका प्रयोग करना बहुत अच्छा ही है।

सर्वशद्बानामन्यव्यावृत्तिवाचकत्वात् तत एव तत्प्रतिपत्तेस्तदर्थमवधारणमयुक्तमित्यन्ये। तेषां विधिरूपतयार्थप्रतिपत्तिः शद्बात् प्रसिद्धा विरुध्यते,कथं चान्यव्यावृत्तिस्वरूपं विधिरूपतयान्यव्यावृत्तिशद्बः प्रतिपादयेन्न पुनः सर्वे शद्बाः स्वार्थमिति बुध्यामहे। तस्यापि तदन्यव्यावृत्तिप्रतिपादनेऽनवस्थानं स्वार्थविधिप्रतिपादिता सिद्धेर्वेत्युक्तप्रायम्।

सम्पूर्ण शद्ब अपनी गांठसे ही अन्य व्यावृत्तिके वाचक हैं। तिस ही कारण तो हीको लगाये विना भी चाहे जिस शद्बके द्वारा उस अन्य निषेधकी प्रतीति हो जाती है। अतः उस अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये एवकार लगाना युक्त नहीं हैं, इस प्रकार कोई दूसरे वादी कह रहे हैं। उनके यहां शद्बके द्वारा भाव अर्थकी विधानरूपसे प्रतिपत्ति होना जो आबाल जन प्रसिद्ध हो रही है, वह विरुद्ध हो जायगी। अर्थात् सभी शद्बोंको सुनकर निवृत्ति तो हो जायगी, किन्तु अर्थमें प्रवृत्ति न हो सकेगी। भला यह तो विचारो कि यों अन्य व्यावृत्ति यह शद्ब अपने ऊपर दूसरी न्यारी अन्य व्यावृत्तिका बोझ न बढाकर अनवस्था दोषको हटाता हुआ केवल अपने शरीरके अर्थ अन्यकी व्यावृत्तिको ही कैसे कहेगा? हां! कहनेपर तो मानना पडता है कि यही तो विधिरूपसे अर्थका प्रतिपादन है अन्य व्यावृत्ति शद्ब तो अपने वाच्य भाव अर्थ अन्य व्यावृत्तिको कहे,

किन्तु फिर सम्पूर्ण शब्द अपने अपने अर्थको भावपनेसे न कहें, ऐसे अयुक्त नियमोंके बनानेमें हम कोई सार नहीं समझते हैं। यदि उस अन्यव्यावृत्ति शब्दको भी उस अन्य व्यावृत्तिसे भिन्नकी निवृत्ति रूप अर्थका प्रतिपादक मानोगे तो अनवस्थादोष होगा। क्योंकि उस व्यावृत्ति भिन्नव्यावृत्ति शब्दसे भी चार निषेधवाली और चारसे छह आदि व्यावृत्तियां समझी जायंगी। कहीं भी समधाराका अन्त न मिलेगा। दूसरी बात यह है कि जो कुछ शब्दके द्वारा तुम समझाना चाहते हो, उस स्वार्थकी विधिका प्रतिपादन करना कैसे भी सिद्ध न होगा। इस बातको बहुलता करके हम पहिले कह चुके हैं। इस प्रकार बौद्धोंके अन्यापोहका खण्डन हो जाता है।

विधिरूप एव शब्दार्थो नान्यनिवृत्तिरूपो यतस्तत्प्रतिपत्तयेऽवधारणमित्यपरे, तेषामपि स्ववचनविरोधः। सुरा न पातव्येत्यादिनञ्सहितशब्दप्रयोगात् प्रतिषेधप्रतिपत्तेः स्वयमिष्टेः।

शब्दका अर्थ भाव पदार्थकी विधि होना ही है, अन्य निवृत्ति स्वरूप अर्थ नहीं है जिससे कि उस अन्य निवृत्तिके लिये एवकार डालना आवश्यक होय, इस प्रकार कोई तीसरे विधायक शब्द वादी कह रहे हैं। उनके यहां भी अपने वचनोंसे ही विरोध आता है। शब्द विधायक ही है। निषेधक नहीं है, यह कथन ही विधि और निषेध दोनोंको कह रहा है। " सुरा न पातव्या न मांसं भक्षयेत् " इत्यादिक नञ् अव्ययसे सहित शब्दोंके प्रयोगसे मद्य नहीं पीना चाहिये। मांस नहीं खाना चाहिये ऐसे प्रतिषेधका ज्ञान होना स्वयं उन्होंने इष्ट किया है। व्रतके दिन मद्य, मांसके खानेका निषेध करनेसे अन्नके खानेकी विधि तो नहीं की गयी है। अतः शब्दका विधिरूप ही अर्थ है यह एकान्त सिद्ध न हो सका।

केषाञ्चित्प्रतिषेध एव द्वैराश्येन स्थितत्वाद्बोधवत् इति तु येषां मतं तेषां घटमानयेत्यादिविधायकशब्दप्रयोगे घटमेव नाघटमानयैव मा नैषीरित्यन्यव्यावृत्तेरप्रतिपत्तेस्तद्वैयर्थ्यप्रसंगोनुक्तसमत्वात्। सुरा न पातव्येत्यादिप्रतिषेधकशब्दप्रयोगे च सुरातोन्यस्योदकादेः पानविधेरप्रतीतेः सुराशब्दप्रयोगस्यानर्थकत्वापत्तिः, सुरापानस्यैव ततः प्रतिषेधात् पयःपानादेरप्रतिषेधात् अविधानाच्च न दोष इति। किमिदानीं शब्दस्य क्वचित्प्रतिषेधनं तदन्यौदासीन्यञ्च विषयः स्यात्, तथा क्वचिद्विधानम्। तदन्यत्र विधानं न प्रतिषेधनं चेति नैवं व्याघातादिति चेत्, तत एवान्याप्रतिषेधे स्वार्थस्य विधानं तदविधाने चान्यप्रतिषेधो माभूत्।

जिन वादियोंका यह मत है कि किन्हीं शब्दोंका तो अर्थ निषेध करना ही है और कितने शब्दोंका अर्थ भावोंकी विधि करना ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण शब्द दो बडी राशियोंमें विभक्त होकर प्रतिष्ठित हैं। जैसे कि सम्पूर्ण ज्ञान विधायक और निषेधक ऐसे दो मोटे भेदोंमें विभक्त हैं, इस प्रकार जिनका यह मत है, उनके यहां तो घटको लाओ इत्यादिक विधान करनेवाले शब्दोंके प्रयोग

करनेपर घट हीको लाओ। घट भिन्नको नहीं लाओ! किसी भी प्रकारसे अघटको मत (नहीं) लाओ! ऐसी अन्यव्यावृत्तिओंकी प्रतीति होगी नहीं। तब तो घटको लाओ! उस शब्दका बोलना भी व्यर्थ पडेगा। क्योंकि वह नहीं कहे हुए के सदृश है। विधायक शब्दके बोलनेपर किसी भी इच्छानुसारे पदार्थोंको लानेवाला भृत्य कृतकृत्य हो जाना चाहिये। क्योंकि प्रभुके शब्द द्वारा अन्यका निषेध तो कहा नहीं गया है। जलके मंगानेपर वस्त्रको देनेवाला सेवक स्वामीका क्रोधपात्र न बनना चाहिये। तथा निषेध वाचक शब्दोंका अर्थ यदि सर्वथा निषेध पकडा जायगा तो मद्य नहीं पीना चाहिये इत्यादि निषेध करनेवाले शब्दोंके प्रयोग होनेपर मद्यसे भिन्न दूसरे जल, दुग्ध, आदिके पीनेका विधान तो समझा नहीं जायगा। तब तो सुरा शब्दका प्रयोग करना ही व्यर्थ पडेगा। क्योंकि दूध, जल, ठण्डाई, छाछ, सभीके पीनेका निषेध किया जा रहा है। शब्द तो सबके निषेध करनेवाले ही ठहरे। यदि तुम यों कहो कि उससे तो सुरापानका ही निषेध किया गया है। दूध, जलजीरा, आदिके पीनेका तो निषेध नहीं किया गया है और विधान भी नहीं किया गया है। अतः कोई दोष नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछे कि इस समय क्या आपने शब्दके द्वारा कहीं निषेध होना और उससे दूसरे अर्थमें उदासीन बने रहना ये शब्दके विषयभूत अर्थ माने हैं ? बताओ। तैसा होने-पर तो कहीं विधान हो गया। इस ढंगसे तो आपके निषेधकपनेका एकान्त न रहा। यदि उस वाच्यार्थसे अतिरिक्त अन्य स्थलमें विधान माना जाय और निषेध करना न माना जाय, इस प्रकार तो हम नहीं कह सकते हैं, क्योंकि व्याघात होता है। ऐसा मानोगे तो तिस ही कारण अन्यका निषेध न करनेपर स्वार्थका विधान और उस स्वार्थके विधान न होनेपर अन्यका निषेध करना भी मत हो। यहां भी तो आपको व्याघात हो जानेका भय मानना चाहिये। अच्छा उपाय तो यही है कि शब्दके गौण या प्रधानरूपसे स्वार्थकी विधि और अन्यका निषेध ये दोनों अर्थ मान लिये जांय। क्वचित् चाक्षुष प्रत्यक्षमें आलोकके समान ही अर्थके लिये एवकारको द्योतक समझा जाय।

सर्वस्य शब्दस्य विधिप्रतिषेधद्वयं विषयोऽस्तु तथा चावधारणमनर्थकं तदभावेऽपि स्वार्थविधानेऽन्यनिवृत्तिसिद्धेरित्यपरः, तस्यापि सकृद्विधिप्रतिषेधौ स्वार्थेतरयोः शब्दः प्रतिपादयंस्तदनुभयव्यवच्छेदं यदि कुर्वीत तदा युक्तमवधारणं तदर्थत्वात्। नो चेत् अनुक्तसमः।

सम्पूर्ण शब्दोंके वाच्य विधि और निषेध दोनों ही विषय होओ! और तिस प्रकार होनेपर एवकारसे नियम करना व्यर्थ पडेगा। क्योंकि उस एवकारके न होनेपर भी स्वार्थके विधान करनेपर अन्यकी निवृत्ति होना स्वभावसे सिद्ध हो जाता है, इस प्रकार अन्य कोई चौथा वादी कह रहा है। उसके यहां भी एक बारमें ही स्वार्थकी विधि और इतरके निषेधको कह रहा शब्द यदि उन दोनोंसे भिन्न अनुभयके व्यवच्छेदको करेगा, तब तो नियम करना युक्त पडा। क्योंकि उसके लिये ही तो एवकार है। यानी अनुभयके निषेधको करनेपर ही उभयकी विधिको कह सकता है। यदि अनुभयकी व्यावृत्ति करना इष्ट नहीं है तो वह कहा गया कोई भी शब्द नहीं कहा गया सरीखा ही

है। उभयको कहनेवाला शद्व यदि अनुभयको निषेध नहीं करता है तो ऐसे शद्वके कहनेसे लाभ ही क्या निकला ? उभयके समान अनुभय भी उसका अर्थ हो गया। यानी शद्व विधि या निषेध दोनोंको नहीं कह रहा है। ऐसी दशामें वावदूक और गूंगे (मूक) में कोई अन्तर नहीं है।

तदनुभयस्य व्याघातादेवासम्भवाद्व्यवच्छेदकरणमनर्थकमिति चेत् न, असम्भविनोऽपि केनचिदाशंकितस्य व्यवच्छेद्यतोपपत्तेः स्वयमनिष्टतत्त्ववत्। यदेव मूढमतेराशंकास्थानं तस्यैव निवर्त्यत्वात् क्वचित् किञ्चिदनाशंकमानस्य प्रतिपाद्यत्वासम्भवात् तं प्रयुञ्जानस्य यत् किञ्चनभाषित्वादुपेक्षार्हत्वात्।

उस उभयसे अतिरिक्त अनुभय अर्थका प्राप्त होना तो व्याघात हो जानेसे ही असम्भव है। अर्थात् शद्व अनुभयको कहता होता तो उभयको नहीं कह सकता था। जब उभयको कह रहा है तो अनुभयको नहीं कह सकता है। उभयसे सर्वथा ही भिन्न अनुभय है। इस कारण अनुभयका व्यवच्छेद करना व्यर्थ है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि असम्भववाला भी अर्थ यदि किसीके द्वारा आशंका प्राप्त हो जाय तो उसका व्यवच्छेद किया जानापन युक्तिसिद्ध है। जैसे कि स्वयंको अनिष्टतत्त्व व्यवच्छेद्य हो जाता है। किसी समय घरमें मनुष्यकी हड्डीका होना नहीं सम्भव है, फिर भी हड्डीभ्रममें संशयवशी हड्डीको जानकर किसी पदार्थसे स्पर्श हो जाय तो स्नानरूप प्रायश्चित्त करना ही न्यायप्राप्त है। तभी चित्तकी शुद्धि हो सकती है। बच्चेको समझानेके लिये अश्वके सींगोंका निषेध करना पडता है। प्रायः सभी दार्शनिकोंको अपने अभीष्ट तत्त्वोंसे अतिरिक्त अन्य तत्त्वोंकी सम्भावना नहीं है। फिर भी कहीं अनिष्ट तत्त्वकी आपत्ति (बला) न आ कूदे। इसलिये अनिष्टका निषेध करना ही पडता है। जो ही भोली बुद्धिवाले श्रोताकी शंका करनेका स्थान है, वही निवृत्ति करने योग्य है। कहीं भी कुछ भी शंकाको नहीं करनेवाला भोंदू प्रतिपादन करने योग्य शिष्य नहीं बन सकता है। जो ठूंठके समान बैठा हुआ शंका, चर्चा नहीं करता है, उसके प्रति प्रयोग करनेवाले वक्ताको जो कुछ भी मनमानी कहनेवाला समझना चाहिये। कारण कि ऐसे भोंदू शिष्य समझाने योग्य नहीं हैं, किन्तु उपेक्षा करने योग्य हैं। एक उपयोगी दृष्टान्त है। किसी उद्भट नैयायिक विद्वान्ने अपने प्रिय पुत्रको न्यायदीपिका पढाई। पढ चुकनेपर गुरुने शिष्यको पूंछा कि तुमको इसमें कुछ पूंछना है ? कोई शंका उत्पन्न हुयी है क्या ? इसके उत्तरमें भोला लडका कहता है कि जब आप सरीखे प्रकाण्ड विद्वान् पढावें और मैं विनयसे पढूं। भला पिता अपने पुत्रसे कोई ग्रन्थकी बातको छिपा सकता है ? तिसपर तो आपने मुझे बडे परिश्रमसे पढाया है। ऐसी दशामें भला मुझे क्या शंका हो सकती है ? तब गुरुने विचारा कि इस लडकेको कुछ भी ग्रन्थ नहीं आया। अतः पुनः दुबारा न्यायदीपिका पढाई। पूरी होनेपर गुरुजीने पुनः पूंछा कि अब तुमको कुछ शंका या चर्चा करना है ? फिर गुरुजीने तीसरी बार न्यायदीपिकाको पढाया। तब तो विद्यार्थी कहने लगा कि अब तो मुझे पचासों बातोंका निर्णय करना है।

अधिक तत्त्व निर्णयके लिये मेरे मनमें नाना ऊहापोह उत्पन्न हो रहे हैं। तब गुरुजीने जाना कि अब इसको कुछ मन्थ आया है। वास्तवमें तर्क करनेवाली और नवीन नवीन उन्मेष उठानेवाली बुद्धि ही प्रशंसनीय है।

तत एव सर्वः शब्दः स्वार्थस्य विधायकः प्राधान्यात् सामर्थ्यादन्यस्य निवर्तकः सकृत्स्वार्थविधानस्यान्यनिवर्तनस्य चाऽयोगात्। न हि शब्दस्य द्वौ व्यापारौ स्वार्थप्रतिपादनमन्यनिवर्तनं चेति, तदन्यनिवृत्तेरेवासम्भवात् तस्याः स्वलक्षणादभिन्नायाः स्वसमानस्वलक्षणेष्वनुगमनायोगादेकस्वलक्षणवत्। ततो भिन्नायास्तदन्यव्यावृत्तिरूपत्वाघटनात् स्वलक्षणान्तरवत् स्वान्यव्यावृत्तेरपि च तस्या व्यावृत्तौ सजातीयेतरस्वलक्षणयोरैक्यप्रसंगादवस्तुरूपायाः स्व(तस्या)स्वान्यत्वाभ्यामेवावाच्यायां (न्यां)निरूपत्वात् इदमस्माद्व्यावृत्तमिति प्रत्ययोपजननासमर्थत्वान्न शब्दार्थत्वं नापि तद्विशिष्टार्थस्य तस्याविशेषणत्वायोगात्तद्विशेषणत्वे वा विशेष्यस्य नीरूपत्वप्रसंगादन्यथा नीलोपहितस्योत्पलादेर्नीलत्वविरोधात् तदन्यव्यावृत्तवस्तुदर्शनभाविना तु प्रतिषेधविकल्पेन प्रदर्शितायास्तस्याः प्रतीतेर्विधिविकल्पोपदर्शितशब्दार्थविधिसामर्थ्याद्गतिरभिधीयत इति केषाञ्चिदभिनिवेशः, सोपि पापीयान्। स्वार्थविधिसामर्थ्यादन्यव्यावृत्तिगतिवत् क्वचिदन्यव्यावृत्तिसामर्थ्यादपि स्वार्थविधिगतिप्रसिद्धेः शब्दानित्यत्वसाधने सत्त्वादेर्व्यतिरेकगतिसामर्थ्यादन्वयगतेरभ्युपगमात् तदभिधानेऽन्यथा पुनरुक्तत्वाघटनात् शब्देन विधीयमानस्य निषिध्यमानस्य च धर्मस्य वस्तुस्वभावतया साधितत्वात्। सर्वथा धर्मनैरात्म्यस्य साधयितुमशक्तेश्च, बौद्धेऽपि शब्दस्यार्थे अवधारणस्यासिद्धेरलं विवादेन।

परवादी कह रहे हैं कि तिस ही कारण सम्पूर्ण शब्द प्रधानतासे अपने वाच्यार्थके विधायक हैं। हाँ! गौणरूपसे अर्थापत्तिकी सामर्थ्यसे अन्यकी निवृत्ति भी कर देते हैं। एक ही वारमें स्वार्थका विधान और अन्यकी निवृत्ति इन दो कार्योंके होनेका योग नहीं है। एक शब्दके स्वार्थका प्रतिपादन और अन्यका निषेध करना इस प्रकार दो व्यापार तो नहीं हो सकते हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो उस स्वार्थके अतिरिक्त अन्यकी निवृत्ति होना ही असम्भव है। क्योंकि वह अन्य निवृत्ति यदि स्वलक्षणसे अभिन्न मानी जायगी तब तो जैसे एक व्यक्तिरूप स्वलक्षणका अपने सदृश स्वलक्षणोंमें अनुगम नहीं होता है, तैसे ही अन्य निवृत्तिका सदृश स्वलक्षणोंमें अन्वय नहीं चल सकेगा। जाति और द्रव्य तो अन्वित होकर रह सकते हैं। किन्तु विशेष व्यक्ति अन्य व्यक्तियोंमें मालाके एक दाने समान अनुगम नहीं करती है। गौ शब्दको सुनकर गौसे अन्य महिष आदिककी निवृत्ति यदि सम्पूर्ण गौओंमें गमन न करेगी तो भला वह गौ शब्दका वाच्य कैसे हो सकती है? उस स्वलक्षसे उसकी अन्यनिवृत्तिको यदि भिन्न माना जायगा तो वह अन्य व्यावृत्तिस्वरूप घटित नहीं होगी। जैसे एक गौरूप स्वलक्षणसे महिषस्वरूपी दूसरा स्वलक्षण अन्य व्यावृत्तरूप नहीं है।

किन्तु वह तो अन्य ही है। तिसके समान भिन्न पड़ी हुयी अन्य व्यावृत्ति भी उससे अन्य हो जायगी। अन्यकी निवृत्तिरूप न हो सकेगी। यदि स्वलक्षणकी अन्य व्यावृत्तिको भी उस न्यारी व्यावृत्तिसे व्यावृत्त मानोगे। तब तो सजातीय और विजातीय स्वलक्षणोंको एक हो जानेका प्रसंग होगा। गौ और महिषके मध्यमें पड़ी हुई व्यावृत्तिको यदि पृथक् कर दिया जाय तो बैल और भैंसा दोनों एक हो जावेंगे। व्यावृत्ति ही तो दोनोंमें समवेत हो रही दोनोंको न्यारा कर रही थी। अब आपने दूधमेंसे मक्खीके समान उसको दूर फेंक दिया तो वह पृथग्भाव नहीं करा सकती है। दूसरी बात यह है कि अन्य व्यावृत्ति तुच्छ पदार्थ है। वस्तुभूत नहीं है। अतः उसका स्वलक्षणके स्वकीयपनसे या भिन्नपनसे कथन ही नहीं किया जा सकता है, ऐसी दशामें स्वभाव रहित निरुपाख्य हो जानेके कारण यह इससे व्यावृत्त है। इस प्रकारके ज्ञानको पैदा करनेमें वह समर्थ नहीं है। अतः शद्बका वाच्यार्थ अन्य व्यावृत्ति नहीं है। तथा उस तुच्छ व्यावृत्तिसे विशिष्ट (सहित) हो रहा अर्थ भी शद्बका वाच्य अर्थ नहीं है। क्योंकि वह निःस्वभाव अन्य व्यावृत्ति तो अर्थका विशेषण नहीं हो सकती है। यदि निःस्वभाव व्यावृत्तिको वस्तुभूत अर्थका विशेषण मान लिया जायगा तो उसका विशेष्य अर्थ भी निःस्वभाव हो जायगा। अपने स्वभावसे विशेष्यको जो स्वके अनुरूप रंग देता है उसको विशेषण कहते हैं। और विशेषणके अनुरूप जो रंगजाता है, वह विशेष्य है। स्वभावरहित व्यावृत्ति यदि विशेषण हो जायगी तो विशेष्यको भी स्वभावरहित अवस्तु बना देगी। अन्यथा नील विशेषणसे युक्त इन्दीवर या कम्बल आदिको नीलेपनका विरोध हो जायगा। हां! वस्तुभूत स्वलक्षण तो उससे अन्य सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे स्वयं व्यावृत्त हो रहा है। ऐसे वस्तुभूत स्वलक्षणके प्रत्यक्ष दर्शनके पीछे होनेवाले निषेधक विकल्पक ज्ञानसे दिखलायी गयी उस अन्य व्यावृत्तिकी प्रतीति हो जाती है। अतः विधि और उसके विशेष भेद प्रभेदोंके विकल्प ज्ञान द्वारा शद्बके दिखला गये वाच्यार्थकी विधि होनेकी सामर्थ्यसे वह अन्यव्यावृत्ति कह दी जाती है। कण्ठोक्त रूपसे व्यावृत्तिको कहनेवाला या समझानेवाला कोई शद्ब नहीं है। इस प्रकार किन्हीं बौद्धोंका मताग्रह है। वह एकान्त आग्रह भी पापोंके बाहुल्यसे भरा हुआ है। क्योंकि स्वार्थकी विधिके सामर्थ्यसे अर्थापत्ति द्वारा जैसे आप अन्यव्यावृत्तिका ज्ञान कर लेते हैं, वैसे ही कहीं अन्यव्यावृत्तिकी सामर्थ्यसे भी स्वार्थकी विधिका ज्ञान होना प्रसिद्ध हो रहा है। देखिये! स्वयं आप बौद्धोंने शद्बका अनित्यपन साधते हुए सत्त्व कृतकत्व आदि हेतुओंके व्यतिरेकका पहिले ज्ञान करके पीछे उसकी सामर्थ्यसे अन्वयका ज्ञान होना स्वीकार किया है। अर्थात् नित्य या कालान्तर स्थायी पदार्थमें सत्त्व नहीं रहता है। इस व्यतिरेकसे जहां जहां सत्त्व है, वहां वहां अनित्यत्व है। इस अन्वयको दृढ रूपसे जाना है। वैसा कथन करनेपर ही दूसरे प्रकारसे पुनरुक्तपना नहीं घटता है। अर्थात् विपक्ष व्यावृत्तिरूप व्यतिरेकसे सपक्ष-वृत्तिरूप अन्वयका ज्ञान माननेपर ही पुनरुक्त दोष नहीं आता है।

अन्यथा पुनरुक्त होनेका प्रसंग है। तात्पर्य यह है कि विधान करने योग्य या निषेध करने योग्य ये सभी धर्म वस्तुके स्वभाव होकर सिद्ध किये जा चुके हैं। शद्बके द्वारा दोनों प्रकारके धर्मोंका कण्ठोक्तरूपसे निरूपण होता है। सभी प्रकार धर्म या स्वभावोंसे रहित निःस्वरूप वस्तुको आप सिद्ध नहीं कर सकते हैं। शद्बके द्वारा बुद्धिमें जानने योग्य अर्थमें या सुगत प्रतिपादित अर्थमें भी अवधारण नहीं करना असिद्ध है। भावार्थ—शद्बके वाच्यार्थमें एवकार लगाकर अवधारण करना सिद्ध कर दिया है। निस्सार विवाद करनेसे अब पूरा पडो, कुछ प्रयोजन न निकलेगा।

केचिदाहुः—नैकं वाक्यं स्वार्थस्य विधायकं सामर्थ्यादन्यनिवृत्तिं गमयति किं तर्हि ? प्रतिषेधवाक्यं, तत्सामर्थ्यगतौ तु ततोऽन्यप्रतिषेधगतिरिति तेऽपि नावधारणं निराकर्तुमीशास्तदभावे विधायकवाक्यादन्यप्रतिषेधवाक्यगतेऽयोगात्।

कोई मीमांसक वादी कहते हैं कि एक ही वाक्य अपने अर्थकी विधिको करता हुआ अर्थापत्तिरूप सामर्थ्यसे अन्यकी निवृत्तिको नहीं समझा देता है, तो क्या है ? सो सुनो ! प्रतिषेध करनेवाला दूसरा वाक्य अन्य निवृत्तिका बोधक है। उस विधायक वाक्यकी सामर्थ्यसे दूसरा प्रतिषेध वाक्य उठाकर जान लिया जाता है। और उस प्रतिषेध वाक्यसे तो अन्यके निषेधकी ज्ञप्ति हो जाती है। इस प्रकार जो कोई कह रहे हैं। वे भी अवधारणको निराकरण करनेके लिये समर्थ नहीं हैं। क्योंकि उस अवधारणके विना विधायक वाक्यसे अन्य निषेधक वाक्यकी अर्थापत्ति होनेका अयोग है। भावार्थ—नियम करनेपर ही विधायक वाक्यसे अर्थापत्ति द्वारा प्रतिषेध वाक्यका उत्थान कर सकोगे। अन्यथा नहीं।

यदि चैकं वाक्यमेकमेवार्थं ब्रूयादनेकार्थस्य तेन वचने भिद्येत तदिति मतं तदा पदमपि नानेकार्थमाचक्षीतानेकत्वप्रसंगात्। तथा च य एव लौकिकाः शद्बास्त एव वैदिका इति व्याहन्येत। पदमेकमनेकमर्थं प्रतिपादयति न पुनस्तत्क्रमात्मकं वाक्यमिति तमोविजृम्भितमात्रं, पदेभ्यो हि यावतां पदार्थानां प्रतिपत्तिस्तावन्तस्तदवबोधास्तद्धेतुकाश्च वाक्यार्थावबोधा इति चतुःसन्धानादिवाक्यासिद्धिर्न विरुध्यते।

और यदि आपका यह मन्तव्य होवे कि एक वाक्य एक ही अर्थको कहेगा। यदि अनेक अर्थका तिस वाक्यके द्वारा कथन करना माना जायगा तो वह वाक्य उतने प्रकारका भिन्न भिन्न हो जायगा। यानी दो वाक्य विधि और निषेध दो अर्थोंको कहते हैं। एक नहीं। इसपर आचार्य कहते हैं कि तब तो एक पद भी अनेक अर्थको न कह सकेगा। अनेक अर्थोंको कहनेपर पदको अनेकपनका प्रसंग होगा और तिस प्रकार हो जानेपर जो ही लोक प्रसिद्ध शब्द हैं, वे ही वेदमें गाये गये हैं, उस कथनमें व्याघातदोष होगा। भावार्थ—एक स्थलपर मीमांसकोंने अर्थभेद होनेपर शब्दभेद मान लिया है।

और अन्यमं लौकिक और वैदिक आदि आदिमें शब्दोंको एवं ही कह दिया है। यह व्याघात हुआ। एक पद तो अनेक अर्थोंको प्रतिपादन कर देवे और फिर उन पदोंका क्रमस्वरूप वाक्य अनेक अर्थोंको नहीं कहे ऐसा संकुचित नियम करना केवल गाढ अज्ञान अन्धकारकी चेष्टा करना है। " पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यं " यह वाक्यका लक्षण है। पदोंसे जितने पदार्थोंकी नियमसे प्रतिपत्ति होगी, उतने उनके ज्ञान और उन पदज्ञानोंको हेतु मानकर उत्पन्न होनेवाले वाक्यार्थ ज्ञान उतने माने जावेंगे। इस प्रकार एक पदके या श्लोकके चार सात आदि अर्थोंको करनेवाले चतुःसन्धान सप्तसन्धान आदि वाक्योंकी भी सिद्धि होनेका कोई विरोध नहीं हैं। " श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो वृषभजिनपतिः श्रीद्रुमाङ्कोऽथ धर्मो, हर्यङ्कः पुष्पदन्तो मुनिसुव्रतजिनोऽनंतवाक् श्रीसुपार्श्वः। शान्तिः पद्मप्रभोरो विमलविभुरसौ वर्द्धमानोऽप्यजाङ्को, मल्लिर्नेमिर्नमिर्मां सुमतिरवतु—सच्छ्रीजगन्नाथधीरम्॥ १ ॥ इस कविवर जगन्नाथकृत श्लोकके चौवीस अर्थ हैं। अतः एक पद या एक वाक्यके अनेक अनेक अर्थ हो सकते हैं। कोई बाधा नहीं है।

केवलं पदमनर्थकमेव ज्ञेयादिपदवद्व्यवच्छेद्याभावात् वाक्यस्थस्यैव तस्य व्यवच्छेद्यसद्भावादिति येप्याहुस्तेऽपि शब्दन्यायबहिष्कृता एव, वाक्यस्थानामिव केवलानामपि पदार्थानामर्थवत्त्वप्रतीतेः। समुदायार्थेन तेषामनर्थवत्त्वे वाक्यगतानामपि तदस्तु विशेषाभावात्। पदान्तरापेक्षत्वात्तेषां विशेषस्तन्निरपेक्षेभ्यः केवलेभ्य इति चेत्, न। तस्य सतोऽपि तथा प्रविभागकरणासामर्थ्यात्। न हि स्वयमसमर्थानां वाक्यार्थप्रतिपादने सर्वथा पदान्तरापेक्षायामपि सामर्थ्यमुपपन्नमतिप्रसंगात्, तदा तत्समर्थत्वेन तेषामुत्पत्तेः। केवलावस्थातो विशेष इति चेत्तर्हि वाक्यमेव वाक्यार्थप्रकाशने समर्थं तथा परिणतानां पदानां पदव्यपदेशाभावात्।

जो कोई भी ऐसा कह रहे हैं कि अकेले पदका प्रयोग करना तो व्यर्थ ही है। ज्ञेय, प्रमेय, आदि पदोंके समान अन्य पदोंकी आकांक्षा विना बोले गये घट, पट आदि पद भी व्यर्थ ही हैं। भावार्थ—ज्ञेय पदका जैसे कोई व्यावर्त्य नहीं है। क्योंकि वस्तुभूत पदार्थ कोई ज्ञेयसे बाहर नहीं है। वैसे ही अकेले घट पदका कोई व्यवच्छेद करने योग्य नहीं है। हां! वाक्यमें स्थित होरहे ही उस पदका व्यवच्छेद्य विद्यमान है। तभी वह सार्थक हो सकता है। इस प्रकार कहनेवाले वे भी शब्दके नीतिमार्गसे बहिष्कारको ही प्राप्त होरहे हैं। क्योंकि वाक्यमें स्थित हो रहे पदोंके समान अकेले केवल पदोंको भी अर्थसहितपना प्रतीत हो रहा है। यदि समुदायरूप अर्थकी अपेक्षासे उन केवल पदोंको निरर्थक कहोगे तो वाक्यमें प्राप्त हुए भी पदोंको वह निरर्थकपना हो जाओ। क्योंकि अकेले पदोंसे वाक्यस्थित पदोंमें कोई अन्तर नहीं है। वहां भी वे अपना न्यारा न्यारा अर्थ कह रहे हैं। यदि आप यों कहें कि वाक्यमें पडे हुए वे पद तो अन्य पदोंकी अपेक्षा रखते हैं। जैसे कि "घटमानय" यहां घट पद लाओ की अपेक्षा रखता है और लाओ पद घटकी अपेक्षा रखता है। किन्तु केवल अकेले पद तो अन्य पदोंकी अपेक्षा नहीं रखते। अतः वाक्यगत पदोंका केवल पदोंमें अन्तर है। अब आचार्य

कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि ऐसे उस विशेषके होते हुए भी तिस प्रकारसे स्पष्ट विभाग नहीं किया जा सकता है। किसको किसकी अपेक्षा है, ऐसा नियम तो आजतक कोई हुआ नहीं है। जो पद वाक्यके अर्थको निरूपण करनेमें स्वयं तो सर्वथा असमर्थ माने गये हैं, उनमें अन्य पदोंकी अपेक्षा होते हुए भी कोई नवीन सामर्थ्य नहीं बन सकती है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् केवल अग्नि या जल शब्दकी किसी भी अर्थके प्रतिपादन करनेमें यदि गांठकी शक्ति न मानी जायगी तो " अग्निना सिञ्चति, जलेन दहति " यहां सींचने पदकी अपेक्षासे अग्नि पदका अर्थ जल हो जाओ और दूसरे दाह पदकी अपेक्षासे जल शब्दका अर्थ आग हो जाओ ! जो कि इष्ट नहीं है। यदि कोई यों कहे कि उस समय वाक्यकी अवस्थामें उस वाक्यार्थके प्रतिपादन करनेकी सामर्थ्य युक्तपनेसे उन पदोंकी नवीन उत्पत्ति हो जाती है। अतः केवल अवस्थाके पदसे उन मिले हुए पदोंकी विशेषता है। ऐसा कहनेपर तो वाक्य ही वाक्यके अर्थको प्रकाश करनेमें समर्थ है, यह सिद्ध हुआ। तिस प्रकार एक दूसरेकी आकांक्षा रखते हुए मिलकर परिणति करनेवाले अनेक पदोंके समुदायको वाक्यपनेका व्यवहार है। उनका पदरूपसे व्यवहार नहीं होता है। इस कारण जितना अर्थ पदका निकले, उतने अर्थसे वह पद अर्थवान् है।

यदि पुनरवयवार्थेनानर्थवत्त्वं केवलानां तदा पदार्थाभाव एव सर्वत्र स्यात्। ततोऽन्येषां पदानामभावात्। वाक्येभ्योपोद्धृत्य कल्पितानामर्थवत्त्वं न पुनरकल्पितानां केवलानामिति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ?

यदि फिर तुम अवयवरूप स्वकीय अर्थसे भी केवल पदोंके अर्थवान् न मानोगे, तब तो सब स्थानोंपर पदके अर्थका अभाव ही हो जावेगा। क्योंकि खण्डरूप अवयव अर्थोंको कहनेवाले उन पदोंसे अतिरिक्त दूसरी जातिके पदोंका अभाव है। अवयवकी शक्तियोंसे ही अवयवीकी शक्ति बनती है। जलबिन्दुओंके समुदायसे समुद्र बन जाता है। वाक्योंसे हटाकर उसीमें कल्पना कर लिये गये न्यारे न्यारे पदोंको तो अर्थवान् माना जाय, किन्तु फिर नहीं कल्पना किये गये मुख्य अकेले केवल पदोंको अर्थवान् न माना जाय। इस प्रकार कहनेवाला वादी कैसे स्वस्थ कहा जा सकता है ? भावार्थ—केवल पदोंके सार्थक होते हुए ही वाक्यप्राप्त पदोंको सार्थकपना आसकता है। अन्यथा नहीं। यही नीरोग अवस्था (होश) की बातें हैं। मीमांसकोंको अपने वाचक पदके अनुसार यथार्थनामा होकर अधिक विचारशाली होना चाहिये।

व्यवच्छेद्याभावश्चासिद्धः केवलज्ञेयपदस्याज्ञेयव्यवच्छेदेन स्वार्थनिश्चयनहेतुत्वात्। सर्वं हि वस्तु ज्ञानं ज्ञेयं चेति द्वैराश्येन यदा व्यासमवतिष्ठते तदा ज्ञेयादन्यतामादधानं ज्ञानमज्ञेयं प्रसिद्धमेव ततो ज्ञेयपदस्य तद्व्यवच्छेद्यं कथं प्रतिक्षिप्यते ? यदि पुनर्ज्ञानस्यापि स्वतो ज्ञायमानत्वाज्ज्ञेयत्वमिति मतं, तदा सर्वथा ज्ञानाभावात् कुतो ज्ञेयव्यवस्था ? स्वतो

ज्ञेयं ज्ञानमिति चेत् न, ज्ञायकस्य रूपस्य कर्तृसाधनेन ज्ञानशब्देन वाच्यस्य करण साधनेन वा साधकतमस्य भावसाधनेन च क्रियामात्रस्य कर्मसाधनेन प्रतीयमानाद्रूपाद्भेदेन प्रसिद्धस्त्रेयत्वोपपत्तेः ।

पहिले आपने कहा था कि ज्ञेय आदि पदके समान केवल पदका कोई व्यवच्छेद्य नहीं है। अतः केवल पद बोलना निरर्थक है, सो यह व्यवच्छेद्यका अभाव कहना असिद्ध है। क्योंकि केवल ज्ञेय पदको अज्ञेयके व्यवच्छेद करके अपने अर्थके निश्चय करनेका हेतुपना प्राप्त है। अज्ञेयसे यहां ज्ञान पकडा जाता है। ज्ञानसे भिन्न ज्ञेय होता है। जब कि सम्पूर्ण ही वस्तुएं ज्ञान और ज्ञेय इस प्रकार दो महान् राशिपनेसे व्याप्त होकर जगत्में व्यवस्थित हो रही हैं, तब ज्ञेयके कथञ्चित् भिन्नताको धारण कर रहा ज्ञान अज्ञेयरूपसे प्रसिद्ध ही है। तिस कारण ज्ञेयपदका वह ज्ञान पदार्थ भला व्यवच्छेद्य होता हुआ कैसे निराकृत किया जा सकता है ? यदि फिर तुम्हारा यह मत हो कि ज्ञान भी तो स्वयं अपने आपसे जाना जाता है। अतः अज्ञेय नहीं है, किन्तु ज्ञेय ही है। ऐसी दशामें ज्ञेयका व्यवच्छेद्य ज्ञान नहीं हुआ, तब तो हम कहेंगे कि जब सभी पदार्थ ज्ञेय हो गये तो सभी प्रकार ज्ञान पदार्थके न होनेसे ज्ञेयकी व्यवस्था करना काहेसे कहोगे। बताओ ! यदि तुम यों कहो कि अन्य पदार्थोंकी तो दूसरे ज्ञानसे ज्ञेय व्यवस्था करली जायगी। और वह ज्ञान स्वयं अपने आपसे ज्ञेय हो जायेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि ऐसा माननेपर तो ज्ञेयसे ज्ञान भिन्न सिद्ध हो जाता है। ज्ञा धातुसे कर्त्ता, करण, भाव, और कर्ममें युट् प्रत्यय कर ज्ञान शब्द बनाया जाता है। कर्तामें साधे गये ज्ञान शब्दसे ज्ञायक आत्माका स्वरूप वाच्य होता है। जानातीति ज्ञानं और करणमें निरुक्ति कर साधे गये ज्ञान शब्द करके ज्ञप्तिक्रियाका प्रकृष्ट उपकारक स्वरूप वाच्यअर्थ होता है ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं। तथा भावमें साधे गये ज्ञान शब्दसे केवल ज्ञप्तिरूप क्रियावाच्य होती है ज्ञायते ज्ञानमात्रं वा ज्ञानं। एवं कर्ममें प्रत्यय कर साधन किये गये ज्ञान पदसे ज्ञेयअर्थ वाच्य होता है ज्ञायते यत् तज्ज्ञानं। प्रकरणमें कर्मसे साधे गये ज्ञेयरूपसे कर्त्ता, करण और भावमें साधा गया ज्ञान भिन्न होकर प्रसिद्ध हो रहा है। अतः उस ज्ञानको अज्ञेयपना बन गया। वह ज्ञान केवल ज्ञेयपदका व्यवच्छेद्य हो जाता है। कोई क्षति नहीं है।

कथमज्ञेयस्य ज्ञायकत्वादेर्ज्ञानरूपस्य सिद्धिः ? ज्ञायमानस्य कुतः ? स्वत एवेति चेत्, परत्र समानम्। यथैव हि ज्ञानं ज्ञेयत्वेन स्वयं प्रकाशते तथा ज्ञायकत्वादिनापि विशेषाभावात्। ज्ञेयान्तरायनपेक्षस्य कथं ज्ञायकत्वादिरूपं तस्येति चेत् ज्ञायकाद्यनपेक्षस्य ज्ञेयत्वं कथम् ? स्वतो न ज्ञेयरूपं नापि ज्ञायकादिरूपं ज्ञानं सर्वथा व्याघातात् किन्तु ज्ञानस्वरूपमेवेति चेन्न, तदभावे तस्याप्यभावानुषंगात्। तद्भावेऽपि च सिद्धं ज्ञेयपदस्य व्यवच्छेद्यमिति सार्थकत्वमेव।

कर्ता, करण और भावसे साधे गये ज्ञायकत्व, ज्ञानत्व और ज्ञप्तिपन इन अज्ञेयोंको युट् प्रत्यय वाले ज्ञानस्वरूपकी सिद्धि भला कैसे होगी ? भावार्थ—जो अज्ञेय है, वह ज्ञानस्वरूप कैसे सिद्ध होगा ? ऐसा प्रश्न होनेपर तो हम भी पूंछेंगे कि जानने योग्य ज्ञेयको कर्ममें युट् प्रत्यय करनेपर ज्ञानपना कैसे सिद्ध होगा ? तुम्हीं बताओ ! इसपर तुम यदि यों कहो कि जाने गये ज्ञानको तो स्वतः ही ज्ञानरूपता सिद्ध है। ऐसा कहनेपर तो दूसरोंमें भी यानी ज्ञायक, करणज्ञान और ज्ञप्तिमें भी समानरूपसे अपने आप ज्ञानरूपता सिद्ध हो जाती है। जिस ही प्रकार कि ज्ञान ज्ञेयपनेसे स्वयं निश्चयसे प्रकाश रहा है, तिस ही प्रकार वह ज्ञान ज्ञायक ज्ञप्तिजनक और ज्ञप्तिरूपसे भी स्वयं प्रकाशित हो रहा है। कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई यों कहे कि दूसरे जानने योग्य आदि अर्थोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले ज्ञानके ज्ञायकत्व, ज्ञानत्व आदि स्वरूप भला उस ज्ञानके कैसे कहे जायेंगे ? ऐसा आक्षेप करनेपर तो हम भी कहेंगे कि, ज्ञायक, ज्ञप्ति, और ज्ञानकी नहीं अपेक्षा रखनेवालेके ज्ञेयपना भी कैसे माना जा सकता है ? बताओ ! यदि कोई ज्ञानाद्वैतवादी यों कहे कि ज्ञान न तो स्वयं अपने आप ज्ञेयस्वरूप है और ज्ञायक, ज्ञान, ज्ञप्तिरूप भी नहीं है। क्योंकि सभी प्रकारोंसे व्याघात है। यानी ज्ञानके शुद्ध पूर्ण शरीरमें ज्ञायकपन और ज्ञेयपन धर्मके लिए स्थान नहीं है। यदि ज्ञायकपना या ज्ञेयपना माना जायगा तो ज्ञानपना नहीं ठहर सकेगा। किन्तु वह ज्ञान सर्वांगरूपसे ज्ञानस्वरूप ही है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन ज्ञायक आदि स्वरूपोंके न माननेपर उस ज्ञान स्वरूपके भी अभाव हो जानेका प्रसंग हो जायगा। ज्ञान स्वयं अपनेको अपनेसे जानता हुआ ही ज्ञान बना बैठा है। अन्यथा नहीं। दूसरी बात यह है कि यदि ज्ञानको ज्ञानस्वरूपपनेका ही सद्भाव माना जायगा तो भी वह ज्ञान ज्ञेयपदका व्यवच्छेद्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार व्यवच्छेद्यके सद्भाव होनेपर ज्ञेयपदको सार्थकपना ही है।

ज्ञानं हि स्याद् ज्ञेयं स्याद् ज्ञानम्। अज्ञानं तु ज्ञेयमेवेति स्याद्वादिमते प्रसिद्धं सिद्धमेव कथञ्चिच्चाव्यवच्छेद्यं। न च ज्ञानं स्वतः परतो वा, येन रूपेण ज्ञेयं तेन ज्ञेयमेव येन तु ज्ञानं तेन ज्ञानमेवेत्यवधारणे स्याद्वादिविरोधः, सम्यगेकान्तस्य तथोपगमात्। नाप्यनवस्था। परापरज्ञानज्ञेयरूपपरिकल्पनाभावात् तावदेव कस्यचिदाकांक्षानिवृत्तेः। साकांक्षस्य तु तत्र तत् रूपान्तरकल्पनायामपि दोषाभावात् सर्वार्थज्ञानोत्पत्तौ सकलापेक्षापर्यवसानात्। पराशंकितस्य वा सर्वस्याज्ञेयस्य व्यवच्छेद्यत्ववचनाच्च ज्ञेयपदस्यानर्थकत्वम्। सर्वपदं त्र्यादिसंख्यापदं वानेन सार्थकमुक्तमसर्वस्याद्यादेश्च व्यवच्छेद्यस्य सद्भावात्। न ह्यसर्वशब्दाभिधेयानां समुदायिनां व्यवच्छेदे तदात्मनः समुदायस्य सर्वशब्दवाच्यस्य प्रतिषेधादिष्टापवादः सम्भवति, समुदायिभ्यः कथञ्चिद्भेदात्समुदायस्य। नाप्यद्यादीनां प्रतिषेधे द्व्यादिविधानविरोधः परमसंख्यातोऽल्पसंख्यायाः कथञ्चिदन्यत्वात्। तदेवं विवादापन्नं केवलं पदं सव्यवच्छेद्यं

पदत्वाद्घटादिवत् सव्यवच्छेद्यत्वाच्च सार्थकं तद्वदिति प्रतियोगिव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादने वाक्यप्रयोगवत् पदप्रयोगोऽपि युक्तमवधारणमन्यथानुक्तसमत्वात् । तत्प्रयोगस्यानर्थक्यात् ।

ज्ञान कथञ्चित् ज्ञेय है और कथञ्चित् ज्ञान है । अर्थात् किसी अपेक्षासे ज्ञान अवश्य जानने योग्य है और ज्ञान कथंचित् जाननेवाला ज्ञान भी है । तथा घट, पट आदि अज्ञान तो ज्ञेय ही हैं । इस प्रकार स्याद्वादियोंके सिद्धान्तमें प्रसिद्ध हो रहा वह ज्ञान तो ज्ञेयका कथंचित् व्यवच्छेद्य सिद्ध हो ही जाता है । भावार्थ—सर्वथा अज्ञानरूप ज्ञेयका कथञ्चित् ज्ञान और ज्ञेयरूप होरहा ऐसा ज्ञान पदार्थ व्यवच्छेद्य बन गया । स्याद्वादियोंके यहां इस प्रकारके नियम करनेपर भी कोई विरोध नहीं है कि ज्ञान स्व अथवा परकी अपेक्षासे जाननेवाला होकर जिस स्वभावसे ज्ञेय है, उससे ज्ञेय ही है, और जिस स्वरूपसे ज्ञान है, उससे तो ज्ञान ही है । क्योंकि ऐसे समीचीन एकान्तको तिस प्रकार हम स्याद्वादी स्वीकार कर लेते हैं । तिस कारण अनवस्था भी नहीं होती है । यदि ज्ञानके अंशमें ही ज्ञेयपन और ज्ञानपन माना जाता और उस ज्ञानमें पुनः ज्ञेयपन, ज्ञानपन, माना जाता, ऐसा प्रवाह होनेपर तो अनवस्थादोष हो सकता था । किन्तु जब ज्ञानके ज्ञानपन और ज्ञेयपन स्वभावको सम्यग् एकान्तमुद्रासे कथञ्चित् न्यारा मान लिया है तो पीछे और उसके भी पीछे उत्तरोत्तर दूसरे दूसरे ज्ञान ज्ञेय स्वरूपोंकी धाराबहिनी कल्पना न होनेके कारण तितनेसे ही किसी ज्ञाताकी आकांक्षा निवृत्त हो जाती है । हां ! जिसको आकांक्षा उत्पन्न हो गयी है, उस आकांक्षासहित पुरुषको तो तिस ज्ञानमें उन दूसरे ज्ञान ज्ञेय स्वरूपोंकी कल्पना करनेमें भी कोई दोष नहीं है । दो चार कोटि चलकर आकांक्षा स्वयं ही शान्त हो जाती है । सम्पूर्णरूपसे अर्थका ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर पुनः सम्पूर्ण अपेक्षाओंका अन्त हो जाता है अथवा केवलज्ञान हो जानेपर ज्ञान ज्ञेय स्वरूपोंके जाननेकी आकांक्षा ही नहीं रहती है । सम्पूर्ण ज्ञान ज्ञेयोंका युगपत् प्रत्यक्ष हो जानेसे सभी जिज्ञासाओंका वहां पूर्णरूपसे अवसान हो जाता है । दूसरी बात यह है कि जिस वादीके सम्मुख सब पदार्थोंको ज्ञेय साधा जा रहा है, उसको सम्पूर्ण पदार्थोंके अज्ञेयपनकी आशंका थी । अतः दूसरेसे शंका किये गये सम्पूर्ण अज्ञेयोंको व्यवच्छेद्यपनका कथन करनेसे ज्ञेयपद अनर्थक नहीं है, यानी व्यवच्छेद्य हो जानेसे सार्थक है । इसी प्रकार सर्व पद अथवा दो तीन आदि ये संख्यावाची पद भी सार्थक हैं । यह भी उक्त कथनसे निरूपण कर दिया गया है । क्योंकि सर्वपदका व्यवच्छेद्य असर्व और दो संख्याका व्यवच्छेद्य करने योग्य दो रहित आदि पदार्थ विद्यमान हैं । असर्वपद द्वारा कहे जाने योग्य न्यारे न्यारे एक एक समुदायियोंके पृथक् कर देनेपर उन समुदायियोंसे अभिन्न तदात्मक सर्व शद्ब द्वारा कहे जानेवाले समुदायका निषेध हो जानेसे इष्ट पदार्थका अपवाद नहीं सम्भव है । क्योंकि समुदायियोंसे समुदायका कोई अपेक्षा करके भेद माना गया है । भावार्थ—समुदायसे एक एक व्यक्तिको यदि पृथक् कर दिया जायगा तो समुदायका शरीर ही बिगड जायगा । यह न समझ लेना । क्योंकि समुदायसे समुदायीको कथंचित् न्यारा माना गया है । जैसे

दस रुपयेका नोट होते हुए भी एक रुपयेका निषेध कर दिया जाता है, अथवा एक रुपयेके होनेपर भी पैसा नहीं है, कह दिया जाता है। एवं एक जिनदत्तके होनेपर भी जिनदत्त और इन्द्रदत्त दोनों नहीं है, जैसे यह कह दिया जाता है, उसी प्रकार उभयके होनेपर अकेलेका भी अभाव कह देते हैं। शरीरका हाथ, आमका पत्ता, ये व्यवहार भी तभी सिद्ध होते हैं। अतः एक एक असर्वका निषेध करनेपर सर्वका विधान हो जाता है। तथा संसारके सभी पदार्थ दूसरेको मिलाकर दो बन सकते हैं तथा अन्य दोको मिलाकर सभी वस्तुएं तीन बन जाती हैं। इस प्रकारके वाच्यार्थ को कहनेवाले द्वि, त्रि, चतुः, आदि पद भी अद्वि, अत्रि आदिका निषेध करते हुए दो आदिक की विधि करते हैं। कोई विरोध नहीं है। बडी संख्यासे छोटी संख्याका कथञ्चित् भेद माना गया है। अतः केवलान्वयी पदार्थोंके भी स्याद्वाद परिपाटीके अनुसार व्यवच्छेद्य बन जाते हैं। व्यवच्छेद करनेवाला पद सार्थक हो जाता है। तिस कारण इस प्रकार सिद्धान्त पुष्ट हुआ कि विवादमें पडा हुआ अन्य पदोंसे रहित केवल पद (पक्ष) व्यवच्छेद्यसे सहित है (साध्य)। पदपना होनेसे (हेतु)। जैसे कि घट, पट आदि पद हैं (दृष्टान्त)। इस अनुमानसे व्यवच्छेद्यपना सिद्ध हो जानेपर दूसरे अनुमान द्वारा व्यवच्छेद्य सहितपन हेतुसे केवलपदको सार्थकपना भी उन पट, घट आदिकोंके समान साध लिया जाता है। इस प्रकार अपनेसे भिन्न प्रतियोगियोंकी व्यावृत्ति करके स्वार्थके प्रतिपादन करनेमें जैसे वाक्यका प्रयोग सार्थक है, उसीके समान पदके प्रयोगमें भी एवकार द्वारा अवधारण करना युक्त है। अन्यथा नहीं कहे हुएके समान हो जानेके कारण उस पदका प्रयोग करना व्यर्थ हो जायगा। भावार्थ—वाक्यमें एवकार लगानेके समान पदमें भी अन्य व्यावृत्तिके लिए एवकार लगाना सार्थक है।

अन्ये त्वाहुः सर्वं वस्त्विति शब्दो द्रव्यवचनो जीव इत्यादिशब्दवत्। तदभिधेयस्य विशेष्यत्वेन द्रव्यत्वात्, अस्तीति गुणवचनस्तदर्थस्य विशेषणत्वेन गुणत्वात्। तयोः सामान्यात्मनोर्विशेषाव्यवच्छेदेन विशेषणविशेष्यसम्भवत्वावद्योतनार्थ एवकारः। शुक्ल एव पटः इत्यादिवत्, स्वार्थसामान्याभिधायकत्वाद्विशेषणविशेष्यशब्दयोस्तत्सम्बन्धसामान्यद्योतकत्वोपपत्तेः एवकारस्येति। तेऽपि यदि विशिष्टपदप्रयोगेनैवकारः प्रयोक्तव्य इत्यभिमन्यन्ते स्मृते तदा न स्याद्वादिनस्तेषां नियतपदार्थावद्योतकत्वेनाप्येवकारस्येष्टत्वात्। अथास्त्येव सर्वमित्यादिवाक्ये विशेष्यविशेषणसम्बन्धसामान्यावद्योतनार्थे एवकारोऽन्यत्र पदप्रयोगे नियतपदार्थावद्योतनार्थोऽपीति निजगुस्तदा न दोषः।

अन्यवादी तो ऐसा कहते हैं कि जीव, घट इत्यादि शब्दोंके समान सर्व, वस्तु, ये शब्द भी द्रव्यको कहनेवाले द्रव्यवाची शब्द हैं। क्योंकि इनके द्वारा कहा गया अर्थ विशेष्य होनेके कारण द्रव्य है तथा अस्ति यह शब्द गुणको कहता हुआ गुण शब्द है। वे द्रव्य और गुण दोनों ही सामान्य स्वरूप हैं। यानी एक द्रव्य साधारणरूपसे अनेक गुणोंका आधार बन रहा है और एक गुण भी

जातिमुद्रासे अनेक द्रव्योंमें पाया जाता है। उन सामान्य स्वरूपोंका विशेषरूपसे पृथग्भाव करके विशेषण विशेष्यभाव होरहेपनको प्रगट करनेके लिये एवकार लगाना चाहिये। जैसे कि " शुक्ल एव पटः, द्रोण एव व्रीहिः "धौला ही कपडा है, चार अढैया ही चावल है, इत्यादि स्थलोंपर विशेषण विशेष्योंका कर्मधारय करनेकी योग्यतासे व्यभिचारकी सम्भावनामें एवकार लगाया जाता है। विशेषण शब्द और विशेष्य शब्द दोनों हीं तो अपने अपने अर्थको सामान्यरूपसे कह रहे हैं। उनके सामान्यरूपसे सम्बन्धको द्योतन करनेके लिये एवकारका लगाना आवश्यक है। तभी एवकारको द्योतकपना सध सकेगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जिनका कहना है, वे भी यदि विशिष्ट-पदका उच्चारण करनेपर या सामान्यद्वारा विशेषका स्मरण कर लेनेपर एवकारका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अभिमानपूर्वक मान रहे हैं, यानी सामान्यरूप पदोंके साथ एव लगाना चाहिए। विशेषवाचक पदोंके साथ नहीं लगाना चाहिये। तब तो वे स्याद्वादी नहीं है, क्योंकि उन स्याद्वादियोंने नियमित विशिष्ट पदार्थके प्रगट करनेकी अपेक्षासे भी एवकारका प्रयोग करना इष्ट किया है। भावार्थ—मीमांसक सामान्यरूपसे विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध प्रगट करनेके लिये तो एवकार लगाना माने और विशेष सम्बन्धसे ग्रस्त हो रहे विशिष्ट पदके प्रयोग करनेपर एवकार लगाना न मानें, यह तो कोरा अभिमान मात्र है। जब कि सर्वत्र अन्य व्यावृत्तियां की जा सकती हैं तो सभी वाक्योंमें एवकार लगाना चाहिये और वे यदि " अस्त्येव सर्वं, नीलघटमेवानय " सभी पदार्थ कथञ्चित् हैं ही, नीले घडेको ही लाओ इत्यादि वाक्योंमें तो सामान्यरूपसे विशेषण विशेष्यके सम्बन्धको प्रगट करनेके लिये एवकार लगाना चाहिये। तथा दूसरे स्थलोंपर पदके प्रयोग करनेपर नियमित पदार्थोंके प्रगट करनेके लिये भी एवकार लगाना चाहिये। इस प्रकार कहेंगे तो कोई दोष नहीं है। यह स्याद्वादसिद्धान्तके अनुकूल पडता है।

केन पुनः शब्देनोपात्तोर्थ एवकारेण द्योत्यत इति चेत्, येन सह प्रयुज्यते असाविति प्रत्येयम्। पदेन हि सह प्रयुक्तोऽसौ नियतं तदर्थमवद्योतयति वाक्येन वाक्यार्थमिति सिद्धम्।

फिर किस शब्दके द्वारा कहा जाकर ग्रहण किया गया अवधारणस्वरूप अर्थ एवकारसे द्योतित किया जाता है ? भावार्थ—मृत्तिका आदिकसे निष्पन्न हुआ घट जैसे प्रदीपसे द्योतित हो जाता है। ऐसे ही किस वाचक शब्दसे कथन किया गया नियम करना रूप अर्थ एवकारसे व्यक्त कर दिया जाता है ? बताओ ! ऐसा पूंछनेपर तो हमारी ओरसे यह उत्तर समझ लेना चाहिये कि जिस पद या वाक्यके साथ वह एवकार प्रयुक्त किया जाता है, उसी पद या वाक्यसे कहा जा चुका अर्थ एव निपातसे अभिव्यक्त कर दिया जाता है। जब पदके साथ निश्चयसे वह एव प्रयुक्त किया जायगा तो नियत किये गये उस पदके अर्थको प्रगटित कर देगा। और जब वाक्यके साथ एवकार लगा दिया जायगा तो वाक्यके नियमित अर्थको प्रकाशित कर देवेगा। इस प्रकार अनिष्ट

अर्थकी निवृत्तिके लिये पद और वाक्यमें अवधारण करना चाहिये। यह सिद्धान्त युक्तियोंसे सिद्ध कर दिया गया है।

ननु च सदेव सर्वमित्युक्ते सर्वस्य सर्वथा सत्त्वमसक्तिः सत्त्वसामान्यस्य विशेषणत्वाद्वस्तुसामान्यस्य च विशेष्यत्वात् तत्सम्बन्धस्य च सामान्यादेवकारेण द्योतनात्। तथा च जीवोऽप्यजीवसत्त्वेनास्तीति व्याप्तं स्वप्रतियोगिनो नास्तित्वस्यैवास्तीति पदेन व्यवच्छेदात् जीव एवास्तीत्यवधारणे तु भवेदजीवनास्तिता। नैव सेष्टा प्रतीतिविरोधात्। ततः कथमस्त्येव जीव इत्यादिवत्सदेव सर्वमिति वचनं घटत इत्यारेकायामाह:—

यहां और एक अच्छी शंका है कि " सदेव सर्वं " सम्पूर्ण वस्तु सत् ही है, इस प्रकार एव लगाकर कह चुकनेपर तो सभी प्रकारोंसे सबको सत्पनेका प्रसंग होता है। क्योंकि सामान्यरूपसे सत्पना विशेषण है और सामान्यरूपसे सम्पूर्ण वस्तुएं विशेष्य हैं तथा उन विशेषण और विशेष्योंके सम्बन्धका सामान्यरूपसे एवकार करके द्योतन हो गया है। अतः सबको सर्वथा सत्त्व प्राप्त हुआ और तैसा होनेपर जीव भी अजीवकी सत्तासे सत् (विद्यमान) है, ऐसा प्राप्त हुआ अथवा जीव भी अजीवकी सत्तासे व्याप्त (घिर गया) हो गया। " एव अस्ति " इस प्रकार एव पद करके तो अपने अस्तित्वके प्रतियोगी होरहे नास्तिपनकी ही व्यावृत्ति होगी। जीवमें अजीवके सत्त्वकी व्यावृत्ति तो नहीं हो सकती है और आप जैन यदि जीव ही है, इस प्रकार मध्यमें अवधारण लगाओगे, तब तो अजीव पदार्थकी नास्ति हो जायगी और वह तो इष्ट नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध पडेगा। जीवसे भिन्न घट, पट, आदि अजीवोंकी पशुओंतक को प्रतीति हो रही है। तिस कारण जीव है ही, घट ही है, इत्यादि वचनोंके समान सत् ही सम्पूर्ण हैं, ऐसा जैनोंका प्रयोग करना कैसे युक्तिसिद्ध घटित होगा ? अर्थात् एवकार लगाकर वचनप्रयोग करना नहीं घटता है। इस प्रकार आशंका होनेपर आचार्य महाराज स्पष्टरूपसे उत्तर कहते हैं;—उसको एकाग्रचित्त लगाकर सुनिये समझियेगा।

सर्वथा तत्प्रयोगेऽपि सत्त्वादिप्राप्तिविच्छिदे।
स्यात्कारः संप्रयुज्येतानेकान्तद्योतकत्वतः॥ ५४॥

उस एवकारके प्रयोग करनेपर भी सभी प्रकारोंसे सत्त्व आदिकी प्राप्तिका विच्छेद करनेके लिये वाक्यमें स्यात्कार शद्बका प्रयोग करना चाहिये। क्योंकि वह स्यात् शद्ब अनेकान्तका द्योतक है।

स्यादस्त्येव जीव इत्यत्र स्यात्कारः संप्रयोगमर्हति तदप्रयोगे जीवस्य पुद्गलाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेर्विच्छेदाघटनात् तत्र तथाशद्बेनाभाषितत्वात्। प्रकरणादेर्जीवे पुद्गलास्तित्वव्यवच्छेदे तु तस्याशद्बार्थत्वं तत्प्रकरणादेरशद्बत्वात्। न चाशद्बादर्थप्रतिपत्तिर्भवन्ती शाद्बी युक्तातिप्रसंगात्।

" स्यादस्ति एव जीवः " कथञ्चित् जीव पदार्थ है ही । इस प्रकारके यहां वाक्यमें स्यात् शद्बका भले प्रकार प्रयोग करना योग्य है । यदि " किसी अपेक्षा " इस अर्थको कहने वाले उस स्यात् शद्बका प्रयोग नहीं किया जायगा तो जीवको पुद्गल, आकाश, आदिके अस्तित्वपने करके भी सभी प्रकारोंसे अस्तिपना प्राप्त होगा । तब तो जीवकी पुद्गल आदिसे व्यावृत्ति करना नहीं घटित होगा, किन्तु वहां तिस प्रकार शद्ब करके सत्त्वादिककी प्राप्ति नहीं है। यानी पुद्गल आदिके अस्तित्व करके जीवको अस्तित्व प्राप्त नहीं है। यदि तुम प्रकरण, अवसर, योग्यता आदिसे जीवमें पुद्गल आदिके अस्तित्व आदिकी व्यावृत्ति करोगे, तब तो वह शद्बका वाच्यार्थ नहीं हो सकेगा। क्योंकि उन प्रकरण आदिके द्वारा ऊपर ऊपरसे निकाले गये अर्थ तो शद्बके वाच्य नहीं समझे जाते हैं और वाचक शद्बोंके विना ही हो रही अर्थकी प्रतिपत्ति भला शद्बसे हुयी, यह युक्त नहीं कही जा सकती है । क्योंकि अतिप्रसंग हो जायगा । अर्थात् " गंगायां घोषः " गंगाका वाच्य अर्थ गंगा तीर भी हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है । लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ तो वाच्यार्थ नहीं होते हैं । इस प्रकार " राजेन्द्र भवतः कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन् " यहां प्रकरणसे हन्तिका वाच्यार्थ गच्छति भी निर्दोष हो जाओ । किन्तु ऐसा है नहीं । उक्त वाक्यको तो दोषोंमें परिगणित किया है इस कारण अनेकान्तका द्योतक स्यात् शद्ब लगाना चाहिये ।

नन्वस्तित्वसामान्येन जीवस्य व्याप्तत्वात् पुद्गलाद्यस्तित्वविशेषैरव्याप्तेर्न तत्प्रसक्तिः । कृतकस्यानित्यत्वसामान्येन व्याप्तस्यानित्यत्वविशेषाप्रसक्तिवत् । ततोऽनर्थकस्तन्निवृत्तये स्यात्प्रयोग इति चेन्न, अवधारणवैयर्थ्यप्रसंगात् । स्वगतेनास्तित्वविशेषेण जीवस्यास्तित्वावधारणात् प्रतीयते कृतकस्य स्वगतानित्यत्वविशेषेणानित्यत्ववदिति चेन्न, स्वगतेनेति विशेषणात् परगतेन नैवेति संप्रत्ययादवधारणानर्थक्यस्य तदवस्थत्वात् । न चानवधारणकं वाक्यं युक्तं, जीवस्यास्तित्ववन्नास्तित्वस्याप्यनुषंगात् कृतकस्य नित्यत्वानुषंगवत् ।

किसीकी शंका है कि जब सामान्य अस्तिपने करके जीव व्याप्त हो रहा है और पुद्गल आदिके विशेष अस्तित्वों करके जीव व्याप्त नहीं है तो पुद्गल आदिके अस्तित्वसे जीवके अस्तित्वका वह प्रसंग ही प्राप्त नहीं होता है । जैसे सामान्य अनित्यपने करके कृतक व्याप्त हो रहा है । उसको विशेषरूपसे अनित्यपनका प्रसंग नहीं है । तिस कारण उस अनिष्ट पदार्थोंकी ओरसे आये हुए सत्त्व आदिकी निवृत्तिके लिये तो स्यात् शद्बका प्रयोग करना व्यर्थ ही है । जिसके आम नहीं खाने हैं उसके पेड गिननेमें क्या लाभ है ? अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तब तो अवधारण करनेको व्यर्थ हो जानेका प्रसंग होगा। अर्थात् अन्यकी ओरसे जब अस्तित्वके प्राप्त होनेकी सम्भावना ही नहीं है तो नियम करनेवाला एवकार व्यर्थ ही पडता है । यदि कोई यों कहे कि अपने अपनेमें प्राप्त हुए अस्तित्व विशेषण करके जीवके अस्तित्वका एव पदसे अवधारण किया गया है । लोकमें भी ऐसा प्रतीत हो रहा है । जैसे कि किये गये घट, पट, आदि कृतक

पदार्थोंका अपनेमें प्राप्त हो रहे अनित्यपनरूप विशेषण करके नियमसे अनित्यपना है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो भी न कहना। क्योंकि जब अपनेमें प्राप्त हुए अस्तित्व इस प्रकारके विशेषणसे परमें प्राप्त हुए अस्तित्वसे नहीं ही है, ऐसा भले प्रकार ज्ञान हो ही जायगा, तो फिर अवधारणका व्यर्थपना वैसाका वैसा ही तदवस्थ रहा। किन्तु जिसमें अवधारण नहीं है ऐसे शब्दका बोलना युक्त नहीं है। अन्यथा जीवके अस्तिपनका जैसे विधान होगा, वैसे ही उसी समय जीवके नास्तिपनकी भी सिद्धिका प्रसंग होगा। जैसे कि घट, पट, आदिको कृतकपनेका नियम न करनेपर नित्यपनका प्रसंग हो जाता है।

तत्रास्तित्वस्यानवधृतत्वात्। कृतकेनानित्यत्वानवधारणे नित्यत्ववत्, सर्वेण हि प्रकारेण जीवादेरस्तित्वाभ्युपगमे तत्रास्तित्वनिरासे चावधारणं फलवत्स्यात्। यथा कृतकस्य सर्वेणानित्यत्वेन शब्दघटादिगतेनानित्यत्वाभ्युपगमे तन्नित्यत्वनिरासे च नान्यथा, तथावधारणसाफल्योपगमे च जीवादिरस्तित्वसामान्येनास्ति, न पुनरस्तित्वविशेषेण पुद्गलादिगतेनेति प्रतिपत्तये युक्तः स्यात्कारप्रयोगस्तस्य तादृगर्थद्योतकत्वात्।

तहां कृतकके साथ अनित्यपनका अवधारण नहीं करनेपर नित्यपनेके प्रसंग समान अवधारण नहीं किये गये अस्तित्व होनेके कारण जीवका अन्य पदार्थोंकी अपेक्षासे भी अस्तित्व प्राप्त होगा। यदि सभी प्रकारोंसे जीव आदिकोंका अस्तित्व स्वीकार करोगे और अजीवकी अपेक्षासे उसके नास्तिपनका निराकरण करोगे, तब तो नियम करना सफल हो सकेगा। जिस प्रकार कि कृतकका शब्द, घट, पट आदिमें प्राप्त हुए सम्पूर्ण अनित्यपने करके अनित्यपन माननेपर और उस नित्यत्वके निवारण करनेपर एव लगाना सार्थक होता है। अन्यथा नहीं। तिस प्रकार अवधारणकी सफलताको स्वीकार करनेपर जीव आदिक अस्तित्व सामान्य करके हैं, किन्तु फिर पुद्गल आदिकमें रहनेवाले विशेष अस्तित्व करके तो नहीं हैं। इसकी प्रतीतिके लिये केवल स्यात् इस शब्दका प्रयोग करना युक्त है। क्योंकि उस स्यात्‌को तिस प्रकार ऊपर कहे गये अर्थका द्योतकपना है। भावार्थ—अवधारणके विना वाक्य कहना नहीं कहा गया सरीखा है। और अवधारणकी सफलता स्यात् इस निपातके लगानेपर ही हो सकती है।

ननु च योऽस्ति स स्वायत्तद्रव्यक्षेत्रकालभावैरेव नेतरैस्तेषामप्रस्तुतत्वादिति केचित्, सत्यम्। स तु तादृशोऽर्थः शब्दात्प्रतीयमानः कीदृशात्प्रतीयते इति शब्दव्यवहारचिन्तायां स्यात्कारो द्योतको निपातः प्रयुज्यते तिङन्तप्रतिरूपकः।

पुनः शंका है कि जो भी कोई पदार्थ है, वह अपने आधीन रहनेवाले अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों करके ही है। दूसरेके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकरके वह नहीं है। क्योंकि उन दूसरे द्रव्य आदिका प्रकरणमें कोई प्रस्ताव ही प्राप्त नहीं है। फिर तिस अर्थके द्योतन करनेके लिये वाक्यमें स्यात् पदका बोझ क्यों बढाया जाता है? ऐसा कोई कह रहे हैं, सो ठीक नहीं है।

किन्तु तैसा अर्थ जो शब्दसे प्रतीत हो रहा है । वह किस प्रकारके शब्दसे प्रतीत होगा ? इस प्रकार शब्दजन्य व्यवहारका विचार करनेपर तो स्यात् ऐसे अर्थद्योतक निपातका प्रयोग करना चाहिये । अर्थात् स्यात् शब्दके होनेपर ही परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों करके अस्तित्व प्राप्त होनेका प्रस्ताव नहीं आपाता है । यदि स्यात् न होता तो सभी प्रकारोंसे परकीय अस्तित्वके आपादनको कौन बचा सकता था ? पदार्थोंके पेटमें अन्योन्याभाव अत्यन्ताभाव तदात्मक हो रहे हैं । तभी तो सर्वात्मकता सर्वाधारतारूप साङ्कर्य नहीं हो पाता है । अन्यथा अपना अपना पता पाना ही असम्भव हो जाता । देवदत्तका शरीर अपने अंग उपांगोंमें तभी स्थिर रह सकता है, जब कि परकीय अंग उपांगोंके सम्मिश्रण करनेका उसमें परिणाम नहीं होता है । अदादि गणकी " अस् भुवि " धातुसे लिङ् लकारमें प्रथम पुरुषका एक वचन स्यात् बनता है । यह स्यात् निपात उसके सादृश्यको रखनेवाला लिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है । जैसे कि रात्रौ, हेतौ ये सप्तमी विभक्तिके पदको अनुकरण वाले सुबन्त प्रतिरूपक अव्यय हैं । विहायसा, अन्तरेण, उच्चैः, नीचैः ये तृतीयान्त प्रतिरूपक अव्यय हैं । प्रकृति और प्रत्ययके योगकर साधे गये तिङन्त, सुबन्त पदोंसे अनादिसिद्ध अव्युत्पन्न अव्ययपद न्यारे हैं ।

केन पुनः शब्देनोक्तोनेकान्तः ? स्यात्कारेण द्योत्यत इति चेत्, सदेव सर्वमित्यादिवाक्येनाभेदवृत्त्याऽभेदोपचारेण वेति ब्रूमः । सकलादेशो हि यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु, कालादिभिरभेदवृत्त्या प्रतिपादयत्यभेदोपचारेण वा तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण भेदप्राधान्येन वा तस्य नयायत्तत्वात् ।

आप जैन फिर यह बतलाओ कि किस शब्द करके कहा गया अनेकान्त स्यात् इतने शब्दसे द्योतित कर दिया जाता है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर तो हम स्पष्ट उत्तर कहते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थ सत् ही हैं इत्यादि वाक्यों करके अभेद सम्बन्धसे अथवा अभेदके व्यवहारसे अनेकान्त कहा जाता है । यानी अभेदवृत्ति होनेके कारण एक धर्मके प्रतिपादक शब्दसे अनेक धर्म कह दिये जाते हैं । सम्पूर्ण वस्तुको कथन करनेवाला सकलादेश वाक्य तो काल, आत्मरूप, आदि करके अभेदवृत्ति या अभेदके उपचारसे स्वकीय सम्पूर्ण धर्मोंके साथ तादात्म्यको रखनेवाली वस्तुका युगपत् (एकदमसे) प्रतिपादन कर देता है । क्योंकि वह सकलादेश वाक्य प्रमाणके अधीन होरहा बोला जाता है । भावार्थ—प्रमाण वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंको जानता है । उन अंशोंका वस्तुके साथ काल आदिकी अपेक्षासे तादात्म्य सम्बन्ध हो रहा है । सम्पूर्ण अंशोंका परस्परमें निश्चय और व्यवहारसे द्रव्यरूप करके अभेद वर्त रहा है । और वस्तुके एक अंशको कहनेवाला विकलादेश तो भेदके उपचारसे या भेदकी प्रधानतासे क्रमक्रम करके अशेष धर्मस्वरूपवस्तुको कहता है । क्योंकि उस विकलादेश वाक्यकी प्रवृत्ति नयोंके अधीन है । नयज्ञान क्रमसे एक एक अंशको कहता हुआ ही भिन्नभिन्न वस्तुके अंशोंको दीर्घकालमें कह सकता है । युगपत् नहीं ।

कः पुनः क्रमः किं वा यौगपद्यम् ? यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा तदैकस्य शद्धस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शद्धेनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषरूपस्य प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम् ।

फिर प्रश्न है कि जैनोंका माना हुआ क्रम क्या है ? और युगपत्पना क्या पदार्थ है ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि जिस समय अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मोंकी काल, आत्मरूप, आदि करके भेदकी विवक्षा हो रही है, तब एक शद्धकी भिन्न भिन्न अनेक अर्थोंके समझानेमें शक्ति नहीं है । अतः क्रम माना जाता है । किन्तु जब उन्हीं धर्मोंका काल आदि करके अभेद होनेसे आत्मस्वरूप दृढ कर लिया गया कहा जाता है । तब तो एक शद्ध करके भी एक धर्मका समझाना मुख्य कर उस एक धर्मके साथ तादात्म्यको प्राप्त हो रहे शेषरहित सम्पूर्ण धर्मस्वरूप वस्तुका निरूपण करना सम्भव है । अतः युगपत्पना कहा जाता है । अर्थात् भेदविवक्षा करनेपर वस्तुमें एक एक धर्मका एक एक शद्ध द्वारा क्रमसे कथन होता है और अभेद विवक्षा करनेपर एक शद्ध द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तुका एक ही समयमें युगपत् निरूपण हो जाता है ।

के पुनः कालादयः ? कालः, आत्मरूपं, अर्थः, सम्बन्धः, उपकारो, गुणिदेशः, संसर्गः, शद्ध, इति । तत्र स्याज्जीवादि वस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति, तेषां कालेनाभेदवृत्तिः । यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः । य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः । य एवाविष्वग्भावः कथंचित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एवाशेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः । य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः । य एव च गुणिदेशोऽस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः । य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः । य एव वास्तीतिशद्धोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शद्धेनाभेदवृत्तिः । पर्यायार्थे गुणभावे द्रव्यार्थिकत्वप्राधान्यादुपपद्यते ।

भेद या अभेदके अवच्छेदक वे काल आदिक फिर कौन हैं ? इसका उत्तर यों है कि काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग, और शद्ध इस प्रकार आठ हैं । तिन आठोंमें जीव आदिक वस्तु कथंचित् है ही । इस प्रकार इस पहिले भंगमें जो ही अस्तित्वका काल है, वस्तुमें शेष बचे हुए अनन्तधर्मोंका भी वही काल है । इस प्रकार उन अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मोंकी कालकी अपेक्षासे अभेदवृत्ति हो रही है, तथा सम्पूर्ण अस्तित्व आदि गुण उस एक ही वस्तुके हैं । जैसे एक माताके चार पुत्रोंमें सहोदरपना सम्बन्ध है । जो ही उस वस्तुके गुण होजाना (धर्मपना)

अस्तित्वका अपना स्वरूप है, वही उस वस्तुके गुण होजानापना अन्य अनन्तगुणोंका भी आत्मीयरूप है। वस्तुनिष्ठधर्मितानिरूपितधर्मतावत्त्वं। गुणीवस्तुके आत्मीयरूप अस्तित्व आदि सभी गुण एकसे हैं। इस प्रकार आत्मीय स्वरूपकरके अनन्तधर्मोकी परस्परमें अभेदवृत्ति है २। तथा जो ही आधार होरहा द्रव्य नामक अर्थ अस्तित्व धर्मका है, वही द्रव्य अन्य पर्यायोंका भी आश्रय है। इस प्रकार एक आधाररूप अर्थपनेसे सम्पूर्ण धर्मोके आधेयपनेकी वृत्ति हो रही है ३। एवं जो ही पृथक् पृथक् नहीं किया जासकनारूप कथंचित् तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध अस्तित्वका है। वही अविष्वग्भाव सम्बन्ध बचे हुए सम्पूर्ण विशेष अंशोंका भी है। इस ढंगसे सम्बन्ध द्वारा सम्पूर्ण धर्मोका वस्तुके साथ अभेद वर्त्त रहा है ४। और जो ही अपने अस्तित्वसे वस्तुको अपने अनुरूप रंगयुक्तकर देनारूप उपकार अस्तित्व धर्मकरके होता है, वे ही अपने अपने अनुरूप वस्तुको रंग देना स्वरूप उपकार बचे हुए अन्य गुणों करके भी किया जाता है। इस प्रकार उपकार करके सम्पूर्ण धर्मोका परस्परमें अभेद वर्त्तरहा है ५। तथा जो ही गुणी द्रव्यका देश अस्तित्व गुणने घेर लिया है, वही गुणीका देश अन्य गुणोंका भी निवास स्थान है। इस प्रकार गुणिदेशकरके एक वस्तुके अनेक धर्मोकी अभेदवृत्ति है। जैसे कि दश औषधियोंको घोटकर बनायी गयी गोलीके छोटेसे खण्डमें भी दशों औषधियां हैं ६। और जो ही एक वस्तु स्वरूप करके अस्तित्व धर्मका संसर्ग है, वही शेष धर्मोका भी संसर्ग है। इस रीतिसे संसर्ग करके अभेदवृत्ति हो रही है। पहिला तादात्म्य सम्बन्ध धर्मोकी परस्परमें योजना करने वाला था और यह संसर्ग एक वस्तुमें अशेषधर्मोको ठहरानेवाला है। इसी प्रकार अर्थ पदसे लम्बा चौड़ा अखण्डवस्तु पूरा लिया गया है और गुणिदेशसे अखण्ड वस्तुके कल्पित देशांश ग्रहण किये गये हैं ७। तथा जो ही अस्ति यह शब्द अस्तित्व धर्मस्वरूप वस्तुका वाचक है वही शब्द बचे हुये अनन्त धर्मोके साथ तादात्म्य रखनेवाली वस्तुका भी वाचक है। इस प्रकार शब्दके द्वारा सम्पूर्ण धर्मोकी एक वस्तुमें अभेदरूप प्रवृत्ति हो रही है ८। यह अभेद व्यवस्था पर्यायस्वरूप अर्थको गौण करनेपर और गुणोंके पिण्डरूप द्रव्य पदार्थको प्रधान करनेपर प्रमाण द्वारा बन जाती है। द्रव्यदृष्टिसे सभी गुण, स्वभाव, अंश, पर्यायों और कल्पित धर्मोमें अभेद फैला हुआ दीखता है। कोई पर्यायार्थिक नयको गौणकर और द्रव्यार्थिक नयको प्रधान करते हुये अभेद साध लेते हैं।

द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानां कालादिभिरभेदवृत्तिः अष्टधा सम्भवति। प्रतिक्षणमन्यतोपपत्तेर्भिन्नकालत्वात्। सकृदेकत्र नानागुणानामसम्भवात्। सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसंगात्। तेषामात्मरूपस्य च भिन्नत्वात् तदभेदे तद्भेदविरोधात्। स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात् अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात्। सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात् नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाघटनात्-

तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात् गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात् तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसंगात्। संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गभेदात् तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात्। शब्दस्य च प्रतिविषयं नानात्वात् सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यात्। तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसम्भवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः। क्रियते तदेवाभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यामेकेन शब्देनैकस्य जीवादिवस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकस्योपात्तस्य स्यात्कारो द्योतकः समवतिष्ठते।

किन्तु द्रव्यार्थिकके गौण करनेपर और पर्यायार्थिककी प्रधानता हो जानेपर तो गुणोंकी काल आदि करके आठ प्रकारकी अभेदवृत्ति नहीं सम्भवती है। क्योंकि प्रत्येक क्षणमें गुण भिन्न भिन्न रूपसे परिणत हो जाते हैं। अतः जो अस्तित्वका काल है, वह नास्तित्वका काल नहीं है। भिन्न भिन्न धर्मोंका काल भिन्न भिन्न है। एक समय एक वस्तुमें अनेक गुण (स्वभाव) नहीं पाये जा सकते हैं। यदि बलात्कारसे अनेक गुणोंका सम्भव मानोगे तो उन गुणोंके आश्रय वस्तुका उतने प्रकारसे भेद हो जानेका प्रसंग होगा, यानी जितने गुण हैं, प्रत्येक गुणका एक एक वस्तु आश्रय होकर उतनी संख्यावाली वस्तुएं हो जावेंगी। अतः कालकी अपेक्षा अभेदवृत्ति न हुयी १। तथा पर्यायदृष्टिसे उन गुणोंका आत्मरूप भी भिन्न भिन्न है। यदि अनेक गुणोंका आत्मस्वरूप अभिन्न होता तो उन गुणोंके भेद होनेका विरोध है। एक आत्मस्वरूपवाले तो एक ही होंगे। एक वस्तुमें एक गुण ही उसका तदात्मकरूप हो सकता है, एकके आत्मरूप अनेक नहीं होते हैं। अतः आत्मस्वरूपसे भी अभेदवृत्ति सिद्ध नहीं हुयी २। तथा नाना धर्मोंका अपना अपना आश्रय अर्थ भी नाना है, अन्यथा यानी आधारभूत अर्थ अनेक न होते तो उस विचारे एकको नाना गुणोंके आश्रयपनका विरोध हो जाता। एकका आधार एक ही होता है। अतः अर्थके भिन्न भिन्न हो जानेके कारण उन धर्मोंमें अर्थसे अभेदवृत्ति नहीं है ३। एवं सम्बन्धियोंके भेदसे सम्बन्धका भी भेद देखा जाता है। अनेक सम्बन्धियों करके एक वस्तुमें एक सम्बन्ध होना नहीं घटता है। देवदत्तका अपने पुत्रसे जो सम्बन्ध है, वही पिता, भाई, पितृव्य, आदिके साथ नहीं है। अतः भिन्न पर्यायोंमें सम्बन्धसे अभेदवृत्ति होना नहीं बनता है ४। उन धर्मों करके किया गया उपकार भी वस्तुमें न्यारा न्यारा नियत होकर अनेक स्वरूप है। अतः एक उपकारकी अपेक्षासे होनेवाली अभेदवृत्ति अनेक गुणोंमें नहीं घटित होपाती है ५। प्रत्येक गुणकी अपेक्षासे गुणीका देश भी भिन्न भिन्न है। यदि गुणके भेदसे गुणवाले देशका भेद न माना जायगा तो सर्वथा भिन्न दूसरे अर्थके गुणोंका भी गुणीदेश अभिन्न हो जायगा। अर्थात् देवदत्तके न्यारे न्यारे गुणोंका यदि गुणीदेश न्यारा न्यारा नहीं माना जायगा तो देवदत्त, जिनदत्त, इन्द्रदत्तके न्यारे न्यारे गुणोंका भी गुणीदेश भिन्न मत मानो। जिनदत्तका ज्ञान, सुख आदि इन्द्रदत्तमें प्रविष्ट हो जायगा, किन्तु यह इष्ट नहीं। अतः गुणीदेशसे भी

धर्मोकी अभेदवृत्ति न हो सकी ६ । संसर्ग तो प्रत्येक संसर्गवालेके भेदसे भिन्न ही माना जाता है । यदि सम्बन्धीके भेद होते हुए उस संसर्गका अभेद माना जायगा तो संसर्गियोंके भेद होनेका विरोध है। भावार्थ—सम्बन्धी धर्म यदि न्यारे न्यारे हैं तो उनका संसर्ग एक कैसे भी नहीं हो सकता है। एक गाडीमें दो बैल एक ही स्थानपर एक ही जोडसे नहीं लग सकते । पगडी, कुर्ता, धोती आदिसे स्पृष्ट हो रहे देवदत्तके अवयव न्यारे न्यारे संसर्गवाले हैं। अतः संसर्गसे भी अभेदवृत्ति न हो सकी । दान्तोंका मिश्री, सुपारी, पान, हलुआ, जीभके साथ भिन्न भिन्न प्रकारका संसर्ग है ७ । प्रत्येक विषयकी अपेक्षासे वाचक शब्द नाना होते हैं । यदि सम्पूर्ण गुणोंको एक शब्द द्वारा ही वाच्य माना जायगा, तब तो सम्पूर्ण अर्थोको भी एक शब्द द्वारा निरूपण किये जानेका प्रसंग होगा । ऐसी दशामें भिन्न भिन्न पदार्थोंके लिये न्यारे न्यारे शब्दोंका बोलना व्यर्थ पडेगा । अतः शब्दके द्वारा अभेदवृत्ति नहीं मानी जा सकती है । जब कि वास्तविकरूपसे अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मोकी एक वस्तुमें इस प्रकार अभेदवृत्तिका होना असम्भव है तो अब काल, आत्मरूप, आदि करके भिन्न भिन्न स्वरूप हो रहे धर्मोका अभेद रूपसे उपचार किया जाता है । अर्थात् पर्यायार्थिक नयसे नाना पर्यायोंमें भेद है । क्योंकि एक पर्याय दूसरे पर्यायस्वरूप नहीं है । फिर भी एक वस्तु या द्रव्यकी अनन्तपर्यायोंमें अभेदका व्यवहार कर लिया जाता है । देवदत्तकी पर्यायोंका जिनदत्तकी पर्यायोंके साथ तो उपचारसे भी अभेद नहीं है, क्योंकि वे सर्वथा भिन्न हैं । सत्त्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, जीवत्व आदिकी अपेक्षासे देवदत्त जिनदत्तोंमें हो रहा अभेद भी सादृश्यकी भित्तिपर पोच लटक रहा है । एकत्वकी सांकलसे पुष्ट बंधा हुआ नहीं है विचारनेपर देवदत्त और जिनदत्तके द्रव्यत्व, जीवत्व, आदि सदृश परिणाम भी न्यारे न्यारे जचेंगे । तिस कारण इन अभेदवृत्ति और अभेद उपचारसे एक शब्द करके ग्रहण किये गये अनन्तधर्मात्मक एक जीव आदि वस्तुका कथन किया गया है । उन अनेक धर्मोका द्योतक स्यात्कार निपात भले प्रकार व्यवस्थित हो रहा है । भावार्थ—विकलादेश द्वारा क्रमसे अनेक धर्मोका निरूपण किया जाय अथवा सकलादेश द्वारा युगपत् सम्पूर्ण धर्मोका निरूपण किया जाय । किन्तु अनेकान्तका द्योतक होनेसे स्यात् निपातका प्रयोग करना आवश्यक है । तभी सर्व प्रकारसे सत्त्व आदिकी प्राप्तिका विच्छेद हो सकेगा । अन्य कोई उपाय नहीं है ।

स्याच्छब्दादप्यनेकान्तसामान्यस्यावबोधने ।
शब्दांतरप्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये ॥ ५५ ॥

यद्यपि अकेले स्यात् शब्दसे भी सामान्यरूपसे अनेक धर्मोका द्योतन होकर ज्ञान हो जाता है, फिर भी यहां विशेषरूपसे धर्मोकी प्रतीति होनेके लिये दूसरे अस्ति, नास्ति, आदि शब्दोंका प्रयोग करना आवश्यक है । भावार्थ—ब्राह्मणकौण्डिन्यन्यायसे विशेष धर्मके वाचक शब्दका प्रयोग करना अनिवार्य है । किसी शब्दसे अनेकान्त कहा जाय, तभी तो स्यात् निपात उसका द्योतन कर सकेगा ।

स्यादिति निपातोऽयमनेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु वर्तते, तत्रैकार्थविवक्षा च स्यादनेकान्तार्थस्य वाचको गृह्यते इत्येके। तेषां शद्वान्तरप्रयोगोऽनर्थकः स्याच्छद्वेनैवानेकान्तात्मनो वस्तुनः प्रतिपादितत्वादित्यपरे, तेऽपि यद्यनेकान्तविशेषस्य वाचके स्याच्छद्वे प्रयुक्ते शद्वान्तरप्रयोगमनर्थकमाचक्षते तदा न निवार्यन्ते, शद्वान्तरत्वस्य स्याच्छद्वेन कृतत्वात्। अनेकान्तसामान्यस्य तु वाचके तस्मिन् प्रयुक्ते जीवादिशद्वान्तरप्रयोगो नानर्थकस्तस्य तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थत्वात् कस्यचित्सामान्येनोपादानेऽपि विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्यो वृक्षशद्वाद्वृक्षत्वसामान्योपादानेऽपि धवादि तद्विशेषार्थितया धवादिशद्वविशेषवदिति वचनात्।

स्यात् यह तिङंत प्रतिरूपक निपात अनेकान्त यानी अनेक धर्म और विधि अर्थात् प्रेरणा करना या कार्योंमें प्रवृत्ति कराना तथा विचार करना और विद्या आदि बहुतसे अर्थोंमें वर्त रहा है। तिन अनेक अर्थोंमें एक अर्थकी विवक्षा होगी। अतः स्यात् शद्व अनेक अर्थका वाचक ग्रहण किया गया है। इस प्रकार कोई एक वादी कह रहे हैं। उनके यहां अन्य शद्वोंका प्रयोग करना व्यर्थ पड़ेगा। क्योंकि अकेले स्यात् शद्व करके ही अनेक धर्मस्वरूप पूर्ण वस्तुका प्रतिपादन हो चुका है। इस प्रकार कोई दूसरे वादी एकेके आक्षेपका समाधान कर रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि वे दूसरे भी विशेषरूपसे अनेकान्तको कहनेवाले स्यात् शद्वके प्रयोग करनेपर यदि दूसरे शद्वके बोलनेको व्यर्थ कह रहे हैं, तब तो हम उनको नहीं रोकते हैं। क्योंकि दूसरे शद्वके द्वारा होने योग्य प्रयोजनको स्यात् शद्वने ही साध दिया है। ऐसी दशामें दूसरे शद्वका प्रयोग करना अवश्य ही व्यर्थ है। किन्तु सामान्यरूपसे अनेकान्तके वाचक उस स्यात् शद्वके प्रयोग करनेपर तो दूसरे जीव, अस्ति, आदि शद्वोंका प्रयोग करना व्यर्थ नहीं है। क्योंकि वह विशेषरूपसे प्रतिपत्ति करनेके लिये है। किसी भी पदार्थका सामान्यरूपसे कथन किये जानेपर भी विशेष अर्थकी प्राप्तिको चाहनेवाले पुरुष करके विशेषका पीछे अवश्य प्रयोग करना चाहिये। देखो ! सामान्यवाची वृक्ष शद्वसे वृक्षपन सामान्यका ग्रहण होनेपर भी उस वृक्षके विशेष धव, खैर, पपिल आदिकी अभिलाषुकतासे जैसे धव आदि विशेष शद्वोंका प्रयोग करना आवश्यक कहा गया है, इसी प्रकार प्रकरणमें स्यात्के साथ उद्योतक विशेष पदोंका उच्चारण करना अवश्यंभावी है।

भवतु नाम द्योतको वाचकश्च स्याच्छद्बोऽनेकान्तस्य तु प्रतिपदं प्रतिवाक्यं चाऽश्रूयमाणः समये लोके च कुतस्तथा प्रतीयत इत्याह;—

स्यात् यह शद्व अनेकान्तका द्योतक हो जाओ ! अथवा भले ही वाचक हो जाओ ! हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु शास्त्रमें और लोकमें प्रत्येक पद और प्रत्येक वाक्यके साथ जुड़ा हुआ तो नहीं सुना जा रहा है। हजारों पद या वाक्य तो एव या स्यात् शद्व लगाये बिना बोले, सुने, जा रहे हैं। फिर तैसा होनेपर वह स्यात् शद्व कैसे तिस प्रकारका प्रतीत होगा ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

**सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते ।
तथैवकारो योगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥ ५६ ॥**

वह स्यात् शब्द प्रत्येक वाक्य या पदमें नहीं बोला गया भी होता हुआ सभी स्थलोंपर स्याद्वादको जाननेवाले पुरुषों करके प्रकरण आदिकी सामर्थ्यसे प्रतीत कर लिया जाता है । जैसे कि अयोग अन्ययोग और अत्यन्तायोगका व्यवच्छेद करना है प्रयोजन जिसका, ऐसा एवकार बिना कहे हुए भी प्रकरणवश समझ लिया जाता है ।

यथा चैत्रो धनुर्धरः पार्थो धनुर्धरः नीलं सरोजं भवतीत्यत्रायोगस्यान्ययोगस्यात्यन्तायोगस्य च व्यवच्छेदायाप्रयुक्तोप्येवकारः प्रकरणविशेषसामर्थ्यात् तद्विद्भिरवगम्यते, तस्यान्यत्र विशेषणेन, विशेष्येण, क्रियया, च सह प्रयुक्तस्य तत्फलत्वेन प्रतिपन्नत्वात् । तथा सर्वत्र स्यात्कारोऽपि सर्वस्यानेकान्तात्मकत्वव्यवस्थापनसामर्थ्यादेकान्तव्यवच्छेदाय किं न प्रतीयते। न हि कश्चित्पदार्थो वाक्यार्थो वा सर्वथैकान्तात्मकोऽस्ति। प्रतीतिविरोधात्। कथञ्चिदेकान्तात्मकस्तु सुनयापेक्षोऽनेकान्तात्मक एव ततो युक्तः प्रमाणवाक्ये नयवाक्ये च सप्तविकल्पे स्यात्कारस्तदर्थे शब्दान्तरं वा श्रूयमाणं गम्यमानं वावधारणवत् ।

जैसे " चैत्रो धनुर्धरः " विद्यार्थी चैत्र धनुषको धारण कर रहा है । इस वाक्यमें चैत्र धनुषको ही धारण करता है, या धनुषधारी ही है । इस प्रकार धनुषके अयोगका व्यवच्छेद करनेवाला एवकार विशेष प्रकरणकी सामर्थ्यसे जान लिया जाता है । अर्थात् चैत्रो धनुर्धर एव, चित्राका पुत्र चैत्र धनुषको ही धारण कर रहा है । खड्ग बन्दूक आदिको नहीं। यह अयोग व्यवच्छेद तो विधेय या विशेषणके साथ लगे हुए एवकारसे हुआ। तथा " पार्थो धनुर्धरः " अर्जुन धनुषका धारी है । इस वाक्यमें एव नहीं लगाया गया है । फिर भी अर्जुन ही धनुषका धारी है। इस प्रकार अन्य व्यक्तियोंमें धनुषधारीपनके योगका व्यवच्छेद करनेवाला एवकार प्रकरणके अनुसार लग जाता है । अर्थात् पार्थ एव धनुर्धरः, अनेक योद्धाओंके मध्यमें अर्जुन वीर ही धनुषको धारण किये हुए है, अन्य भट नहीं। इस प्रकार विशेष्य या उद्देश्यके साथ लगे हुए एवकारसे अन्ययोगकी व्यावृत्ति हुयी । और तीसरा " नीलं सरोजं भवति " नीला कमल होता है । इस वाक्यमें नील कमल होता ही है । इस प्रकार कमलमें नीलेपनेके अत्यन्त अयोगको व्यवच्छेद करनेवाला एवकार प्रकरणसे जान लिया जाता है । भावार्थ—नीलं सरोजं भवत्येव इस वाक्यमें क्रियाके साथ एव लगाकर नील कमलके सर्वथा न होनेकी व्यावृत्ति की गयी है । अतः नहीं बोले गये भी तीनों एवकार प्रकरणके अनुसार जैसे विद्वान् पुरुषों करके उन तीनोंके व्यवच्छेदके लिये अर्थापत्तिकी सामर्थ्यसे जान लिये जाते हैं। क्योंकि अन्यस्थलोंपर विशेषण और विशेष्य तथा क्रियाके साथ प्रयुक्त किये गये उस एवकारका उन अयोग व्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद, और अत्यन्तायोगव्यवच्छेदरूप फलपने करके सम्बन्ध

(व्याप्ति) जाना जा चुका है। तिसी प्रकार सभी स्थलोंपर नहीं बोला गया भी स्यात्कार सभी पदार्थोंके अनेकान्तात्मकपनेकी व्यवस्था करा चुकनेकी सामर्थ्यसे एकान्तके व्यवच्छेद करनेके लिये क्यों नहीं प्रतीत हो जायगा ? अर्थात् एवके समान स्यात्कार भी बोलो चाहे न बोलो ! प्रतीत हो ही जाता है। संसारमें कोई भी पदका अर्थ अथवा वाक्यका अर्थ ऐसा नहीं है, जो सभी प्रकारोंसे एकान्तस्वरूप ही होवे। क्योंकि सर्वथा एकान्त माननेपर लोकमें आबाल वृद्ध प्रसिद्ध हो रही प्रमाण-सिद्ध प्रतीतियोंसे विरोध आवेगा। हां ! सुनयोंकी अपेक्षासे अर्पित किया गया कथंचित् एकान्त स्वरूप पदार्थ या वाक्यार्थ तो अनेकान्तस्वरूप ही है। क्योंकि सुनय अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखती है, तिस कारण अस्ति, नास्ति आदि सात भेदवाले प्रमाणबोधक वाक्य और नयवाक्यमें स्यात् यह शद्ब लगाना युक्त है। अथवा उस स्यात् शद्बके लिये दूसरा कोई कथञ्चित् आदि शद्ब चाहे वह कण्ठोक्त कहा गया या सुना जा चुका हो अथवा अर्थापत्तिसे अनुमान द्वारा समझ लिया गया हो। अवधारण करनेवाले एवकारके समान वह प्रत्येक पद और वाक्यमें जोड देना चाहिये।

किं पुनः प्रमाणवाक्यं किं वा नयवाक्यम् ? सकलादेशः प्रमाणवाक्यं विकलादेशो नयवाक्यमित्युक्तम्। कः पुनः सकलादेशः को वा विकलादेशः ? अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपादनं सकलादेशः, एकधर्मात्मकवस्तुकथनं विकलादेश इत्येके, तेषां सप्तविध-प्रमाणनयवाक्यविरोधः। सत्त्वासत्त्वावक्तव्यवचनानामेकैक धर्मात्मजीवादिवस्तुप्रतिपादनप-राणां सर्वदा विकलादेशत्वेन नयवाक्यतानुषंगात् क्रमार्पितोभयसदवक्तव्यासदवक्तव्यो-भयावक्तव्यवचनानां चानेकधर्मात्मकवस्तुप्रकाशिनां सदा सकलादेशत्वेन प्रमाणवाक्यता-पत्तेः। न च त्रीण्येव नयवाक्यानि चत्वार्येव प्रमाणवाक्यानीति युक्तं सिद्धान्तविरोधात्।

फिर आप स्याद्वादी यह बतलाओ ! कि प्रमाणवाक्य क्या है ? और आपके यहां नयवाक्य क्या है ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंको कथन करनेवाला सकलादेश सो प्रमाणवाक्य है और वस्तुके विकल होरहे थोडे अंशको कहनेवाला विकलादेश नयवाक्य है। इस बातको पहिले भी हम कह चुके हैं। अब फिर प्रश्न है कि वह सकलादेश क्या है ? और विकलादेश क्या है ? बताओ ! इसके उत्तरमें कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि अनेक धर्मोंके साथ तदात्मक हो रही वस्तुका निरूपण करना सकलादेश है और एक धर्मस्वरूप वस्तुका निरूपण करना विकलादेश है। इस पर आचार्य कहते हैं कि उनके यहां सात प्रकारके प्रमाणवाक्य और सात प्रकारके नयवाक्य बोलनेका विरोध हो जायगा। सात भंगोंमेंसे सत्त्व, असत्त्व, और अवक्तव्य इन अकेले अकेले तीन वचनोंको विकलादेशी हो जानेके कारण नयवाक्यपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि ये तीन वचन एक एक धर्मस्वरूप जीव आदि वस्तुके प्रतिपादन करनेमें सदा तत्पर हो रहे हैं। अतः स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार प्रमाण सप्तभंगीमें इन तीनको भी प्रमाणवाक्यपना सिद्ध है।

सकलादेशके लक्षणमें अव्याप्तिदोष हुआ। तथा सात भंगोंमेंसे क्रमसे विवक्षित किया गया उभय, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्त्यनास्त्यवक्तव्य ये चार वाक्य सदा ही अनेक धर्मस्वरूप वस्तुके प्रकाशक हैं। अतः सकलका आदेश करनेवाले होनेके कारण प्रमाणवाक्य बन बैठेंगे। नयवाक्य नहीं हो सकेंगे। जैनसिद्धान्तके अनुसार उक्त पिछले चार वाक्योंको भी नयवाक्य माना गया है। अतः विकलादेशके लक्षणकी अव्याप्ति हुयी। लक्षणकी सम्पूर्ण लक्ष्यमें गति न हुयी और अलक्ष्यमें चले जानेसे अतिव्याप्ति होना भी सम्भव है। अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन ही नयवाक्य हैं तथा उभय, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्त्यनास्त्यवक्तव्य ये चार ही प्रमाणवाक्य हैं। यह नियम करना तो युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि ऐसा नियम करनेपर सिद्धान्तसे विरोध होता है। सिद्धान्तमें सातोंको नयवाक्य और सातोंको प्रमाणवाक्य भी सिद्ध किया है। अतः सकलादेश विकलादेशका पूर्वोक्त लक्षण ठीक नहीं है।

धर्मिमात्रवचनं सकलादेशः धर्ममात्रकथनं तु विकलादेश इत्यप्यसारं, सत्त्वाद्यन्यतमेनापि धर्मेणाविशेषितस्य धर्मिणो वचनासम्भवात्। धर्ममात्रस्य क्वचिद्धर्मिण्यवर्तमानस्य वक्तुमशक्तेः। स्याज्जीव एव स्यादस्त्येवेति धर्मिमात्रस्य च धर्ममात्रस्य वचनं संभवत्येवेति चेत् न, जीवशब्देन जीवत्वधर्मात्मकस्य जीववस्तुनः कथनादस्ति शब्देन चास्तित्वस्य क्वचिद्विशेष्ये विशेषणतया प्रतीयमानस्याभिधानात्। द्रव्यशब्दस्य भावशब्दस्य चैवं विभागाभाव इति चेन्न, तद्विभागस्य नामादिसूत्रे प्ररूपितत्वात्। येऽपि पाचकोऽयं पाचकत्वमस्येति द्रव्यभावाभिधायिनोः शब्दयोर्विभागमाहुस्तेषामपि न पाचकत्वधर्मादविशेष्यः पाचकशब्दाभिधेयोऽर्थः सम्भवति, नापि पाचकानाश्रितः पाचकत्वधर्म इत्यलं विवादेन।

केवल धर्मीको कथन करनेवाला वाक्य सकलादेश है और केवल धर्मको कथन करना तो विकलादेश है, इस प्रकार लक्षण करना भी साररहित है। क्योंकि अस्तित्व, नास्तित्व, आदि अनेक धर्मोंमेंसे एक भी किसी धर्मसे नहीं विशिष्ट किये गये कोरे धर्मीका कथन करना असम्भव है अर्थात् सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित शुद्ध धर्मीका निरूपण हो नहीं सकता है। किसी न किसी धर्मसे युक्त ही धर्मीका कथन किया जा सकता है। धर्मवालेको ही धर्मी कहते हैं। अतः सकलादेशके इस लक्षणमें असम्भव दोष आया। इसी प्रकार किसी भी धर्मीमें नहीं वर्तते हुए केवल शुद्ध धर्मका भी निरूपण नहीं किया जा सकता है। धर्मीमें रहनेवाला ही धर्म कहा जा सकता है। अतः विकलादेशका लक्षण भी असंभवदोषसे ग्रस्त है। यहां कोई कटाक्ष करते हैं कि कथञ्चित् जीव ही है। इस प्रकार केवल जीवद्रव्यस्वरूप धर्मीको कहनेवाला वचन विद्यमान है और कथञ्चित् है ही, ऐसे केवल अस्तित्व धर्मको कहनेवाला वाक्य भी सम्भवता है। फिर आप जैन केवल धर्मीके प्रतिपादक वाक्य और केवल धर्मप्रतिपादक वाक्यका निषेध कैसे करते हो? आचार्य कहते हैं कि यह तो

नहीं कहना। क्योंकि धर्मी वाचक जीव शब्द करके प्राणधारणरूप जीवत्व धर्मसे तदात्मक होरही जीव वस्तु कथन की गयी है। केवल धर्मीका ही कथन नहीं। और धर्मवाचक अस्ति शब्द करके किसी विशेष्यमें विशेषण होकर प्रतीत किये जारहे ही अस्तित्वका निरूपण किया गया है। कोरे अस्तित्वधर्मका नहीं। पुनः यदि कोई यों कहे कि इस ढंगसे तो द्रव्यवाचक शब्द और भाववाचक शब्दोंका विभाग न हो सकेगा। क्योंकि आप जैनोंके वर्तमान कथनके अनुसार सभी द्रव्योंके साथ साथ भाव भी कहे जाते हैं और भाव भी द्रव्यमें तदात्मक होते हुए ही बोले जाते हैं। आचार्य कहते हैं सो यह तो न कहना। क्योंकि द्रव्यशब्द और भावशब्दके विभागको " नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः " इस सूत्रके भाष्यमें निरूपण कर चुके हैं। भावकी उपाधिसे युक्त द्रव्यकी प्रधानतासे बोले गये शब्द द्रव्यशब्द हैं और द्रव्यमें विशेषण हो रहे भावकी प्रधानतासे कहे गये भावशब्द हैं। इसका विशेष ऊहापोह नाम आदि सूत्रमें देख लेना। जो भी कोई विद्वान् द्रव्यवाचक शब्द और भाववाचक शब्दोंके विभागको इस प्रकार कहते हैं कि यह पाचक है। यहां पाचक (रसोइया) शब्द विशेष जीव द्रव्यका वाचक है। क्योंकि नैयायिकोंके यहां प्रथमान्त शब्दको मुख्य रूपसे विशेष्य बनाकर शाब्दबोध होता है। पाचक द्रव्य प्रथमान्त होकर मुख्य विशेष्य है तथा इस मनुष्यको (का) पाचकपना है। यहां मनुष्य तो गौण हो जाता है और प्रथमान्त होनेके कारण पाचकपना धर्म प्रधान हो जाता है। अतः पाचक शब्द द्रव्यवाचक है और पाचकत्व शब्द भाववाचक है, इस प्रकार जो नैयायिक कह रहे हैं, उनके यहां भी पाचकत्व धर्मसे नहीं विशिष्ट होता हुआ केवल पाचक अर्थ तो पाचकशब्दका वाच्य हो ही नहीं सकता है और पाचकरूप आधारमें नहीं आश्रित होता हुआ कोरा पाचकत्व धर्म भी कोई पदार्थ नहीं है। अलीक है। अर्थात् पाचक द्रव्यमें पाचकत्वभाव घुसा हुआ कहा जा रहा है। और पाचकद्रव्य तो पाचकत्वके साथ तदात्मक होरहा बोला जा रहा है। द्रव्य और भावके सर्वथा भेदका खण्डन किया जा चुका है। इस प्रकरणमें विवाद करनेसे अब कुछ साध्य नहीं है। न्याययुक्त बातको स्वीकार कर लेना चाहिये।

सदादिवाक्यं सप्तविधमपि प्रत्येकं विकलादेशः समुदितं सकलादेश इत्यन्ये, तेऽपि न युक्त्यागमकुशलास्तथा युक्त्यागमयोरभावात्। सकलाप्रतिपादकत्वात् प्रत्येकं सदादिवाक्यं विकलादेश इति न समीचीना युक्तिस्तत्समुदायस्यापि विकलादेशत्वप्रसंगात्। न हि सदादिवाक्यसप्तकं समुदितं सकलार्थप्रतिपादकं सकलश्रुतस्यैव तथाभावप्रसिद्धेः। एतेन सकलार्थप्रतिपादकत्वात् सप्तभंगीवाक्यं सकलादेश इति युक्तिरसमीचीनोक्ता, हेतोरसिद्धत्वात्। सदादिवाक्यसप्तकमेव सकलश्रुतं नान्यस्तद्व्यतिरिक्तस्याभावात्। अतो न हेतोरसिद्धिरिति चेन्न, एकानेकादिसप्तभंगात्मनो वाक्यस्याश्रुतत्वप्रसंगात्, सकलश्रुतार्थस्य सदादिसप्तविकल्पात्मकवाक्येनैव प्रकाशनात् तस्य प्रकाशितप्रकाशनतयानर्थकत्वात्। तेन सत्त्वादिधर्मसप्तकस्यैव प्रतिपादनादेकत्वादिधर्मसप्तकस्य चैकानेकादिसप्तविशेषात्मकवाक्येन

कथनात् न तस्यानर्थक्यादश्रुतत्वप्रसंग इति चेन्न, तस्य सकलादेशत्वाभावापत्तेरनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽप्रतिपादनात् ।

अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मोंको कहनेवाले सातों भी वाक्य यदि प्रत्येक अकेले बोले जांय, तब तो विकलादेश है। और सातों भी इकड्ठे समुदित कहे जांय तो सकलादेश है। इस प्रकार दूसरे अन्य वादी कह रहे हैं। वे वादी भी युक्ति और शास्त्रमार्गमें प्रवीण नहीं हैं। क्योंकि तिस प्रकार करके आपके कहे गये अनुसार युक्ति और आगम दोनोंका अभाव है। देखिये ! सम्पूर्ण वस्तुका प्रतिपादक न होनेके कारण प्रत्येक बोला गया अस्तित्व, नास्तित्व, आदि धर्मको कहनेवाला वाक्य विकलादेश है। इस प्रकारकी युक्ति अच्छी नहीं है। क्योंकि यों तो उन सातों वाक्योंके समुदायको भी विकलादेशपनका प्रसंग होगा। अस्तित्व आदि सातों वाक्य भी समुदित होकर सम्पूर्ण वस्तुभूत अर्थके प्रतिपादक नहीं हैं। सम्पूर्ण द्वादशांग शास्त्र ही वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंको तिस प्रकार प्रतिपादन करनेवाला प्रसिद्ध हो रहा है। अतः विकलादेशके लक्षणकी अतिव्याप्ति हुई। इस कथनसे सातों भंगोंका समुदायरूप वाक्य (पक्ष) सकलादेश है (साध्य)। संपूर्ण अर्थका प्रतिपादक करानेवाला होनेसे (हेतु) यह युक्ति भी अच्छी नहीं है, ऐसा कह दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि हेतुको असिद्धपना है। अर्थात् केवल सप्तभंगी वाक्यमें ही संपूर्ण अर्थका प्रतिपादकपना नहीं है, यदि यहां कोई यों कहे कि अस्तित्व, नास्तित्व, आदि सात वाक्योंका समुदाय ही तो संपूर्ण श्रुतज्ञान है। उससे अन्य कोई न्यारा शास्त्र नहीं है। क्योंकि अस्तित्व, आदि सातसे भिन्न कोई वस्त्वंश शेष नहीं बचता है। इस कारण हेतु असिद्ध नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तब तो एक अनेक, नित्य अनित्य, वक्तव्य अवक्तव्य, आदि धर्मोंके सप्तभंगस्वरूप वाक्योंको अश्रुतपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रके अर्थका अस्तित्व, आदि सात प्रकार स्वरूप वाक्य करके ही प्रकाशन कर दिया जा चुका है। तब उस एक अनेक, आदि सप्तभंग स्वरूप वाक्यको प्रकाशित किये जा चुके पदार्थका प्रकाशक होनेके कारण व्यर्थपना प्राप्त होता है। यानी अस्तित्व आदि सात वाक्योंने जिस अर्थको पहिले प्रकाशित कर दिया है, उसीका दुबारा प्रकाश एक अनेक आदि सप्तभंगी वाक्यने किया है। यदि कोई यों कहे कि तिस अस्तित्व आदि सप्तभंगीके प्रतिपादक वाक्यने तो अस्तित्व आदि सात धर्मोंका ही निरूपण किया है और एकत्व अनेकत्व, आदि सात धर्मोंका तो एक, अनेक, उभय, आदि विशेषरूप सात वाक्यों करके निरूपण किया गया है। अतः व्यर्थ होनेके कारण उस एकत्व आदि सात भंगी वाक्यको श्रुत रहितपनेका प्रसंग नहीं है। सिद्धान्ती कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तब तो उस सत् आदि सप्तभंग आत्मकको सकलादेशपनके अभावकी आपत्ति हो जायगी। कारण कि अनन्तधर्मस्वरूप वस्तुका निरूपण उससे नहीं हो पाया। केवल अस्तित्व नास्तित्वका ही कथन किया गया। शेष अनन्त धर्मोंका कथन तो एक, नित्य, तत्, आदिकी सप्तभंगीसे हो सकेगा।

यदि पुनरस्तित्वादिधर्मसप्तकमुखेनाशेषानन्तसप्तभंगीविषयानन्तधर्मसप्तकस्वभावस्य वस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्त्याभेदोपचारेण प्रकाशनात्सदादिसप्तविकल्पात्मकवाक्यस्य सकलादेशत्वसिद्धिस्तदा स्यादस्त्येव जीवादिवस्त्वित्यस्य सकलादेशत्वमस्तु । विवक्षितास्तित्वमुखेन शेषानन्तधर्मात्मनो वस्तुनस्तथावृत्त्या कथनात् । स्यान्नास्त्येवेत्यस्य च नास्तित्वमुखेन, स्यादवक्तव्यमेवेत्यस्यावक्तव्यत्वमुखेन, स्यादुभयमेवेत्यस्य च क्रमार्पितोभयात्मकत्वमुखेन, स्यादस्त्यवक्तव्यमेवेत्यस्य चास्त्यवक्तव्यमुखेन, स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेवेत्यस्य च नास्त्यवक्तव्यत्वमुखेन स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यस्य चोभयावक्तव्यत्वमुखेनेति प्रत्येकं सप्तानामपि वाक्यानां कुतो विकलादेशत्वम् ?

यदि फिर किसीका यह विचार हो कि अस्तित्व आदि सातों धर्मकी प्रमुखतासे शेष बचे हुए अनन्त सप्तभंगियोंके विषयभूत अनन्त संख्यावाले सातों धर्मस्वरूप वस्तुका काल, आत्मरूप, आदि द्वारा अभेदवृत्ति या भेदउपचार करके प्ररूपण होता है । इस कारण अस्तित्व, नास्तित्व, आदि सप्तभेद स्वरूप वाक्यको सकलादेशपना सिद्ध हो जाता है । ऐसा विचार होनेपर हम कहेंगे कि तब तो " स्यात् अस्ति एव जीवादि वस्तु " किसी अपेक्षासे जीवादि वस्तु है ही । इस प्रकार इस एक भंगको सकलादेशपन हो जाओ ! क्योंकि विवक्षा किये गये एक अस्तित्व धर्मकी प्रधानता करके शेष बचे हुए अनन्तधर्मस्वरूप वस्तुका निस प्रकार अभेदवृत्ति या अभेद उपचारसे कथन कर ही दिया गया है और " स्यातनास्ति एव " इस अकेले वाक्यको भी सकलादेशीपन हो जाओ । यहां नास्तित्वके मुखकर पूर्णांग वस्तुका कथन कर दिया है । तीसरा भंग कथञ्चित् अवक्तव्य ही है । यहां अवक्तव्यको मुख्यकर सर्वांग वस्तुका प्ररूपण किया है । चौथे " स्यात् उभय " ही है । इस वाक्यको क्रमसे विवक्षित किये गये उभयस्वरूपपन धर्मकी मुख्यतासे सकलादेशपन हो जाओ । एवं स्यात् (कथंचित्) अस्ति होकर अवक्तव्य ही है । इस पांचवें अकेले भंगको ही अस्ति अवक्तव्यपन मुख करके सम्पूर्ण वस्तुका प्रतिपादकपन होनेका कारण सकलादेशत्व हो जाओ । और छठे " कथञ्चित् नास्ति होकर अवक्तव्य ही है । " ऐसे इस वाक्यको नास्त्यवक्तव्यपन धर्मकी प्रमुखतासे पूरे वस्तुका निरूपकपना है । अतः यह अकेला छठा वाक्य सकलादेश बन बैठो । तथा कथञ्चित् अस्ति नास्तिका उभय होकर अवक्तव्य ही है । इस सातवें भंगको उभयावक्तव्यपन धर्मकी प्रमुखतासे सर्वांग वस्तुका कथक्कड होनेके कारण सकलादेश वाक्यपन प्राप्त हो जायगा । इस प्रकार प्रत्येक प्रत्येक सातों भी वाक्योंको क्यों विकलादेशपन है ? अकेले अकेले भी ये वाक्य अभेदरूपसे जब पूर्ण वस्तुको प्रतिपादन कर रहे हैं, तब तो आपके विचारानुसार सकलादेश कहे जाने चाहिये ।

प्रथमेनैव वाक्येन सकलस्य वस्तुनः कथनात् द्वितीयादीनामफलत्वमिति चेत्, तदाप्येकसप्तभंग्या सकलस्य वस्तुनः प्रतिपादनात् परासां सप्तभंगीनामफलत्वं किं न भवेत् ?

प्रधानभावेन स्वविषयधर्मसप्तकस्वभावस्यैवार्थस्यैकया सप्तभंग्या प्रकथनात्, स्वगोचरधर्मसप्तकान्तराणामपराभिः सप्तभंगीभिः कथनाच्च तासामफलत्वमिति चेत्, तर्हि प्रथमेन वाक्येन स्वविषयैकधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रधानभावेन कथनात् द्वितीयादिभिः स्वगोचरैकधर्मात्मकस्य प्रकाशनात् कुतस्तेषामफलता ?

पहिले ही " स्यात् अस्ति एव " इस वाक्य करके जब सम्पूर्ण वस्तुका कथन किया जा चुका है तो दूसरे आदि छह वाक्य निष्फल हैं। इस प्रकार यदि कहोगे तो भी एक सप्तभंगी करके ही सम्पूर्ण वस्तुका निरूपण हो जाता है। ऐसी दशामें अन्य सप्तभंगियोंका कथन करना निष्फल क्यों न होगा ? इसपर कोई यदि यों कहे कि अपने अपने विषयभूत सातों धर्मस्वरूप अर्थका प्रधानरूपसे एक सप्तभंगी करके स्पष्ट कथन किया जाता है और अपने विषय दूसरे दूसरे सात धर्मोंका न्यारी न्यारी अन्य सप्तभंगियों करके कथन किया जाता है। अतः उन अनेक सप्तभंगियोंका व्यर्थपन नहीं है। वे अपने अपने नियत धर्मोंको मुख्यरूपसे कथन करनेकी अपेक्षासे सफल हैं। ऐसा कहनेपर तो हम भी कह देंगे कि ठीक है, पहिले वाक्य करके अपने विषय एक धर्मस्वरूप वस्तुका प्रधानरूपसे निरूपण किया गया है और दूसरे तीसरे आदि वाक्योंने मुख्यतासे अपने अपने विषय एक एक धर्मस्वरूप वस्तुका कथन किया है। अतः तिन छह वाक्योंको भी निष्फलता कैसे हुयी ? वे भी तो अपने एक एक विषयको प्रधानरूपसे कह रहे हैं। न्याय एकसा होना चाहिये।

कथं पुनरर्थस्यैकधर्मात्मकत्वं प्रधानं? तथा शब्देनोपात्तत्वात् । शेषानन्तधर्मात्मकत्वमप्येवं प्रधानमस्त्विति चेन्न, तस्यैकतो वाक्यादश्रूयमाणत्वात् । कथं ततस्तस्य प्रतिपत्तिः? अभेदवृत्त्याभेदोपचारेण वा गम्यमानत्वात् ।

आचार्य महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि फिर यह तो बताओ कि अनन्तधर्मस्वरूप अर्थका एक धर्मात्मकपना ही प्रधानस्वरूप कैसे है ? उस धर्मके सहोदरपन सम्बन्धसे अन्य अनेक धर्म भी तो प्रधान हो सकते हैं। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि हम क्या करें ? तिस प्रकार एक शब्द करके एकधर्मस्वरूप वस्तुका ही प्रधानरूपसे ग्रहण होता है। इसपर प्रश्नकर्त्ता यदि यों कहे कि इस प्रकार तो बचे हुए अनन्त धर्मोंसे तदात्मकपना भी वस्तुका प्रधानरूपसे कहा जाओ। आचार्य कहते हैं कि सो कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस अनन्तधर्मस्वरूप वस्तुका पूर्णअंगरूपसे एक वाक्यके द्वारा कहकर सुनाया जाना नहीं हो सकता है। भावार्थ—द्रव्य कहनेपर केवल द्रव्यत्व गुणका निरूपण होता है। वस्तु कहनेसे वस्तुत्वका, सत् कहनेसे अकेले अस्तित्व गुणका और प्रमेय कहनेसे केवल प्रमेयत्व गुणका ही श्रोता द्वारा ज्ञान किया जाता है। फिर प्रश्नकर्त्ता पूंछता है कि तिस एक ही धर्मके प्रतिपादक शब्दसे भला उस सर्वांग वस्तुकी प्रतीति कैसे होगी ? इसका उत्तर आचार्य कहते हैं कि अभेदवृत्ति या अभेद उपचार करके पूर्ण वस्तु जान

ली जाती है। भावार्थ—शद्बके द्वारा तो वस्तुका एक अंग ही सुना जायगा, किन्तु अनुक्त मतिज्ञान या श्रुतज्ञान द्वारा पूर्ण वस्तु समझ ली जाती है। वस्तुको पूर्णरूपसे कहनेकी शद्बमें सामर्थ्य नहीं है। किन्तु एक शद्बसे अपने क्षयोपशमके अनुसार अनेक धर्मोको श्रोता समझ लेता है। तभी तो एक वक्ताके उपदेशको सुनकर श्रोताओंके ज्ञानमें तारतम्य देखा गया है। एक गुरुके पढाये हुए अनेक छात्रोंकी व्युत्पत्तिमें न्यूनता अधिकता देखी जाती है। एक छोटासा बालक या बधिरमनुष्य भी अपरिमित अर्थको जान रहा है। बिचारा शद्ब इतने अर्थको कहांसे कह सकता है। किन्तु अभेदवृत्तिके अनुसार हुए मतिज्ञान और अभेद उपचार कर हुये श्रुतज्ञान तो आश्चर्यजनक व्युत्पत्तिको बढा देते हैं। वाच्य वाचकोंके इस निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे हम अपनेको बडा भाग्यशाली समझते हैं।

तर्हि श्रूयमाणस्येव गम्यमानस्यापि वाक्यार्थत्वात् प्रधानत्वमन्यथा श्रूयमाणस्याप्यप्रधानत्वमिति चेन्न, अग्निर्माणवक इत्यादिवाक्यैकवाक्यार्थेनानैकान्तात्। माणवकेऽग्नित्वाध्यारोपो हि तद्वाक्यार्थो भवति न च प्रधानमारोपितस्याग्नेरप्रधानत्वात्।

तब तो शद्ब द्वारा सुने गये अर्थके समान व्युत्पत्तिके द्वारा जान लिये गये अनुक्त अर्थको भी वाक्यार्थपना प्राप्त है। अतः वह गम्यमान भी प्रधानरूपसे वाक्यका अर्थ हो जाओ। अन्यथा सुने गये अर्थको भी प्रधानपना न होय। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि " अग्निर्माणवकः " छोटा बालक अग्नि है। " गौर्वाहीकः " बोझा ढोनेवाला मनुष्य बैल है, इत्यादि वाक्योंके एक एक अर्थ करके व्यभिचार हो जायगा। चंचल बालकमें तेजस्विता होनेके कारण अग्निपनका अध्यारोप करना ही उस वाक्यका अर्थ होता है, किन्तु वह प्रधान अर्थ तो नहीं है। क्योंकि आरोपित अग्निको प्रधानपन प्राप्त नहीं है। अतः शद्बके द्वारा सुना गया अर्थ प्रधान होता है और शेष जान लिया गया अर्थ गौण होता है। बालक अग्नि है। यहां अग्नि शद्बका मुख्य अर्थ न लेकर चंचलता तेजस्विपन, उष्ण प्रकृति, आदि आरोपित अर्थ पकडे गये हैं।

तत्र तदारोपोऽपि प्रधानभूत एव तथा शद्बेन विवक्षितत्वादिति चेत्, कस्तर्हि गौणः शद्बार्थोऽस्तु न कश्चिदिति चेन्न, गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययवचनात्। घृतमायुरन्नं वै प्राणाः इति कारणे कार्योपचारं, मञ्चाः क्रोशन्ति इति तात्स्थ्यात्तच्छद्बोपचारः साहचर्याद्यष्टिः पुरुष इति, सामीप्याद्वृक्षा ग्राम इति च गौणं शद्बार्थं व्यवहरन् स्वयमगौणः शद्बार्थः सर्वोऽपीति कथमातिष्ठेत ? न चेदुन्मत्तः।

तिस प्रकार शद्बके द्वारा विवक्षाको प्राप्त हो जानेके कारण उस बालकमें उस अग्निपनेका आरोप करना भी प्रधानभूत अर्थ है। इस प्रकार कहनेपर तो हम पूछेंगे कि शद्बका गौण अर्थ भला क्या होगा ? बताओ ! यदि तुम यों कहो कि शद्बका गौण अर्थ कुछ भी नहीं है। जो कुछ

शद्वसे अर्थ निकलता है वह प्रधान अर्थ ही है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि शद्वशास्त्रियोंने गौण और मुख्य अर्थके विषयमें विवाद होनेपर मुख्य अर्थमें भले प्रकार ज्ञान होना परिभाषा द्वारा कहा है। इससे सिद्ध है कि गौण और मुख्य दोनों ही अर्थ शद्वके द्वारा कहे जाते हैं। निश्चय कर घृत ही आयु है। अन्न ही प्राण है। इन वाक्योंमें कारणमें कार्यका उपचार किया गया है। अर्थात् घृतका सेवन करना आयुष्यका कारण है। जो मनुष्य घृतको खाते हैं वे अधिक वर्षोंतक जीवित रहते हैं। आयुका कारण घृत है। आयु उसका कार्य है। यह आयुके कारण घृतमें आयुष्स्वरूप कार्यका आरोप है तथा प्राणोंके कारण अन्नमें प्राणपनेका आरोप है। अन्न खानेपर ही मनुष्यके प्राण स्थिर रहते हैं। एवं मचान (मैहरा) चिल्लाते हैं। खेतको रखानेवाले मैहरोंपर बैठकर पुकार रहे हैं, गारहे हैं, यहां तत्में रहनेवाले पुरुषोंकी तत्में कल्पना की गयी है। तत्रस्थ होनेके कारण तत्पना यह आधारका आधेयमें आरोप है। लठियावाले पुरुषको लाठिया कहना या गाडीवाले पुरुषको गाडी कहना यह सहचरपना होनेके कारण साथ रहनेवाली एक वस्तुका दूसरी साथ रहनेवाली वस्तुमें या तद्वान्में तत्का उपचार किया गया है। किसी पथिकने एक परिचित मनुष्यको पूंछा कि अमुक ग्राम कितनी दूर है। वह परिचित हाथका संकेत कर कहता है कि ये दीखते हुए वृक्ष ही ग्राम है। यहां ग्रामके अतिसमीप होनेके कारण वृक्षोंमें ग्रामपनेका उपचार है। इसी प्रकार बम्बईकी रेलगाडी आनेपर बम्बई आगयी और कलकत्तेकी ओर गाडी जानेपर कलकत्ता जा रहा है। यहां प्रतिमुख अभिमुखपनेसे वैसा शद्वव्यवहार कर लिया जाता है। बम्बईमें सिकरनेवाली हुण्डी बम्बई बेचोगे आदि कहना भी कारणवश उपचरितोपचार है। इस प्रकार शद्वके गौण अर्थका स्वयं व्यवहार करनेवाला वादी शद्वका अर्थ सभी प्रधान होता है। इस प्रकारकी कैसे व्यवस्था कर सकता है ? अर्थात् नहीं। और फिर भी बलात्कारसे शद्वका मुख्य ही अर्थ माने, गौण अर्थ न मानें, ऐसा वादी पागल क्यों न होगा। भावार्थ—व्याक्षिप्तजन ही ऐसे कुत्सित आग्रहोंको करता है। अतः सिद्ध हुआ कि शद्वका प्रधान भी अर्थ होता है और गौण भी अर्थ अभीष्ट किया गया है। प्रत्युत उपचार किये गये या गौण किये गये स्थानपर जो मुख्य अर्थका प्रयोग करेगा तो वक्ताकी त्रुटि समझी जायगी। घृतसे आयुष्य बढती है। इसकी अपेक्षा घृत ही आयु है। यह वाक्य महत्त्वका है। ग्रामके अति निकट वृक्ष हैं, इस वाक्यसे ये वृक्ष ही तो ग्राम हैं, यह वाक्य प्रशस्त है।

गौण एव च शद्वार्थ इत्यप्ययुक्तं, मुख्याभावे तदनुपपत्तेः, कल्पनारोपितमपि हि सकलं शद्वार्थमाचक्षाणैरगौण्यावृत्तोऽर्थादर्थो बुद्धिनिर्भासी गोशद्वस्य मुख्योऽर्थस्ततोऽन्यो वाहीकादिर्गौण इत्यप्यभ्युपगन्तव्यम्। तथा च गौणमुख्ययोर्वाक्यार्थयोः सर्वैः शद्वव्यवहारवादिभिरिष्टत्वान्न कस्यचित्तदपह्नवो युक्तोऽन्यत्र वचनानधिकृतेभ्यः।

दूसरे वादियोंका यह एकान्त है कि शद्बका अर्थ गौण ही है। मुख्य अर्थ कुछ भी नहीं है। शद्ब वस्तुभूत अर्थको नहीं छूता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी अयुक्त है। क्योंकि मुख्य न होनेपर वह गौणपना बन नहीं सकता है। मुख्य सिंहके होनेपर तो वीर पुरुषमें सिंहपना गौणरूपसे कल्पित कर लिया जाता है। संपूर्ण शद्बोंके कल्पनासे आरोपित किये गये भी अर्थको वाच्यार्थ कथन कर रहे बौद्धों करके यह तो अवश्य मान लेना चाहिये कि गौसे भिन्न महिष आदि अगौ करके पृथग्भूत हो रहा गो स्वलक्षणरूपी अर्थ जो कि परमार्थ रूपसे बुद्धिमें प्रतिभासित हो रहा है। वह तो गोशद्बका मुख्य अर्थ है और उससे भिन्न बोझा ढोनेवाला मनुष्य या मूर्ख छात्र आदिक गौण अर्थ हैं। और तिस प्रकार मानलेनेपर शद्बके द्वारा लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहार होनेको कहनेवाले सभी वादियों करके वाक्यके गौण तथा मुख्य दोनों अर्थ इष्ट हो जाते हैं। इस कारण किसीको भी गौण या मुख्य अर्थोंका अपह्नव करना समुचित नहीं है। हां! गूंगे, बहिरे, या छोटा बालक, उन्मत्त, आदि जो वचनको कहने सुननेके अधिकारी नहीं हैं, उनकी बात निराली है। शद्बके द्वारा व्यवहार करनेमें जो अधिकार प्राप्त नहीं हैं, ऐसे तुच्छ जीवोंके अतिरिक्त सभी प्रामाणिक वादियोंको शद्बके मुख्य गौण दोनों अर्थ अभीष्ट करने पडते हैं।

ननु यत्र शद्बादस्खलत्प्रत्ययः स मुख्यः शद्बार्थः श्रूयमाण इव गम्यमानेऽपि। यत्र तु स्खलत्प्रत्ययः स गौणोऽस्तु, ततो न श्रूयमाणत्वं मुख्यत्वेन व्याप्तं गौणत्वेन वा गम्यमानत्वं येन शद्बोपात्त एव धर्मो मुख्यः स्यादपरस्तु गौण इति चेन्न, अस्खलत्प्रत्ययस्यापि मुख्यत्वेन व्याप्त्यभावात् प्रकरणादिसिद्धस्यास्खलत्प्रत्ययस्यापि गौणत्वसिद्धेः प्रतिपत्त्रा बुभुत्सितं वस्तु यदा मुख्योर्थस्तदा तं प्रति प्रयुज्यमानेन शद्बेनोपात्तो धर्मः प्रधानभावमनुभवतीति शेषानन्तधर्मेषु गुणभावसिद्धेः।

यहां शंका है कि पूर्वमें आप जैनोंने कहा था कि जो धर्म शद्बके द्वारा कहा जाकर सुना जाय, वह मुख्य है और अभेद रूपसे जान लिये गये शेषधर्म गौण अर्थ हैं। इसपर हमको यह कहना है कि जिस अर्थमें शद्बसे चलायमान रहित ज्ञान होय यानी शद्बको सुनकर जिस अर्थका संशय आदि रहित प्रामाणिक ज्ञान होय वह अर्थ शद्बका मुख्य वाच्यार्थ है। शद्बके द्वारा सुने गये अर्थके समान शद्बके द्वारा अभेदवृत्तिसे जान लिये गये अनुक्त गम्यमान अर्थमें भी यदि समीचीन ज्ञान हो रहा है तो वह भी मुख्य अर्थ ही माना जाय। हां! शद्बको सुनकर जिस अर्थमें चलायमान ज्ञान हो। अर्थात् कभी किसी अर्थका कभी किसी अन्य अर्थका ज्ञान होय तो वह अर्थ शद्बका गौण अर्थ मान लिया जाओ। तिस कारण आप जैनोंके कथनानुसार शद्बसे सुना गयापन मुख्यपनेके साथ व्याप्ति नहीं रखता है। और तैसे ही अभेद सम्बन्धसे जान लियापन या प्रकरण आदि द्वारा अर्थापत्तिसे आक्षिप्यमाणपन भी गौण अर्थपनेके साथ अविनाभाव नहीं रखता है, जिससे

कि शद्बके द्वारा साक्षात् वाच्य होकर ग्रहण किया गया ही धर्म मुख्य अर्थ कहा जाय और शेष दूसरे अर्थ गौण हो जावें। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि अविचलित ज्ञानपनेकी भी आपके कथनानुसार मुख्यअर्थपनेके साथ व्याप्ति नहीं बनती है। देखिये! प्रकरण, योग्यता, अवसर, आदिसे प्रसिद्ध कर लिये गये अविचलित ज्ञानके विषयको भी गौणपना सिद्ध हो रहा है। "गंगायां घोषः" यहां गौण अर्थ गंगातीरमें समीचीन प्रतिपत्ति होना सिद्ध है। समझनेवाले शिष्य करके जिज्ञासाको प्राप्त हो रही वस्तु जिस समय मुख्य अर्थ मानी गयी है, उस समय वक्ताके द्वारा उस शिष्यके प्रति बोले गये शद्ब करके कहा गया धर्म ही प्रधानपनका अनुभव करता है। इस कारण उस धर्मसे शेष बचे हुए अनन्तधर्मोंमें गौणअर्थपना सिद्ध है। यही हमने पूर्वमें कहा था। शद्बबोधकी प्रक्रियामें लक्षण, उपचार, तात्पर्य, संकेतग्रहण, आदिका लक्ष्य रखना आवश्यक है।

नन्वस्तु प्रथमद्वितीयवाक्याभ्यामेकैकधर्ममुख्येन शेषानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपत्तिः कथञ्चिदभिहितप्रकाराश्रयणात्तृतीयादिवाक्यैस्तु कथं सत्त्वस्यैव वानंशशद्बस्य तेभ्योऽप्रतिपत्तेरिति चेन्न, तृतीयाद्वाक्याद् द्वाभ्यामात्मकाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां सहार्पिताभ्यां निष्पन्नैकस्यावक्तव्यत्वस्यानंशशद्बस्य प्रतीतेः। चतुर्थात्ताभ्यामेव क्रमार्पिताभ्यामुभयात्मकत्वस्य द्व्यंशस्य प्रत्ययात्। पञ्चमात्त्रिभिरात्मभिर्द्व्यंशस्यास्त्यवक्तव्यत्वस्य निर्णयात्, षष्ठाच्च त्रिभिरात्मभिर्द्व्यंशस्य नास्त्यवक्तव्यत्वस्यावगमात्। सप्तमाच्चतुर्भिरात्मभिस्त्र्यंशस्यास्तिनास्त्यवक्तव्यत्वस्यावबोधात्।

यहां कोई शंका करते हैं कि हम आप जैनियोंके कहे गये प्रकारका कथञ्चित् आश्रय कर लेते हैं, यानी शद्बसे सुनागया अर्थ शद्बका प्रधान वाक्यार्थ है और जानलिये गये अनन्त धर्म गौण अर्थ हैं। ऐसा होनेपर भी पहिले अस्तित्व और दूसरे नास्तित्व इन दो वाक्योंसे तो एक एक धर्मकी मुख्यता करके बचे हुए अनन्त धर्मस्वरूप वस्तुकी प्रतीति किसी ढंगसे भले ही हो जाओ! किन्तु तीसरे चौथे आदि वाक्यों करके कैसे वस्तुकी प्रतिपत्ति हो सकेगी? क्योंकि निरंश शद्बके वाच्य केवल सत्त्वका ही अथवा अकेले असत्त्वका ही तिन वाक्यों करके ज्ञान नहीं होता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तीसरे अवक्तव्य वाक्य करके साथ विवक्षित किये गये दो सत्त्व, असत्त्व, स्वरूप धर्मोंसे बनाये गये एक अवक्तव्यपनकी अंशरहित शद्बके द्वारा प्रतीति होती है। भावार्थ—पहिले और दूसरे भंगके समान तीसरा अवक्तव्य धर्म भी अकेला होकर निरंश है। अतः तीसरे अंशरहित अवक्तव्य शद्बका वाच्य हो जाता है। चौथे वाक्यसे क्रमसे विवक्षित किये गये उन सत्त्व, असत्त्व ही दो धर्मों करके उभयात्मक हो रही अस्ति नास्ति रूप दो अंशवाली वस्तुका ज्ञान होता है। तथा पांचमें सप्तभंगी वाक्यसे तीन धर्मस्वरूपों करके दो अंशवाले एक अस्ति अवक्तव्यपनका निर्णीत ज्ञान हो रहा है। तथा छठे वाक्यसे तीन स्वरूपों

करके दो अंशवाले नास्ति अवक्तव्यपनका भान हो रहा है। एवं सातवें वाक्यसे चार स्वरूपों करके तीन अंशवाले अस्तिनास्ति अवक्तव्यपनका समीचीन बोध हो रहा है। अतः सांश शब्दों करके सांश धर्मोंका निरूपण हो जाना शब्दकी सामर्थ्यसे बाहिर नहीं है। अर्थात् निरंश शब्दसे निरंश धर्मका और सांश शब्दसे सांश धर्मका ज्ञान हो जाता है। तिन सात धर्मोंमें तीन धर्म तो निरंश हैं शेष पिछले चार भंग अंश सहित हैं।

न च धर्मस्य सांशत्वेऽनेकस्वभावत्वे वा धर्मित्वमसंगः द्वित्वादिसंख्यायास्तथाभावेऽपि धर्मत्वदर्शनात्। निरंशैकस्वभावा द्वित्वादिसंख्येति चेन्न, द्वे द्रव्ये इति सांशानेकस्वभावता प्रतीतिविरोधात्। संख्येययोर्द्रव्ययोरनेकत्वात्तत्र तथा प्रतीतिरिति चेत्, कथमन्यत्रानेकत्वे तत्र तथाभावमत्ययोऽतिप्रसंगात्। समवायादिति चेत्, स कोऽन्योऽन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यादिति। संख्येयवत्कथञ्चित्तदभिन्नायाः संख्यायाः सांशत्वादनेकस्वभावत्वसिद्धेः। एवं स्वभावस्यानेकत्वे तद्वतो द्रव्यस्य कथञ्चित्तदभिन्नस्यैकत्वादेर्कांशत्वमवक्तव्यत्वस्य सिद्धमंशस्य चानेकत्वेप्येकधर्मत्वमस्त्यवक्तव्यत्वादेरविरुद्धं, तथा श्रुतज्ञानेऽवभासमानत्वात् तद्बाधकाभावाच्च।

यदि कोई यह प्रसंग देवे कि चौथे आदि धर्मोंको यदि अंशसहित अथवा अनेकात्मक माना जायगा तो वे धर्मी हो जायेंगे। धर्म न बने रह सकेंगे धर्म या अंशोंसे सहित तो धर्मी होता है। आचार्य कहते हैं कि सो यह प्रसंग स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं आता है। देखो! द्वित्व, त्रित्व, यानी दो, तीन आदि संख्याको तिस प्रकार अंशसहित और अनेक स्वभाववाली होते हुए भी धर्मपन देखा जाता है। द्वित्व संख्यामें दो अंश और त्रित्व संख्यामें तीन अंश अवश्य माने जायगे। अन्यथा वह एक एक होकर दो तीनमें कैसे रह सकेगी? यहांपर कोई वैशेषिक यों कहे कि द्वित्व, त्रित्व, आदिक संख्या तो अंशोंसे रहित होती हुयी एक ही स्वभाववाली है। सिद्धान्ती कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि दो द्रव्य हैं। इस प्रकार द्वित्व संख्यामें अंश सहितपने और अनेक स्वभावसहितपनेकी प्रतीति हो रही है। तुम्हारे मन्तव्यका इस प्रतीतिसे विरोध हो जायगा। इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि संख्या करने योग्य दो द्रव्योंको अनेकपना होनेके कारण उस संख्यामें भी तिस प्रकार अनेकपनेकी उपचारसे प्रतीति हो जाती है। आधारके धर्म आधेयमें आ जाते हैं। ऐसा कहनेपर तो हम कहेंगे कि दूसरे द्रव्योंमें अनेकपन होनेपर भी वैशेषिक मत अनुसार उससे सर्वथा भिन्न उस संख्यामें भला इस प्रकार अनेकपनका ज्ञान कैसे हो जायगा? यदि बलात्कारसे यह नियम माना जायगा तो अतिप्रसंग होगा। अर्थात् घट, पट, आदिकोंके अनेकपनेसे आकाशमें या सुदर्शनमेरुमें भी अनेकपन आजाना चाहिये। यदि समवाय सम्बन्धसे तैसी प्रतीति होनेका नियम माना जायगा तो बताओ! वह समवाय कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्धके अतिरिक्त दूसरा क्या हो सकता है? जब संख्या

और संख्यावाले संख्येयका तादात्म्य सम्बन्ध बन गया तो संख्येयके समान कथंचित् उससे अभिन्न संख्याको अंश सहितपना होनेके कारण अनेक स्वभावसहितपना सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार स्वभावको अनेकपना होते हुए भी उस स्वभाववाले और कथंचित् उस स्वभावसे अभिन्न द्रव्यको एकपना होनेके कारण अवक्तव्यत्व धर्मको एक अंशपना सिद्ध हो जाता है और अंशके अनेकपना होते हुए भी अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्यपन, आदि धर्मोंको एक धर्मपना सिद्ध हो जाता है। कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—द्रव्य और अंश या स्वभावोंका अभेद होनेके कारण एक द्रव्यका एकपना अंशोंमें चला जाता है और अंशोंका अनेकपना एक द्रव्यमें आ जाता है। अतः यदि द्रव्य सांश अनेक स्वभाववान् है तो उसके अंश भी सांश और अनेक स्वभाववाले हो जाते हैं। वस्तु स्वभावमें हम क्या हस्तक्षेप कर सकते हैं ! तिस प्रकार द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानमें प्रतिभास रहा है और उसका कोई बाधक भी नहीं है।

त एतेऽस्तित्वादयो धर्मा जीवादिवस्तुनि १ सर्वसामान्येन २ तदभावेन च, ३ विशिष्टसामान्येन ४ तदभावेन, ५ विशिष्टसामान्येन ६ तद्भावसामान्येन च, ७ विशिष्टसामान्येन ८ तद्विशेषणेन च, ९ सामान्यसामान्येन १० विशिष्टसामान्येन च ११ द्रव्यसामान्येन १२ गुणसामान्येन च १३ धर्मसमुदायेन १४ तद्व्यतिरेकेण च १५ धर्मसामान्यसम्बन्धेन १६ तदभावेन च १७ धर्मविशेषसम्बन्धेन १८ तदभावेन च निरूप्यन्ते।

ये प्रसिद्ध हो रहे अस्तित्व आदिक सातों धर्म तो जीव आदि वस्तुमें सबके सामान्यरूपसे और उस सर्व सामान्यके अभाव करके कहे जाते हैं (१) तथा विशिष्ट पदार्थके सामान्य करके और उसके अभाव करके कथन किये जाते हैं (२) एवं विशिष्टके सामान्य और उसके अभावके सामान्य करके कहे जाते हैं (३) तथा विशिष्टके सामान्य और उसके विशेषण करके दो भंग बनाये जाते हैं (४) एवं सामान्यके सामान्य और विशिष्टके सामान्य करके भंग गढे जाते हैं (५) इसी प्रकार द्रव्यके सामान्य और गुणके सामान्य करके (६) धर्मके समुदाय और उससे भिन्नपने करके (७) तथा धर्म सामान्यके सम्बन्ध करके और उसके अभाव करके ८ एवं धर्मको विशेषसम्बन्ध और उसके अभाव करके ९, दो दो भंगोंको बनाकर अनेक प्रकारसे सात भंग कहे जा रहे हैं।

तत्रार्थप्रकरणसंभवलिंगौचित्यदेशकालाभिप्रायगम्यः शब्दस्यार्थः इत्यर्थापनाश्रयणेऽभिप्रायमात्रवशवर्तिना १ सर्वसामान्येन च वस्तुत्वेन जीवादिरस्त्येव २ तदभावेन चावस्तुत्वेन नास्त्येवेति निरूप्यते। तथा श्रुत्युपात्तेन ३ विशिष्टसामान्येन जीवादित्वेनास्ति तत्प्रतियोगिना ४ तदभावेनाजीवादित्वेन नास्तीति च भंगद्वयम्। तेनैव ५ विशिष्टसामान्येनास्ति ६ तदभावसामान्येन वस्त्वन्तरात्मना सर्वेण सामान्येन नास्तीति च भंगद्वयं, तेनैव ७ विशिष्टसामान्येनास्ति ८ तद्विशेषणमुख्यत्वेन नास्तीति भंगद्वयं, ९ सामान्याविशेषितेन द्रव्यत्वेनास्ति १० विशिष्टसामान्येन प्रतियोगिनैवाजीवादित्वेन नास्तीति च भंगद्वयं,

११ द्रव्यसामान्येनाविशेषितेनैवास्ति १२ गुणसामान्येन गुणत्वेन स एव नास्तीति च भंगद्वयं, धर्मसमुदायेन त्रिकालगोचरानन्तशक्तिज्ञानादिसमितिरूपेणास्ति १४ तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानेन रूपेण नास्तीति च भंगद्वयं, १५ धर्मसामान्यसम्बन्धेन यस्य कस्यचिद्धर्मस्याश्रयत्वेनास्ति १६ तदभावेन कस्यचिदपि धर्मस्यानाश्रयत्वेन नास्तीति च भंगद्वयं, १७ धर्मविशेषसम्बन्धेन नित्यत्वचेतनत्वाद्यन्यतमधर्मसम्बन्धित्वेनास्ति १८ तदभावेन तदसम्बन्धित्वेन नास्तीति च भंगद्वयमित्यनेकधा विधिप्रतिषेधकल्पनया सर्वत्र मूलभंगद्वयं निरूपणीयम् ।

उन ऊपरके नौ युगलोंमें प्रत्येकका स्पष्ट (खुलासा) इस प्रकार है कि प्रयोजन, प्रकरण, सम्भवपना, हेतु, उचितपना, देश, काल, और अभिप्रायोंसे जान लिया गया शद्बका वाच्यार्थ होता है। इस प्रकार अर्थ, प्रकरण, आदिका नहीं आश्रय करनेपर केवल अभिप्रायके अधीन वर्तने वाले और सबमें साधारणरूपसे पाया जाय ऐसे वस्तुपने करके जीव आदिक पदार्थ हैं ही। तथा उस सर्व साधारणपनके अभावरूप तुच्छ अवस्तुपने करके जीव आदिक नहीं ही हैं। इस प्रकार पहिले दो भंग कहे जाते हैं (१) तथा तिस प्रकार शद्बके द्वारा कथन कर कानसे ग्रहण किये गये विशिष्ट सामान्य जीव आदिपने करके जीव आदिक हैं और उसके प्रतियोगी विशिष्ट सामान्यके अभाव अजीव आदिपने करके नहीं है। भावार्थ—वस्तुत्व, सत्ता, आदि व्यापक सामान्य हैं और उनके विशेष होकर व्याप्य सामान्य जीवत्व, पुद्गलत्व, आदि हैं। अनेक मनुष्य, तिर्यञ्च, आदि जीवोंमें साधारणरूपसे जीवत्व रहता है। अतः जीवत्व विशेषस्वरूप होता हुआ भी सामान्य है। उस जीवत्वरूप विशिष्ट सामान्यसे जीव है और मल्लप्रतिमल्ल न्यायसे उसके प्रतियोगी यानी प्रतिकूल अजीवत्व करके जीव नहीं है। इस प्रकार दो मूलभंग दूसरे कहे गये (२) तथा तिसही विशिष्ट सामान्य करके जीव है और उसके अभाव सामान्य करके जो कि दूसरी वस्तुओंसे तदात्मक हो रहा है, ऐसे अन्य सबमें रहने वाले सामान्य करके जीव नहीं हैं। भावार्थ—सत्ताके व्याप्य और ब्राह्मण, मनुष्य, आदि विशेषोंके व्यापक ऐसे जीवत्व सामान्यसे जीव है, किन्तु जीवको छोडकर अन्य सब वस्तुओंमें रहनेवाले सामान्य धर्मकी अपेक्षासे जीव नहीं है। विशेष प्रतिष्ठित विद्वान् राजा या तपस्वी मनुष्यके होते हुए भी सामान्य (साधारण) जीव या पदार्थका निषेध कर दिया जाता है। इस प्रकार भी तीसरे दो भंग बन गये (३) तिस ही ढंगसे उस विशिष्ट सामान्य करके जीव है और उसके विशेषणोंमें मुख्यरूपसे रहनेवाले सामान्य करके नहीं हैं। अर्थात् जीवत्वपनेसे जीव है किन्तु वह सामान्य जीव अकेले मनुष्य या अकेले ब्राह्मणकी ही मुख्यताको लेकर नास्ति (नहीं) है। इस रीतिसे चौथे दो भंग बन गये (४) तथा विशेषोंसे रहित द्रव्यत्व सामान्य करके जीव है और विशेषोंसे सहित प्रतियोगीस्वरूप अजीव आदिपन करके नहीं है। भावार्थ—जिस समय व्यापक द्रव्यत्व करके जीव अस्ति विवक्षित हो रहा है, उस समय व्याप्य सामान्य अजीवत्व या

आस्रवत्व आदि करके नहीं है। ऐसा विवक्षित है। सामान्यकी विवक्षा होनेपर विशेष प्रतिकूल भासते हैं इस प्रकार पांचमे भी दो भंग बन गये (५)। तथा अपने व्याप्य विशेष अंशोंसे रहित द्रव्यसामान्य करके जीव है और वही जीव गुणके सामान्य गुणत्व करके नहीं है। भावार्थ—जीव वस्तुमें भेदविवक्षा करनेपर, द्रव्य, गुण, और पर्यायें, न्यारी न्यारी हैं। जिस समय केवल द्रव्य सामान्यसे ही जीव विवक्षित होकर विद्यमान है। उस समय गुणसामान्यसे नहीं है। इस प्रकार छठे दो भंग बन गये (६)। तीनों कालोंमें रहनेवाले अनन्तज्ञान, आदि शक्तियोंके समूह स्वरूप धर्मसमुदाय करके जीव है और उन अनन्त गुणोंसे कथंचित् भिन्न होकर देखे जा रहे एक दो धर्मस्वरूप करके या उनकी वर्तमानकालमें दृश्यमान चौबीसी पर्यायों करके ही जीव नहीं है। भावार्थ—जीवमें चौदह गुणोंको वैशेषिक मानते हैं। कोई जीवमें एक ज्ञानगुणको ही मानते हैं। उनके सन्मुख यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षित, अनुमानित और आगमगम्य अनन्त गुणोंके समुदाय करके जीवका सत्त्व है। केवल कुछ प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा रहे थोडेसे गुणोंसे ही जीवका अस्तित्व नहीं है। यानी उस रूपसे जीव नास्ति है। इस प्रकार भी दो भंगों (सातवें) की कल्पना हुयी (७)। धर्मोके सामान्य संबंध द्वारा जिस किसी भी धर्मके आश्रयपने करके जीव है। और धर्म सामान्यके अभाव करके यानी किसी भी अन्य धर्मके आश्रय रहितपने करके जीव नहीं है। अर्थात् विशेषताओंसे रहित सामान्यरूपसे संपूर्ण धर्मोंकी जीवमें योजना करनेवाला कथंचित् तादात्म्य संबंध है। अनन्त धर्मोंमेंसे चाहे किसी भी धर्मका तादात्म्य संबंधसे जीव आश्रय हो रहा है, किन्तु उस सामान्य तादात्म्य सम्बन्धको विना चाहे किसी भी धर्मका आश्रय जीव नहीं है। इस कारणसे भी आठवे दो भंगोंकी उत्पत्ति हुयी (८)। किसी धर्मविशेषके सम्बन्ध द्वारा नित्यत्व, चेतनत्व, अमूर्तत्व, कर्तृत्व, आदि धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मके सम्बन्धीपने करके जीव है और विशेष धर्मके सम्बन्धके अभावसे नित्यत्व आदिकका संबंधी न होनेके कारण जीव नहीं है। अर्थात् नित्यत्वके नियोजक विशेष तादात्म्य-सम्बन्ध करके नित्यत्व धर्मका ही संबंधी जीव है। उस विशेष तादात्म्य सम्बन्धके न होनेपर चेतनत्वका संबंधी जीव नहीं है। ये भी दो भंगों (नवमें) की प्रक्रिया है (९)। इस ढंगके अनुसार अनेक प्रकारोंसे विधियों और निषेधोंकी कल्पना करके संपूर्ण पदार्थोंमें सात भंगोंके मूलभूत दो भंगोंका कथन कर लेना चाहिये। अपने वाचक जीव शब्द करके जीव है। अन्यके वाचक शब्दों करके जीव नहीं है। जीवको विषय करनेवाले ज्ञानसे जीव है। अन्यको विषय करनेवाले ज्ञानसे नहीं। ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा वर्तमान पर्यायसे जीव है। भूत भविष्यत् पर्यायोंसे नहीं। प्राणधारणरूप क्रियापरिणतिसे जीव है। अन्य परिणतियोंसे नहीं है। काल, आत्मरूप, आदिके द्वारा अभेद सम्बन्धवाले धर्मोकी अपेक्षासे जीव है। सर्वथा भिन्न धर्मोकी अपेक्षासे जीव नहीं है। इस प्रकार दो मूल भंगोंकी पद्धति नाना प्रकारकी है।

अथास्ति जीव इत्यस्तिशब्दवाच्यादर्थाद्भिन्नस्वभावो जीवशब्दवाच्योऽर्थः स्यादभिन्नस्वभावो वा ? यद्यभिन्नस्वभावस्तदा तयोः समानाधिकरण्यविशेषत्वाभावो घटकुटशब्दवत् तदन्यतराप्रयोगश्च, तद्वदेव विपर्ययप्रसंगो वा। सर्वद्रव्यपर्यायविषयास्ति शब्दवाच्यादभिन्नस्य च जीवस्य सर्वद्रव्यपर्यायात्मकत्वप्रसंगः सर्वद्रव्यपर्यायाणां वा जीवत्वमिति संकरव्यतिकरौ स्याताम्। यदि पुनरस्तिवाच्यादर्थाद्भिन्न एव जीवशब्दवाच्योऽर्थः कल्प्यते तदा जीवस्यासद्रूपत्वप्रसंगोऽस्तिशब्दवाच्यादर्थाद्भिन्नत्वात् खरशृंगवत् विपर्ययप्रसंगात्। जीववत्सकलार्थेभ्योऽभिन्नस्यास्तित्वस्याभावप्रसक्तिरनाश्रयत्वात्। तस्य जीवादिषु समवायाददोषोऽयमिति चेन्न, समवायस्य सत्त्वाद्भिन्नस्यासद्रूपत्वात् स सद्भतोः संबंधत्वविरोधात्। न च समवाये सत्त्वस्य समवायान्तरमुपपन्नं अनवस्थानुषंगात् स्वयं तथानिष्टेश्च। तत्र तस्य विशेषणीभावाददोषो इति, सोपि विशेषणीभावः संबंधो यदि सत्त्वाद्भिन्नस्तदा न सद्रूप इति खरविषाणवत्कथं संबंधः? परस्माद्विशेषणीभावात्सत्वस्य समवायविशेषणीभावे यद्यसद्रूपत्वाभावस्तदा सैवानवस्था तत्रापि सत्त्वस्य भिन्नस्यान्यविशेषणीभावकल्पनादिति न क्विचित्सत्त्वाप। सत्त्वाद्भिन्नस्य सर्वस्य स्वभावस्यासद्रूपत्वमसिद्धेरिति, सर्वथैकांतवादिनामुपालंभो न स्याद्वादिनामस्तिशब्दवाच्यादर्थाज्जीवशब्दवाच्यस्यार्थस्य कथंचिद्भिन्नत्वोपगमात्। तथैव बाधित्यप्रतीतिसद्भावाच्च।

अब स्याद्वादियोंके ऊपर एकान्तवादियोंका यह उलाहना है कि " अस्ति जीवः " इस प्रकार पहिले वाक्यमें अस्तिका अर्थ सत्तावाला है, इस अर्थसे जीव शब्द द्वारा कहा गया अर्थ क्या भिन्न स्वरूप है ? या अभिन्न स्वरूप है। बताओ ! यदि द्वितीय पक्षके अनुसार अभिन्न स्वरूप माना जायगा तब तो उन जीव और अस्तिमें विशेषताके साथ होनेवाले समान अधिकरणपनेका अभाव हो जायगा। जैसे कि घट और कलश शब्दमें सर्वथा अभेद होनेके कारण समानाधिकरणता नहीं है। भावार्थ—कथंचित् भिन्न पदार्थोंमें समानाधिकरणता होती है। जैसे कि नील और उत्पलमें है। कम्बल, जामुन, मेघ, भी नील होते हैं तथा लाल, पीले, शुक्ल, भी कमल होते हैं। अतः नील और उत्पल का सर्वथा अभेद नहीं है। व्यभिचार संभवनेपर दो आदि पदार्थोंमें सामानाधिकरण्य होता है। जीव जीव या अस्ति अस्तिमें भी सर्वथा अभेद होनेके कारण समानाधिकरणपन नहीं बनता है। जिन दो तीन आदि पदार्थोंका अधिकरण समान है, उनको समानाधिकरण कहते हैं और उन समानाधिकरणोंके भावको समानाधिकरण्य कहते हैं। दूसरी बात यह है कि जीव और अस्ति दोनों आदि अभिन्न हैं तो दो पदोंमेंसे एक हीका प्रयोग न करना चाहिये। जैसे पर्यायवाची घट या कलश शब्दोंमेंसे एकका प्रयोग नहीं किया जाता है। तीसरी बात यह है कि उस हीके समान विपर्यय हो जानेका प्रसंग होगा अर्थात् जीव और अस्तिके अभेद हो जानेपर " अस्ति जीवः "ऐसा कहनेपर " जीवः अस्ति " यह भी उद्देश्य और विधेयका परावर्त्तन हो जाय

जाय अथवा जीव कहनेके लिये सामान्य सत्तावाचक अस्ति शद्ब कह दिया जाय और सत्ताको कहनेके लिये जीव शद्ब बोल दिया जाय, तथा सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाले अस्ति शद्बके वाच्य सत्तासे जीवको यदि अभिन्न स्वीकार किया जायगा तो जीवको संपूर्ण द्रव्य और पर्यायोंके साथ तदात्मक हो जानेपनेका प्रसंग होगा। यह संकर दोष है। एवं संपूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको जीवपना हो जायगा। यह व्यतिकर है। इस प्रकार संपूर्ण द्रव्य और पर्यायोंके युगपत् तदात्मक प्राप्ति और परस्परमें विषयका परिवर्तनरूप संकर व्यतिकर दोनों दोष हो जावेंगे। तथा यदि फिर जैनोंके द्वारा प्रथम पक्षके अनुसार अस्तिके वाच्य अर्थसे जीवशद्बका वाच्य अर्थ भिन्न ही कल्पित किया जायगा तो अस्ति शद्बके वाच्य अर्थ सद्रूपसे भिन्न होनेके कारण जीवको गर्दभ-शृंगके समान असत्स्वरूप हो जानेका प्रसंग होगा। जो अस्तिसे भिन्न है, वह असत् है। तथा विपर्यय हो जानेका प्रसंग होगा। यानी सत्तावाले कितने ही चेतनपदार्थ जीवरूप न हो सकेंगे। सत् असत् हो जायेंगे और असत् सत् बन बैठेंगे। तीसरी बात यह है कि जीवके समान संपूर्ण पदार्थोंसे अस्तित्वको यदि भिन्न मान लिया जायगा तो अस्तित्वके भी अभाव हो जानेका प्रसंग है। क्योंकि अस्तित्वगुण आश्रयके विना ठहर नहीं सकता है और सर्वथा भिन्न पड़े हुएका कोई आश्रय बनना नहीं चाहता है। यदि कोई वैशेषिक यों कहे कि उस भिन्न पड़े हुए भी अस्तित्वका जीव आदिकोंमें समवाय सम्बन्ध हो जानेसे यह कोई दोष नहीं होता है। अर्थात् जीव सत्तावान् हो जायगा और भिन्न भी अस्तित्व अपने आधारोंमें ठहर जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तुम वैशेषिकोंके यहां सत्ता जातिसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण समवाय सम्बन्ध भी तो असत्स्वरूप है। सत् और असत्का सम्बन्ध नहीं होता है, तथा सत् और असत्के बीचमें रहनेवालेको समवाय सम्बन्धपनेका विरोध है। अस्ति और उससे सहित जीव इन दोनोंके मध्यमें रहनेवाले असत् समवायको सम्बन्धपनेका भी विरोध है। समवायमें सत्ताको रखनेके लिये दूसरा समवाय मानना तो युक्त नहीं है। क्योंकि अनवस्थादोषका प्रसंग होगा। अर्थात् सत्ता जाति तो समवाय सम्बन्धसे ही रहेगी और समवायको सद्रूप बनानेके लिये पुनः सत्ताका सम्बन्ध मानना पडेगा और सत्ता भी पुनः समवाय सम्बन्धसे रहेगी। समवायमें सत्ता रही और सत्तामें प्रतियोगिता सम्बन्धसे समवाय रहा। तथा वैशेषिकोंने समवायमें दूसरे समवाय सम्बन्ध करके सत्ता रहनेको इष्ट भी नहीं किया है। " सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्याः, द्रव्यादयः पञ्च समवायिनः "। यदि कोई वैशेषिक यों कहे कि उस समवायमें उस सत्ताका विशेषणता सम्बन्ध है। अतः कोई अनवस्थादोष नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम पूछेंगे कि वह विशेषणता सम्बन्ध भी यदि सत्तासे भिन्न है, तब तो सत्स्वरूप नहीं है। इस कारण रासभ–शृंगके समान वह कैसे सम्बन्ध हो सकेगा? सम्बन्ध दोमें रहनेवाला भाव पदार्थ हो सकता है। यदि दूसरे विशेषणीभाव सम्बन्धसे पहिले विशेषणीभाव सम्बन्धमें सत्ताका रहना मानकर असद्रूपताका अभाव कहोगे, तब तो फिर

वही अनवस्था होगी। क्योंकि दूसरे विशेषणीभावको सत् बनानेके लिये तीसरे विशेषणीभावसे सत्ता रखनी पडेगी और उसमें भी चौथे विशेषणीभावसे, इस प्रकार सर्वथा भिन्न पडे हुए सत्ताके न्यारे न्यारे विशेषणीभावोंकी कल्पना करते करते कभी आकांक्षा शान्त न होगी। इस प्रकार कोई भी पदार्थ सत् नहीं बन सकता है। सत्तासे भिन्न सभी स्वभावोंको असद्रूपपना प्रसिद्ध है। इस प्रकार लम्बा चौडा सर्वथा एकान्तवादियोंका उलाहना उन्हींके ऊपर गिरता है। स्याद्वादियोंके ऊपर कोई दोष नहीं है। हम स्याद्वादी तो अस्तिशद्बके वाच्य सत्तारूप अर्थसे जीव शद्बके वाच्य प्राणी अर्थका कथञ्चित् भेद स्वीकार करते हैं। और तिस ही प्रकार नहीं तर्क करनेमें आवे, ऐसी भेदाभेदात्मक प्रतीति विद्यमान है। भावार्थ—सर्वथा भेद या अभेद माननेवालोंके यहां अवश्य ही उक्त दोष आते हैं। किन्तु स्याद्वादी अतर्क्य वस्तुव्यवस्थाके अनसार अस्ति और जीवका कथञ्चित् भेदाभेद स्वीकार करते हैं। " स्वभावोऽतर्कगोचरः "

पर्यायार्थादेशाद्धि भवनजीवनयोः पर्याययोरस्तिजीवशद्बाभ्यां वाच्ययोः प्रतीतिविशिष्टतया प्रतीतेर्भेदः द्रव्यार्थादेशात्तु तयोरव्यतिरेकादेकतरस्य ग्रहणेनान्यतरस्य ग्रहणादभेदः प्रतिभासत इति न विरोधो संशयो वा तथा निश्चयात्। तत एव न संकरो व्यतिकरो वा, येन रूपेण जीवस्यास्तित्वं तेनैव नास्तित्वानिष्टेः येन च नास्तित्वं तेनैवास्तित्वानुपगमात् तदुभयस्याप्युभयात्मकत्वानास्थानाच्च।

कारण कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे तो अस्ति शद्बके वाच्य भवन (सत्ता) और जीव शद्ब कर कहा जाय जीवनरूप पर्यायोंका विलक्षण प्रतीति होनेके कारण दोनों पर्यायोंकी प्रतीतिका भेद है। किन्तु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे उन दोनों पर्यायोंका अभेद होनेके कारण दोनोंमेंसे किसी एकका ग्रहण करनेसे बचे हुए दूसरे एकका ग्रहण हो जाता है। अतः अभेद दीख रहा है। इस प्रकार कोई विरोध नहीं है। विरोध तो अनुपलम्भ होनेसे साध लिया जाता है यहां तो दोनोंका एक साथ उपलम्भ हो रहा है अथवा संशय भी नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार भेद अभेदका निश्चय हो रहा है। तिस ही कारण अनेकान्तमें संकर अथवा व्यतिकर दोष भी नहीं हैं, क्योंकि जिस स्वरूपसे जीवको अस्तिपन सिद्ध है, उस ही स्वभावसे नास्तिपन इष्ट नहीं है और जिस स्वभावसे नास्तिपन है, उस ही स्वभावसे अस्तिपन नहीं स्वीकार किया गया है। अतः संकर न हो सका, तथा उन भेद, अभेद, दोनोंको पुनः उभयात्मकपना व्यवस्थित नहीं है। अतः परस्परमें विषय बदलना न होनेके कारण व्यतिकर नहीं हुआ। अनवस्था भी नहीं होती है। वैय्यधिकरण्य (भिन्न भिन्न अधिकरणपना) अप्रतिपत्ति (ज्ञान न होना) और अभाव हो जाना ये दोष तो अनेकान्तमें कैसे भी नहीं आते हैं।

न चैवमेकान्तोपगमे कश्चिद्दोषः सुनयार्पितस्यैकान्तस्य समीचीनतया स्थितत्वात् प्रमाणार्पितस्यास्तित्वानेकान्तस्य प्रसिद्धेः। येनात्मनानेकान्तस्तेनात्मनानेकान्त एवेत्ये-

कान्तानुषंगोऽपि नानिष्टः प्रमाणसाधनस्यैवानेकान्तत्वसिद्धेः नयसाधनस्यैकान्तव्यवस्थितेरनेकान्तोऽप्यनेकान्त इति प्रतिज्ञानात्। तदुक्तं-" अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः। अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोर्पितान्नयात् " इति। न चैवमनवस्थानेकान्तस्यैकान्तापेक्षित्वे नैवानेकान्तत्वव्यवस्थितेः एकान्तस्याप्यनेकान्तापेक्षितयैवैकान्तव्यवस्थानात् । न चेत्थमन्योन्याश्रयणं, स्वरूपेणानेकान्तस्य वस्तुनः प्रसिद्धत्वेनैकान्तानपेक्षत्वादेकान्तस्याप्यनेकान्तानपेक्षत्वात्। तत एव तयोरविनाभावस्यान्योन्यापेक्षया प्रसिद्धेः कारकज्ञापकादिविशेषवत्। तदुक्तं-धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्ध्यत्यन्योन्यवीक्षया । न स्वरूपं स्वतो ह्येतत्कारकज्ञापकांगवत् " इति।

तथा जिस रूपसे अस्तित्व है, उस स्वरूपसे अस्तित्व ही है। और जिस स्वभावसे नास्तित्व है, उससे नास्तित्व ही है। इस प्रकार एकान्तको स्वीकार करनेपर भी हमारे यहां कोई दोष नहीं है। क्योंकि श्रेष्ठ नयसे विवक्षित किये गये एकान्तकी समीचीनरूपसे सिद्धि हो चुकी है और प्रमाणसे विवक्षित किये गये अस्तित्वके अनेकान्तकी प्रसिद्धि हो रही है। जिस विवक्षित प्रमाण स्वरूपसे अनेकान्त है, उस स्वरूपसे अनेकान्त ही है। ऐसा एकान्त होनेका प्रसंग भी अनिष्ट नहीं है। क्योंकि प्रमाण करके साधे गये विषयको ही अनेकान्तपना सिद्ध है। और नयके द्वारा साधन किये गये विषयको एकान्तपना विवक्षित या व्यवस्थित हो रहा है। हम तो सबको अनेकान्त होनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। इस कारण अनेकान्त भी अनेकधर्मवाला होकर अनेकान्त है। वही भगवान् श्री १०८ समन्तभद्र आचार्यने बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रमें अठारहवें श्री १००८ अरनाथ जिनेन्द्रकी स्तुतिमें ऐसा कहा है कि अनेकान्त भी प्रमाण और नयोंसे साधन किया गया होकर अनेक धर्मस्वरूप है। हे जिनेन्द्र ! तुम्हारे मतमें प्रमाणसे अनेकान्त व्यवस्थित है और विवक्षित किये गये नयसे वह एकान्त निर्णीत हो रहा है। इस प्रकार कहनेमें अनवस्थादोष नहीं आता है। क्योंकि अनेकधर्मोंका समुदाय बनना एकान्तोंकी अपेक्षा रखता है। इसी कारण अनेकान्तपना व्यवस्थित है और एकान्तकी भी अनेकान्तकी अपेक्षा रखनेवाला होनेके कारण ही एकान्तपनकी व्यवस्था हो रही है। यदि आकांक्षा बढती जाती तो अनवस्था होती, किन्तु यहां तो दोमें ही कार्य चल जाता है। अनेकान्त अनेक एकान्तोंसे बन जाता है और अनेकान्तमें न्यारे न्यारे एकान्त विद्यमान हैं तथा इस प्रकार माननेपर अन्योन्याश्रयदोष भी नहीं है। क्योंकि वस्तुमें नयदृष्टिसे एकान्त और प्रमाणदृष्टिसे अनेकान्त स्वभावसे प्रसिद्ध हो रहे हैं। वस्तुके स्वात्मभूत बनकर प्रसिद्ध हो जानेके कारण अनेकान्तको स्वरूपलाभमें एकान्तकी अपेक्षा नहीं है और एकान्तको भी वस्तुरूपसे अनेकान्तकी अपेक्षा नहीं है। हां ! व्यवहारमें तिस ही कारण परस्परकी अपेक्षासे उन एकान्त और अनेकान्तोंमें अविनाभावकी प्रसिद्धि हो रही है। जैसे कि कारक हेतु या ज्ञापक हेतु अथवा व्यञ्जक हेतु आदि विशेष पदार्थ हैं। वही आप्तमीमांसामें स्वामीजीने कहा है कि धर्म और

धर्मीका अविनाभाव तो परस्परकी अपेक्षासे सिद्ध हो जाता है, किन्तु उसका स्वरूपलाभ परस्परकी अपेक्षासे नहीं सिद्ध होता है। यह तो स्वयं अपने अपने कारणोंसे बन जाता है। जैसे कि कारक हेतुओंके कर्त्ता, कर्मरूप अंग या ज्ञापक हेतुओंके बोध्य, बोधक अंग परस्परकी अपेक्षा रखनेवाले नहीं हैं। भावार्थ—एकान्त और अनेकान्तका अविनाभावरूप करके रहना तो एक दूसरेकी अपेक्षा करता है किन्तु उनकी सिद्धि तो स्वकारणोंसे होती है। परस्परापेक्ष नहीं होती है, जैसे कर्तापन कर्मपनकी अपेक्षासे है और कर्मपन कर्त्ताकी अपेक्षा रखता है। अतः कर्त्तापन और कर्मपन व्यवहार ही परस्परापेक्ष है किन्तु कर्त्ता या कर्मका शरीर तो परस्परापेक्ष नहीं है। वह तो अपने अपने कारणोंसे स्वतः उत्पन्न हो जाता है। ऐसे ही प्रमाण और प्रमेयका स्वरूप तो अपने अपने कारणोंसे स्वतः सिद्ध है। किन्तु उनका ज्ञाप्य ज्ञापक व्यवहार परस्परकी अपेक्षासे है। इस ही प्रकार अस्ति और जीवके धर्म धर्मीपनेका अविनाभाव एक दूसरेकी अपेक्षासे है, किन्तु अस्ति और जीवका स्वरूप अपने अपने कारणोंसे स्वतः सिद्ध है। यही पद्धति एकान्त और अनेकान्तमें लगा लेना।

किं चार्थाभिधानप्रत्ययानां तुल्यनामत्वात्तदन्यतमस्यापह्नवे सकलव्यवहारविलोपात्तेषां भ्रांतत्वैकांते कस्यचिदभ्रांतस्य तत्त्वस्याप्रतिष्ठितेरवश्यं परमार्थसत्त्वमुरीकर्तव्यम्। तथा चाभिधानप्रत्ययात्मना स्यादस्त्येव जीवादिस्तद्विपरीतात्मना तु स एव नास्तीति भंगद्वयं सर्वप्रवादिनां सिद्धमन्यथा स्वेष्टतत्त्वाव्यवस्थितेः। तथा चोक्तम्—'सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्। असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते' इति।

और भी यह बात है कि अर्थ, शब्द, और ज्ञान ये तीन समान नामवाले हैं। उन तीनोंमें से यदि एकको भी छिपाया जावेगा तो सम्पूर्ण लौकिक और शास्त्रीय व्यवहारोंका लोप हो जायगा। यदि कोई अद्वैतवादी उन तीनोंके भ्रान्तपनका एकान्त स्वीकार करेगा तो ऐसी दशामें किसी भी अभ्रान्त वस्तुभूत तत्त्वकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। इस कारण उन तीनोंका वास्तविकरूपसे सद्भाव अवश्य स्वीकार करना चाहिये। भावार्थ—घट कहनेसे घट अर्थ, घट शब्द और घटज्ञान, ये तीन ही लिये जासकते हैं। अन्य नहीं। तिसी प्रकार अर्थ, शब्द और ज्ञानस्वरूपसे जीव आदिक कथंचित् हैं ही, किन्तु उनसे विपरीतस्वरूप करके वह जीव आदिक नहीं हैं, यानी जीव ऐसे पदार्थ जीव ऐसे ज्ञान, तथा जीव ऐसे शब्दसे जीव है। घट अर्थ, घट शब्द और घटज्ञानसे जीव नहीं है। इस प्रकार संपूर्ण प्रवादियोंके यहां अस्ति, नास्ति, नामके दो भंग सिद्ध हो ही जाते हैं। अन्यथा उन वादियोंके यहां अपने इष्टतत्त्वकी व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी। स्वके ग्रहण और परपदार्थके त्यागसे ही वस्तुकी व्यवस्था बन रही है और तिसी प्रकार स्वामीजीने कहा भी है कि ऐसा कौन लौकिक या परीक्षक वादी है, जो कि सभी चेतन या अचेतन पदार्थोंको स्वरूप आदि चतुष्टयसे सत्स्वरूप ही मानना नहीं चाहे और उसके विपरीत पररूप आदि चतुष्टयसे सबको असत्स्वरूप ही न चाहे। अर्थात् चाहे एकान्ती हो या स्याद्वादी हो उक्त प्रकारके अस्ति और

नास्तिको अवश्य चाहेगा। यदि न चाहेगा तो वह कहीं भी व्यवस्थित नहीं रह सकता है। जिससे कि वह अपने इष्ट, अनिष्ट, तत्त्वकी व्यवस्था कर सके। जिसके यहां इष्ट, अनिष्ट, तत्त्वकी व्यवस्था है, वह तो अस्ति नास्तिको अवश्य मानेगा। इस प्रकार दो भंग भले प्रकार सिद्ध हुए। स्वरूप और पररूप। यहां रूपका अर्थ भाव है। आदि पद करके द्रव्य, क्षेत्र, काल, इन तीनका ग्रहण है।

कथमवक्तव्यो जीवादिः ? द्वाभ्यां यथोदितप्रकाराभ्यां प्रतियोगिभ्यां धर्माभ्यामवधारणात्मकाभ्यां युगपत्प्रधानभावार्पिताभ्यामेकस्य वस्तुनो बुभुत्सायां तादृशस्य शब्दस्य प्रकरणादेश्चासम्भवादिति चेत्। तत्र कोऽयं गुणानां युगपद्भावो नामेति चिन्त्यम्। कालाद्यभेदवृत्तिरिति चेत् न, परस्परविरुद्धानां गुणानामेकत्र वस्तुन्येकस्मिन् काले वृत्तेरदर्शनात् सुखदुःखादिवत्। नाप्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिस्तेषां युगपद्भावस्तदात्मरूपस्य परस्परविभक्तत्वात्सद्वत्। न चैकद्रव्याधारतया वृत्तिर्युगपद्भावस्तेषां भिन्नाधारतया प्रतीतेः शीतोष्णस्पर्शवत्। संबंधाभेदो युगपद्भाव इत्यप्ययुक्तं, तेषां संबन्धस्य भिन्नत्वादेवदत्तस्य छत्रदण्डादिसम्बन्धवत् समवायस्याप्येकत्वाघटनाद्भिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुत्वात् संयोगवत्। न चोपकाराभेदस्तेषां युगपद्भावः प्रतिगुणमुपकारस्य भिन्नत्वान्नीलपीताद्यनुरञ्जनवत् पटादौ। न चैकदेशो गुणिनः सम्भवति निरंशत्वोपगमात्। यतो गुणिदेशाभेदो युगपद्भावो गुणानामुपपद्येत। न तेषामन्योन्यं संसर्गो युगपद्भावस्तस्यासम्भवादसंसृष्टरूपत्वाद्गुणानां शुक्लकृष्णादिवत् तत्संसर्गे गुणभेदविरोधात्। न च शब्दाभेदो युगपद्भावो गुणानां भिन्नशब्दाभिधेयत्वान्नीलादिवत्। ततो युगपद्भावात् सदसत्त्वादिगुणानां न तद्विवक्षा युक्ता यस्यामवक्तव्यं वस्तु स्यात् इत्येकान्तवादिनामुपद्रवः, स्याद्वादिनां कालादिभिरभेदवृत्तेः परस्परविरुद्धेष्वपि गुणेषु सत्त्वादिष्वेकत्र वस्तुनि प्रसिद्धेः प्रमाणे तथैव प्रतिभासनात् स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया विरोधाभावात्। केवलं युगपद्वाचकाभावात्सदसत्त्वयोरेकत्रावाच्यता सत्तामात्रनिबन्धनत्वाभावाद्वाच्यतायाः। विद्यमानमपि हि सदसत्त्वगुणद्वयं युगपदेकत्र सदित्यभिधानेन वक्तुमशक्यं तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात्, तथैवासदित्यभिधानेन तद्वक्तुमशक्यं तस्य सत्त्वप्रत्यायने सामर्थ्याभावात्।

अब तीसरे भंगके लिये लम्बा चौडा प्रश्न है कि जीव आदिक पदार्थ अवक्तव्य अर्थात् शब्दसे नहीं कहने योग्य कैसे हैं ? बताओ ! इसपर यदि स्याद्वादी यों कहें कि यथायोग्य प्रकारसे पहिले कहे गये और अवधारणस्वरूप तथा परस्परमें एक दूसरेके प्रतियोगी एवं एक ही समयमें प्रधान नयकी विवक्षासे कहनेके लिये अर्पित किये गये ऐसे अस्ति, नास्ति, दोनों धर्मो करके एक वस्तुके समझनेकी इच्छा होनेपर तैसे वाचक शब्दका और प्रकरण, संकेत, आदिका असंभव होनेसे जीव आदिक अवक्तव्य हैं। ऐसा कहनेपर तो हम एकान्तवादी पूंछते हैं कि गुणोंका यह एक

समयमें कहनेकी विवक्षा प्राप्त होकर रहना भला क्या पदार्थ है ? इसपर जैनोंको विचार चलाना चाहिये । यदि काल, आत्मरूप आदिकसे अभेदवृत्ति हो जाना गुणोंका युगपत्भाव है सो तो ठीक नहीं, क्योंकि परस्परमें विरुद्ध हो रहे अस्ति, नास्ति, नित्यपन, अनित्यपन, आदि गुणोंका एक वस्तुमें एक समय वर्तना नहीं देखा जाता है। जैसे कि सुख दुःख, हास्य शोक, मान विनय, आदि धर्म एक समयमें नहीं पाये जाते हैं। इन गुणोंके वर्तनेका काल भिन्न है। दूसरे आत्मस्वरूप करके अभेदवृत्ति होना भी उन गुणोंका युगपत्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि उन विरुद्ध गुणोंका आत्मस्वरूप ही परस्परमें एक दूसरेसे पृथक् हैं। जैसे कि सुखका आत्मस्वरूप निराकुलता है । और दुःखका आत्मस्वरूप व्याकुलता है । उसीके समान उन हास्य, शोक, आदिके भी आत्मरूप न्यारे न्यारे हैं। वे एकम एक होकर विद्यमान नहीं रह सकते हैं। तीसरे एक द्रव्यरूप आधारके आधेय होकरके वर्त्तना भी उन गुणोंका युगपत् भाव नहीं है। क्योंकि शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शके समान भिन्न भिन्न आधारवालेपने करके उन धर्मोकी प्रतीति हो रही है। चौथे सम्बन्धका अभेद होना गुणोंका युगपत्भाव है। यह कहना भी युक्तिरहित है। क्योंकि उन गुणोंका अपना अपना सम्बन्ध भिन्न है। जैसे देवदत्तका छतरी, दण्ड, अंगूठी, कलम, पगड़ी, मोदक आदिके साथ संबन्ध न्यारा न्यारा है। समवायसम्बन्ध भी एक होकर घटित नहीं हो सका है। जैसे कि भिन्न शब्द, भिन्न ज्ञान, और भिन्न भिन्न कार्योंके हेतु होनेके कारण संयोग सम्बन्ध अनेक हैं। वैसे ही समवाय भी अनेक हैं। अर्थात् जिनदत्तका पुस्तकके साथ संयोग सम्बन्ध न्यारा है और चौकीके साथ पुस्तकका संयोग न्यारा है। तैसे ही आत्माका ज्ञान और राग, द्वेषसे तथा पुद्गलका रूप गुण और उसकी अशुद्ध पर्यायसे समवाय सम्बन्ध भी न्यारा न्यारा है, तथा पांचमें उपकार द्वारा अभेद होना भी उन गुणोंका युगपत् भाव है । यानी सब गुणोंका उपकार एक ही है। सो भी ठीक नहीं पड़ेगा। क्योंकि प्रत्येक गुणकी अपेक्षासे वस्तुमें किये गये उपकार न्यारे न्यारे हैं। जैसे कि कपड़े आदिमें नीले रंगद्वारा रंग जाना या पीलेरंगसे रंग जाना अथवा विद्यार्थीमें विनय, सदाचार, व्युत्पत्ति, बलाढ्यता आदि गुणों करके न्यारे उपकार विद्यमान हैं। जब कि गुणीको हम लोग अंशोंसे रहित निरंश स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें गुणीका एकदेश होना तो नहीं सम्भवता है। जिससे कि छठा गुणी देशका अभेद होना गुणोंका युगपत् भाव बन सके। तथा उनका सातवा परस्परमें संसर्ग होना भी युगपत्भाव नहीं है। गुणोंमें उस संसर्गका असम्भव है। क्योंकि शुक्ल, कृष्ण, खट्टा, मीठा, इत्यादिके समान गुण परस्परमें एक दूसरेसे मिले हुए स्वरूप नहीं है। एक दूसरेसे सम्बन्ध रखते हुए मणियोंके समान न्यारे न्यारे होकर वस्तुमें जड़ रहे हैं। यदि उनका परस्परमें सम्बन्ध होता तो गुणोंके भेद होनेका विरोध हो जाता। सब खिचड़ीके समान एकमएक होकर मिल जाते जो कि इष्ट नहीं है। और आठवां शब्दका अभेद होना भी गुणोंका युगपत् भाव नहीं है। क्योंकि नील, पीत, आदिक अर्थ

जैसे न्यारे न्यारे नील, पीत, आदि शब्दों करके कहे जाते हैं, वैसे ही अस्ति, नास्ति, आदि गुण भी न्यारे न्यारे शब्दोंके द्वारा कहे जाते हैं। तिस कारण आप जैन लोगोंको सत्त्व, असत्त्व, आदि गुणोंके युगपत् भावसे उनकी विवक्षा करना युक्त नहीं है। जिस विवक्षाके होनेपर कि वस्तु अवक्तव्य सिद्ध हो जाता। अर्थात् वस्तु अवक्तव्य नहीं सिद्ध हो पाती है। क्योंकि सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, आदि गुणोंकी युगपत् कहनेकी विवक्षा होना विरोध होनेके कारण नहीं सिद्ध हो सका है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किया गया एकान्तवादियोंका उपद्रव (ऊधम) प्रत्युत उन्हींको लागू होगा, हमको नहीं। क्योंकि स्याद्वादियोंके यहां एक वस्तुमें ठहरे रहे परस्पर विरुद्ध (विरुद्धसदृश) भी सत्त्व, असत्त्व, आदि अनेक गुणोंमें काल, आदिके द्वारा अभेदवृत्ति होना प्रसिद्ध हो रहा है। प्रमाणज्ञानमें तिस प्रकार ही प्रतिभास रहा है। स्वरूप, पररूप, आदि चतुष्टयकी अपेक्षासे रहते हुए अस्ति, नास्ति, आदिमें कोई विरोध नहीं है। विरोध तो अनुपलंभ होनेसे साध लिया जाता है, जब कि वे एक वस्तुमें (जगह) ठहरे हुए प्रसिद्ध प्रमाणोंसे जाने जा रहे हैं तो विरोध कैसा ? हां ! केवल इतना अभिप्रेत है कि एक ही समयमें सत्त्व, असत्त्व, दोनों गुणोंके कथन करनेवाले शद्बका अभाव है। अतः एक वस्तुमें अवाच्यपना एक धर्म माना जाता है। वाच्यपना केवल धर्मीकी सत्ताके ही आधीन नहीं है। अर्थात् जगत्में जो पदार्थ है वह शद्ब द्वारा कह दिया जायगा यह नियम नहीं। अनेक पदार्थ होते हुए भी वचनों द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं। वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनों गुण निश्चय कर विद्यमान हैं तो भी एकमें एक समय सत् इस शद्ब करके दोनों नहीं कहे जा सकते हैं। क्योंकि वह सत् शद्ब असत्त्व धर्मके प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है। तिस ही प्रकार असत् इस शद्ब करके भी वे सत्त्व, असत्त्व, दोनों धर्म एकदम नहीं कहे जा सकते हैं। क्योंकि वह असत् शद्ब सत्त्वधर्मके समझानेमें सामर्थ्य नहीं रखता है।

सांकेतिकमेकपदं तदभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यं, तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः। तौ सदिति शतृशानयोः संकेतितसच्छद्बवत् द्वन्द्ववृत्तिपदं तयोः सकृदभिधायकमित्यनेनापास्तं, सदसत्त्वे इत्यादिपदस्य क्रमेण धर्मद्वयप्रत्यायनसमर्थत्वात्। कर्मधारयादिवृत्तिपदमपि न तयोरभिधायकं, तत एव प्रधानभावेन धर्मद्वयप्रत्यायने तस्यासामर्थ्याच्च। वाक्यं तयोरभिधायकमनेनैवापास्तमिति।

अपनी परिभाषासे संकेत कर बना लिया गया कोई एक नवीन पद उन दोनों सत् और असत् धर्मोंको एक समयमें कहनेके लिये समर्थ हो जायगा, इस प्रकार भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उस सांकेतिकपदको भी क्रम करके ही दो अर्थोंके समझानेमें सामर्थ्य होना बन सकती है। जो व्यक्त अव्यक्त या बहिर्जल्प अन्तर्जल्परूप शद्ब करके प्रतिपाद्य होगा, उसका ज्ञान शद्बप्रवृत्तिके क्रमाधीन होगा। जैसे कि आकाश और पृथ्वी इन दो अर्थोंका वाचक रोदसी शद्ब है। सूर्य और चन्द्रमाका वाचक एक पुष्पवन्त शद्ब है, किन्तु यहां भी एक सांकेतिक पदकरके दो पदोंका

स्मरण होकर दो अर्थोंका ज्ञान होता है। दही और गुडके मिल जानेपर स्वादकी खट्टे और मीठेसे अतिरिक्त तीसरी अवस्था हो जाती है। वैसी दो पदोंको मिलकर बने हुए सांकेतिक पदकी खिचडी अवस्था नहीं होती है। प्रत्युत रोदस् शद्वसे आकाश और पृथ्वी पदोंका स्मरणकर आकाश और पृथ्वीरूप अर्थ जाननेमें परम्परा हो जाती है। इस कथन करके " तौ सत् " इस व्याकरण सूत्रके अनुसार शतृ और शान इन दो प्रत्ययोंमें संकेत किये गये सत् शब्दके समान या क्त, क्तवतु दो प्रत्ययोंके लिये इंगित कर लिये निष्ठा शद्वके सदृश कोई द्वन्द्व समासवृत्तिसे बनाया गया पद उन अस्तित्व, नास्तित्वका एक शद्व द्वारा कथन कर देवेगा, यह खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। अर्थात् अपने घरके संकेतसे गढ लिया गया सत् शद्व भी क्रमसे ही शतृ और शानको कह रहा है। द्वन्द्व समास कर बनाये गये सदसत्त्वे या अस्ति नास्तित्व इत्यादि पदोंकी भी क्रमसे ही दो धर्मोको समझानेमें सामर्थ्य है। युगपत् नहीं। तथा तिस ही कारण कर्मधारय, बहुव्रीहि, आदि समासवृत्तिको प्राप्त हुए पद भी उन दोनों धर्मोका एक साथ कथन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि प्रधानरूप करके दो धर्मोके समझानेमें उस पदका सामर्थ्य नहीं है। अतः कोई भी एक पद युगपत् दोनों अर्थोंका वाचक नहीं है। उन दोनों धर्मोंका वाचक कोई वाक्य सम्भव होवे, यह भी इस कथनसे खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि एक पदके समान अनेक पदोंका समुदाय वाक्य भी क्रमसे ही दो अर्थोंका निरूपण कर सकेगा। कितनी भी जल्दी दौडनेवाली गाडी या विमान हो, क्रमसे ही अनेक ग्राम और देशोंका उल्लंघन कर सकेगा। एक समयमें चौदह राजूतक जानेवाला परमाणु भी माघवी, रत्नप्रभा, ब्रह्मस्वर्ग, सर्वार्थसिद्धि आदिका क्रमसे ही प्रतिक्रमण करेगा। तभी तो एक समयमें असंख्याते अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं। कण्ठ, तालु आदि स्थान तथा बहिरंग अंतरंग प्रयत्नोंकर बनाये गये वर्ण या पदके उच्चारणमें तो वैसे ही अनेक समय लग जाते हैं।

सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं वस्तु युगपत्सदसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते तच्च न सर्वथैवावक्तव्यमेवावक्तव्यशद्वेनास्य वक्तव्यत्वादित्येके। ते च पृष्टव्याः, किमभिधेयमवक्तव्यशद्वस्येति? युगपत्प्रधानभूतसदसत्त्वादिधर्मद्वयाक्रान्तं वस्त्विति चेत्, कथं तस्य सकलवाचकरहितत्वम्? अवक्तव्यपदस्यैव तद्वाचकस्य सद्भावात्। यथाऽवक्तव्यमिति पदं सांकेतिकं तस्य वाचकं तथान्यदपि किं न भवेत्? तस्य क्रमेणैव तत्प्रत्यायकत्वादिति चेत्, तत एवावक्तव्यमितिपदस्य तद्वाचकत्वं माभूत्। ततोऽपि हि सकलप्रधानभूतसदसत्त्वादिधर्माक्रान्तं वस्तु क्रमेणैव प्रतीयते सांकेतिकपदान्तरादिव विशेषाभावात् वक्तव्यत्वाभावस्यैवैकस्य धर्मस्यावक्तव्यपदेन प्रत्यायनाच्च न तथाविधवस्तुप्रत्यायनं सुघटं येनावक्तव्यपदेन तद्वाचकमिति युज्यते।

एक ही समयमें प्रधानपनसे विवक्षित किये गये सत्त्व और असत्त्व धर्मों करके चारों ओरसे घिरी हुयी वस्तु व्यवस्थित हो रही है। वह सम्पूर्ण वाचक शब्दोंसे रहित है। अतः अवक्तव्य है और वह सभी प्रकारोंसे अवक्तव्य ही हो, यह नहीं समझना। क्योंकि अवक्तव्य शब्द करके ही इसका वाचन हो रहा है। इस प्रकार कोई एक विद्वान् कह रहे हैं। उनको यह पूंछना चाहिये कि अवक्तव्यशब्दका वाच्यअर्थ आपने क्या माना है ? बताओ ! एक समानमें प्रधान हो रहे सत्त्व, असत्त्व, या नित्यत्व अनित्यत्व आदि दोनों धर्मोंसे आक्रान्त हो रही वस्तु यदि अवक्तव्य शब्दका वाच्य है, यदि ऐसा कहोगे तो उस वस्तुको सम्पूर्ण वाचकशब्दोंसे रहितपना कैसे हुआ ? जो कि आपने पूर्वमें कहा था। अब तो अवक्तव्यपद ही उसका वाचकशब्द भले प्रकार विद्यमान है। जैसे एक ही समय दो धर्मोंसे आक्रान्त हो रही वस्तुके कहनेमें संकेत किया गया अवक्तव्य यह पद उसका वाचक है, तिस प्रकार अन्य भी शब्द उसके वाचक क्यों न होंगे ? इसपर तुम यदि यह कहो कि वे अन्य पद तो युगपत् धर्मद्वयसे घिरी हुयी उस वस्तुका क्रम करके ही ज्ञान करा सकेंगे। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो तिस ही कारण यानी क्रमसे ही ज्ञान करानेवाला होनेसे अवक्तव्य इस पदको भी उस वस्तुका वाचकपना मत (नहीं) होओ ! क्योंकि उस अवक्तव्यशब्दसे भी एक ही समय प्रधान हो रहे सत्त्व असत्त्व, एकत्व अनेकत्व आदि धर्मोंसे घिरी हुयी वस्तुकी क्रम करके ही प्रतीति हो सकेगी। जैसे कि दोनों धर्मोंके शब्दोंके लिये संकेत कर लिये गये दूसरे पदोंसे क्रम करके ही वस्तुकी प्रतीति होती है। युगपत् दोनों धर्मोंके वाचक नहीं हो सकनेकी अपेक्षा सांकेतिक पद और अवक्तव्यपद इनमें कोई अन्तर नहीं है। दूसरी बात यह है कि अस्तित्व, वस्तुत्व, आदि धर्मोंके समान कहने योग्यपनका अभाव भी वस्तुका एक निराला धर्म है। बस अवक्तव्यपद करके उस वक्तव्यत्वाभावरूप ही एक धर्मका ज्ञापन होता है। इस कारण तिस प्रकार युगपत् अनेक धर्मोंसे आक्रान्त हो रही वस्तुका ज्ञापन करना किसी भी एक शब्दसे अच्छा नहीं घटित होता है। जिससे कि अवक्तव्यपद करके वह वस्तु प्रकटरूपसे वक्तव्य है। ऐसा एक विद्वान्का कहना युक्तिसंगत हो जाय। अर्थात् उन एक विद्वान्के मतानुसार तो अवक्तव्य भंग सिद्ध नहीं हो सकता है। युगपत् धर्मद्वयोंसे आक्रान्त वस्तुका न किसी अन्यशब्दसे निरूपण होता है और न अवक्तव्यशब्दसे ही प्रतिपादन होता है। अवक्तव्य कहनेसे तो केवल वस्तुका एक वक्तव्यत्वाभाव धर्म कहा गया। पूर्ण वस्तु या धर्मद्वयसे आक्रान्त हो रही वस्तु तो अवक्तव्य कैसे भी नहीं हुयी।

कथमिदानीं “ अवाच्यैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ” इत्युक्तं घटते ? सकृद्धर्मद्वयाक्रान्तत्वेनेव सत्त्वाद्येकैकधर्मसमाक्रान्तत्वेनाप्यवाच्यत्वे वस्तुनो वाच्यत्वाभावधर्मेणाक्रान्तस्यावाच्यपदेनाभिधानं न युज्यते इति व्याख्यानात् ।

जब कि आप जैन धर्मद्वयाक्रान्त वस्तुका अवक्तव्यशब्द द्वारा प्रतिपादन होना नहीं मानते हैं तो श्रीसमन्तभद्र स्वामीका यह कहना कैसे घटित होगा कि अवाच्यताका ही यदि एकान्त माना

जायगा तो अवाच्य (अवक्तव्य) इस प्रकारका कथन करना भी युक्त नहीं होता है ? । अर्थात् स्वामीजीके कथनसे प्रतीत होता है कि एक ही समय धर्मद्वयसे घिरी हुयी वस्तु एक अवक्तव्य शब्दसे कही जा सकती है । आचार्य कहते हैं कि ऐसे आक्षेप होनेपर हमारा यह कहना है कि देवागमकी उक्त कारिकाका व्याख्यान तुम कहते हो वैसा नहीं है, किन्तु इस प्रकार है कि एक समय दो दो धर्मोंसे आक्रान्तपने करके जैसे वस्तु अवाच्य है, उसी प्रकार सत्त्व, असत्त्व, आदिमेंसे एक एक धर्मसे आरूढपने करके भी वस्तुको यदि अवाच्य माना जायगा तो वाच्यत्वाभाव नामके एक धर्म करके घिरी हुयी वस्तुका अवाच्यपद करके कथन करना नहीं युक्त हो सकता है । भावार्थ—पूर्ण वस्तुको अवक्तव्यशब्दसे वाच्य नहीं माना जाता है, किन्तु वस्तुके वाच्यत्वाभाव नामक धर्मको कहनेके लिये अवक्तव्यशब्द है । यदि सर्वथा ही वस्तुके अवाच्यपनका एकान्त माना जायगा तो उस एक वाच्यत्वाभाव धर्मका भी अवाच्यशब्दसे कथन करना नहीं युक्त हो सकेगा ।

येन रूपेणावाच्यं तेनैव वाच्यमवाच्यशब्देन वस्त्विति व्याचक्षाणो वस्तु येनात्मना सत् तेनैवासदिति विरोधाकोभयैकात्म्यं वस्तुन इति कथं व्यवस्थापयेत् ? सर्वत्र स्याद्वाद-न्यायविद्वेषितापत्तेः । ततो वस्तुनि मुख्यवृत्त्या समानबलयोः सदसत्त्वयोः परस्पराभिधान-व्याघातेन व्याघाते सर्वेष्टविपरीतनिर्गुणत्वापत्तेः ।

स्वामीजीकी कारिकाके उत्तरार्धका यदि कोई इस प्रकार व्याख्यान कर रहा होय कि जिस स्वरूपसे वस्तु अवाच्य है, उस ही स्वरूप करके अवाच्यशब्दके द्वारा वाच्य है, ऐसा व्याख्यान करनेपर तो जिस स्वरूपसे वस्तु सत् है, उसी स्वरूपसे असत् है, यह भी कहा जा सकता है, तो फिर विरोध होनेके कारण वस्तुके दोनों धर्मोंका एकात्मपना नहीं होता है । यह कारिकाका प्रथम पाद कैसे व्यवस्थित हो सकेगा ? कारिकाके ऐसे अंट संट व्याख्यान करनेसे तो सभी स्थलोंपर स्याद्वादसिद्धान्तसे विशेष द्वेष रखनेवालेपनका प्रसंग होता है, जो कि कारिकाके द्वितीय पादमें कहा है । तिस कारण वस्तुमें मुख्य प्रवृत्तिसे आरोपे गये समानबलवाले सत्त्व और असत्त्व धर्मोंका परस्परमें कथन करनेका व्याघात हो जानेके कारण जब दोनोंका विनाश हो जायगा, ऐसा होने पर तो इष्टसिद्धान्तसे विपरीत हो चुकी वस्तुको गुण रहित हो जानेकी आपत्ति हो जायगी । अर्थात् सुन्द, उपसुन्द, न्यायसे तुल्यबलवाले दोनों गुणोंका नाश हो जायगा तो वस्तु निर्गुण हो जायगी । जो कि सबको अपने अपने इष्ट सिद्धान्तसे विपरीत पडती है ।

विवक्षितोभयगुणेनाभिधानात् अवक्तव्योऽर्थ इत्ययमपि सकलादेशः परस्परावधा-रितविविक्तरूपैकात्मकाभ्यां गुणाभ्यां गुणिविशेषणत्वेन युगपदुपक्षिप्ताभ्यामविवक्षिता-श्रभेदस्य वस्तुनः समस्तैकेन गुणरूपेणाभेदवृत्त्याभेदोपचारेण वाभिधातुं मशक्यत्वात् । स चावक्तव्यशब्देनान्यैश्च षड्भिर्वचनैः पर्यायान्तरविवक्षया च वक्तव्यत्वात् स्यादवक्तव्य इति निर्णीतमेतत् ।

विवक्षाको प्राप्त हुए अस्तित्व और नास्तित्व दोनों गुणोंको मिलाकर कथन करनेसे वस्तुभूत अर्थ अवक्तव्य है। इस प्रकार यह भी वस्तुके सकल अंशोंको कहनेवाला सकलादेश वाक्य है क्योंकि परस्परमें अवधारण किये गये अपने पृथक् पृथक् अकेले अकेले स्वरूपवाले और गुणवाली वस्तुके विशेषण होकर एक समयमें आरोपे गये दो अस्ति नास्ति गुणों करके ही उस पूर्ण वस्तुका कथन करनेके लिये प्रकरण प्राप्त हो रहा है, जिस वस्तुके कि अंशोंके विकल्प विवक्षाको प्राप्त नहीं हुए हैं, किन्तु अभेदवृत्ति या अभेदके उपचार करके गुण स्वरूपकी अपेक्षा समस्त वस्तुको एक मान लिया गया है। भावार्थ—विवक्षाको प्राप्त हुए दो अंश और नहीं विवक्षाको प्राप्त हुए अनेक अंश इन सबका पिण्डभूत वस्तु एक है। अतः अवक्तव्य शब्दकरके पूर्ण वस्तु कही गयी। यह जैन सिद्धान्तके अनुसार अभेद माननेपर ही सकलादेश द्वारा कहा जा सकता है। तथा यह वस्तु या अर्थ तीसरे भंगको कहनेवाले अवक्तव्य शब्द करके और अन्य छह भंगोंके वाचक छह वचनों करके दूसरे दूसरे पर्यायोंकी विवक्षासे कथन करने योग्य है। अतः पदार्थ कथञ्चित् अवक्तव्य है। इस प्रकार यह सिद्धान्त निर्णीत हो चुका। अर्थात् वस्तु अवक्तव्य होती हुयी भी सात भंगोंके वाचक शब्दों करके वक्तव्य है। हां! भेददृष्टिसे विकलादेशकी अपेक्षा वक्तव्यत्वाभाव नामका धर्म ही अवक्तव्य है।

एतेन सर्वथा वस्तुसत् स्वलक्षणमवक्तव्यमेवेतिमतमपास्तं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवचनव्यवहारस्य तत्राभावप्रसंगात्। यदि पुनरस्वलक्षणं शब्देनोच्यते निर्देश्यव्यावृत्त्या चानिर्देश्यशब्देन विकल्पप्रतिभासिन एवाभिधानात् न तु वस्तुरूपं परामृश्यत इति मतं, तदा कथं वस्तु तथा प्रतिपन्नं स्यात्? तथा व्यवसायादिति चेत् सोऽपि व्यवसायो यदि वस्तुसंस्पर्शी शब्दस्तं स्पृशतु करणवत्। न हि करणजनितं ज्ञानं वस्तु संस्पृशति न पुनः करणमिति युक्तम्। करणमुपचारात्तत्स्पृशतीति चेत् तथा शब्दोऽपीति समानम्।

इस उक्त कथन करके बौद्धोंके इस मतका भी खण्डन कर दिया जा चुका है कि परमार्थ रूपसे वस्तुभूत हो रहा स्वलक्षण पदार्थ तो सभी प्रकारोंसे अवक्तव्य है। वास्तविक सत् पदार्थको तो शब्द छूता ही नहीं है। हम (आचार्य) कहते हैं कि यदि स्वलक्षणको सभी प्रकारसे अवक्तव्य माना जायगा तो " स्वलक्षण कथन करने योग्य नहीं है, स्वलक्षण क्षणिक है, विशेषरूप है, " इत्यादि वचनोंके द्वारा व्यवहार होनेका अभाव उस स्वलक्षणमें प्राप्त हो जायगा। गुरु शिष्य उपदेष्टा आदि सब जने चुप होकर बैठ जायंगे। फिर यदि तुम बौद्धोंका यह मन्तव्य हो कि स्वलक्षण शब्दसे वस्तुभूत स्वलक्षण नहीं कहा जाता है। शब्दसे तो अन्यापोह कहा जाता है, जो कि अवस्तुभूत होकर विकल्पज्ञानमें प्रतिभास रहा है। स्वलक्षण शब्दसे अस्वलक्षण व्यावृत्ति कही जाती है जो कि स्वलक्षणसे भिन्न है। और अनिर्देश्य शब्दसे निर्देश करने योग्यपनकी व्यावृत्ति कही

जाती है । वास्तविकस्वरूपका तो शब्दसे विशिष्टज्ञान नहीं हो पाता है । ऐसा मन्तव्य होनेपर तो हम बौद्धोंसे पूंछते हैं कि तब आप वस्तुको तिस प्रकार अनिर्देश्य, क्षणिक, स्वलक्षण, आदि स्वरूपों करके कैसे समझ सकोगे ? बताओ ! यदि तिस प्रकार क्षणिकपन, अवक्तव्यपन, आदि करके वस्तुका निर्णय हो जानेसे उसकी प्रतिपत्ति होना मानोगे तो वह आपका माना हुआ निर्णय करना भी यदि वास्तविक अर्थका भले प्रकार स्पर्श कररहा है, तब तो शब्द भी इन्द्रियोंके समान उस वस्तुभूत अर्थको छूलेवे (विषय करलेवे)। भावार्थ—इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष जैसे यथार्थ वस्तुको जान लेता है । वैसे ही शब्दजन्य आगमज्ञान भी वस्तुको जान लेवे । इसपर कोई बौद्ध यदि यों कहे कि इन्द्रियजन्य ज्ञान तो वस्तुको विषय करता है । इन्द्रियां तो वस्तुको विषय नहीं करती हैं । तैसे ही जडशब्द भी वस्तुको नहीं स्पर्शता है, इसपर हमारा यह कहना है कि इन्द्रियोंसे जन्मा हुआ ज्ञान तो वस्तुको भले प्रकार स्पर्श करे, किन्तु फिर इन्द्रियां वस्तुका स्पर्श नहीं करें, यह कथन युक्तिपूर्ण नहीं है । इन्द्रियोंके विषय करनेपर ही इन्द्रियजन्य ज्ञान वस्तुको छू सकेगा । अन्यथा नाकसे रूप क्यों न देखलिया जाय ? इसपर बौद्ध कहते हैं कि कार्यका कारणमें उपचार करनेसे इन्द्रिय भी उस वस्तुको स्पर्शती है । ऐसा कहनेपर तो हम आपादान करेंगे कि तिस प्रकार शब्द भी वस्तुको विषय कर लेवे । इन्द्रिय और शब्द दोनोंमें आक्षेप और समाधान तुल्य हैं ।

शब्दजनितो व्यवसायोऽपि न वस्तु संस्पृशति इति चेत् कथं ततो वस्तुस्वरूपं प्रत्येयम् ? भ्रान्तिमात्रादिति चेत् न हि परमार्थतदनिर्देश्यमसाधारणं वा सिद्ध्येत् । दर्शनात्तथा सिद्धिरिति चेत् न, तस्यापि तत्रासामर्थ्यात् । न हि प्रत्यक्षं भावस्यानिर्देश्यतां प्रत्येति निर्देशयोग्यस्य साधारणासाधारणरूपस्य वस्तुनस्तेन साक्षात्करणात् ।

बौद्ध कहते हैं कि शब्दसे उत्पन्न हुआ निश्चयात्मक ज्ञान भी वस्तुको भले प्रकार नहीं छूता है । आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेपर तो हम वही प्रश्न उठायेंगे कि तिन बौद्ध शास्त्रों या बुद्ध वक्ताके शब्दोंसे वस्तुस्वरूपको तुम भला कैसे समझ सकोगे ? बतलाओ ! यदि केवल भ्रान्तिसे ही वस्तुका समझना मानोगे, तब तो परमार्थरूप स्वलक्षण अनिर्देश्य (अवक्तव्य) है । अथवा असाधारण (विशेष) है, यह नहीं सिद्ध हो पायेगा । यदि निर्विकल्पक दर्शन (प्रत्यक्ष) से तिस प्रकार अनिर्देश्य और असाधारण उस स्वलक्षणकी सिद्धि करोगे, यह तो ठीक नहीं पडेगा । क्योंकि उस आपके माने हुए प्रत्यक्षकी भी उन अनिर्देश्य आदिको जाननेमें सामर्थ्य नहीं है । प्रत्यक्षज्ञान इन बातोंका विचार नहीं कर पाता है कि यह वस्तु अवाच्य है, विशेषरूप है, सामान्य नहीं है, एक क्षणमें नष्ट हो जानेवाली है, इत्यादि । किन्तु विचार करना तो श्रुतज्ञानका कार्य है । प्रत्यक्ष ज्ञान तो पदार्थोंके अनिर्देश्यपनको नहीं जानता है, यह सभी मानते हैं । हां ! कथन करने योग्य और सामान्य विशेष आत्मक वस्तुका उस प्रत्यक्षसे साक्षात्कार हो जाता है ।

स्वलक्षणव्यतिरिक्ता केयं निर्देश्यता साधारणता वा प्रतिभातीति चेत् तस्यासाधारणताऽनिर्देश्यता वा केति समः पर्यनुयोगः। स्वलक्षणत्वमेव सेति चेत् समः समाधिः, साधारणतानिर्देश्यतयोरपि तत्स्वरूपत्वात्।

जैनोंके प्रति बौद्ध पूछते हैं कि स्वलक्षणसे भिन्न होकर यह आपकी बतलायी हुयी निर्देश्यता (वक्तव्यता) अथवा साधारणता (सामान्यपन) भला क्या प्रतिभास रही है ? बताओ ! ऐसा प्रश्न करनेपर तो हम जैन भी पूंछेगे कि आप बौद्धोंसे मानी गयी असाधारणता (विशेष) अथवा अनिर्देश्यता (अवाच्यता) भी उस स्वलक्षणसे न्यारी भला क्या दीखती है ! बताओ ! इस प्रकार सकटाक्ष चोद्य उठाना दोनोंके लिये समान (एकसा) है। इसपर आप बौद्ध यदि यों उत्तर दें कि असाधारणता और अनिर्देश्यता तो स्वलक्षण स्वरूप ही हैं, उससे न्यारी नहीं है, तब तो हमारी ओरसे भी यही समाधान समानरूपसे समझ लेना चाहिये कि साधारणता और निर्देश्यता भी उस वस्तुके स्वलक्षणस्वरूप ही हैं। स्वभाववान्के स्वभाव उसके स्वरूप ही होते हैं।

तर्हि निर्देश्यं साधारणमिति स्वलक्षणमेव नामान्तरेणोक्तं स्यादिति चेत् तदप्यसाधारणमनिर्देश्यमिति किं न नामान्तरेण तदेवाभिमतम्। तथेष्टौ वस्तु न साधारणं नाप्यसाधारणं न निर्देश्यं नाप्यनिर्देश्यमन्यथा चेत्यायातम्। ततोऽकिञ्चिद्रूपं जात्यन्तरं भवता दूरीकर्त्तव्यं गत्यन्तराभावात्।

बौद्ध कहते हैं कि तब तो निर्देश्य और साधारण इस प्रकारके पर्यायवाची दूसरे शब्दों करके स्वलक्षण ही कहा गया कहना चाहिये। जैन आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेपर तो तुम बौद्धोंके यहां भी असाधारण और अनिर्देश्य इन दूसरे पर्यायवाची शब्दों करके वह स्वलक्षण ही कहा गया क्यों न मान लिया जावे ? अर्थात् स्वलक्षण भी शब्दके द्वारा आपके यहां कहा गया हुआ साधारण और निर्देश्य शब्द करके स्वलक्षण कथन किये जानेपर भी आप यों प्रसन्न हो सकते थे कि जब शब्द वस्तुको छूता ही नहीं है तो अनिर्देश्य और साधारण शब्दको बकने दो, स्वलक्षण तो कान मूंद करके बैठा हुआ है, किन्तु आपके अभीष्ट अनिर्देश्य और असाधारण शब्द तो यों ही बकवाद करके न चले जायेंगे। उन्हें तो वस्तुकी गोदमें आपको बैठाना पडेगा। तभी आपके इष्टतत्त्वकी सिद्धि हो सकेगी और तिस प्रकार इष्ट करनेपर तो वस्तु न तो साधारण है। असाधारण भी नहीं है। कथन करने योग्य भी नहीं है और अवक्तव्य भी नहीं है। अन्य प्रकारके धर्मोंसे भी नहीं है, यह सिद्धान्त आया। क्योंकि शब्दके द्वारा जो कहा गया वह आपके मतानुसार ठीक नहीं माना गया है। तिस कारण साधारण असाधारण या निर्देश्य अनिर्देश्य अथवा दूसरे प्रकारसे वस्तुका कुछ भी स्वरूप न रहा, किन्तु आपने वस्तु मानी है। अतः तीसरी भिन्न जातिकी वस्तु कुछ भी स्वरूपोंको रखती हुयी दूर नहीं की जा सकेगी। आपके पास वस्तुके कुछ स्वरूपोंके

सिद्ध करनेके लिए दूसरे उपाय हैं नहीं। भावार्थ—शद्बके द्वारा ही वस्तुके स्वरूप सिद्ध किये जा सकते हैं। किन्तु बौद्धोंने शद्बको वस्तुस्पर्शी माना नहीं है। अब क्या उपाय शेष रहा ? प्रत्यक्ष तो स्वभावोंका निर्णय नहीं कर सकता है। अनुमान केवल समारोपोंको दूर करता रहता है। " पोतकाक " न्यायसे शद्बकी ही शरण लेना आवश्यक है।

तदकिञ्चिद्रूपं चेत् कथं वस्तु व्याघातं सकृत्कल्पितरूपाभावादकिंचिद्रूपं नानुभूयमानरूपाभावादिति चेत् तदाप्यसाधारणं तत्किमिदानीमनुभूयमानरूपं वस्तु स्थितं ? तथा वा स्थाने तैमिरिकानुभूयमानमपीन्दुद्वयं वस्तु स्यात्।

उस वस्तुका स्वरूप कुछ भी नहीं है, यदि ऐसा कहोगे तो बताओ ! वह वस्तु कैसे बनेगी ? कुछ भी स्वरूप नहीं है और वह वस्तु है, ऐसा एकबार कहनेमें व्याघातदोष है। अर्थात् जो कुछ भी नहीं है, वह वस्तु नहीं हो सकती है और जो वस्तु है, वह " कुछ नहीं " नहीं हो सकती है। इसपर यदि बौद्ध यों कहें कि (एक बार ही) कल्पना कर लिये गये अनेक स्वरूप तो वस्तुमें नहीं हैं। इस कारण वस्तु अकिञ्चित् स्वरूप है यानी व्यवहारिक शद्बोंसे बोले गये धर्मों करके उसका कुछ भी स्वरूप नहीं है। हां ! प्रत्यक्षज्ञानरूप अनुभवमें आरहे स्वरूपोंके अभावसे वस्तु अकिञ्चित्रूप होय ऐसा नहीं है। अर्थात् वस्तुके प्रत्यक्ष करने योग्य स्वरूप तो वास्तविक हैं। आचार्य कहते हैं कि ऐसा करनेपर तो हम पूंछेंगे कि तुम्हारे यहां भी माना गया वस्तुका वह असाधारणस्वरूप क्या इस समय अनुभवमें आरहा होकर स्थित हो रहा है ? यदि वस्तुके तिस प्रकार असाधारणरूपसे अनुभव किये गये स्वरूपकी श्रद्धा करोगे, तब तो तमारा रोगवाले पुरुषके द्वारा अनुभूत हो रहे दो चन्द्रमा भी वस्तुभूत हो जायेंगे। भावार्थ—एक ही समय दो चन्द्रमा देखनेमें अभी तक नहीं आये हैं, किन्तु आधी मिची हुयी आंखमें अंगुली गाढकर देखनेपर या नेत्र–विकार हो जानेपर दो चन्द्रमाका विशेषरूपसे नवीन ज्ञान होता है। ऐसे असाधारण अनुभवके विषय दो चन्द्रमा वस्तुभूत हो जायेंगे। अथवा धसूरको खानेवाले या पीलिया रोग वाले पुरुष द्वारा असाधारणरूपसे देखा गया सब सोना भी वास्तविक हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है।

सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणं वस्तु नान्यदिति चेत् तर्हि यथा प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानं तादृशं वस्तु तद्वल्लिंगशद्बादिविकल्पोपदर्शितमपि देशकालनरान्तराबाधितरूपत्वे सति किं नाभ्युपेयते विशेषाभावात्। ततो जात्यन्तरमेव सर्वथैकान्तकल्पनातीतं वस्तुत्वमित्युक्तेः स्यादवक्तव्यमिति सूक्तम्।

यदि आप यों कहो कि जिस पदार्थके असम्भव होनेको बाधा देनेवाला प्रमाण भले प्रकार निर्णीत हो चुका है। अथवा जिस पदार्थके सद्भावकी सिद्धिमें बाधक होरहे प्रमाणका असंभव

है वह वास्तविक पदार्थ है। अन्य पदार्थ वस्तुभूत नहीं है। एक समय एक ही क्षेत्रमें दो चन्द्रमाको जाननेवाला ज्ञान बाधासहित है। अतः दो चन्द्रमा परमार्थभूत नहीं हैं, तब तो हम कहेंगे कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा अनुभवकी जारही तैसी बाधारहित वस्तु यथार्थ है। उसीके समान अविनाभावी हेतु, संकेत ग्रहण किया शब्द, चेष्टा आदिसे उत्पन्न हुए विकल्पज्ञानद्वारा प्रदर्शित किये पदार्थ भी दूसरे देश, अन्य काल, और भिन्न भिन्न व्यक्तियोंसे अबाधित स्वरूप होनेपर वस्तुभूत क्यों न मान लिये जावें। प्रत्यक्ष और विकल्पसे जाने गये विषयमें कोई अन्तर नहीं है। भावार्थ—संपूर्ण देश और सम्पूर्ण काल तथा अखिल व्यक्तियोंके द्वारा जो बाधारहित होकर जान लिया गया है, चाहे वह प्रत्यक्षसे जाना गया हो या विकल्पज्ञानसे जाना हो। वस्तुभूत पदार्थ है। प्रत्यक्ष और विकल्पज्ञानसे जाने गये पदार्थके परमार्थपनेमें कोई अन्तर नहीं है। तिस कारण सभी प्रकार एकान्तोंकी कल्पनाको उल्लंघन करता हुआ सर्वथा निर्देश्य या अनिर्देश आदिसे विलक्षण जातिवाला पदार्थ ही वस्तुभूत है। ऐसा कहनेसे कथञ्चित् जीव आदि वस्तु अवक्तव्य हैं। इसी बातको भले प्रकार कहा जा चुका है। यहांतक तीसरा भंग अवक्तव्य सिद्ध हुआ।

" क्रमार्पिताभ्यां तु सदसत्त्वाभ्यां विशेषितं " जीवादि वस्तु स्यादस्ति च नास्ति-चेति वक्तुं शक्यत्वाद्वक्तव्यं स्यादस्तीत्यादिवत्।

क्रमसे विवक्षित किये गये सत्त्व और असत्त्व धर्मोंकरके विशिष्ट होते हुए तो जीव आदि वस्तु कथञ्चित् अस्ति और नास्तिस्वरूप हैं। इस प्रकार कह सकनेके कारण चौथे भंगद्वारा जीव आदि वस्तु कथञ्चित् वक्तव्य हो जावे, जैसे कि स्यादस्ति इत्यादि वाक्योंसे कहने योग्य होनेके कारण स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, और स्यादवक्तव्य इन भंगोंके द्वारा वस्तुको कहने योग्य सिद्ध किया जा चुका है। इस चौथे भंगमें विशेष विवाद नहीं है। अतः थोडे कथनसे ही कार्यसिद्धि हो गयी है।

कथमस्त्यवक्तव्यमिति चेत् प्रतिषेधशब्देन वक्तव्यमेवास्तीत्यादि विधिशब्देनावक्तव्य-मित्येके, तदयुक्तं, सर्वथाप्यस्तित्वेनावक्तव्यस्य नास्तित्वेन वक्तव्यतानुपपत्तेः विधिपूर्वक-त्वात् प्रतिषेधस्य। सर्वथैकान्तप्रतिषेधोऽपि हि विधिपूर्वक एवान्यथा मिथ्यादृष्टिगुणस्था-नाभावप्रसंगात्। दुर्नयोपकल्पितं रूपं सुनयप्रमाणविषयभूतं न भवतीति प्रतिषेधे सर्वथैका-न्तस्य न कश्चिद्व्याघातः।

पांचमा भंग अस्त्यवक्तव्य कैसे बनता है? ऐसी आक्षेपसहित शंका होनेपर कोई एक विद्वान् ऊपरसे ही समाधान करते हैं कि निषेधवाचक नास्ति शब्द करके तो जीव आदिक वक्तव्य ही हैं, किन्तु अस्ति इत्यादिक विधि (सत्ता) वाचक शब्द करके जीव आदिक अवक्तव्य हैं। अतः अस्ति होकर अवक्तव्य हो गया। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार एक विद्वान्का यह कहना युक्ति रहित है। क्योंकि सर्व प्रकारसे भी अस्तित्व धर्मकरके नहीं कहे जाने योग्य जीव आदिकका नास्ति-पने करके भी वक्तव्यपन नहीं सिद्ध होता है। कारण कि पूर्वमें जब किसीकी सत्ता प्रतीत हो जाती

है, तब पीछे उसका निषेध किया जाता है। अन्यत्र विद्यमान होरहे घटका रीते भूतलमें निषेध करते हैं। खरविषाणका निषेध नहीं हो सकता है। देखो ! सर्वथा एकान्तोंका निषेध करना भी अवश्य विधिपूर्वक ही माना गया है। मिथ्याज्ञानी प्रथम गुणस्थानमें मिथ्या अभिनिवेशके वश होकर एकान्तोंको मान लेते हैं और सम्यग्ज्ञानी उन एकान्तोंका निषेध कर देते हैं। अन्यथा यानी एकान्तोंको यदि सभी प्रकारसे न माना जायगा तो मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके अभावका प्रसंग होगा। खोटी नयोंसे गढ लिया गया पदार्थका स्वरूप श्रेष्ठ नय और प्रमाणोंका विषयभूत नहीं होता है। इस कारणसे भी सर्वथा एकान्तोंका निषेध करनेमें कोई व्याघातदोष नहीं है। अर्थात् एकान्तका निषेध भी विधिपूर्वक ही होता है। अतः पांचमे भंगके लिये एक विद्वान्की बनायी गयी रीति प्रशस्त नहीं है।

अस्तित्वविशिष्टतया सहार्पिततदन्यधर्मद्वयविशिष्टतया च वस्तुनि प्रतिपित्सिते तदस्त्यवक्तव्यमित्यन्ये, तदप्यसारम्। तत्रास्त्यवक्तव्यावक्तव्यादिभंगान्तरप्रसंगात्। ततोऽपि सहार्पिततदन्यधर्मद्वयविशिष्टस्य ततोप्यपरसहार्पितधर्मद्वयविशिष्टस्य वस्तुनो विवक्षाया निराकर्तुमशक्तेः प्रतियोगिधर्मयुगलानामेकत्र वस्तुन्यनन्तानां सम्भवात् तेषां च सहार्पितानां वक्तुमशक्यत्वात् अस्त्यनन्तावक्तव्यं वस्तु स्यात् तच्चानिष्टम्।

अस्तित्व धर्मकी विशिष्टतासे और एक साथ विवक्षित किये गये उससे भिन्न अस्ति, नास्ति, इन दो धर्मोंकी विशिष्टतासे वस्तुके जाननेकी इच्छा उत्पन्न होनेपर वह वस्तु कथञ्चित् अस्ति होकर अवक्तव्य है। इस प्रकार अन्य कोई विद्वान् पांचमे भंगकी उपपत्ति कर रहे हैं, वह भी उनका कथन निस्सार है। क्योंकि यों तो उन अस्ति और नास्तिसे भिन्न दूसरे दो धर्मोंकी विवक्षा करनेपर दूसरे तीसरे कई अवक्तव्योंको मिलाकर अस्तिअवक्तव्य-अवक्तव्य आदि अन्य भंगोंके बढजानेका प्रसंग होगा। उससे भी न्यारे अन्य साथ कहनेके लिये विवक्षित किये गये और उससे भिन्न दो धर्मोंसे विशिष्ट वस्तुकी तथा उनसे भी भिन्न न्यारे साथ अर्पित किये दो धर्मोंसे विशिष्ट वस्तुकी विवक्षाका निराकरण करनेके लिये अशक्ति है। एक वस्तुमें नित्य अनित्य, एकत्व अनेकत्व, इष्ट अनिष्ट, आदि प्रतियोगीस्वरूप अनन्त युगलिया धर्मोंका सम्भव है और एक समयमें साथ अर्पणा कर लिये गये उन धर्मोंकी कहनेके लिए अशक्यता होनेके कारण अस्ति होकर अनन्त अवक्तव्य धर्मवाली वस्तु हो जायगी, किन्तु इस ढंगसे वे अनन्त अवक्तव्य धर्म इष्ट नहीं हैं। अतः पांचमे भंगका यह ढंग भी अच्छा नहीं है।

येन रूपेण वस्त्विति तेन तत्प्रतियोगिना च सहाक्रान्तं यदा प्रतिपत्तुमिष्टं तदास्त्यवक्तव्यमिति केचित्, तेऽपि यावद्भिः स्वभावैः यावन्ति वस्तुनोस्तित्वानि तत्प्रतियोगिभिस्तावद्भिरेव धर्मैः, यावन्ति च नास्तित्वानि तद्युगलैः सहार्पितैस्तावन्त्यवक्तव्यानि च रूपाणि ततस्तावन्त्यः सप्तभंग्य इत्यायातास्ते चेत् प्रतिष्ठन्त्येव युक्त्यागमाविरोधात्।

जिस स्वरूपकरके वस्तु है उससे तो अस्ति है, किन्तु उस स्वरूप करके और उसके प्रतियोगी धर्मकरके घिरी हुयी होकर एक ही समयमें समझनेके लिये जब इष्ट की गयी है, तब अस्त्यवक्तव्यरूप है। इस प्रकार कोई पांचमे भंगकी पुष्टि कर रहे हैं। वे भी यदि इस प्रकार स्पष्ट कह देवें कि जितने स्वभावों करके एक वस्तुके जितने अस्तित्वरूप भावधर्म हैं और उन धर्मोंके प्रतियोगीरूप उतने ही स्वभावों करके जितने नास्तित्वरूप धर्म हैं, उतने एक समय साथ विवक्षित किये गये उन अनेक युगलधर्मों करके उतनी संख्यावाले अनेक अवक्तव्यस्वरूप हो जाते हैं। और तिन अवक्तव्योंसे उतनी संख्यावालीं सप्तभंगियां बन जाती हैं। तब तो युक्ति और आगमसे अविरोध होनेके कारण उनका कथन प्रतिष्ठित हो ही जाता है अन्यथा नहीं। भावार्थ—वस्तुको अस्ति या एकत्व, नित्यत्व, आदि धर्मोंसे युक्त करते हुए और युग्मधर्मकी साथ विवक्षा करनेपर पांचमा भंग बन जाता है।

एतेन नास्त्यवक्तव्यं चिन्तितं प्रत्येयं, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यं च वस्त्विति प्रमाण-सप्तभंगी सकलविरोधवैधुर्यात् सिद्धा। नयसप्तभंगी तु नयसूत्रे प्रपञ्चतो निरूपयिष्यते।

इस उपर्युक्त कथनसे नास्त्यवक्तव्य नामके छठे भंगका विचार और सिद्धि समझ लेना चाहिये। अर्थात् नास्ति होकर युग्म धर्मसे साथ विवक्षित होती हुई वस्तु नास्त्यवक्तव्य धर्मसे कही जाती है। तथा सातवां भंग कथञ्चित् अस्ति, नास्ति, और अवक्तव्यस्वरूप वस्तु है, यह भंग भी वस्तुके अस्तित्व, नास्तित्व, और अवक्तव्य धर्मोंकी एक साथ योजना करनेपर बन जाता है। अनेक वादियोंके भिन्न प्रकारके एकान्त हो रहे हैं। अद्वैतवादियोंका सत्तारूप ही एकान्त है और तत्त्वोपप्लव वादियोंका नास्तित्वरूप एकान्त है। बौद्ध तत्त्वोंको अवक्तव्य माननेका आग्रह कर रहे हैं। वैशेषिक भाव अभावरूप निरपेक्ष अस्ति नास्तिके एकान्तमें मग्न हैं। शंकराचार्यके मतानुयायी आत्माको अस्ति मानकर अवक्तव्य मानते हैं। माध्यमिक पदार्थको नास्ति होकर अवक्तव्य स्वीकार करते हैं। श्वेताम्बर अस्ति, नास्ति, मानकर अवक्तव्य कह रहे हैं, किन्तु स्याद्वादसिद्धान्तके अनुसार परस्परकी अपेक्षा रखते हुए सातों धर्म वस्तुभूत इष्ट किये जाते हैं। इस प्रकार जीव आदि वस्तु (धर्मी) में प्रमाण द्वारा निर्दिष्ट की गयी सप्तभंगी संपूर्ण विरोधोंके रहितपनेसे सिद्ध करदी गयी है और नय सप्तभंगी तो नय प्रतिपादक अन्तके सूत्रमें विस्तारसे निरूपण की जावेगी। स्थूलदृष्टिसे विचारा जाय तो शब्द द्वारा नयसप्तभंगी और प्रमाण-सप्तभंगीमें कोई अन्तर नहीं है, किन्तु भंगोंका निरूपण करते समय प्रतिपत्ताका यदि वस्तुके धर्मपर लक्ष्य है तो नय-सप्तभंगी हो जाती है और पूर्ण वस्तुरूप धर्मीपर यदि लक्ष्य स्थित है तो प्रमाण-सप्तभंगी हो जाती है। विशेष कथन आगे करेंगे।

ततः परार्थोऽधिगमः प्रमाणनयैर्वचनात्मभिः कर्तव्यः स्वार्थ इव ज्ञानात्मभिः, अन्यथा कार्त्स्न्येनैकदेशेन च तत्त्वार्थाधिगमानुपपत्तेः।

तिस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि वचनस्वरूप प्रमाण और नयों करके दूसरे श्रोताओंके लिये ज्ञप्ति की जानी चाहिये। जैसे कि ज्ञानस्वरूप प्रमाण और नयों करके स्वयं अपने लिये अधिगम

करना योग्य है । अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे पूर्णरूप और एकदेश करके तत्त्वार्थोंका अधिगम होना नहीं बन सकता । सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, सम्भव, आदि उपाय तो अधिगतिके ज्ञापक हेतु नहीं हैं । यहांतक " प्रमाणनयैरधिगमः " इस सूत्रका संकलन कर दिया है ।

——=×=——

छठे सूत्रका सारांश

इस सूत्रके प्रकरणोंका संक्षेपसे विवरण यों है कि प्रथम ही नाम आदिकसे निक्षिप्त किये गये पदार्थोंको पूर्णरूप और एकदेशसे अधिगम होना प्रमाण और नयोंसे बताया गया है । प्रमाण और नय ज्ञानोंको अपनी ज्ञप्ति तो अभ्यास तथा अनभ्यासदशामें स्वतः परतः हो जाती है । नयकी अपेक्षा प्रमाणको पूज्यपना है । नयज्ञान प्रमाणरूप नहीं है और अप्रमाण भी नहीं है । किन्तु प्रमाणभूत श्रुतज्ञानका एकदेश है । तैसे ही नयका विषय भी वस्तु है और अवस्तु न होकर वस्तुका एकदेश है । उसके बाद आचार्योंने अवयवी पदार्थको सिद्ध किया है । बौद्धोंके तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसायसे विषय नियम माननेका खण्डन किया गया है । ज्ञान निरंश और क्षणिक नहीं है, किन्तु सांश और कालान्तरस्थायी है । सत्त्वकी क्षणिकत्वके साथ व्याप्ति नहीं है । बौद्धोंके मतका खण्डन हो चुकनेपर ब्रह्माद्वैतवादियोंके स्वतःसिद्ध हाथ लग गये तत्त्वका भी आचार्योंने निरास कर दिया है । विशेषके विना सामान्य रहता नहीं है । केवल अंश या अंशीको नयज्ञान जानता है, किन्तु अंश और अंशीके समुदाय वस्तुको प्रमाण जानता है । वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंका कथन करनेवाला प्रमाणवाक्य है और वस्तुके विकल अंशका निर्देश करनेवाला नय–वाक्य है । प्रमाणके द्वारा वस्तुको जानकर उसके अंशको जाननेमें विवाद होनेपर नयज्ञान प्रवर्तता है । असंज्ञी जीवोंके नयज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं है । श्रुतज्ञानके विषयमें ही नयकी प्रवृत्ति है । मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानको मूल मानकर उनके विषयमें नयोंकी प्रवृत्ति नहीं है । अपना और अर्थका निश्चयस्वरूप विकल्प करना अधिगम है । वह प्रमाण और नयों करके किया गया अभिन्न फल है । ज्ञानमें स्वयंकी ज्ञप्ति होना अच्छी युक्तियोंसे घटाया है, जिस बातको कि कोई एकान्तवादी नहीं मानता है । संवाद और असंवादसे प्रमाणपन और अप्रमाणपन व्यवस्थित हो रहा है । विपर्यय ज्ञानमें स्वके लिये योग्य अर्थका विशेषरूपसे निश्चय नहीं है । प्रमाण और नयरूप करणोंसे अधिगमरूप फल कथंचित् भिन्न है । यहां बौद्धोंकी मानी हुई प्रमाण फलव्यवस्थाका और तदाकारताका खण्डन कर ज्ञानावरणके विघटनसे ग्राह्य ग्राहकपन सिद्ध किया है । प्रमितिका साधकतम होनेसे भावइन्द्रियां प्रमाण हैं । अज्ञान निवृत्ति प्रमाणका अभिन्न फल है, तथा हान उपादान और उपेक्षा बुद्धियां प्रमाणसे भिन्न फल हैं । किन्तु एक आत्मामें होनी चाहिये । प्रमाण और फलके भेद और अभेदका अच्छा विचार किया है ।

ज्ञानस्वरूप प्रमाण और नयोंसे स्वके लिये अधिगम होता है। तथा वचनस्वरूप या शब्दस्वरूप प्रमाण नयोंकरके दूसरोंके लिए अधिगम होता है। मति आदि पांच ज्ञान हैं। अस्ति आदिक सात भंगोंसे प्रवृत्त रहा सात प्रकारका शब्द है। प्रश्नके वशसे सात भंगोंकी प्रवृत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं है। बौद्धोंका माना हुआ शब्दोंकी योजनासे शून्य स्वलक्षण पदार्थ कुछ नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण सामान्यविशेषात्मक वस्तुको ग्रहण करता है। सदृश परिणामरूप व्यञ्जन पर्यायें ही शब्दोंके द्वारा कही जाती हैं, सूक्ष्म पर्यायें नहीं। किन्तु उनसे अभिन्न द्रव्यका जैसे तैसे प्रतिपादन हो जाता है, संख्यात शब्दों करके कथन करने योग्य अनन्त धर्मोंके वचनमार्ग अनन्त सप्तभंगीरूप हो सकते हैं, जैसे सदृश गोशब्द वाणी, पशु, आदि दश अर्थोंको कह देता है। वस्तुके परिणामोंका लक्ष्य रखकर नयको जाननेवाला विद्वान् सप्तभंगोंकी प्रक्रियाका योजन करता है। सात धर्मोंमेंसे कोई भी एक धर्म शेष छह धर्मोंसे अविनाभाव रखता है। स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागसे वस्तुपनकी व्यवस्था है। स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे वस्तु है। परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। वस्तुभूत कल्पित सात धर्म सात विवादोंको पैदा करते हुए सात प्रकारकी जिज्ञासाके अनुसार सात प्रश्नोंके उत्तरस्वरूप सात भंगोंका निरूपण करा देते हैं। न्यून अधिक भंग होनेके लिये सम्भावना नहीं है। सब इन्हींमें ही गर्भित हो जाते हैं। दूसरे धर्मोंकी अपेक्षासे यदि प्रश्न उठाये जांयगे तो दूसरी सप्तभंगियां यहां हो जावेंगी। इस प्रकार एक वस्तुमें असंख्य सप्तभंगियां हो जाती हैं। कोई अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव, दोष नहीं आता है। अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये वाक्यमें अवधारण करना आवश्यक बतलाया है। अन्यथा कहना न कहना बराबर है। तीन प्रकारके एवकारोंको पुष्टकर निपातोंको वाचक और द्योतक स्वीकार करते हुए शब्दका विधिनिषेधात्मक अर्थ सिद्ध किया है। यह विचार बडा चमत्कारक है। प्रत्येक वाक्यके द्वारा कोई न कोई पदार्थ व्यवच्छेद्य अवश्य होता है। सर्व, ज्ञेय, आदि पदोंका भी व्यवच्छेद्य अर्थ है। स्याद्वादसिद्धान्तके अनुसार सर्वव्यवस्था बन जाती है। जैसे कि संयोग सम्बन्धसे पर्वतमें अग्नि है और निष्ठत्वसम्बन्धसे अग्निमें पर्वत रहता है। अथवा पत्नीका स्वामी पति है किन्तु पतिकी भी स्वामिनी पत्नी है। यही पतिपत्नी सम्बन्ध है। पति शब्दका ही स्त्रीलिङ्गमें पत्नी बन जाता है जिस शब्दके साथ एव लगाया जाता है, उसीसे अवधारण अर्थका कथन होकर एवसे द्योतित कर दिया जाता है। अजीवकी सत्ता करके भी जीव अस्तिरूप न हो जाय, इसके लिये स्यात्कारका प्रयोग करना आवश्यक है। स्यात् शब्दसे अनेकान्तका द्योतन होता है। स्यात् लगाने पर ही एवकार शोभित होता है। अभेदवृत्ति और अभेद उपचारसे सकलादेशद्वारा संपूर्णवस्तुका युगपत् निरूपण हो जाता है और भेदकी विवक्षासे विकलादेश द्वारा क्रमसे कथन होता है। काल आदि आठोंसे भेद और अभेद अर्पित किये जाते हैं। यहां स्याद्वादकी प्रक्रियाके उत्पादक बीजभूत पदार्थोंकी सिद्धि की गयी है। स्यात् शब्दके द्वारा अनेकान्तके ध्वनित होनेपर भी

विशेष प्रतिपत्तिके लिये अस्ति आदिक शब्दोंका प्रयोग करना अनिवार्य है। चाहे बोलो, या न बोलो, स्यात्कार और एवकार अपने काम करनेके लिये वाक्यमें जुड ही जाते हैं। आगे सकलादेश और विकलादेशका निर्णय किया गया है। शब्दसे कहा गया धर्म प्रधान है। शेष अर्थापत्तिसे ज्ञायमान धर्म अप्रधान हैं। शब्दोंके गौण, मुख्य दोनों अर्थ अभीष्ट हैं। आदिके तीन भंग निरंश हैं, यानी उनमें एक एक अंश है। चौथे आदिमें दो तीन अंश है। मूल दो भंगोंके उन्नायक अनेक मार्ग हैं। जीव और अस्तिमें कथञ्चित् भेदाभेद है। अनेकान्तरूप अभेद्य किलेमें बैठे हुए स्याद्वादियोंके ऊपर एकान्तवादियोंकी ओरसे दिये गये संकर, व्यतिकर, आदि दोष आघात नहीं पहुंचा पाते हैं। प्रत्युत भूषण बन जाते हैं। अनेकान्त अनेकान्तरूप ही है, यह भी एकान्त इष्ट किया गया है। विवक्षित नयसे साधागया एकान्त भी अनेकान्तका पोषक है। इन सिद्धान्तोंको आचार्य महाराजने श्रीसमन्तभद्राचार्यके वचनोंका प्रमाण देकर साधा है। मूल दो भंगोंकी सिद्धिके पश्चात् दोनों भंगोंकी युगपत् विवक्षा होनेपर अवक्तव्य भंगकी पुष्टि की है। यहां एकान्तवादियोंकी ओरसे आये हुए उपद्रवोंका श्रेष्ठ युक्तियोंसे निराकरण किया है। अपनी बुद्धिसे गढ लिया गया भी कोई शब्द दो धर्मोंको एकदम नहीं कह सकता है। यहां अवक्तव्य धर्मका बहुत बढिया व्याख्यान किया है। शब्दके द्वारा वास्तविक अर्थ छूना न माननेवाले सौगतोंके प्रतिबाधक प्रमाणोंके असम्भवका निर्णय हो जानेसे वस्तुव्यवस्था सिद्ध की है। संक्षेपसे चौथे भंगको सिद्ध कर पांचमें भंगके विवादोंको हटाकर अस्त्यवक्तव्यका निरूपण किया है, तथा छठे सातवें भंगका निरूपणकर सूत्रका संकलन कर दिया है। इस सूत्रके भाष्यमें अन्य भी अनेक अवान्तर प्रकरणोंका विचार चलाकर सप्तभंग-प्रक्रियाको स्याद्वाद-सिद्धान्तके अनुसार साधा गया है। सहृदय, प्रतिभाशाली, विद्वान्, अनुमनन कर विशेषरूपसे शास्त्ररहस्यको हृदयंगत कर सकेंगे। इस ग्रन्थका जितना गहरा घुसकर विचार किया जायगा, उतना ही रहस्य अधिक प्राप्त होगा।

" स्याद्वाद और अनेकान्त "

मुमुक्षु जीवोंको आराधने योग्य और सम्यग्ज्ञानका अनन्तवां भाग श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानमें भी अनभिलाप्य ज्ञानका अनन्तवां भाग शब्द द्वारा प्रतिपाद्य होता है। क्षपक श्रेणीमें कर्मोंका समूल चूल नाश करनेमें जो शुक्लध्यान होता है, वह श्रुतज्ञानकी ही अंश उपांशोंको जाननेवाली पर्यायोंका पिंड है। मति, अवधि और मनःपर्ययज्ञान कर्मक्षय करनेमें समर्थकारण नहीं हैं। हां! श्रुतज्ञानरूप सहस्रधार खड्ग ही घातिकर्म शत्रुओंका नाशकर कैवल्य साम्राज्यलक्ष्मीका अव्यवहितरूपसे सम्पादन करता है।

इस ही कारण नय, उपनय, स्याद्वाद, अनेकान्तपद्धति, सप्तभंगी, आदि द्वारा श्रुतज्ञानकी

आराधना करना मोक्ष पुरुषार्थका बीज है। श्रुतज्ञान अंशी होकर प्रमाण है। नय, उपनय, ये श्रुतज्ञानके अंश हैं।

वस्तुके कतिपय धर्मोंको शब्द द्वारा समझने, समझानेवाले, प्रतिपाद्य, प्रतिपादकोंके ज्ञानका बीज स्याद्वाद वाङ्मय है। स्याद्वाद और अनेकान्तका इतिहास अनादि है। एकान्तोंपर इनकी दिग्विजय भी सनातन है। अनेकान्तका क्षेत्र व्यापक है, जब कि स्याद्वादका प्रतिपाद्य विषय व्याप्य है। अर्थात् बहुभाग अनन्तानंत अनेकान्तोंमें संख्यात संख्यावाले शब्दात्मक स्याद्वादोंकी प्रवृत्ति नहीं भी है। अनेकान्त वाच्य है, स्याद्वाद वाचक है। इनका कर्णधार श्रुतज्ञान है। भव्यमुमुक्षु सम्यग्ज्ञानी आत्मा इन धर्मवैचित्र्यों और विविध वचन कलाओंका प्रभु है। अनन्त धर्मोंका अविष्वभाग पिंड हो रही वस्तुके अनुजीवीगुण प्रतिजीवीगुण, आपेक्षिक धर्म, पर्याय शक्तियां, एवं पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, सप्तभंगीविषय नाना स्वभाव आदि अनेक वृत्तिमान् धर्मोंको अनेकान्त कहते हैं। एक वस्तुमें विरोधरहित अनेक विधिनिषेधोंकी कल्पना करना सप्तभंगी है।

वस्तुके स्वभाव हो रहे भाव और अभाव ये दो धर्म ही शेष पांच भङ्गोंके व्यवस्थापक हो जाते हैं। सर्वत्र अनेकान्तका साम्राज्य है। किन्तु स्याद्वादप्रक्रिया आपेक्षिक धर्मोंमें प्रवर्तती है। अनुजीवी गुणोंमें नहीं। पुद्गल रूपवान् है, आत्मा ज्ञानवान है, मोक्षमें अनन्तसुख है। ऐसे स्थलोंपर सप्तभंगीका प्रयोग करना अनुचित है। सम्यक्एकान्त तथा मिथ्याएकान्त और सम्यक्अनेकान्त तथा मिथ्याअनेकान्तके समान सप्तभंगीके भी समीचीनसप्तभंगी और मिथ्यासप्तभंगी ये दो भेद होते हैं।

स्यात्के साथ अवधारण करनेवाला एवकार भी लगा हुआ है।

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे घटको अस्ति कहते हैं। उसी समय परसम्बन्धी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों करके घटका नास्तित्व भी प्रस्तुत है।

अनुजीवी, प्रतिजीवी हो रहे भाव, अभाव दोनोंका बल समान है। यदि भावपक्षको सामर्थ्यशाली और अभाव पक्षको निर्बल माना जायगा तो निर्बल द्वारा बलवान्की हत्या करनेपर साङ्कर्यदोष हो जानेके कारण वस्तु स्वयंको भी रक्षित नहीं रख सकेगी। शनैः शनैः भोजन करनेपर मध्यमें अस्पर्शन और अरसनके व्यवधान पड रहे जाने जा रहे हैं। भोग्यसे अतिरिक्त व्यञ्जनोंका अरसन भी तत्कालीन व्यवहृत हो रहा है।

गोल पंक्तिमें लिखे हुये अक्षरोंके ऊपर छेदोंकी गोल पंक्तिवाली चालनीके रख देनेपर व्यवहित हो रहे अक्षर नहीं बांचे जाते हैं। किन्तु उन अक्षरोंके ऊपर चलनीको शीघ्र घुमा देने या डुलादेनेसे वे अक्षर व्यक्त, अव्यक्त पद लिये जाते हैं। यहां चलनीके घुमानेपर शुक्लपत्रके ऊपर लिखे हुये काले अक्षरोंकी शीघ्र शीघ्र आभा पड जानेसे पत्रकी शुक्लतामें कुछ कालापन और अक्षरोंके कालेपनमें भूरेपनकी आभा पड जाती है। चक्रमें अनेक लकीरोंको कई रंगोंसे लम्बा

खींचकर पुनः उसको शीघ्र घुमा देनेपर आभाओंका साङ्कर्य निरखिये । साथ ही मध्यमें रीते अन्तरालोंको भी देखते जाइये । चौकीपर धरे हुये भूषणको देखते समय सिंह, सर्पादिका अभाव ही हमको निर्भय कर रहा है । अन्यथा सिंह, सर्प, विष, आदिके सद्भावकी प्रतीति हो जानेपर भूषण, भोजनादिको छोडकर द्रष्टा, रसयिता, स्पृष्टा पुरुष न जाने कहां भागता फिरेगा । यों जगत्के सभी व्यवहार लुप्त हो जायेंगे, शून्यवाद छाजायेगा ।

अतः भाव, अभाव, स्वभावोंसे गुम्फित हो रही वस्तु माननी पडती है । यों स्वकीय देश, देशान्श, गुण, गुणान्शोंसे अस्तित्वस्वरूप और अन्यदीय देश, देशान्श गुण गुणान्शों करके नास्ति स्वरूप हो रहे पदार्थोंमें स्वभावभूत आपेक्षिक धर्मों और सप्तभंगी विषयक कल्पित धर्मोंका अवलम्ब लेकर १ स्यादस्ति २ स्यान्नास्ति ३ स्यादवक्तव्य ४ स्यादस्तिनास्ति ५ स्यादस्त्यवक्तव्य ६ स्यान्नास्त्यवक्तव्य ७ स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य, ये सात वाक्य बना लिये जाते हैं ।

यह अस्तित्वधर्म उस अस्तित्वधर्मसे न्यारा है, जो कि अस्तित्व, वस्तुत्वादि छः सामान्य गुणोंमें अनुजीवी होकर पढा गया है । अस्तित्वके समान नित्यत्व, एकत्व, भेद्यत्व, पृथक्त्व आदि धर्मोंका आलम्बन पाकर शब्दमुद्रा करके अगणित संख्यात सप्तभङ्गियां हो सकती हैं । और ज्ञानमुद्रासे अनन्ती सप्तभङ्गियां समझली जाती हैं ।

सकलादेश और विकलादेश द्वारा प्रमाण सप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गीका प्ररूपण हो जाता है, यह स्याद्वादका चमत्कार है । अब अनेकान्तके विवरणको यों परखिये—

पुद्गलमें केवलज्ञान, या आकाशमें रूप अथवा मुक्त जीवोंमें मिथ्याज्ञान आदि स्थलोंपर ही विरोधदोष माना जाता है । किन्तु अग्निमें शीतलता, जलमें उष्णता, सूर्यका पश्चिममें उदय होना, विषभक्षणसे आरोग्य होना, एक ज्ञानमें प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनोंका होना, आदि विरोधी सरीखे दीख रहे विषयोंमें विरोध नहीं है । देखिये—

एक देवदत्तमें पितापन, पुत्रपन, भानजापन, भतीजापन, भाईपन आदि धर्म अविरोधरूपसे वर्त रहे हैं । संयोग सम्बन्धसे पर्वतमें अग्नि है, किन्तु निष्ठत्व सम्बन्धसे अग्निमें वही पर्वत ठहरता है । स्वनिष्ठविषयिता निरूपितविषयिता सम्बन्धसे अर्थमें ज्ञान निवास करता है । साथ ही स्वनिष्ठ विषयता निरूपितविषयिता सम्बन्धसे ज्ञानमें अर्थ ठहर जाता है । जन्यत्व सम्बन्धसे बेटेका बाप है । उसी समय जनकत्व सम्बन्धसे तदैव बापका बेटा है । समवाय सम्बन्धसे डालियोंमें वृक्ष है तदेव तदैव समवेतत्वसम्बन्धसे वृक्षमें डालियां हैं । यों धर्मीका धर्म बन जाना और धर्मका धर्मी बन जाना जैनसिद्धान्त अनुसार कोई विरोध नहीं रखता है । अग्निमें दाहकत्व पाचकत्व, स्फोटकत्व, शोषकत्व, प्रकाशकत्व धर्मोंके साथ ही शैत्यसम्पादकत्व धर्म भी है । अग्निसे भुरसे हुयेको अग्निसे ही सेका जाता है । " विषस्य विषमौषधं " " गर्मीका इलाज गर्मी ही है ", जलसे सींचनेपर तो

घावमें चौगुनी दाह बढती है। जलकी जमाई हुई बर्फके टुकडे टुकडेमें गर्मी घुसी हुई है। समुद्रमें बडवानल है।

एक कच्चे और पके चने या चावलमें मध्यकेन्द्रसे लेकर ऊपरतक पचासों पर्तोंतक न्यारे न्यारे अनेक स्वाद हैं। सात हाथकी लाठीको मध्यमें पकडकर बालक भी उठा सकता है। इसके उष्टमांश भागको पकडकर युवा पुरुष उठा लेता है। किन्तु अन्तिम मात्र आधा इञ्च भागको पकडकर तो कोई बडा पहलवान् भी नहीं उठा सकता। यहां लाठीके सर्व अवयवोंमें झोंक नामक पर्याय शक्तिके न्यारे न्यारे अनेक वस्तुभूत धर्म वर्त रहे मानने पडते हैं।

ढाई द्वीपमें सभी क्षेत्रोंकी अपेक्षा सुदर्शन मेरु उत्तर दिशामें है। इस सिद्धान्तानुसार सूर्यका पश्चिममें उदय होना अबला, बालक सभी समझ जाते हैं। "अष्टसहस्री" में एक स्थानपर लिखा हुआ है कि—अनेक जीव विषकी "मरण करा देना" शक्तिका ज्ञान रखते हुए भी उसकी कुष्ठ दूर करनेकी शक्तिका परिज्ञान नहीं कर पाते हैं। एक लौकिक दृष्टान्त है कि—किसी प्रसिद्ध नगरमें एक धुरन्धर वैद्य रहता था। वहां अनेक वैद्य, हकीमों, डाक्टरोंसे निराश होकर एक उदुंबर कुष्ट रोगी आया। धुरन्धर वैद्य महाराज प्रत्येक रोगीको देखकर औषधिका परचा लिख दिया करते थे। रोगी लेखानुसार बाजारसे दवाई खरीद कर इष्ट सिद्धि कर लेते थे। यह कुष्ठ रोगी भी प्रसिद्ध वैद्यजीके पास चिकित्सा करानेके लिये उपस्थित हुआ। वैद्यजीने कष्टसाध्य रोगका निदान कर और काकतालीयन्यायके समान असम्भव नहीं किन्तु अशक्य, अद्वैत औषधिका सेवनपत्रपर लिखकर रोगीको दे दिया। और कह दिया कि इस रोगका इलाज अतीव कठिन है, तुम कुछ दिनमें मर जाओगे।

दुःख पीडित दरिद्र रोगी भी हताश होकर शीघ्र मृत्युको चाहता हुआ वनकी ओर चल दिया। वहां पहुंच कर देखता है कि एक नरकपालमें तत्कालवर्षाके भरे हुये पानीको काला भुजङ्ग पी रहा है। मरणाकांक्षी कोढीने मृत्युका बढिया उपाय समझकर खोपडीके विषमय जलको भाप कर पीलिया, उसी समयसे वह रोगी चङ्गा होने लगा। और कुछ ही दिनोंमें हृष्ट, पुष्ट, बलिष्ठ, गर्विष्ठ होकर अनुभवी वैद्यजीके निकट आया, और कहने लगा कि आपने मेरी चिकित्सा करनेकी उपेक्षाकी थी। किन्तु मैं आपके सामने नीरोग, बलवान् खडा हुआ हूं। कहो तो तुम्हें ही पटक मारूं ? वैद्यजीने कहा कि तुम्हारे रोगकी केवल एक ही औषधि थी जो कि मैंने परचेमें लिख दी थी। उस दवाईका मिलना शक्यानुष्ठान नहीं समझकर हमने तुम्हारी चिकित्सा करनेका निषेध कर दिया था। वैद्यने उस भूतकुष्ठरोगीसे अपनी औषधिका लिखा हुआ पत्र निकलवाया। उस परचेमें जहरीले काले प्रचण्ड सर्पके द्वारा मनुष्य खोपडीमें भरे हुये तत्कालीन वर्षाके पानी पी लेनेका औषधि सेवन लिखा पाया गया।

यों अनेकान्तका साम्राज्य सर्वत्र छा रहा है। संखिया, हरताल आदि अनेक विषोंकी औषधियां बनाई जाती हैं। ज्वर आदि रोगोंका नाश कर देती हैं।

वस्तुमें रक्खे हुये अनेकान्त रत्नोंका स्याद्वादकोट द्वारा रक्षण करते हुये जिज्ञासु सैनिकों करके एकान्तदृष्टियोंका निराकरण कर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है।

निरन्श परमाणु भी सान्श है। परमाणु आप ही अपना आदि भाग है और स्वयं ही अपना पूरा मध्यभाग है। तथा स्वयं पूरा शरीर ही उसका अन्त है। यों एक परमाणुमें अनन्तानंत परमाणु प्रविष्ट होकर संयुक्त हो रहे हैं। किन्तु परमाणु भी एकान्तरूपसे निरन्श नहीं हैं। चौकोर बरफीके समान छह पहलोंको धारण करनेवाले परमाणुके शक्तिकी अपेक्षा, छः मूर्त अन्श हैं। यद्यपि बरफीके प्रत्यक्षमें आठ कोने दीखते हैं। तथापि बरफी स्थूल है। परमाणु अतिसूक्ष्म है। बरफीके एक कोनेसे दूसरी बरफीके कोने भले ही मिल जायं, किन्तु अन्य बरफीकी अखंड भीत नहीं भिड सकती है। अतः कोनोंको उपमान न समझकर बरफीके पहलोंको परमाणुके अन्शोंका दृष्टान्त मान लेना चाहिये। बरफीकी चौरस भीतें छः हैं। यदि बरफीके सभी ओर अन्य बरफियां रखदी जावें तो मध्यवर्ती बरफीकी एक एक ओरकी भीतोंको छूती हुई छः बरफियां संसर्ग करेंगी। ठीक इसी प्रकार अत्यन्त छोटे परमाणुकी चारों दिशाओंमें चार और ऊपर, नीचे, इस प्रकार छः परमाणुयें न्यारे न्यारे छः अन्शोंमें संबंधित हो जावेंगी। सभी भेद और स्कंधोंकी समानताका दोष प्रसङ्ग भी निवृत्त हो सकेगा। अतीव अणीयान् पदार्थ भी निरंश होकर सांश है।

प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्न २ क्षेत्रोंमें वर्त रहा आकाश पदार्थ कल्पित सांश है। साथ ही अखण्डद्रव्य हो रहा आकाश निरंश भी है। चौकोर बरफीके समान—जैसा परमाणु है, ठीक उसी प्रकार आकाश द्रव्य भी छः पहलवाला पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः इन छहों ओरसे एकसा चौकोर हो रहा अखण्डद्रव्य है। सबसे छोटे परमाणु और सबसे बडे आकाशकी व्यञ्जनपर्याय सदृश है। इसी बातको श्रीवीरनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्तीने आचारसार ग्रन्थके तृतीयाधिकारमें यों लिखा है कि—

अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः। कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्त्रस्त्वतीन्द्रियः॥
व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं, चतुरस्रं समं घनम्। भावावगाहहेतुश्चानंतानंतप्रदेशकम्॥

एक बार मैं गुरुवर्य पं. गोपालदासजीके साथ दक्षिण देशकी यात्राको गया था। वहां श्री बाहुबलिस्वामीकी अत्यन्त छोटी मूर्तिके दर्शन किये। और साथ ही जैनबद्रीमें श्रीबाहुबलि स्वामीकी बृहदाकार शान्तरसमय मूर्तिका दर्शन कर कृतार्थ हुआ।

उस समय परमाणुका लघु शरीर और ठीक उसीके समान आकृतिवाले आकाशका महापरिमाण दृष्टान्तरूपेण स्मरणपथपर आगया था। लोकमें सर्प नकुलका, सिंह गायका, भेडिया बकरीका विरोध माना जाता है। किन्तु सच पूंछो तो इनमें भी एकान्तरूपसे विरोध नहीं है। सर्कसके तमा-

शेमें भले ही इनका विरोधाभाव भय मूलक होवे, किन्तु क्षमाशील मुनि महाराजके निकट या समव-सरणमें इनका सख्यभाव है। यह बात केवल आगमाश्रित ही नहीं है। प्रत्युत युक्तिसिद्ध और अनुभव प्रसिद्ध भी है।

कतिपय प्रमाणज्ञानोंमें भी अप्रमाणता अनुप्रविष्ट हो रही है और मिथ्याज्ञानोंमें भी प्रमाणपना घुस रहा है। श्रीसमन्तभद्राचार्यने।

भावप्रमेयापेक्षायां, प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिःप्रमेयापेक्षायां, प्रमाणं तन्निभं च ते ॥

इस कारिकाद्वारा उक्त प्रामाण्य, अप्रामाण्यके अनेकान्तको पुष्ट किया है। स्वको जाननेमें सभी मिथ्याज्ञान प्रमाण हैं। झूंठ बोलनेवाला यदि अपनेको झूंठा कहे तो उतने अंशमें वह सच्चा है।

ठूंठमें हुये पुरुष या स्थाणुके संशयज्ञानमें ठूंठमें हो रहे घोडा या हाथीके संशयज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणताका विशेष अंश माना जायेगा। अधखुली आंखके पलकमें स्वल्प अंगुली गाढनेपर एक चन्द्रमामें हुये दो चन्द्रमाके विपर्ययज्ञानमें लोटेको घोडा जाननेवाले विपर्ययज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणपनका अंश अप्रमाणताके साथ अधिक माना जावेगा। परीक्षकोंको न्याय उचित बात स्वीकार कर लेना चाहिये। यह तो हुई मिथ्याज्ञानोंमें प्रमाणपनके साङ्कर्यकी बात।

अब बहुतसे सर्वाङ्गरूपेण प्रसिद्ध हो रहे प्रमाणोंमें भी अप्रमाणपनकी झलक निरखिये।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने २ विषयोंमें एक देशसे अविसंवाद रखते हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान तो अपने नियत विषयोंमें पूर्णरूपेण सम्वादी हैं। हां! केवलज्ञान सम्पूर्ण वस्तुओंको जाननेमें परिपूर्ण विशद है। इस कारण परिपूर्णरूपसे प्रमाणपनका अधिकारी है। इस प्रकार पांचों ज्ञानोंमें तीन ढंगसे प्रमाणपना प्रसिद्ध हो रहा है। भले ही केवलज्ञान सबको जानता है। फिर भी रसनाइन्द्रिय जनित प्रत्यक्षसे जैसे लड्डूके रसका अनुभव होता है, वैसा केवलज्ञानसे नहीं। केवलज्ञानकी विषयतासे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंकी विषयता बाल बाल न्यारी बची हुई है।

जैन न्यायका यह अखण्ड सिद्धान्त है कि—" यावन्ति कार्याणि तावन्तः स्वभावभेदाः वस्तुनि सन्तिः " जितने भी छोटे बडे कार्य जिस अर्थसे होते हैं उतने वस्तुभूत स्वभाव उस पदार्थमें अनिवार्य विद्यमान हैं। मनःपर्यय और अवधिज्ञानमें भी देशघाति प्रकृतियोंका उदय कुछ बिगाड कर देता है। तभी तो " यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता " यह सिद्धान्त जागरूक हो रहा है। सफलप्रवृत्तिजनकत्व, निर्बाधत्व, समारोपविरोधकत्व, इनमेंसे कोई भी अविसंवाद जहां जैसा जितने परिमाणमें घटित होगा वहां उतने परिमाणमें प्रमाणपना माना जावेगा। प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति, प्राप्तिकी एक अधिकरणता या प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्ति अथवा ज्ञेयमें अभीष्ट अर्थक्रियाकारित्व इन संवादोंसे भी प्रामाण्य व्यवस्थित हो रहा है। प्रायः मतिज्ञान, श्रुतज्ञानोंमें अप्रमाणपनकी पोल चल रही है। जिस ज्ञानमें जितनी पराधीनता होगी उतना ही वह मन्द होगा। चाक्षुष प्रत्यक्षको ही

लीजिये। किसी वृक्षको एक कोस दूरसे देखा जाय छोटा दीखेगा। जितना जितना वृक्षके निकट पहुंचते जायेंगे उतना उतना बडा दीखता जायगा।

वृक्षकी ठीक लम्बाई, चौडाई, कहांसे दीखती है, इसका निर्णय करना कठिन है। यों तो इनमेंसे सभी प्रत्यक्ष अपने द्वारा ठीक ठीक जाननेका दावा बखान रहे हैं। आखिर वृक्षकी यथार्थ लम्बाई, चौडाई, किसी न किसी प्रत्यक्षसे दीखती जरूर है। अथवा क्या सूर्यविमानके गडबड प्रत्यक्षोंके समान ये प्रत्यक्ष भी होवें ? । वास्तविक इनकी परीक्षा दुःसाध्य है। इसी तरह दूरसे वृक्षका रूप काला दीखता है। निकटसे हरा दीखता है। मध्यस्थानोंसे देखनेपर हरे और काले रंगका मिश्रण तारतम्यरूपसे प्रतीत होरहा है। वृक्षका ठीक रूप किस स्थानसे दीखा है इसका निर्णय कौन करे ? एक शुक्ल वस्त्रको घाममें, छायामें, दीपकके प्रकाशमें, बिजलीके प्रकाशमें उजिरियामें देखनेपर अनेक ढङ्गोंके शुक्लरूप दीखते हैं, भले ही बिजली आदि निमित्तोंसे वस्त्रके शुक्ल रूपमें कुछ आक्रान्ति हो गई होय। फिर भी इस बातका निर्णय करना शेष रह जाता है कि वस्त्रका असली वर्ण किस प्रकाशमें दीखा था। न्यारी न्यारी आंखें भी रूपके देखनेमें बडी गडबड मचा देती हैं।

घडी बनानेवाले या चित्र दिखानेवाले पुरुषोंके पास एक प्रकारका कांच होता है। उस कांचके द्वारा दशगुना या हजारगुना लम्बा चौडा पदार्थ देखलिया जाता है। सूक्ष्म कीटोंको देखनेवाले यंत्रसे तो एक बाल भी मोटी रस्सीके समान दीख जाता है। इसी प्रकार चक्षुःइन्द्रियमें प्रतिबिम्बित हो रहा पदार्थ भी यथार्थ एकलाख गुना प्रतिभास जाता है। इससे चक्षुके अप्राप्यकारीपनको निराकरण नहीं हो जाता है। हां ! यथार्थ ग्रहणको धक्का अवश्य लग जाता है।

सैकडों दर्पणोंमेंसे सम्भवतः कोई एक दर्पण ही शुद्ध होता होगा जो कि प्रतिबिम्ब्य पदार्थका ठीक ठीक प्रतिबिम्ब लेता होय। इसके विपरीत किसी दर्पणमें लम्बा, किसीमें चौडा, किसीमें पीला, किसीमें लाल, इत्यादि विकृतरूपसे मुख दीखते हैं। इसी तरह बालक, कुमार, युवा, वृद्ध, बीमार, निर्बल, सबल, घी खानेवाला, सूखा खानेवाला, बैल, गृद्ध, बिल्ली, उल्लू, आदि जीवोंकी आखोंमें भी प्रतिबिम्ब पडनेका अवश्य अन्तर होगा। यदि ऐसा न होता तो भिन्न २ नम्बरोंके चश्मे अनेक तादृश मनुष्योंको क्यों अनुकूल पडते हैं ? बताओ ! मोतियाबिन्दु रोगवालेका चश्मा किसी निरोग विद्यार्थीको उपयुक्त नहीं होता है। बात यह है कि पदार्थोंके ठीक ठीक लम्बाई, चौडाई, रंग और विन्यासका चाहे जिसकी आंखोंसे यथार्थ निर्णय होना कठिन है।

इधर सभी बालक, वृद्ध, रोगी अपने अपने ज्ञानको ठीक मान बैठे हैं। बडे मोटे अन्तरके देखनेपर तो बाधायें उपस्थित करते हैं। परन्तु छोटे अन्तरोंपर तो किसीका लक्ष्य भी नहीं पहुंच पाता है। यदि हम केवल वृक्ष या शुक्ल वस्त्र अथवा मुखका ही ज्ञान कर लें तो ठीक भी था। किन्तु आंखोंको बुरी आदतें पडी हुई हैं। अंट, संट, सद्भूत, असद्भूत विशेषणोंका अवगाह कर

चट विशिष्टबुद्धियोंको उपजा देती हैं। चाक्षुषप्रत्यक्षमें उन लम्बाई, चौडाई, रङ्ग, चपटापन आदि अवास्तविक सूक्ष्म अंशोंका भी प्रतिभास हो चुका है। जो कि यथार्थ नहीं हैं। यही ढङ्ग रसना इन्द्रियमें भी समझ लेना। अधिक भूंख लगनेपर जो घेवरका स्वाद आता है वह तृप्त होनेपर नहीं। उस एक ही पदार्थको खाते खाते मध्यमें स्वाद लेनेकी अनेक न्यारी न्यारी अवस्थायें गुजरती हैं। एक तोले वजनवाले मोटे कौरके मात्र ऊपरले कागज समान पतले भागका ही जिह्वासे स्वाद आता है। बहुभाग तो यों ही गटक कर पेटमें ढकेल दिया जाता है। रंधे हुये ऊपर नीचे लग रहे ५०० चावलोंके कौरमें कतिपय स्वाद हैं, किन्तु सैकडों पर्तोंवाले चावलकी प्रत्येक परतका स्वाद भी न्यारा है।

यों सूक्ष्मतासे विचारनेपर एक ही वस्तुमें भिन्न २ परिस्थितिके हो जानेपर दशों प्रकारके स्वाद अनुभूत हो रहे हैं। पेडा खानेके पीछे सेवफलका वैसा मीठा स्वाद नहीं आता है जैसा कि पेडा खानेके पहिले आ सकता है, भले ही जीभको खुरच लिया जाय। बहुतसे पुरुषोंका कहना है कि बाल्यावस्थामें फल, दुग्ध, चणक, मिष्ठान्न आदिके जैसे स्वाद आते थे वैसे युवा अवस्थामें आते ही नहीं हैं। कुमार अवस्थाकेसे स्वाद बूढेपनमें नहीं मिलते हैं।

यद्यपि उस अवस्थाकी लार, दांतोंसे पीसना, चबाना उदराग्निसन्दीपन, बुभुक्षा, आदिसे भी स्वाद लेनेमें अन्तर पड जाता है। फिर भी कहना यही है कि फल आदिके ठीक रसका ज्ञान किस अवस्थामें हुआ था ? सो समझाओ।

एक ही पदार्थको खाकर जब कि बालक युवा, रोगी, आदि सभीने अपने रासन प्रत्यक्षोंमें स्वादके अनेक विशेषको जान लिया है, तब ऐसी दशामें सबके रासन मतिज्ञानोंको सर्वाङ्गरूपसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता है।

स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी मोटे मोटे अंशोंमें प्रमाण है। छांट कर लिये गये सूक्ष्म अंशोंमें नहीं। तर्जनी अंगुलीके ऊपर मध्यमा अंगुलीको चढालो, फिर अग्रिम दो पोटराओंकी बीच सन्धिमें किसी चने बराबर एक गोलीको चौकी या दूसरे हाथकी हथेलीपर भरकर डुलाओ। तुमको दो गोली मालूम पडेंगी।

हम लोगोंको आपेक्षिक ज्ञान अधिक होते हैं। ज्वरी पुरुषको वैद्यका शरीर शीतल प्रतीत होता है। जब कि वैद्यको ज्वरीका हाथ उष्ण ज्ञात हो रहा है। ठण्डे पानीमें अंगुली डालकर कुछ उष्ण जलमें अंगुली डाल देनेसे उष्ण स्पर्शका प्रतिभास होता है। साथ ही अधिक गर्म जल में अंगुली डुबोकर पुनः उसी किञ्चित् गर्म जलमें अंगुली डाल देनेसे शीतस्पर्शका ज्ञान होता है।

अधिक मिरच खानेवालेको स्वल्प मिरच पडे व्यंजनमें चिरपरा स्वाद नहीं आता है। किन्तु दूध पीनेवाले बालकका उस स्वल्प मिरचवाली तरकारीसे पूरा मुंह झुलस जाता है।

हम लोगोंके शरीरमें अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे पदार्थके स्पर्शको जाननेकी न्यारी न्यारी

परिणतियां होती रहती हैं । कहना तो यही है कि किस समयकी परिणतिसे सम्बन्धित वस्तुके स्पर्शको ठीक ठीक जान लिया है इसका निर्णायक उपाय हमारे पास नहीं ।

घ्राण इन्द्रियजन्य ज्ञानमें भी यही टंटा लग रहा है । दूरसे, समीपसे, और अतिशय निकट से उसी गन्धका ज्ञान होनेमें जो विशेषतायें बिना बुलाये अंटसंट झलक रही हैं । वे अयथार्थ ज्ञानांश हो रहीं उस अवयवी ज्ञानकी प्रामाणिकतामें टोटा डाल देती हैं । एक गन्धद्रव्यमें नाना व्यक्तिओंको भिन्न २ प्रकारकी वासें आ रही हैं । श्लेष्म रोगीको तो गन्धज्ञानमें बहुत चूक हो जाती है । कोई कोई पुरुष तो हींगडा, कालानमक, लहसुन, मूरा आदिकी गन्धोंमें सुगन्ध या दुर्गन्धपनेका ही निर्णय अपने विचार अनुसार कर बैठे हैं । जो कि एक दूसरेसे विरुद्ध पडता है । तभी तो गोम्मटसारमें अनुकूलवेदन और प्रतिकूलवेदनका लक्ष्यकर सुगन्ध और दुर्गंधको पुण्य पाप, दोनोंमें गिनाया है । लेकिन सुगन्ध और दुर्गंधका निर्णय किसकी नाकसे कराओगे ? ।

शद्बके श्रावण प्रत्यक्षमें भी ऐसी पोलें चल रहीं हैं । दूर, निकटवर्ती, शद्बोंके सुननेमें अनेक अन्तर पड जाते हैं । बहिरङ्ग कारणोंके समान अन्तरङ्ग क्षयोपशम, शल्य, मिजाजबिगड़ना, प्रसन्नता, दुःख, रोग, आदिकी अवस्थाओंमें भी अनिवार्य अनेक प्रकार छोटे, बडे विसंवाद हो जाते हैं ।

श्रुतज्ञानमें भी अनेक स्थलोंपर पोलम्पोल मच रही है । किसी वस्तुका श्रुतज्ञान करते समय ही इष्टको अनिष्ट और अनिष्टको इष्ट समझ लिया जाता है । जब सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका यह हाल है तो विचारे परोक्ष श्रुतज्ञानोंमें तो और भी झंझटें पडेंगी ।

किसी मनुष्यने सहारनपुरमें यों कहा कि बम्बईमें दो पहलवानोंकी भिड़ी (कुश्ती) हुई । एक मल्लने दूसरेको गिरा दिया । दर्शकोंमेंसे प्रधान धनिकने विजेता मल्लको एक हजार रुपये पारितोषक (इनाम) में दिये । यहां विचारिये कि श्रुतज्ञान करनेवाला श्रोता पुरुष यदि कहे हुये शद्बोंके मात्र वाच्य अर्थका ही ज्ञान कर लेता तो उतना श्रुतज्ञान सर्वाङ्गीण ठीक मान लिया जाता । किन्तु सहारनपुरमें वक्ताके सन्मुख बैठा हुआ श्रोता उसी समय अपनी कल्पनासे लम्बे, चौडे अखाडेको गढ लेता है । एक मल्लको काला दूसरेको गोरा मान लेता है । दर्शक लोग कुर्सीपर बैठे हुये हैं, कोट, पतलून, पगडी, अंगरखा आदि पहने हुये हैं । प्रधान पुरुष रत्नोंके अलंकारोंसे मण्डित हो रहा मध्यमें सिंहासनपर बैठा हुआ है । हजार रुपयोंमें सौ सौ रुपयोंके दश नोट थे । विजेता मल्ल प्रसन्नतावश इधर उधर उछलता फिरा होगा । इत्यादि बहुतसी ऊट पटांग बातोंको भी साथ ही साथ उसी श्रुतज्ञानमें जानता रहता है, जो कि झूंठी हैं । श्रोता भी विचारा क्या करे ? झूंठी कल्पनाओंके बिना उसका काम ही नहीं चल सकता है । लडनेवाले मल्ल अमूर्त तो हैं नहीं । अतः उनकी काली, गोरी, मोंछवाली या बिना मोंछवाली मूर्त्तिको अपने मनमें गढ लेगा । आकाशमें तो कोई भिड़ी होती नहीं है । अतः अखाडेकी भी कल्पना करेगा । विचारे देखनेवाले पुरुष कहां बैठे होंगे । अतः कुरसी, मूढा, दरी, चटाई आदिको भी अपने

श्रुतज्ञानमें झलकायेगा'। बात यह है कि एक छोटेसे श्रुतज्ञानमें चौगुनी, अठगुनी, बातें सच्ची, झूंठी घुस बैठती हैं। महापुराणको सुनकर भरत और बाहुबलीके युद्धमें भी बहुतसी असद्भूत बातें जोडली जाती हैं। भले ही चक्रवर्त्तीका मुंह पश्चिमकी ओर हो, किन्तु श्रोताओंके ज्ञानमें पूर्व, दक्षिणकी ओर भी जाना जा चुका है। ऐसी कल्पित कितनी कितनी गलतियोंको भगवान् जिनसेनाचार्य कहांतक कंठोक्त कहकर सुधरवा सकेंगे।

सहारनपुरमें एक बलड आदमी है। उसको जरासा छेड देनेपर घंटोंतक कानोंको चैन नहीं लेने देता है। प्रत्येक शहरमें एक दो आदमी और प्रत्येक मुहल्लेमें दो चार स्त्रियां ऐसी होती होंगीं, जो बातें करती २ नहीं अघाती हैं। वे " तुम कहांसे आरहे हो " इतना प्रश्न करते ही अपना अत्यावश्यक कार्य छोडकर भी खाने, पीने, अदालत, सुनार, मकान आदिकी बातें बनाकर आकाश, पातालीय कुलावे जोडकर दिमाग खाली कर लेते हैं।

एक दिन उन गप्पाष्टकी महाशयने मुझसे जयजिनेन्द्र किया। मैंने शिष्टतावश उनसे, आप अच्छे हैं ? ऐसा प्रश्न कर दिया। मेरे इतने कहनेपर ही उन्होंने अपना व्याख्यान शुरू कर दिया। ऐसे जीव अपना हर्जा उठाकर या सुननेवालेको कुछ घूंस देकर भी अपनी बातें सुनानेकी खुजली मिटानेके लिये उत्सुक रहा करते हैं। मुझको विद्यालय जानेकी जल्दी पड रही थी, किन्तु वावदूक महाशयकी व्यर्थाव्यर्थ वाग्धारा कथमपि नहीं टूटी। वहीं एक दूसरे मेरे मिलनेवालेने चुपकेसे कहा—कि आपने कहां बर्रोंके छत्तेपर हाथ डाल दिया, वह तो सबका कपार चाट जाता है। जल्दी मचानेपर भी मुझे उस दिन पौन घण्टेका विलम्ब हो गया। यहां मुझे यही कहना है कि— यही गपोडबाजीकी इल्लत हमारे अनेक शद्बजन्य शाद्बबोधोंमें भरी हुई हैं। एक शद्ब सुनते ही शाद्बबोध करनेवाला न जाने कितने लम्बे चौडे संकल्प विकल्पोंकी डांकगाडी छोड देता है, जिनके कि विशेष्य, विशेषण बहुभाग झूंठे हैं।

पदार्थके अन्यून और अनतिरिक्त ज्ञानको सम्यग्ज्ञान माना गया है। तभी तो दो अंगुलीको एक समझना और एक चन्द्रमाको दो समझना विपर्यय नामका मिथ्याज्ञान है। कहे हुयेसे अधिकको याथातथ्यरहित जान लेना सम्यग्ज्ञान नहीं है।

तीर्थंकर भगवान्के जन्मकल्याणक अवसरपर इन्द्र आता है। पतितपावन भगवान्को सुमेरुपर्वतपर ले जाता है। इस कथनकी कितने आकार प्रकारकी सूरतें, मूर्तें बनाकर श्रोताजन श्रुतज्ञानकर बैठे हैं। इसके लिखनेके लिये बीसों पत्र चाहिये। भले ही सुमेरुपर्वतका चित्र खींचना त्रिलोकसारसे विरुद्ध पड जाय। इसकी कोई परवा नहीं है। जैसे पहिले कोई पहाड या जलाशय देखा सुना है, उससे मिलती, जुलती, आकृति गढली जाती है। फिर विचारे संशय, विपर्यय अनध्यवसाय ज्ञानोंको ही क्यों मिथ्यापनकी गाली सुनाई जा रही है। कतिपय सत्यज्ञानोंमें भी तो कलियुगी बाबाजियोंके समान पोलें चल रही हैं। उक्त संपूर्ण बातोंका निर्णय श्रीविद्यानन्द स्वामीने " तत्प्रमाणे " इस सूत्रके भाष्यमें बहुत अच्छा कह दिया है।

प्रमाणव्यवहारस्तु, भूयः संवादमाश्रितः। गंधद्रव्यादिवद्भूयो, विसंवादं तदन्यथा ॥

प्रमाणपनेका व्यवहार तो बहुभाग संवादसे सम्बन्ध रखता है। और जिस ज्ञानमें बहुभाग या तीखे अंशोंमें विसंवाद है उस प्रमाणमें अप्रमाणपनका व्यवहार करना चाहिये। जैसे कपूर, केसर, कस्तूरी, आदिमें रूप, रस, आदिके होनेपर भी गन्धकी प्रधानता हो जानेसे उनको गंध-द्रव्य कहा जाता है। नीबू, नोंन, मिरच आदिको रसद्रव्य माना जाता है। उसी प्रकार बहुभाग या तीक्ष्णप्रमाणपनके अंश पाये जानेसे समीचीन ज्ञानको प्रमाण कह दिया जाता है।

मति आदि ज्ञानोंमें भी संवादके अनुसार जितनी प्रमाणता बांटमें आवे, उतनी संतोषपूर्वक ले लो। अधिकके लिये हाथ पसारना अन्याय है। लेखनी (नेजाकलम) की ऊपरकी छाल सभी चिकनी, कडी होती है। किंतु अक्षर लिखनेके लिये चाकूसे जितना तिल बरोबर छिला भाग उपयोगी है, वह कारण है। शेष बहुभाग उस लेखनीका सहायक है। सर्पके अगले पच्चीसवें हिस्सेमें आंख, कान, आदि अत्युपयोगी पांचों इन्द्रियां बनी हुई हैं। शेष चौवीस भाग सर्पका अत्यल्प प्रयोजनको साधनेवाला निकम्मा गुच्छा बना हुआ है। इसके लिये हम क्या करें ? । यदि ज्ञानमें छोटी २ विशेषताओंका प्रतिभास नहीं होता तो हम उसके स्थूलरूपको सच्चा मान भी लेते किन्तु प्रतीक्ष ज्ञानमें झूठे सच्चे अनेक विशेषोंका तदात्मक विकल्प हो चुका है। अतः प्रमाणपन और अप्रमाणपनकी परीक्षा करनी पडती है।

एक ही ज्ञानके प्रमाणपन, अप्रमाणपनका विवेचन बहुत अच्छा शंकासमाधानपूर्वक श्लोक-वार्तिकालंकारमें लिखा हुआ है। विज्ञ पुरुष उसका पर्यालोचन करें।

निष्कर्ष यह है कि, विरोधीसरिखे दीख रहे अनेक धर्मोंको भी वस्तु झेल रही है तो अवि-रोधी अनन्तानंत धर्मोंके धारणकी तो बात ही क्या है ? एक पदार्थ जितने कार्योंको करता है, उतने स्वभाव प्रत्येक न्यारे न्यारे उसमें मानने पडते हैं।

एक युवतिके मृतशरीरको देखकर साधु, कामुक और कुत्तेका निर्वेद, इन्द्रियलोलुपता और भक्ष्यपन ये तीन कल्पनायें भी युवतिशरीरमें वस्तुभूत विद्यमान हो रहे तीन स्वभावोंके अनुसार ही हुई हैं। ऐसे तीन क्या तीन सौ, तीन लाख, तीनों अनन्तों परिमाणको लिये हुए स्वभाव वस्तुमें विद्यमान हैं। नीलांजनाके नृत्यमें भगवान् आदीश्वरको वैराग्य और शेष राजाओंको रागभाव उत्पन्न करादेनेकी दोनों निमित्त शक्तियां विद्यमान हैं। यों अनेक स्वभावोंके माननेपर ही पदार्थोंमें नवीन नवीन अर्थ क्रियायें बन सकतीं हैं। अर्थ क्रियाओंके नहीं होनेसे तो पदार्थ अवस्तु हो जायगा, जो कि नष्ट नहीं है।

मुखसे जितने लाखों, करोडों प्रकारके शद्ब निकलते हैं, कंठ, तालु आदिमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त आदिको बनानेकी अनेक शक्तियां माननी पडेगी। व्याकरणशास्त्र अनुसार अवर्णके भले ही अठारह भेद हों, किन्तु सङ्गीत शास्त्रानुसार अवर्णके सा, रे, ग, म, प, ध, नी,

यों निषाद, ऋषभ आदिके मन्द, मन्दतर, मन्दतम भेदोंकी विवक्षासे सैकडों भेद हो जाते हैं। बीच बीचमें श्वास लेनेसे भी शब्दके उच्चारणमें अन्तर पड जाता है। कई दिनोंतक भी स्वासोच्छ्वास नहीं लेनेवाले देवोंके यहां तो अवर्गके हजारों भेद हो जाते हैं। बात यही कहना है कि इन कार्योंके सम्पादनकी न्यारी न्यारी शक्तियां तालु आदि में माननी पडेंगी। खेतकी एक डली मिट्टी लाखों वनस्पतियोंकी उपजानेकी शक्ति रखती है। यों अनेकान्तके परिवारका कुछ दर्शन हो जाता है।

छः स्थानोंमें पडी हुई हानि, वृद्धि अनुसार अनन्तानंत अविभाग प्रतिच्छेदोंके अविष्वग्भाव समुदायको एक पर्याय कहते हैं। कालत्रयवर्त्ती अनन्तानंतपर्यायोंका ऊर्ध्वांश समुदाय एक गुण है। अनन्तानंत गुणोंका तादात्मक तिर्यगंश पिंड हो रहा एक द्रव्य है। व्यक्तिरूपसे अनन्तानंत द्रव्योंका संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्व नामका समूह लोक है। क्षेत्रप्रत्यासत्ति अनुसार एक अलोकाकाशमें अनन्तानंत लोक समान टुकडे हो सकते हैं।

एक बात यह और कहनी है कि " परिस्थितियोंके वश पडा हुआ कोई धर्म अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग कारणोंके अनुसार विलक्षण स्वभावोंको धार लेता है। अखंड ब्रह्मचारिणी सीताका ब्रह्मचर्य उसके नौ भङ्गों द्वारा पालन किये जानेसे अथवा सत्य, अचौर्य, आदि धर्मोंके सहचारसे संख्यात गुणा बढ गया था। एक जीव केवल ब्रह्मचारी है, दूसरा ब्रह्मचारी और सत्यव्रती है। और तीसरा व्यक्ति ब्रह्मचारी, सत्यव्रती हो रहा, अनेक आपत्तियोंके पडनेपर भी अपने धर्मसे नहीं विचलित होता है। इनके उत्तरोत्तर प्रकृष्ट ब्रह्मचर्य गुणोंमें आनुषंगिक अनेक धर्मोका सद्भाव मानना पडेगा।

जन्म कल्याणकके समय इन्द्र भगवान्‌को देखता है और हजार नेत्रसे देखनेपर भी परितृप्त नहीं होता है। यहां भी भावोंमें स्वभाव और उन स्वभावोंमें स्वभावान्तर तथा स्वभावान्तरोंमें अनेक न्यारे न्यारे धर्म ओत, प्रोत प्रविष्ट हो रहे हैं। इनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पाये जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि " जो जिस विषयका रीता (दरिद्री) होता है वह उस पदार्थको अनन्य चित्त होकर घण्टों निरखता रहता है। अज्ञ श्रोता विचक्षण विद्वान्‌के मुंहकी ओर ताकता रह जाता है। पुत्ररहित सेठानी पुत्रसहित पिसनहारीकी ओर टूंकती रहती है। निर्धन मनुष्य सेठको एक टक लगाकर देखता रहता है। इसी प्रकार नीरोगको रोगी, रण्डुवा विवाहितको, प्रजा राजाको, विधवा स्त्री सुहागिनको, निर्बल दांतवाला या पोपला आदमी दृढ दांतवालेको, तत्परता पूर्वक निरखते रहते हैं। प्रथम तो इन्द्रके पुत्र ही नहीं है, दूसरे भगवान्‌की वात्सल्यमय बालमूर्तिमें वैराग्य छटा ओत पोत उद्दंकित हो रही है। जिन तीर्थंकर महाराजसे असंख्यात जीवोंका उद्धार होता है, एक भवतारी और वैराग्यका परम अभिलाषुक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र, उस शान्त, वैराग्य, वात्सल्य, लावण्यसे भरपूर हो रहे जिनेन्द्रमुखको निरखता रहता है। आत्माके भाव मुखपर अवश्य आते हैं, " वक्त्रं वक्ति हि मानसम् "। मुझे यह कहना है कि " ज्ञानत्रय और तीर्थंकरत्वसे अविनाभाव रखनेवाली अनेक पुण्यप्रकृतियोंका उदय, परमोत्कृष्ट शारीरिक शक्ति, नरकोंमें भी

थोडी देरके लिये दुःख मिटानेवाला अचिन्तनीय सामर्थ्य, आदि अनेक स्वभावोंसे तीर्थङ्कर बालककी मुखाकृति इतनी प्रेक्षणीय हो गई है कि " इन्द्र भी रिक्त, मुग्ध पुरुषके समान घण्टों निरखता रहता है। इसी प्रकार एक दोषके साथ दूसरे दोषोंमें भी कई धर्म पैदा हो जाते हैं "। अष्टसहस्रीमें एक स्थलपर लिखा हुआ है कि " चौरपारदारिकसे अचौरपारदारिक निराला ही है " । असली चोर या डाकू पराई बहन बेटीके हाथ नहीं लगाते हैं, किंतु केवल माता या बहिन कहकर माल या गहना झपट लेते हैं । इसी प्रकार अजघन्य परदारासेवी पुरुष परस्त्रीके माल या गहनेको नहीं चुराता है, प्रत्युत स्वयं धन देता है । हां ! कोई कोई जघन्य दोनों दोषोंसे लीन रहते हैं । चौथे प्रकारके सज्जन पुरुष दोनों दोषोंसे रहित हैं । जिस प्रकार एक गुणकी आभा दूसरे गुणपर जाती है और एक दोषका प्रभाव अन्य दोषोंपर प्रभाव कर जाता है । उसी प्रकार सांसारिक मनुष्योंमें दोषोंके प्रभाव गुणोंपर और गुणोंके प्रभाव दोषोंपर भी आक्रान्त हो जाते हैं । तभी तो—

" मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा । "

जीव जीवो या मरो यत्नाचाररहित प्रवर्तनेवालेको हिंसा जरूर लगेगी । ईर्या समितिका पालन कर रहे मुनिको कुलिंगजीवकी मृत्यु हो जानेपर भी उस हिंसाको निमित्त लेकर स्वल्प भी बंध नहीं होता है । श्लोकवार्तिकालङ्कारमें " असदभिधानमनृतम् " इस सूत्रके भाष्यमें किसी सत्यको असत्य और किसी असत्यको सत्य घोषित किया है ।

तेन स्वपरसन्तापकारणं यद्वचोंगिनां । यथादृष्टार्थमप्यत्र, तदसत्यं विभाव्यते ॥
मिथ्यार्थमपि हिंसादि, निषेधे वचनं मतं । सत्यं तत्सत्सु साधुत्वादहिंसाव्रतशुद्धिदम् ॥

यों अनेकान्तका चाहे जितना विस्तार बढाया जा सकता है । उक्त विवेचन वस्तुके अनंतानंत धर्मोके प्रबोधपर पहुंचनेमें उपयोगी समझकर किया गया है ।

आजकल प्रत्यक्षप्रमाण और युक्तियोंसे सिद्ध हो रहे पदार्थोंको नतमस्तक माननेवाले परीक्षकोंके युगमें स्याद्वाद और अनेकान्तकी सिद्धि करना कोई कठिन नहीं है । स्याद्वाद सिद्धांत और अनेकान्त प्रक्रिया किसी न किसी ढंगसे प्रायः सबको मानने पडते हैं । अलं पल्लवितेन ।

सार्वश्रीद्वादशांगाम्बुनिधिसुमथनौत्थभाङ्मन्थतुल्य— ।
श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राभिलुठनजनिजानेकरत्नाद्युपज्ञम् ।
सत्याङ्कस्यात्प्रमाणैर्नयकृतिनयवचःसप्तभङ्गैर्भवेद्धे ।
जित्वैकान्तप्रवादानधिगमअसुदृग्लब्धये स्याच्छ्रुताब्धिः ॥

सार्वश्रीद्वादशाङ्गाम्बुनिधिसुमथनौत्थभाङ्मन्थतुल्य-
श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राभिलुठनजनिजानेकरत्नाद्युपज्ञम् ।
सत्याङ्कस्यात्प्रमाणैर्नयकृतिनयवचः सप्तभंगैर्भवेद्धो (को)
जित्वैकान्तप्रवादानधिगमजसुदृग्लब्धये षष्ठसूत्रम् ॥

—=×=—

अब सातवें सूत्रके उत्थानके लिये अवतरण करते हैं—

तदेवं संक्षेपतोऽधिगमोपायं प्रतिपाद्य मध्यमप्रस्थानतस्तमुपदर्शयितुमनाः सूत्रकारः प्राह;—

तिस कारण इस प्रकार संक्षेपसे अधिगम करनेके उपायका प्रतिपादन कर मध्यम गतिसे समझनेवाले शिष्योंके प्रति उस अधिगमके उपायको दिखलानेके लिये मानसिक विचारोंको रखनेवाले सूत्रकार श्रीउमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको प्रकृष्टपनसे कहते हैं—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

निर्देश (अर्थस्वरूपका कथन) स्वामित्व (अधिपतिपना) साधन (कारण) अधिकरण (आधार) स्थिति (कालकृतमर्यादा) और विधान (प्रकार) इनसे जीव आदि तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शन आदिकोंका अधिगम होता है। अधिगमका साक्षात् कारण तो विषयी ज्ञान है, किन्तु उसके अव्यहित पूर्वमें रहनेवाले विषय यदि सहायक हो सकते हैं तो वे निर्देश आदिक हैं। निर्देश आदि स्वरूप अर्थ, शद्व, और ज्ञान ये तीनों अधिगमके प्रयोजक हैं।

निर्देशादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्वः करणनिर्देशश्च बहुवचनान्तः प्रत्येयस्तथा सति विधानात्। स्थितिशद्वस्य स्वंतत्वादल्पाक्षरत्वाच्च पूर्वनिपातोऽस्त्विति न चोद्यं, बहुत्वनियमात्। सर्वस्य निर्देशपूर्वकत्वात् स्वामित्वादिनिरूपणस्य पूर्वं निर्देशग्रहणमर्थान्न्यायाश्च विरुध्यते स्वामित्वादीनां तु प्रश्नवशात् क्रमः।

निर्देश, आदि छह पदोंका परस्परमें योग करनेपर द्वन्द समास करलेना और समासान्त पदको बहुवचनान्त तृतीया विभक्तिसे करण निर्देशकर समझ लेना चाहिये। क्योंकि तिस प्रकार " निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानैः " इस विग्रहसे तसि नामके हृत् प्रत्ययका विधान किया गया है। यहां किसीका प्रश्न है कि इकारान्त और उकारान्त शद्वोंकी घुसंज्ञा है। द्वन्द्व समासमें घ्यन्त पद और अल्प अक्षरवाले पदोंका पहिले प्रयोग हो जाता है। इस कारण प्रकृत सूत्रमें घ्यन्त और अल्पअक्षर होनेके कारण स्थिति शद्वका पूर्वनिपात हो जाओ। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कुतर्क नहीं उठाना चाहिये। क्योंकि बहुत पदोंमें वे नियम लागू नहीं होते हैं। अर्थात् दो पदोंका समास होनेपर पूर्व निपातको विधान करनेवाले सूत्र लगते हैं। किन्तु तीन, चार, छह, आदि बहुतसे पदोंका द्वन्द्वसमास करनेपर पूर्व निपातका कोई नियम लागू नहीं होता है। अन्य सब ही स्वामित्व, साधन, आदिका निरूपण करना निर्देश पूर्वक ही होता है। अतः अर्थसम्बन्धी न्यायसे निर्देशका पहिले ग्रहण करना विरुद्ध नहीं है, यानी शद्वशास्त्रकी नीतिको गौण कर अर्थ समझनेकी नीतिसे पहिले निर्देशका ग्रहण करना आवश्यक है। हां ! स्वामिपन

आदिकोंका क्रमसे कहना तो प्रतिपाद्यके प्रश्नोंकी अधीनतासे है। जैसे श्रोताने प्रश्न किये गुरु महाराजने तदनुसार प्रतिवचनोंका क्रम लिख दिया है।

ननु च संक्षिप्तैः प्रमाणनयैः संक्षेपतोऽधिगमो वक्तव्यो मध्यमप्रस्थानतस्तैरेव मध्यमप्रपञ्चैर्न पुनर्निर्देशादिभिस्ततो नेदं सूत्रमारम्भणीयमित्यनुपपत्तिचोदनायामिदमाह—

यहां दूसरे ढंगसे शंका है कि संक्षेपको प्राप्त हुए प्रमाण और नयों करके संक्षेपसे अधिगम होना कहना चाहिये सो कहा ही जा चुका है। हां! मध्यम रुचिकी अपेक्षासे भी उन्हीं मध्यम विस्तारवाले प्रमाण नयों करके अधिगम होना कहना चाहिये था। सर्वथा निराले निर्देश आदिकों करके फिर नवीन ढंगका अधिगम बताना तो उचित नहीं है। तिस कारण ग्रन्थकर्त्ताको इस सूत्रके बनानेका प्रारम्भ नहीं करना चाहिये। इस प्रकार निर्देश आदि सूत्रके असिद्ध हो जानेकी प्रेरणा करनेपर विद्यानन्द स्वामी महाराज इस वार्तिकको कहते हैं।

निर्देशाद्यैश्च कर्तव्योऽधिगमः कांश्चन प्रति।
इत्याह सूत्रमाचार्यः प्रतिपाद्यानुरोधतः ॥ १ ॥

कोई कोई शिष्य किसी नवीन वस्तुको देखकर उसके नामनिर्देश, स्वामी, कारण, आदिकोंको प्रश्न उठाते हुए चले आते हैं। अतः उन किन्हीं शिष्योंके प्रति निर्देश आदिकों करके जीव आदि वस्तुओंका अधिगम कराना चाहिये। इस कारण प्रतिपादन करने योग्य शिष्योंकी अनुकूलताके वशसे श्रीउमास्वामी आचार्य इस सूत्रको कहते हैं। सब जीवोंके अनुग्रह करनेमें प्रवर्त रहे आचार्योंकी मध्यमरुचिवाले जीवोंको समझानेके लिये प्रवृत्ति करना स्वाभाविक धर्म है। उक्त छह प्रश्नोंका उत्तर देनेसे श्रोता वस्तुके अन्तस्तलपर पहुंचकर अधिगम कर लेता है।

ये हि निर्दिश्यमानादिषु स्वभावेषु तत्त्वान्यप्रतिपन्नाः प्रतिपाद्यास्तान् प्रति निर्देशादिभिस्तेषामधिगमः कर्तव्यो न केवलं प्रमाणनयैरेवेति सूक्तं निर्देशादिसूत्रं विनेयाशयवशवर्तित्वात्सूत्रकारवचनस्य। विनेयाशयः कुतस्तादृश इति चेत् ततोऽन्यादृशः कुतः तथा विवादादिति। तत एवायमीदृशोऽस्तु न्यायस्य समानत्वात्।

जो शिष्य निर्देश करने योग्य हो रहे या स्वामिपन आदि स्वभावोंमें तत्त्वोंको नहीं समझ पाये हैं, उनके प्रति निर्देश आदिकों करके उन कथन करने योग्य आदि स्वभावोंका अधिगम कराना होगा। पूर्व सूत्रमें कहे गये केवल प्रमाण और नयों करके उनको अधिगम नहीं हो पाता है। इस कारण सूत्रकारने निर्देश स्वामित्व आदि यह सूत्र बहुत अच्छा बनाया है। सूत्र बनानेवाले ऋषियोंके वचन विनीत शिष्योंके अभिप्रायानुकूल वर्तते हैं। यहां कोई यदि यह पूंछे कि विनयधारी शिष्योंका अभिप्राय तैसा ही क्यों हुआ? ऐसा कहनेपर तो हम भी कह सकते हैं कि उससे

दूसरे प्रकारका अभिप्राय उनके कैसे हुआ ? बताओ ! इसपर कोई यह समाधान देवे कि तिस प्रकारसे विवाद था। अतः सूत्रसे भिन्न सरीखा अभिप्राय पूंछनेका हुआ, यानी सूत्रोक्त क्रमका व्यत्यय कर पूंछनेका अभिप्राय प्रगट किया। तब तो हम भी कहते हैं। कि तिस ही कारण यह सूत्रमें कहे हुए क्रमके अनुसार अभिप्राय भी ऐसा ही हो। न्यायमार्ग सर्वत्र समान है। अपने अपने विचारोंके अनुसार अभिप्रायके खेंचनेसे न्यायकी हत्या हो जाती है। लोकमें भी यही ढंग प्रसिद्ध हो रहा है कि किसी भूषण, घटीयन्त्र, रत्न, पुस्तक आदिका पहिले निर्देश किया जाय, उनका स्वामी बतला दिया जाय। पीछे उनके कारणोंका निरूपण किया जाय। पश्चात् उनके स्थानका निरूपण कर उनके ठहरनेका काल और भेद गणना कर देनेसे जितना शीघ्र और दृढतम ज्ञान उनका हो जाता है, इन छहोंका आगे पीछे प्रश्नकर व्युत्क्रम कर देनेसे उतनी दृढप्रतिपत्ति नहीं हो पाती है। प्रत्येक प्राणियोंकी स्वानुभवगम्य प्रतीति होना ही इसका साक्षी है। अतः संक्षेप और विस्तारसे मध्यवर्ती मार्गका अवलम्बन करनेवाले शिष्योंके प्रति निर्देश आदिके कण्ठोक्त क्रमसे ही सूत्र कहना आवश्यक है। परोपकार करनेमें स्वतन्त्र होकर प्रवर्तनेवाले आचार्योंके वचन किसीके पर्यनुयोग करके योग्य नहीं होते हैं।

किं पुनर्निर्देशादय इत्याह;—

फिर शिष्यकी जिज्ञासा है कि वे निर्देश आदिक छह क्या हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

यत्किमित्यनुयोगेर्थस्वरूपप्रतिपादनम्।
कार्त्स्न्यतो देशतो वापि स निर्देशो विदां मतः ॥ २ ॥
कस्य चेत्यनुयोगे सत्याधिपत्यनिवेदनम्।
स्वामित्वं साधनं केनेत्यनुयोगे तथा वचः ॥ ३ ॥
क्वेति पर्यनुयोगे तु वचोऽधिकरणं विदुः।
कियच्चिरमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरवचः स्थितिः ॥ ४ ॥
कतिभेदमिति प्रश्ने वचनं तत्त्ववेदिनाम्।
विधानं कीर्तितं शाब्दं तत्त्वज्ञानं च गम्यताम् ॥ ५ ॥

(१) जो कुछ है सो क्या है ? इस प्रकार प्रश्न होनेपर पूर्णरूपसे अथवा एकदेशसे भी जो अर्थस्वरूपका प्रतिपादन करना है, वह निर्देश है। ऐसा सभी विद्वानोंका मत है।

अर्थात् इन लौकिक बातोंमें वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक, बौद्ध आदि कोई भी विवाद नहीं उठाते हैं । (२) यह पदार्थ किसका है ? ऐसा प्रश्न होनेपर उसके अधिपतिपनेका निवेदन करना स्वामित्व है । (३) यह किस कारणसे बना है ? ऐसा प्रश्न करनेपर तिस प्रकार उत्तरके वचनसे कथन करने योग्यको साधन कहते हैं । (४) यह पदार्थ कहां निवास करता है ? इस प्रकार चोद्य करनेपर तो जो उत्तर कहा जाता है उसको अधिकरण समझते हैं । (५) यह कितनी देर तक ठहरेगा ? ऐसा कथन करनेपर जो प्रत्युत्तरका वचन है, वह स्थिति है । (६) यह कितने प्रकारका है ? इस प्रकारका प्रश्न होनेपर जो तत्त्वज्ञानियोंका वचन है, वह विधान कहा गया है । अधिगमका साक्षात्कारण ज्ञान है और उससे अव्यवहित पूर्ववर्ती शद्ब उसका प्रधान कारण है, जो कि अज्ञानस्वरूप जड है । अतः छहोंके लक्षण करते समय वचन कहनेको प्रधान माना गया है । अर्थात् शब्दात्मक और ज्ञानात्मक निर्देश आदिक उपाय अधिगमके कारण हैं, यह समझ लेना चाहिये ।

किं कस्य केन कस्मिन् कियच्चिरं कतिविधं वा वस्तु तद्रूपं चेत्यनुयोगे कार्त्स्न्येन देशेन च तथा प्रतिवचनम् । निर्देशादय इति वचनात् । प्रवक्तुः पदार्थाः शद्बात्मकास्ते प्रत्येयाः तथा प्रकीर्तितास्तु सर्वे सामर्थ्याचे ज्ञानात्मका गम्यन्तेऽन्यथा तदनुपपत्तेः, सत्यज्ञानपूर्वका मिथ्याज्ञानपूर्वका वा ? शद्बा निर्देशादयः सत्या नाम सुगुप्तादिवत् । नाप्यसत्या एव ते संवादकत्वात् प्रत्यक्षादिवत् ।

क्या वस्तु है ? किसकी वस्तु है ? किससे बनी हुयी वस्तु है ? किसमें स्थित हो रही है ? कितनी देरतक ठहरेगी और कितने प्रकारकी वस्तु है ? अथवा उस वस्तुसे तदात्मक हो रहा स्वभाव क्या है ? किसका है ? इस प्रकारके प्रश्न होनेपर पूर्णरूपसे और एकदेशसे तिस प्रकारके उत्तररूप प्रतिवचन कहना निर्देश आदिक हैं । इस प्रकार मूलसूत्रमें कहा है । प्रकृष्ट वक्ताके वे निर्देश आदिक पदार्थ शद्बस्वरूप समझने चाहिये और तिस प्रकार कहे गये वे सभी अधिगम करनेवाले निर्देश आदिक पदार्थ सामर्थ्यसे श्रोताके ज्ञानस्वरूप समझे जाते हैं । अन्यथा वह कथनोपकथन व्यवहार नहीं बन सकता है । भावार्थ—"तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्" इस श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्यके सूत्र करके वचनको भी प्रमाणपना सिद्ध किया है । वचन वक्ताके प्रमाणज्ञानके कार्य हैं और श्रोताके प्रमाणज्ञानके कारण हैं । कारणका कार्यमें और कार्यका कारणमें उपचार करनेसे शद्ब भी प्रमाण हो जाता है । यहां प्रकरणमें सत्यवक्ताके शद्बोंको सुनकर श्रोताको निर्देश, स्वामिपन, आदि ज्ञान हो जाते हैं । इस प्रकार वाच्यवाचकभाव और गम्यगमकभावकी सामर्थ्यसे निर्देश आदिक शद्बस्वरूप और ज्ञानस्वरूप हैं । वे निर्देश, आदिक अकेले वक्ता या केवल श्रोताके भी ज्ञानस्वरूप और शद्बस्वरूप हो जाते हैं । सत्यज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न हुए निर्देश आदिक शद्ब सत्य बोले जाते हैं और पूर्ववर्ती मिथ्याज्ञानको कारण मानकर हुए निर्देश आदिक शद्ब

मिथ्या समझे जाते हैं। सभी प्रकारोंसे निर्देश आदिक सत्य ही नहीं हैं। जैसे गाढ सोते हुए या मदोन्मत्त, मूर्छित, आदि जीवोंके शद्व सत्य नहीं हैं। तथा वे निर्देश आदिक शद्व असत्य ही होंय यह भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंके समान सफल प्रवृत्तिके जनक होनेके कारण अनेक शद्व सत्य भी प्रसिद्ध हो रहे हैं। यहां निर्देश आदि करके अर्थ, ज्ञान और शद्व तीनों पकडे गये हैं।

किं स्वभावैर्निर्देशादिभिरर्थस्याधिगमः स्यादित्याह:—

किस स्वभाववाले निर्देश आदिकों करके जीव आदिकोंका अधिगम करना होवेगा। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकको कहते हैं।

तैरर्थाधिगमो भेदात्स्यात्प्रमाणनयात्मभिः।
अधिगम्यस्वभावैर्वा वस्तुनः कर्मसाधनः ॥ ६ ॥

प्रमाण और नयस्वरूप उन निर्देश आदिकों करके पूर्णरूप और एकदेशसे जीव आदि वस्तुका अधिगम होता है। यहां आत्मासे प्रमाण, नयस्वरूप करणज्ञानोंका भेदसे विवक्षा की गयी है। कर्त्तामें हो रहा अधिगम कर्त्तासे भिन्न विषयीभूत प्रमाण नयों करके किया जाता है। तथा अधिपूर्वक गम् धातु सकर्मक है, अतः कर्ताके समान कर्ममें भी रहती है। तब कर्ममें अच् प्रत्ययकर साधा गया वस्तुका अधिगम होना जानने योग्य स्वभाववाले विषयभूत निर्देश आदिकों करके होता है। भावार्थ—मूलसूत्रमें करणमें तसि प्रत्यय किया गया है। कर्त्तामें रहनेवाला अधिगम आत्मासे न्यारे माने गये प्रमाण, नयस्वरूप निर्देश आदिकों करके होता है और कर्ममें रहनेवाला अधिगम जानने योग्य वस्तुके स्वभावभूत जड निर्देश आदिकों करके होता है।

कर्तृस्थोऽधिगमस्तावद्वस्तुनः साकल्येन प्रमाणात्मभिर्भेदेन निर्देशादिभिर्भवतीति प्रमाणविशेषास्त्वेते। देशतस्तु नयात्मभिरिति नयाः ततो नाप्रमाणनयात्मकैस्तैरधिगमसिद्धिर्यतो व्याघातः।

श्रोतारूप कर्त्तामें स्थित हो रहा वस्तुका पूर्णरूपसे अधिगम तो प्रमाणस्वरूप निर्देश आदिकों करके होता है। यहां श्रोता आत्माके प्रमाणस्वरूप ज्ञानको भेद करके विवक्षित किया है। इस कारण आत्मा श्रोता प्रमाणस्वरूप निर्देश आदिकों करके जीव आदि वस्तुका अधिगम कर लेता है। इस वाक्यमें कर्त्ता, करण, और क्रिया, भिन्न भिन्न प्रतीत हो रही हैं। इस प्रकार कर्त्तामें स्थित अधिगमको करनेवाले ये निर्देश आदिक ज्ञान पांच प्रमाणोंमेंसे कोई विशेष प्रमाण [श्रुतज्ञान] स्वरूप हैं। और कर्तामें स्थित हो रहा वस्तुका एकदेशसे अधिगम होना तो नयस्वरूप निर्देश आदिकों करके होता है। इस कारण वे निर्देश आदिक नयज्ञान हैं। यानी प्रमाण, नय स्वरूप निर्देश आदिकों करके दोनों प्रकारोंसे अधिगम हो जाता है। प्रमाण नयोंसे भिन्न मिथ्याज्ञानरूप

या जडस्वरूप उन निर्देश आदिकों करके अधिगम होना इष्ट नहीं है, जिससे कि व्याघात होजाय। अर्थात् मिथ्याज्ञानोंसे जो होगा, वह समीचीन अधिगम नहीं कहा जायगा और जो समीचीन अधिगम है, वह मिथ्याज्ञानोंसे हुआ नहीं कहा जायगा । इस प्रकारका व्याघातदोष होना प्रमाणनयस्वरूप निर्देश आदिकोंसे अधिगम मान लेनेपर टल जाता है ।

कस्य पुनः प्रमाणस्यैते विशेषाः श्रुतस्यास्पष्टसर्वार्थविषयता प्रतीतिरिति केचित् । मतिश्रुतयोरित्यपरे । तेत्र प्रष्टव्याः कुतो मतेर्भेदास्ते इति ? मतिपूर्वकत्वादुपचारादिति चेन्न, अवधिमनःपर्ययविशेषत्वानुषंगात् । यथैव हि मत्यार्थं परिच्छिद्य श्रुतज्ञानेन परामृशन्निर्देशादिभिः प्ररूपयति तथाऽवधिमनःपर्ययेण वा । न चैवं, श्रुतज्ञानस्य तत्पूर्वकत्वप्रसंगः साक्षात्तस्यानिन्द्रियमतिपूर्वकत्वात् परम्परया तु तत्पूर्वकत्वं नानिष्टम् । शब्दात्मनस्तु श्रुतस्य साक्षादपि नावधिमनःपर्ययपूर्वकत्वं निरुध्यते केवलपूर्वकत्ववत् । ततो मुख्यतः श्रुतस्यैव भेदा निर्देशादयः प्रतिपत्तव्याः किमुपचारेण प्रयोजनाभावात् ।

आप जैनोंने कहा है कि ये ज्ञानस्वरूप निर्देश आदिक तो कोई विशेष प्रमाण हैं सो बतलाइये कि फिर कौनसे प्रमाणज्ञानके भेद प्रभेद हैं ? । इसपर कोई आचार्य ऐसा उत्तर देते हैं कि निर्देश आदिकोंके द्वारा संपूर्ण अर्थोंकी अविशदरूपसे विषय करनेपनसे प्रतीति हो रही है इस कारण श्रुतज्ञानके ये विशेष हैं । अस्पष्टरूपसे संपूर्ण अर्थोंको विषय करना श्रुतज्ञानका कार्य है यह मत अच्छा दीखता है । कोई दूसरे विद्वान् वे निर्देशादिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोंके विकल्प हैं इस प्रकार कह रहे हैं । हमें यहांपर उनको यह पूंछना चाहिये कि वे निर्देशादिक श्रुतज्ञानके भेद हैं यह तो ठीक है । किन्तु वे मतिज्ञानके भेद आपने कैसे कहे सो बताओ ? यदि इसपर वे विद्वान् यों कहें कि श्रुतज्ञानरूप निर्देशादिक तो मतिज्ञानको पूर्ववर्त्ती कारण मानकर उत्पन्न होते हैं । अतः कार्य (श्रुत) में कारण (मतिज्ञानपन) का उपचार करनेसे वे मतिज्ञानस्वरूप कह दिये जाते हैं । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो उन निर्देशादिकोंके अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके विशेषपनका प्रसंग होगा । जिस ही प्रकार मतिज्ञानद्वारा अर्थको जानकर श्रुतज्ञानसे विचार करता हुआ निर्देशादिकों करके शिष्योंके लिये अर्थका निरूपण करता है तिसी प्रकार अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानसे अर्थका प्रत्यक्ष कर श्रुतज्ञानसे विचारता हुआ वक्ता निर्देश आदिकों करके पदार्थका कथन करता है । भावार्थ—अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं । चक्षुसे वस्त्रका प्रत्यक्ष कर जैसे यह वस्त्र मलमल है, लट्ठा है, गजी है, देवदत्तका वस्त्र है, जिनदत्तका वस्त्र है, करघेसे बना है, हाथसे बना है इत्यादि निरूपण किया जाता है । उसी प्रकार अवधिज्ञानसे या मनःपर्ययसे देशान्तर कालान्तरवर्ती पदार्थका विशद प्रत्यक्ष कर उसमें श्रुतज्ञान द्वारा अनेक विचार उठाकर निर्देश आदिकोंसे निरूपण कर दिया जाता है । अतः वे निर्देशादिक अवधि और मनःपर्ययके भी विशेष क्यों न समझे जांय ? उपचार करनेका उपाय अच्छा बन

गया। यदि यहां कोई यों कहे कि जब अवधि और मनःपर्ययसे प्रत्यक्ष कर उस पदार्थका श्रुतज्ञान द्वारा विचार हो जाता है तो मतिपूर्वकपनेके समान अवधि मनःपर्ययपूर्वक भी श्रुतज्ञानके होनेका प्रसंग हो जायगा। ऐसी दशामें " श्रुतं मतिपूर्वं " इस सूत्रसे विरोध आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो इस प्रकारका प्रसंग हम जैनोंके ऊपर नहीं आ सकता है। क्योंकि हम उस श्रुतज्ञानका अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण मानस मतिज्ञानको मानते हैं। अतः अव्यवहित पूर्ववर्ती कारणकी अपेक्षासे श्रुतज्ञानका कारण मतिज्ञान ही है। हां! परम्परासे तो उन अवधि और मनःपर्ययको कारण मानकर श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति होना अनिष्ट नहीं है। ज्ञानस्वरूप और शब्दस्वरूप दो प्रकारका श्रुत होता है। ज्ञानरूप श्रुतका अव्यवहितकारण मानस मतिज्ञान है और व्यवहितकारण चाक्षुषप्रत्यक्ष, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान आदि हैं। किन्तु शब्दस्वरूप श्रुतके तो अव्यवहित रूपसे भी साक्षात् कारण अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान हो जाते हैं। कोई विरोध नहीं है। जैसे श्री अरहन्त भगवान् केवलज्ञानद्वारा यावत् पदार्थोंका सकल प्रत्यक्ष करके शब्दरूप द्वादशांग श्रुतका विधान या भाषण करते हैं, अतः द्वादशांगश्रुत केवलज्ञानपूर्वक है, तैसे ही अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञानसे प्रत्यक्ष कर प्रश्नकर्त्ताके सन्मुख शब्दस्वरूप श्रुतका निरूपण कर दिया जाता है। यहां यों समझ लेना चाहिये कि तेरहवें गुणस्थानमें भगवान्के एक केवलज्ञान ही है। वे उससे चराचर जगत्का हस्तामलक समान प्रत्यक्ष कर रहे हैं। तदनुसार द्वादशांगवाणीद्वारा भव्य जीवोंको उपदेश देते हैं। उस शब्दमय द्वादशांगका कारण केवलज्ञान ही है। अन्यथा यानी भगवान्की द्वादशांगवाणीका और भगवान्के केवलज्ञानका यदि कार्यकारणभाव सम्बन्ध न होता तो द्वादशांग वाणीद्वारा यथार्थ वस्तुका प्रतिपादन होना नहीं बन सकता था। अतः शब्दात्मक श्रुतके अव्यवहित कारण पांचों ज्ञान हो सकते हैं। हां! ज्ञानात्मक श्रुतज्ञानका कारण मनइन्द्रियजन्य मतिज्ञान है। तभी तो अरहन्तदेवके ज्ञानात्मक श्रुत नहीं माना गया है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि मुख्यरूपसे श्रुतज्ञानके ही भेद निर्देश आदिक हैं, यह समझ लेना चाहिये। उपचार करनेसे क्या? अर्थात् कुछ लाभ नहीं है, यानी दूरवर्ती परम्परा कारणोंसे कोई प्रयोजन नहीं सधता है। अतः वे निर्देश आदिक मतिज्ञानके भेद नहीं हैं।

तत एव श्रुतैकदेशलक्षणनयविशेषाश्च ते व्यवतिष्ठन्ते। येषां तु श्रुतं प्रमाणमेव तेषां तद्वचनमसाधनांगतयानिग्रहस्थानमासज्यत इति कश्चित् कथञ्चित् प्रश्नप्रतिवचनव्यवहारो न स्यात्। स्वपरार्थानुमानात्मकोऽसौ इति चेन्न, तस्य सर्वत्राप्रवृत्तेरत्यन्तपरोक्षेष्वर्थेषु तदभावप्रसंगात्। न च श्रुतादन्यदेव स्वार्थानुमानं मतिपूर्वकं परार्थानुमानं चेति, तद्भेदत्वमिष्टमेव निर्देशादीनाम्। प्रामाण्यं पुनः श्रुतस्याग्रे समर्थयिष्यत इति नेह प्रतन्यते।

तिस ही कारणसे श्रुतज्ञानके एकदेशस्वरूप नयोंके विशेष भी निर्देश आदिक व्यवस्थित हो रहे हैं। अर्थात् निर्देश आदिकोंको श्रुतज्ञानरूप माननेपर ही वे नयस्वरूप भी हो सकते हैं।

अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। जिन विद्वानोंका यह मत है कि श्रुत तो प्रमाणज्ञान स्वरूप ही है, शब्दस्वरूप या नयस्वरूप नहीं है, उनके यहां उन निर्देश आदिकोंका कथन करना साधनका अंग न होनेके कारण निग्रहस्थान बन बैठेगा। इस कारण कहीं भी किसी भी प्रकारसे प्रश्न और उत्तर, प्रत्युत्तरके बोलनेका व्यवहार न हो सकेगा। अर्थात् साध्यकी सिद्धि करना जहां अभिप्रेत हो रहा है। वहां असाधन अंगोंका उच्चारण करना वादीके लिये निग्रहस्थान माना गया है। ज्ञान तो बोला नहीं जा सकता, शब्द ही कहा जायगा। सो उन्होंने श्रुतस्वरूप नहीं माना। ऐसी दशामें प्रश्नका वचन और उसके उत्तरका वचन श्रोता और वक्ताओंके लिये निग्रह प्राप्तिके प्रयोजक हो जांयगे। यदि इसपर कोई यों कहे कि वह प्रश्नोत्तर व्यवहार तो श्रुतरूप नहीं है। किन्तु स्वार्थानुमान और परार्थानुमान स्वरूप है। वक्ताका वचन स्वार्थानुमान है और श्रोताका वचनव्यवहार परार्थानुमान है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि दृष्टान्तमें गृहीत की गयीं अन्वयव्याप्तियां व्यतिरेक व्याप्तिकी भित्तिपर उठनेवाले उस अनुमानकी सभी स्थलोंपर प्रवृत्ति होना नहीं मानी गयी है। प्रत्यक्ष योग्य या अनुमेय पदार्थोंमें अनुमान चलता है। अत्यन्त परोक्ष सुमेरु, राम, रावण, आदिक अथवा परमाणु व्यक्तिएं, अविभाग प्रतिच्छेद, मोक्षसुख, आदिमें अनुमानकी प्रवृत्ति न होनेके कारण प्रश्नोत्तर व्यवहारका अभाव हो जायगा, किन्तु यह प्रसंग होना इष्ट नहीं है। क्योंकि वचनों द्वारा उक्त पदार्थोंका आगमज्ञान होता है। दूसरी बात यह है कि निर्देश, स्वामित्व, आदि वचनव्यवहारोंको अनुमानस्वरूप भी माना जाय तो भी कोई क्षति नहीं है। हमारा ही सिद्धान्त आया। मतिको कारण मानकर होनेवाले स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनों श्रुतज्ञानसे भिन्न नहीं हैं। यानी अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है और साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है। अतः साधन और साध्यकी भेदविवक्षा करनेपर उत्पन्न हुआ अनुमान तो श्रुतज्ञानस्वरूप ही है। इस कारण निर्देश आदिकोंको उस श्रुतज्ञानका भेदपना ही इष्ट किया गया है। रहा श्रुतज्ञानके प्रमाणपनका निर्णय सो तो श्रुतज्ञानकी प्रमाणताका फिर अग्रिम ग्रन्थमें समर्थन कर दिया जायगा। इस प्रकरणमें विस्तार हो जानेके भयसे दूसरा प्रमाणपनका प्रकरण नहीं फैलाया जाता है।

कर्मस्थः पुनरधिगमोऽर्थानामधिगम्यमानानां स्वभावभूतैरेव निर्देशादिभिः कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां प्रमाणनयविषयैर्व्यवस्थाप्यते। निर्दिश्यमानत्वादिभिरेव धर्मैरर्थानामधिगतिप्रतीतेः कर्मत्वात्तेषां कथं करणत्वेन वचनेति चेत् तद्भेदप्रतीतेः। अग्नेरुष्णत्वेनाधिगमवत्तत्र यथा।

सकर्मक धातुका शुद्ध अर्थ भिन्न भिन्न सम्बन्धोंसे कर्ता कर्म दोनोंमें स्थान पाता है, अतः कर्तामें रहनेवाले अधिगमका ज्ञानस्वरूप निर्देश आदिकों करके होना बता दिया गया है। अब कर्ममें ठहरे हुए अधिगम होनेके कारणका विचार चलाते हैं। फिर कर्ममें ठहरा हुआ जानने योग्य पदार्थोंका पूर्णरूप और एकदेशसे हो रहा अनुभव तो उन अर्थोंके स्वभावभूत ही निर्देश आदिकों

करके व्यवस्थित किया जाता है। जो कि प्रमाण नयोंके विषयभूत हैं। अर्थात् अर्थस्वरूप कर्ममें ठहरनेवाला अधिगम तो अर्थके स्वभावभूत ज्ञेय निर्देश आदिकों करके किया जाता है। कथन करने योग्य अर्थके धर्म, स्वामीपनको प्राप्त हुए अर्थके धर्म, साधने योग्य अर्थके धर्म आदि इन धर्मों करके ही जीव आदि पदार्थोंका अधिगम होना प्रतीत हो रहा है। " आत्मा निर्देशादिभिः जीवादीनधिगच्छति " आत्मा निर्देश आदिकों करके जीव आदिकोंको जान रहा है। यहां निर्देश आदिक प्रमाण नय ज्ञानस्वरूप हैं तथा " स्वयमेव निर्देशादिभिः अधिगम्यन्ते "। यहां अर्थोंके स्वभाव होकर ज्ञेयस्वरूप निर्देश आदिक हैं। यदि यहां कोई प्रश्न करे कि निर्देश आदिक जब कर्मस्वरूप अर्थोंके स्वभाव मान लिये गये, तब तो वे कर्म हो गये। अतः सूत्रकारद्वारा उनका करणपनेसे कथन करना कैसे घटित होगा ? जो कर्म हो चुका है। वह उसी समय करण हो नहीं सकता है। इसपर तो हम यह उत्तर देते हैं कि हम क्या करें। तिस प्रकारसे होता हुआ सबको प्रतीत हो रहा है। जैसे कि उष्ण अग्निका उष्णपनेसे अधिगम होना बालकों तकको प्रतीत हो रहा है। तैसे ही निर्देश योग्य अर्थका अपने निर्देश स्वभावसे अधिगम होना जाना जा रहा है। एक वस्तुमें उससे अभिन्न अनेक स्वभाव होते हैं। " भज्यते वृक्षशाखाभारेण " अपनी शाखाओंके बोझसे वृक्ष टूटता है। घोडा अपने वेगसे दौडा जा रहा है। यहां कर्मपन और करणपन एक ही पदार्थमें स्थित हैं। " स्वभावोऽतर्कगोचरः "।

नन्वग्नेः कर्मणः करणमुष्णत्वं भिन्नमेवेति चेत् न, तद्भेदैकान्तस्य निराकरणात्। कथञ्चिद्भेदस्तु समानोऽन्यत्र। न हि निर्देश्यत्वादयो धर्माः करणतया समभिधीयमाना जीवादेः कर्मणः पर्यायार्थाश्रिता नेष्यन्ते। द्रव्यार्थोत्तु ततस्तेषामभेदेऽपि भेदोपचारात्कर्मकरणनिर्देशघटनेति केचित्।

यहां नैयायिक शंका करते हैं कि अग्निस्वरूप कर्मसे उष्णपनारूप करण तो सर्वथा भिन्न ही है। गुण और गुणीका भेद माना गया है। अतः वह करण बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन अग्नि और उष्णताके एकान्तरूपसे भेदका पहिले खण्डन किया जा चुका है। हां ! कथञ्चित् भेद तो दूसरे स्थलपर भी समान है, अर्थात् जैसा अग्नि और उष्णतामें परिणाम परिणामी भावसे भेद है। वैसा ही निर्देश्य अर्थ और उसके स्वभाव निर्देशमें भी कथञ्चित् भेद है। निर्देश्य कर्म है और उससे कथञ्चित् भिन्न निर्देश करण माना गया है। सूत्रकार द्वारा करणपनसे भले प्रकार कहे गये निर्देशत्व, स्वामित्व आदि धर्म जीव आदिक कर्म स्वरूप धर्मीसे पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भिन्न नहीं माने गये हैं। ऐसा नहीं समझना। अर्थात् पर्यायदृष्टिसे धर्म धर्मीका भेद इष्ट किया है। हां, द्रव्यार्थिक नयसे तो उन जीव आदिकोंसे उन निर्देश्यत्व आदि धर्मोंका अभेद होनेपर भी भेदका उपचार करनेसे कर्मरूप और करणरूपसे कथन

करना घटित हो जाता है। इस प्रकार किन्हीं आचार्योंका मत है, जो कि हमें भी अभीष्ट है। अतः खण्डनीय नहीं।

परे पुनः कर्मसाधनाधिगमपक्षे निर्देश्यत्वादीनां कर्मतया प्रतीतेः करणत्वमेव नेच्छन्ति तेषां विशेषणत्वेन घटनात्। न हि यथाग्निरुष्णत्वेन विशिष्टोऽधिगमोपायैरधिगम्यत इति प्रतीतिरविरुद्धा तथा सर्वेऽर्था निर्देश्यादिभिर्भावैरधिगम्यन्त इति निर्णयोऽप्यविरुद्धो नावधार्यते। तथा सति परापरकरणपरिकल्पनायां मुख्यतो गुणतो वानवस्थाप्रसक्तिरपि निवारिता स्यात्। तदपरिकल्पनायां वा स्वाभिमतधर्माणामपि करणत्वं मा भूदित्यपि चोद्यमानमनवकाश्यं स्यात्।

दूसरे विद्वान् फिर यों कहते हैं कि कर्मसाधन व्युत्पत्तिसे साधे गये अधिगमका पक्ष लेनेपर निर्देश करने योग्यपन या स्वामित्वके योग्यपन आदिकोंकी कर्मरूपसे ही प्रतीति होती है। अतः निर्देश आदिकोंका करणपन ही वे नहीं चाहते हैं। उनके मतमें निर्देश आदिकोंको विशेषणपनेसे घटित किया जाता है। अर्थात् " निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान, इन विशेषणोंसे विशिष्ट अर्थका अधिगम होता है, यह सूत्रका अर्थ है। जैसे कि उष्णत्व नामके विशेषणसे विशिष्ट हुयी अग्नि अधिगमके उपायों करके जानी जाती है। इस प्रकारकी प्रतीति अविरुद्ध है। तिसी प्रकार सम्पूर्ण निर्देश आदिक अर्थ अपने निर्देश्यत्व आदि परिणामरूप विशेषणों करके विशिष्ट होते हुए जाने जा रहे हैं। इस प्रकारका निर्णयका भी अविरुद्ध नहीं निर्णीत किया जाय, यह न समझना। किन्तु यह निर्णय भी अविरुद्ध है। तैसा होनेपर एक दूसरा लाभ यह भी हो जाता है कि अनवस्था नहीं होने पाती है। यदि निर्देश आदिकोंको करण माना जायगा तो उन अर्थोंके स्वभावभूत निर्देश आदिकोंको भी पुनः दूसरे करणोंकी आकांक्षा होगी, जैसे कि अर्थोंके जाननेमें निर्देश आदि करणोंकी आवश्यकता पडी थी और उन दूसरे तीसरे करणोंके भी अन्य चौथे पांचमें आदि करणोंकी आकांक्षा होना बढता जायगा। इस प्रकार मुख्यरूप या गौणरूपसे उत्तरोत्तर करणोंकी परिकल्पना करते हुए अनवस्था हो जायगी। यदि आगे आगेवाले करणोंकी कल्पना नहीं करोगे तो अनवस्थाका तो वारण हो जायगा, किन्तु मूलमें अपने माने गये धर्मोंको भी करणपना मत होओ! यानी जीव आदिकोंका अधिगम भी निर्देश आदिको करण माने विना ही हो जाओ! इस प्रकार प्रेरणा कर उठाया गया प्रश्न भी अवकाश नहीं पावेगा। भावार्थ—निर्देशादिको विशेषण माननेपर तो अनवस्थाका वारण हो जाता है और उक्त प्रश्न उठानेका भी अवकाश नहीं रहता। अतः कर्मस्थ अधिगमके पक्षमें निर्देश आदिकोंको करण नहीं मानकर विशेषण मानना चाहिये। यह परविद्वानोंका मतप्रकृष्ट है! इष्ट होनेके कारण आचार्य महाराजने इसका खण्डन नहीं किया।

नन्वेवमपरापरविशेषणकल्पनायामप्यनवस्था विशेषणान्तररहितस्य वा जीवादेः स्वाभिमतधर्मविशेषणैः प्रतिपत्तौ तैरपि रहितस्य प्रतिपत्तिरस्तु विशेषाभावादिति चेन्न विशेष्यात् कथञ्चिदभिन्नत्वाद्विशेषणानाम्। वस्तुतोऽनन्ता विधयोऽपि हि धर्मा निर्देशादिभिः संगृहीता विशेषणान्येव, तद्व्यतिरिक्तस्य धर्मस्यासम्भवात्। तत्र जीवादिवस्तु विशेष्यमेव द्रव्यार्थादेशात् निर्देश्यत्वादि विशेषणमेव पर्यायार्थात्। प्रमाणादेशादपि विशेषणविशेष्यात्मकं वस्तु जात्यन्तरमिति प्ररूपणायां नोक्तदोषावकाशः।

इसपर किसीकी शंका है कि इस प्रकार तो करणपक्षके समान विशेषण पक्षमें भी अनवस्था लग जायगी। उत्तरोत्तरवर्ती विशेषणोंको भी अन्य न्यारे न्यारे विशेषणोंसे सहितपनेकी कल्पना बढती जायगी, अर्थात् दूसरे विशेषणोंकी तीसरे विशेषणोंसे सहित होकर ज्ञप्ति होगी। और तीसरे विशेषणकी चौथे विशेषणसहित होकर ज्ञप्ति होगी। यह अनवस्था है। यदि दूसरे, तीसरे, चौथे, आदि अन्य विशेषणोंसे रहित ही जीव आदिकोंकी अपने अभीष्ट निर्देशत्व आदि धर्म विशेषणों करके ही प्रतिपत्ति होना मानोगे तो उन अभीष्ट विशेषणों करके भी रहित कोरे रीते जीव आदिकोंकी प्रतिपत्ति हो जाओ! कोई अन्तर नहीं है। यानी आगे चल कर विशेषणोंसे रहित जैसे अन्य विशेषणोंकी प्रतिपत्ति होना अनवस्थाको हटानेके लिये मानना पडता है। वैसे मूलमें ही विशेषणोंसे रहित ही जीव आदिकोंकी प्रतिपत्ति मान ली जाय। पहिले ही विशेषणोंका बोझ क्यों बढाया जाता है ? अथवा करणपक्षमें जैसे अनवस्था और चोद्य उठाये जाते हैं, वैसे ही विशेषणपक्षमें भी अनवस्था और चोद्य उठाये जा सकते हैं। निर्देश आदिको करण मानने और विशेषण मानने इन दोनों पक्षोंमें कोई अन्तर नहीं दीखता है। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना। क्योंकि विशेष्यसे विशेषणोंको कथञ्चित् अभिन्न माना है। वास्तविकरूपसे विचारा जाय तो विधिस्वरूप अनन्तधर्म भी जो कि निर्देश आदिकों करके पकडे गये हैं, वे सब अवश्य विशेषण ही हैं। उन निर्देश आदिकोंसे न्यारे धर्मका वस्तुमें असम्भव है। अतः अभेद माननेपर अनवस्थादोष नहीं है। तहां जीव आदिक वस्तुयें द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे विशेष्य ही हैं और निर्देश करने योग्यपन, स्वामिपन आदि तो पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा विशेषण ही हैं। द्रव्य और पर्यायोंके समुदायभूत वस्तुको जाननेवाले प्रमाणवाक्यकी अपेक्षासे भी विचारा जाय तो विशेष्य विशेषणस्वरूप वस्तु है। जो कि भिन्न दोनों जातिओंसे तीसरी जातिवाला है। इस प्रकार सिद्धान्त कथन करनेपर पूर्वमें कहे हुए दोषोंको स्थान नहीं मिलता है।

नन्वेवं निर्देशादिधर्माणां करणत्वपक्षेऽपि न परापरधर्मकरणत्वपरिकल्पनादनवस्था तद्व्यतिरेकेण परापरधर्माणामभावात्तेषां तु करणत्वं तैरधिगम्यमानस्यार्थस्य कर्मता नयादेशात्, प्रमाणादेशात्तु कर्मकरणात्मकं जात्यन्तरं वस्तु प्ररूप्यते इति न किञ्चिदनवद्यम्। नैतत्साधीयः। करणत्वे निर्देशादीनां कर्मसाधनतानुपपत्तेः विशेषणत्वे तु तदुपपत्तेः।

विशेषणविशेष्यभूतस्य जीवाद्यर्थस्य कर्मसाधनोऽधिगमः प्रतिपत्तुं शक्यत इति विशेषत्वपक्ष एव श्रेयान् ।

शंकाकार कहता है कि इस प्रकार तो निर्देश आदि धर्मोको करणपन माननेमें भी उत्तरोत्तर धर्मोके करणपनकी परिकल्पनासे भी हुआ अनवस्थादोष नहीं आता है । क्योंकि उन निर्देश्य आदि कर्मोसे भिन्न होकरके पर अपर धर्मोका अभाव है । हां ! उन निर्देश आदिकोंको तो करणपना उन करके जाने गये अर्थको कर्मपनको नय निरूपणासे है । नय विवक्षाको गौणकर प्रमाण अपेक्षासे यदि विचारा जाय, तब तो कर्म और करणस्वरूप होकर तीसरी जातिवाली ही वस्तु कही जाती है । इस प्रकार कोई दोष नहीं आता है । आचार्य कहते हैं कि यह शंकाकारका कहना तो अधिक अच्छा नहीं है । क्योंकि निर्देश आदिकोंका करणपन माननेपर कर्म साधनपना नहीं बन सकता है । जो कि कर्मस्थ अधिगमको माननेपर इष्ट किया जा चुका है । हां ! हमारे कथनानुसार निर्देश आदिक यदि विशेषण माने जांय तो वह कर्मसाधनपना बन जाता है । प्रायः अन्यवादी भी विशेषण और विशेष्यका अभेद माननेको उत्सुक हैं, किन्तु स्याद्वादियोंके अतिरिक्त सभी विद्वान् कर्मसे करणको भिन्न ही मानते हैं । अतः विशेषणविशेष्य स्वरूप हो रहे जीव आदि अर्थका कर्ममें निरुक्ति कर साधा गया अधिगम होना जाना जा सकता है । इस कारण करण पक्षसे विशेषणपनका पक्ष ही बहुत अच्छा है । जैनसिद्धान्तके अनुसार सब व्यवस्था बन जाती है । एकान्तपक्षमें नहीं ।

सकलविशेषणरहितत्वाद्वस्तुनो न सम्भवत्येव निर्दिश्यमानरूपमिति मतमपाकुर्वन्नाह;—

निरंश वस्तु संपूर्णविशेषणोंसे रहित है । अतः वस्तुका कथन करने योग्यपना स्वरूप नहीं सम्भवता है, वस्तु अवक्तव्य है । इस प्रकारके बौद्धमतका खण्डन करते हुए आचार्य महाराज स्पष्ट वक्ता होकर कथन कर रहे हैं ।

भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः ।
तत्स्वरूपवचो मिथ्येत्ययुक्तं निःप्रमाणकम् ॥ ७ ॥
यत्तदेकमनेकं च रूपं तेषां प्रतीयते ।
प्रत्यक्षतोऽनुमानाच्चाबाधितादागमादपि ॥ ८ ॥

जिस स्वरूप करके पदार्थ निरूपण किये जाते हैं, परमार्थरूपसे विचारा जाय तो वह पदार्थोंका वास्तविकस्वरूप ही नहीं है । अतः उस स्वरूपका वचन करना मिथ्या है । इस प्रकार अपनी कारिका बनाकर कह दिया गया बौद्धोंका मन्तव्य युक्तियोंसे रहित है और किसी भी प्रमाणके विषय न होनेसे अप्रमाणीक है । जिस कारणसे कि उन पदार्थोंके समीचीन प्रत्यक्ष प्रमाण और

अनुमान प्रमाण तथा बाधारहित आगमज्ञानसे भी वे एक और अनेकस्वरूप प्रतीत हो रहे हैं। अर्थात् सभी प्रमाणोंसे वास्तविक एक, अनेकस्वरूपोंका ज्ञान हो रहा है। अतः बौद्धोंका मत युक्ति और प्रमाणोंसे बाधित है। भावोंमें अनेक विशेषण ठहरते हैं और वे शब्दों द्वारा कहने योग्य भी हैं।

न हि प्रत्यक्षानुमेयागमगम्यमानानामर्थानां प्रत्यक्षानुमानागमैरेकमनेकं च रूपं परस्परापेक्षं न प्रतीयते परस्परनिराकरणप्रवणस्यैव तस्याप्रतीतेः। न चाप्रतीयमानस्य सर्वथैकान्तस्याऽप्यनवस्थितौ प्रतीयमानस्यापि जात्यन्तरस्यानवस्थितिर्नाम स्वेष्टरूपस्यापि तत्प्रसंगात्। तथा चैकरूपाभावस्य भावेष्वनवस्थितौ स्यादेवैकरूपस्य विधिस्तदनवस्थितौ अनेकरूपस्य परस्परव्यवच्छेदरूपयोरेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्य विधेरवश्यं भावान्नीलत्वा-नीलत्ववत् परस्परव्यवच्छेदस्वभावौ एकरूपभावाभावौ प्रतीतौ, तदनेनानेकरूपाभावस्य भावेष्वनवस्थितावनेकरूपस्य विधिस्तदनवस्थितावेकरूपस्य निवेदितः समानत्वान्न्यायस्य।

प्रत्यक्षगम्य तथा अनुमेय और आगमसे जाने जा रहे पदार्थोंका परस्परमें अपेक्षा रखनेवाला एक और अनेकस्वरूप प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम करके नहीं प्रतीत हो रहा है, यह न समझना। यानी इन्हीं प्रमाणोंसे वस्तुके एक अनेक स्वरूप जाने जा रहे हैं। हां! परस्परमें एक दूसरेका निराकरण करनेमें तत्पर हो रहे ही उस एक या अनेक स्वरूपकी प्रतीति प्रत्युत नहीं हो रही है। नहीं प्रतीत हो रहे सर्वथा एकान्तोंकी व्यवस्था न होनेपर भले प्रकार जाने जा रहे भी जात्यन्तर वस्तुकी व्यवस्था न मानी जाय, यह कैसे भी नहीं हो सकता है। अन्यथा बौद्धोंको अपने इष्ट रूप स्वलक्षण, क्षणिकत्व, आदिकी भी अव्यवस्था होनेका प्रसंग हो जावेगा। दूसरी बात यह है कि बौद्धजन वस्तुके एकरूप और अनेकरूप दोनोंका तो निषेध कर ही नहीं सकते हैं। देखो, तिस प्रकार पदार्थोंमें एकरूपके अभावकी व्यवस्था न होनेपर एकरूपकी भावविधि अवश्य हो जायगी और एकरूपकी व्यवस्था न होनेपर अनेकस्वरूपकी विधि अवश्य हो जायगी। परस्पर एक दूसरेसे व्यवच्छेदस्वरूप हो रहे दो पदार्थोंमेंसे एक किसीका निषेध करनेपर शेष दूसरेकी विधि अवश्य हो जाती है। जैसे कि कोई पदार्थ नील भी न होय और अनील भी न होय। इस प्रकार दोनोंका निषेध नहीं किया जा सकता है। आत्मा, आकाश, सूर्य, शंख, आदि पदार्थ नीले नहीं हैं तो अनील बने बनाये हैं तथा उत्पल, जामुन, नीला थोथा आदि पदार्थ नील हैं तो अनील नहीं हो सकते। इसीके समान एकरूपका भाव और अभाव भी परस्परमें व्यवच्छेद स्वभाववाले प्रतीत हो रहे हैं। अतः आप बौद्ध इन दोनोंमेंसे एकको अवश्य मानिये। तिस कारण इस कथनसे यह भी निवेदन कर दिया गया है कि पदार्थोंमें अनेक रूपोंके अभावकी यदि व्यवस्था न हो सकेगी तो उसी समय अनेकरूपकी विधि हो जायगी और अनेकरूपकी व्यवस्था न होनेपर एक रूपकी विधि हो जायगी। मेघके समान न्याय सर्वत्र एकसा होता है। अर्थात् एकरूप या एक

रूपाभाव अथवा अनेकरूप या अनेकरूपाभाव इनको मानो चाहे न मानो। वस्तुमें अनेक धर्मोंकी सिद्धि अनायास हो जाती है।

ननु चाध्यक्षे सकलधर्मरहितस्य स्वलक्षणस्य प्रतिभासनात् न तत्रैकमनेकं वा रूपं परस्परं सापेक्षं निरपेक्षं वा तद्रहितत्वं वा प्रतिभाति कल्पनारोपितस्य तु तथा प्रतिभासमानस्य तावतोऽसत्त्वात्। संवृत्त्या तत्सद्भावोऽभीष्ट एव। तथा चैकरूपतदभावयोरनेकरूपतदभावयोश्चैकानेकरूपयोः परस्परव्यवच्छेदस्वभावयोरेकतरस्य प्रतिषेधेऽन्यतरस्य विधेरवश्यंभावेऽपि न किञ्चिद्विरुद्धं, भावाभावोभयव्यवहारस्यानादि शब्दविकल्पवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितस्य शब्दार्थतयोपगमात्। तदुक्तम्—" अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः, शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रयः "। इति केचित्।

बौद्धोंकी ओरसे पुनः अनुनय सहित होकर पूर्वपक्ष है कि प्रत्यक्षज्ञानमें सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित वस्तुभूत स्वलक्षणका प्रतिभास हो रहा है। उस प्रत्यक्षमें एकरूप अनेकरूप परस्परमें अपेक्षा रखते हुए अथवा नहीं रखते हुए या उनसे रहितपना धर्म ये कभी नहीं प्रतीत होते हैं। हां! झूठी कल्पनासे तिस प्रकार आरोपे गये स्वरूपोंका प्रतिभास तो भले ही होय. कल्पित धर्म तो वास्तविकरूपसे असत् हैं, अतः व्यवहारसे उन कल्पित धर्मोंका सद्भाव हम बौद्धोंको अभीष्ट ही है और तिस प्रकार होनेपर अन्योन्यमें एक दूसरेका व्यवच्छेद करनारूप स्वभाववाले एकरूप और उसके अभाव एकरूपाभाव तथा अनेकरूप और उसके अभाव अनेकरूपाभाव जो कि एकरूप और अनेकरूपस्वरूप हैं। दोनोंमेंसे एकका निषेध करनेपर बचे हुए दूसरेकी विधिके अवश्य हो जानेपर भी कुछ विरुद्ध नहीं पडता है। पत्रमें चित्रित किये हुए सिंह और गायका या नकुल और सर्पका कोई झगडा नहीं है। भले ही सिंहके सिरपर पैर रखकर हिरण खडा हो जाय। कोई अडचन नहीं पडती। मनमानी धरू कल्पनाओंको कौन रोकने बैठा है ? भाव अभाव और उभयरूपसे हो रहे व्यवहार तो अनादिकालसे लगी हुयी शब्द बुलानेवाली और विकल्पज्ञान बनानेवाली वासनाओंसे उत्पन्न हुए विकल्पोंमें स्थित हो रहे हैं। उनके व्यवहारको हमने शब्दका वाच्यार्थपनेसे स्वीकार किया है, वास्तविकरूपसे नहीं। वही हमारे ग्रन्थमें कहा है कि भाव, अभाव, और उभयका आश्रय लेकर गढ लिया गया तीन प्रकारका धर्म ही शब्दका वाच्यार्थ है। जो कि आत्मामें बीजांकुर न्याय अनुसार अनादिकालसे लगे हुए मिथ्यासंस्कारोंसे उत्पन्न हो चुके झूंठे विकल्पज्ञानोंमें विषयभूत होकर स्थित हो रहा है। इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं।

तेऽपि नानवद्यवचसः सुखनीलादीनामपि रूपाणां कल्पितत्वप्रसंगात्। स्पष्टमवभासमानत्वान्न तेषां कल्पितत्वमिति चेन्न, स्वप्नावभासिभिरनेकान्तात्। न हि चैषामविकल्पितत्वं मानसविभ्रमात्मना स्वप्नस्योपगमात् तस्य करणजविभ्रमात्मनोपगमे वा कथमिन्द्रिय-

जविभ्रमात्तद्भ्रान्तेः पृथक् प्ररूपणं न विरुध्यते । मानसविभ्रमत्वेऽपि विशदत्वं स्वप्नस्य विरुध्यत इति चेन्न, विशदाक्षज्ञानवासनासमुद्भूतत्वेन तस्य वैशद्यसम्भवात् । न च तत्र विशदरूपतयावभासमानानामपि सुखनीलादीनां पारमार्थिकत्वं विसंवादात् । तद्वज्जाग्रद्दशायामपि तेषामनादीन्द्रियादिजज्ञानवासनोद्भूतप्रतिभासपरिनिष्ठितत्वात् प्रत्यक्षा एव ते न वस्तुस्वभावा इति शक्यं वक्तुम् ॥

आचार्य कहते हैं कि वे बौद्ध भी निर्दोष वचन कहनेवाले नहीं हैं । अर्थात् जब वे शब्द के वाच्यअर्थको वस्तुभूत मानते ही नहीं हैं तो उनका उक्त कथन करना भी निस्सार है । मिथ्यासंस्कारोंसे कहा हुआ होकर सदोष ही है । तथा यों तो प्रत्यक्षसे जाने गये अन्तरंग सुख, ज्ञान, आदि पदार्थोंको और बहिरंग नील पीत आदि स्वरूपों (स्वलक्षणों) को भी कल्पितपनेका प्रसंग हो जायगा । रहा इनका ज्ञान या इनका शब्दद्वारा व्यवहार सो तो इनकी मिथ्यावासनाओंसे सुख, नील, आदिकोंका मतिज्ञान होना कहा जा सकता है । इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि स्पष्ट रूपसे प्रकाशमान होनेके कारण वे सुख, नील, आदिक कल्पित नहीं हैं । किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञानसे जाने गये परमार्थभूत हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि स्वप्नमें प्रतिभास रहे सुख, नील, आदि पदार्थोंसे तुम्हारे हेतुका व्यभिचार हो जायगा । स्वप्नमें देखे हुए पदार्थ स्पष्ट प्रतिभास रहे हैं । किंतु अकल्पित नहीं हैं और इन स्वप्नके सुख, नील, आदिकोंको निर्विकल्पक ज्ञानका विषयपना नहीं समझ बैठना । जिससे कि व्यभिचार दूर हो सके । आप बौद्धोंने स्वप्नको मनोजन्य विभ्रम ज्ञानस्वरूपसे स्वीकार किया है । यदि उस स्वप्नको बहिरिन्द्रियजन्य विभ्रमस्वरूपसे माना जायगा तो अन्यत्र ग्रन्थमें इन्द्रियजन्य भ्रान्तिसे उस स्वप्नरूप भ्रमका पृथक्पनेसे निरूपण करना कैसे नहीं विरुद्ध होगा ? बौद्ध यदि यों कहें कि स्वप्नको मानसभ्रान्ति रूप माननेपर भी स्पष्टपना विरुद्ध हो जाता है । अर्थात् जो भ्रान्तिरूप ज्ञान हैं, वे स्पष्ट नहीं होते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाणरूप ज्ञान ही विशद होते हैं । इसपर ग्रन्थकार सकटाक्ष बोलते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि आपकी मानी हुयीं वासनायें संसार भरका प्रत्येक ढंगसे ज्ञान करनेमें जब समर्थ हैं तो चिन्ता किस बातकी है ? विशद इन्द्रियज्ञानको बनानेवाली वासनासे उत्पन्न होनेके कारण उस स्वप्नका विशदपना सम्भव है । किन्तु उस स्वप्नमें स्पष्टरूपसे प्रतिभास रहे भी सुख, नील आदिकोंको विसंवाद (सफलप्रवृत्तिका अजनक) होनेके कारण परमार्थभूत नहीं माना गया है । उसी स्वप्न दशाके समान जागती हुयी अवस्थामें भी वे सुख, नील, आदिक पदार्थ इन्द्रिय आदिकोंसे जन्य ज्ञानकी अनादिकालीन वासनासे उत्पन्न हुए प्रतिभासमें स्थित होनेके कारण वे प्रत्यक्ष विषय तो हो ही जायंगे, किन्तु वे वास्तविक नहीं हैं । यह हम जैन कह सकते हैं ।

बाधकाभावाद्वास्तवास्ते इति चेत्, शब्दार्थास्तथा सन्तु । न चाभावस्यापि शब्दार्थत्वात्सर्वशब्दानामवास्तवत्वमिति युक्तं, भावान्तररूपत्वादभावस्य ।

कोई बाधक प्रमाण न होनेके कारण वे जागती हुयी दशाके सुख, नील, आदिक तो वस्तुभूत हैं। ऐसा माननेपर तो बौद्धोंके यहां शद्बके वाच्यअर्थ भी तिस प्रकार बाधक प्रमाण न होनेके कारण वास्तविक हो जाओ। बौद्धोंको यह भय करना उचित नहीं है कि अभाव भी शद्बोंका वाच्यअर्थ माना गया है और अभाव तुच्छ पदार्थ अवास्तविक है। अतः सभी शद्बोंके वाच्यअर्थोंको अवास्तविकपना है। देखो! हम जैन अभावको दूसरे भावस्वरूप मानते हैं। जैसे कि घटका अभाव रीते भूतलस्वरूप है। हां! तुच्छ और निरुपाख्य अभाव कोई पदार्थ नहीं है। " भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽत्रानुपलम्भवत् "। जैसे गाढ सोते हुए मनुष्यका या मूर्ख जीवका अज्ञान अनुपलम्भ नहीं कहाता है, किन्तु चैतन्य अवस्थामें ठहरे हुए मनुष्यका किसी पदार्थका ज्ञान होना अन्य पदार्थका अनुपलम्भ कहा जाता है। अनुपलम्भ शद्बमें नञ्का अर्थ पर्युदास है, प्रसज्य अर्थ नहीं है। वैसे ही अन्य भावोंसे रहित दूसरा भावपदार्थ ही अभाव पडता है। मीमांसक भी प्रायः ऐसा ही मानते हैं।

ननु तुच्छाभावस्याशद्बार्थत्वे कथं प्रतिषेधो नाम निर्विषयप्रसंगादिति चेन्न, वस्तुस्वभावस्याभावस्य विधानादेव तुच्छस्वभावस्य तस्य प्रतिषेधसिद्धेः क्वचिदनेकान्तविधानात् सर्वथैकान्तप्रतिषेधसिद्धिवत्।

यहां शंका है कि कार्यता, कारणता, आधारता, आधेयता, विशेष्यता, विशेषणता, आदि सभी धर्मोंसे रहित तुच्छ अभावको यदि शद्बका वाच्यअर्थ न माना जायगा तो भला उसका निषेध भी कैसे होगा? यों तो निषेधको प्रतियोगीस्वरूपसे रहितपनेका प्रसंग होगा। अर्थात् निषेध तो किसी पदार्थका होना चाहिये। खरविषाण आदि अवस्तुका तो निषेध नहीं होता है। ज्ञानका जैसे षष्ठयन्त या सप्तम्यन्त विषय आवश्यक है, वैसे ही निषेधका भी वस्तुभूत षष्ठयन्त प्रतियोगी होना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो न करना। क्योंकि वस्तुस्वरूप अभावको विधान करनेसे ही तुच्छस्वरूप उस अभावके निषेधकी स्वयं सिद्धि हो जाती है। जैसे कि कहीं अग्नि, हेतु, विष, आदिमें भावस्वरूप अनेकान्तकी विधि होजानेसे सभी प्रकार एकान्तोंके निषेधकी सिद्धि हो जाती है। हम चलाकर सर्वथा एकान्त या तुच्छ अभावको स्थिर करके पुनः उसका निषेध नहीं करते हैं। यों तो व्याघातदोष होता है। हां! भावात्मक अनेक धर्मवाले पदार्थ संसारमें प्रसिद्ध हो रहे हैं अथवा वस्तुभूत नास्तित्व धर्मसे युक्त पदार्थ प्रतिभास रहे हैं, इस ही कारण सर्वथा एकान्त और तुच्छ अभाव प्रतीत ही नहीं हो पाते हैं।

तथा तस्य मुख्यो प्रतिषेधो न स्यादिति चेन्न किञ्चिदनिष्टं, न हि सर्वस्य मुख्येनैव प्रतिषेधेन भवितव्यं गौणेन वेति नियमोऽस्ति यथाप्रतीतस्योपगमात्।

बौद्धोंकी ओरसे कोई कहता है कि यों तिस प्रकार होनेपर तो उस तुच्छ अभावका मुख्यरूपसे निषेध नहीं हो सकेगा। मुख्य निषेध तो उसे कहते हैं जो कि ठीक उसीका किया जाय। यों तो एक अश्वके होनेपर हाथी, भैंसे, बैल, आदि असंख्य पदार्थोंका निषेध हो जाता है, किन्तु

वह गौण निषेध है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो आक्षेप न करना । क्योंकि हमको कोई अनिष्ट नहीं है । सर्वथा एकान्तोंका या तुच्छ अभावोंका षष्ठयन्त विषय नियत करते हुए मुख्य निषेध न होनेमें हमारी कोई क्षति नहीं है । सबका मुख्य ही निषेध होना चाहिये या गौण ही निषेध होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं बंधा हुआ है । जिसका कि आवश्यक पालन किया जाय । हां ! जिनका जिस प्रकार निषेध होना प्रतीत हो रहा है, उसका वैसा मुख्य या गौण निषेध होना स्वीकार कर लिया जाता है । आपके यहां भी तो खर विषाण, वन्ध्यापुत्र आदि असत् पदार्थोंका गौणरूपसे निषेध करना माना गया है । इसी प्रकार यहां भी सर्वथा एकान्तोंका या तुच्छ अभावोंका निषेध गौण ही सही ।

ननु गौणेऽपि प्रतिषेधे तुच्छाभावस्य शब्दार्थत्वसिद्धिर्गम्यमानस्य शब्दार्थत्वाविरोधात् सर्वथैकान्तवदिति चेन्न, तस्यागम्यमानत्वात्तद्वत् । यथैव हि वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वविधानात् सर्वथैकान्ताभावो गम्यते न सर्वथैकान्तस्तथा वस्तुरूपस्याभावस्य विधानात्तुच्छाभावस्याभावो न तु स गम्यमानः ।

पुनः शंकाकारका कथन है कि तुच्छ अभावका गौणरूप निषेध करनेपर भी शद्ब द्वारा वाच्यार्थपना सिद्ध हो जाता है क्योंकि शद्बके द्वारा कण्ठोक्त कहे गये उच्यमान पदार्थके समान शद्बसे यों ही जान लिये गये गम्यमान पदार्थको भी शद्बका वाच्यार्थपन प्राप्त होनेका कोई विरोध नहीं है । जैसे कि हमने सर्वथा एकान्तोंको शद्बके वाच्यअर्थ माना है । अब श्रीविद्यानन्दस्वामी कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि वह तुच्छ अभाव शद्बके द्वारा जानने योग्य नहीं है । जैसे कि सर्वथा एकान्त अर्थात् शद्बोंके द्वारा सर्वथा एकान्त और तुच्छ अभाव साक्षात् या परम्परा कैसे भी नहीं जाने जाते हैं । सींगोंसे खाली घोडेके सिरको देखकर एकदम घोडेके सींगोंका अभाव जान लिया जाता है । घोडेके सींगोंके जाननेके लिये अवसर ही नहीं मिल पाता है । जिस ही प्रकार वस्तुके अनेक धर्म स्वरूपपनका विधान करनेसे ही उसी समय सर्वथा एकान्तोंका अभाव जान लिया जाता है, सर्वथा एकान्त नहीं जाने जाते हैं, तिसी प्रकार वस्तुस्वरूप अभावकी विधि होनेसे तुच्छस्वरूप अभावका अभाव एकदम जान लिया जाता है, किन्तु वह तुच्छ अभाव तो कैसे भी नहीं जाना जाता है । प्रमेयत्व धर्म जिसमें रहेगा, वह जाना जायेगा । तुच्छ अभाव तो सर्वथा एकान्तके समान प्रमेयत्व धर्मसे रीता है । भला वह परम्परासे भी कैसे जाना जा सकता है ? ।

ननु तुच्छाभावस्याभावगतौ तस्य गतिरवश्यंभाविनी प्रतिषेध्यनान्तरीयकत्वात् प्रतिषेधस्येति चेन्न, व्याघातात् । तुच्छाभावस्याभावश्च कुतश्चिद्गम्यते भावश्चेति को हि ब्रूयात् स्वस्थः ।

शंका है कि तुच्छ अभावके अभावका ज्ञान करने पर उस तुच्छ अभावका ज्ञान करना तो अवश्यरूपसे होना चाहिये, क्योंकि निषेध करना निषेध करने योग्य प्रतियोगीके साथ अविनाभाव

रखता है। अर्थात् निषेध करने योग्य पदार्थके बिना निषेध करना नहीं बनता है। " न अन्तरे सम्पाश्यमान इति नान्तरीयकः "। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है। जिसका भाव विद्यमान है, भला उसका निषेध किस प्रकार हो सकता है ? किसी वास्तविक कारणसे तुच्छ अभावका अभाव भी जान लिया जाय और तुच्छ अभावकी सत्ता भी जानली जाय, इस प्रकार भला कौन नीरोग मनुष्य कह सकेगा ? यानी उन्मत्त या रोगी (बीमार) मनुष्य ही ऐसी पूर्वापरविरुद्ध बातोंको कह सकता है। अतः तुच्छ अभावका भाव कहना कैसे भी आवश्यक नहीं है।

ननु वस्तुरूपस्याभावस्य विधानात्तुच्छाभावस्याभावगतिस्तद्गतेस्तस्य गतिस्ततो न व्याघातो नाम, यत एव हि तस्याभावगतिस्तत एव भावस्यापि गतौ व्याघातो नान्यथेति चेन्न, सामस्त्येन तस्याभावगतौ पुनर्भावगतेर्व्याहतेरवस्थानात्। प्रतिनियतदेशादितया तु कस्यचिदभावगतौ अपि न भावगतिर्विहन्यत इति युक्तम्।

बौद्ध अपने मतका अवधारण कर कहते हैं कि वस्तुस्वरूप अभावके विधान करनेसे ही तुच्छ अभावके अभावकी ज्ञप्ति हो जाती है। यह तो आपने भी माना है किन्तु उस तुच्छ अभावकी अभाव गतिसे उस तुच्छाभावकी ज्ञप्ति हो जायगी। तिस कारण कोई व्याघात दोषकी सम्भावना नहीं है। हां, जिस ही स्वरूपसे उस तुच्छ अभावके अभावकी ज्ञप्ति होती और उस ही स्वरूपसे तुच्छाभावके भावकी भी ज्ञप्ति मानी जाती तब तो व्याघातदोष हो सकता था। अन्य प्रकारसे माननेपर तो व्याघात नहीं होता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सम्पूर्ण रूपसे जब तुच्छ अभावके अभावका ज्ञान कर लिया है, तो फिर तुच्छ अभावके भावकी ज्ञप्ति करनेसे व्याघातदोष होना तदवस्थ रहता है। हां ! नियत कर दिये गये प्रत्येक देश, काल, अवस्थामें ठहरनेपनसे तो किसीके अभावकी ज्ञप्ति हो जानेपर भी पुनः अन्य देश, अन्य काल, और अन्य अवस्थाओंमें उसके भावका ज्ञान कर लेनेमें व्याघात नहीं आता है, यह युक्त है। भावार्थ—विवक्षित घटका किसी समय अन्य स्थानोंमें अभाव जाननेपर भी कुलालके घरमें उसका भाव भी जान लिया जाता है। क्योंकि घटका संपूर्ण देश, काल, और अवस्थाओंकी अपेक्षासे अभाव नहीं हो रहा है। कहीं कभी किसी अवस्थामें घट है। अन्यत्र अन्यदा अन्य अवस्थामें नहीं है। यहां व्याघातकी सम्भावना नहीं, किन्तु तुच्छ अभावोंका तो सर्वदा सर्वत्र सभी प्रकारोंसे अभाव हो रहा है। अतः उसका भाव जाननेमें व्याघातदोष अवश्य लागू होगा सो समझ रखना।

कथमिदानीं "संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्" इति मतं न विरुध्यते ? तुच्छाभावस्य प्रतिषेध्यस्याभावेऽपि प्रतिषेधसिद्धेरन्यथा तस्य शब्दार्थतापत्तेरिति चेन्न, संज्ञिनः सम्यग्ज्ञानवतः प्रतिषेध्यादृते न क्वचिदन्तर्बहिर्वा प्रतिषेध इति व्याख्यानात्तदविरोधात्।

किसीका प्रश्न है कि आप जैन यह बताओ कि श्रीसमन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है कि प्रतिषेध करने योग्य पदार्थके विना संज्ञावालेका कहीं भी निषेध नहीं होता है। यह आचार्यका मन्तव्य आप जैनोंके कथनसे क्यों नहीं विरुद्ध पडेगा ? यानी आपको अपने आचार्यके वचनसे विरोध आवेगा। तुमने तो प्रतिषेध्य करने योग्य तुच्छ अभावके विना भी उसका निषेध सिद्ध कर दिया है। अन्यथा यानी निषेध्यके मान लेनेपर ही उसका निषेध किया जायगा, तब तो वाचक संज्ञावाले उस तुच्छ अभावको शब्दके वाच्य अर्थपनका प्रसंग आता है। आचार्य कहते हैं कि यह कटाक्ष तो नहीं हो सकता है, क्योंकि गुरूणां गुरुः श्रीसमन्तभद्राचार्यकी कारिकाका इस प्रकार व्याख्यान है कि संज्ञी अर्थात् समीचीन ज्ञानवाले निषेध्यके विना कहीं भी अन्तरंग अथवा बहिरंग पदार्थका निषेध नहीं होता है। ऐसा व्याख्यान करनेसे उन आचार्योंके मन्तव्यसे हमारे कथनका कोई विरोध नहीं आता है। भावार्थ—सर्वथा एकान्तोंके समान तुच्छ अभाव सम्यग्ज्ञानका विषय ही नहीं है। अतः निषेध्यके विना भी उसका निषेध किया जा सकता है। संज्ञीका अर्थ वाचक संज्ञा-वाला नहीं किन्तु सम्यग्ज्ञानकी विषयतावाला है।

सकलप्रमाणाविषयस्य तुच्छाभावस्य प्रतिषेधः स्वयमनुभूतसकलप्रमाणाविषयत्वेन तदनुवदनमेवेति स्यात्प्रतिषेध्यादृते प्रतिषेधः स्यान्नेत्यनेकान्तवादिनामविरोधः प्रमाणवृत्तानुवादपरत्वात्तेषाम्। न हि यथा जीवादिवस्तु प्रतिनियतदेशादितया विद्यमानमेव देशान्तरादितया नास्तीति प्रमाणमुपदर्शयति तथा तुच्छाभावं तस्य भावरूपत्वप्रसंगात्। सर्वत्र सर्वदा सर्वथा वस्तुरूपमेवाभावं तदुपदर्शयति तथा तुच्छाभावाभावमुपदर्शयति इति तद्वचने दोषाभावः।

तुच्छ अभाव जब सम्पूर्ण सम्यग्ज्ञानों द्वारा विषय नहीं किया जा रहा है तो उसका निषेध करना स्वयं अनुभूत हो रहे सम्पूर्ण प्रमाणोंके अविषयपनेसे उसका केवल अनुवाद करना मात्र है। भावार्थ—जैसे कि यह मनुष्य घोडा नहीं है, यहां मनुष्यमें घोडेपनकी कल्पना कर उसका अनुवाद करते हुए निषेध कर देते हैं, तैसे ही किसी भी ज्ञानके विषयभूत नहीं ऐसे तुच्छ अभावका अनुवाद कर निषेध कर दिया जाता है। इस कारण कथञ्चित् प्रतिषेध्यके विना भी निषेध हो जाता है और कथञ्चित् प्रतिषेध्यके विना प्रतिषेध नहीं होता है। यानी वन्ध्यापुत्र आदि समसित पदके अर्थ या तुच्छ अभाव और सर्वथा एकान्तोंका प्रतिषेध्यके विना अभाव साध दिया जाता है तथा अखण्ड पद या सद्भूत अर्थ और सम्यग्ज्ञानवाले अर्थका निषेध तो प्रतिषेध्यके विना नहीं हो पाता है। इस प्रकार अनेकान्त वादियोंके यहां कोई विरोध नहीं आता है, वे तो प्रमाणके द्वारा आचरे गये वृत्तान्तका अनुवाद करनेमें प्रवीण हैं। देखो ! प्रमाण जैसे नियत देश प्रतिनियत काल और नियमित स्वभावों करके विद्यमान हो रहे ही जीव आदि वस्तुओंको दूसरे देश अन्य काल और न्यारे परचतुष्टयादि स्वभावों करके नहीं हैं, यों जिस प्रकार दिखला देता है, तिस प्रकार तुच्छ

अभावोंको नहीं दिखलाता है। यदि जीव आदि वस्तुओंके समान तुच्छ अभावोंको भी सम्यग्ज्ञान दिखलाता होता तो उस तुच्छ अभावको भावरूपपनेका प्रसंग हो जाता। जो कि वैशेषिकोंने भी नहीं माना है। हां ! यह प्रमाण सर्व स्थलोंपर सब कालमें सभी प्रकारोंसे वस्तुस्वरूप अभावको ही दिखलाता है और तुच्छ अभावके तिस प्रकार वस्तुस्वरूप अभावको जता देता है। इस प्रकार उसके कथन करनेमें कोई दोष नहीं है। अर्थात् तुच्छ अभाव तो कोई पदार्थ नहीं है। हां ! तुच्छ अभावका अभाव जैसे तैसे कठिनतापूर्वक किसी अपेक्षासे वस्तुरूप कहा जा सकता है। तुच्छाभावके न होनेपर ही तुच्छाभावाभावके ज्ञान और शद्बके गोचरपनेसे ऐसा मानना पडा है। अन्यथा नहीं।

नन्वेवं तुच्छाभावसदृशस्या(शद्बस्या)नर्थकत्वे प्रयोगो न युक्तोऽतिप्रसंगात्, प्रयोगे पुनरर्थः कश्चिद्वक्तव्यः स च बहिर्भूतो नास्त्येव च कल्पनारूढस्त्वन्यव्यवच्छेद एवोक्तः स्यात्तद्वत् सर्वशद्बानामन्यापोहविषयत्वे सिद्धेर्न वास्तवाः शद्बार्था इति चेत् नैतदपि सारं, अभावशद्बस्याभावसामान्यविषयत्वात्तस्य विवादापन्नत्वात्। सर्वो हि किमयमभावो वस्तुधर्मः किं वा तुच्छ इति प्रतिपद्यते न नास्तीति प्रत्ययेऽर्थोऽभावमात्रे, तत्र च वस्तुधर्मतामभावस्याचक्षाणाः स्याद्वादिनः कथमभावशद्बं कल्पितार्थं स्वीकुर्युः? स्वयं तुच्छरूपतां तु तस्य निराकुर्वेतः परैरारोपितामाशंकितां वानुवदतीत्युक्तप्रायम्।

पुनः बौद्धोंका अवधारण है कि इस प्रकार तुच्छ अभाव शद्बको व्यर्थ माननेपर तो उसका प्रयोग करना ही युक्त नहीं है। अथवा शद्बोंकी प्रवृत्ति सदृश पदार्थोंमें होती है। संकेतग्रहण करते समय सन्मुख होरहे पदार्थका प्रत्यक्ष ही हो रहा है। जब कि तुच्छ अभावके सदृश कोई पदार्थ ही नहीं है, तो यह शद्ब व्यर्थ है। ऐसी दशामें उसका प्रयोग करना युक्त नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् जब ग ड द, कुथ, विथ आदि निरर्थक शद्बोंका प्रयोग करना भी आवश्यक हो जायगा। यदि तुच्छ अभावका वचन प्रयोग करोगे तो फिर उसका कोई वाच्यअर्थ कहना ही पडेगा और वह घट, पट, आदिके समान बहिरंग वस्तुभूत अर्थ होता नहीं है, तब तो झूंठी कल्पनामें आरोपा गया अन्य व्यवच्छेद ही तुच्छ पदार्थ अभाव शद्बसे कहा जा सकेगा। उस अभाव शद्बके समान सब शद्बोंका अन्यापोहरूप अर्थको विषय करनापन सिद्ध हो जानेसे सभी शद्बोंके वाच्यअर्थ वस्तुभूत नहीं ठहरते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहोगे सो यह बौद्धोंका स्वकीय मतका अवधारण भी निस्सार है। क्योंकि अभाव शद्ब निरर्थक नहीं है, वह अभाव सामान्यको विषय करता है। हां ! सामान्य अभाव क्या पदार्थ है ? वह विवादमें पडा हुआ है। उसका विचार कर लीजिये। सर्व ही वादी विद्वान् अभावको क्या वस्तुका धर्म है ? अथवा क्या तुच्छ स्वभाव है ? इस प्रकार विवाद उठाकर जान लेते हैं। अभावका " नहीं " नहीं है इत्यादि प्रकारसे अभावसामान्यमें अर्थ समझ लेना चाहिये। तिन विद्वानोंमें अभावको वस्तुका धर्मपना कह रहे स्याद्वादी पण्डित अभाव शद्बको कल्पित अर्थवाला कैसे स्वीकार

कर सकेंगे ? वे तो उस अभावकी तुच्छरूपताका स्वयं खण्डन करते हुए दूसरे वैशेषिक द्वारा आरोपण की गयी या मीमांसकद्वारा शंकाको प्राप्त हुयी तुच्छरूपताका अनुवाद मात्र कर देते हैं । जैसे कि कोई सत्यव्रती सज्जन किसीके असत्य भाषणका अनुवाद कर देते हैं, इस बातको हम बहुलतासे पूर्वमें कह चुके हैं ।

न चात्यन्तासम्भविनो रूपस्य वस्तुन्यारोपितस्य केनचिदाशंकितस्य चातुच्छादेः सर्वशब्दानामन्यव्यवच्छेदविषयत्वप्रसंजनं प्रायः प्रतीतिविरोधात् । कथमन्यथा कस्यचित्प्रत्यक्षस्य नीलविषयत्वे सर्वप्रत्यक्षाणां नीलविषयत्वप्रसंजनं नानुषज्यते सर्वथा विशेषाभावात् । अथ यत्र प्रत्यक्षे नीलं प्रतिभासते निर्बाधात्तन्नीलविषयं यत्र पीतादि तत्तद्विषयमित्यनुगम्यते नहि यत्र शाब्दे ज्ञाने वस्तुरूपमकल्पितमाभाति तद्वस्तुरूपविषयं यत्र तु कल्पनारोपितरूपं तत्तद्गोचरमित्युक्तम् । ततः शब्दार्थानां भावाभावोभयधर्माणामभावादिवासनोदितविकल्पपरिनिष्ठितत्वे प्रत्यक्षार्थानामपि तत्स्यात् तेषां बाधकाभावात् । पारमार्थिकत्वे वा तत एव शब्दार्थानामपि तद्वदेवेति न प्रतिपादितविरोधाभावः ।

अत्यन्तपनसे असम्भव हो रहे किन्तु खण्डन करनेके लिये किसीमें आरोपे गये अथवा किसीके द्वारा शंकाको प्राप्त हुए तुच्छ अभाव आदिके वाचक शब्दोंको अन्यापोह अर्थकी विषयता मानकर सभी ही सत्य शब्दोंको भी अन्यापोह अर्थके विषयपनका प्रसंग देना उचित नहीं है। क्योंकि प्रायः करके प्रतीतियोंसे विरोध होगा । अन्यथा किसी भी नील पदार्थको जाननेवाले प्रत्यक्षको नीलका विषय करनेवाला होनेपर सभी लाल, पीले आदिको विषय करनेवाले प्रत्यक्षोंको भी नीलको विषय करनेवालेपनका प्रसंग क्यों नहीं माना जावेगा ? सभी प्रकारोंसे कोई अन्तर नहीं है । अब यदि आप यों मानें कि जिस प्रत्यक्षमें बाधा रहितपनेसे नील पदार्थ प्रतिभास रहा है, वह नीलको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष है और जिसमें पीत, रक्त, आदि पदार्थ बाधारहित होकर प्रतीत हो रहे हैं, वह उन पीत आदिको विषय करनेवाले प्रत्यक्ष है, ऐसा माना जायगा । तब तो जिस शब्दजन्य ज्ञानमें नहीं कल्पना किया परमार्थभूत वस्तुस्वरूप प्रकाशित हो रहा है, वह शाब्दज्ञान तो वस्तुभूत पदार्थको विषय करनेवाला माना जाय, किन्तु जिस शाब्दज्ञानमें कल्पनासे आरोप कर किया गयारूप जाना जाता है, वह शाब्दज्ञान उस कल्पित झूंठे पदार्थको विषय करनेवाला मान लिया जाय । इस बातको हम पहिले भी कह चुके हैं । प्रमाण और प्रमाणाभास तो सर्वत्र मानने पड़ते हैं । तिस कारण शब्दके वाच्यअर्थस्वरूप भाव, अभाव, और उभय धर्मोंको या इन तीन धर्मवाले धर्मियोंको यदि अनादिकालकी लगी हुयी भाव, अभाव आदिकी वासनासे उत्पन्न हुए विकल्पज्ञान द्वारा स्थित होना (मनगढन्त) माना जायगा तो प्रत्यक्ष ज्ञानके विषयभूत अर्थोंको भी वह झूंठे विकल्पज्ञान रूपी शिल्पीद्वारा यों ही त्यों ही गढ लिया गयापन हो जाओ ! अर्थात् प्रत्यक्षद्वारा जाने गये पदार्थ भी वस्तुभूत नहीं माने जायें, तिसपर बौद्ध यदि यों कहें कि प्रत्यक्षसे जाने गये उन अर्थोंका

बाधक प्रमाण न होनेके कारण वस्तुभूतपना है । ऐसा कहने पर तो हम भी कहते हैं कि तिस ही बाधक प्रमाण न होनेके कारण शद्बोंके वाच्यअर्थोको भी वास्तविकपना हो जाओ ! इस प्रकार शद्बका वाच्यार्थ सिद्ध हो जानेपर आप बौद्धोंको अपनी कही गयी " अनादिवासनोद्भूत " इस कारिकासे विरोध हुआ । अथवा बौद्ध इधर तो शद्बका वाच्यअर्थ नहीं मानते हैं और उधर अनेक ग्रन्थों या वक्ताओंद्वारा स्वकीय तत्त्वका प्रतिपादन कराते हैं । अतः अपने ही प्रतिपादितसे अपना ही विरोध हुआ । उस विरोध दोषका अभाव आप बौद्ध नहीं कर सकते हैं ।

यदप्युक्तं प्रत्यक्षे सकलधर्मरहितस्य स्वलक्षणस्य प्रतिभासान्न तत्रैकमनेकं वा रूपं वा परस्परसापेक्षं वा निरपेक्षं वा तद्रहितं वा प्रतिभातीति । तदपि मोहविलसितमेव, अनेकांतात्मकवस्तुप्रतीतेरपह्नवात् । को ह्यमोहविडंबितः प्रतिभासमानमाबालमबाधितमेकमनेकाकारं वस्तु प्रत्यक्षविषयतयानादृत्य कथमप्यप्रतिभासमानं ब्रह्मतत्त्वमिव स्वलक्षणं तथा आचक्षीत ? अतिप्रसंगात् ।

और भी जो बौद्धोंने पहिले " ननु चाध्यक्ष " इत्यादि ग्रन्थसे कहा था कि प्रत्यक्षमें संपूर्ण धर्मोंसे रहित कोरे स्वलक्षणका प्रतिभास होता है। अतः उसमें एक अथवा अनेकरूप या परस्पर अपेक्षा रखते हुये या नहीं अपेक्षा रखते हुये अथवा उनसे रहित भी कोई स्वरूप नहीं प्रतिभास रहा है, इस प्रकार यह कहना भी गाढ मोह (मूर्छा) में फसकर चेष्टा करना ही है। क्योंकि अनेक धर्मस्वरूप वस्तुकी हो रही प्रतीतिको छिपाया गया है। कौन ऐसा मोहकी विडम्बनासे रहित विचारशील लौकिक या परीक्षक होगा जो कि बालगोपालोंतक प्रतिभास रही बाधारहित एक अनेक आकारवाली वस्तुका प्रत्यक्षके गोचरपनेसे आदर न कर किसी भी प्रकारसे नहीं दीखते हुये ब्रह्माद्वैततत्त्वके समान बौद्ध अभिमत स्वलक्षणको तिस प्रकार धर्मोंसे रहित कहता फिरे अर्थात् कोई भी नहीं है । यदि प्रमाणसे जाने गये पदार्थका तिरस्कार कर प्रमाणसे न जाने गये पदार्थकी कल्पना की जायगी तो चाहे जिस अण्ट सण्ट पदार्थकी सत्ता सिद्ध हो जायगी । अद्वैतवादियोंका माना गया ब्रह्मतत्त्व भी बौद्धोंको मानना पडेगा, तथा सांख्यके भी नित्य माने गये प्रकृति, आत्मा, आदि तत्त्व अंगीकार करने पडेंगे, यह अतिप्रसंग होगा ।

तथानुमानादागमाच्च भावस्यैकानेकरूपविशिष्टस्य प्रतीयमानत्वान्न " भावा येन निरूप्यंते तद्रूपं नास्ति तत्त्वत । " इति वचनं निःप्रमाणकमेवोररीकार्यं, यतः स्वरूपवचनं सूत्रे मिथ्या स्यात् । यथा च प्रत्यक्षमनुमानमागमो वानेकांतात्मकं वस्तुप्रकाशयति सुनिर्णीतासंभवद्बाधं तथाग्रे प्रपंचयिष्यते । किंच ।

इस सूत्रकी आठवीं वार्तिकका उपसंहार करते हैं प्रत्यक्षसे तो अनेकधर्म आत्मक वस्तु सिद्ध कर दी है तथा अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणसे भी पदार्थ एक और अनेकरूपोंसे विशिष्ट होते हुये प्रतीत हो रहे हैं । अतः बौद्धोंका यह कथन करना ठीक नहीं है कि " पदार्थ जिस

स्वरूपसे कहे जाते हैं, वास्तविकपनेसे वह स्वरूप नहीं है," यह उनका वचन अप्रमाणीक ही स्वीकार करना चाहिये। जिससे कि सूत्रकारका निर्देश आदि सूत्रमें निर्देशशब्दसे स्वरूपका कथन करना मिथ्या हो जाता। अर्थात् बौद्धोंका माना गया स्वरूपरहितपना या अवक्तव्यपना सिद्ध न हो सका। अतः निर्देश करना सच्चा सिद्ध हो गया। भले प्रकार निर्णीत हो रहा है, बाधा रहितपना जिनका ऐसे प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगमप्रमाण जिस प्रकारसे अनेक धर्मस्वरूप वस्तुका प्रकाश कराते हैं, तिस प्रकारको आगेके भविष्यके ग्रन्थमें विस्तारके साथ कहेंगे। दूसरी बात यह है कि—

निःशेषधर्मनैरात्म्यं स्वरूपं वस्तुनो यदि।
तदा न निःस्वरूपत्वमन्यथा धर्मयुक्तता ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंसे रहितपना यदि वस्तुका स्वरूप है, तब तो उसको स्वरूपरहितपना नहीं आया, धर्मोंका रहितपना ही उसका स्वरूप (धर्म) बन बैठा। अन्यथा यानी धर्म रहितपनेको वस्तुका स्वरूप न माना जायगा, तब तो धर्मरहितपनेका अभाव होनेपर सुलभतासे ही धर्मसहितपना सिद्ध हो जाता है, इस प्रकार दोनों ढंगसे हमारा सिद्धान्त ही पुष्ट होता है। बौद्धोंकी " इतो व्याघ्र इतस्तटी " इधर बाघ है और दूसरी ओर नदी है की नीतिसे दोनों पक्षोंमें हार है और जैनोंको " दोनों हाथ लड्डू " की नीतिसे प्रत्येक पक्षमें जय है।

तत्त्वं सकलधर्मरहितत्वमकल्पनारोपितं प्रत्यक्षतः स्फुटमवभासमानं वस्तुनः स्वरूपमेव, तेन तस्य न निःस्वरूपत्वमितीष्टसिद्धम्। कल्पनारोपितं तु तस्य वस्तुनः स्वरूपमाचक्ष्महे, न च कल्पितनिःशेषधर्मनैरात्म्यस्यात्मस्वरूपत्वे वस्तुनो निःशेषधर्मयुक्ततानिष्टा, कल्पितसकलधर्मयुक्तस्य तस्येष्टत्वात्। वस्तुभूताखिलधर्मसहितता तु न शक्यापादयितुं तया वस्तुनि कल्पितनिःशेषधर्मनैरात्म्यस्वरूपत्वस्याविनाभावाभावात् तामन्तरेणापि तस्योपपत्तेरिति केचित्। तेऽपि महामोहाभिभूतमनसः। स्वयं वस्तुभूतसकलधर्मात्मकतायाः स्वीकरणेऽपि तदसम्भवाभिधानात्। कल्पिताखिलधर्मरहितत्वं हि वस्तुनः स्वरूपं ब्रुवाणेन वस्तुभूतसकलधर्मसहितता स्वीकृतैव तस्य तन्नान्तरीयकत्वात्।

बौद्ध अपने ऊपर आये हुए कटाक्षका निवारण करते हैं कि कल्पनाज्ञानसे नहीं आरोपा गया और निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे विशद प्रतिभास हो रहा तथा वास्तविक ऐसा सकल धर्मोंसे रहितपना तो वस्तुका स्वरूप ही है। अर्थात् धर्मरहितपना ही तो वस्तुका शरीर [डील] है। तिस धर्मरहितपन स्वशरीरसे तो उस वस्तुका स्वरूपरहितपना नहीं हुआ। इस प्रकार हम बौद्धोंका इष्टसिद्धान्त सिद्ध हो जाता है। जो कल्पनासे आरोपा गया है, उसको तो वस्तुका स्वरूप हम नहीं कह रहे हैं। तथा कल्पनासे गढ लिये गये सम्पूर्ण धर्मोंकी शून्यताको वस्तुका अपना स्वरूप माननेपर संपूर्ण धर्मोंसे सहितपना हो जायगा। यह हमको अनिष्ट नहीं है। हम बौद्ध उस वस्तुको

थोड़ी देरके लिये कल्पित सम्पूर्ण धर्मोंसे सहित मान लेते हैं। हां ! वस्तुभूत संपूर्ण धर्मोंसे सहितपना तो वस्तुमें नहीं आपादन किया जा सकता है। क्योंकि वस्तुमें कल्पित हो रहा सम्पूर्ण धर्मोंके रहितपन स्वरूपका उस वस्तुभूत अखिल धर्मोंसे सहितपनेके साथ अविनाभाव नहीं हो रहा है। भावार्थ—जहां कल्पित हो रहा धर्मोंका अभाव है, वहां वास्तविक धर्म ठहर सकते हैं, ऐसा नियम नहीं। हम बौद्ध वस्तुमें कल्पित धर्मोंको मानते हैं। अतः वास्तविक सम्पूर्ण धर्मोंका अभाव स्वयं हो जाता है। उस वास्तविक अखिल धर्मोंकी सहितताके विना भी कल्पित धर्मसहितपनेकी सिद्धि हो सकती है। अन्ततो गत्वा वस्तुमें सम्पूर्ण धर्मोंका स्वभावरहितपन सध जाता है, इस प्रकार कोई वैभाषिक बौद्ध कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि उन बौद्धोंके भी विचारनेवाले मानसिक अभिप्राय बढे हुए मोहके प्रभावसे ढक गये हैं। देखो तो सही उन्होंने वस्तुकी परमार्थभूत सकल धर्मोंसे तदात्मकताको स्वीकार करनेपर भी फिर उसका असम्भव कह दिया है। मानकर मुकर जाना मनस्वी पुरुषोंका कार्य नहीं है। कारण कि कल्पित सम्पूर्ण धर्मोंसे रहितपनेको वस्तुका स्वरूप कहनेवाले बौद्ध करके वस्तुभूत सकल धर्मोंकी सहितता तो स्वयं स्वीकृत कर ली ही हो गयी समझ लेनी चाहिये। क्योंकि वह कल्पित धर्मरहितपना वास्तविक धर्मोंकी सहितताके साथ व्याप्ति रखता है। उसके विना नहीं हो सकता है। जैसे कि नलीमेंसे जलके निकाल लेनेपर उस स्थानको वायु घेर लेती है वैसे ही कल्पितधर्मोंसे रहित कहनेपर ही उसी समय वस्तुमें वास्तविकधर्म सहितता आ धमकती है।

कल्पनापोढं प्रत्यक्षमित्यत्र कल्पनाकाररहितत्वस्य वस्तुभूताकारनान्तरीयकत्वेन प्रत्यक्षे तद्वचनात्सत्सिद्धिवत्।

प्रत्यक्षज्ञान कल्पनासे रहित है, निर्विकल्पक है। इस प्रकार यहां प्रत्यक्षके लक्षणमें कल्पनारूप आकारोंसे रहितपनेका वास्तविक आकारोंके साथ अविनाभावपन होनेसे प्रत्यक्ष ज्ञानमें उस कल्पनापोढ शद्बसे जैसे उन कल्पनारूप आकारोंकी सिद्धि हो जाती है, वैसे ही धर्मरहितपना कहनेसे वस्तुमें धर्मसहितपनेकी सिद्धि हो जाती है। यह कारिकामें कहे हुए दार्ष्टान्तिका दृष्टान्त है, कल्पनारहितपन भी तो एक कल्पना है।

तथा कल्पनाकाररहितत्वस्य वचनाद्वस्तुभूताकारसिद्धिर्न प्रत्यक्षे स्वीकृतैवेति चेत्, तत्किमिदानीं सकलाकाररहितत्वमस्तु तस्य संविदाकारमात्रत्वात्तत्त्वतस्तथापि नेति चेत् कथं न वस्तुभूताकारसिद्धिः। न हि संविदाकारो वस्तुभूतो न भवति संविदद्वैतस्याप्यभावप्रसंगात्। ततः कल्पितत्वेन निःशेषधर्माणां नैरात्म्यं यदि वस्तुनः स्वरूपं तदा स्वरूपसंसिद्धिः यस्मादन्यथा वस्तुभूतत्वेनाखिलधर्मयुक्तता तस्य सिद्धेति व्याख्या श्रेयसी।

बौद्ध कहते हैं कि जिस प्रकार कल्पनास्वरूप आकारोंसे रहितपनेका वचन कर देनेसे हमने प्रत्यक्ष ज्ञानमें वास्तविक आकारोंकी सिद्धि तो नहीं स्वीकार की है, ऐसा कहनेपर तो हम कहते हैं

कि क्या उस प्रत्यक्षको अब सम्पूर्ण आकारोंसे रहितपना मान रहे हो ? बताओ। बौद्ध यदि यों कहें कि उस प्रत्यक्षका तो केवल संविति होना ही आकार है। अतः वास्तविकरूपसे तिस प्रकार आकार रहितपना धर्म भी नहीं माना जाता है। बौद्धोंके इस प्रकार कहनेपर तो हम कहेंगे कि यों वास्तविक आकारोंकी सिद्धि क्यों न हो जावेगी ? अर्थात् जब ज्ञानमें आकाररहितपना नहीं है तो यही कल्पनारूप आकारोंसे सहितपना स्वतः ही आ जाता है। और ज्ञानमें मान लिया गया संविति आकार भी वस्तुभूत नहीं है यह नहीं समझना। यानी ज्ञानमें संवित्तिकी कल्पना वस्तुभूत है। अन्यथा संवित्तिके अद्वैतका अभाव हो जायगा। यह प्रसंग तो बौद्धोंको इष्ट न पडेगा। तिस कारणसे कल्पित होनेके कारण सम्पूर्ण धर्मोके निरात्मक (रहित) पनेको यदि वस्तुका स्वरूप माना जायगा, तब तो वस्तुका स्वरूप कुछ न कुछ भले प्रकार सिद्ध हो ही जाता है। जिस कारण कि दूसरे प्रकारसे यानी धर्मरहितपनेको वस्तुका स्वरूप नहीं माननेपर तो वस्तुभूतपना होनेके कारण उस वस्तुको सम्पूर्ण धर्मोंसे सहितपना फिर स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार कारिकाकी व्याख्या करना अत्यन्त प्रिय प्रतीत हो रहा है।

अथवा वस्तुभूतनिःशेषधर्माणां नैरात्म्यं वस्तुनो यदि स्वरूपं तदा तस्य स्वरूपसंसिद्धिस्तत्स्वरूपस्यानिराकरणात्। अन्यथा तस्य पररूपत्वप्रकारेण तु सैव वस्तुभूतधर्मयुक्तता वास्तवाखिलधर्माभावस्य वस्तुनः परभावे तादृशसकलधर्मसद्भावस्य स्वात्मभूतत्वप्रसिद्धेरन्यथा तदनुपपत्तेः।

अथवा दूसरे प्रकारसे इस कारिकाकी व्याख्या करते हैं कि वास्तविक सम्पूर्ण धर्मोंका रहितपना यदि वस्तुका स्वरूप है, तब तो उस वस्तुके स्वरूपकी यों ही विना प्रयत्नके भले प्रकार सिद्धि हो गयी। क्योंकि उस वस्तुके स्वरूपका आप बौद्धोंने निराकरण नहीं किया है, वस्तुका कुछ न कुछ तो स्वरूप मान ही लिया है। अन्यथा यानी धर्मरहितपनेको वस्तुका स्वयं गांठका रूप न मानोगे तो उस धर्मरहितपनेको पररूपपने प्रकारसे तो वही वास्तविक धर्मोंसे युक्तपना आ जाता है। कारण कि वस्तुभूत अखिल धर्मोके अभावको वस्तुका स्वभाव न मानकर परभाव माना जायगा तो तैसे वास्तविक सकल धर्मोंके सद्भावको स्वात्मभूतपना प्रसिद्ध हो जाता है। अन्यथा यानी धर्म सहितपनेको स्वात्मभूत माने विना धर्मरहितपनेका परभावपना बन नहीं सकता है। अर्थात् जिस वस्तुसे धर्मरहितपना दूर पडा हुआ होकर परका भाव हो रहा है, उस वस्तुका धर्मसहितपना आत्मीयभाव बन बैठता है। इसमें किसी दूसरेका लेना देना नहीं है।

अथवा कल्पितानां वस्तुभूतानां च निःशेषधर्माणां नैरात्म्यं वस्तुनः स्वरूपं यदि तदा तस्य स्वरूपसंसिद्धिरन्यथा कल्पिताकल्पितसकलधर्मयुक्तता तस्येति व्याख्येयं सामान्येन निःशेषधर्मवचनात्। व्याघातश्चास्मिन् पक्षे नाशंकनीयः कल्पितानां वस्तुभूतानां च

धर्माणां वस्तुनि यथाप्रमाणोपपन्नत्वात् । ततो यत्सकलधर्मरहितं तन्न वस्तु यथा पुरुषाद्वैतं तथा च क्षणिकस्वलक्षणमिति जीवादिवस्तुनः स्वधर्मसिद्धिः ।

अथवा वार्तिकका तीसरा अर्थ इस प्रकार है कि बौद्धजन यदि कल्पना किये गये धर्मों और वास्तविक सम्पूर्ण धर्मोंका रहितपना वस्तुका स्वरूप मानेंगे, तब तो उसके स्वरूपकी अच्छे ढंगसे सिद्धि हो ही जाती है । निरात्मकपना भी बढिया स्वरूप है । अन्यथा यानी दोनों प्रकारके धर्मोंसे रहितपनेको वस्तुका गांठका रूप न मानेंगे तो कल्पित और अकल्पित धर्मोंसे युक्तपना उस वस्तुको प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार यह तीसरा व्याख्यान समाप्त हुआ । कारिकामें सम्पूर्ण धर्म ऐसा सामान्यसे कहा है । अतः वास्तविक धर्मोंके समान कल्पितधर्म भी पकडने चाहिये । दूसरी बात यह है कि इस तीसरे पक्षमें व्याघातदोष भी आशंका करने योग्य नहीं है । क्योंकि वस्तुमें प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका अतिक्रमण नहीं करके कल्पित अस्ति, नास्ति, आदि सप्तभङ्गीके विषयभूत धर्मोंकी और वस्तुभूत वस्तुत्व, द्रव्यत्व, ज्ञान, सुख, रूप, रस, नीला, खट्टा आदि धर्मोंकी सिद्धि होरही है । तिस कारण सिद्ध होता है कि जो सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित है, वह वस्तु नहीं है । जैसे कि ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, आदि वस्तुभूत नहीं है, तिसी प्रकार बौद्धोंका माना हुआ क्षणिक स्वलक्षण भी सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित होता हुआ परमार्थभूत नहीं है । इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा जीव, पुद्गल, आदि वस्तुओंके अपने अपने धर्मोंकी सिद्धि हो जाती है । कल्पितधर्म भी वस्तुके अंग हैं, झूंठ मूठ नहीं हैं ।

सकलधर्मरहितेन धर्मेणानेकान्तस्तस्य वस्तुत्वादिति चेन्न, वस्त्वंशत्वेन तस्य प्ररूपितत्वात् वस्तुत्वासिद्धेः । अन्यथा वस्त्वनवस्थानानुषंगात् तदेवं सर्वथा वस्तुनि स्वरूपस्य निराकर्तुमशक्तेः सूक्तं निर्देश्यमानत्वमधिगम्यम् ।

कोई प्रतिवादी दोष दे रहा है कि जो सकल धर्मोंसे रहित है वह वस्तु नहीं है । इस व्याप्तिमें एक धर्मसे व्यभिचारदोष होता है । देखिये, एक अस्तित्व नामका धर्म अन्य धर्मोंसे रहित है । क्योंकि गुणमें दूसरे गुण नहीं रहते हैं । पर्यायमें अन्य पर्यायें नहीं रहती हैं । स्वभावमें फिर कोई दूसरे स्वभाव नहीं रहते हैं । गुण निर्गुण हैं । पर्याय निःपर्याय हैं, स्वभाव निस्स्वभाव हैं । यहां निषेध वाचक निर् अव्ययका अर्थ अन्योन्याभाव नहीं है, किन्तु अत्यन्ताभाव है । गुण गुणस्वरूप तो है, किन्तु गुणमें द्रव्यके समान दूसरे गुण नहीं पाये जाते हैं । चौकीमें चौकी नहीं है । रुपयेमें रुपया नहीं है । इसी प्रकार धर्ममें अन्य धर्म नहीं हैं । किन्तु वह धर्म वस्तुभूत माना गया है । साध्यके नहीं ठहरने और हेतुके ठहर जानेसे यह व्यभिचारदोष हुआ। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार व्यभिचार तो न देना। क्योंकि वह धर्म वस्तुका अंश है, वस्तु नहीं । पूर्व प्रकरणमें उसको वस्तुके अंशपनेसे निरूपण किया जा चुका है । अतः वस्तुत्वपना असिद्ध है, अतः वस्तुत्व हेतु नहीं रहा और सकलधर्म सहितपना साध्य भी नहीं रहा, कोई दोष नहीं है । अथवा व्यतिरेक मुखसे एकधर्ममें सकलधर्मरहितपना हेतु भी रह गया और अवस्तुपना साध्य भी रह गया, कोई

व्यभिचार नहीं है । अन्यथा यानी एकधर्मको भी अन्य धर्मोंसे सहित कर वस्तुपना माना जायगा तो उन धर्मोंको भी अन्य धर्मोंसे सहितपना होगा तथा उन तीसरे धर्मोंको भी चौथे प्रकारके धर्मोंसे सहितपना प्राप्त होगा । इस प्रकार आकांक्षाके बढते रहनेसे वस्तुके अनवस्थादोषका प्रसंग होता है । किन्तु जैनसिद्धान्तमें धर्म, धर्मीका समुदायरूप एक अखण्ड वस्तु मानी गयी है । तिस कारण इस उक्त प्रकारसे वस्तुमें अपने स्वरूपका सभी प्रकारसे निराकरण करनेके लिये बौद्धोंकी सामर्थ्य न होनेके कारण हमने पहिले बहुत अच्छा कहा था कि वस्तुका शब्दके द्वारा अर्थस्वरूपका अवधारण करनारूप निर्देशको प्राप्त होनापन जानने योग्य है । यहांतक निर्देशका विचार हो चुका अब स्वामित्वका निर्णय करते हैं ।

न कश्चित्कस्यचित्स्वामी संबन्धाभावतोंजसा ।
पारतंत्र्यविहीनत्वात् सिद्धस्येत्यपरे विदुः ॥ १० ॥

बौद्ध कहते हैं कि कोई भी पदार्थ किसीका स्वामी नहीं है । क्योंकि, तत्त्वार्थरूपसे विचारा जाय तो पदार्थोंका सम्बन्ध ही नहीं बनता है । वैराग्यभावनावाले साधु भी यही भावना भाते हैं कि कोई किसीका नहीं है । " हम न किसीके कोई न हमारा " देवदत्तका घोडा मोल ले लेनेपर यज्ञदत्तका हो जाता है । चोर द्वारा चोरी कर लेनेपर चोरका हो जाता है । क्रय विक्रयके चलनका रुपया न जाने कहांका कहां जाकर किस किसको अपना स्वामी बनाता फिरता है । वस्तुभूत पदार्थका बातचीत कर देनेसे परिवर्तन नहीं हो जाता है । जीवकी शुद्धि सगाई कर देनेसे पुद्गलकी नहीं हो जाती है और न पुद्गलकी गन्धका स्वामी जीव पदार्थ होता है । इससे सिद्ध है कि घोडे या रुपयेका स्वामीपन कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है । कल्पना कैसी भी गढ लो । स्वामीको सेवककी और सेवकको स्वामीकी पराधीनता होनेपर संबन्ध व्यवस्था मानी गयी है । किन्तु जो पदार्थ स्वकीय कारणोंद्वारा पहिलेसे ही बनकर पूर्णरूपसे सिद्ध हो चुका है, वह परतन्त्रतासे रहित होनेके कारण किसीका भी सम्बन्धी नहीं हो सकता है । इस प्रकार कोई दूसरे बौद्ध समझ रहे हैं ।

सम्बन्धो हि न तावदसिद्धयोः स्वस्वामिनोः शशाश्वविषाणवत् । नापि सिद्धासिद्धयोस्तत् बन्ध्यापुत्रवत् । सिद्धयोस्तु पारतन्त्र्याभावादेवासम्बन्ध एव अन्यथातिप्रसंगात् । केनचिद्रूपेण सिद्धस्यासिद्धस्य च पारतन्त्र्ये सिद्धे परतन्त्रसम्बन्ध इत्यपि मिथ्या, पक्षद्वयभाविदोषानुषंगात् । न चैकस्य निष्पन्नानिष्पन्ने रूपे स्तः प्रतीघातात् । तन्न तत्त्वतः सम्बन्धोऽस्तीति । तदुक्तम्—" पारतन्त्र्ये हि सम्बन्धे सिद्धे का परतन्त्रता । तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥ " इति सम्बंधमात्राभावे च सिद्धे सति न कश्चित्कस्यचित् स्वामी नाम यतः स्वामित्वमर्थानामधिगम्यं स्यादित्येके ।

बौद्धोंका अनुभव है कि सबसे पहिले विचारा जाय तो नहीं सिद्ध हुए दोनों स्व और स्वामीका कैसे भी सम्बन्ध नहीं होता है। जैसे कि खरहाके सींग और घोडेके सींगोंका असिद्ध होनेके कारण कोई सम्बन्ध नहीं है, तथा एक सिद्ध और दूसरे असिद्ध पदार्थका भी सम्बन्ध नहीं होता है। जैसे कि विद्यमान वन्ध्या स्त्री और अविद्यमान उसके पुत्रका कोई जन्य—जननी—सम्बन्ध नहीं है। तथा जो दो पदार्थ परिपूर्ण होकर निष्पन्न हो चुके हैं, उनका तो परतन्त्रता न होनेके कारण ही असंबंध ही है। जो स्वयं पूरा नहीं बना है या बननेमें कुछ त्रुटि रह रही है, वह पर की अधीनताको रखता है, किन्तु सर्वांग सिद्ध हो चुके पदार्थको दूसरेकी आवश्यकता नहीं है। अन्यथा यानी सिद्ध पदार्थ भी यदि पराधीन होने लगेंगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। बने बनाये पदार्थ भी कर्त्तव्यकोटिमें आजायगे। आकाश या मुक्तजीव भी पराधीन हो जायंगे। किन्तु कृतका तो पुनः करण नहीं होता है। किसी स्वरूपसे सिद्ध हुए और किसी दूसरे रूपसे नहीं सिद्ध हुए पदार्थको यदि परतन्त्र माना जायगा तो हम बौद्ध कहेंगे कि सिद्ध अंशमें परतन्त्रतारूप सम्बन्ध कहना यह भी झूंठ है। क्योंकि सिद्ध, असिद्ध, इन दोनों पक्षमें होनेवाले दोषोंका प्रसंग होता है। हम बौद्ध प्रथम ही कह चुके हैं कि सिद्धपदार्थको पराधीनताकी आवश्यकता नहीं है। और असत्स्वरूप असिद्ध अंश भी पराधीन क्या होगा ? जो है ही नहीं, वह क्या तो दूसरोंके अधीन होगा और क्या अपने अधीन होगा ? "नंगा पुरुष क्या धोवे ! और क्या निचोवे"। दूसरी बात यह है कि पदार्थमें बनगयापन और नहीं बनगयापन ये विरुद्ध दो स्वरूप एकसमय नहीं हो सकते हैं। क्योंकि इसमें पूर्वापर कथनको या परस्पर उद्देश्यविधेय अंशको व्याघात करनेवाला प्रतीघातदोष आता है। जो निष्पन्न है, वह अनिष्पन्न नहीं है और जो अनिष्पन्न है, वह निष्पन्न नहीं है। तिस कारण वास्तवरूपसे विचारा जाय तो सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। यही हमारे बौद्ध ग्रन्थोंमें कहा है कि परतन्त्रता होनेपर अन्य मतोंके अनुसार संबन्ध हुआ करता है। किन्तु पूर्णांग सिद्ध हो चुके पदार्थोंमें पराधीनता क्या है ? यानी कुछ नहीं, तिस कारण सम्पूर्ण भावोंका परमार्थपनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार सामान्यरूपसे भी सम्बन्धोंका अभाव सिद्ध हो जानेपर कोई भी किसीका स्वामी नहीं बन पाता है, जब कि आधार आधेय, जन्यजनक वाच्यवाचक आदि कोई भी सम्बन्ध नहीं बना तो भला विचारा अकेला स्वस्वामिसम्बन्ध कहां रहा ? सामान्य ही नहीं रहा तो विशेषकी स्थिति कैसे बन सकती है ? जिससे कि आप जैनोंके सूत्र अनुसार पदार्थोंका स्वामीपन जानने योग्य हो सके। इस प्रकार कोई एक बौद्ध कह रहे हैं।

तथा स्याद्वादसंबंधो भावानां परमार्थतः।
स्वातन्त्र्यात् किं नु देशादिनियमोद्भूतिरीक्ष्यते ॥ ११ ॥

अब आचार्य कहते हैं कि तिस प्रकार कहने पर तो स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार पदार्थोंका

वास्तविकरूपसे सम्बन्ध मानना बौद्धोंको आवश्यक हो जायगा। पदार्थोंको परतन्त्र नहीं माननेपर स्वतन्त्र माना जायगा तो नियत देश और नियतकाल आदिमें उनका उत्पन्न होना भला क्यों देखा जा रहा है ? अर्थात् स्वतन्त्रतासे चाहे जिस देश या कालमें पदार्थोंकी उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती है। आपके मन्तव्यानुसार स्वतन्त्र पदार्थको किसी देश या कालके पराधीन होनेकी तो आवश्यकता नहीं पडती है। सर्वत्र सर्वदा सर्व कार्य उत्पन्न हो जांयगे। ऐसा होनेपर बौद्धोंके यहां भी "सर्वं सर्वत्र विद्यते" यह सांख्यका मत घुस जायगा। विद्यतेके स्थानपर उत्पद्यते लगा देना चाहिये।

पारतन्त्र्यस्याभावाद्भावानां संबन्धाभावमभिदधानास्तेन संबन्धं व्याप्तं क्वचित्प्रतिपद्यंते न वा ? प्रतिपद्यन्ते चेत् कथं सर्वत्र सर्वदा सम्बन्धाभावमभिदधुर्विरोधात्। नो चेत् कथमव्यापकाभावादव्याप्याभावसिद्धिः। परोपगमात्तस्य तेन व्याप्तिसिद्धेरदोष इति चेन्न, तथा स्वप्रतिपत्तेरभावानुषंगात्। परोपगमाद्धि परः प्रतिपादयितुं शक्यः।

परतन्त्रता न होनेके कारण पदार्थोंका सम्बन्ध न होनेको कथन कर रहे बौद्ध क्या उस परतन्त्रतासे सम्बन्धको व्याप्त हुआ यानी अविनाभाव रखता हुआ किसी दृष्टान्तमें जान लेते हैं ? या नहीं ? भावार्थ– अग्निसे व्याप्त हुए धूमको महानसमें समझकर सरोवरमें अग्निके अभावसे धूमका अभाव जान लिया जाता है। इसी प्रकार परतन्त्रतारूप व्यापकके साथ सम्बन्धरूप व्याप्य यदि अविनाभाव रखेगा, तब तो व्यापकके अभावसे व्याप्यका अभाव जान लिया जा सकता है। अन्यथा नहीं। प्रथमपक्षके अनुसार यदि यों कहोगे कि सम्बन्ध परतन्त्रताके साथ व्याप्तिको रखता है, तब तो यही सम्बन्ध सिद्ध हो गया। फिर आप बौद्धोंने सब देशोंमें और सर्व कालोंमें सम्बन्धके अभावको कैसे कह दिया था ? क्योंकि आपके ऊपर विरोधदोष आता है। प्रथम सम्बन्धको मानकर फिर सम्बन्धको न मानना पूर्वापर विरुद्ध है। हां, दूसरे पक्षके अनुसार यदि परतन्त्रतासे व्याप्त हुए संबन्ध हेतुको कहीं नहीं जानते हो तो अव्यापकके अभावसे अव्याप्यके अभावकी सिद्धि कैसे कर दी गयी है ? जहां मनुष्य नहीं है, वहां ब्राह्मण नहीं है, यह तो ठीक बन सकता है। किन्तु जहां सुवर्ण नहीं है, वहां ब्राह्मण नहीं है, यह सिद्धिका उपाय नहीं है। क्योंकि ब्राह्मणपनका व्यापक सुवर्णपन नहीं है और ब्राह्मणपन भी सुवर्णत्वका व्याप्य नहीं है। अथवा परतन्त्रताके अभावस्वरूप हेतुकी सम्बन्धाभावस्वरूप साध्यके साथ व्याप्ति बनना कहीं निर्णीत है . या नहीं ? दोनों पक्षोंमें बौद्धोंको सम्बन्ध मानना अनिवार्य है अनुमान वादिओंको व्याप्ति नामका सम्बन्ध मानना ही पडता है। यदि बौद्ध यों कहें कि दूसरे नैयायिक या जैनोंके स्वीकार करनेसे हम बौद्ध भी उस सम्बन्धकी उस परतन्त्रताके साथ व्याप्तिको सिद्ध कर लेते हैं। अतः कोई दोष नहीं है। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि तिस प्रकार दूसरोंके स्वीकार करनेसे बौद्धोंको स्वयं प्रतिपत्ति होनेके अभावका प्रसंग होगा। दूसरोंके स्वीकारसे तो दूसरा ही कहकर समझाया जा

सकता है । स्वयंको ज्ञप्ति नहीं हो सकती है । अथवा दूसरोंके स्वीकारसे दूसरा विद्वान् श्रोताओंको कहकर समझा सकता है, तुम नहीं ।

सर्वथा संबंधाभावाच्छक्य एव प्रत्यक्षत इति चेन्न, तस्य स्वांशमात्रपर्यवसानात् । न कश्चित्केनचित् कथञ्चित् कदाचित् सम्बन्ध इतीयतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वादन्यथा सर्वज्ञत्वापत्तेः । सर्वार्थानां साक्षात्करणमंतरेण संबन्धाभावस्य तेन प्रतिपत्तुमशक्तेः । केषाञ्चिदर्थानां स्वातन्त्र्यमसम्बन्धेन व्याप्तं सर्वोपसंहारेण प्रतिपद्य ततोऽन्येषामसम्बन्धप्रतिपत्तिरानुमानिकी स्यादिति चेत् तर्हि स्वातन्त्र्यमर्थानां न तावदसिद्धानां, सिद्धानां तु स्वातन्त्र्यात्सम्बन्धाभावे तत्त्वतः किन्तु देशादिनियमेनोद्भवो दृश्यते तस्य पारतन्त्र्येण व्याप्तत्वात् । न हि स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वनिरपेक्षतया नियतदेशकालद्रव्यभावजन्मास्ति न चाजन्मा सर्वथार्थक्रियासमर्थः स्वातन्त्र्यस्याकारणात् । प्रत्यासत्तिविशेषाद्देशादिभिस्तन्नियतोत्पत्तिरर्थस्य स्यादिति चेन्न, स एव प्रत्यासत्तिविशेषः सम्बन्धः पारमार्थिकः सिद्ध इत्याह—

बौद्ध कहते हैं कि सभी प्रकारोंसे सम्बन्ध न होनेके कारण दूसरा भी समझानेके लिये शक्य नहीं ही है । वस्तुतः प्रत्यक्षके द्वारा ही पदार्थोंके संबन्धका अभाव जाना जा रहा है । अतः स्वको प्रतिपत्ति होना कठिन नहीं है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञान तो अपने केवल नियत अंशको जाननेमें ही चरितार्थ होकर नष्ट हो जाता है । प्रत्यक्षज्ञान विचार करनेवाला नहीं माना गया है । जगत्का कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थके साथ किसी ढंगसे कभी सम्बन्ध नहीं रखता है । इस प्रकार इतने व्यापारोंको करनेके लिये प्रत्यक्षज्ञान समर्थ नहीं है । अन्यथा सर्वज्ञपनेका प्रसंग होता है । क्योंकि संपूर्ण अर्थोंका प्रत्यक्ष किये विना संबंधाभावको उस प्रत्यक्षके द्वारा जाननेके लिये शक्ति नहीं है । सर्व देश और सर्व कालका उपसंहार करनेवाली व्याप्तिको प्रत्यक्ष जाननेवाला सर्वज्ञ ही हो सकता है । पुनः बौद्ध कहते हैं कि किन्हीं विवक्षित अर्थोंके स्वतन्त्रपनको सम्बन्धाभावके साथ व्याप्ति रखते हुए जानकर सबको घेर करके साध्य साधनकी व्याप्तिको बनाकर उससे भिन्न पदार्थोंकी स्वतन्त्रतारूप हेतुसे सम्बन्धाभावरूप साध्यकी अनुमान द्वारा प्रतिपत्ति हो सकेगी । अतः प्रत्यक्षको सर्वज्ञपनेका प्रसंग टल जाता है तथा विचारक होनेके कारण अनुमानज्ञान इतने व्यापारोंको भी कर सकता है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कटाक्ष करेंगे कि अनुमानसे व्याप्तिको जाननेमें भी अनवस्था दोष आता है । क्योंकि व्याप्तिको जाननेवाले अनुमानका उत्थान करनेमें भी पुनः व्याप्तिको जाननेकी आवश्यकता है । दूसरी बात यह है कि सबसे पहिले तुम यह बताओ कि वह स्वतंत्रता असिद्ध पदार्थोंकी तो हो नहीं सकती है । जो विचारा अभीतक असिद्ध है, वह भला स्वतन्त्र कहां ? और सिद्धपदार्थोंका तो स्वतंत्र होनेके कारण यदि सम्बन्ध न माना जायगा तो परमार्थरूपसे देश, काल, आदिके नियमसे पदार्थोंकी

उत्पत्ति होना भला क्यों देखा जा रहा है ? बताओ ! क्योंकि नियतदेश और कालमें उत्पत्ति की परतन्त्रपनेके साथ व्याप्ति हो रही है । जो अपनी उत्पत्तिमें नियतदेश, कालोंकी अपेक्षा रखता है वह परतन्त्र है । प्रत्येक पर्वतमें माणिक्यरत्न प्राप्त नहीं होता है । प्रत्येक हाथीमें सदा गजमुक्ता नहीं पाये जाते हैं । अतः ये परतन्त्र हैं । जो अर्थ सभी प्रकारसे स्वतन्त्र है, वह सभी की नहीं अपेक्षा करके नियत देश, नियत काल, नियत द्रव्य और नियम भावका अवलम्ब लेकर उत्पन्न नहीं होता है । और जो पदार्थ उत्पन्न नहीं होता है, कूटस्थ, व्यापक, नित्य, है । (या असत् है) वह सभी प्रकार अर्थक्रिया करनेमें समर्थ नहीं है । क्योंकि स्वतंत्र पदार्थ किसीका कारण नहीं है, परिणामी पदार्थ कारण होता है । जो कि अन्तरंग और बहिरंग कारणोंसे हुए परिणामोंके साथ तदात्मक हो रहा है । यदि तुम बौद्ध किसी विशेषसम्बन्धसे देश, काल, आदिसे नियतपने करके पदार्थकी उस देश आदिमें नियमित हो रही उत्पत्ति मानोगे तो वह विशेष सम्बन्ध ही तो वास्तविक संबंध सिद्ध हो गया । इस बातको ग्रन्थकार और भी स्पष्टरूपसे कहते हैं ।

द्रव्यतः क्षेत्रतः कालभावाभ्यां कस्यचित्स्वतः ।
प्रत्यासन्नकृतः सिद्धः सम्बंधः केनचित्स्फुटः ॥ १२ ॥

किसी पदार्थका किसी इतर पदार्थके साथ द्रव्यसे क्षेत्रसे और कालभावोंसे निकटताको लेकर सम्बन्धित किया गया सम्बन्ध अपने आप ही स्पष्टरूपसे हो रहा है । स्पष्टरूपसे प्रतीत हो रहे पदार्थमें टण्टा खडा करना व्यर्थ है । द्रव्यप्रत्यासत्ति, क्षेत्रप्रत्यासत्ति, कालप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति ये चार सम्बन्ध व्यक्त हैं ।

कस्यचित्पर्यायस्य स्वतः केनचित्पर्यायेण सहैकत्र द्रव्ये समवायाद्द्रव्यप्रत्यासत्तिर्यथा स्मरणस्यानुभवेन सहात्मन्येकत्र समवायस्तमन्तरेण तत्रैव यथानुभवं स्मरणानुपपत्तेः सोममित्रानुभवाद्विष्णुमित्रस्मरणानुपपत्तिवत् । सन्तानैकत्वादुपपत्तिरिति चेन्न, सन्तानस्यावस्तुत्वेन तन्नियमहेतुत्वाघटनात् । वस्तुत्वे वा नाममात्रं भिद्येत सन्तानो द्रव्यमिति । तदेकसन्तानाश्रयत्वमेकद्रव्याश्रयत्वं चेति न कश्चिद्विशेषः, यत्सन्तानो वासनाप्रबोधस्तत्सन्तानं स्मरणमिति नियमोपगमोऽपि न श्रेयान्, मौक्तदोषानतिक्रमात् । सन्तानस्यात्मद्रव्यत्वोपपत्तौ यदात्मद्रव्यपरिणामो वासनाप्रबोधस्तदात्मद्रव्यविवर्तः स्मरणमिति परमतसिद्धेः ।

किसी एकपर्याय की अपने आपसे किसी दूसरी पर्यायके साथ एकद्रव्यमें समवायसम्बन्ध हो जानेके कारण द्रव्यप्रत्यासत्ति कही जाती है । जैसे कि स्मरणका पूर्वअनुभवके साथ एक आत्मामें समवाय हो रहा है । उस द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप समवायसम्बन्धके विना उस ही आत्मामें अनुभवका अतिक्रमण नहीं कर स्मरण होना नहीं बन सकता है । जैसे कि सोममित्र व्यक्तिके अनुभव करनेसे विष्णुमित्र पुरुषको स्मरण होना नहीं बन सकता है । जो पहिले समयोंमें अनुभव कर चुका

है, वही धारणावश पीछे स्मरण कर सकता है। यद्यपि धारणा नामक अनुभवका नाश हो चुका है। फिर भी कालान्तरतक वासनायुक्त नित नये हो रहे उत्तरोत्तर ज्ञानपर्यायोंके तादृश परिणमन-रूप संस्कारोंसे युक्त होरहा आत्मा नित्य है। अतः द्रव्यप्रत्यासत्तिके कारण जन्म जन्मान्तरमें भी उस आत्माके स्मृति होना सम्भव है। बौद्ध कहते हैं कि नित्यद्रव्य आत्माको न माना जाय, फिर भी व्यवहारदृष्टिसे मान लिये गये सन्तानके एकपनेसे अनुभवके अनुसार स्मरण होना बन जायगा। आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वास्तविक पदार्थ तो कार्योंको करते हैं। लकडीका बना हुआ या कागजपर चित्र लिखा गया घोडा इच्छापूर्वक दौड नहीं सकता है। बीचमें पिरोये हुए डोराके विना दानोंकी माला टिक नहीं सकती है। जब कि आप बौद्धोंकी मानी गयी सन्तान वस्तुभूत नहीं है कल्पित है तो वह अनुभवके अनुसार नियत व्यक्तिमें ही स्मरण होनेका कारण नहीं घटित होती है। कल्पित सन्तानोंके बालक, कुमार, युवा, अवस्थाओंके एक अवस्थाताका भी निर्णय नहीं होने पाता है। यदि सन्तानको वास्तविक पदार्थ माना जायगा तब तो हमारे और आपके माने गये शब्दोंमें ही भेद है। अर्थमें भेद नहीं है। हम जिसको द्रव्य कहते हैं। उसको आप सन्तान कहते हैं। बस झगडा निबटा। तथा एक सन्तानके आश्रय रहकर आश्रयी-पना कहो और चाहे एक द्रव्यरूप आधारका आधेयपना कहो, एकही बात है। कोई अन्तर नहीं है। किन्तु आत्मद्रव्यको न मानते हुए बौद्धोंका यह स्वीकार करना अच्छा नहीं है कि जिस सन्तानमें स्मरण करानेवाली वासनाएं जागृत होंगी। उसी सन्तानमें स्मरण उत्पन्न होगा, क्योंकि इस नियममें भी पहिले कहे हुए दोषोंका उल्लंघन नहीं हो सकता है। भावार्थ—जब कि सन्तान कोई वस्तुभूत नहीं है तो जिस सन्तान या उस सन्तानका विवेक करना भी अशक्य है। हां! नाना सन्तानियोंकी लडीस्वरूप सन्तानको आत्मद्रव्यपना बन जानेपर तो जिस आत्मद्रव्यका परिणाम होकर अनुभवके पश्चात् वासनाका जागरण हुआ है। उसी आत्मद्रव्यका परिणाम होकर स्मरण उत्पन्न हो जायगा। इस ढंगसे तो बौद्धोंके यहां दूसरे जैनोंके मतकी ही सिद्धि हो जाती है, जो कि होनी चाहिये ही।

कथं परस्परभिन्नस्वभावकालयोरेकमात्मद्रव्यं व्यापकमिति च न चोद्यं, सकृन्नानाकारव्यापिना ज्ञानेनैकेन प्रतिविहितत्वात्। समसमयवर्तिनो रसरूपयोरेकगुणिव्याप्तयोरनुमानानुमेयव्यवहारयोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरनेनोक्ता तदभावे तयोस्तद्व्यवहारयोर्व्यवस्थानुपपत्तेः।

बौद्ध कटाक्ष करते हैं कि परस्परमें एक दूसरेसे भिन्न स्वभाववाले तथा भिन्न कालमें होनेवाले ऐसे अनुभव और स्मरणमें व्यापक होकर रहनेवाला भला एक आत्मद्रव्य कैसे माना जा सकता है? दौडते हुए दो घोडोंके ऊपर या मझधारमें बहती हुयीं दो नावोंपर चलनेवाले मनुष्यकी जो दशा होगी, वही जैनोंके माने हुए आत्मद्रव्यकी दुर्व्यवस्था हो जायगी। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह चोद्य नहीं करना। क्योंकि बौद्ध चित्रज्ञानको मानते हैं। एक ही समय अनेक

नील, पीत, आदि आकारोंमें व्यापनेवाले एक चित्रज्ञानके दृष्टान्तसे आपके आक्षेपका खण्डन हो जाता है। इस उक्त कथनसे यह बात भी कह दी गयी है कि समान समयमें वर्त रहे और एक गुणवान् द्रव्यमें व्याप्त हो रहे तथा रूपसे रसका या रससे रूपका अनुमान कर अनुमान अनुमेयके व्यवहारको प्राप्त हुए ऐसे रूप और रसगुणकी भी परस्परमें एकद्रव्य प्रत्यासत्ति है। वैशेषिक इसको एकार्थसमवाय कहते हैं। जैसे एक गुरुके पास पढे हुए दो शिष्योंका परस्परमें गुरुभाईपनेका नाता है। या माजाये दो भाइयोंका सहोदरत्व सम्बन्ध है। यदि उन रूप और रसका एकद्रव्य नामका सम्बन्ध नहीं माना जावेगा तो उनमें उस अनुमान अनुमेय व्यवहारकी योग्यता नहीं बन सकती है। एकद्रव्यके रूपसे दूसरे द्रव्यके रसका अनुमान नहीं हो पाता है।

एकसामग्र्यधीनत्वात्तदुपपत्तिरिति चेत् कथमेका सामग्री नाम ? एकं कारणमिति चेत्, तत्सहकार्युपादानं वा ? सहकारि चेत् कुलालकलशयोर्दण्डादिरेका सामग्री स्यात् समानक्षणयोस्तयोरुत्पत्तौ तस्य सहकारित्वात्। तथा एतयोरनुमानानुमेयव्यवहारयोग्यता अव्यभिचारिणी स्यात् तदेकसामग्र्यधीनत्वात्। एकसमुदायवर्तिसहकारिकारणमेका सामग्री न भिन्नसमुदायवर्ति यतोऽयमतिप्रसंग इति चेत्, कः पुनरयमेकः समुदायः ?

बौद्ध कहते हैं कि रूप और रसकी सामग्री एक रूपस्कन्ध है। इस एक सामग्रीके अधीन होनेके कारण रससे रूपका अनुमान या रूपसे रसका अनुमान होनेकी योग्यता बन जायगी। व्यर्थ ही एकद्रव्य क्यों माना जाता है ? बौद्धोंके ऐसा कहनेपर तो हम पूंछेगे कि दो पदार्थोंकी सामग्री भी भला एक कैसे हुयी ? बताओ ! इसपर बौद्ध यों कहें कि हम एक कारणको एक सामग्री कहते हैं। इसपर हमारा पूंछना है कि वह कारण क्या सहकारी कारण लिया गया है ? या उपादान कारण पकडा गया है ? यदि सहकारी कारण एक होनेसे दो कार्योंकी एक सामग्री हो जाय, तब तो कुम्भकार और घटकी दण्ड, चक्र, आदि सहकारी कारण भी एक सामग्री हो जावें। क्योंकि समान समयमें परिणमन करते हुए उन कुलाल और घटकी उत्पत्तिमें वह दण्ड आदि पदार्थ सहकारी कारण बन रहे हैं। चाकपर दण्डको हाथमें लेकर घटको बना रहे उत्तरवर्ती कुलाल और घट दोनोंके सहकारी कारण दण्ड, चक्र हैं और तिस प्रकार उस एक सामग्रीके अधीन होनेके कारण उन कुलाल और घटकी अनुमान अनुमेयके व्यवहारकी योग्यता भी व्यभिचार-दोषरहित हो जाय। क्योंकि वे दोनों एक सामग्रीके अधीन हैं। भावार्थ—सहकारी कारण एक होनेसे कुलालसे घटका और घटसे कुलालका अनुमान हो जाना चाहिये, जो कि होता नहीं है। इसपर बौद्ध यदि उस गलीको ढूंढे कि एक समुदायमें रहनेवाला सहकारी कारण तो एक सामग्री है, किन्तु भिन्न समुदायमें रहनेवाला सहकारी कारण एकसामग्री नहीं है, जिससे कि यह अतिप्रसंग होता। अर्थात् घटके बनानेवाला कारणसमुदाय तो कुलालके कारणकूटसे न्यारा है। भिन्न समुदायमें रहनेके कारण ही दण्ड आदिक एक सामग्री नहीं हैं। इसपर तो फिर हमारा प्रश्न है कि यह एक समुदाय भी भला

क्या पदार्थ है ? आप बौद्धोंके यहां एकत्व परिणति न होनेके कारण संतान-समुदाय, सामान्य, साधर्म्य, आदि तो वस्तुभूत नहीं मानें गये है । ऐसी दशामें आपका कल्पनासे गढा गया समुदाय क्या पडता है ? बताओ ! ।

साधारणार्थक्रियानियताः प्रविभागरहिता रूपादय इति चेत् कथं प्रविभागरहितत्वमेकत्वपरिणामाभावे तेषामुपपद्यतेऽतिप्रसंगात् । सांवृत्यैकत्वपरिणामेनेति चेन्न, तस्य प्रतिविभागाभावहेतुत्वायोगात् । प्रविभागाभावोऽपि तेषां सांवृत इति चेन्न हि तत्त्वतः प्रविभक्ता एव रूपादयः समुदाय इत्यापन्नम् । न चैवम् । केषाञ्चित्समुदायेतरव्यवस्था साधारणार्थक्रियानियतत्वेतराभ्यां सोपपन्नेति चायुक्तं, सूर्याम्बुजयोरपि समुदायप्रसंगात् । तयोरम्बुजप्रबोधरव्योः साधारणार्थक्रियानियतत्वात् । ततो वास्तवमेव प्रविभागरहितसमुदायविशेषस्तेषामेकत्वाध्यवसायहेतुरंगीकर्तव्यः । स चैकत्वपरिणामं तात्त्विकमन्तरेण न घटत इति सोऽपि प्रतिपत्तव्य एव, स चैक द्रव्यमिति सिद्धम् । स्वगुणपर्यायाणां समुदायस्कन्ध इति वचनात् ।

सामान्यरूपसे एकसी हो रही अर्थक्रियाके करनेमें नियत और प्रकट हुए, विभागसे रहितरूप आदिकोंको यदि समुदाय कहोगे, तब तो हम जैन कहते हैं कि उन रूप आदिकोंका परस्पर एकम एक हुए परिणामके विना विभागसे रहितपना कैसे सिद्ध हो सकेगा ? यों तो अतिप्रसंग हो जायगा । अर्थात् एकत्व परिणामके विना भी विभागरहितपना हो जाय तो पानी और चांदी निर्मित रुपयेका तथा आकाश, आत्मा, आदिका भी विभाग रहितपना होकर समुदाय बन जाओ ! जैसे कि क्षीर, नीरका अथवा दूध बूरेका समुदाय बन जाता है । यदि आप बौद्ध कल्पनारूप झूंठे स्वरूपसे एकत्व परिणाम करके रूप आदिकोंका अविभागीपन मानोगे, सो तो ठीक नहीं ! क्योंकि उस कल्पना किये गये साम्वृत एकत्व परिणामको प्रकृष्ट विभागके अभावका हेतुपना नहीं है । यदि उन रूप आदिकोंका अविभागीपन भी कल्पित ही माना जाय, ऐसा माननेपर तो वास्तविकरूपसे अविभागयुक्त नहीं हुए ही या प्रकर्षतासे विभक्त हो गये ही रूप आदिक समुदाय बन गये यह कथन प्राप्त हुआ । किन्तु इस प्रकार अतत्‌को तत् कहकर असत्य कथन करना तो युक्त नहीं है । तथा बौद्धोंका किन्हीं ही पदार्थोंकी सामान्य अर्थकी क्रियामें नियतपन और सामान्यरूपसे अर्थक्रियामें नहीं नियतपनसे समुदाय और पृथग्भावकी यह व्यवस्था करना बन बैठेगा, यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि यों तो सूर्य और कमलके भी समुदाय हो जानेका प्रसंग होगा । उन सूर्य और कमलको कमलका खिल जाना और रविका विकास होना इनमें सामान्यरूपसे रहनेवाली विकासरूप अर्थक्रिया करनेमें नियतपना हेतु विद्यमान है । तिस कारण वास्तविक ही विभाग रहित स्वरूप विशेष समुदाय उन रूप आदिकके एकपनको निर्णय करनेका हेतु स्वीकार करना चाहिये और वह वास्तविक समुदाय तो परमार्थभूत एकत्व परिणामके

विना नहीं घटित होता है । इस कारण वह कथञ्चित् तदात्मक हो जाना स्वरूप एकत्व परिणाम भी समझ लेना ही चाहिये और वह एकत्व परिणतिसे युक्त वस्तु ही तो एकद्रव्य है । यह सिद्ध हुआ । अपने गुण और अपनी पर्यायोंका समुदाय स्कन्ध होता है, ऐसा अन्यत्र ग्रन्थोंमें वचन है । वही अन्वयरूपसे रहनेवाला एकद्रव्य है ।

तथा सति रूपरसयोरेकार्थात्मकयोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरेव लिंगलिंगिव्यवहारहेतुः कार्यकारणभावस्यापि नियतस्य तदभावेनुपपत्तेः सन्तानान्तरवत् । न हि कचित् पूर्वे रसादिपर्यायाः पररसादिपर्यायाणामुपादानं नान्यत्र द्रव्ये वर्तमाना इति नियमस्तेषामेकद्रव्यतादात्म्यविरहे कथंचिदुपपन्नः ।

तैसा होनेपर पहिले कहे गये एकअर्थस्वरूप रस और रूपका एकद्रव्य नामका ही सम्बन्ध है और वह एकद्रव्य प्रत्यासत्ति ही रूप रसके साध्य साधन व्यवहारका कारण है । आप बौद्धोंका माना गया अर्थक्रियामें नियत रहनारूप कार्यकारणभाव भी एकद्रव्य प्रत्यासत्ति नामक सम्बन्धके विना नहीं बन सकता है; जैसे कि देवदत्त, जिनदत्त, आदि दूसरे सन्तानोंके अनुभव, स्मरण, ज्ञान, सुख, आदिका परस्परमें कार्यकारणभाव नहीं बनता है, किसी एकद्रव्यमें पूर्व समयके रस आदि पर्याय उत्तरवर्ती समयमें होनेवाले रस आदि पर्यायोंके उपादान कारण हो जाते हैं, किन्तु दूसरे द्रव्योंमें वर्त रहे पूर्वसमयवर्ती रस आदि पर्याय इस प्रकृत द्रव्यमें होनेवाले रसादिकके उपादान कारण नहीं हैं, इस प्रकार नियम करना उन रूप आदिकोंके एकद्रव्य तादात्म्यके विना कैसे भी नहीं बन पाता है । नहिका अन्वय उपपन्नःके साथ करना चाहिये ।

एकमुपादानमेका सामग्रीति द्वितीयोपि पक्षः सौगतानामसंभाव्य एव, नानाकार्यस्यैकोपादानत्वविरोधात् । यदि पुनरेकं द्रव्यमनेककार्योपादानं भवेत्तदा सैवैकद्रव्यप्रत्यासत्तिरायाता रसरूपयोः ।

प्रथम सहकारी और उपादान दो पक्ष उठाये थे, उनमें पहिले सहकारी कारणका विचार हो गया । अब दूसरे विकल्प उपादान कारणका विचार चलाते हैं कि अनेक कार्योंका एक उपादान कारण होना एक सामग्री है । इस प्रकार बौद्धोंका दूसरा पक्ष लेना भी सम्भावना करने योग्य नहीं है । क्योंकि अनेक कार्योंके एक उपादन होनेका विरोध है । "यावन्ति कार्याणि तावन्ति कारणानि" जितने कार्य होते हैं उतने ही कारण होते हैं । स्वभावभेद या शक्तिभेदसे धर्मी कारण भी भिन्न माना जाता है । यदि फिर आप बौद्धोंके यहां अनेक कार्योंका उपादान कारण एकद्रव्य हो जाय, तब तो रूप और रसकी वही एकद्रव्य--प्रत्यासत्ति आगयी । रूप--स्कन्ध नामक सामग्रीसे रूप और रसकी उत्पत्ति मानना एकद्रव्य--प्रत्यासत्तिसे सम्भव है । इस प्रकार अनुभव और स्मरणकी अथवा रूप, रस, आदिकी प्रत्यासत्ति हुयी । इस सम्बन्धको पुष्ट किया । अब दूसरे सम्बन्धका वर्णन करते हैं ।

क्षेत्रप्रत्यासत्तिर्यथा बलाकासलिलयोरेकस्यां भूमौ स्थितयोः संयुक्तसंयोगो हि ततो नान्यः प्रतिष्ठामियर्ति जन्यजनकभाव एव तयोः परस्परं प्रत्यासत्तिरिति चेन्न, अन्यसरःसमुद्भूतायाः परत्र सरसि बलाकायाः निवाससंभवात् । नैका बलाका पूर्वं सरः प्रविहाय सरोन्तरमधितिष्ठन्ती काचिदस्ति प्रतिक्षणं तद्भेदादिति चेन्न कथञ्चित्तदक्षणिकत्वस्य प्रतीतिर्बाधकाभावात्तद्भ्रान्तत्वानुपपत्तेः । क्षितेः प्रतिप्रदेशं भेदादेकत्र प्रदेशे बलाकासलिलयोरवस्थानाभावान्नैव तत्क्षेत्रप्रत्यासत्तिरिति चेन्न, क्षित्याद्यवयविनस्तदाधारस्यैकस्य साधनात्। न चैकस्यावयविनो नानावयवव्यापिनः सकृदसम्भवः प्रतीतिसिद्धत्वाद्वेद्याद्याकारव्याप्येकज्ञानवत् ।

पदार्थोंका क्षेत्र सम्बन्ध यह है। जैसे कि एक भूमिमें ठहर रहे बकपङ्क्ति और जलका संयुक्त संयोग संबन्ध हो रहा है। भावार्थ—लम्बे चौडे तालाबकी भूमिमें जल भरा हुआ है और वहीं किनारेपर बगुलोंकी पङ्क्ति बैठी हुयी है। ऐसी दशामें बगुला और जलका साक्षात् संयोगसम्बन्ध नहीं है, किन्तु जलसे संयुक्त नीचेकी भूमि है और उस लम्बी चौडी अवयवीस्वरूप भूमिपर बगुलाका संयोग हो रहा है। अतः बगुला और जलका परस्परमें परम्परासे संयुक्त संयोगसम्बन्ध हुआ। उससे भिन्न और कोई दूसरा सम्बन्ध यहां प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं हो सकता है। इस प्रकारके क्षेत्र सम्बन्धको नहीं मानकर यदि कोई उन जल और बगुलाओंका परस्परमें जन्यजनक भाव सम्बन्ध ही माने यानी सरोवरका जल जनक है और बगुला जन्य है, बगुलाओंकी स्थितिका निमित्त जल ही है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि दूसरे सरोवरमें भले प्रकार उत्पन्न हुयी बकपङ्क्तिका उडकर अन्य सरोवरोंमें निवास होना सम्भव है। मनुष्य जैसे देशान्तरमें जा बसते हैं, तैसे ही पशु, पक्षी, भी कहीं उत्पन्न होकर अन्य स्थालोंमें चले जा सकते हैं। ऐसी दशामें सरोवरके जलका और परदेशी बगुलाका जन्यजनकभाव सम्बन्ध नहीं बन पाता है। किन्तु उनका क्षेत्रसम्बन्ध ही है। यहां कोई बालकी खाल निकालनेवाले कहते हैं कि पहिले सरोवरको छोडकर दूसरे सरोवरमें निवास करती हुयी कोई बकपङ्क्ति एक नहीं है। क्योंकि बगुला की भिन्न भिन्न समयोंमें न्यारी न्यारी पर्यायें हैं। अतः बगुलाकी पहिली पर्यायोंका पहिले सरोवरके साथ जन्यजनक सम्बन्ध था और यहां आकर बसी हुयी बगुलाकी नवीन पर्यायोंका इस सरोवरके जलसे कार्यकारणभाव है। यहां बगुलाकी इस क्षणमें उपजी पर्यायका कारण तो इस सरोवरका जल ही मानना पडेगा, सूक्ष्मतासे विचार देखिये। बाल्य अवस्थासे लेकर बूढे होनेतक बगुलाको एक ही मानना भ्रान्त है। अतः अवश्य मान लिये गये कार्यकारण भाव सम्बन्धसे ही निर्वाह हो जायगा। क्षेत्र—प्रत्यासत्तिका गौरव क्यों बढाया जाता है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष तो नहीं करना। क्योंकि उस बकपंक्तिके कथञ्चित् अक्षणिपनेकी प्रतीतिका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इस कारण अण्ड [अण्डा] अवस्थासे लेकर वृद्ध अवस्थातक कालान्तरस्थायी बगुलाके अक्षिकपनकी भ्रान्ति होना नहीं बनता है। जन्मसे लेकर मरणपर्यंत जीवित रहनेवाला बगुला एक है। अतः

जिस सरोवरके तीरमें बकका जन्म हुआ है। उसीके साथ उसका कार्यकारण भाव है। अन्यके साथ नहीं। फिर यदि कोई बौद्ध आधारपर यों आक्षेप करें कि लम्बी, चौड़ी, भूमि कोई एक अवयवी द्रव्य नहीं है। आकाशके प्रत्येक प्रदेशमें भूमिका भेद है, यानी न्यारी न्यारी है। अतः परमाणु बराबर एकप्रदेशमें तो बकपंक्ति और सलिल दोनोंकी अवस्थिति नहीं हो सकती है। इस कारण आप जैनोंकी मानी हुई वह एकदेशमें रहनेवालोंकी क्षेत्र-प्रत्यासत्ति सिद्ध न हो सकी। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि भूमि, घट, पर्वत, शरीर, आदि अनेकक्षेत्रव्यापी अवयवियोंकी सिद्धि की जा चुकी है। वे क्षिति, गृह, पर्वत, आदि अवयवी उन बगुला, जल, आदिकके आधार होते हुए साधे जा चुके हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि अनेक अवयवोंमें एक ही समय व्यापनेवाले एक अवयवी द्रव्यका असम्भव है सो नहीं कहना। क्योंकि अनेक खम्भोंपर रखे हुए बांसके समान अनेक तन्तुओंमें एक पटका रहना प्रतीतियोंसे सिद्ध है। जैसे कि आप सौत्रान्तिकोंके यहां वेद्य आकार, वेदक आकार, और सम्वित्ति आकार इनमें व्यापक रूपसे रहनेवाला एकज्ञान माना गया है, इस प्रकार क्षेत्रप्रत्यासत्तिको सिद्धकर अब कालिक सम्बन्धको बौद्धोंके सम्मुख सिद्ध करते हैं।

कालप्रत्यासत्तिर्यथा सहचरयोः सम्यग्दर्शनज्ञानसामान्ययोः शरीरे जीवस्पर्शविशेषयोर्वा पूर्वोत्तरयोर्भरणिकृत्तिकयोः कृत्तिकारोहिण्योर्वा तयोः प्रत्यासत्त्यन्तरस्याव्यवस्थानात्।

कतिपय पदार्थोंका कालिक सम्बन्ध इस प्रकार है कि एक साथ रहनेवाले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सामान्यका है। आत्मामें जिसी समय सम्यग्दर्शन है उसी समय सम्यग्ज्ञान है, सामान्य रूपसे चाहे कोई भी उपशम, क्षयोपशम, या क्षायिक सम्यक्त्व, होय उस समय सामान्यरूपसे चाहे कोई न कोई मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान मनःपर्यय या केवलज्ञान अवश्य होगा विशेष सम्यग्दर्शनका विशेष ज्ञानके साथ इस कालिक सम्बन्ध नियत नहीं करते हैं। अथवा शरीरमें जीवका और विशेष स्पर्शका कालिक संबन्ध है। रोग अवस्थामें या जीवित और मृत अवस्थाकी परीक्षा करते समय शरीरमें जीवका और उष्ण आदि विशेष स्पर्शका कुछ काल आगे पीछे तक संबन्ध होना माना जाता है तथा पहिले मुहूर्त्त और उत्तर मुहूर्त्तमें उदय होनेवाले भरणी नक्षत्र और कृत्तिका नक्षत्रका अथवा कृत्तिका और रोहिणीका कालकी अपेक्षासे सम्बन्ध है। पूर्वमें कहे हुए तिन सम्यक्त्व, ज्ञान, आदिकका अन्य संबन्ध होनेकी व्यवस्था नहीं है। यह काल प्रत्यासत्ति हुयी।

भावप्रत्यासत्तिर्यथा गोगवययोः केवलिसिद्धयोर्वा तयोरेकतरस्य हि यादृग्भावः संस्थानादिरनंतज्ञानादिर्वा तादृक्तदन्यतरस्य सुप्रतीत इति न प्रत्यासत्त्यंतरं कयोश्चिदनेकप्रत्यासत्तिसंबन्धे वा न किंचिदनिष्टं प्रतिनियतोद्भूतेः सर्वपदार्थानां द्रव्यादिप्रत्यासत्तिचतुष्टयव्यति-

रेकेणानुपपद्यमानत्वेन प्रसिद्धेः। सैव चतुर्विधा प्रत्यासत्तिः स्फुटः संबन्धो बाधकाभावादिति न सम्बन्धाभावो व्यवतिष्ठते।

कतिपय पदार्थोंकी भावप्रत्यासत्ति तो इस प्रकार है जैसे कि गौ और रोझमें सादृश्य सम्बन्ध है। उन दोनोंमेंसे एकके जिस प्रकार संस्थान रचना आदि परिणाम हैं वैसे ही शेष बचे हुयेके सन्निवेश आदि हैं तथा केवली भगवान् और सिद्धपरमेष्ठीमें परस्पर भावप्रत्यासत्ति है। जैसे ही अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, आदिक भाव तेरहवें या चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाले केवली महाराजके हैं। वैसे ही उन दोमेंसे बचे हुये दूसरे सिद्ध भगवान्के हैं। या सिद्ध परमात्माके जैसे अनन्तज्ञान आदि भाव हैं। वैसे ही अरहन्त भगवान्के हैं। यह अच्छी तरह प्रतीत हो रहा है। दूसरे सम्बंधकी यहां सम्भावना नहीं है। न्यायतीर्थ या न्यायाचार्य परीक्षाको उत्तीर्ण करनेवाले कैई छात्रोंमें परस्पर भावप्रत्यासत्ति है। उनके व्युत्पत्तिरूप भाव एकसे हैं। किन्हीं दो पदार्थोंमें यदि अनेक प्रत्यासत्तिरूप सम्बन्ध हो जाय तो भी कोई अनिष्ट नहीं है। अपने नियत हो रहे द्रव्य आदिकोंसे संपूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन चारों सम्बन्धोंके अतिरिक्त अन्य संबन्धोंकी असिद्धि होनेके कारण द्रव्य आदि चार सम्बन्धोंकी ही प्रसिद्धि है। अर्थात् सम्यग्दर्शन और ज्ञानकी द्रव्यप्रत्यासत्ति है तथा कालप्रत्यासत्ति भी है और एक आत्मामें रहनेके कारण क्षेत्रप्रत्यासत्ति भी हो सकती है। क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव होनेसे भावप्रत्यासत्ति भी सम्भव है। जैसे कि भाईपनेके साथ मित्रता सम्बन्ध या गुरुशिष्य सम्बन्ध भी घटित हो जाता है। प्रकरणमें यह चार प्रकारकी ही प्रत्यासत्ति स्फुट होकर सम्बंध है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इस कारण बौद्धोंका माना गया सम्बन्धाभाव व्यवस्थित नहीं होता है। यों वस्तुभूत सम्बन्ध पदार्थकी सिद्धि कर दी गयी है।

ननु च द्रव्यप्रत्यासत्तिरेकेन द्रव्येण कयोश्चित्पर्याययोः क्रमभुवोः सहभुवोर्वा तादात्म्यं तच्च रूपश्लेषः स च द्वित्वे सति सम्बन्धिनोरयुक्त एव विरोधात् तयोरैक्येऽपि न सम्बन्धः सम्बन्धिनोरभावे तस्याघटनात् द्विष्ठत्वादन्यथातिप्रसंगात्। नैरन्तर्यं तयो रूपश्लेष इत्यप्ययुक्तं,तस्यान्तराभावरूपत्वे तात्त्विकत्वायोगात् प्राप्तिरूपत्वेऽपि प्राप्तेः। परमार्थतः कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यामसम्भवाद्रत्यन्तराभावात्। कल्पितस्य तु रूपश्लेषस्याप्रतिषेधात् न स तात्त्विकः सम्बन्धोस्ति प्रकृतिभिन्नानां स्वस्वभावव्यवस्थितेः, अन्यथा सान्तरत्वस्य संबन्धप्रसंगादिति केचित्। तदुक्तम्—" रूपश्लेषो हि संबन्धो द्वित्वे स च कथं भवेत्। तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां संबन्धो नास्ति तत्त्वतः " इति।

बौद्ध अपने मतको पुष्ट करनेके लिए अनुनय [खुशामद] करते हैं कि आप जैनोंकी मानी गयी द्रव्यप्रत्यासत्ति तो एक द्रव्यके साथ क्रमसे होनेवाली किन्हीं विवक्षित अनुभव, स्मरण, रूप पर्यायोंका अथवा साथ रहनेवाली रूप, रस, आदि गुणस्वरूप पर्यायोंका तदात्मक हो जाता

है और वह तादात्म्य तो स्वरूपका एकमएक होकर चुपक जाना है, किन्तु वह श्लेष हो जाना तो सम्बन्धियोंके दोपना होनेपर अयुक्त ही है, क्योंकि विरोध है । अर्थात् स्वतन्त्र दो पदार्थोंका एकम-एक हो जाना स्वरूप तादात्म्य बनता नहीं है । तथा उन सम्बन्धियोंकी एक संख्या होनेपर भी सम्बन्ध होना नहीं बनता है । दो सम्बन्धियोंके न होनेपर उस सम्बन्धकी घटना नहीं है । क्योंकि सम्बन्ध दो आदिमें स्थित रहनेवाला माना गया है । अकेलेका कोई सम्बन्ध नहीं है । एक खम्भेका कोई द्वार नहीं है । एक किनारेकी नदी भी नहीं है, अन्यथा यानी एकमें ही रहनेवाला सम्बन्ध मान लिया जाय तो अतिप्रसंग हो जायगा । घट घटका या आत्मा, आत्माका भी रूप श्लेष हो जाना चाहिये । जैन लोग तादात्म्यको रूपश्लेष न मानकर उन उन सम्बन्धियोंके अन्तरालरहितपनेको यदि रूपश्लेष कहें यह भी उनका कहना अयुक्त है । क्योंकि वह निरन्तरता अन्तरालका अभावरूप है । अतः वास्तविक नहीं मानी जा सकती है । विरहका तुच्छ अभाव वस्तुभूत नहीं है । वैशेषिकोंने ही तुच्छ अभावको पदार्थ माना है, जैनोंने नहीं । यदि रूपश्लेषका अर्थ दोनोंकी परस्परमें प्राप्ति हो जाना स्वरूप माना जाय तो भी पूर्णरूपसे या एकदेशसे प्राप्ति (संसर्ग) का प्रश्न उठानेसे परमार्थरूपसे प्राप्ति होना असम्भव है । पूर्णरूपसे रूपश्लेष माननेसे अनेक अणुओंका पिण्ड केवल अणुमात्र हो जायगा । एकदेशसे सम्बन्ध माननेपर वे एकदेश उसके आत्मभूत हैं या परभूत हैं ? बताओ ! प्रथम पक्षमें दूसरे एकदेशसे रूपश्लेष न हुआ पृथग्भाव बनारहा । परभूत माननेपर तो अनवस्था होवेगी । रूपश्लेषका स्पष्ट अर्थ करनेके लिये उक्त इन तीन अर्थोंके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय जैनोंके पास नहीं है । हां, कल्पनासे गढ लिये गये रूपश्लेषका तो हम बौद्ध भी निषेध नहीं करते हैं । किन्तु वह कल्पित रूपश्लेष वास्तविक संबन्ध नहीं है । क्योंकि अपनी अपनी न्यारी प्रकृतियोंके अनुसार सर्वथा भिन्न हो रहे पदार्थ अपने अपने भावमें व्यवस्थित हो रहे हैं । उनका भला पर-स्परमें स्वरूप संश्लेष क्या हो सकता है ? कहीं जल भी कमलपत्रसे मिला है । अथवा अग्नि और पारा या परमाणुएं भी कभी मिलती हैं ? अर्थात् नहीं । अन्यथा यानी निरन्तरताको सम्बन्ध कहोगे तो भाव होनेके कारण सान्तरता (विरह पडना) को बडी प्रसन्नतासे संबन्ध हो जानेका प्रसंग होगा । जो कि जैनोंको इष्ट नहीं, इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं । उनके ग्रन्थोंमें भी यही कहा गया है कि रूपका एकमएक होकर श्लेष हो जाना ही सम्बन्धवादिओंके यहां सम्बन्ध माना गया है । वह सम्बन्धियोंके दो होनेपर भला कैसे होवेगा ? तिस कारण प्रकृतिसे ही भिन्न भिन्न पडे हुए पदार्थोंका परमार्थरूपसे कोई सम्बंध ही नहीं है । गढन्त कैसी भी कर लो ! जैसे कि कोई हास्यशील मनुष्य किसी व्यक्तिसे कहे कि तुम्हारी चाचीकी बहिनकी भतीजीकी भौजाईकी दादीकी धेवतीसे मेरी सगाई होनेवाली थी । तिस कारण तुम मेरे साले लगते हो, यह साला जमाईपनका सम्बंध झूंठा है । उसी प्रकार सब सम्बन्ध झूंठे हैं । यों बौद्धोंके कहनेपर अब आचार्य कहते हैं उसे सुनो ।

तदेतदेकान्तवादिनश्चोद्यं न पुनः स्याद्वादिनां । ते हि कथंचिदेकत्वापत्तिं सम्बन्धिनो रूपश्लेषं संबन्धमाचक्षते । न च सा द्वित्वविरोधिनी कथंचित्स्वभावनैरंतर्यं वा तदपि नांतराभावरूपमस्तित्वं छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमस्यांतरस्याभावो हि तत्स्वभावांतरात्मको वस्तुभूत एव यदा रूपश्लेषः कयोश्चिदास्थीयते निर्बाधं तथा प्रत्ययविषयस्तदा कथं कल्पनारोपितः स्यात् । केनचिदंशेन तादात्म्यमतादात्म्यं च संबन्धिनोर्विरुद्धमित्यपि न मंतव्यं तथानुभवाच्चित्राकारसंवेदनवत् ।

सो इस प्रकार वह एकान्तवादी बौद्धोंका कुतर्क पूर्वक प्रश्न करना उन्हींके ऊपर लागू होता है । स्याद्वादियोंके ऊपर फिर कोई अभियोग नहीं लगता है । वे स्याद्वादी तो निश्चयसे दो संबन्धियोंके कथञ्चित् एकपनेकी प्राप्ति हो जानेको रूपश्लेष नामका सम्बन्ध कह रहे हैं और वह एकपनेकी प्राप्ति दोपनका विरोध करनेवाली नहीं है । आत्मा और पुद्गलका या मिले हुए सोने और कीटका एकपनारूप बन्ध होते हुए भी दो द्रव्यपना स्थिर रहता है । अतः आपका पहिला आक्षेप निर्मूल है, अथवा दूसरा संबंधियोंके अन्तरका अभावरूप भी वह रूपश्लेष हो सकता है । वह नैरन्तर्य अन्तरका अभावरूप तुच्छ अभाव नहीं है । किन्तु अन्तर शब्दके छिद्र, मध्य, विरह, सामीप्य, विशेष, आदि अनेक अर्थ हैं । यहां प्रकरणमें छिद्र मध्य और विरहोंमेंसे किसी एक अन्तरका अभावस्वरूप संबन्ध माना गया है । जिससे कि यह अभाव अन्य भावस्वरूप होता हुआ वास्तविक ही है । तुच्छ अभावको हम भी नहीं मानते हैं । अतः जिस समय किन्हीं दो पदार्थोंका वस्तुभूत नैरन्तर्य ही रूपश्लेष बाधारहित होकर तिस प्रकारके ज्ञानका विषय निर्णीत हो रहा है, उस समय वह रूपश्लेष कल्पनासे आरोपा गया कैसे कहा जा सकेगा ? अर्थात् रूपश्लेष कल्पित नहीं है । दो सम्बन्धियोंका किसी अंशसे तादात्म्य हो जाना और दूसरे किसी अंशसे तादात्म्य न होना विरुद्ध है, यह भी नहीं मानना चाहिये । क्योंकि तिस प्रकार अनुभव हो रहा है । जैसे कि चित्र आकारवाले संवेदनका नील आकारसे अभेद है और उसीके नील आकारका उसके पीत आकारके साथ भेद है । ऐसा भेदाभेदात्मक चित्रज्ञान आपने माना है । पांचों अंगुलियां परस्परमें भिन्न होती हुई भी हाथके साथ अभेदको रखती हैं ।

एतेन प्राप्त्यादिरूपं नैरन्तर्यं रूपश्लेष इत्यपि स्वीकृतं तस्यापि कथञ्चित्तादात्म्यानतिक्रमात् । ततः स्वस्वभावव्यवस्थितेः प्रकृतिविभिन्नानामर्थानां न सम्बन्धस्तात्त्विक इत्ययुक्तं तत एव तेषां सम्बन्धसिद्धेः । स्वस्वभावो हि भावानां प्रतीयमानः कथञ्चित्प्रत्यासत्तिर्विप्रकर्षश्च सर्वथा तदप्रतीतेस्तेन चावस्थितिः कथं संबन्धाभावैकान्तं साधयेत् सम्बन्धैकान्तवत् ।

इस कथनसे हमने आप बौद्धोंका कहा गया प्राप्ति आदि स्वरूप नैरन्तर्य रूपश्लेष है, यह भी अंगीकार कर लिया है । क्योंकि उस निरन्तरका भी कथञ्चित् तादात्म्यसे अतिक्रमण नहीं हो

पाता है अर्थात् जो ही आपका नैरन्तर्य है। वही हमारा कथंचित् तादात्म्य है। तिस कारण प्रकृति अनुसार ही भिन्न हो रहे पदार्थोंकी अपने अपने स्वभावमें व्यवस्थिति होनेके कारण उनका परस्परमें वास्तविक सम्बंध नहीं है। यह बौद्धोंका कहना युक्त नहीं है। क्योंकि जिस ही कारणसे आप सम्बन्धका निषेध करते हैं उसी कारणसे उनका सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। देखिये, पदार्थोंके अपने अपने स्वभाव प्रतीत हो रहे हैं तथा स्वभाव और स्वभाववानोंका कथंचित् निकटपना और दूरपना भी जाना जा रहा है। हां! सर्वथा वह निकटवर्ती पर्यायके साथ निकटपना और दूरवर्ती पर्यायोंके साथ दूरपना नहीं प्रतीत होता है। अर्थात् जैनजन किसी भी सम्बन्धको कथंचित् स्वीकार करते हैं, सर्वथा नहीं। मित्रता नामक सम्बन्धके समान शत्रुता (प्रतियोगिता) भी एक सम्बन्ध है। जिस समय देवदत्तके पास रुपया है उस समय उसका देवदत्तके साथ स्वस्वामिसम्बन्ध है, जिनदत्तके पास चले जानेपर जिनदत्तके साथ उस रुपयेका स्वस्वामिसम्बन्ध है। कथंचित्संयोग, कथञ्चित् समवाय, कथंचित् तादात्म्य, कथंचित् जन्यजनकभाव आदि सभी सम्बन्धोंमें कथञ्चित् लगा देना चाहिये, तभी ठीक नाता जुड सकेगा। जब कि तिस स्वरूपसे पदार्थोंकी स्थिति हो रही है वह एकान्तरूपसे भला सम्बन्धाभावको कैसे साध देवेगी ! जैसे कि एकान्तरूपसे सम्बन्धको सिद्ध नहीं कर पाती है। भावार्थ—" प्रकृतिभिन्नानां स्वस्वभावव्यवस्थितेः " उस हेतुसे आप बौद्धोंने सम्बन्धके अभावको पुष्ट किया है। किन्तु उसी हेतुसे सम्बन्ध पुष्ट हो जाता है। पर्याय और पर्यायीका सम्बन्ध माने विना, अपने अपने स्वभावोंमें पदार्थोंकी व्यवस्था होना नहीं बन सकता है।

न चापेक्षत्वात् सम्बन्धस्वभावस्य मिथ्याप्रतिभासः सूक्ष्मत्वादिवदसम्बन्धस्वभावस्यापि तथानुषंगात्। न चासम्बन्धस्वभावोऽनापेक्षिकः कंचिदर्थमपेक्ष्य कस्यचित्तद्व्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः स्थूलत्वादिवत्। प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानो अनापेक्षिक एव तत्पृष्ठभाविना तु विकल्पेनाध्यवसीयमानो यथापेक्षिकस्तथा वास्तवो भवतीति चेत्, संबन्धस्वभावेपि समानं। न हि स प्रत्यक्षे न प्रतिभासते यतोऽनापेक्षिको न स्यात्।

बौद्ध कहते हैं कि जैसे सूक्ष्मत्व, ह्रस्वत्व, आदि धर्म अपेक्षासे उत्पन्न होनेके कारण झूंठे हैं, उसीके समान अपेक्षा जन्य होनेसे संबन्ध स्वभावका झूंठा प्रतिभास हो रहा है। अर्थात्—आमलेकी अपेक्षा बेर छोटा है और बेरकी अपेक्षा फालसा छोटा है। यह छोटापन कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है। वस्तुभूत होनेपर तो परिवर्त्तन (बदलना) नहीं होना चाहिये था, किन्तु छोटा भी दूसरेकी अपेक्षा उसी समय बडा होरहा है। ऐसे ही गुरुशिष्यसम्बन्ध स्वस्वामिसंबन्ध भी अपेक्षासे ही है। शिष्यके अधिक पढजानेपर गुरु भी चेला बन जाता है, धनिक हो जानेपर सेवक भी स्वामी हो जाता है, यहांतक कि स्वयं अपना पुत्र आप हो जाता है। लोकमें एक व्यक्तिके साथ मामा, साला, आदि कई सम्बन्ध हो जाते हैं, अतः ये नाते सब झूंठे हैं। अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि यह नहीं समझना। यों तो पदार्थोंके असम्बन्ध स्वभावको तिस प्रकार झूंठे जाननेका प्रसंग होगा।

आप बौद्धोंका माना हुआ परमाणुओंमें परस्पर असम्बन्धस्वभाव यानी विभक्त होकर रहनापन भी तो अनापेक्षिक नहीं है। अन्यथा अर्थात् असंबन्धको यदि अपेक्षाके बिना ही होनेवाला माना जायगा तो किसी एक पदार्थका किसी अन्य एक अर्थकी अपेक्षा करके उस असम्बन्धकी व्यवस्था होती हुयी न बन सकेगी। जैसे कि स्थूलत्व, महत्त्व, आदि आपेक्षिक हैं। भावार्थ—आंवलेसे बिल्व बडा है। बिल्वसे नारियल बडा है। नारियलसे पेठा बडा है। यह बडापन जैसे आपेक्षिक है, वैसे ही कुचारित्रवाला पुत्र पितासे न्यारा है। देवदत्त जातिसे पृथग्भूत है। एक परमाणुका दूसरे परमाणुसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ये असम्बन्ध भी झूंठे बन बैठेंगे। किन्तु ये सब वस्तुके परिणामोंपर अवलम्बित हैं। 'यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं वस्तुस्वभावाः'। सम्बन्ध या असम्बन्ध कूटस्थ नित्य नहीं है, किन्तु परिणामके अनुसार बदलते रहते हैं। स्वामीका कार्य करनेपर ही सेवक स्वामीपन पाता है। ऐसे ही पृथग्भाव भी परिणामोंपर टिका हुआ है। कोरी झूठी अपेक्षासे नहीं है। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि प्रत्यक्षज्ञानमें विशदरूपसे जाना जा रहा असम्बन्ध तो अनापेक्षिक ही है। हां! उसके पीछे होनेवाले झूंठे विकल्पज्ञान करके तो निर्णीत किया गया होकर जिस प्रकार आपेक्षिक है। तिस प्रकार अवस्तुभूत भी है, अर्थात् प्रत्यक्षसे जान लिया गया असम्बन्ध अंश वास्तविक है और कल्पनासे जाना गया असम्बन्ध अंश अवास्तविक है। सम्बन्ध तो कथमपि वस्तुभूत नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहनेपर तो वस्तुके सम्बन्धस्वभावमें भी समान रूपसे यही कथन लागू हो जाता है। वह सम्बन्ध प्रत्यक्षज्ञानमें नहीं प्रतिभासता है, यह न कहना। जिससे कि अनापेक्षिक न हो सके यानी प्रत्यक्षज्ञानसे जाना जा रहा और नहीं अपेक्षा रखता हुआ सम्बन्ध भी वस्तुभूत है। वस्तुभूत असम्बन्धकी अपेक्षा भावस्वरूप सम्बन्ध बलवत्तर होकर वास्तविक है। दूसरी बात यह है कि आपेक्षिक पदार्थ सब झूंठे ही थोडे होते हैं, समीचीन अपेक्षासे आरोपे गये सब पदार्थ सत्यार्थ हैं।

ननु च परापेक्षैव सम्बन्धस्तस्य तन्निष्ठत्वात् तदभावे सर्वथाप्यसम्भवात्। परापेक्षमाणो भावः स्वयमसन् वापेक्षते सन् वा। न तावदसन्नपेक्षो धर्माश्रयत्वविरोधात् खरशृंगवत्। नापि सन् सर्वनिराशंसत्वादन्यथा सत्त्वविरोधात्। कथञ्चित् सन्नसन्नपेक्ष्य इत्ययमपि पक्षो न श्रेयान्, पक्षद्वयदोषानतिक्रमात्। न चैकोर्थः सन्नसंश्च केनचिद्रूपेण सम्भवति विरोधादन्यथातीतानागताद्यशेषात्मको वर्तमानार्थः स्यादिति न क्वचित् सदसत्त्वव्यवस्था, संकरव्यतिकरापत्तेः। यतो परापेक्षाणामसन्निबन्धनः सम्बन्धः सिध्येत्। तदुक्तम्—" परापेक्षादिसम्बन्धः सो सन् कथमपेक्षते। संश्च सर्वनिराशंसो भावः कथमपेक्षते ॥ " इति कश्चित्।

सम्बन्धको न माननेवाला बौद्ध आमन्त्रण करके जैनोंके प्रति कहते हैं कि परकी अपेक्षा करना ही सम्बन्ध है। क्योंकि वह सम्बन्ध अपेक्षा किये गये उन पदार्थोंमें रहता है। अपेक्ष-

णीय पदार्थोंके न होनेपर सभी प्रकारसे संबन्ध होनेका असम्भव है । हम बौद्धोंका यहां यह विचार है कि परकी अपेक्षा करनेवाला पदार्थ स्वयं असन् होकर दूसरेकी अपेक्षा करता है ? अथवा स्वयं सन् होकर परापेक्षा करता है ? प्रथम पक्षके अनुसार खरविषाणके समान असद्भूत पदार्थ तो परकी अपेक्षा नहीं कर सकता है । क्योंकि अपेक्षा क्रिया रूप धर्मका आश्रय सद्भूत कर्ता होना चाहिये । (सन् देवदत्तो घटमपेक्षते) । असत् पदार्थको खरशृंगके समान अपेक्षा धर्मके आश्रयपनका विरोध है । तथा दूसरे पक्षके अनुसार सद्भूत पदार्थ भी परकी अपेक्षा नहीं रखता है । क्योंकि यह पूर्णरूपसे बन चुका है । सत् पदार्थ तो सबकी आकांक्षाओंसे रहित है । कृतकृत्यके समान उसको किसीकी अपेक्षा नहीं, अन्यथा यानी सत्को भी परकी अपेक्षा होने लगे तो उसके सद्भूतपनमें विरोध आता है । अपूर्ण पदार्थ ही अपने शरीरको बनानेके लिये अन्यकी अपेक्षा रखता है परिपूर्ण नहीं । यदि जैन लोग कथंचित् सत् और कथंचित् असत् पदार्थको अन्यकी अपेक्षा रखनेवाला मानें सो यह पक्ष भी बढिया नहीं है । क्योंकि दोनों पक्षमें हुये दोषोंका अतिक्रम नहीं हो सकेगा । प्रत्येक पक्षमें जो दोष होते हैं वे उभय पक्षमें भी लागू हो जाते हैं । दूसरी बात यह है कि एक पदार्थ किसी रूपसे सत् होय और किसी दूसरे स्वरूपसे असत् होय ऐसा नहीं सम्भवता है, क्योंकि विरोध है । अन्यथा वर्तमानकालका पदार्थ भी भूत चिरतरभूत भविष्यत् और दूर भविष्यत् आदि सम्पूर्ण अर्थस्वरूप बन बैठेगा । इस प्रकार किसी भी पदार्थमें सत्पने और असत्पनेकी व्यवस्था न हो सकेगी । संकर और व्यतिकर दोष होनेका भी प्रसंग होगा । जिससे कि जैनोंके यहां दूसरोंकी अपेक्षा रखनेवाले पदार्थका असत्को कारण मानकर होनेवाला संबंध सिद्ध हो जाता । अर्थात् परापेक्षारूप सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पाता है । वही हमारे ग्रंथोंमें कहा है कि परपदार्थोंकी अपेक्षा ही सम्बन्ध हो सकता है । किन्तु वह अपेक्षक पदार्थ असद्भूत होकर कैसे दूसरोंकी अपेक्षा करता है ! मरगया पुरुष जलको नहीं चाहता है और पूर्ण अंगोंसे सद्भूत भाव तो सम्पूर्ण अपेक्षाओंसे रहित है । वह भला दूसरेकी क्यों अपेक्षा करने चला ? इस प्रकार अपेक्षक कर्ताके समान अपेक्षणीय कर्ममें भी सत् और असत् पक्ष लगाकर उसकी अपेक्षा होना नहीं घटित होता है । यहांतक कोई बौद्ध कहरहा है । इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि—

सोऽपि सर्वथा सदसत्त्वाभ्यां भावस्य परापेक्षाया विरोधमप्रतिपद्यमानः कथं तां प्रतिषेध्यात् । प्रतिपद्यमानस्तु स्वयं प्रतिषेद्धुमसमर्थस्तस्याः कथंचित्सिद्धेरन्यथा विरोधायोगात् कथं चानिराकुर्वन्नपि परापेक्षां सर्वत्र सम्बन्धस्यानापेक्षिकत्वं प्रत्याचक्षीत ? न चेदुन्मत्तः ।

वह बौद्ध भी सभी प्रकार सत्पने और असत्पनेसे पदार्थको परकी अपेक्षा करनेके विरोधको नहीं समझता हुआ कैसे उस परापेक्षाका निषेध कर सकेगा ? और सत् असत्पने करके भावका

परापेक्षाके साथ विरोधको समझता हुआ बौद्ध तो स्वयं निषेध करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है क्योंकि कहीं न कहीं उस परपदार्थकी अपेक्षाकी सिद्धि हो चुकी है। अन्यथा विरोध होनेका अयोग है तथा पर अपेक्षाको नहीं निराकरण करता हुआ भी सर्व स्थलोंमें सम्बन्धकी अनापेक्षिकताका कैसे प्रत्याख्यान कर सकेगा ? और बलात्कारसे प्रत्याख्यान करेगा तो क्या वह उन्मत्त न समझा जायगा ? अर्थात् विक्षिप्त पुरुष ही परअपेक्षाको मानता हुआ अपेक्षा रखनेका खण्डन कर सकता है। अन्य नहीं।

स्वलक्षणमेव सम्बन्धोऽनापेक्षिकः स्यान्न ततोऽन्यः स चेष्टो नाममात्रे विवादाद्वस्तुन्यविवादादिति चेत्, कः पुनः सम्बन्धमस्वलक्षणमाह तस्यापि स्वेन रूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वलक्षणत्वात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि स्वलक्षण तत्त्व ही नहीं अपेक्षा करता हुआ सम्बंध हो जायगा। उससे भिन्न " स्वस्वामि " आदि कोई भी सम्बन्ध नहीं है और वह स्वलक्षणरूप अनापेक्षिक सम्बन्ध हम बौद्धोंको भी इष्ट है। हमारे और आप जैनोंके माने गये पदार्थोंका केवल नाममें ही विवाद है। वस्तुतत्त्वमें विवाद नहीं है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम समझाते हैं कि कौन वादी विद्वान् सम्बन्धका स्वलक्षणरहित कहता है ? अर्थात् कोई नहीं। सम्पूर्ण पदार्थोंमें अपने अपने लक्षण स्वरूप गुथ रहे हैं वह संबन्ध भी स्वकीयरूप करके लक्ष्य करने योग्य होता हुआ स्वलक्षणस्वरूप है। " सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं " भले ही कहे जाओ अच्छा है।

ननु कुतः सम्बन्धस्तथा द्वयोः सम्बन्धिनोः सिद्धः ? एकेन गुणाख्येन संयोगेनान्येन वा धर्मेणान्तरस्थितेनावाच्येन वा वस्तुरूपेण सम्बन्धादिति चेत् स तत्सम्बन्धिनोरनर्थान्तरमर्थान्तरं वा ? यद्यनर्थान्तरं तदा संबन्धिनावेव प्रसज्येते। तथा च न सम्बन्धो नाम। स ततोऽर्थान्तरं चेत् सम्बन्धिनौ केवलौ कथं सम्बद्धौ स्यातां तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यश्चेत् कथं वस्तुभूतः स्यात्। भवतु चार्थान्तरमनर्थान्तरं वा सम्बन्धः। स तु द्वयोरेकेन कुतः स्यात्। परेणैकेन सम्बन्धादिति अनवस्थानात्। न सम्बन्धमतिः सुदूरमपि गत्वा द्वयोरेकाभिसंबन्धमन्तरेणापि सम्बन्धत्वे कथं नाभिसम्बन्धत्वमतिः केवलयोः सम्बन्धिनोरतिप्रसंगात्। यदि सम्बन्धश्च स्वेनासाधारणेन रूपेण स्थितस्तदा सिद्धममिश्रणमर्थानां परमार्थतः। तदुक्तम्—" द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि तद्द्वयोः। कः सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा ॥ " तौ च भावौ तदन्यश्च सर्वे ते स्वात्मनि स्थिताः। इत्यमिश्राः स्वयं भावास्तान्मिश्रयति कल्पना ॥ " इति कथं सम्बन्धः स्वलक्षणमिष्यते। सम्बन्धिनोरर्थान्तरं ततोऽनर्थान्तरस्य तु तथेष्टौ न वस्तुव्यतिरेकेण सम्बन्धोऽन्यत्र कल्पनामात्रादिति वदन्नपि न स्याद्वादिमतमवबुध्यते। तद्धि भेदाभेदैकान्तपराङ्मुखं न तद्दोषास्पदम्।

जैनोंके प्रति बौद्ध प्रश्न करते हैं कि दो सम्बन्धियोंके मध्यमें रहनेवाला सम्बन्ध तिस प्रकार कैसे सिद्ध होता है ? बताओ ! इसपर आप नैयायिक, जैन, या अन्य कोई यों कहें कि एक संयोग नामक गुण पदार्थसे अथवा अन्य किसी बीच अन्तरालमें ठहरे हुए धर्मसे या नहीं कहने योग्य वस्तु स्वरूपसे दोनोंका सम्बन्ध होना बन जाता है। जैसे कि दो पत्रोंके बीचमें गोंद भर देनेसे वे चुपक जाते हैं, आदि। इस प्रकार कहनेपर तो हम सौगत जैनोंको फिर पूछेंगे कि वह मध्यमें पडा हुआ संयोग या धर्म अथवा अवाच्य वस्तुस्वरूप क्या उन दो सम्बन्धियोंसे भिन्न है ? या अभिन्न है ? यदि अभिन्न मानोगे, तब तो केवल दो सम्बन्धियों ही को माननेका प्रसंग होगा और तैसा होनेपर मध्यवर्ती कोई निराला संबन्ध न हो सका। यही तो हम मान रहे हैं। तथा द्वितीय पक्षके अनुसार वह सम्बन्ध उन दो सम्बन्धियोंसे यदि भिन्न माना जायगा तो उस सर्वथा न्यारे पडे हुए उदासीन सम्बन्धके द्वारा केवल दो सम्बन्धी भला सम्बद्ध कैसे हो सकेंगे ? अलग गोंददानीमें पडा हुआ गोंद तो सन्दूकमें रखे हुए पत्रोंको नहीं जोड सकता है। अथवा दूर देशमें पडा हुआ डोरा कपडेको नहीं सींव सकता है। यदि तिस भिन्नपन और अभिन्नपनसे न कहा जाय ऐसा कोई अवक्तव्य वह संबंध होगा तो वह वास्तविक कैसे हो सकेगा ? बताओ ! और वस्तु कैसा भी हो चाहे सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियोंसे भिन्न हो अथवा अभिन्न हो, किन्तु वह दोनोंमें एक सम्बन्धसे कैसे रहेगा ? बताओ ! अर्थात् दो सम्बन्धियोंमें किसी अन्य सम्बन्धसे रहनेवाला सम्बन्ध हुआ करता है। " द्वित्र तिष्ठतीति द्विष्ठः " जैसे कि दण्ड और पुरुषमें रहनेवाला संयोगसम्बन्ध गुण होनेके कारण जब दोनोंमें समवाय सम्बन्धसे तिष्ठता है, तब सम्बन्ध बनता है और संयोग तथा दण्डमें रहनेवाला समवाय भी स्वरूपसम्बन्धसे तिष्ठता हुआ सम्बन्ध बनता है। इसी प्रकार यहां भी दूसरे किसी एक सम्बन्धसे संबंध हो जानेके कारण दोनोंका एक वृत्तिमान् सम्बन्धके साथ सम्बन्ध होना यदि कहा जायगा तो उस सम्बन्धको भी सम्बन्धपना दोमें किसी अन्य संबंधसे ठहरानेपर होगा। अतः न्यारे तीसरे, चौथे, पांचवें, आदि एक सम्बन्धसे सम्बन्ध हो सकेगा। इस प्रकार अनवस्थादोष हो जानेसे सम्बन्धज्ञान नहीं होने पाता है। बहुत दूर भी जाकर उन दो सम्बन्धियोंका एक सम्बन्धके विना भी सम्बन्ध होना मान लोगे तो मूलमें पडे हुये केवल दो सम्बन्धियोंकी भी सम्बन्ध हुए विना सम्बन्धबुद्धि हो जाओ ! सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो रहे हैं। किसीका किसीसे सम्बन्ध (ताल्लुक) नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। यानी चाहे जिसका चाहे जिसके साथ सम्बन्ध गढ जाओ ! यदि आप जैनोंके यहां सम्बन्ध पदार्थ अपने असाधारण स्वरूपसे स्थित हो रहा है। जैसा कि आपने पहिले साभिमान कहा था वह किसीकी अपेक्षा नहीं करता है, तब तो पदार्थोंका वास्तविकरूपसे नहीं मिलनारूप असम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। क्योंकि सब अपने न्यारे स्वरूपमें स्थित होकर बैठे हुये हैं। सम्बन्ध भी अलग बैठा हुआ है। कोई भी किसीका सम्बन्धी नहीं है, सो ही हमारे यहां कहा है कि दोनोंका एक सम्बन्धसे

यदि सम्बन्ध होना मानोगे तो फिर उन दोनोंका क्या सम्बन्ध होगा ? तिस प्रकार तो सम्बन्ध ज्ञान नहीं हो सकता है। भावार्थ—दण्ड और दण्डीका संयोग सम्बन्ध माना जाय और दण्डमें संयोग गुण समवायसम्बन्धसे रहे, अतः संयोग और दण्डका समवाय माना जाय। समवायसम्बन्ध भी संयोगमें स्वरूपसम्बन्धसे रहे। अतः संयोग और समवायका योजक स्वरूपसम्बन्ध माना जाय एवं समवायमें स्वरूपसम्बन्ध भी विशेषणता सम्बन्धसे रहे, इस प्रकार सम्बन्धियोंमें रहनेवाले सम्बन्धोंके ठहरानेके लिए अन्य सम्बन्धोंकी आकांक्षा बढती जायगी। यह अनवस्थादोष सम्बन्ध ज्ञानको न होने देगा ? तथा वे दोनों सम्बन्धीरूप भाव और उनसे भिन्नसम्बन्ध तथा दूसरे पदार्थ ये सब अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो रहे हैं। इस कारण पदार्थ अपने आप न्यारे न्यारे हैं। स्वयं व्यावृत्त हैं, मिले हुए नहीं हैं तो भी हां, व्यवहारी लोग कल्पनाज्ञानोंसे झूंठ मूठ उन्हें मिला लेते हैं। इस प्रकार सम्बन्ध पदार्थ सम्बन्धियोंसे भिन्न होता हुआ भला कैसे स्वलक्षण माना जाता है ? बताओ ! अर्थात् नहीं। और उन सम्बन्धियोंसे अभिन्न पडे हुये सम्बन्धको तो तिस प्रकार इष्ट करोगे तब तो दोनों सम्बन्धीरूप वस्तुओंसे भिन्न कोई सम्बन्ध पदार्थ नहीं बनता है। केवल कल्पनाके अतिरिक्त सम्बन्ध कोई वस्तु नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बडी देरसे कह रहा बौद्ध भी स्याद्वादियोंके मतको नहीं समझता है। वह स्याद्वाद सिद्धान्त तो सर्वथा भेद और सर्वथा अभेदके एकान्तसे प्रतिकूल होता हुआ सम्बन्धियोंसे सम्बन्धका कथंचित् भेद, अभेद, मानता है। अतः वह किसी भी दोषका स्थान नहीं है।

येन रूपेण लक्ष्यमाणः सम्बन्धो अन्यो वार्थः स्वलक्षणमिति तु परस्परापेक्षभेदाभेदात्मकं जात्यंतरमेवोक्तं तस्याबाधितप्रतीतिसिद्धत्वेन स्वलक्षणव्यपदेशात्। ततो न कल्पनामेवानुरुन्धानैः प्रतिपत्तृभिः क्रियाकारकवाचिनः शब्दाः संयोज्यन्तेऽन्यापोहप्रतीत्यर्थमेवेति घटते येनेदं शोभेत। " तावेव चानुरुन्धानैः क्रियाकारकवादिनः। भावभेदप्रतीत्यर्थं संयोज्यन्तेऽभिधायकाः॥ " इति क्रियाकारकादीनां सम्बन्धिनां तत्सम्बन्धस्य च वस्तुरूपप्रतीतये तदभिधायिकानां प्रयोगसिद्धेः सर्वत्रान्यापोहस्यैव शब्दार्थत्वनिराकरणाच्च। ततः कश्चित्कस्यचित्स्वामी सम्बन्धासिद्धत्वेवेति स्वामित्वमर्थानामधिगम्यं निर्देश्यत्ववदुपपन्नमेव।

जिस स्वरूपसे लक्षित किया जाय ऐसा कोई सम्बंध पदार्थ या अन्य पदार्थ स्वलक्षण है, इस प्रकार कहनेपर तो परस्परमें अपेक्षा रखते हुए भेद, अभेद, स्वरूप, विभिन्न जातिवाला पदार्थ ही कहा जा सकता है। सर्वथा भेद या अभेदके एकान्तोंसे भिन्नजाति वाला वह कथञ्चित् भेद, अभेद, आत्मक पदार्थ बाधारहित प्रतीतियोंसे सिद्ध है। इस कारण स्वलक्षण इस नामको पा जाता है। बौद्धोंका माना गया स्वलक्षण तो स्वलक्षण नहीं है, किन्तु शुद्ध अलक्षण है। तिस कारणसे वास्तविक सम्बन्ध न होते हुए भी कल्पना हीके अनुरोधसे चलनेवाले व्यवहारी प्रतिपत्ताओं करके अन्यापोहकी प्रतीतिके लिये ही क्रिया कारकको कहनेवाले शब्द जोड लिये जाते हैं। जैसे कि है

देवदत्त श्वेत गायको दण्डसे घेर लाओ आदि । यह बौद्धोंका कथन नहीं घटित होता है । जिससे कि उनका यह सिद्धान्त शोभा पाता कि उस कल्पनाका ही अनुरोध करनेवाले ज्ञाताओं करके भावोंकी भेदप्रतीति करानेके लिये क्रियावाची शद्ब और कारकवाची शद्बोंकी जोडकला करली जाती है । क्षणिक होनेके कारण क्रियाकालमें कारक नहीं । अतः उनका सम्बन्ध नहीं है तथा वस्तुतः वाच्यवाचक भाव भी नहीं है । इस प्रकार यह बौद्धोंका कथन विद्वानोंमें शोभा नहीं पाता है । क्योंकि क्रिया, कारक, ज्ञापक, आदि सम्बन्धियों और उनके सम्बन्धके वास्तविक स्वरूपकी प्रतिपत्ति करनेके लिये उनके कहनेवाले शद्बोंका प्रयोग करना सिद्ध हो रहा है तथा सब स्थानोंपर अन्यापोह ही शद्बका वाच्यअर्थ है । इसका निराकरण कर दिया गया है । तिस कारण कोई एक विवक्षित पदार्थ किसी एकका स्वस्वामि सम्बन्ध हो जानेसे स्वामी सिद्ध हो ही जाता है । इस प्रकार पदार्थोंका निर्देश्यपनेके समान स्वामीपना भी जानने योग्य है । यह सिद्ध कर दिया गया ही है । यहांतक स्वामित्वका विचार किया । अब तीसरे उपाय साधनका विचार चलाते हैं—

न किंचित्केनचिद्वस्तु साध्यते सन्न चाप्यसत् ।
ततो न साधनं नामेत्यन्ये तेऽप्यसदुक्तयः ॥ १३ ॥

कार्यकारण भावको न माननेवाले बौद्ध कह रहे हैं कि कोई भी बन चुकी सद्भूत वस्तु किसी एक साधन करके नहीं साधी जाती है और सर्वथा नहीं बनी हुयी असत् वस्तु भी किसी कारणसे नहीं साधी जा सकती है । तिस कारण संसारमें कोई भी साधन पदार्थ नाममात्रको भी नहीं है । इस प्रकार कोई दूसरे वादी कह रहे हैं । अब आचार्य कहते हैं कि वे भी प्रशंसनीय कथन करनेवाले नहीं हैं । प्रत्यक्षसे ही बाल गोपालों तकको कार्यकारणभाव प्रतीत हो रहा है । दण्ड, चक्र, मिट्टीसे घडा बनता है, सूत, तुरी, वेमासे कपडा बनता है ।

साधनं हि कारणं तच्च न सदेव कार्यं साधयति स्वरूपवत्, नाप्यसत् खरविषाणवत् । प्रागसत्साधयतीति न वा युक्तं, सदेव साधयतीति पक्षानतिक्रमात् । न ह्युत्पत्तेः प्रागसत् प्रागेव कारणं निष्पादयति, तस्यासत एव निष्पादनप्रसक्तेः । उत्पत्तिकाले सदेव करोतीति तु कथनेन कथं न सत्पक्षः ? कथञ्चिदसत् करोतीत्यपि न व्यवतिष्ठते, येन रूपेण सत्तेन करणायोगादन्यथा स्वात्मनोऽपि करणप्रसंगात् । येन चात्मना तदसत्तेनापि न कार्यतामियर्ति शशविषाणवदित्युभयदोषावकाशात् सदसद्रूपं कार्यं नाऽनाकुलं, न च कथञ्चिदपि कार्यमसाधयत् किञ्चित्साधनं नाम कार्यकरणभावस्य तत्त्वतोसम्भवाच्च । तदुक्तम्—

वे अन्यवादी ही विकल्पोंको उठाकर कार्यकारणभावमें दूषण दिखा रहे हैं । जिससे कि साधनका अर्थ कारण है और वह कारण सद्रूप ही कार्यको नहीं बनाता है । जैसे कि कारण

अपने पहिले बने बनाये स्वरूपको फिर नहीं बनाता है तथा वह कारण खरविषाणके समान असत् पदार्थको भी नहीं बनाता है। यदि यहां कोई नैयायिक यों कहे कि प्रागभावका प्रतियोगी कार्य होता है। अतः पहिले नहीं विद्यमान किन्तु वर्तमान में विद्यमान ऐसे कार्यको कारण साधता है यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि इस तरह तो सत् कार्यको ही कारण बनाता है, इस पक्षका अतिक्रमण न हुआ और उत्पत्तिके पहिले असत् कार्यको कारण पहिले ही बना डालता है, यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि यों तो उस असत् कार्यके ही बनानेका प्रसंग आता है। उत्पत्तिके समय सत् ही कार्यको कारण बनाता है ऐसा कथन करनेसे तो क्यों नहीं सत्पक्ष ही आया। दोनों पक्षोंमें नैयायिक और जैन कार्यका बनाना सिद्ध नहीं कर सकते हैं। किसी द्रव्यकी अपेक्षासे सत् और पर्यायकी अपेक्षासे असत् कार्यको कारण बनाता है। यह स्याद्वाद पक्ष भी व्यवस्थित नहीं होता है। क्योंकि जिस स्वरूपसे कार्य सत् है उस स्वरूपसे उसका करना नहीं हो सकता है अन्यथा यानी बने हुये सत् स्वरूपका भी पुनः उत्पादन किया जाय तो कारणको अपनी आत्माके भी पुनः निष्पादन करनेका प्रसंग होगा। तथा जिस स्वरूपसे वह कार्य कथंचित् असत् है, उस स्वरूपसे भी वह कर्तव्यपनेको प्राप्त नहीं होता है, जैसे कि शशके (खरगोश) असत् सींग नहीं किये जाते हैं। इस प्रकार दोनों पक्षके दोषोंको स्थान मिल जानेसे स्याद्वादियोंका सत् असत्रूप कार्यका पक्ष लेना भी अनाकुल नहीं है यानी आकुलताको उत्पन्न कराता है। किसी भी ढंगसे कार्यको नहीं बनाता हुआ तो कोई साधन नहीं हो सकता है। तथा वास्तविकरूपसे देखा जाय तो कार्यकारण भावका असम्भव है, सो ही हमारे बौद्ध ग्रन्थोंमें यों कहा है।

" कार्यकारणभावोऽपि तयोरसहभावतः। प्रसिद्ध्यति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता कथम् ॥ " क्रमेण भाव एकत्र वर्तमानोन्यनिस्पृहः। तदभावेऽपि भावाच्च सम्बन्धो नैकवृत्तिमान् ॥ " यद्यपेक्ष्यतयोरेकमन्यत्रासौ प्रवर्तते। उपकारी ह्यपेक्ष्यः स्यात् कथं चोपकरोत्यसन् ॥ " यद्येकार्थाभिसम्बन्धात्कार्यकारणता तयोः। प्राप्ता द्वित्वादिसम्बन्धात् सव्येतरविषाणयोः ॥ " द्विष्ठो हि कश्चित्सम्बन्धो नातोन्यत्तस्य लक्षणम्। भावाभावोपधिर्योगः कार्यकारणता यदि ॥ " योगोपाधी न तावेव कार्यकारणतात्र किम्। भेदाच्चेन्नन्वयं शब्दो नियोक्तारं समाश्रितः ॥ " पश्यन्नेकमदृष्टस्य दर्शने तददर्शने। अपश्यन् कार्यमन्वेति विनाप्याख्यातृभिर्जनः ॥ " दर्शनादर्शने मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात्। कार्यादिश्रुतिरप्यत्र लाघवार्थं निवेशिता ॥ तद्भावभावात्तत्कार्यगतिर्याप्यनुवर्ण्यते। संकेतविषयाख्या सा सास्नादेर्गोगतिर्यथा ॥ भावे भाविनि तद्भावो भाव एव च भाविता। प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ॥ एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः कार्यकारणगोचराः। विकल्पाः दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्थान् घटितानिव ॥ भिन्ने का घटनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का।

भावे वान्यस्य विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्यातां कथं च तौ ॥ " इति । तदेतदसद्दूषणम् । स्वाभिमतेऽप्यकार्यकारणभावे समानत्वात् । तथाहि—

दूसरे उपाय स्वामित्वका निरूपण करते समय सामान्यरूपसे सम्बन्ध पदार्थमें पहिले दूषण दिया था । अब साध्यसाधनके प्रकरण अनुसार बौद्ध विशेषसम्बन्धमें भी दूषण देते हैं कि कार्यकारणभाव नामका सम्बंध भी समीचीन नहीं है । क्योंकि सम्बन्ध दोमें रहनेवाला होता है और कार्यकारणोंका एक कालमें साथ न रहनेके कारण द्विष्ठ सम्बन्धका असम्भव है । कारण समयमें कार्य नहीं है और कार्यकालमें कारण नहीं है । कार्यसे कारण पूर्वसमयवर्ती होता है । बैलके सीधे और डेरे सींगके समान समानकालवाले पदार्थोंमें कार्यकारण भाव नहीं होता है । तिस कारण साथ रहनेवाले दो सम्बन्धियोंमें रहनेवाला सम्बन्ध भला क्रमवर्ती क्षणिक कार्यकारणोंमें कैसे प्रसिद्ध होवेगा ? अर्थात् नहीं । तथा दोमें नहीं रहनेवाले पदार्थमें तो सम्बन्धपना असिद्ध ही है । अतः दोमें नहीं रहनेवाले कार्यकारणमें सम्बन्धपना कैसे सिद्ध हो सकता है ? (१) यहां कोई सम्बन्धवादी यदि यों कहे कि कारण अथवा कार्यमें वह सम्बन्ध क्रमसे वर्तेगा, बौद्ध कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं । क्योंकि क्रमसे भी सम्बन्ध नामका पदार्थ एक कारण अथवा कार्यमें वर्तता हुआ कार्य और कारणोंमेंसे एककी नहीं अपेक्षा रखकर एकही में वर्तनेवाला होकर तो सम्बन्ध नहीं बन सकता है । क्योंकि कार्य और कारणमेंसे एकके न होते हुए भी वह सम्बन्ध रह जाता माना गया है और केवल एकमें रहनेवाला तो सम्बन्ध होता नहीं है । (२) यदि फिर भी कोई सम्बन्धवादी यों कहे कि उन कार्य और कारणोंमेंसे एक कार्य अथवा कारणकी अपेक्षा करके बचे हुए दूसरे कार्य अथवा कारणमें वह सम्बन्ध क्रमसे वर्तता है । अतः अपेक्षा सहित होनेसे दोमें रहनेवाला ही माना जायगा । तब तो हम बौद्धोंका यह कहना है कि जिसकी अपेक्षा की जाती है, वह उपकारी होना चाहिये । क्योंकि उपकारीकी अपेक्षा होती है । अन्यकी कार्य अथवा कारणोंको अपेक्षा नहीं होती है । जब कि कार्यकालमें कारण और कारण—कालमें कार्यनामका भाव अविद्यमान है, तब वे किस प्रकार क्या उपकार कर सकेंगे ? खरविषाणके समान असत् पदार्थ तो यह इसका कार्य है और यह इसका कारण है इत्यादि उपकारोंको करनेमें समर्थ नहीं है । (३) यदि एक सम्बन्धरूप अर्थसे बन्ध जानेके कारण उन कार्यपन और कारणपनसे मान लिये गये क्रमवर्ती पदार्थोंमें कार्यकारणभाव माना जायगा, तब तो द्वित्व संख्या या बडे छोटे और दूरवर्ती निकटवर्ती पदार्थोंमें होनेवाले काल, देश, सम्बन्धी परत्व या अपरत्व अथवा विभाग, पृथक्त्व, आदिके सम्बन्धसे वह कार्यकारणभाव बैलके सीधे डेरे सींगोंमें भी प्राप्त हो जावेगा । दोनों सींगोंमें द्वित्व, विभाग, आदि विद्यमान हैं (४) इसपर कोई सम्बन्धवादी यदि यों कहे कि चाहे किसी भी द्वित्वसंख्या, परत्व, आदिके सम्बन्धसे हम कार्यकारणता नहीं मानते हैं, किन्तु सम्बन्ध नामक पदार्थसे जुड जानेपर कार्यकारणता मानते हैं । बौद्ध कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं । क्योंकि दोमें रहनेवाला ही कोई पदार्थ सम्बन्ध होगा ।

इस दो आदिमें वन्ध जानेसे भिन्न कोई उस सम्बन्धका लक्षण नहीं है। ऐसी दशामें इस सम्बन्धका द्वित्वसंख्या, पृथक्त्व, आदिकासे अन्तर कैसे व्यवस्थित करोगे ? अर्थात् सम्बन्धसे संख्या आदिमें कोई विशेषता नहीं है। यदि किसी कार्य या कारणके होनेपर होना और न होनेपर न होना इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा ये भाव और अभाव हैं विशेष जिसके ऐसे सम्बन्धको कार्यकारणता कहोगे (५) तब तो सभी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होते हैं, क्योंकि उन भाव अभावरूप विशेषणाको ही यहां कार्यकारणभाव क्यों न मान लिया जाय? असत् सम्बन्धकी कल्पना करनेसे क्या लाभ है ? यदि सम्बन्धवादी जैन यों कहें कि होनेपर होना न होनेपर न होना इस भाव अभावसे कार्य-कारणभाव सम्बन्धका भेद है, तब तो बहुतसे वाच्यअर्थ हुए जाते हैं। एक कार्यकारणभाव इस शब्द करके अन्वय, व्यतिरेकरूप प्रमेय कैसे कहा जा सकता है ? यहां कोई यदि यों नियम करे कि शब्द तो प्रयोग करनेवालेके अधीन होता है। नियोजन करनेवाला जिस शब्दका जिस प्रकार प्रयोग करता है। वह शब्द उस प्रकारके अर्थको भले प्रकार कह देता है। इस कारण अनेक अर्थोंमें भी एक शब्दका सुना जाना विरुद्ध नहीं है तो भी वे दो अन्वय व्यतिरेक ही कार्यकारणभाव हुए (हुआ) (६) जिस कारणसे कि जानने योग्य किन्तु कारणसे पहिले न देखे गये फिर भी वर्तमानमें कार्यनामक पदार्थके दर्शन होनेपर एक कारणपनसे मान लिये गये पदार्थको देखता हुआ और उस कारणके न देखनेपर कार्यको नहीं देखनेवाला मनुष्य " यह उससे उत्पन्न होता है। " इस बातको उपदेशक पुरुषोंके विना भी जान लेता है (७) तिस कारण दर्शन अदर्शन यानी इनके विषय स्वरूपमात्र और अभावको छोडकर कार्यबुद्धि कुछ नहीं सम्भवती है यह इसका कार्य है। इत्यादि शब्दव्यवहार भी लाघवके लिये निविष्ट किया गया है। अन्यथा पदपर जनसमुदायको इतनी लम्बी चौडी शब्दमाला कहनी पडेगी कि दर्शन, अदर्शनके, विषय मात्र, अभावरूप अन्वय, व्यतिरेक इन विवक्षित पदार्थोंके हैं। इतना शब्द समूह न कहना पडे। इसलिये " यह इसका कार्य है। " " यह इसका कारण है। " ऐसा शब्द बोल दिया जाता है। (८) अतः अन्वय, व्यतिरेकको छोडकर अन्य कोई कार्य कारणता नहीं है। फिर वह भाव, अभावसे क्यों साधी जाती है ? सम्बन्धवादी पुरुष उसके भाव अभावसे हेतु द्वारा जो कार्यपनेका ज्ञान होना वर्णन करते हैं, वह भी इस कारणका यह कार्य है और इस कार्यका यह कारण है। इस संकेतको ही विषय करती है। वस्तुभूत कार्यकारण भावको नहीं जताती है। जैसे कि सास्ना [गल कम्बल] सींग, ककुद, [ढांट] पूंछके अन्तमें बालोंका गुच्छा, इत्यादिक करके जैसे गौका ज्ञान कर लिया जाता है। यहां गौ और सास्ना आदिका कार्यकारणभाव तो नहीं है। ज्ञाप्यज्ञापक मात्र भले ही होय। (९) जिससे कि कार्य नामक पदार्थके भवन होनेपर उस कारणका भाव होना ही कारणत्व है। और कारणके होनेपर ही कार्यका होना कार्यत्व है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे हेतुता, कार्यता, दोनों प्रसिद्ध हो रही हैं। (१०) तिस कारण भाव, अभाव,

ही कार्यकारणता है, उससे भिन्न नहीं। अतः केवल इतने ही भाव और अभावरूप तत्त्वको विषय लेकर उत्पन्न होनेवाले झूंठे विकल्पज्ञान कार्य, कारणोंको विषय कर रहे हैं, और असत्य अर्थको विषय करनेवाले वे विकल्पज्ञान प्रत्येक असम्बद्ध पदार्थोंको भी परस्पर सम्बद्धोंके समान दिखला देते हैं (११)। दूसरी बात हम यह पूंछते हैं कि यह कार्यकारणभावको प्राप्त हुआ अर्थ क्या भिन्न है या अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो सर्वथा भिन्न पदार्थमें संयोजना कैसे हो सकती है ? क्योंकि वे तो अपने अपने न्यारे स्वभावोंमें व्यवस्थित हो रहे हैं। यदि अभिन्न मानोगे तो अभिन्न यानी अकेलेमें कार्यकारणता भी क्या होगी ? अर्थात् नहीं। सम्बन्धवादियोंका यह भी विचार हो कि हम भिन्नका या सर्वथा अभिन्नका सम्बन्ध नहीं मानते, किन्तु एक सम्बन्ध नामके पदार्थसे जडे हुए पदार्थोंका सम्बन्ध मानते हैं। इसपर भी हम बौद्ध पूछेंगे कि न्यारे पडे हुए भिन्न सम्बन्धके विभक्त पडे रहनेपर वे कार्यकारणरूप दो पदार्थ भला मिले हुए (चिपके हुए) कैसे हो सकेंगे ? अर्थात् नहीं मिल सकते हैं (१२)। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि सो इस प्रकार बारह कारिकाओं द्वारा बौद्धोंका जैनोंके ऊपर ये दूषण उठाना समीचीन नहीं है। क्योंकि विशेष सम्बन्ध कार्यकारणभावमें जैसे ये दोष लगाये जाते हैं, वैसे ही बौद्धोंको अपने माने गये अकार्य-कारणभावमें भी समानरूपसे वे दोष लागू हो जाते हैं। तिसीको स्पष्टकर कहते हैं। प्रतिनारा-यणके द्वारा नारायणके ऊपर चलाया हुआ चक्र पुनः उसीपर आघात करता है। वैसे ही सम्बन्ध-वादियोंके ऊपर बौद्धोंका बारह कारिकाओं द्वारा कुचक्र चलाना उनके ऊपर ही पडता है। देखिये।

अकार्यकारणभावो द्विष्ठ एव कथमसहभाविनोः कार्यकारणत्वाभ्यां निषेध्ययोरर्थयो-र्वर्तते। न चाद्विष्ठोऽसौ सम्बन्धाभावत्वविरोधात्। पूर्वत्र भावे वर्तित्वा परत्र क्रमेण वर्तमानोऽपि यदि सोऽन्यनिस्पृह एवैकत्र तिष्ठन् कथमसम्बन्धः ? परस्य ह्यनुपपन्नस्याभावोऽपि पूर्वत्र वर्तमानः पूर्वस्य च नष्टत्वेनाभावेऽपि परत्र वर्तमानोसावेकवृत्तिरेव स्यात्। पूर्वत्र वर्तमानः परमपेक्षते परत्र च तिष्ठन्पूर्वमतोऽसम्बन्धो द्विष्ठो एवान्यनिस्पृहत्वाभावादिति चेत् कथमनुपकारं तयोत्तरमपेक्ष्यतेऽति प्रसंगात्। सोपकारकमपेक्षत इति चेत् नासतस्तदोपकार-कत्वायोगात्। यदि पुनरेकेनाभिसम्बन्धात्पूर्वपरयोरकार्यकारणभावस्तदा सव्येतरविषा-णयोः स स्यादेकेन द्वित्वादिनाभिसम्बन्धात्। तथा च सिद्धसाध्यता। द्विष्ठो हि कश्चिदस-म्बन्धो नातोन्यस्तस्य लक्षणं येनाभिमतसिद्धिः। यदि पुनः पूर्वस्याभाव एव यो भावो-भावेऽभावस्तदुपाधियोगोऽकार्यकारणभावस्तदा तावेव भावाभावावयोगोपाधी किं नाऽकार्य-कारणभावः स्यात्, तयोर्भेदादिति चेत्, शब्दस्य नियोक्तृसमाश्रितत्वेन भेदेऽप्यभेदवाचिनः प्रयोगाभ्युपगमात्। स्वयं हि लोकोऽयमेकमदृष्टस्य दर्शनेऽप्यपश्यंस्तददर्शने च पश्यन् विना-प्याख्यातृभिरकार्यमवबुध्यते। न च तथा दर्शनादर्शने मुक्त्वा काचिदकार्यबुद्धिरस्ति। न च तयोरकार्यादिश्रुतिर्विरुध्यते लाघवार्थत्वात् तन्निवेशस्य। या पुनरतद्भावाभावादकार्यगतिरुप-

वर्ण्यते सा संकेतविषयाख्या, यथा असास्नादेरगोगतिः। नैतावता तत्त्वतोकार्यकारणभावो नाम। भावे हि अभाविनि वा भाविता अहेतुफलते प्रसिद्धे। प्रसिद्धे प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामेव। तदेतावन्मात्रतत्त्वार्था एवाकार्यकारणगोचरा विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्थान् स्वयमघटितानपीति समायातम्। भिन्ने हि भावे का नामाघटना तत् कान्यावभासते ? येनासौ तात्त्विकी स्यात्। अभिन्ने सुतरां नाघटना। न च भिन्नावर्थौ केनचिदकार्यकारणभावेन योगादकार्यकारणभूतौ स्याताम्। सम्बंधविधिप्रसंगात्। तदेवं न तात्त्विकोऽर्थो नामाकार्यकारणभावो व्यवतिष्ठते कार्यकारणभाववत्।

हम भी बौद्धोंसे पूंछते हैं कि आपका माना हुआ अकार्यकारणभाव भी दोमें रहनेवाला ही होगा। तब कार्यपन और कारणपनेसे निषेधे गये दो असहभावी अर्थोंमें वह भला कैसे वर्तेगा। हां! सहभावियोंमें तो विभागके समान रह भी जाता और वह अकार्यकारणभाव दोमें न रहे, यह तो ठीक नहीं। क्योंकि यों तो उसको सम्बन्धाभावपनेका विरोध होता है। पहिले भावमें वर्त करके फिर दूसरेमें वर्तता हुआ भी वह यदि अन्यकी स्पृहा नहीं करेगा तो एकमें ठहरनेवाला वह असम्बन्ध भी भला कैसे हो सकता है ? अभी तक नहीं उत्पन्न हुए परवर्ती पदार्थके न होनेपर भी पूर्व समयवर्ती पदार्थमें वर्तता हुआ और पूर्व पदार्थके नष्ट होनेके कारण अभाव हो जानेपर भी उत्तर समयवर्ती परपदार्थमें वर्त रहा वह असम्बन्ध एकमें ही स्थित होगा। यदि वहां बौद्ध यों कहें कि पहिलेमें वर्त रहा असम्बन्ध परकी अपेक्षा करता है और परसमयवर्ती पदार्थमें ठहरता हुआ पूर्व समयवर्ती पदार्थकी अपेक्षा रखता है। अतः अन्यकी निस्पृहता न होनेके कारण असम्बन्ध दोमें रहनेवाला ही है। ऐसे कहनेपर तो हम जैन कटाक्ष करेंगे कि नहीं उपकार करनेवाले तिस प्रकार उत्तर पदार्थकी वह अपेक्षा क्यों करेगा ? अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। यानी चाहे कोई भी चाहे जिस उपकार न करनेवालेकी अपेक्षा कर बैठेगा। यदि सहित होकर उपकार करनेवालेकी वह अपेक्षा करता है ऐसा कहोगे सो तो ठीक नहीं। क्योंकि उस समय अविद्यमान पदार्थको उपकारकपनेका अयोग है। यदि फिर किसी एक पदार्थसे पूरा सम्बन्ध हो जानेके कारण पूर्व उत्तर पदार्थोंमें अकार्यकारणभाव माना जायगा, तब तो बैलके डेरे और सीधे सींगोंमें भी अकार्यकारणभाव हो जाना चाहिये। क्योंकि द्वित्व, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, आदि एक पदार्थ करके ठीक सम्बन्ध हो रहा है और वैसा होनेपर तो हमको सिध्यसाध्यपना (सिद्धसाधन) ही है। यानी यों तो सम्बन्ध पुष्ट हो जाता है। यही तो हम साधना चाहते हैं। कोई भी जो असम्बन्ध होगा वह दो आदि पदार्थोंमें ठहरनेवाला ही होगा। इससे भिन्न और कोई उसका लक्षण नहीं है। जिससे कि आप बौद्धोंका अभीष्ट सिद्ध हो सके। यदि फिर आप बौद्ध यों कहें कि पूर्ववर्ती पदार्थके अभाव होनेपर ही जो परवर्ती पदार्थका भाव है। और पूर्वके भाव होनेपर परका जो अभाव है, उसको विशेषण रखनेवाला अयोग ही अकार्यकारण भाव है। तब तो वे भाव,

अभाव, ही अयोग विशेषणवाले होकर क्यों नहीं अकार्यकारण भाव मान लिये जांय । असत् असम्बन्धकी कल्पनासे क्या लाभ ? यदि बौद्ध यों कहें कि भाव, अभावके साथ उस अकार्यकारण भावका विशेष्यविशेषण होनेके कारण उनमें भेद है । अतः वह अयोग ही अकार्यकारण भाव नहीं हो पाता । इसपर हम जैन भी वही कहेंगे जो कि आपने पहिले हमारे ऊपर कटाक्ष किया था । शब्द तो नियोक्ताके अधीन होकर प्रवर्तता है । प्रयोक्ता जिस प्रकार एक अर्थ या अनेक अर्थवाले शब्दको बोलता है, वह शब्द द्विरेफ, सरोज, तादात्म्य, अब्ज, पुष्कर, आदिके समान वैसे अर्थको कह देता है । इस कारण भेद होनेपर भी अभेदको कहनेवाले शब्दका प्रयोग करना मान लिया गया है । अतः अकार्यके वर्तमानमें दर्शन होनेपर भी एक अकारणको नहीं देखता हुआ और उसके नहीं दीखनेपर देखता हुआ यह जन समुदाय व्याख्याताओंके बिना भी यह इसका अकार्य है, यह इसका अकारण है, ऐसा स्वयं समझ लेता है । दर्शन अदर्शन या इनके विषयभाव अभावको छोडकर कहीं भी अकार्यबुद्धि नहीं होती है, तथा भाव अभाव ही अकार्य हैं और अकारण हैं इत्यादि शब्दप्रयोग भी उन दोनोंमें विरुद्ध नहीं पडते हैं । क्योंकि उन शब्दोंका निवेश करना लाघवके लिये है । जो भी फिर उस भाव, अभावके न होनेसे अकार्यपनेका ज्ञान होना कहा जाता है । वह केवल संकेतको जतानेवाली संज्ञा है । जैसे कि सास्ना आदिकके अभावसे गोसे भिन्न अगो पदार्थका ज्ञान कर लिया जाता है, इतने करके ही परमार्थरूपसे अकार्यकारणभाव कैसे भी नहीं बनता है । अतः अकार्यरूपभावके न होनेपर अकारणका होना अथवा अकारणके न होनेपर अकार्यका होना ही अहेतु कल्पना प्रसिद्ध है । इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे ही अकार्यता और अकारणता प्रसिद्ध हो जाती हैं । बस इतना ही वह केवल तत्त्वअर्थ है । जिसका ऐसे अकार्यकारणको विषय करनेवाले विकल्पज्ञान स्वयं सम्बद्ध पदार्थोंको भी असम्बद्धोंके समान दिखला देते हैं । तभी तो वे झूंठे अर्थको विषय करनेवाले हैं । यह सिद्धान्त प्राप्त हुआ । परिशेषमें यह कहना है कि भिन्न पदार्थमें भला असम्बन्ध भी क्या हो सकता है ? और वह असम्बन्ध भिन्न होकर कहां प्रतिभासता है ? अर्थात् वह अघटना न्यारी होकर कहीं नहीं दीखती है । जिससे कि वह असम्बन्ध वास्तविक हो जाय और अभिन्नमें तो सुलभतासे ही असम्बन्ध नहीं हो सकता है, तथा भिन्न पडे हुए अर्थ भी यदि किसी अकार्यकारणभावसे बन्ध जानेके कारण अकार्य और अकारणस्वरूप हो जायेंगे, तब तो यों बौद्धोंको वास्तविक सम्बन्धके विधान करनेका प्रसंग आ जावेगा । तिस कारण इस प्रकार अकार्यकारणभाव भी वास्तविक अर्थ कैसे भी सिद्ध नहीं होता है, जैसे कि बौद्धोंके यहां कार्यकारणभाव नहीं बनता है ।

स्वस्वभावव्यवस्थितार्थान् विहाय नान्यः कश्चिदकार्यकारणभावोस्त्विति । तथा व्यवहारस्तु कल्पनामात्रनिर्मित एव कार्यकारणव्यवहारवदिति चेत् तर्हि वास्तव एव कार्य-

कारणभावोऽकार्यकारणभाववत् । केवलं तद्व्यवहारो विकल्पशब्दलक्षणो विकल्पनिर्मित इति किमनिष्टम् ।

आप बौद्ध यदि यों कहें कि अपने अपने स्वभावमें व्यवस्थित हो रहे अर्थोको छोडकर कोई अन्य अकार्यकारणभाव नहीं है, यही ठीक रहो । फिर अकार्यकारणपनेका जो लोकमें व्यवहार हो रहा है । वह तो केवल कल्पनासे ही गढ लिया गया ही है । जैसे कि कार्यकारणभावका व्यवहार कल्पित हो रहा है । इस प्रकार कहनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो वास्तविक ही अकार्यकारणभावके समान वस्तुभूत कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है । हां ! केवल उनका व्यवहार तो विकल्पज्ञान या शब्दस्वरूप होता हुआ सच्ची कल्पनाओंसे बनाया गया है । ऐसा माननेमें क्या अनिष्ट होता है ? अर्थात् अकार्यकारणभाव और कार्यकारणभाव ये दोनों ही वस्तुओंके स्वभाव हैं । जैसे कि आत्मा और आकाशका अकार्य और अकारणभाव इन दोनोंका स्वभावभूत है, तथा ज्ञान [मतिज्ञान] और आत्माका कार्यकारणभाव भी आत्मा और ज्ञानका स्वभाव हो रहा है । ऐसे अपने अपने स्वभावोंमें पदार्थ व्यवस्थित हो रहे हैं । संसारमें स्वभाव और स्वभाववानोंके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है । एक बात यह है कि सर्वज्ञदेव स्वकीय केवलज्ञानसे कार्यकारण भावका व्यवहार नहीं करते हैं । क्योंकि व्यवहार करनेमें श्रुतज्ञानों या नयज्ञानोंका अधिकार है । यद्यपि अनेक व्यवहार और कल्पनायें वस्तुभूत परिणामोंकी भित्तिपर अवलम्बित हैं । फिर भी व्यावहारिक ज्ञान या शब्दोंके यथार्थ विषयभूतका निर्णय करनेपर वे प्रवक्तव्य ठोस वस्तुके हृदयको नहीं पा सकते हैं । सर्वज्ञदेव ठोस वस्तु या वस्त्वंशोंको जानते हैं । देखो, नैगमनयके भविष्यमें कोई कोई नहीं परिणमनेवाले संकल्पितविषयोंको पारिणामिक मुद्रासे सर्वज्ञ नहीं जान पाते हैं । इस तक्षक [बढई] के नैगमनयने प्रस्थको जाना है इसको भले ही सर्वज्ञ जान लेवें, किन्तु जो काष्ठ आवश्यकतावश मुद्गर बनाया जाकर प्रस्थ नहीं हो सका है, उस परिणामको सर्वज्ञ भला कैसे जान सकते हैं ? नैगमनयवालेने सर्वज्ञको कोई लांच [घूंस] तो नहीं देदी है । इसी प्रकार हमारे झूंठे सांचे बहुतसे संकल्पित विकल्पित विषयोंको भी सर्वज्ञ विषय नहीं करते हैं । हमको धन, पुत्र, कलत्र विषयसेवनमें इष्टताकी कल्पना है । शत्रु, कटुऔषधि, सदुपदेशमें अनिष्टताका व्यवहार हो रहा है । हमारी इस इच्छा या ज्ञानको वे जान लेवें, किन्तु जब पदार्थका वैसा परिणाम ही इष्ट अनिष्ट कल्पनाके विषयस्वरूप नहीं है तो अवक्तव्य ज्ञानधारी सर्वज्ञ हमारी कल्पना अनुसार उन विषयोंको तदात्मक कैसे जान सकते हैं ? एतावता भले ही वे असर्वज्ञ हो जाय, अनेकान्तवादियोंको यह उपालम्भ असह्य नहीं है ।

वस्तुरूपयोरपि कार्यकारणभावे तयोरभावो वस्तु चेति न तु युक्तं, व्याघातात् क्वचिन्नीलेतरस्वाभाववत् । ततो यदि कुतश्चित् प्रमाणादकार्यकारणभावः परमार्थतः केषांचिदर्थानां सिध्येत् तदा तत एव कार्यकारणभावोऽपि प्रतीतेरविशेषात् यथैव हि गवादी-

नामसाध्यसाधनभावः परस्परमतद्भावभावित्वप्रतीतेर्व्यवतिष्ठते तथाग्निधूमादीनां साध्यसाधनभावोऽपि तद्भावभावित्वप्रतीतेर्बाधकाभावात् ।

वस्तुस्वरूप भी पदार्थोका कार्यकारण भाव माननेपर फिर उनका अभाव कहना और उन कार्यकारणके अभावको वस्तु कहना यह तो युक्त नहीं है। क्योंकि ऐसा कहनेमें व्याघातदोष है। अर्थात् दोनों वाक्य परस्पर विरोधी हैं। जैसे कि किसी पदार्थमें नीलेसे भिन्नपना स्थापकर पुनः उसमें नीलेतरपनेका अभाव कहना व्याघातयुक्त होता है। तिस कारण किसी भी प्रमाणसे किन्हीं अर्थोका यदि परमार्थरूपसे अकार्यकारणभाव सिद्ध करोगे, तब तो तिस ही कारण कार्यकारणभाव भी सिद्ध हो जावेगा। दोनोंकी प्रतीतियोंका कोई अन्तर नहीं है। जिस ही प्रकार गौ, भैंस पुस्तक, चौकी, आदिका परस्परमें अन्वय, व्यतिरेकसे होने न होनेपनकी नहीं प्रतीत होनेके कारण असाध्यसाधनपना व्यवस्थित हो रहा है। तिसी प्रकार अग्नि, धूम, अनित्यत्व, कृतकत्व, आदिकोंका उसके होनेपर होनापन प्रतीत होनेसे साध्यसाधन भाव भी व्यवस्थित हो जाता है, कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः ज्ञाप्य ज्ञापक और कार्यकारणभावको प्राप्त हुए पदार्थोंमें साध्यसाधनपना प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है।

नन्वकस्मादग्निं धूमं वा केवलं पश्यतः कारणत्वं कार्यत्वं वा किं न प्रतिभातीति चेत् किं पुनरकारणत्वमकार्यत्वं वा प्रतिभाति ? सातिशयसंविदां प्रतिभात्येवेति चेत्, कारणत्वं कार्यत्वं वा तत्र तेषां न प्रतिभातीति कोशपानं विधेयम् । अस्मदादीनां तु तदप्रतिभासनं तथा निश्चयानुपपत्तेः क्षणक्षयादिवत् ।

बौद्ध शंका करते हैं कि किसी भी कारणवश नहीं किन्तु यों ही केवल अग्नि अथवा अकेले धूमको देखनेवाले पुरुषको अग्निमें कारणपन और धूममें कार्यपना भला क्यों नहीं प्रतिभासता है ? जब कि वह उसका स्वभाव है तो अग्निके दीखनेपर उसकी कारणता या साध्यता भी अवश्य दीखजानी चाहिये। तथा बालकके द्वारा भी धूमके दीख जानेपर उसका कार्यपन या हेतुता स्वभाव भी प्रतीत हो जाना चाहिये था। ऐसा कहोगे तब तो हम जैन भी कटाक्ष करते हैं कि आपकी मानी हुयी वह्निमें अकारणता तथा धूममें अकार्यता क्या फिर ज्ञात हो जाती है ? तुम्ही बताओ। यदि आप बौद्ध यों कहो कि चमत्कारक विशेष बुद्धिमानोंको तो उनकी अकारणता और अकार्यता प्रतिभास जाती ही है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि उन वह्नि धूमोंमें प्रतिभाशाली विद्वानोंको कारणता अथवा कार्यता नहीं दीखती है। इस विषयकी आपने सौगन्द करली है। अर्थात् विचारशाली पुरुषोंको तो वहां कार्यता और कारणता भी दीख जाती है। हां ! हम सारिखे साधारण लोगोंको तो तिस प्रकार निश्चय न होनेके कारण इनका प्रतिभास नहीं होता है। जैसे कि स्वलक्षणका प्रत्यक्ष हो जानेपर भी उसके अभिन्न स्वभाव क्षणिकपनेका निश्चय न होनेसे प्रत्यक्ष द्वारा उल्लेख्यज्ञान नहीं हो पाता आपने माना है। यद्यपि दृष्टान्त उभयको मान्य होना चाहिये

किन्तु अकेले प्रतिवादीको भी मान्य होय तो भी वादी अपने सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये प्रतिवादीके प्रति उसका प्रयोग कर अपना प्रयोजन साध सकता है ।

तथोभयत्र समानम् । यथैव हि तद्भावभावित्वानध्यवसायिनां न क्वचित्कार्यत्वकारणत्वनिश्चयोस्ति तथा स्वयमतद्भावभावित्वाध्यवसायिनामकार्यकारणत्वनिश्चयोऽपि प्रतिनियतसामग्रीसापेक्षकत्वाद्वस्तुधर्मनिश्चयस्य । न हि सर्वत्र समानसामग्रीप्रभवो निर्णयस्तस्यान्तरंगबहिरंगसामग्रीवैचित्र्यदर्शनात् ।

तिस प्रकार निश्चय न बननेके कारण कार्यकारणभावका या अकार्यकारणभावका साधारण जीवको ज्ञान न होना दोनोंमें एकसा है । जैसे ही उस कारणके होनेपर उस कार्यके होनेपनका नहीं निर्णय करनेवालोंको कुलाल घट या वन्हि धूम आदि किसी भी पदार्थमें कार्यपन और कारणपनका निश्चय नहीं हो पाता है, तिसी प्रकार स्वयं उसके न होनेपर होनेपनका नहीं व्यवसाय करनेवाले पुरुषोंको अकार्यपन और अकारणपनका निश्चय भी कहीं आकाश और आत्मामें नहीं हो पाता है । धर्मीके देखनेपर ही शीघ्र उसके धर्मोंका भी निर्णय हो जाय, यह कोई नियम नहीं है । क्योंकि वस्तुके धर्मोंका निश्चय होना प्रत्येक नियतसामग्रीकी अपेक्षा रखनेवाला है । सभी स्थलोंपर धर्मी और धर्मोंकी सदृश सामग्रीसे ही निर्णय उत्पन्न हो जाय । ऐसी कोई राजाकी आज्ञा नहीं है । उस निर्णयके अन्तरङ्ग और बहिरंग कारणोंकी विचित्रता देखी जाती है । कहीं धर्मीका ज्ञान होनेपर भी धर्मोंका ज्ञान नहीं होता है और कहीं धर्मका ज्ञान हो जानेपर भी धर्मीका विशदज्ञान नहीं हो पाता है । कोई विद्वान् सूक्ष्मतत्त्वोंका निर्णय कर लेते हैं, किन्तु स्थूल लौकिक सूत्रोंको नहीं जान पाते हैं । शेष मनुष्य मोटी ऊपरी बातोंको जानकर सूक्ष्म रहस्योंके ज्ञानसे कोरे रह जाते हैं । भीतमें बनी हुयी सिगडीकी अग्निके उष्णपन धर्मका ज्ञान हो जाय किन्तु छिपी आगका ज्ञान न हो सके तथा औषधिका चाक्षुष प्रत्यक्ष भले ही हो जाय किन्तु उसके धर्मोंका ज्ञान न होवे । अन्तरंग क्षयोपशम और बहिरंग शिक्षक, भक्ष्य, आचार, आदिकी परिस्थितिसे ज्ञानोंकी अनेक जातियां हो जाती हैं ।

धूमादिज्ञानसामग्रीमात्रात्तत्कार्यत्वादिनिश्चयानुत्पत्तेः न कार्यत्वादि धूमादिस्वरूपमिति चेत् तर्हि क्षणिकत्वादिरपि तत्स्वरूपं माभूत्तत एव । क्षणिकत्वाभावे वस्तुत्वमेव न स्यादिति चेत् कार्यत्वकारणत्वाभावेऽपि कुतो वस्तुत्वं खरशृंगवत् । सर्वथाप्यकार्यकारणस्य वस्तुत्वानुपपत्तेः कूटस्थवत् क्षणिकैकान्तवद्वा विशेषासम्भवात् ।

बौद्ध कहते हैं धूआं, आग, आदिके ज्ञानोंकी सामान्य सामग्रीसे उनके कार्यपन, कारणपन, आदिका निश्चय उत्पन्न नहीं होता है । अतः कार्यत्व या कारणपन आदि तो धूम, अग्नि, आदिके स्वभाव नहीं हैं । ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो तिसी कारण उन नील आदि स्वलक्षणोंके भी क्षणिकपन, सूक्ष्मपन, असाधारणपन, आदि स्वरूप न होओ । क्योंकि आप बौद्धोंने

स्वलक्षणको जानने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ही क्षणिकपन, आदिका निश्चय होना नहीं माना है। यदि बौद्ध यों कहें कि क्षणिकपनके बिना तो पदार्थोंका वास्तविकपना ही न हो सकेगा, ऐसा कहने पर तो हम भी कहेंगे कि कार्य और कारणपनके अभाव होने पर भी वस्तुत्व कहांसे ठहर सकेगा ? जैसे कि किसीका कार्यकारण न होनेसे गधाका सींग कोई वस्तु नहीं है। जो सभी प्रकारोंसे कार्यरूप या कारणरूप नहीं है उसको वस्तुपना असिद्ध है जैसे कि सांख्योंका माना गया कूटस्थ आत्मा अथवा आपका माना हुआ पदार्थोंके एकक्षणस्थायीपनेका एकान्त अवस्तु है। अर्थक्रियाको न कर सकने या अर्थक्रिया न होनेके कारण नित्य, कूटस्थ और क्षणिक एकान्तमें अन्तर होनेका असम्भव है। अर्थात् जो किसीका कार्य नहीं है अथवा—किसीका कथंचित् कारण जो नहीं है वह परमार्थरूप पदार्थ नहीं है।

ननु च सदपि कार्यत्वं कारणत्वं वा वस्तुत्वस्वरूपं न सम्बन्धोऽद्विष्ठत्वात्, कार्यत्वं कारणे हि न वर्तते कारणत्वं वा कार्ये येन द्विष्ठं भवेत्, कार्यकारणभावस्तयोरेको वर्तमानः सम्बन्ध इति चेन्न तस्य कार्यकारणाभ्यां भिन्नस्याप्रतीतेः सतोपि प्रत्येकपरिसमाप्त्या तत्र वृत्तौ तस्यानेकत्वापत्तेः, एकदेशेन वृत्तौ सावयवत्वानुषक्तेः सावयवेष्वपि वृत्तौ प्रकृतपर्यनुयोगस्य तदवस्थत्वादनवस्थानावतारात्। कार्यकारणान्तराले तस्योपलम्भप्रसंगाच्च ताभ्यां तस्याभेदेऽपि कथमेकत्वं भिन्नाभ्यामभिन्नस्य भिन्नत्वविरोधात्। स्वयमभिन्नस्यापि भिन्नार्थैस्तादात्म्ये परमाणोरेकस्य सकलार्थैस्तादात्म्यप्रसंगादेकपरमाणुमात्रं जगत् स्यात् सकलजगत्स्वरूपो वा परमाणुरिति भेदाभेदैकान्तवादिनोरुपालम्भः स्याद्वादिनस्तथानभ्युपगमात्। कार्यकारणभावस्य हि सम्बन्धस्याबाधिततथाविधप्रत्ययारूढस्य स्वसम्बन्धिनो वृत्तिः कथंचित्तादात्म्यमेवानेकान्तवादिनोच्यते स्वाकारेषु ज्ञानवृत्तिवत्।

फिर भी बौद्ध अनुज्ञा करते हुए उलाहना देते हैं कि कार्यत्व और कारणत्व ये सद्भूत होते हुए भी वस्तुस्वरूप तो हैं, किन्तु सम्बन्ध नहीं हो सकते हैं। क्योंकि आप जैनोंने सम्बंध दो आदिमें रहनेवाला माना है और वे दोमें नहीं ठहरते हैं। कार्यपना कारणमें नहीं है और कारणपना कार्यमें नहीं ठहरता है, जिससे कि वह दोमें ठहर जाता। यदि कोई सम्बन्धवादी यों कहे कि उन दोनोंमें वर्त रहा एक कार्यकारणभाव नामका संबंध हो जायगा। बौद्ध कहते हैं कि सो तो न कहना। क्योंकि कार्य और कारणोंसे भिन्न होते हुए उस कार्यकारणभावकी प्रतीति नहीं हो रही है। यदि आप जैनोंके कहनेसे उनमें कार्यकारणभावको विद्यमान भी मान लें तो भी उस कार्यकारणभाव सम्बन्धकी उन कार्य और कारणोंमें प्रत्येकमें परिपूर्णरूपसे वृत्ति मानी जायगी ? तब तो वह सम्बन्ध अनेकपनको प्राप्त हो जायगा। क्योंकि जो पदार्थ एक ही समय अपने पूरे शरीरसे दोमें रहता है, वह एक नहीं है। वस्तुतः वे दो हैं। हां ! यदि आप जैन उस मध्यवर्ती एक सम्बन्धको कुछ एक देशसे कारणमें और दूसरे एक देशसे कार्यमें वर्तनेवाला मानोगे तो अनेकपनका

प्रसंग तो दूर हो जायगा, किन्तु उस सम्बन्धको अवयवसहितपनेका प्रसंग हो जायगा। जो सावयव है, वही एक एक भागसे अनेकोंमें ठहर सकता है। जैसे कि पांच अंगुली और एक हथेलीवाला देह अपने एक एक देशसे पांच अंगुली और हथेलीवाले दक्षिण पाणिपर संयुक्त हो जाता है। तब तो फिर उन एक एक देशस्वरूप अपने अवयवोंमें भी अवयवीकी एक देशसे ही वृत्ति मानी जायगी तो फिर भी प्रकरणप्राप्त प्रश्न उठाना जैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा। अतः अनवस्था दोष उतर आता है। दूसरी बात यह है कि कार्य और कारणके मध्यमें रहनेवाले उस कार्यकारणभावके उपलम्भ होनेका प्रसंग होवेगा। जैसे कि दो कपाटोंके मध्यमें सांकल दीखती है किन्तु धूम और अग्निके मध्यमें रहता हुआ कार्यकारण भाव तो दीखता नहीं है। अन्यथा बालक या पशुको भी धूम, अग्निके समान वह दीखना चाहिये था। उन कार्य और कारणोंसे उस सम्बन्धका अभेद माननेपर भी वह सम्बन्ध भला एक कैसे हो सकता है ? जो दो भिन्न पदार्थोंसे अभिन्न है, उसको एकपनका विरोध है। दोसे अभिन्न दो ही होंगे। स्वयं अभिन्न (एक) होते हुए भी पदार्थका यदि भिन्न अर्थोंके साथ तादात्म्य माना जायगा, तब तो एक परमाणुका भी सम्पूर्ण पदार्थोंके साथ तादात्म्य हो जानेका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें पूरा जगत् केवल एक परमाणुस्वरूप हो जायगा। अथवा एक परमाणु ही सम्पूर्ण जगत्स्वरूप बन बैठेगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार भेद एकान्त या अभेद एकान्तको माननेवाले दोनों वादियोंकी ओरसे दिया गया उलाहना उन हीके ऊपर लागू होता है। जैनोंके ऊपर नहीं। क्योंकि स्याद्वादियोंके यहां तिस प्रकार एकान्त नहीं माने गये हैं। अनेकान्तवादी तो यों कहते हैं कि तिस प्रकारके बाधारहित ज्ञानोंमें आरूढ होरहे कार्यकारणभाव नामक सम्बन्धकी अपने प्रतियोगी, अनुयोगी, रूप सम्बन्धियोंमें कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्धरूप ही वृत्ति है। जैसे कि बौद्धोंने ज्ञानकी अपने आकारोंमें कथञ्चित्तादात्म्यरूप वृत्ति मानी है। अर्थात् ज्ञान एक होकर भी अनेक आकारोंमें वर्त्तता हुआ जैसे माना गया है, वैसे ही एक सम्बन्ध भी अनेक सम्बन्धियोंमें कथञ्चित् तादात्म्यसम्बन्धसे वर्त्त रहा है।

कुतोऽनेकसम्बन्धितादात्म्ये कार्यकारणभावस्य सम्बन्धस्यैकत्वं न विरुध्यते इति चेत् । नानाकारतादात्म्ये ज्ञानस्यैकत्वं कुतो न विरुद्ध्यते ? तदशक्यविवेचनत्वादिति चेत् तत एवान्यत्रापि कार्यकारणयोर्हि द्रव्यरूपतयैकत्वात् कार्यकारणभावस्यैकत्वमुच्यते न च तस्य शक्यं विवेचनत्वं मृद्द्रव्यात् कुशूलघटयोर्हेतुफलभावेनोपगतयोर्द्रव्यान्तरं नेतुमशक्तेः । क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात् । न चैवंविधः कार्यकारणभावः सिद्धान्तविरुद्धः ।

जैनोंके प्रति बौद्ध पूंछते हैं कि अनेक सम्बन्धियोंके साथ तदात्मकपना हो जानेपर कार्यकारणभाव सम्बन्धका एकपना कैसे नहीं विरुद्ध होता है ? देखो, सम्बन्धी एक आकाशके साथ तादात्म्य रखता हुआ परम महापरिणाम एक है और अनेक शुद्ध आत्माओंमें तादात्म्य सम्बन्धसे वर्तनेवाले

केवलज्ञान अनेक हैं। इसी प्रकार कार्य और कारण इन दो सम्बन्धियोंमें तादात्म्य सम्बन्धसे ठहरनेवाला कार्यकारणभावसम्बन्ध भी दो हो जावेंगे, इस प्रकार कटाक्ष करनेपर तो हम जैन भी पूंछते हैं कि आप बौद्धोंके यहां नील, पीत, आदि अनेक आकारोंमें तादात्म्यसे वृत्ति होने पर ज्ञानका एकपना क्यों नहीं विरुद्ध होता है ? इस पर यदि आप बौद्ध यों उत्तर दें कि उस एक ज्ञानका उसके अनेक आकारोंमेंसे पृथग्भाव नहीं किया जा सकता है। तब तो हम जैन भी वही उत्तर देदेंगे कि तिस ही कारण दूसरे स्थल यानी सम्बन्धमें भी यही कहा जा सकता है कि एक कार्यकारणभाव सम्बन्धका दो आदि सम्बन्धियोंमेंसे पृथक् करना अशक्य है। जैसे कि दो पदार्थोंमें द्वित्व संख्या अकेली होकर तदात्मक ठहर जाती है। वैशेषिकोंने भी द्वित्व या त्रित्व संख्याका पर्याप्ति सम्बन्धसे दो या तीन द्रव्योंमें ठहरना माना है। इस विषयमें जैन सिद्धान्त ऐसा है कि कार्य और कारणके नियम करके द्रव्यरूपपनेसे एक होनेके कारण कार्यकारणभाव संबंधका एकपना कहा है। उस सम्बन्धका शद्बके निमित्तसे पृथक्करण नहीं होता है। द्रव्यपनेसे दोनों एक हैं। घटकी पूर्ववर्ती पर्याय कुशूल हेतु है और उत्तरवर्ती पर्याय घट उसका फल है। इस ढंगसे स्वीकार कर लिये गये कुशूल और घटकी पट, पुस्तक, आदि दूसरे द्रव्योंमें प्राप्त करानेके लिये शक्ति नहीं है। क्योंकि आगे पीछे क्रमसे होने वाली पर्यायोंमें एकद्रव्य नामक सम्बन्धसे उपादान, उपादेयपनका कथन किया गया है। एक द्रव्यकी पूर्वसमयवर्ती पर्याय उपादान कारण है और उत्तरसमयवर्ती पर्याय उपादेय कार्य है, ऐसा श्रीकार्तिकेय स्वामी और श्री समन्तभद्र स्वामी आदि महर्षिओंने कहा है। अतः ऐसे प्रकारका कार्यकारणभाव जैनसिद्धान्तसे विरुद्ध नहीं है। एक द्रव्यकी पर्यायें होनेके कारण उपादेय कार्यकी उपादान कारणके साथ एकद्रव्यप्रत्यासत्ति है। यह राद्धान्त पुष्ट होचुका है।

सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः, यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्।

यहां किसीका प्रश्न है कि घट, पट, आदि कार्योंका अपने सहकारी कारण कुलाल, दण्ड, तुरी, वेमा, आदि सहकारी कारणोंके साथ वह पूर्वोक्त कार्यकारणभाव कैसे ठहरेगा ? क्योंकि एक द्रव्यकी पर्यायें न होनेके कारण एक द्रव्य नामके सम्बन्धका तो अभाव है अर्थात् एक द्रव्यकी जो कतिपय पर्यायें हैं, उनमें एकद्रव्य नामका साक्षात् सम्बन्ध होता है। जैसे कि एक गुरुके अनेक चेलोंमें परस्पर एकगुरुपना सम्बन्ध है अथवा एक माताके अनेक पुत्रोंमें एकोदरत्व या सहोदरत्व सम्बन्ध है। ये परम्परासे होनेवाले सम्बन्ध एकद्रव्य सम्बन्धसे न्यारे हैं। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कालप्रत्यासत्ति नामके विशेष सम्बन्धसे सहकारी कारण और कार्योंमें उस कार्यकारणभाव सम्बन्धकी कार्यसिद्धि होना मानते हैं जिससे अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे जो अवश्य उत्पन्न हो

जाता है, वह उसका सहकारी कारण है और शेष दूसरा कार्य है, इस प्रकार कालिकसम्बंध सबको प्रतीत हो रहा है। अतः सहकारी कारणोंके साथ कार्यकी कालप्रत्यासत्ति बन गयी।

न चेदं सहकारित्वं क्वचिद्भावप्रत्यासत्तिः क्षेत्रप्रत्यासत्तिर्वा नियमाभावात्। निकटदेशस्यापि चक्षुषो रूपज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वदर्शनात्। संदंशकादेश्चासुवर्णस्वभावस्य सौवर्णकटकोत्पत्तौ। यदि पुनर्यावत्क्षेत्रं यद्यस्योत्पत्तौ सहकारिदृष्टं यथाभावं च तत्तावत्क्षेत्रं तथाभावमेव सर्वत्रेति नियता क्षेत्रभावप्रत्यासत्तिः सहकारित्वं कार्ये निगद्यते तदा न दोषो विरोधाभावात्।

यह सहकारीकारणपना कहीं भावप्रत्यासत्ति अथवा क्षेत्रप्रत्यासत्तिरूप होजाय सो नहीं समझना। क्योंकि नियम नहीं है। निकटदेशवाले चक्षुको भी रूपज्ञानकी उत्पत्तिमें सहकारीपना देखा जाता है तथा सोनेके स्वभावरूप नहीं किन्तु लोहेके बने हुये संडासी, हथोडा, निहाई, आदिको सोनेके कडेकी उत्पत्तिमें सहकारीपना देखा जाता है। भावार्थ— यहां कार्य और कारणका एक क्षेत्रपना नहीं है। शरीरके एक देशमें चक्षु है और संपूर्ण आत्मामें रूपज्ञान है, ऐसे ही संडासी और खडुआका भी सूक्ष्मरूपसे विचारनेपर एकक्षेत्र नहीं बनता है, तथा भावसम्बन्ध भी नहीं है। पुद्गलका परिणाम चक्षु है और चेतनका परिणाम रूपज्ञान है एवं सोनेका कडा है और संडासी आदि लोहेके भाव हैं। अतः इनमें भाविकसम्बन्ध या क्षैत्रिक सम्बन्ध न होकर कालिकसम्बन्ध ही मानना चाहिये। हां, फिर यदि इतना व्यापक विचार होय कि जितने लम्बे चौडे क्षेत्रमें और जिस प्रकारके स्वभावका अतिक्रमण न कर जो कारण जिस कार्यकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण होता हुआ देखा गया है वह कारण उतने लम्बे चौडे और उस प्रकारके परिणामोंके अनुसार ही सब स्थलोंपर कार्यकारी है। इस कारण क्षेत्रप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति भी नियत होरही हैं। वे कार्यमें सहकारीपनकी नियोजक कहीं जातीं हैं, तब तो हम भी कोई दोष नहीं मानते हैं। जैनसिद्धान्तके अनुसार इस व्यवस्थामें कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—उन्हीं आकाशके प्रदेशोंमें अन्यून अनतिरिक्त रूपसे कार्य और कारणोंका होना भले ही क्वचित् उपादान उपादेयोंमें मिल जाय, किन्तु सहकारी और कार्योंमें मिलना दुःसाध्य है। तैसे ही उस एक ही भावपरिणामसे अविभागप्रतिच्छेदोंकी ठीक संख्यामें सम्बन्धियोंका मिलना भी कष्टसाध्य है। अतः दो हाथ भूमिमें बैठे हुये कुलाल और घटका उतना लंबा चौडा एकक्षेत्र कहा जाता है। पचास हाथ लम्बे एक अवयवी कपडेके साथ कोरियाका या सूर्यके साथ कमलका इतना बडा एक क्षेत्र कहा जायगा। ऐसे ही यथासम्भव भावोंमें भी संख्या, परिणाम, जाति, आदिकी समानताको लगाकर भाव सम्बन्ध करलेना चाहिये। पदार्थोंके परिणाम और विवक्षाके अनुसार थोडीसी न्यूनता, अधिकता, सहन करनी पडती है। अतः योग्यताको देखकर कार्य और कारणोंमें क्षेत्र प्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति भी कहीं कहीं लगालेना।

तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत्प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथाप्यनवद्यत्वात् । संग्रहर्जुसूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्कश्चित्सम्बन्धोन्यत्र कल्पनामात्रात् इति सर्वमविरुद्धं । न चात्र साध्यसाधनभावस्य व्यवहारनयादाश्रयणे कथंचिदसम्भव इति सूक्तं साधनत्वमधिगम्यमर्थानां तदपळपंतोऽसदुक्तय एव इत्याह ।

तिस कारण इस प्रकार व्यवहारनयका वस्तुस्थितिके अनुसार भले ढंगसे आश्रय लेनेपर संयोग, समवाय, विशेषण विशेष्य, गुरुशिष्यत्व आदि सम्बन्धोंके समान दोमें ठहरनेवाला कार्यकारण भाव सम्बन्ध भी प्रतीतियोंसे सिद्ध होनेके कारण वस्तुभूत ही है, किन्तु फिर कल्पनाओंसे गढ लिया गया नहीं है । क्योंकि सभी प्रकारोंसे निर्दोष सिद्ध हो रहा है । हां ! त्रिलोक त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण पदार्थोंके सम्पूर्णभेदोंको एक सत्पनेसे या द्रव्यपनेसे एकपना रूपमें घेरनेवाली संग्रहनय और सूक्ष्म या स्थूल एक ही पर्यायको विषय करनेवाली ऋजुसूत्र नयका सहारा लेनेपर तो कोई भी किसीका सम्बन्ध नहीं है । कोरी कल्पनायें चाहे जैसी कर लो, जो कि हेय हैं । और केवल कल्पनाके अतिरिक्त (सिवाय) कोई भी किसीका सम्बन्धी नहीं है । सब अपने अपने स्वभावोंमें लीन हैं । यही निश्चय नय कहता है । इस प्रकार अनेकान्तमें सम्बन्ध और असम्बन्ध सभी अविरुद्ध होकर बन जाते हैं । यहां साधनके प्रकरणमें व्यवहारनयसे साध्यसाधनभावका आश्रय करनेपर साध्यपन और साधनपनका किसी अपेक्षासे असम्भव नहीं है । इस कारण जीव, सम्यग्दर्शन, आदि पदार्थोंका किसी नियतसम्बन्धी कारणमें साधनपना जानने योग्य है । श्री उमास्वामी महाराजने बहुत अच्छा कहा था । उसको जानबूझकर छिपानेवाले बौद्ध समीचीन भाषण करनेवाले ही नहीं हैं । इसी बात को आगेकी कारिकामें ग्रन्थकार और भी स्पष्टरूपतासे कहते हैं ।

मोक्षादिसाधनाभ्यासाभावासक्तेस्तदर्थिनां ।
तत्राविद्याविलासेष्टौ क मुक्तिः पारमार्थिकी ॥ १४ ॥
संविच्चेत्साविदेवेत्यदोषः सा यद्यसाधना ।
नित्या स्यादन्यथा सिद्धं साधनं परमार्थतः ॥ १५ ॥
नित्यसर्वगतात्मेष्टौ तस्याः संवित्त्यसम्भवात् ।
क व्यवस्थापनानंशक्षणिकज्ञानतत्त्ववत् ॥ १६ ॥

व्यवहार नयसे भी साध्यसाधन भावका अपलाप (प्रतीत कर चुकनेपर भी न मानना) यदि करोगे तो बौद्धोंके यहां उस मोक्षके अभिलाषी जीवोंको मोक्ष, ज्ञानार्जन, धनोपार्जन आदिके साधनोंका अभ्यास करनेके अभावका प्रसंग होगा । उन दीक्षा, तत्त्वज्ञान, क्रय विक्रय आदि साध-

नोंमें यदि अविद्याका विलास (खेल) इष्ट किया जायगा तो कारणोंके झूंठे होनेपर वास्तविक मोक्ष कहां हुयी ? यदि मोक्षके साधनोंको ज्ञानस्वरूप मानोगे, तब तो मोक्ष भी विशिष्ट ज्ञानस्वरूप ही होगी। इसमें कोई दोष नहीं है। किन्तु वह सम्वित्स्वरूप मोक्ष यदि साधनोंसे रहित है तब तो नित्य हो जावेगी। क्योंकि " सदकारणवन्नित्यम् " जो सत् होकर अपने बनानेवाले कारणोंसे रहित है, वह नित्य होता है। यदि अन्यथा यानी दूसरे प्रकारसे मोक्षको कारणसहित माना जायगा, तब तो बौद्धोंके यहां वास्तविकरूपसे साधन सिद्ध हो जाता है। यदि उस संवित्को अद्वैतवादियोंकी ओरसे नित्य और सर्वव्यापक आत्मारूप इष्ट किया जायगा तो उस संवित्स्वरूप मुक्तिकी सम्वित्ति होना असम्भव है। इस कारण बौद्धोंके निरंश और क्षणक्षयी ज्ञानतत्त्वके समान ब्रह्मवादियोंकी नित्य, व्यापक, सम्वित्ति रूप, मोक्षकी भी व्यवस्था भला कहां हुयी ? अतः मुख्यरूपसे साध्यसाधनभाव माननेपर ही मोक्ष और उसके अष्टांग साधन या श्रवण, मनन, आदिका अभ्यास होना बन सकता है। अन्यथा नहीं।

न हि क्षणिकानंशसम्वेदनं स्वतः प्रतिभासते, सर्वस्य भ्रान्त्यभावानुषंगात्। तद्वन्नित्यं सर्वगतं ब्रह्मेति न तत्सम्वेदनमेव मुक्तिः पारमार्थिकी युक्ता, ततः सकलकर्मविप्रमोक्षो मुक्तिरुरीकर्तव्या। सा बन्धपूर्विकेति तात्त्विको बन्धोऽभ्युपगन्तव्यः तयोः ससाधनत्वात्। अन्यथा कादाचित्कत्वायोगात्साधनं तात्त्विकमभ्युपगन्तव्यं न पुनरविद्याविलासमात्रमिति सूक्तं साधनमधिगम्यम्।

बौद्धोंका माना गया क्षणिक और अंश रहित सम्वेदन स्वयं अपने आप तो नहीं प्रतिभासता है। यदि सम्वेदन स्वयं प्रतिभासता होता तो सब जीवोंको उसमें भ्रान्तिके न होनेका प्रसंग हो जाता। भावार्थ—जो स्वयं प्रतिभास जाता है, उसमें बालगोपाल भी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं करते हैं। अपने तीव्र दुःखवेदनके समान विना रोकटोकके मानलेते हैं। उसी सम्वेदनके समान अद्वैतवादियोंका नित्य और सर्वव्यापक परब्रह्म भी स्वयं नहीं प्रतिभासता है। इस कारण बौद्धों या अद्वैतवादिओंकी ओरसे उस सम्वित्का संवेदन होना ही वास्तविकरूपसे मुक्ति है। यह कहना भी अयुक्त है। तिस कारण क्षणिकवादी और नित्यवादी दोनोंको सम्पूर्ण कर्मोंका प्रागभावके साथ प्रकृष्टतासे मोक्षण हो जाना ही मुक्ति स्वीकार कर लेनी चाहिये और वह मोक्ष तो बन्धपूर्वक ही होगी। क्योंकि पहिले बन्धा हुआ ही पीछे मुक्त होता है। इस कारण बन्धतत्त्व भी वास्तविक स्वीकार करना चाहिये। वे बन्ध और मोक्ष दोनों अपने उत्पादक कारणोंसे सहित हैं। अन्यथा यानी उनको यदि कारणसहित न माना जायगा तो कभी कभी होनेपनका अयोग हो जायगा अर्थात् जिस पदार्थका कोई कारण नहीं है, वह या तो नित्य है अथवा असत् है। किन्तु बन्ध और मोक्ष सत् होते हुए व्यक्तिरूपसे कभी कभी किसीके होते हैं। अतः वे कारणसहित हैं। यहांतक साध दिये अधिगमक साधनको वास्तविक स्वीकार कर लेना चाहिये। फिर वह केवल

अविद्याका विलास ही नहीं है, जैसा कि बौद्धोंने कहा था । इस प्रकार साधनज्ञानसे जानने योग्य साधनका श्रीउमास्वामी महाराजने सूत्रमें बहुत अच्छा निरूपण किया है । अर्थात् बौद्ध, अद्वैतवादी आदि सभीको साधन जानने योग्य है । तभी वस्तुके तत्त्वको स्पर्श करनेवाला ज्ञान हो सकेगा । विना साधनको जाने ऊपरी टटोलसे ठोसज्ञान नहीं होने पाता है ।

आधाराधेयभावस्य पदार्थानामयोगतः ।
तत्त्वतो विद्यते नाधिकरणं किञ्चिदित्यसत् ॥ १७ ॥
स्फुटं द्रव्यगुणादीनामाधाराधेयतागतेः ।
प्रसिद्धिबाधितत्वेन तदभावस्य सर्वथा ॥ १८ ॥

अब अधिगमके चौथे उपाय अधिकरणका विचार चलाते हैं । तहां प्रथम निश्चयवादीके समान बौद्धोंका कहना है कि भूतल, घट, चौकी, पुस्तक, आत्मा, ज्ञान, आदि पदार्थोंके आधार आधेय भावका वस्तुतः अयोग है । अतः जगत्में वास्तविकरूपसे कोई किसीका अधिकरण नहीं है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कथन झूंठा है । क्योंकि द्रव्यगुण, जातिव्यक्ति, आम्रवृक्ष, आदि पदार्थोंका स्पष्टरूपसे आधार आधेयभाव जाना जा रहा है । अतः उस अधिकरणका अभाव सभी प्रकारकी लोकप्रसिद्ध प्रतीतियोंसे बाधित है । यहां दो अनुमान बना लेना । तब पहिले अनुमानका हेतु सत्प्रतिपक्ष या बाधितहेत्वाभास हो जायगा ।

न हि द्रव्यमप्रसिद्धं गुणादयो वा प्रत्यभिज्ञानादिप्रत्ययेनाबाधितेन तन्निरूपणात् । नाप्याधाराधेयता द्रव्यगुणादीनामप्रसिद्धा यतः सर्वथाधिकरणमसदिति पक्षः प्रसिद्धिबाधितो न स्यात् । हेतुश्चासिद्धः पदार्थानामाधाराधेयभावस्य विचार्यमाणस्यायोगादिति । स्थाल्यां दधि घटे रूपमिति तत्प्रत्ययस्य निर्बाधस्य तत्साधनत्वात् कार्यकारणभावविशेषस्य साधकोऽयं प्रत्यय इति चेत् स एवाधाराधेयभावोऽस्तु । सांवृतोऽसाविति चेत् न कार्यकारणभावस्य तात्त्विकस्य साधितत्वात् तद्विशेषस्य तात्त्विकत्वसिद्धेः ।

वैशेषिकोंके यहां द्रव्य पदार्थ माना ही है, किन्तु जैनोंके यहां भी द्रव्यपदार्थ अप्रसिद्ध नहीं है अथवा गुण, क्रिया, पर्याय आदिक भी अप्रसिद्ध नहीं हैं । प्रत्यभिज्ञान, अनुमान, आदि बाधा रहित प्रमाणोंसे उन द्रव्य, गुण, आदिकी सिद्धिका निरूपण किया है तथा द्रव्य, गुण, आदिकोंका आधाराधेयभाव भी अप्रसिद्ध नहीं है । जिससे कि सभी प्रकारोंसे अधिकरण असत् है, यह बौद्धोंकी प्रतिज्ञा करना लोकप्रसिद्धियोंसे बाधित न होता और पदार्थोंका आधार आधेयभाव विचारा गया होकर नहीं बन पाता है, यह बौद्धोंका हेतु असिद्ध न होता । भावार्थ—प्रतीतियोंसे आधार आधेयभाव जब सिद्ध हो चुका है, तो बौद्धोंका पक्षप्रमाण बाधित

है और आधारआधेयभावके खण्डनके लिये दिया गया हेतु असिद्ध है। थाली [कुंडी] में दही है। कपडेमें रूप है, वृक्षमें आम्रफल है, आत्मामें सुख है, इत्यादि प्रकार बाधारहित प्रसिद्ध ज्ञान ही उस आधारआधेयभावके साधनेवाले हैं। इसपर कोई बौद्ध यों कहें कि ये थालीमें दही है इत्यादि ज्ञान तो विशेष कार्यकारणभावके साधक हैं। यानी पूर्वसमयकी रीती थाली दही आ जानेपर दधिसहित थालीकी उत्पादक है। घटज्ञानसे रहित आत्मा उत्तरक्षणमें घटज्ञानवाले आत्माका जनक है। आपको भी पर्यायदृष्टिसे आत्माका उत्पाद मानना अभीष्ट है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि अच्छा, वही आधार आधेयभाव हो जाओ। अर्थात् स्याद्वादियोंके मतमें कार्यकारणभावका व्याप्य आधारआधेयभाव बन जाओ! कोई क्षति नहीं। जब कि सम्पूर्ण पदार्थोंमें अर्थक्रियायें होती रहती हैं, तो सान्तर अवस्थाको छोडकर निरन्तर अवस्थारूपसे उत्पन्न होना या कार्यप्रागभावकी दशाके पीछे कार्य सद्भावरूप पर्याय होना अथवा और कुछ समयोंतक सदृश अर्थक्रियायें होते रहना माना जाता है। कार्यकारणभाव व्यापक है और आधाराधेयभाव व्याप्य है। चक्षुका और ज्ञानका अथवा दण्ड और घटका कार्यकारणभाव है। किन्तु आधाराधेयभाव नहीं है। कचित् आत्मा और ज्ञान तथा आकाश और अवगाह कार्यका कार्यकारण होते हुए भी आधाराधेय भाव है। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि वह कार्यकारणभाव तो कल्पित है। परमार्थ नहीं, ग्रन्थकार कहते हैं कि सो न कहना। क्योंकि हम वास्तविक कार्यकारणभावको अभी साध चुके हैं। इस कारण उस सामान्य और वस्तुभूत कार्यकारणभावके विशेष आधार आधेयभाव का वस्तुभूतपना सिद्ध हो जाता है।

कथं तर्हि गुणादीनां द्रव्याधारत्वे द्रव्यस्याप्यन्याधारत्वं न स्याद्यतोऽनवस्था निवार्येत। तेषां वा द्रव्यानाधारत्वमसक्तिरिति चेत्—

बौद्ध कटाक्ष करते हैं कि गुण, क्रिया, आदिकोंका आधार यदि द्रव्य माना जायगा तो द्रव्यका भी अन्य आधार क्यों न होगा? और उस द्रव्यका भी तीसरा द्रव्य आधार क्यों न होगा? जिससे कि अनवस्थाका निवारण किया जा सके और यदि द्रव्यके आधारभूत अन्य द्रव्योंको न माना जायगा तो उन गुणोंका आधार भी सबसे प्रथम द्रव्य न माना जाय। यह प्रसंग होता है अर्थात् द्रव्योंके आधारोंकी कल्पना करते हुए अनवस्था होगी। और यदि तीसरी चौथी या सौवीं कोटिपर आधारान्तर न मानकर अनवस्था दोषको हटाया जायगा तो पहिलेसे ही गुणोंका आधार द्रव्य न मानना अच्छा है। बौद्धोंके इस प्रकार आक्षेप करनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य समाधान करते हैं कि—

नानवस्थाप्रसंगोत्र व्योम्नः स्वाश्रयतास्थितेः।
सर्वलोकाश्रयस्यान्तविहीनस्य समंततः॥ १९॥

यहां अनवस्था दोषका प्रसंग नहीं है। क्योंकि छह द्रव्योंके समुदायरूप सम्पूर्ण लोकका आधार और सब ओर दशों दिशाओंसे अन्तरहित ऐसे आकाशको स्वयं अपना आश्रयपना सिद्ध कर दिया जाता है। अतः गुणोंके आधार द्रव्य हैं। और द्रव्योंका आधार आकाश है। सर्व व्यापक होनेसे आकाशका कोई अन्य आश्रय नहीं है। वह स्वप्रतिष्ठ है। अतः तीसरी कोटिपर अवस्थिति हो जाती है। वस्तुस्थितिके अनुसार आधार आधेयपन बन गया और अनवस्था दोष भी नहीं रहा। बात यह है कि जैनसिद्धान्त अनुसार अलोकाकाशके अनंतानन्त प्रदेश भी संख्यामें परिमित हैं जो कि अक्षयअनंत जीवराशिसे अनन्तगुणी पुद्गलराशिसे भी अनन्तगुणी हैं। पोलकी नापमें पोल नहीं है। श्रीत्रिलोकसारमें द्विरूपवर्गधाराको गिनाते समय अनन्तराजू लम्बी अलोकाकाशकी श्रेणीको और प्रतराकाशको नापा है। उक्त श्रेणी और प्रतरको गुणा करदेनेसे चौकोर बरफीके समान पूरे अलोकाकाशके सर्वप्रदेश गिन लिये जाते हैं। अनन्तानन्तराजू लम्बे और उतने ही चौडे मोटे आकाशके बाहर फिर कोई पदार्थ नहीं है। आंख मीच लेनेपर तुमको कोई पूछे कि क्या दीखता है? उसका उत्तर " कुछ नहीं " यही है। कोई बालक कह देता है कि हमको तो आंख मीचनेपर काला काला दीखता है। वस्तुतः यह भ्रम है। ज्ञानाभाव है। मध्यम अनन्तानन्त प्रदेशी होनेपर भी आकाश परिमित है। केवलज्ञानी जिनेन्द्रदेव आकाशकी अन्तिम मर्यादाको उसी प्रकार इससे भी अधिक स्पष्ट जान रहे हैं जैसे कि हम किसी प्रासाद (हवेली) की छैऊ दिशाओंकी अन्तिम सीमाको आखोंसे देख रहे हैं या परमाणुके आकारवाली बरफीके छःऊ पैलोंको स्पष्ट जान रहे हैं। यह अनन्त आकाशका स्पष्टीकरण है।

स्वाश्रयं व्योम, समन्ततोन्तविहीनत्वान्यथानुपपत्तेः। समन्ततोन्तविहीनं तत् सकलासर्वगतार्थाभावस्वभावत्वे सत्येकद्रव्यरूपत्वात्। रूपादिपरमाणूनां रसादिपरमाणुभावरूपत्वादविरोध इति चेत् ते तर्हि रूपरसादिपरमाणवः सर्वे सकृत्परस्परं संसृष्टा व्यवहिता वा स्युः, न तावत्संसृष्टाः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा संसर्गस्य स्वयं निराकरणात्। व्यवहितत्वे तु तेषामनन्तानामनन्तप्रदेशं व्यवधायकं किञ्चिदुररीकर्तव्यं तदेव व्योम तेषामभाव इति सिद्धं सकलासर्वगतार्थाभावस्वभावत्वं व्योम्नः।

आकाश (पक्ष) अपने ही आधार ठहरा हुआ है (साध्य) क्योंकि सभी ओरसे अन्तरहितपना अन्यथा यानी स्वाश्रयपनके विना बन नहीं सकता है (हेतु)। इस हेतुको पुनः अनुमान बनाकर सिद्ध करते हैं कि वह आकाश (पक्ष) सब ओरसे अन्तविहीन है (साध्य) क्योंकि सम्पूर्ण अव्यापक पदार्थोंके अभाव (भेद) स्वरूप होता सन्ता वह एकद्रव्यरूप पदार्थ है। (हेतु) बौद्ध कहते हैं कि रूप, रस, आदिकी परमाणुएं रस, गन्ध, आदिकी परमाणुओंके स्वभावरूप हो जाती हैं। अतः कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—आप जैन और हम बौद्ध दोनोंने निरवयव परमाणुओंको आदि मध्य और अन्तसे रहित स्वीकार किया है। फिर अन्त विहीनपना

सिद्ध करनेके लिये एकद्रव्यरूप हेतुका अव्यापक अर्थोके अभावस्वरूप यह विशेषण क्यों दिया जाता है ? अव्यापक अर्थके भावस्वभाव होते हुए भी परमाणुओंमें अन्तविहीनता बन जाती है। कोई विरोध नहीं आता है। परमाणुका घट आदिकके समान कोई अन्त अंश नियत नहीं है। परमाणुका अपना स्वरूप ही आदि है और वही मध्य है तथा अपना पूरा शरीर ही अन्त है। " अत्तादि अत्त-मज्झं अतंतं णेव इन्दिये गेज्झं। जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विजाणीहि ॥ " यह परमाणुकी परिभाषा आपने मानी है। बौद्धोंके इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि तब तो वे रूप परमाणुएं या रस, गन्ध, आदिकी परमाणुएं सम्पूर्ण एक ही समय क्या परस्परमें संसर्गयुक्त हैं ? अथवा अन्तरालसहित होंगे ? बताओ ! प्रथम पक्षके अनुसार वे परमाणुएं आप बौद्धोंके मतानुकूल सम्बन्धित तो नहीं हैं। क्योंकि सम्पूर्ण देशोंसे या एकदेशसे उनके संसर्ग होनेका आपने स्वयं निषेध कर दिया है। अर्थात् एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ यदि पूरे भागोंमें सम्बन्ध मान लिया जायगा तो परमाणुके बराबर ब्रणुक बन जायगा। मेरु, सरसों, ब्रणुक, ये सब परमाणुके बराबर हो जायेंगे। अथवा विवक्षित परमाणुका अन्य परमाणुके साथ यदि एक भागसे सम्बन्ध होना माना जायगा तो पुनः उस विवक्षित परमाणुके अनेक देशोंकी कल्पना प्रथमसे ही करनी पडेगी, तभी तो उसके एक एक भाग बन सकेंगे। और उन देशोंमें भी एक एक अंशसे पुनः संसर्ग माननेपर अनवस्था हो जायगी। अतः सम्पूर्ण परमाणुओंका एक समय सम्बन्धित होना तो बनेगा नहीं तथा द्वितीयपक्षके अनुसार उन परमाणुओंका व्यवधानसहितपना माननेपर तो उन अनन्त परमाणुओंका परस्परमें व्यवधान करानेवाला कोई अनन्त प्रदेशवाला पदार्थ स्वीकार करना चाहिये और वही हमारे यहां आकाश माना गया है। वह आकाश उन अव्यापक परमाणुओंका अभाव (भिन्न) स्वरूप है। इस प्रकार आकाशको सम्पूर्ण अव्यापकअर्थोका अभाव–स्वरूपपना सिद्ध हो गया।

न च तस्यानन्ताः प्रदेशाः परस्परमेकशो व्यवहिता यतस्तद्व्यवधायकान्तरकल्पनायामनवस्था कथंचिदेकद्रव्यतादात्म्येनाव्यवहितत्वात् अन्यथा तदव्यवधानायोगात्। भवितव्यं वाऽव्यवधानेन तेषां प्रसिद्धसत्त्वानां व्यवधानेनवस्थानात्। येन चैकेन द्रव्येण तेषां कथञ्चित्तादात्म्यं तन्नो व्योमेति तस्यैकद्रव्यत्वसिद्धिरिति नासिद्धं व्योम्नो सर्वगतार्थाभावस्वभावत्वसाधनम्। ततस्तदनन्तं सर्वलोकाधिकरणमिति नानवस्था तदाधारान्तरानुपपत्तेः।

उस व्यापक अखण्ड आकाशद्रव्यके अनन्तानन्त प्रदेश परस्परमें एक एक होकर व्यवधान युक्त हैं सो नहीं समझना। जिससे कि उन आकाश प्रदेशोंका भी परस्परमें व्यवधान करानेवाले अन्य पदार्थकी कल्पना करते सन्ते अनवस्था दोष हो जाता। यानी आकाशके प्रदेशोंका पुनः व्यवधान करानेवाला कोई अन्य पदार्थ नहीं है। एक ठोस आकाश द्रव्यमें उसके अनन्त प्रदेशोंका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध हो जानेके कारण स्वतः व्यवधान रहितपना है। अन्यथा यानी एक

द्रव्यमें तादात्म्य सम्बन्धके माने बिना उन प्रदेशोंका अव्यवधान होना नहीं बन पावेगा। किन्तु अखण्ड अछिद्र द्रव्यके उन प्रदेशोंका अव्यवधान अवश्य होना चाहिये। यदि प्रसिद्ध सत्तावाले उन अनन्त प्रदेशोंका पुनः अन्य व्यवधायक पदार्थसे व्यवधान होना माना जावेगा तो अनवस्था हो जायगी अर्थात् वह दूसरा व्यवधायक पदार्थ भी लम्बा चौडा व्यापक होगा। उसके भी अनेक प्रदेशोंमें मध्यवर्ती व्यवधानको डालनेवाला तीसरा व्यवधायक माना जायगा। इस ढंगसे अनवस्था दोष है और एक द्रव्यके साथ तादात्मकपना माननेपर कोई दोष नहीं आता है। जिस एक अखण्ड द्रव्यके साथ उन अनन्त प्रदेशोंका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है, वही हम स्याद्वादियोंके यहां आकाश द्रव्य है। इस प्रकार उस आकाशको एकद्रव्यपनेकी सिद्धि हो गयी। इस कारण हेतुका विशेष्य दल एकद्रव्यपना आकाशरूप पक्षमें वृत्ति हो जानेसे असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। अव्यापक अर्थोंका अत्यन्ताभाव या वैशेषिक मतानुसार अन्योन्याभावस्वरूपपना भी आकाशमें साधन कर दिया है। वैशेषिकोंके यहां भूतलमें घट नहीं है, आकाशमें ज्ञान नहीं है ऐसे सप्तम्यन्त और प्रथमान्त पदोंके उच्चारण होनेपर अत्यन्ताभाव माना गया है। पट घट नहीं, आकाश आत्मा नहीं है, इस प्रकार प्रथमान्त पदोंके स्थलपर अन्योन्याभाव माना है। किन्तु जैनोंने घट, पुस्तक, पट आदि पुद्गलकी पर्यायोंमें परस्पर अन्योन्याभाव माना है। क्योंकि घट भी कालान्तरमें पटस्वरूप हो सकता है। किन्तु जो द्रव्य या पर्यायें तीनों कालोंमें जिस रूप न हो सकें उनका परस्परमें अत्यन्ताभाव स्वीकार किया है। तिस कारण सत्यन्त विशेषणसहित हेतुके पक्षमें वर्त जानेसे वह आकाश अन्त-रहित अनन्त सिद्ध हो जाता है। जो अनन्त है, वही छह द्रव्योंके समुदायरूप सम्पूर्ण लोकका अधिकरण है। अनन्त होनेके कारण ही वह स्वयं अपना भी आधार है। इस कारण अन्य आधारोंकी कल्पना करते करते अनस्था दोष नहीं है। क्योंकि फिर उस आकाशके अन्य आधारोंकी उपपत्ति नहीं है। दूसरी तीसरी या चौथी आकाशरूप कोटिपर ही रुककर आकांक्षा शान्त हो जाती है। निश्चय नयसे देखा जाय तो सबसे छोटा परमाणु और सबसे बडा लोक या आकाश भी अपनेमें ही आप ठहरे हुए हैं। असंख्यात योजन ऊंचे लोकके नीचे लगा हुआ साठ हजार योजन मोटा वातवलय विचारा क्या कर सकता है? और फिर वातवलयको भी तो अन्य आधार चाहिये। अंगरखामें लगी हुयी गोटके समान नीचे केवल शोभाको प्राप्त हो रहा है। यदि वह आठ पृथिवियोंके नीचे या लोकके नीचे अथवा चारों ओर न भी होता तो भी अनन्त अलोकके ठीक बीचमें यह लम्बा चौडा भारी लोक डटा रह सकता था। एक प्रदेश भी इधर उधर हिल डुल नहीं पाता। किंतु आचार्य महाराजने वस्तुस्थितिके अनुसार ऊपर नीचे ठहरनेवाले पदार्थोंकी यथार्थ व्यवस्था बता दी है। गोदमें जगता हुआ बालक सोते हुए बालककी अपेक्षासे अपने शरीरको अधिक डाट रहा है, तभी तो उसका भार उतना होते हुए भी लघु प्रतीत होता है। शरीरके अंग, उपांग, धातु, उप-धातु, और मल, मूत्रोंको शरीरप्रकृति अपने बलानुसार डाटे रहती है। हां! अति रुग्ण अस-

स्थामें उनको रोके रखनेकी शक्ति न रहनेपर वे खसक जाते हैं । पानीकी गोल बूंदके समान लवण समुद्रका जल सोलह हजार योजन ऊंचा उठा हुआ डट रहा है । वेलन्धर जातिके नागकुमारोंके नगर तो नियोगमात्रको साधते हैं । अतः पदार्थोंको स्वाश्रय मानना ही आवश्यक है । फिर भी मूर्त, भारी, पदार्थके अधःपतनको रोकनेके लिये व्यवहार नयसे आधारकी आवश्यकता है । अनेक पदार्थ अपने अपने आधार द्रव्योंमें हैं । और " लोकाकाशेऽवगाहः " के अनुसार सर्व पदार्थ आकाशमें हैं तथा आकाश स्वयं अपना आधार है ।

व्योमवत्सर्वभावानां स्वप्रतिष्ठानुषंजनम् ।
कर्तुं नैकान्ततो युक्तं सर्वगत्वानुषंगवत् ॥ २० ॥

आकाशके समान सभी पदार्थोंको एकान्त रूपसे स्वयं अपनेमें प्रतिष्ठित रहनेका प्रसंग करनेके लिये आपादन करना युक्त नहीं है । जैसे कि सभी पदार्थोंको आकाशद्रव्यके सदृश सर्व व्यापकपनेका प्रसंग देना समुचित नहीं है । भावार्थ—जैसे आकाशके समान सभी पदार्थ सर्व व्यापक नहीं हो सकते हैं, तैसे ही स्वप्रतिष्ठ भी नहीं हो सकते हैं । निश्चय नयके अनुसार व्यवस्थाको हम पूर्वमें कह चुके हैं । यह व्यवहार नय और प्रमाणसे आधार आधेयकी निरूपणा है । विशेष बात यह है कि त्रिलोकसारमें आकाशकी श्रेणी और प्रतरको नापा है । अतः बरफीके समान सब ओरसे चौकोर अलोकाकाश सिद्ध हो ही जाता है । यह प्रबल युक्ति है तथा वीरनन्दीसिद्धान्त चक्रवर्तीके बनाये हुये आचारसार ग्रन्थमें तृतीयाधिकारका चौवीसवां श्लोक है कि " व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रं समं घनं । भावावगाहहेतुश्चानन्तानन्तप्रदेशकम् ॥ " इससे भी अलोकाकाशका चौकोरपना आगमसिद्ध है । उसीके तेरहवें श्लोक अनुसार सबसे छोटे परमाणुका संस्थान भी चौकोर उन्होंने बताया है । " अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः । कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः " ॥ अतः अखण्ड निरवयव परमाणु भी निरंश होता हुआ बरफीके समान छः पैलवाला चौकोर मानना चाहिये । सबसे छोटे परमाणु और सबसे बडे आकाशका संस्थान (व्यञ्जनपर्याय) सदृश है । अब इसमें कोई संशय नहीं रहा ।

निश्चयनयात् सर्वे भावाः स्वप्रतिष्ठा इति युक्तं न पुनः सर्वथा व्योमवत्तेषां सर्वगतत्वामूर्तत्वादिप्रसंगस्यापि दुर्निवारत्वात् । सर्वद्रव्याणां सर्वगतत्वेको दोष इति चेत् प्रतीतिविरोध एवामूर्तत्वादिवदिति वक्ष्यामः । प्रतीत्यतिक्रमे तु कारणाभावात् सर्वमसमञ्जसं मानमेयं प्रलापमात्रमुपेक्षणीयं स्यादिति यथाप्रतीतिसिद्धमधिकरणमधिगन्तव्यमर्थानाम् ।

निश्चयनयसे सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं अपने आपमें भले प्रकारसे प्रतिष्ठित हो रहे हैं । यह कहना युक्तिपूर्ण है । किन्तु फिर सभी प्रकारसे आकाशके समान स्वाश्रित हैं । यह तो ठीक नहीं ।

यदि व्यवहार नयसे भी उन पदार्थोंको स्वाश्रयपना माना जायगा तो आकाशके समान उन सभी पदार्थोंके सर्वगतपन, अमूर्त्तपन, सबको अवकाश देनापन, आदि प्रसंगोंका भी कठिनतासे निवारण हो सकेगा। यहां सांख्य यदि यों कहें कि सम्पूर्ण द्रव्योंको सर्वव्यापक हो जानेपर कौन दोष आता है ? बताओ ! ऐसा कहनेपर तो हम यह स्पष्ट उत्तर कहते हैं कि प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंसे विरोध होना ही महान् दोष है। जैसे कि संसारी जीव या पुद्गलको अमूर्त्तत्व साधनेमें और धर्म, अधर्म, आकाश, तथा कालको मूर्त्तपना साधनेमें प्रतीतियोंसे विरोध आता है। घट, पट, देवदत्त, इन्द्रदत्त, आदि पदार्थ अल्पक्षेत्रमें ठहरे हुए सबके द्वारा जाने जा रहे हैं। आकाशके व्यापकपने और शेष द्रव्योंके अव्यापकपनका पांचमे अध्यायमें और भी हम स्पष्ट निरूपण कर देंगे। प्रतीतियोंका अतिक्रमण करनेपर तो व्यवस्थापक कारण न होनेसे कोरे ज्ञानसे जान लिये गये सम्पूर्ण पदार्थ मान लेना अन्याय है। व्यर्थ बकवाद है। अतः ऐसा नीतिरहित कथन ग्राह्य नहीं, किन्तु उपेक्षा करने योग्य ही समझा जायगा। इस प्रकार प्रतीतियोंके अनुसार अधिकरण सिद्ध हो गया है। अतः पदार्थोंकी अधिगतिका चौथा उपाय जानने योग्य है। यहांतक अधिकरणका निरूपण हुआ। अब स्थितिका व्याख्यान करते हैं।

अस्थिरत्वात्पदार्थानां स्थितिर्नैवास्ति तात्विकी ।
क्षणादूर्ध्वमितीच्छन्ति केचित्तदपि दुर्घटम् ॥ २१॥
निरन्वयक्षयैकान्ते सन्तानाद्यनवस्थितेः ।
पुण्यपापाद्यनुष्ठानाभावासक्तेर्निरूपणात् ॥ २२ ॥

तहां बौद्ध कहते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थोंको अस्थिरपना होनेके कारण एक क्षणसे ऊपर किसीकी भी वास्तविक स्थिति नहीं है। इस प्रकार कोई बौद्ध इष्ट करते हैं, सो वह अस्थिरपना कठिनतासे भी घटित नहीं हो पाता है। क्योंकि पाषाण, लोहा, आदि पदार्थ अनेक क्षणोंतक ठहरने वाले प्रतीत हो रहे हैं। बौद्ध लोगोंके यहां एक क्षणमें ही अन्वयरहितपनेके साथ क्षय हो जानेका एकान्त मानने पर सन्तान, समुदाय, आदिकी सुव्यवस्था नहीं हो पाती है। इस कारण क्षणिक पक्षमें पुण्यकर्म करना, पाप, मोक्ष, ऋण देना, आदि अनुष्ठान करनेके अभावका प्रसंग आता है। इसका श्रीसमन्तभद्र भगवान्ने देवागममें अच्छा निरूपण किया है।

सम्वृत्या सन्तानसमुदायसाधर्म्यप्रेत्यभावानां पुण्यपापमुक्तिमार्गानुष्ठानस्य चाभ्युपगमात् परमार्थतस्तदभावासक्तिर्नानिष्टेति चेत्, किमिदानीं सम्वेदनाद्वैतमस्तु परमार्थ सत्, निरन्वयविनश्वराणामेकक्षणस्थितीनां नानापदार्थानामनुभवात् तदपि नेति चेत् तर्हि इष्टं सन्तानादि सर्वं निरंकुशत्वात् तच्च निरन्वयक्षयैकान्ते सम्वृत्यापि न स्यात्। तथा च

निरूपितं । " सन्तानः समुदायश्च साधर्म्यञ्च निरंकुशः । प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥ " इति ।

बौद्ध यदि यों कहें कि कालिकप्रत्यासत्तिसे मान ली गयी अनेक क्षणिक परिणामोंकी लडी रूप सन्तान और दैशिक प्रत्यासत्तिसे मान लिया गया अनेकक्षणिक परिणामोंका समुदाय तथा समानधर्मीका कल्पित किया गया साधर्म्य एवं मर करके पुनः जन्मधारण करना रूप प्रेत्यभाव और भी पुण्य, पाप, मोक्षके मार्गोंका अनुष्ठान करना इन सबको हम वस्तुको न छूनेवाली व्यवहार कल्पनासे स्वीकार करलेते हैं। अतः परमार्थरूपसे उनके अभाव हो जानेका प्रसंग हमको अनिष्ट नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि इस समय क्या आप बौद्धोंके यहां सम्वेदनका अद्वैत ही परमार्थभूत पदार्थ हुआ समझा जाय। इसपर सौत्रान्तिक बौद्ध यदि यों कहें कि अन्वयरहित होकर विनाश स्वभाववाले और केवल एक क्षण है स्थिति जिनकी ऐसे अनेक घटस्वलक्षण आत्मक परमाणुयें पटस्वलक्षण आत्मक क्षणिक सूक्ष्म असाधारण परमाणुयें आदि पदार्थोंका अनुभव हो रहा है। अतः वह सम्वेदन अद्वैत भी नहीं है। इस प्रकार कहने पर तो बौद्धोंको बाधक रहित होनेके कारण सभी सन्तान, समुदाय, आदिक पदार्थ अभीष्ट हो जावेंगे। किन्तु दूसरे ही क्षणमें द्रव्यपनेके अन्वयसे रहित होकर नाश हो जानेका एकान्त पक्ष माननेपर कल्पनासे भी वे सन्तान आदिक न बन सकेंगे और तिस ही प्रकार श्री समन्तभद्राचार्य स्वामीने देवागममें भी यह निरूपण किया है कि मालामें पुवे हुए डोरेके समान ध्रौव्यपनके एकत्वको यदि छिपाया जायगा तो बौद्ध मतमें सन्तान, समुदाय, साधर्म्य, मरकर पुनः जन्म लेना, ये सभी बाधारहित होते हुए सिद्ध नहीं हो सकेंगे। भावार्थ—क्षणवर्ती पदार्थ जब समूलचूल नष्ट हो गया और द्रव्यदृष्टिसे भी वह आगे पीछे विद्यमान नहीं है। ऐसी दशामें सर्वथा न्यारे न्यारे सन्तानियोंकी सन्तान नहीं बन सकती है। जैसे कि अन्य सन्तानके सन्तानियोंका संयोजन प्रकृत सन्तानमें नहीं हो सकता है और अवयवीको नहीं मानकर क्षणिक परमाणु रूप अवयव ही माने जाते हैं। उनका कथमपि एकत्रीकरण नहीं बनना स्वीकार किया जाता है। ऐसी दशामें एकत्व परिणतिके विना समुदाय नहीं बन सकता है। तथा असाधारण या विसदृशपनेका आग्रह करनेवाले बौद्धोंके यहां सदृश परिणामरूप एकत्वके छिपानेपर सधर्मी पदार्थोंका साधर्म्य नहीं बनता है। जैसे कि सर्वथा विसदृश पदार्थोंका साधर्म्य नहीं बन पाता है। एवं दोनों भवोंमें अनुयायी एक नित्य आत्माको न स्वीकार करनेपर मरकर पुनः उत्पन्न होना भी नहीं बन पाता है और ऋण भी देने लेने तथा माता, पुत्र, ब्रह्मचर्य, आदि-पदार्थ भी अस्थिर पक्षमें नहीं बनते हैं।

ननु च बीजांकुरादीनामेकत्वाभावेपि संतानः सिद्धस्तिलादीनां समुदायः साधर्म्यं च सहृरसवेन तत्सिद्धौ किमेकत्वेनेति चेन्न, सर्वबीजांकुरादीनामेकसंतानत्वापत्तेः, सकलतिला-

दीनां वा समुदायसाधर्म्यप्रसक्तेः। प्रत्यासत्तेर्विशेषात्केषांचिदेव संतानः समुदायः साधर्म्यं च विशिष्टमिति चेत्, स कोऽन्योऽन्यत्रैकद्रव्यक्षेत्रभावप्रत्यासत्तेरिति नान्वयनिन्हवो युक्तः।

बौद्ध अपने मतका अवधारण करते हैं कि बीज, अंकुर, लघुवृक्ष आदिका एकत्व न होनेपर भी सन्तान सिद्ध होजाता है अर्थात् अंकुर अवस्थामें बीजके सर्वथा नष्ट हो जानेपर और लघुवृक्ष (पौदा) की दशामें अंकुरका नाश हो जानेपर भी एकदेश माना जाता है, तभी तो उस बीजके अनुरूप फल लगते हैं तथा न्यारे न्यारे तिल, सरसों, आदिका समुदाय भी बन जाता है और तिल आदिका सादृश्य होनेसे साधर्म्य बनना भी शक्य है। प्रत्युत भेद होनेपर ही सन्तान आदिकी भले प्रकार सिद्धि होती है। तिस हीके समान सभी स्थलोंपर क्षणिक, छोटे, और विभिन्न धर्मवाले पदार्थोंके होनेपर भी उस सन्तान आदिकी सिद्धि होजायगी तो फिर द्रव्यरूप करके एकत्व माननेसे जैनोंको क्या लाभ है ? यानी एकत्व मानना व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो सभी गेंहू, जौ, चने, के बीज और अंकुर आदिकोंकी परस्पर एक सन्तान बन जानेका प्रसंग आवेगा। जैसे गेंहू और गेंहूके अंकुरका भेद है, उसी प्रकार गेंहू और जौके अंकुरका भी भेद है। फिर इनकी एकसन्तान क्यों न बन जावे ? तथा सम्पूर्ण तिल, घट, रुपया, घोडा आदिकोंका भी समुदाय बन जाना चाहिये। इसी प्रकार इनके सधर्मपिन बननेका भी प्रसंग होगा, जो कि बौद्धोंको इष्ट नहीं है। यदि आप बौद्ध यों कहें कि किसी विशेषसम्बन्धसे किन्हीं ही विवक्षित पूर्वोत्तरभावी सन्तानियोंका सन्तान बनता है और विशेषसम्बन्धके वश ही किन्हीं नियत पदार्थोंका ही समुदाय अथवा विशिष्ट साधर्म्य बनता है। अन्य तटस्थ पदार्थोंका नहीं, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि वह विशेष सम्बन्ध एकद्रव्यप्रत्यासत्ति, एकक्षेत्रप्रत्यासत्ति, और एकभावप्रत्यासत्तिके अतिरिक्त भला अन्य कौन हो सकता है ? भावार्थ—एक द्रव्यमें उसकी भूत, वर्तमान, भविष्यत् अनेक पर्यायें तदात्मक हो रही हैं। अतः उनका एकद्रव्य सम्बन्ध होनेके कारण सन्तान बन जाता है। अन्य द्रव्यकी पर्यायें उस सन्तानमें अन्वित नहीं हो पाती हैं। और कुछ लम्बे चौडे एक क्षेत्रमें सजातीय अनेक पदार्थोंके ठहरनेपर उनका एकक्षेत्र सम्बन्ध हो जानेके कारण समुदाय बन जाता है। अन्यक्षेत्रवर्ती पदार्थका इस समुदायमें योग नहीं है। तथा समानरूपसे परिणमन करनेवाले पदार्थोंका एकभावप्रत्यासत्ति होनेसे साधर्म्य बन जाता है। सर्वथा भिन्नोंका नहीं। इस प्रकार बौद्धोंको ओत पोत रहनेवाले एकपनेके ध्रुव अन्वयका निह्नव करना युक्त नहीं है।

न ह्यव्यभिचारी कार्यकारणभावः सन्ताननियमहेतुः सुगतेतरचित्तानामेकसंतानत्वप्रसंगादिति समर्थितं प्राक्।

बौद्ध मतमें व्यभिचार दोषसे रहित कार्यकारणभाव सम्बन्ध तो सन्तानकी नियतव्यवस्था

करनेका हेतु नहीं हो सकता है। क्योंकि यों तो बुद्ध और अन्य संसारी आत्माओंके भी एक सन्तानपना बनजानेका प्रसंग होगा, इसको हम पूर्वप्रकरणमें समर्थन करचुके हैं। भावार्थ—उत्तरवर्ती पर्यायका पूर्वसमयवर्ती पर्याय कारण है, ऐसा निर्दोष कार्यकारणभाव जिन सन्तानियोंमें घट जाय उन पदार्थोंका सन्तान यदि माना जायगा, तब तो सर्वज्ञबुद्धके ज्ञानके कारण संसारी जीवोंके ज्ञान भी हैं। क्योंकि बौद्धोंका मत है कि ज्ञान अपने कारणोंको ही विषय करता है। बुद्धका ज्ञान संसारी जीवोंके ज्ञानको जानता है, ऐसी दशामें स्वकीय पूर्वापर भावी ज्ञानोंके समान संसारी जीवोंके ज्ञान और बुद्धके ज्ञानकी भी एक सन्तान बन जानी चाहिये जो कि आपको इष्ट नहीं है। सर्वथा भेदवादिओंके यहां उपादान कारण या निमित्तकारण (अवयव) का विवेक भी तो क्षणिक पक्षमें नहीं किया जासकता है। अतः व्यभिचारदोषसे रहित कार्यकारण भाव भी एकसन्तानका नियामक नहीं सम्भवता है।

नाप्येकसामग्र्यधीनत्वं समुदायैकत्वनियमनिबंधनं धूमेंधनविकारादिरूपादीनां नानासमुदायानामेकसमुदायत्वानुषंगात् प्रतीतमातुलुंगरूपादिवत्।

और एकसामग्रीका आधीनपना भी समुदायके एकपनकी नियत व्यवस्थाका कारण नहीं हो सकता है। यों तो अनेक समुदायोंमें वर्तनेवाले धूमके रूप आदिक और गीले विकृत ईंधन आदिके रूप आदिकोंका भी एक समुदायपन होनेका प्रसंग होगा, जैसे कि प्रमाणसे जान लिये गये बिजौरा नीबूके रूप, रस, आदिका समुदाय बन जाता है। अर्थात्—आग सुलग जानेपर गीले ईंधनके रूप और धुंवेके रूप आदिकी सामग्री एक है, किन्तु उनका समुदाय न्यारा न्यारा माना जाता है। ऐसे ही क्षेत्र भूमि, जल, वायु, आतप, आदि एक सामग्रीके होते हुये भी अनेक बीज, या अंकुरोंके समुदाय न्यारे न्यारे माने जाते हैं। अतः एक सामग्रीकी अधीनता एक समुदायका कारण नहीं हो सकती है।

एतेन समानकालत्वं तन्निमित्तमिति प्रत्युक्तं। एकद्रव्याधिकरणत्वं तु सहभुवामेकसमुदायत्वव्यवस्थाहेतुरिति सत्येवान्विते द्रव्ये। तिलादिरूपादिसमुदायैकत्वनियमः साधर्म्ये न पुनर्नानाद्रव्याणां। समानहेतुकत्वादिति वार्तामात्रं, विसदृशहेतूनामपि बहुलं साधर्म्यदर्शनात् रजतशुक्तिकादिवत्। समानपरिणामसत्त्वात् साधर्म्ये भावप्रत्यासत्तिविशेषादेव साधर्म्ये। न च समानपरिणामो नाना परिणामिद्रव्याभावे सम्भवतीति न तद्वादिनामेकद्रव्यापह्नवः श्रेयान्।

समानकालपना तो एकसन्तानपन या एक समुदायपनका व्यवस्थापक नियम हो जायगा। यह भी इस पूर्वोक्त कथनसे खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि एक ही समयमें गेंहू, जौ, चने आदि उत्पन्न हो रहे हैं तथा देवदत्त, यज्ञदत्त, हाथी, घोड़ा आदि परिणमन कर रहे हैं। फिर भी इन विजातियोंका सन्तान या समुदाय इष्ट नहीं किया गया है।

हां, साथ होनेवाली पर्यायोंके एक समुदायपनकी व्यवस्थाका कारण एकद्रव्यको अधिकरण मानकर रहनापन तो है, किन्तु यह तीनों कालमें अन्वयरूपसे ठहरनेवाले द्रव्यके माननेपर ही बन सकता है, अन्यथा नहीं। और तिल, सरसों, आदिके रूप, रस, आदिकोंका न्यारा न्यारा समुदाय या सजातियोंके कथंचित् एकत्वका नियमरूप साधर्म्य भी अन्वेता क्षेत्रसम्बन्धके माननेपर बनता है। किन्तु फिर चाहे जिन अनेक द्रव्योंका तो समानधर्मधारीपना नहीं बन पाता है। यदि कोई समान हेतुवाले पदार्थोंका साधर्म्य कहे सो यह तो केवल व्यर्थ बकवाद है। क्योंकि विसदृश कारणोंसे उत्पन्न हुये पदार्थोंका भी प्रायः करके साधर्म्य देखा जाता है, जैसे कि चांदी खानसे उत्पन्न होती है और सीप जलमें उत्पन्न होती है, चांदी धातु है सीप हड्डी है। चांदी पवित्र है, सीप सदा अपवित्र है। एकेन्द्रियजाति नाम कर्मके उदयसे जीवका चांदी शरीर बना था और सीपका शरीर द्वीन्द्रिय जाति नामकर्मसे बना था। किन्तु इनका चाकचक्य होनेसे साधर्म्य माना जाता है। सर्प, रज्जु, आदिका भी साधर्म्य देखा गया है। यदि समान परिणतिके विद्यमान होनेसे पदार्थोंका साधर्म्य माना जायगा तब तो एक विशेष भावप्रत्यासत्तिसे ही साधर्म्य होना इष्ट किया गया, किन्तु वह समान जातिवाला परिणाम तो देरतक एक सदृश परिणमन करनेवाले अनेक द्रव्योंके न माननेपर नहीं सम्भवता है। इस कारण उन सन्तान, समुदाय, और साधर्म्यको कहनेवाले बौद्धवादियोंको एकद्रव्यपनका अपह्नव करना कल्याणकारी नहीं है। अपना सिद्धान्त मानकर कहना और उत्तर समझना फिर आक्षेप करना आदि क्रियायें तो अनेक क्षणोंतक ठहरनेवाले ही बौद्धोंके बन सकेंगीं। और तभी उनको कल्याणमार्ग प्राप्त हो सकेगा अन्यथा नहीं।

प्रेत्यभावः कथमेकत्वाभावे न स्यादिति चेत् तस्य मृत्वा पुनर्भवनलक्षणत्वात्। सन्तानस्यैव मृत्वा पुनर्भवनं न पुनर्द्रव्यस्येति चेन्न, सन्तानस्यैकद्रव्याभावे नियमायोगस्य प्रतिपादनात्। कथंचिदेकद्रव्यात्मनो जीवस्य प्रेत्यभावसिद्धेः।

यदि कोई यों प्रश्न करे कि अन्वित एक द्रव्यपनेके न माननेपर भला प्रेत्यभाव क्यों नहीं बनेगा? इसपर हमारा यह उत्तर है कि उस प्रेत्यभावका स्वरूप मरकर पुनः जन्म लेना है मरनेवाला वही एक जीव यदि जन्म लेवे तब तो प्रेत्यभाव बनता है, अन्यथा नहीं। सन्तानका ही मरकर पुनः जन्मधारण करना है फिर एक जीव द्रव्यका नहीं यह तो न कहना। क्योंकि एक द्रव्यके न माननेपर किन ही विवक्षित सन्तानियोंका ही यह पूर्वापर लडीरूप सन्तान है, इस नियमका अयोग है। इसको हम अभी स्पष्ट कह चुके हैं। वस्तुतः देखा जाय तो कथंचित् एकद्रव्यस्वरूप जीवका ही मरकर पुनः जन्म ग्रहण करना सिद्ध होता है। एक क्षणमें ही रहनेवाला सन्तानी मर तो जायगा किन्तु पुनः उसीका उत्तरकालमें जन्मधारण नहीं हो सकता है। वही बबूला नष्ट होकर पुनः बबूला नहीं हो सकता है। हां, उसका जलद्रव्य भले ही फिर बबूला पर्यायको धारण करले।

पुण्यपापाद्यनुष्ठानं पुनरपि संतानकर्तृक्रियाफलानुभवितृनानात्वे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसक्तेर्दूरोत्सारितमेव । तत्संतानैक्ये चैकद्रव्यत्वस्य सिद्धेर्न निरन्वयक्षयैकांतस्तद्वादिभिरभ्युपगंतव्यः । ततः सर्वथा संतानाद्युपगमे द्रव्यस्य कालांतरस्थायिनः प्रसिद्धेर्न क्षणादूर्ध्वमस्थितिः पदार्थानाम् ।

फिर क्षणिकवादमें पुण्य, पाप, ऋण लेना, देना, आदि क्रियाओंका अनुष्ठान करना तो दूर फेंकदिया गया ही समझो । क्योंकि दान करनेवाला चित्त (आत्मा) तो नष्ट हो गया, स्वर्ग अन्यको ही प्राप्त होगा । ऐसे ही हिंसक अन्य है, नरकगामी दूसरा ही जीव बनेगा । ऋण लेने देनेवाले व्यक्ति भी सब बदल चुके हैं । माता पुत्रको प्रेम न कर सकेगी । परदेशी पुरुष ही स्वदेशको न लौट सकेगा । ब्रह्मचर्यव्रत लुप्त हो जायगा इत्यादि । तथा मर्दन करनेवाला पुरुष और उस क्रियाके फलको अनुभव करनेवाला आत्मा यदि भिन्न भिन्न माने जायेंगे तो कृतके नाश और अकृतके अभ्यागम दोषोंका प्रसंग होता है । जिसने शुभ अशुभ कर्म किये वह नष्ट होगया और जिसने कर्म नहीं किये थे उसको बलात्कारसे शुभ अशुभ फल भोगने पडे । परिश्रम किया किसीने और पारितोषिक प्राप्त करनेके लिए अन्यने हाथ पसार दिया । इस तुच्छताका भी कोई ठिकाना है ? । इस कारण पुण्यकर्म, पापकर्म, चाकरी, सेवाकृत्य, आदि अनुष्ठान करना सब दूर ही फेंक दिया जा चुका समझो । यदि कर्त्ता और फलके अनुभविता की सन्तान यहांसे वहांतक लम्बी एक मानी जायगी, तब तो एकद्रव्यपनकी सिद्धि हो जाती है । इस कारण अन्वयरहित होते हुये एक क्षण में ही नष्ट हो जानेका एकान्त तो उसको कहनेवाले बौद्धों करके नहीं स्वीकार करना चाहिये । तिस कारण सभी प्रकारसे सन्तान, समुदाय आदिके स्वीकार करनेपर कालान्तरतक ठहरनेवाले द्रव्यकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो जाती है । अतः एक क्षणमें ऊपर पदार्थोंकी स्थिति न होना नहीं सिद्ध हो सका । श्रीराजवार्तिकमें जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षयते, विनश्यति, यह क्रम साधा है ।

यथा चैकक्षणस्थायी भावो हेतोः समुद्भवेत् ।
तथानेकक्षणस्थायी किन्न लोके प्रतीयते ॥ २३ ॥

जिस प्रकार कि एक क्षणतक ठहरनेवाला पदार्थ अपने हेतुसे उत्पन्न होता है यह बौद्धोंने माना है तिसी प्रकार हेतुसे उत्पन्न होता हुआ अनेक क्षणोंतक ठहरनेके स्वभाववाला पदार्थ भी क्यों न माना जाय, जो कि लोकमें प्रमाणों द्वारा प्रतीत हो रहा है । अर्थात्—कारणोंसे एक क्षण स्थायी पदार्थोंकी उत्पत्तिके समान अनेक समयोंतक ठहरनेवाले कंकण, कलश, कटोरा, आदि पदार्थ उत्पन्न हो रहे लोकमें देखे जाते हैं । वस्तुतः देखा जाय तो दीपकलिका, बिजली, बबूला, आदि पदार्थ भी नानाक्षणोंतक ठहरकर आत्मलाभ करते हुये ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं । प्रथमक्षणमें उत्पन्न होकर द्वितीय क्षणमें आत्मलाभ करता हुआ ही पदार्थ अर्थक्रियाको कर सकता

है। और कतिपय अर्थक्रियायें तो कारण अर्थके अनेक क्षणतक ठहरनेपर ही हो पाती हैं। भोगभूमिओंके मनुष्योंमें नवीन सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता उनंचास ४९ दिनमें होती है। कर्मभूमिके मनुष्यको आठ वर्ष पीछे ही संयम धारणकी योग्यता होती है। बांस, केला, अश्वतरी (जिसका पेट फाडकर बच्चा उत्पन्न होता है ऐसी खिच्चरी) बूढेपनमें फलते हैं। " अली बली कर्कशवेणुरम्भा विनाशकाले फलमुद्वहन्ति " ऐसा शुद्ध अशुद्ध खण्डपद्य स्मृत रह गया है।

ननु प्रथमे क्षणे यथार्थानां क्षणद्वयस्थास्नुता तथा द्वितीयेऽपीति न कदाचिद्विनाशः स्यादन्यथा सैव क्षणस्थितिः प्रतिक्षणं स्वभावभेदात्ततो न कालान्तरस्थायी भावो हेतोः समुद्भवन् प्रतीयतेऽन्यत्र विभ्रमादिति न मंतव्यं, क्षणद्वयस्थायिनां तृतीयादिक्षणस्थायित्वविरोधात्। प्रथमक्षणे द्वितीयक्षणापेक्षायामिव द्वितीयक्षणे प्रथमक्षणापेक्षायां क्षणद्वयस्थास्नुत्वाविशेषात् प्रतिक्षणं स्वभावभेदानुपपत्तेः कालान्तरस्थायित्वसिद्धेः।

बौद्ध अवधारण करते हैं कि आप जैन अनेक क्षण तो क्या पदार्थोंका दो क्षणतक भी ठहरना सिद्ध नहीं कर सकेंगे। सूक्ष्मतासे विचार करनेपर एकक्षणतक ही पदार्थोंका ठहरना प्रमाण सिद्ध होगा। देखिये, जैसे पहिले क्षणमें पदार्थोंका दो क्षणतक ठहरना रूप स्वभाव है, तिसी प्रकार दूसरे क्षणमें भी वही दो क्षणतक ठहरना स्वभाव स्थित रहेगा एवं तीसरे समयमें भी तीसरे और चौथे समयोंमें ठहरनारूप दो क्षणस्थायित्व स्वभाव रहेगा। इसी प्रकार चौथे, पांचवे, इन दो समयोंमें ठहरना स्वभाव विद्यमान है। इस ढंगसे तो पदार्थका कभी भी विनाश न हो सकेगा, जैसे कि आज मूल्यसे और कल ऋणसे देनेवाले व्यापारीको कभी उधार देनेका अवसर नहीं प्राप्त होता है। अन्यथा यानी दूसरे, तीसरे, आदि क्षणोंमें दो समय तक ठहरनारूप स्वभाव न माना जायगा तब तो वही एक क्षणतक ठहरना सिद्ध हुआ। क्योंकि प्रत्येक क्षणमें पदार्थका स्वभाव भिन्न भिन्न है। तिस कारण हेतुओंसे अधिक समयतक ठहरनेवाला उत्पन्न हो रहा पदार्थ प्रतीत होता है, यह कहना ठीक नहीं है। भ्रान्तज्ञानके अतिरिक्त यह कोई समीचीन प्रतीति नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको नहीं मानना चाहिये। क्योंकि दो क्षणतक स्थित रहना स्वभाववाले पदार्थोंका तीसरे, चौथे, आदि क्षणोंमें स्थायीपनका विरोध है। पहिले क्षणमें जैसे दूसरे क्षणकी अपेक्षा होते सन्ते दो क्षणस्थायीपन है, वैसे ही दूसरे क्षणमें पहिले क्षणकी अपेक्षा होते सन्ते दो क्षणतक ठहरनापन स्वभाव विद्यमान है, कोई अन्तर नहीं है। बस, आगे नहीं चलना चाहिये। ऐसे ही तीन क्षण या दिन भर आदितक ठहरने वालोंमें लगा लेना। अतः प्रत्येक क्षणमें स्वभावोंका सर्वथा भेद मानना नहीं बनता है। इस कारण पदार्थोंका अनेक अन्य समयोंमें ठहरनापन शील सिद्ध हो जाता है।

ननु च प्रथमक्षणे द्वितीयक्षणापेक्षं क्षणद्वयस्थायित्वमन्यदेव, द्वितीयक्षणे प्रथमक्षणापेक्षायामतोऽस्त्येव प्रतिक्षणं स्वभावभेदोऽतः क्षणमात्रस्थितिः सिध्येत्सर्वार्थानामिति वदंतं प्रत्याह।

बौद्ध अपने सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये पुनः अनुनय करते हैं कि दूसरे क्षणमें भूत पहिले क्षणकी अपेक्षा रखनेवाले दो क्षणतक ठहरनेरूप स्वभावसे पहिले क्षणमें भविष्य दूसरे क्षणकी अपेक्षा रखता हुआ दो क्षणस्थायीपन स्वभाव तो न्यारा ही है। तिस कारण प्रत्येक क्षणमें पदार्थोंका स्वभावभेद मानना ही आवश्यक है। इस कारण सम्पूर्ण पदार्थोंकी केवल एक समयतक ही स्थिति सिद्ध हो सकेगी। इस प्रकार कहने वाले बौद्धके प्रति आचार्य महाराज स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

क्षणमात्रस्थितिः सिद्धैवर्जुसूत्रनयादिह ।
द्रव्यार्थिकनयादेव सिद्धा कालांतरस्थितिः ॥ २४ ॥

पदार्थोंके अन्तरंगमें इतनी सूक्ष्मरीतिसे प्रवेश कर बौद्ध जन यदि प्रत्येक क्षणमें स्वभावोंका भेद इष्ट करते हैं तो ऐसी दशामें सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे यहां केवल एक क्षणतक ही पर्यायोंका ठहरना सिद्ध ही है। हां, द्रव्यार्थिक नयसे ही कालान्तरतक ठहरना सिद्ध किया जा रहा है। भावार्थ—जैसे आठसौ योजन ऊपर प्रकाश रहे, सूर्यका भूमितक आताप परिणाम अनेक भागोंमें प्रत्येक प्रदेशपर घामका तरतमरूप परिणमन है, तथा आकाशमें भरे हुये चमकनारूप परिणमने योग्य अनन्त पुद्गलस्कन्धोंपर हजारों योजनोंसे तिरछा प्रकाश डालनेवाले सूर्यमें प्रत्येक प्रदेशवर्ती स्कन्धोंके चमकानेवाले अनेक स्वभाव हैं। 'यावन्ति कार्याणि वस्तुनि प्रत्येकं तावन्तः स्वभावभेदाः' वैसे ही पहिले क्षणमें दूसरे क्षणकी अपेक्षा और दूसरे क्षणमें पहिले क्षणकी अपेक्षासे दो क्षण ठहरनापन न्यारा ही है। तीन, चार, आदि क्षणतक ठहरनेवाले पदार्थोंमें तो प्रत्येक क्षणवर्ती ये स्वभाव चक्रव्यूह होकर रेशमकी गांठके समान इतने बन बैठेंगे जिनकी कि गणना करना भी कष्टसाध्य होगा। तभी तो जैनसिद्धान्तके अनुसार ऋजुसूत्र नयसे मान लिये क्षणिकपनका अनुसरण करना बौद्धोंका उपयुक्त है, किन्तु यह वस्तुका एकदेश है। पूर्णवस्तु तो नित्य, अनित्य, आत्मक है। अतः द्रव्यार्थिकनयसे अधिककालतक ठहरना भी वास्तविक है।

न हि वयमृजुसूत्रनयात्प्रतिक्षणस्वभावभेदात् क्षणमात्रस्थितिं प्रतीक्षयामः ततः कालान्तरस्थितिविरोधात् । केवलं यथार्जुसूत्रात्क्षणस्थितिरेव भावः स्वहेतोरुत्पन्नस्तथा द्रव्यार्थिकनयात्कालांतरस्थितिरेवेति प्रतिचक्ष्महे सर्वथाप्यबाधितप्रत्ययात्तत्सिद्धिरिति स्थितिरधिगम्या ।

हम जैन ऋजुसूत्रनयसे प्रत्येक क्षणमें स्वभावभेद होनेके कारण सम्पूर्ण पर्यायोंकी केवल एक क्षणतक ठहरनेकी प्रतीक्षा नहीं करते हैं। उस ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे दीर्घ कालतक ठहरनेका विरोध है। अर्थात् बौद्धोंके माने गये क्षणिकत्वके हमें उपेक्षा नहीं है या क्षणिकपनके जाननेमें हम देरी नहीं लगा रहे हैं, टालटूल नहीं करते हैं। अथवा अन्य अधिककालोंतक ठहरनेका विरोध होजायगा, इस भयसे हम ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा पदार्थोंके एक क्षणतक ठहरनेकी उपेक्षा नहीं

करते हैं। हम स्याद्वादी तो पहिलेसे ही ऋजुसूत्र नयसे पदार्थोंका क्षणिकपन व्यवस्थित करचुके हैं। हां, केवल इस प्रकरणमें यह कहना है कि जैसे ऋजुसूत्र नयसे एक क्षणतक ही ठहरनेवाला पदार्थ अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, तिसी प्रकार द्रव्यार्थिकनयसे जाना गया अधिक काल ठहरनेवाला पदार्थ ही (भी) अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ है यह हम स्पष्ट रूपसे कहते हैं। सभी प्रकारों-करके बाधारहित प्रमाणोंसे उस कालांतरस्थायी ध्रुव पर्यायकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार पदा-र्थोंकी अधिगतिका पांचवा उपाय स्थिति समझलेना चाहिये।

विश्वमेकं सदाकाराविशेषादित्यसंभवि ।
विधानं वास्तवं वस्तुन्येवं केचित्प्रलापिनः ॥२५॥
सदाकाराविशेषस्य नानार्थानामपन्हवे ।
संभवाभावतः सिद्धेर्विधानस्यैव तत्त्वतः ॥ २६ ॥

अब छठे विधानकी सिद्धिका प्रसंग उठाते हैं। प्रथम ही अद्वैतवादी भेद या प्रकारोंके निषे-धार्थ अनुमान कहते हैं कि सम्पूर्ण संसार एकस्वरूप है। क्योंकि सबमें सत् आकारपना विशेष-ताओंसे रहित होकर वर्त्तरहा है। इस कारण वस्तुमें वास्तविक रूपसे भेदोंकी गणना असम्भव दोषसे युक्त है। इस प्रकार कोई ब्रह्माद्वैतवादी व्यर्थ बकवाद कर रहे हैं। क्योंकि अनेक अर्थोंके न माननेपर सत् आकारोंकी अविशेषता होनेका सम्भव नहीं है। अतः वास्तविक रूपसे प्रकारोंकी की ही सिद्धि हो जाती है। अर्थात्—सामान्य रूपसे सत्पना विशेष भेदोंके होनेपर ही सम्भवता है। अतः विधान सिद्ध होजाता है। " निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् "

सर्वमेकं सदविशेषादिति विरुद्धं साधनं, नानार्थाभावे सदविशेषस्यानुपपत्तेस्तस्य भेदनिष्ठत्वात् ।

विश्वके सम्पूर्ण पदार्थ सामान्यरूपसे सत् होनेके कारण एक हैं, इस अनुमानमें दिया गया सदविशेष यह हेतु विरुद्धहेत्वाभास है। अनेक अर्थोंको माने विना सत्तारूपसे अविशेषपना नहीं बन पाता है। क्योंकि वह सत्का सामान्यपन विशेषस्वरूप भेदोंमें स्थित हो रहा है। अतः अभेदको सिद्ध करने चले थे और भेद सिद्ध हो जाता है। प्रकृत हेतु तो एकत्व साध्यसे विपरीत अनेक पनके साथ व्याप्ति रखनेवाला होनेसे विरुद्ध हेतु है।

ननु च सदेकत्वं सदविशेषो न तत्साधर्म्यं यतो विरुद्धं साधयेदिति चेन्न, तस्य साध्यसमत्वात् । को हि सदेकमिच्छन् सर्वमेकं नेच्छेत् ।

अद्वैतवादी अपने मतका अवधारण करते हैं कि सत्तापनसे अविशेषताका अर्थ तो सत्तारूपसे एकपन है। उस सत्तारूपसे समानपन उसका अर्थ नहीं है। जिससे कि हमारा हेतु साध्यसे विरुद्ध

अनेकत्वको साधन करा देवें। भावार्थ—सधर्मापन तो अनेकोंमें ही घटता है। किन्तु सत्ताका एक पना तो एकत्वको ही पुष्ट करेगा। अतः हेतु सत् है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वह हेतु साध्यसम है। जो ही एकपना साध्य है, वही सत् अविशेषका अर्थ सत्तारूपसे एकपना है। हेतु और साध्य एकसे होगये। जब साध्य असिद्ध है तो हेतु भी असिद्ध हुआ। कौन ऐसा विचारशील है, जो कि सत्पनेसे एकपनरूप हेतुको तो इष्ट करें और सबको एकपना न चाहे। अर्थात् जब दोनों एक हैं तो हेतुका जानना ही साध्यको जानना हुआ, तब तो अनुमान करनेकी क्या आवश्यकता है ?

यदि पुनः सत्ताविशेषाभावादिति हेतुस्तदाप्यसिद्धं, सन्घटः सन्पट इति विशेषस्य प्रतीतेः। मिथ्येयं प्रतीतिर्घटादिविशेषस्य स्वप्नादिव्यभिचारादिति चेन्न, सदद्वैते सम्यग्मिथ्याप्रतीतिविशेषस्यासंभवात् संभवे वा तद्वदन्यत्र तत्संभवः कथं नानुमन्यते ?

यदि फिर अद्वैत वादियोंकी ओरसे सबको एक सिद्ध करनेके लिये विशेष सत्ताओंका न होना यह हेतु दिया जायगा तब भी हेतु असिद्ध है, पक्षमें नहीं रहता। घट सत् स्वरूप है कपडा सत् है। इस प्रकार विशेष सत्तावाले पदार्थोंकी प्रतीति सिद्ध होरही है। इसपर अद्वैतवादी यदि यों कहें कि स्वप्न, मूर्छित, भंग पीलेना, आदि अवस्थाओंमें भी झूंठे घट, पट, आदि विशेषोंका प्रतिभास हो जाता है। उसीके समान जागृत अवस्थामें भी घट, पट, मेरा, तेरा, आदि विशेषोंको जाननेवाली प्रतीति तो व्यभिचार होनेके कारण मिथ्या है। पदार्थोंके न होनेपर उनका ज्ञान हो जाना ही यहां व्यभिचार है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह सब तो न कहना। क्योंकि सत्ताके अद्वैत माननेपर यह प्रतीति समीचीन है, यह प्रतीति मिथ्या है, ऐसे भेदका होना ही असम्भव है और यदि अद्वैत पक्षमें भी विशेषोंका सम्भव माना जायगा तो उसीके समान अन्य स्थलोंपर भी उस भेदका सम्भव हो जाना क्यों नहीं मान लिया जाता है ? एक दृष्टान्तसे अन्यत्र अनुमान हो जाया करता है।

मिथ्याप्रतीतेरविद्यात्वादविद्यायाश्च नीरूपत्वान्न सा सन्मात्रप्रतीतेर्द्वितीया यतो भेदः सिध्येद् इति चेन्न, व्याघातात्। प्रतीतिर्हि सर्वा स्वयं प्रतिभासमानरूपा सा कथं नीरूपा स्यात्।

ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि अच्छी प्रतीति और झूंठी प्रतीतिके भेद माननेकी हमें आवश्यकता नहीं है। मिथ्याप्रतीति तो अविद्यास्वरूप है और अविद्या भी स्वरूपोंसे रहित होती हुयी तुच्छ पदार्थ है। अतः सत्तामात्रको विषय करनेवाली प्रतीतिसे यह अविद्या कोई दूसरी वस्तुभूत नहीं है। जिससे कि दो हो जानेपर भेद सिद्ध हो जाता। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इसमें व्याघातदोष है। स्वयं कहनेवालेका " मेरी माता वांझ " के समान अपने वचनोंसे ही पूर्वापरविरोध पडता है। घट, आदि विशेषोंको विषय करनेवाली प्रतीति

अविद्या नहीं हो सकती है। सम्पूर्ण ही प्रतीतियां अपने आप प्रतिभासमानस्वरूप होती हैं जो स्वयं अपना सूर्यके समान प्रकाश कर रहा है, वह भला स्वभावोंसे रहित नीरूप कैसे हो सकेगा ? स्वयं प्रकाश रहा पदार्थ तो बहुत बढ़िया ढंगसे स्वभाववान् होता हुआ वस्तुभूत है।

ग्राह्यरूपाभावान्नीरूपा मिथ्या प्रतीतिरिति चेत्तर्हि ग्राह्यरूपसहिता सम्यक् प्रतीतिरिति तद्विशेषसिद्धेः। सम्यक्प्रतीतिरपि ग्राह्यरूपरहितेति चेत् कथमिदानीं सत्येतरप्रतीतिव्यवस्था ? यथैव हि सन्मात्रप्रतीतिः स्वरूप एवाव्यभिचारात्सत्या तथा भेदप्रतीतिरपि। यथा वा सा ग्राह्याभावादसत्या तथा सन्मात्रप्रतीतिरपीति न विद्याविद्याविभागं बुध्यामहेन्यत्र कथंचिद्भेदवादात्। ततो न सन्मात्रं तत्त्वतः सिद्धं साधनाघटनादिति विधानस्यैव नानार्थाश्रयस्य सिद्धेस्तदधिगम्यमेव निर्देशादिवत्।

फिर भी सत्ताद्वैतवादी यदि यों कहें कि ज्ञानसे ग्रहण करने योग्य रूपोंके न होनेसे मिथ्याप्रतीतियोंको हम नीरूप [स्वभावरहित, तुच्छ, असत्] मानते हैं, तब तो इस प्रकार कहनेपर आपके कहनेसे ही आगया कि ग्रहण करने योग्य स्वरूपोंसे सहित जो प्रतीति है, वह समीचीन प्रतीति है। इस प्रकार उन प्रतीतियोंकी विशेषता (भेद) सिद्ध हुई। फिर अद्वैतवादी यदि यों कहें कि समीचीन प्रतीतियोंको भी हम ग्रहण करने योग्य स्वरूपोंसे रहित मानते हैं। ऐसा कहने पर तो हम जैन पूछेंगे कि आपके यहां अब सत्य और असत्य प्रतीतियोंकी व्यवस्था कैसे होगी ? बताओ ! जब कि दोनों ही प्रतीतियां अपने ग्राह्य विषयोंको नहीं जानती हैं, तो सामान्य सत्‌को जाननेवाली और विशेष सत्‌को जाननेवाली दोनों ही प्रतीतियां सच्ची या दोनों ही झूंठी बन बैठेंगी। जिस प्रकार ही केवल शुद्धसत्ताको विषय करनेवाली प्रतीति सत्ता विधिस्वरूपमें ही व्यभिचाररहित होनेके कारण सत्य मान ली गयी है। तिसी प्रकार घट, पट, आदिकको विषय करनेवाली भेदप्रतीति भी अपने विशेषस्वरूपमें ही अव्यभिचार होनेसे सच्ची बन जाओ और जैसे ग्राह्यविषय न होनेसे वह भेदप्रतीति असत्य मानी जाती है तिसी प्रकार केवल सत्ताको ही जाननेवाली प्रतीति भी बहिर्भूत ग्राह्यपदार्थ न होनेके कारण असत्य हो जायगी। आपने अभी ही समीचीनप्रतीतिका भी ग्राह्य ब्रह्म पदार्थ नहीं माना है। इस प्रकार कथंचित् भेदवादसे अतिरिक्त विद्या और अविद्याके विभागको हम कुछ नहीं समझते हैं। अर्थात्—बौद्धोंके सर्वथा विशेष (भेद) वाद और आत्माद्वैतवादियोंके सर्वथा अभेदवादको टालकर स्याद्वादियोंका कथंचित् भेदवाद ही सर्वत्र फैला हुआ है। तिस कारण केवल सत्स्वरूप ही अद्वैत तत्त्व वास्तविक स्वरूपसे सिद्ध नहीं हो पाता है। अद्वैतवादियोंके कहे हुये साधन (हेतु) घटित नहीं होते हैं। अर्थात्—सत्तापनेसे अविशेष या प्रतिभासमानपना आदि हेतु " सर्वं एकं " को सिद्ध करनेके लिये विरुद्ध पड जाते हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे अनेक जातिवाले पदार्थ जाने जा रहे हैं। इस कारण अनेक अर्थोंमें

रहनेवाले छठे अधिगमक विधानकी ही सिद्धि हो जाती है। अतः निर्देश, स्वामिपन, आदिके समान यह विधान भी जानने योग्य ही है। तभी वस्तुकी पूरी तहोंका परिज्ञान हो पाता है। यहांतक अधिगतिके निर्देश आदिक छहों उपायोंका प्रदर्शन कर दिया गया है।

तदेवं मानतः सिद्धैर्निर्देशादिभिरंजसा।
युक्तं जीवादियुक्तेषु निरूपणमसंशयम् ॥ २७ ॥

तिस कारण इस प्रकार प्रमाणसे सिद्ध किये गये निर्देश आदिकों करके पूर्वमें कहे हुये जीव आदिक पदार्थोंमें या रत्नत्रयमें संशयरहित शीघ्र अधिगम होनेका निरूपण करना युक्त है। भावार्थ—सूत्रकारका निर्देश आदिकों करके तत्त्वोंके अधिगमका उक्त सूत्र द्वारा निरूपण करना समुचित ही है।

न हि प्रमाणनयात्मभिरेव निर्देशादिभिर्जीवादिषु भावसाधनोऽधिगमः कर्तव्य इति युक्तं तद्विषयैरपि निर्दिश्यमानत्वादिभिः कार्त्स्न्यैकदेशार्पितैः कर्मसाधनस्याधिगमस्य करणात् तेषामुक्तप्रमाणासिद्धत्वादिति व्यवतिष्ठते।

" प्रमाणनयैरधिगमः " इस पहिले सूत्रके अनुसार प्रमाणनयस्वरूप निर्देश आदिकों करके ही जीव आदि पदार्थोंमें भावसाधन निरुक्तिसे साधा गया अधिगम करना चाहिये। इतना ही युक्त नहीं है। किन्तु साथमें उन प्रमाणनयोंके विषय और पूर्णदेश तथा एकदेशसे विवक्षित किये गये ऐसे निर्देश करने योग्य, स्वामिपनको प्राप्त, आदिकों करके भी कर्मसाधन निरुक्तिसे साधे गये अधिगमका करना होता है। उन निर्देश किये जाने योग्य आदिकोंकी हम उक्त प्रमाणोंसे सिद्धि कर चुके हैं, इस प्रकार व्यवस्था बन जाती है। अर्थात्—" निर्दिश्यते अनेन इति निर्देशः " इस प्रकार करणमें निर्देश आदि शब्दोंको साधनेपर और अधिगमनं अधिगमः इस प्रकार भावमें अधिगमको साधनेपर वस्तुको पूर्णरूपसे तथा एकदेशसे जाननेवाले प्रमाण, नय, स्वरूप निर्देश आदिकों करके जीवादिकोंका अधिगम होता है तथा " निर्दिश्यतेयत् " इस प्रकार कर्ममें यत् प्रत्ययकर पुनः शानच् और तद्धितके त्व प्रत्यय करनेपर साधे गये निर्देश्यमानत्व आदिकोंकरके " अधिगम्यते यत् " जो जाना जाय ऐसा कर्मसाधन अधिगम किया जाता है। विषय और विषयी दोनोंमें पूर्ण देश और एकदेशसे जानलियागयापन और जानलेनापन व्यवस्थित हो रहा है। उमास्वामी महाराजका विषयी और विषयकी अपेक्षासे उक्त ये दो सूत्र बनाना सार्थक है।

यथागममुदाहार्या निर्देष्टव्यादयो बुधैः।
निश्चयव्यवहाराभ्यां नयाभ्यां मानतोपि वा ॥ २८ ॥

विद्वानों करके निर्देश करने योग्य, स्वामिपनको प्राप्त, आदि पदार्थोंके आगमके अनुसार उदाहरण बना लेने चाहिये। निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयोंसे अथवा प्रमाणोंसे भी निर्देश आदिकोंके उदाहरण समझ लेना चाहिये।

निश्चयनय एवंभूतः व्यवहारनयोऽशुद्धद्रव्यार्थिकस्ताभ्यां निर्देष्टव्यादयो यथागममुदाहर्तव्या विकलादेशात् प्रमाणतश्च सकलादेशात् । तद्यथा । निश्चयनयादनादिपारिणामिकचैतन्यलक्षणजीवत्वपरिणतो जीवः व्यवहारादौपशमिकादिभावचतुष्टयस्वभावः निश्चयतः स्वपरिणामस्य व्यवहारतः सर्वेषां, निश्चयनयतो जीवत्वसाधनः व्यवहारादौपशमिकादिभाव साधनश्च, निश्चयतः स्वप्रदेशाधिकरणो व्यवहारतः शरीराद्यधिकरणः । निश्चयतो जीवनसमयस्थितिः व्यवहारतो द्विसमयादिस्थितिरनाद्यवसानस्थितिर्वा, निश्चयतोनंतविधान एव व्यवहारतो नारकादिसंख्येयासंख्येयानंतविधानश्च ।

निश्चयनय तो एवंभूत नय है और दो द्रव्योंके सम्मेलनसे बने हुये अशुद्ध द्रव्यको जानना रूप प्रयोजनको धारनेवाली व्यवहारनय है । उन दोनों नयोंसे निर्देश करने योग्य आदि पदार्थोंके उदाहरण आगममार्गका अतिक्रमण न करके बना लेने चाहिये । वस्तुके विकल अंशको कहनेवाले विकलादेशी नयवाक्यसे और वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंको कहनेवाले सकलादेशी प्रमाणवाक्यसे नय और प्रमाणोंके द्वारा दृष्टान्त बना लेना, उसको जिस प्रकार कि थोडासा दिखलाते हैं । सात तत्त्वोंमें प्रथम ही जीव पदार्थ है । उसका निर्देश यों करना कि निश्चय नयसे तो अनादि कालसे परिणाम करते चले आरहे चैतन्यस्वरूप जीवपने करके परिणत होरहा जीव है जिसको कि पारिणामिक भावस्वरूप होनेमें किसी कर्मके उदय, क्षय, उपशम, और क्षयोपशमकी अपेक्षा नहीं है और व्यवहारपनसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, और औदयिक, इन चारों भावोंस्वरूप परिणत हो रहा जीवका कथन किया जाता है । २ निश्चयनयसे जीव अपने स्वकीय परिणामोंका स्वामी है और व्यवहार नयसे परद्रव्यके सम्बन्ध निमित्तसे होनेवाले भी सभी परिणामोंका स्वामी है । स्त्री, धन, घोडा, गृह, आदिका भी स्वामी है । ३ निश्चयनयसे जीवका साधन केवल सुख, सत्ता, चैतन्य, आदि जीवपना ही है, जो कि पारिणामिक भाव है और व्यवहार नयसे उपशमसम्यक्त्व, क्रोध, आदि चारों प्रकारके भावोंकरके जीव साधा जाता है, इनमें दशप्राण भी गर्भित हैं । ४ निश्चयनयसे जीवके अपने प्रदेश ही आधार हैं और व्यवहारनयसे शरीर, गृह, भूमि आदि अधिकरण हैं । ५ निश्चय नयसे अनादिसे अनन्तकालतक जीवित रहनेके समयों तक जीवकी स्थिति है और व्यवहार नयसे दो समयको आदि लेकर दसप्राणोंका धारण करना आदि स्थिति है अथवा जीवित रह चुका जीवित है, जीवित रहेगा इस निरुक्तिसे अनादि अनन्तकालतक भी जीवकी स्थिति है । ६ निश्चय नयसे जीवके अनन्त ही प्रकार हैं । जितने जीव हैं उतने ही भिन्न भिन्न प्रकारके व्यक्तिस्वरूप हैं किसी प्रकार जातीयता नहीं है और व्यवहारनयसे नारकी, देव, मनुष्य, तिर्यंच, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि शब्दसे कहने योग्य असंख्यात भेद हैं और जीवोंके सूक्ष्मज्ञानसे समझने योग्य असंख्यात भेद हैं । तथा अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे अनन्त जातिवाले अनन्त प्रकार हैं । इस प्रकार दोनों नयोंसे जीवके निर्देश आदिक छहोंका उदाहरणपूर्वक अधिगम कर लेना चाहिये ।

प्रमाणतस्तदुभयनयपरिच्छिन्नरूपसमुदायस्वभाव इत्यादयो जीवादिष्वप्यागमाविरोधाभिर्देशादीनामुदाहरणमवगंतव्यम् ।

तथा प्रमाणोंसे यह जीव उन निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंके द्वारा हुई ज्ञप्तिस्वरूपके विषयभूत समुदायोंका स्वभाव है यह जीवका निर्देश हुआ । जीव अपने ज्ञान, धन, आदिका स्वामी है । इत्यादि निर्देश आदिक छहोंका जीव आदिक तत्त्वोंमें आगमके अविरोधसे उदाहरण समझ लेने चाहिये। किसी वाक्य द्वारा वस्तुके पूर्ण अंशोंपर लक्ष्य जानेसे ही वे निर्देश आदिक प्रमाणके विषय बन जाते हैं और और नयवाक्य ही प्रमाण वाक्यपनेको धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार वस्तुके एक अंशपर लक्ष्य जानेसे प्रमाणवाक्य ही नय वाक्य हो जाते हैं। कथंचित् प्रमाण वाक्य और नयवाक्योंका भेद भी माना है इस प्रकार प्रमाण, नयस्वरूप निर्देश आदिक और उनके विषयभूत निर्देश्य आदिकों करके जीव आदिक पदार्थ जाने जाते हैं । विषयी और विषयके अतिरिक्त कोई पदार्थ जगत्में नहीं है । स्वामीजीने ज्ञप्तिके साधक उपायोंका जो क्रम दिखलाया है, उससे अज्ञ प्राणी भी झट प्रबोधको प्राप्त कर लेता है । अतीन्द्रियदर्शी आचार्य असंख्य स्थलोंपर अधिगमके सफल उपायोंको निर्णय कर शिष्योंके प्रति निर्दोष लघु उपायोंसे महान् कार्यकी सिद्धि होनेका उपदेश देते हैं ।

सातवें सूत्रका सारांश

इस सूत्रके स्थूल प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि संक्षेपसे जीव आदिकोंका अधिगम तो प्रमाण और नयों करके होता है, किन्तु मध्यमरुचिवाले शिष्योंके लिये निर्देश आदि सूत्रका अवतार हुआ है । उमास्वामी महाराज शिष्योंके अनुरोधसे यथायोग्य सूत्रोंको कहते हैं । वस्तुके जाननेमें आकांक्षणीय निर्देश आदिकोंका कथन कर उनको शब्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप बतलाया गया है । मुख्यरूपसे श्रुतज्ञानके भेद निर्देश आदिक हैं। अतः प्रमाण, नय, स्वरूप निर्देश आदिकों करके प्रमातामें स्थित अधिगम किया जाता है और ज्ञेय विषयस्वरूप निर्देश (निर्देश्य) आदिकों करके कर्मस्थ अधिगम किया जाता है । कथंचित् भेदाभेद पक्षमें कोई विरोध नहीं होता है । नयोंकी विवक्षासे विशेषण विशेष्यपना या कर्मकरणपना बन जाता है । प्रमाणदृष्टिसे तो अनेक धर्मात्मक पूरी वस्तु कही जाती है। तहां प्रथम ही पदार्थोंको निस्स्वरूप और अवक्तव्य माननेवाले बौद्धोंके मतका निरास कर पदार्थोंके निर्देश्य स्वरूपकी सिद्धि की है। बौद्धोंके माने गये निरंशस्वलक्षणकी सर्वथा प्रतीति नहीं होती है। यहां शब्दके द्वारा भाव अभावके निरूपणका शास्त्रार्थ कर अनेकान्तरूपसे वाच्यवाचक भावको भली भांति पुष्ट किया है शब्द व्यवहारकी भित्ति कोरी वासनायें नहीं हैं । किन्तु वस्तुस्थिति है। आगे चलकर पदार्थोंके निस्स्वभावपनेका निरास कर धर्मोंके निरूपण द्वारा वस्तुका निर्देश करना जानने योग्य बताया है । बौद्ध लोग जब

कोई सम्बन्ध ही नहीं मानते हैं, ऐसी दशामें स्वस्वामिसम्बन्ध भी उनके यहां नहीं बनता है। इन बौद्धोंके सन्मुख विशिष्ट देश, विशिष्ट कालके नियमकरके पदार्थोंकी उत्पत्ति देखी जाती है। अतः परतंत्रतारूप सम्बन्धको सिद्ध कर दिया है। लोकमें अनेक पदार्थोंकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंसे प्रत्यासत्तियां देखी जा रही हैं। ये चारों ही प्रत्यासत्तियां स्पष्टरूपसे सम्बन्ध हैं। सम्बन्धियोंका कथंचित् एकपनको प्राप्त हो जाना रूपश्लेष है। दोपनेकी रक्षा होते हुये भी यह सम्बन्ध बन जाता है। अन्तररहितपना, अप्राप्तोंकी प्राप्ति हो जाना इन परिणतियोंको भी सम्बन्धपना सिद्ध है। यहां फिर बौद्धोंके साथ लम्बा चौडा शास्त्रार्थ होकर क्रियाकारक आदिकी व्यवस्था करते हुये उनके सम्बन्धको वास्तविक बताकर स्वस्वामिसम्बन्धको भी दृढतासे सिद्ध कर दिया है। तीसरे साध्यसाधनभावका भी बौद्ध खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि कारणोंकरके सत् या वस्तु नहीं बनाई जाती है। वर्तमान दो में रहनेवाला सम्बन्ध विद्यमान और अविद्यमान कारण कार्योंमें नहीं ठहर सकता है। इत्यादि प्रकारोंके आक्षेपोंका प्रतिघात स्वयं उन बौद्धोंके ऊपर ही लागू हो जाता है। अकार्यकारणभावमें भी उक्त विकल्प उठाये जासकते हैं। इस अवसरपर बौद्धोंको बहुत लज्जित होना पडा। उनके अस्त्र उन्हींके लिये हानिप्रद हुये हैं। कारकपक्षके अनुसार कार्यकारणभाव और ज्ञापकपक्षका अवलम्ब लेनेपर ज्ञाप्यज्ञापक भावकी प्रतीतियां बाधारहित होकर प्रसिद्ध हो रही हैं। कार्योंकी उत्पत्ति और अनुमान व्यवस्थाको माननेवाले वादी उक्त मार्गके पथिक अवश्य बनेंगे। सम्बन्धकी सम्बन्धियोंमें एकदेश और पूर्णदेशसे वृत्तिका विचार कर कथंचित् तादात्म्यरूप वृत्ति निर्णीत की गयी है। जैसे कि चित्रज्ञानकी अपने आकारोंमें वृत्ति हो जाती है। अन्वय व्यतिरेकके अनुसार निकटदेशवर्ती या दूरदेशवर्ती पदार्थोंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों करके कार्यकारणसम्बन्ध होना इष्ट है। व्यवहारनयसे कार्यकारणभाव है। संग्रह और ऋजुसूत्र नयसे नहीं है। वास्तविक परिणतियोंके अनुसार प्रमाणोंद्वारा कार्यकारण भावकी सिद्धि है। अन्यथा मोक्ष, बन्ध, आदिके साधनोंका अभ्यास करना व्यर्थ पडेगा। ब्रह्माद्वैतवादी और क्षणिकवादियोंके मतमें कार्यकारणभाव नहीं बनता है। किन्तु कथंचित् नित्य, अनित्यको माननेवाले स्याद्वादियोंके यहां साध्य–साधनभाव प्रसिद्ध हो रहा है। आगे चलकर आधार आधेयको न माननेवालोंके प्रति द्रव्य,गुण, आदिकोंका दृष्टान्त देकर अधिकरण सिद्ध किया है। सम्पूर्ण द्रव्योंका आश्रय होता हुआ आकाश स्वयं अपना भी आश्रय है। अतः अनवस्था दोष नहीं। व्यवहारनयसे आश्रय आश्रयीभाव है, निश्चयनयसे सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं अपने आपमें प्रतिष्ठित हो रहे हैं। इसके आगे पदार्थोंकी कुछ कालतक स्थितिको साधनेके लिये बौद्धोंके क्षणिक एकान्तका निराकरण कर सन्तान, समुदाय, आदिकी व्यवस्था बताई है। यहां बौद्धोंसे माने गये कल्पित सन्तान या समुदायका खण्डन कर एकद्रव्य-प्रत्यासत्तिवाले पदार्थोंमें सन्तान सन्तानीभाव साधा है। अन्यथा अपराध किसीने किया और दण्ड अन्यको मिला, इस ढंगसे कृतनाश और अकृतका आगमन दोष

लागू होता है। ऋजुसूत्र नयसे क्षणमात्र ठहरते हुये भी पदार्थ वास्तविक परिणतिके अनुसार व्यवहार नयसे अनेक समयोंतक ठहरनेवाले भी प्रतीत हो रहे हैं। प्रमाण तो नाना समयोंतक ठहरनेवाले पदार्थोंको जान रहा है। सबको एक ब्रह्मस्वरूप माननेवाले ब्रह्माद्वैतवादियोंके प्रति हेतुओंसे पदार्थोंके नाना प्रकारोंकी सिद्धि की है। ग्राह्यग्राहक विद्या, अविद्या आदि भेदोंसे पदार्थोंमें विशेषतायें हैं। इस प्रकार प्रमाणस्वरूप निर्देश आदिकोंकरके और उनके विषयस्वरूप निर्देश्यत्व आदिकों करके अधिगति और अधिगम्यमानता की जाती है। युक्ति और आगमके अविरोधसे जीव, अजीव, आदि तत्त्वोंमें प्रमाण, नयों, द्वारा उदाहरण समझ लेनेका ग्रन्थकारने आदेश किया है। ग्रन्थके गौरव हो जानेका लक्ष्य कर अधिक लम्बा चौडा विवेचन नहीं किया गया है।

स्याद्वादोत्तमवर्द्धमानहिमवत्पद्मागतो निःसृता।
स्वान्यज्ञशिवराजदाक्तजिनभृद्दीपाद्रिविद्योतमात्॥
सन्तापासहिताप्यकुण्डवदूमास्वाम्याननावृत्ताविता।
निर्देशादिकणान् विकीर्य जिनवाग्गङ्गा पुनात्वाशु नः॥

—०—

न केवलं निर्देशादीनामधिगमस्तत्त्वार्थानां किं तर्हि।

अब अग्रिमसूत्रके अवतरणके लिये एककार्यत्व नामकी संगतिको दिखलाते हैं कि केवल निर्देश आदिकोंके द्वारा ही जीव आदिक तत्त्वअर्थोंका अधिगम नहीं होता है तो क्या है? बताओ। इसका उत्तर यह है कि अन्य भी अधिगमके उपाय हैं, वे कौन उपाय हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर पूज्यचरण श्रीउमास्वामी महाराज सूत्रको कहते हैं कि—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

१ सत्तासहितपन २ संख्या ३ निवासस्थान ४ तीनों कालसम्बन्धी निवासस्थल ५ काल ६ विरह ७ परिणमन ८ थोडाबहुतपन, इन करके भी रत्नत्रयका और जीव आदिक पदार्थोंका विशद अधिगम होता है।

स्वार्थोऽधिगमो ज्ञानात्मकैः, परार्थः शब्दात्मकैः कर्त्तव्य इति घटनात्।

ज्ञान आत्मक (स्वरूप), सत्संख्या, आदिकोंकरके स्वयं अपने लिये अधिगम होता है। कारण कि प्रतिपादकको स्वयं अपने हितार्थ ज्ञप्ति करनेके लिये करणज्ञानका अन्वेषण करना आवश्यक है और शब्दस्वरूप सत्संख्या आदिकों करके दूसरोंके लिये अधिगम किया जाना चाहिये। क्योंकि प्रतिपाद्य श्रोता अपनी प्रतिपत्तिको शब्दोंके द्वारा कर लेता है। इस प्रकार विद्वानोंके सम्प्रदायमें घटित हो रहा है।

नन्नु पूर्वसूत्र एवाधिगमस्य हेतोः प्रतिपादितत्वात् किं चिकीर्षुरिदं सूत्रमब्रवीत् इति चेत् ।

यहां शंका है कि हेतुओंसे तत्त्वार्थोंके अधिगमका प्रतिपादन करना जब पूर्वसूत्रमें ही कहा जा चुका है तो क्या करनेकी इच्छासे आचार्यने इस " सत्संख्या " आदि सूत्रका प्रतिपादन किया, बताओ ? इस प्रकार शंका होनेपर तो श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर देते हैं कि—

सदादिभिः प्रपंचेन तत्त्वार्थाधिगमं मुनिः ।
संदिदर्शयिषुः प्राह सूत्रं शिष्यानुरोधतः ॥ १ ॥

अतीव विस्तारके साथ सत्संख्या आदिकों करके तत्त्वार्थोंके अधिगमको भले प्रकार दिखला-नेकी इच्छा रखनेवाले श्रीउमास्वामी मुनि महाराज शिष्योंके अनुरोधसे सत्संख्या आदि सूत्रको प्रकाण्ड विस्तारपूर्वक स्पष्ट कहते भये (कहरहे हैं) ।

ये हि शिष्याः संक्षेपरुचयस्तान् प्रति " प्रमाणनयैरधिगमः " इति सूत्रमाह । ये च मध्यमरुचयस्तान् प्रति निर्देशादिसूत्रं । ये पुनर्विस्तररुचयस्तान् प्रति सदादिभिरष्टाभिस्तत्त्वा-र्थाधिगमं दर्शयितुमिदं सूत्रं, शिष्यानुरोधेनाचार्यवचनप्रवृत्तेः ।

जो शिष्य नियम करके संक्षेपसे ही समझनेकी रुचि रखते हैं, चाहे वे कुशाग्रबुद्धि हों या थोडी समझनेकी शक्ति रखते हों, उनके प्रति आचार्य महाराजने " प्रमाणनयैरधिगमः " यह सूत्र पहिले कहा और जो शिष्य न अधिक संक्षेप और न अधिक विस्तार, किन्तु मध्यमरूपसे प्रबोधकी अभिलाषा रखते हैं, उनके प्रति अधिगमका उपाय समझानेके लिये फिर " निर्देशस्वामित्वसाधनाधि-करणस्थितिविधानतः " यह सूत्र कहा । किन्तु फिर भी जो शिष्य अतीव विस्तारसे समझनेकी उत्कण्ठा रखते हैं, वे भले ही विशदबुद्धिवाले हों या अधिक कहे जानेपर कुछ समझनेकी टेव रखते हों, उनके प्रति " सत्संख्या " आदि आठ अनुयोगों करके तत्त्वार्थोंके अधिगमको दिखलानेके लिये " सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च " यह सूत्र कहा है । क्योंकि विनीत शिष्योंके अनुरोध अनुसार आचार्योंके वचनोंकी प्रवृत्ति हो रही देखी जाती है । अर्थात् शिष्य जिस ढंगसे समझ सकें उसीके अनुसार आचार्य महाराज तत्त्वोंका उपदेश देते हैं । परोपकारी आचार्य महाराजका भिन्न भिन्न जातिके क्षयोपशमवाले शिष्योंको विप्रलम्भ करानेमें कोई गांठका प्रयोजन नहीं सधता है ।

नास्तित्वैकांतविच्छित्त्यै तावत् प्राक् सत्प्ररूपणं ।
सामान्यतो विशेषात्तु जीवाद्यस्तित्वविच्छिदे (भिच्छिदे) ॥ २ ॥

तिन अनुयोगोंमें सामान्यरूपसे नास्तिपनके एकान्तको निराकरण करनेके लिये और विशेष-रूपसे तो जीव आदिक सम्बन्धी अस्तिपनके निषेधके वारणार्थ प्रथम ही सत्की प्ररूपणा की है ।

जिससे सर्वथा शून्यवादीका तथा जीवको न माननेवाले चार्वाक और जडको न माननेवाले ब्रह्मवादीका तिरस्कार हो जाता है।

नन्वेकत्वादस्तित्वस्य न सामान्यविशेषसंभवो येन सामान्यतो नास्तित्वैकांतस्य विशेषतो जीवादिनास्तित्वस्य व्यवच्छेदाय सत्प्ररूपणं प्रागेव संख्यादिभिः क्रियते। न ह्येका न सत्ता सर्वत्र सर्वदा तस्या विच्छेदाभावात्। सत्ताशून्यस्य कस्यचिदंशस्य वानुपपत्तेः, सत्प्रत्ययस्य सर्वत्र सर्वदा सद्भावात्। सत्प्रत्ययस्यैकरूपत्वेपि सत्तानेकत्वे च न किंचिदेकं स्यादिति कश्चित्, सोऽसमीक्षिताभिधायी। सत्तायास्तद्वद्वाह्यार्थेभ्यः सर्वथा भिन्नायाः प्रतीत्यभावात् तेभ्यः कथंचिद्भिन्नायास्तु प्रतीतौ तद्वत्सामान्यविशेषवत्त्वसिद्धेर्नोक्तोपालंभः।

यहां वैशेषिककी शंका है कि सत्तारूप अस्तित्वका एकपन होनेके कारण उसके सामान्य और विशेषोंका सम्भव नहीं है। जिससे कि सामान्यरूपसे सम्पूर्ण पदार्थोंके नास्तिपनके एकान्तका और विशेषरूपसे जीव आदिकोंके नास्तिपनका व्यवच्छेद करनेके लिये संख्या, क्षेत्र आदिकोंसे प्रथम ही सत्का प्ररूपण किया जाय, अर्थात्—सत्ता नित्यव्यापक एक है। जब उसमें सामान्य और विशेष विकल्प ही नहीं है तो फिर सामान्य और विशेषरूपसे नास्तित्वके निवारणार्थ पहले सत् प्ररूपणा क्यों की जा रही है? सत्ता एक नहीं है, यह नहीं समझना। क्योंकि सब स्थलोंपर सभी कालोंमें उस सत्ताका विच्छेद (व्यवधान) नहीं हो रहा है। भावार्थ—सब देश और सब कालोंमें आकाशके समान सत्ता व्याप रही है। कोई भी देश सत्तासे शून्य होकर नहीं सिद्ध हो रहा है। सम्पूर्ण पदार्थोंमें सब स्थलोंपर सदा ही " सत् " ऐसे ज्ञानोंका सद्भाव है। सत्प्रत्ययके अन्तररहित एकरूप होते हुए भी यदि सत्ताको अनेक माना जायगा, तब तो जगत्में कोई भी पदार्थ एक न सिद्ध हो सकेगा। आकाश आदि सभी व्यक्तियां अनेक बन बैठेंगी, इस प्रकार कोई वैशेषिक कह रहा है, सो वह बिना विचारे हुये पदार्थका कथन करनेवाला है। क्योंकि उस सत्तावाले बाह्य घट, पट, आदि अर्थोंसे सभी प्रकार भिन्न होती हुई सत्ताकी प्रतीति नहीं हो रही है। हां, भिन्न सत्तावान् पदार्थोंसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न ऐसी सत्ताकी प्रतीति होना माना जायगा, तब तो उन्हीं अर्थोंके समान सत्ताके भी सामान्य विशेषसहितपना सिद्ध हो जाता है। उससे अभिन्न पदार्थमें उसके धर्म अवश्य आते हैं। इस कारण वैशेषिकोंका कहा हुआ उलाहना स्याद्वादियोंके ऊपर लागू नहीं होता है। यानी जब पृथिवी, आदिक पदार्थोंमें सामान्य और विशेषभाव है तो उनसे अभिन्न सत्तामें भी सामान्य और विशेष अवश्य मानने पडेंगे। पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न हो रही सत्ता जातिकी सिद्धि नहीं हो सकती है। " न याति न च तत्रासे न पश्चादस्ति नांशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः " इत्यादि अनेक दूषण प्राप्त हो जावेंगे।

सर्वमसदेवेति वदंतं प्रत्याह—

सम्पूर्ण पदार्थ असत्स्वरूप ही हैं, इस प्रकार कहनेवाले शून्यवादीके प्रति श्रीविद्यानंद आचार्य स्पष्ट व्याख्यान करते हैं कि—

सन्मात्रापह्नवे संवित्सत्त्वाभावान्न साधनम् ।
स्वेष्टस्य दूषणं वास्ति नानिष्टस्य कथंचन ॥ ३ ॥

पदार्थोंकी सम्पूर्णरूपसे सत्ताका यदि निराकरण किया जायगा तो संवेदनकी सत्ताका भी अभाव हो जायगा। ऐसी दशामें अपने इष्टतत्त्वका साधन करना और दूसरे प्रतिपक्षिओंके द्वारा माने गये अनिष्टतत्त्वका दूषण करना, किसी भी ढंगसे नहीं बन पाता है। भावार्थ—ज्ञानसे ही इष्ट तत्त्वोंका साधन और अनिष्टतत्त्वोंका निवारण होता है। जब शून्यवादीके विचार अनुसार सम्पूर्ण पदार्थोंको सत् नहीं मानोगे तो ज्ञानकी भी सत्ता नहीं मानी जायगी। ऐसी दशामें उक्त कार्य कैसे सम्पन्न हो सकेगा ? तुम शून्यवादी ही विचार करो।

संवेदनाधीनं हीष्टस्य साधनमनिष्टस्य च दूषणं ज्ञानात्मकं न च सर्वशून्यतावादिनः संवेदनमस्ति, विप्रतिषेधात्। ततो न तस्य च युक्तं। नापि परार्थं वचनात्मकं तत एवेति न सन्मात्रापह्नवोपायात्।

इष्टकी सिद्धि करना और अनिष्ट तत्त्वका दूषण दिखलाना ये सब संवेदनके अधीन होनेवाले कार्य हैं। ज्ञानाद्वैतवादियोंके अथवा स्याद्वादियोंके यहां अपने लिये अधिगमको करानेवाले इष्टसाधन और अनिष्टदूषण ये दोनों ज्ञानस्वरूप हैं। किन्तु सबको शून्यपना कहनेकी टेववाले वादीके यहां तो संवेदन भी तत्त्व नहीं माना गया है। क्योंकि विप्रतिषेध है। अर्थात्—ज्ञानको मान लेनेपर सब पदार्थोंका शून्यपना नहीं बन पाता है और सबका शून्यपना मान लेनेपर संवेदनकी सत्ता नहीं ठहरती है। यह तुल्यबलवाला विरोध है। तिस कारण उस शून्यवादीको सम्पूर्ण सत्पदार्थोंका अपह्नव करना युक्त नहीं है तथा दूसरोंके लिये इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण भी जो कि वचनस्वरूप है नहीं बन पायगा। क्योंकि यहां भी वही युक्ति है अर्थात् तुल्यबल विरोध है। वचन मान लेनेपर सर्वशून्यपना नहीं घटता है और सर्वकी शून्यता माननेपर श्रोताओंके लिये वचनस्वरूप इष्टसाधन और अनिष्टदूषण नहीं बन सकते हैं। इस कारण सम्पूर्ण ही सत्पदार्थोंका अभाव कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा कहनेसे स्वयं शून्यवादीका ही नाश हुआ जाता है।

संविन्मात्रं ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यत्वाच्छून्यमिति चेत्—

ग्रहण करने योग्य और ग्रहण करानेवाले ऐसे ग्राह्यग्राहकभाव, तथा बाध्यबाधकभाव, कार्यकारणभाव, वाच्यवाचकभाव, आदि परिणामोंसे शून्य होनेके कारण केवल संवेदनमात्रको हम शून्य तत्त्व कहते हैं। बहिरंग पदार्थ और ज्ञानके आकारोंको सर्वथा नहीं मानते हैं। इस प्रकार वैभाषिक बौद्धोंके कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि—

ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यं संवित्तिमात्रकम् ।
न स्वतः सिद्धमारेकाभावापत्तेरशेषतः ॥ ४ ॥
परतो ग्रहणे तस्य ग्राह्यग्राहकतास्थितिः ।
परोपगमतः साचेत्स्वतः सोऽपि न सिध्यति ॥ ५ ॥
कुतश्चिद्ग्राहकात्सिद्धः पराभ्युपगमो यदि ।
ग्राह्यग्राहकभावः स्यात्तत्त्वतो नान्यथा स्थितिः ॥ ६ ॥
ग्राह्यग्राहकभावोऽतः सिद्धस्त्वेष्टस्य साधनात् ।
सर्वथैवान्यथा तस्यानुपपत्तेर्विनिश्चयात् ॥ ७ ॥

ग्राह्य ग्राहकभाव, बाध्यबाधकभाव, आदिसे सर्वथा रीता केवल संवेदन ही तत्त्व अपने आपसे तो सिद्ध नहीं होता है । यदि अपने तीव्र सुखदुःख आदिके समान केवल शून्यसंवेदनका स्वतः ज्ञान हो जाता, तब तो पूर्णरूपसे संशय होनेके अभावका प्रसंग होगा । किन्तु किसी भी प्राणीको केवल संवेदनका ही ज्ञान तो नहीं होता है, यदि उस शून्य संवेदनका दूसरेसे ग्रहण होना मानोगे, तब तो ग्राह्यग्राहक भावकी सिद्धि हो जाती है । संवेदन ग्राह्य हो गया और पर पदार्थ ग्राहक बन गया । यदि स्वयं ग्राह्यग्राहक भावको न मानकर परवादी जैन या नैयायिकोंके स्वीकार करनेसे बौद्ध कुछ देरके लिये विचारसे पहिले उस ग्राह्यग्राहकताको मानेंगे तो वह ग्राह्यग्राहकताकी दूसरोंकी स्वीकृति भी अपने आपसे सिद्ध नहीं हो पाती है । पुनः यदि किसी अन्य ग्राहक ज्ञानसे परवादियोंके स्वीकार करनेको सिद्ध हुआ मानोगे तब तो वास्तविक रूपसे ग्राह्यग्राहक भाव सिद्ध होगया समझो । अन्यथा लोकप्रसिद्ध ग्राह्यग्राहकपनेकी तुम्हारे यहां स्थिति नहीं हो सकती है । अथवा दूसरे प्रकारोंसे आपके इष्टतत्त्वकी व्यवस्था न बन सकेगी । इस कारण अपने इष्टपदार्थका साधन करनेसे सभी प्रकार ग्राह्यग्राहक भाव सिद्ध हो जाता है । अन्यथा यानी ग्राह्यग्राहकभावको न मानने पर सभी प्रकारोंसे उस इष्टसंवेदनमात्र तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकनेका विशेषरूपसे निश्चय हो रहा है ।

न हि ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यस्य संवेदनस्य स्वयमिष्टस्य साधनं स्वाभ्युपगमतः पराभ्युपगमतो वा स्वतः परतो वा परमार्थतः ग्राह्यग्राहकभावाभावे घटते, अतिप्रसंगात् । संवृत्या घटत एवेति चेत्, तर्हि संवेदनमात्रं परमार्थ सत् संवृतिसिद्धं । ग्राहकवेद्यत्वाद्वेद्यव्यवहारवत् ।

ग्राह्यग्राहक भाव, बाध्यबाधक भाव, आदिसे शून्य ही रहे और स्वयं बौद्धोंके द्वारा इष्ट किये गये ऐसे शुद्धसंवेदनका साधन करना तो वास्तविकरूपसे ग्राह्यग्राहकभावके न होनेपर केवल स्वयं बौद्धोंके स्वीकार करनेसे स्वतः अथवा दूसरे जैन, मीमांसक आदिके स्वीकार करनेसे परके द्वारा भी नहीं घटित होता है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा अर्थात् प्रमेय और प्रमाण का ग्राह्यग्राहकभाव न होते हुये भी चाहे जिसके माननेसे या अपनी इच्छासे यदि अभीष्ट तत्त्वोंको साधा जायगा तब तो सब मिथ्याज्ञानियोंके मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे। चाहे जिस अलीक पदार्थकी सिद्धि बन बैठेगी। यदि कल्पित व्यवहारसे कुछ देरके लिये ग्राह्यग्राहकभावको मानकर इष्टतत्त्वका साधन करना घटित हो ही जायगा, इस प्रकार कहोगे तब तो आप बौद्धोंका वास्तविक पदार्थरूपसे सद्भूत (वास्तविक) माना गया केवल संवेदन भी कल्पनासिद्ध समझा जायगा। क्योंकि द्वैतरूप भेदोंको जाननेवाला व्यवहार जैसे वास्तविक नहीं है, कल्पित है, उसीके समान कल्पनासे गढलिये गये ग्राहक द्वारा जानने योग्य होनेके कारण शुद्धसंवेदन भी पारमार्थिक न बन सकेगा। कोरी कल्पनाका विषय समझा जायगा। जैसे कि छोटे बालक खेलते समय अपने मनमें अपनेको राजा मान लेते हैं।

स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति चेत्, कुतस्तत्र संशयः ? तथा निश्चयानुपपत्तेरिति चेन्न, सुगतस्यापि तत्र तत्प्रसंगात्। तस्य विधूतकल्पनाजालत्वान्न स्वरूपे संशय इति चेत्। तदिदमनवस्थितप्रज्ञस्य सुभाषितं संवेदनाद्वैततत्त्वं प्रतिज्ञाय विधूतकल्पनाजालः सुगतः, पृथग्जनाः कल्पनाजालावृतमनस इति भेदस्य कथनात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि शुद्धसंवेदनके स्वरूपकी तो स्वयं उसीसे ज्ञप्ति हो जाती है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन उन बौद्धोंसे पूंछेंगे कि उस शून्यसंवेदनमें संशय होनेका क्या कारण है ? जो स्वतः संवेद्यमान है वह तो अपने स्वयं जीवित रहनेके समान दिनमें, रातमें, गृहमें, वनमें, पण्डितको, मूर्खको, दरिद्रको, धनाढ्यको, सबको सदा सर्वत्र प्रतिभासता रहता है। कोई शिशु भी उसमें संशय नहीं करता है। किन्तु आप बौद्धोंके माने गये संवेदनमें अनेक पुरुषोंको सन्देह हो रहा है। यदि बौद्ध यों कहें कि तिस प्रकार शुद्धसंवेदनका निश्चय नहीं सिद्ध होनेके कारण कतिपय जीवोंको संशय हो जाता है अथवा निर्विकल्पक होनेसे सम्वेदनका तिस प्रकार निश्चय होना असिद्ध है। इसपर आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि आपके इष्टदेवता बुद्धको भी उस संवेदनमें निश्चय न होनेसे उसे संशय होनेका प्रसंग होगा। आपने बुद्धके निर्विकल्पक ज्ञान माना है, निश्चय ज्ञान नहीं माना है। यदि बौद्ध फिर यों कहें कि वह बुद्ध तो कल्पनाके जालोंसे छूटा हुआ है। अतः शुद्धसंवेदनके स्वरूपमें उसको संशय नहीं होता है। संशय भी तो कल्पना ज्ञान है, ऐसा माननेपर तो हमको कहना पडता है कि सो यह अच्छा भाषण (उपहास) उस पुरुषका है जिसकी कि विचारशालिनी बुद्धि किसी निर्णीतमार्गपर स्थित नहीं रहती है। भावार्थ—यह बौद्धोंके द्वारा

मानी गयी क्षणिक बुद्धिकी हंसी की गयी है। देखिये, बौद्धजन शुद्धसंवेदन तत्त्वके अद्वैतकी पहिले प्रतिज्ञा करके पुनः बुद्धदेव कल्पनासे, झगडोंसे रहित हैं और दूसरे न्यारे संसारी जीव कल्पनाके जालोंसे घिरे हुये चित्तवाले हैं, इस प्रकार भेदका कथन करते हैं। स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य तो अद्वैतको मानकर फिर द्वैतको पुष्ट नहीं करेगा।

कथं च संवेदनाद्वैतवादिनः संवृतिपरमार्थसत्यद्वयविभागः सिद्धः ? संवृत्येति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः। सिद्धे हि परमार्थसंवृतिसत्यविभागे संवृतिराश्रीयते तस्यां च सिद्धायां तद्विभाग इति कुतः किं सिध्येत्, तत्र तत्त्वतो ग्राह्यग्राहकभावाभावे स्वेष्टसाधनं नामेति विनिश्चयः।

और संवेदनके अद्वैतको कहनेकी टेव रखनेवाले वैभाषिकके यहां भला कल्पनासत्य और वास्तविक सत्य इन दो सत्योंका विभाग कैसे सिद्ध होगा ? बताओ ! इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि वस्तुको न छूनेवाले व्यवहारसे दो सत्योंका विभाग कर लिया जायगा। यथार्थपनेसे नहीं। तब तो हम कहते हैं कि सो यह अन्योन्याश्रय दोष हुआ। वास्तविक सत्य और व्यवहारसत्यका विभाग हो जानेपर संवृतिका आश्रय लिया जाता है और उस संवृतिके सिद्ध हो जानेपर उन दो सत्योंका विभाग करना बनता है। इस प्रकार परस्पराश्रय दोषकी दशामें किससे किसकी सिद्धि की जाय ! तुम ही बताओ ! तिस कारण वास्तविक रूपसे ग्राह्यग्राहकभावको माने विना अपने अभीष्ट तत्त्वकी नाममात्र भी सिद्धि नहीं हो सकती है ऐसा विशेष निश्चय समझो।

बाध्यबाधकभावस्याप्यभावेनिष्टबाधनं।
स्वान्योपगमतः सिध्येन्नेत्यसावपि तात्त्विकम्॥ ८॥

झूंठा ज्ञान और ज्ञेय बाध्य होता है तथा समीचीन ज्ञान और ज्ञेय बाधक होता है। अर्थात्—तदऽभाववान्में तत्प्रकारक बुद्धि या उस बुद्धिका विषय बाध्य है और तद्वान्में तत्प्रकारक निर्णय या उस निर्णयका विषय बाधक है, ऐसे बाध्यबाधक भावका अभाव माननेपर संवेदनाद्वैतवादियोंके यहां अनिष्टतत्त्वमें बाधा कैसे दी जा सकेगी ! केवल अपने या दूसरोंके स्वीकार कर लेनेसे तो अनिष्टका बाधन नहीं सिद्ध हो जायगा। इस कारण वह बाध्यबाधकभाव या अनिष्टतत्त्वकी बाध करना परमार्थभूत है अथवा " अबाधे अनिष्टसाधनं " पाठ होनेपर बाध्यबाधक भावकी बाधा न माननेपर आप बौद्धोंके अनिष्ट बाध्यबाधकभावका साधन हुआ जाता है। अपने या अन्यके स्वीकार करने मात्रसे अनिष्टकी बाधा देना कैसे भी सिद्ध न हो सकेगा। अवसर पडनेपर परपुरुषोंकी तलवार तुम्हारे काममें नहीं आ सकती है। अतः यह अनिष्टबाधन भी वास्तविक मानना चाहिये। तभी बौद्ध अपने अभीष्ट संवेदनाद्वैतकी सिद्धि कर सकेंगे। तत्त्व यह है कि बाध्यबाधकभावको मानो तो

बाध्यबाधकभाव मानना आवश्यक हो जाता है और बाध्यबाधकभावको न माननेपर भी नियमसे बाध्यबाधकभाव आ टपकता है " सेयमुभयतः पाशा रज्जुः "।

न हि बाध्यबाधकभावादेरनिष्टस्य बाधनं स्वतः सर्वेषां प्रतिभासते, विप्रतिपत्त्यभावप्रसंगात्। संविन्मात्रप्रतिभासनमेव तत्प्रतिभासनमिति चेन्न, तस्यासिद्धत्वात्। परतो बाधकादनिष्टस्य बाधनमिति चेत् सिद्धस्तर्हि बाध्यबाधकभावः इति तन्निराकरणप्रकरणसंबंधं प्रलापमात्रं। संवृत्या अनिष्टस्य बाधनाददोष इति चेत् तर्हि तत्त्वतो न वा बाध्यबाधकभावस्य बाधनमिति दोष एव। पराभ्युपगमात् तद्बाधनमिति चेत् तस्य सांवृतत्वे दोषस्य तदवस्थत्वात्। पारमार्थिकत्वेपि तदनतिक्रम एवेति सर्वथा बाध्यबाधकभावाभावे तत्त्वतो नानिष्टबाधनमुपपन्नम्।

बौद्धोंको अभीष्ट नहीं ऐसे बाध्यबाधकभाव कार्यकारणभाव आदिकी बाधा होना सभीको अपने आपसे तो नहीं प्रतिभास रहा है। क्योंकि सबको स्वयं दीख जाता तब तो विवाद होनेका प्रसंग ही नहीं आता। यदि बौद्ध यों कहें कि केवलशुद्धसंवेदनका ज्ञान होना ही उस अनिष्ट बाध्यबाधक आदिकी बाधाका प्रतिभास है, आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना। क्योंकि अकेले उस शुद्ध संवेदनके प्रतिभास होनेकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि बौद्ध दूसरोंके माने गये बाधकप्रमाणोंसे स्वयंको अनिष्ट होरहे बाध्यबाधकभाव आदिकी बाधा करेंगे तब तो सुलभतासे बाध्यबाधकभाव सिद्ध होगया। इस प्रकार उसके खण्डनके प्रकरणका सम्बन्ध लाना व्यर्थ बकना मात्र है। यदि पूर्वके समान व्यवहाररूप कल्पनासे अनिष्ट तत्त्वकी बाधा हो जानेके कारण उक्त दोष नहीं आते हैं यह कहोगे तब तो वास्तविकरूपसे बाध्यबाधकभावकी बाधा न हो सकी। अंड ऊआ (एरंड) की बंदूक कवचका वेध नहीं कर सकती है। इस प्रकार बौद्धोंके ऊपर दोष ही रहा। अर्थात्—वास्तविक रूपसे उन्हें बाध्यबाधक भाव मानना पडा। यदि दूसरे वादियोंके स्वीकृत किये गये बाध्यबाधक भावसे उसकी बाधा करोगे तब तो उस दूसरोंके स्वीकारको यदि कल्पित माना जायगा तो वही दोष वैसाका वैसा ही अवस्थित रहा। यानी कल्पित बाध्यबाधक भावसे अनिष्ट बाध्यबाधक भावकी बाधा नहीं हो सकती है। अतः बाध्यबाधक भाव जमगया और यदि उस दूसरोंके मन्तव्यको वास्तविक माना जायगा तो भी उस दोषका अतिक्रमण नहीं ही हुआ। यानी बाधा माननेपर भी बाध्यबाधक भाव बन बैठा। इस प्रकार सभी ढंगसे बाध्यबाधक भावको माने विना वास्तविक रूपसे अनिष्ट तत्त्वकी बाधा करना कथमपि सिद्ध नहीं हो पाता है। अनिष्ट तत्त्वकी बाधा माननेपर तो सुलभतासे वस्तुभूत बाध्यबाधक भाव बौद्धोंके गले पड जायगा। टाला नहीं टल सकता है।

कार्यकारणभावस्याभावे संविदकारणा।
सती नित्यान्यथा व्योमारविंदादिवदप्रमा ॥ ९ ॥

संवेदनाद्वैतवादी यदि कार्यकारण भावको नहीं स्वीकार करेंगे तो उनका माना गया संवेदन सत् और कारणरहित होता हुआ नित्य हो जायगा। ऐसी व्याप्ति बनी हुई है कि " सदकारणवन्नित्यं ", जो सत् होता हुआ अपने जनक कारणोंसे रहित है वह नित्य है। सत् संवेदनका कारण जब बौद्ध मान नहीं रहे हैं तो वह अवश्य नित्य हो जायगा। अन्यथा यानी कार्यकारणभाव नहीं मानते हुये सत् भी न माना जायगा तो आकाशके कमल, वन्ध्यापुत्र, आदिके समान प्रमारहित यानी प्रमाका विषय न होता हुआ असत् हो जायगा। यहां नित्यके लक्षणमें सत् विशेषण तो प्रागभावमें अतिव्याप्तिके निवारणार्थ दिया है और घट, पट, आदिमें अति प्रसंगको हटानेके लिये विशेष्य दल अकारणवत् रखा है।

सर्वथैवाफलत्वाच्च तस्याः सिद्ध्येन्न वस्तुता ।
सफलत्वे पुनः सिद्धा कार्यकारणतांजसा ॥ १० ॥

प्रत्येक द्रव्य अनादिसे अनन्तकालतक परिणमन करता है। पूर्ववर्ती पर्याय उपादान कारण है और उत्तरवर्ती पर्याय उपादेय है। यह उत्तरकालवर्ती पर्याय भी तदुत्तरकालवर्ती पर्यायको उत्पन्न कर नष्ट हो जाती है। यह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका क्रम अनाधनन्त है। तभी वस्तुपना व्यवस्थित हो रहा है, अन्यथा नहीं। यहां प्रकरणमें संवेदनका कारण न माननेपर दोष कहा जा चुका है। अब संवेदनका उत्तरवर्ती कार्य न माननेपर आचार्य दोष देते हैं कि और उस संवेदनको सभी प्रकार यदि फलरहित माना जायगा उससे तो उस संवेदनका वस्तुपना सिद्ध नहीं होवेगा। जो अर्थ अर्थक्रियाको करनेवाले हैं वे वस्तुभूत पदार्थ माने गये हैं। यदि संवेदनको फलसहितपना स्वीकार किया जायगा तब तो फिर बडी शीघ्रतासे कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है। उत्तरवर्ती फलको उत्पन्न करना ही तो संवेदनका कार्य है।

न संविदकारणा नापि सकारणा नाफला नापि सफला यतोऽयं दोषः। किं तर्हि ? संवित्संविदेवेति चेत्, नैवं परमब्रह्मसिद्धेः संविन्मात्रस्य सर्वथाप्यसिद्धेः समर्थनात् ।

बौद्ध कहते हैं कि हमारी मानी गयी संवित्ति न तो कारणोंसे रहित है और अपने जनक कारणोंसे सहित भी नहीं है तथा वह संवित्ति न तो फलरहित है और वह फलसहित भी नहीं है, जिससे कि ये उक्त दोष हमारे ऊपर लागू हो जाय। तो संवित्ति क्या है ? कैसी है ? इस प्रश्नके उत्तरमें हम बौद्धोंका यह कहना है कि संविद् तो विचारी संविद् ही है। जैसे कि स्वानुभूति स्वानुभूति ही है। अब आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना तो उचित नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो परमब्रह्मकी सिद्धि हो जावेगी, आप बौद्धोंके समान वे ब्रह्माद्वैतवादी भी ब्रह्म ब्रह्म ही है, ऐसा कहकर सब दोषोंको हटानेका प्रयत्न कर सकते हैं। आपके केवल शुद्ध संवेदनकी सब प्रकारोंसे भी सिद्धि न होनेका समर्थन कर दिया गया है।

वाच्यवाचकताप्येवमिष्टानिष्टात्मनोः स्वयम् ।
साधनाद्दूषणाच्चापि वाग्भिः सिद्धान्यथा न तत् ॥ ११ ॥

इसी प्रकार संवेदनाद्वैतवादियोंके यहां वाच्यवाचकभाव भी सुलभतासे सिद्ध हो जायगा। क्योंकि वे स्वयं अपने इष्टस्वरूप पदार्थका साधन वचनोंसे और अनिष्ट स्वरूप पदार्थके दूषण करनेका वचनोंसे प्रयोग करते हैं। अन्यथा यानी वाच्यवाचकभावको माने विना वह इष्टसाधन और अनिष्ट दूषण प्रतिपाद्य श्रोताओंके प्रति नहीं समझाया जा सकेगा ।

स्वयमिष्टानिष्टयोः साधनदूषणे परं प्रति वाग्भिः प्रकाशयित्वातीत्य वाचकभावं निराकरोति कथं स्वस्थः। नो चेत् कथमिष्टानिष्टयोः साधनदूषणमिति चिंत्यं ।

बौद्ध स्वयं अपने इष्टसंवेदन अद्वैतका साधन और अनिष्ट द्वैतके दूषणको दूसरे वादियों या शिष्योंके प्रतिवचनोंके द्वारा प्रकाशित करके फिर वाच्यवाचक भावका उल्लंघन कर निराकरण करता है, ऐसा बौद्ध कैसे नीरोग (उन्मत्त नहीं) कहा जा सकेगा ? । यदि वचनों द्वारा परके प्रति प्रतिपादन करना न माना जायगा तो इष्टतत्त्वका साधन और अनिष्टतत्त्वका दूषण कैसे कर सकोगे ? इसकी तुम स्वयं चिन्ता करो अर्थात्— वाच्यवाचक भावको माने विना दूसरोंके समझानेकी चिन्ता सर्वदा बनी रहेगी। गूंगेपन और बहिरेपनसे तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है ।

संवृत्या चेत् न तया तस्योक्तस्याप्यनुक्तसमत्वात्। स्वप्नादिवत्संवृतेर्मृषारूपत्वात्। तदमृषारूपत्वे परमार्थस्य संवृतिरिति नामकरणमात्रं स्यात्ततो न ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यं संविचिमात्रमपि शून्यसाधनाभावात् सर्वशून्यतावत् ।

परमार्थरूपसे नहीं किन्तु व्यवहारसे साधन, दूषणके वचन कहो सो तो ठीक नहीं। क्योंकि उस व्यवहारसे कहा गया भी वह साधन, दूषणका वचन नहीं कहा गया सरीखा ही है। जैसे कि स्वप्न, मृगी, मूर्च्छा आदि अवस्थाके वचन हैं। क्योंकि आपके यहां संवृतिको झूंठस्वरूप माना है। यदि उस संवृतिको सत्यस्वरूप माना जायगा तब तो आपने यथार्थ वस्तुका नाम संवृति कर रखा दीखता है। इस प्रकार संवृतिसे वाच्यवाचक भाव है। यह वास्तविकरूपसे वाच्यवाचक भावका केवल दूसरा नाम धर लिया गया कहना चाहिये। तिस कारण ग्राह्यग्राहक भाव, बाध्यबाधक भाव, आदिसे शून्य केवल संवेदनमात्र भी तत्त्व सिद्ध नहीं हुआ। क्योंकि सर्वकी शून्यताके समान अकेले ज्ञानके अतिरिक्त पदार्थोंकी शून्यताके भी साधनका अभाव है। यहांतक तीसरी, चौथी, वार्त्तिकका उपसंहार कर दिया गया है ।

सत्त्वसत्प्ररूपणं युक्तमादावेव विपश्चिताम् ।
क्वान्यथा परधर्माणां निरूपणमनाकुलम् ॥ १२ ॥

तिस कारण सम्पूर्ण प्ररूपणाओंके आदिमें विद्वान् लोगोंको पदार्थोंके सद्भावका प्ररूपण करना ही समुचित है। अन्यथा यानी वस्तुके सद्भावका निर्णय हुये विना उसके अन्यधर्मोंका आकुलता रहित होकर प्रतिपादन करना भला कहां बन सकता है ? अर्थात् नहीं। सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यात्।

सत्प्ररूपणाभावेऽर्थानां धर्मिणामसत्त्वात् क संख्यादिधर्माणां प्ररूपणं सुनिश्चितं प्रवर्तते शशविषाणादिवत्। कल्पनारोपितार्थेषु तत्प्ररूपणमिति चेत् न तेष्वपि कल्पनारोपितेन रूपेणासत्सु न तन्निरूपणं युक्तमतिप्रसंगात्। सत्सु तन्निरूपणे सत्प्ररूपणमेवादौ प्रेक्षावतां युक्तमिति निराकुलम्।

पदार्थोंके सद्भावका निरूपण न होनेपर धर्मियोंकी सत्ता न सिद्ध होसकनेके कारण संख्या, क्षेत्र, आदि धर्मोंका भले प्रकार निश्चित होकर किया गया प्रतिपादन करना भला कहां प्रवर्त्त सकता है ? जैसे कि शशके सींगों आदिकी सत्ता न होनेके कारण उन सींगोंके लम्बापन, चिकनापन, गोलाई, कठिनता आदि धर्मोंका कथन नहीं हो पाता है। यदि शून्यवादी कल्पनासे आरोपे गये अर्थोंमें उस सत्की प्ररूपणा होना मानेंगे सो तो ठीक नहीं। क्योंकि कल्पनासे आरोपे गये स्वरूप करके असत्रूप उन पदार्थोंमें भी उस सत्का प्ररूपण करना तो युक्त नहीं है। क्योंकि यों तो अतिप्रसंग होजायगा। यानी कल्पनामें प्राप्त हुये आकाशकुसुम आदि असत् पदार्थोंकी सत्ताका भी प्ररूपण होने लग जायगा और यदि कल्पनासे आरोपे गये स्वरूप करके सद्भूत हो रहे पदार्थोंमें यदि उस सत्ताका निरूपण करना माना जायगा, तब तो सबकी आदिमें सत्का प्ररूपण करना ही हित, अहित, विचारनेकी बुद्धिको रखनेवाले विद्वानोंको उचित है, यह निराकुल होकर सिद्ध कर दिया गया है।

निर्देशवचनादेतन्निन्नं द्रव्यादिगोचरात्।
सन्मात्रविषयीकुर्वदर्थानास्तित्वसाधनम् ॥ १२ ॥

केवल स्थूलद्रव्य या सदृश व्यंजनपर्यायरूप कतिपय पदार्थोंको या द्रव्य, गुण, आदिको विषय करनेवाले निर्देशके वचनसे यह सम्पूर्ण वस्तुभूत अर्थोंकी केवल सत्ताको विषय करता हुआ अस्तित्वको साधनेवाला सत्ताका प्ररूपण न्यारा है।

निर्देशवचनात्सत्त्वसिद्धेः सद्वचनं पुनरुक्तमित्यसारं, निर्देशवचनस्य द्रव्यादिविषयत्वात् सद्वचनस्य सन्मात्रविषयत्वात् भिन्नविषयत्वेन ततस्तस्य पुनरुक्तत्वासिद्धेः। न हि यथा जीवादयो साधारणधर्माधाराः प्रतिपक्षव्यवच्छेदेन निर्देशवचनस्य विषयास्तथा सद्वचनस्य तेन सर्वद्रव्यपर्यायसाधारणेन सत्त्वस्याभिधानात्।

पहिले निर्देशस्वामित्वसाधन आदि सूत्रमें कहे गये निर्देशके कथनसे ही पदार्थोंकी सत्ता सिद्ध हो जाती है तो फिर इस सूत्रमें सत्का वचन करना पुनरुक्त है, इस प्रकार किसीका कहना तो साररहित है। क्योंकि शद्बके द्वारा कहे जाने योग्य द्रव्य, गुण, क्रिया, संयोगी, समवायी, यदृच्छा आदिको विषय करनेवाला ही निर्देश वचन है और इस सूत्रमें सत्प्ररूपणका वचन तो सम्पूर्ण पदार्थोंकी केवल सत्ताको विषय करनेवाला है। अतः भिन्न भिन्न विषय होनेके कारण उस निर्देश वचनसे उस सत् वचनको पुनरुक्तपना असिद्ध है। असाधारण धर्मोंके आधार होते हुए कतिपय जीव आदिक पदार्थ जैसे प्रतिकूल पक्षकी व्यावृत्ति करके निर्देश कथनके विषय हैं, तिस प्रकार असाधारणधर्मके आधार होते हुये वे सद् कथनके विषय नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंमें साधारण रूपसे रहनेवाले तिस सद्वचन करके सामान्यसत्ताका कथन किया जाता है। यानी निर्देशका विशेष विषय है और सत्का विषय सामान्य है, यही दोनोंका भेद है। इतना क्या थोडा अन्तर है ? ।

तस्यापि स्वप्रतिपक्षासत्त्वव्यवच्छेदेन प्रवृत्तेरसाधारणविषयत्वमेवेति चेन्न, असत्त्वस्य सदंतररूपत्वेन सद्वचनादव्यवच्छेदात्। भवदपि सामर्थ्यान्नास्तित्वसाधनं सद्वचनं स्वप्रतिपक्षव्यवच्छेदेन सन्मात्रगोचरं निर्देशवचनाद्भिन्नविषयमेव ततो महाविषयत्वात्। निर्दिश्यमानवस्तुविषयं हि निर्देशवचनं न स्वामित्वादिविषयं, सद्वचनं पुनः सर्वविषयमिति महाविषयत्वं।

यहां यदि कोई यों शंका करे कि उस सत् वचनकी भी अपने प्रतिपक्षी असत्ताकी व्यावृत्ति करके प्रवृत्ति हो रही है, अतः वह भी सम्पूर्ण सत्, असत्, पदार्थोंमें नहीं प्रवृत्त होता हुआ असाधारण सत्पदार्थोंका ही विषय है। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि असत्ताको हम तुच्छ अभावरूप पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु एककी असत्ता दूसरेकी सत्ता रूप है। रीता भूमिभाग ही घटकी असत्ता है। प्रकरणमें प्राप्त हुये सत् पदार्थसे रहित और दूसरे सत्स्वरूपपनेकर व्यवस्थित हो रहे असत्त्वका सत्वचनसे व्यवच्छेद नहीं होता है। अतः सत्ता वस्तुभूत सत्, असत् पदार्थोंमें रहने वाली होती हुई साधारण है। असाधारण विषयवाली नहीं है। दूसरी बात यह है कि अर्थापत्ति प्रमाणकी सामर्थ्यसे प्रतिपक्षके नास्तित्वको साधनेवाला और अपने प्रतिपक्षीके व्यवच्छेद करके केवल सत्ताको विषय करनेवाला होता हुआ भी सत्ताका वचन निर्देशवचनसे भिन्न विषयवाला ही है। क्योंकि सम्पूर्ण सद्भूत पदार्थोंके अनन्तानन्तवें भाग रूप कतिपय मध्यम संख्यात रूप संख्याको धारनेवाले पदार्थोंको ही कहनेवाले उस निर्देशवचनसे यह सत्प्ररूपणा महान् विषयवाला है। देखो ! निर्देश कथन तो शद्बों द्वारा कथन किये गये वस्तुको ही विषय करता है। तभी तो परस्परमें भिन्न होती हुई पहिले सूत्रमें छह प्ररूपणायें की गयी हैं और यह सत् वचन तो फिर सम्पूर्ण ही निर्दिश्य, स्वामित्व, साधन, आदि सब ही को विषय करता है। इस कारण इसका विषय महान् है। समझे ! ! !

सत्त्वमपि निर्दिश्यमानं निर्देशवचनेन विषयीक्रियमाणं न तस्याविषय इति चेन्न, स्वामित्वादि वचनविषयसत्त्वस्य तदविषयत्वात् । किं सदिति हि प्रश्ने स्यादुत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सदिति निर्देशवचनं, न पुनः कस्य, सत् केन, कस्मिन्, कियच्चिरं, किं विधान-मिति प्रश्नेऽपि तदा स्वामित्वादिवचनस्यैवावतारात् । नैवं, सद्वचनं किमित्यनुयोग एव प्रवर्तते सर्वथा सर्वानुयोगेषु तस्य प्रवृत्तेः ।

पुनः शंकाकार कहता है कि शब्दके द्वारा निर्देश की गयी सत्ता भी निर्देश कथन करके विषय की जा रही है । अतः उस निर्देशवचनकी अविषय नहीं है । अर्थात्–जिस ढंगसे निर्देश वचनका व्यापक सत् कह दिया गया है, उसी प्रकार सत्संख्या, आदिका भी निर्देश हो जानेके कारण निर्देश कथन भी सत्तासे महाविषयवाला होकर व्यापक हो सकता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना । क्योंकि स्वामित्व, साधन आदि वचनको विषय करनेवाली सत्ता उस निर्देश वचनका व्याप्य होकर विषय नहीं है । अतः सत्ताका पेट बडा है । सत् क्या है । ऐसा प्रश्न करनेपर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त सत् है, यह निर्देश वचन ही उत्तर हो सकेगा । किन्तु फिर किस स्वामीका सत् है ? किस साधन करके सत् बनाया जाता है ? किस अधिकरणमें कितनी देर तक, और कितने प्रकारका सत् है ? इस प्रकार प्रश्न उतरनेपर तो फिर सत् ऐसा निर्देश वचनरूप उत्तर नहीं उतरता है । वहां तो उत्तरमें स्वामिपन, साधन, आदिके वचनोंका ही अवतार होगा, तभी तो निर्देश आदि छःप्ररूपण ये हैं । इस प्रकार क्या है ? केवल ऐसा प्रश्न होनेपर ही सत्वचन नहीं प्रवर्त्तता है । प्रत्युत सभी प्रकार स्वामित्व, आदिके सभी प्रश्नोंमें उस सद्वचनकी प्रवृत्ति है । अतः निर्देशवचनसे सत्प्ररूपणा व्यापक है, तभी तो दूसरे सूत्र द्वारा न्यारी कही गयी है ।

संख्यादिवचनविषये सद्वचनस्याप्रवृत्तेर्न सर्वविषयत्वमिति चेन्न, तस्यासत्त्व-प्रसंगात् । न ह्यसंत एव संख्यादयः संख्यादिवचनैर्विषयीक्रियंते तेषामसत्त्वप्रसंगात् । सतां तेषां विषयीकरणे सिद्धं, सद्वचनेनापि विषयीकरणमिति तदेव सर्वविषयत्वेन महाविषयं ततो न पुनरुक्तम् ।

निर्देश करने योग्य संख्या, क्षेत्र, आदिके वचन विषयोंमें सत् वचनकी प्रवृत्ति न होनेसे संख्या (सत्ता) को सर्व विषयपना नहीं बन पाता है, तभी तो परस्परमें एक दूसरेसे न्यारी होती हुई सत्, संख्या, आदि आठ प्ररूपणायें बन सकेंगीं, यह तो न कहना । क्योंकि संख्या आदिक वचनोंके विषयोंमें भी सत्पना व्याप रहा है । अन्यथा उस संख्या आदिके वचनोंके विषयको असत्पनेका प्रसंग हो जायगा । असत्स्वरूप ही होते हुये संख्या आदिक तो संख्या, क्षेत्र, आदिको कहनेवाले वचनों करके नहीं विषय किये जाते हैं । यों तो उन संख्या, आदिकोंके खरविषाण समान असत्पनेका प्रसंग होगा । संख्या आदिके वचनों करके उन सद्भूत ही संख्या आदिकोंका विषय किया जाना माननेपर तो पहिले विषयको प्राप्त नहीं हुयेका भी सत् वचनकरके

विषय किया जाना (अभूततद्भावे च्विप्रत्ययः) सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार वह सत्प्ररूपण ही सबको विषय करनेवाला होनेके कारण महाविषयवाला है। तिस कारण निर्देश कह चुकनेपर भी आवश्यकतावश सत् कहा गया है। पुनरुक्त दोषका प्रसंग नहीं आता है।

गत्यादिमार्गणास्थानैः प्रपंचेन निरूपणम्।
मिथ्यादृष्ट्यादिविख्यातगुणस्थानात्मकात्मनः ॥ १४ ॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहार इन चौदह मार्गणा स्थानोंकरके मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली, अयोगकेवली इन प्रसिद्ध हुये चौदह गुणस्थानस्वरूप जीवका विस्तार करके प्ररूपण कर लेना चाहिये।

कृतमन्यत्र प्रतिपत्तव्यमिति वाक्यशेषः। सोपस्कारत्वात् वार्तिकस्य सूत्रवत्।

दूसरे धवलसिद्धान्त, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें तथा श्लोकवार्तिक विवरण महोदयमें सामान्य और विशेषरूपसे विस्तारके साथ किया गया प्ररूपण वहांसे समझना चाहिये। इतना वाक्यशेष रह गया था, सो उपर्युक्त चौदहवीं वार्तिकका अर्थ करते समय जोड लेना। क्योंकि सूत्रोंके समान वार्तिक भी अपना व्यक्त अर्थ करानेके लिये यथायोग्य परिशिष्ट ऊपरके वाक्योंका आकर्षण कर लेते हैं। अन्यथा लघुशरीरवाले वार्तिकसे इतना गम्भीर अर्थ निकालना दुःसाध्य है। यहांतक सत्का व्याख्यान हो चुका है।

संख्या संख्यावतो भिन्ना न काचिदिति केचन।
संख्यासंप्रत्ययस्तेषां निरालंबः प्रसज्यते ॥ १५ ॥

दूसरी संख्याकी प्ररूपणाका प्रारम्भ होनेपर प्रथम ही इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं कि संख्यावान् पदार्थसे संख्या कोई भिन्न नहीं है। इसपर आचार्योंका कहना है कि उन बौद्धोंके यहां संख्याके समीचीन ज्ञानको आलम्बन रहितपनेका प्रसंग होता है। अर्थात् आकाश कुसुमके ज्ञान समान संख्याका ज्ञान विषयरहित हो जायगा। अपने असद्भूत विषयको नहीं जान पायेगा।

नैव संख्यासंप्रत्ययोऽतींद्रियजः तत्रैकस्मिन् स्वलक्षणप्रतिभासमाने स्पष्टैकत्वसंख्यायाः प्रतिभासनाभावात्। नहीदं स्वलक्षणमियमेकत्वसंख्येति प्रतिभासद्वयमनुभवामः। नापि लिंगजोऽयं संख्यासंप्रत्ययः संख्याप्रतिबद्धलिंगस्य प्रत्यक्षसिद्धस्याभावात्। तत एव

न शब्दोऽयं प्रत्यक्षानुमानमूलः। योगिप्रत्यक्षमूलोऽयमिति चेन्न, तस्य तथावगंतुमशक्यत्वात्। ततोऽयं मिथ्याप्रत्ययो निरालम्बन एवेति केचित्, तेषां तस्य दिशाविनियमो न स्यात्। कारणरहितत्वादन्यानपेक्षणात् सर्वदा सत्त्वमसत्त्वं वा प्रसज्येत। निरालम्बनोपि समनंतरप्रत्ययनियमात् प्रतिनियतोयमिति चेन्न बहिःसंख्यायाः प्रतिनियतायाः प्रतीयते।

बौद्ध अपने मन्तव्यको पुष्ट करते हैं कि भिन्न संख्याका समीचीन ज्ञान होना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो है नहीं, क्योंकि तिस इन्द्रियजन्य एक प्रत्यक्षमें स्वलक्षणके स्पष्टरूपसे प्रतिभास हो जानेपर एकत्व संख्याका तो न्यारा प्रतिभास नहीं होता है। हम बौद्ध यह स्वलक्षणतत्त्व है और उसकी यह न्यारी एकत्व संख्या है, इस प्रकार होते हुये दो प्रतिभासोंका अनुभव नहीं कर रहे हैं, तथा न्यारी संख्याका यह समीचीन ज्ञान तो हेतुजन्य अनुमानस्वरूप भी नहीं है, यानी अनुमान प्रमाणसे भी संख्या नहीं जानी जाती है। क्योंकि संख्यारूप साध्यके साथ व्याप्तिको रखनेवाले और प्रत्यक्ष प्रमाणसे साधे गये ऐसे हेतुका अभाव है। तिस ही कारण यह संख्याका ज्ञान शाब्दबोध (आगम) रूप भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानको मूलकारण मानकर शाब्दबोधकी प्रवृत्ति होती चली आरही है। किन्तु, यहां प्रत्यक्ष, अनुमानकी प्रवृत्ति होनेका निषेध किया जा चुका है। यदि कोई यों कहे कि सभी प्रत्यक्षोंको नहीं, किन्तु समाधिरूप योगको धारनेवाले सर्वज्ञके प्रत्यक्षको मूलभित्ति मानकर यह शाब्दबोध प्रवर्त्तता है। अतः प्रत्यक्षमूलक होता हुआ शब्दबोध संख्याका भले प्रकार ज्ञान करलेगा। बौद्ध कहते हैं कि सो यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस आगमका तिस प्रकार सर्वज्ञको मूल मानकर प्रवर्त्तना जाननेके लिये अशक्यता है। सभी अपने अपने आगमोंको सर्वज्ञसे प्रतिपादित हुआ मानते हैं। किन्तु इसका निर्णय नहीं किया जासकता है। तिस कारण तीनों प्रमाणरूप न होता हुआ यह संख्याको जाननेवाला मिथ्याज्ञान अपने ज्ञेय विषयसे रहित ही है, इस प्रकार कोई सौगत कह रहे हैं। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि उनके यहां कारणरहित होनेसे और अन्यकी नहीं अपेक्षा रखनेसे उस संख्या ज्ञानके उपदेशका विशेष नियम न हो सकेगा, अर्थात्—कहीं भी चाहे जितनी संख्याका प्रयोग किया जासकेगा। कारणरहित या अन्य निरपेक्ष होनेसे आकाशके समान या तो सदा ही सत् होजायगा अथवा खरविषाणके समान सदा असत् होजानेका ही प्रसंग होजावेगा। एक पदार्थमें दो, चार आदिका ज्ञान भी होजावेगा और दो, चार, पदार्थोंको एक भी कह सकेंगे। संख्या ज्ञानके नियत रहनेकी कोई व्यवस्था न हुई। आलम्बनसे रहित ज्ञान किसी भी मिथ्याज्ञानीके चाहे जब हो सकेंगे। कोई नियामक नहीं। किन्तु यह संख्याका ज्ञान अव्यवस्थित तो नहीं है। यदि बौद्ध यों कहें कि यह संख्याको जाननेवाला ज्ञान तो निर्विषय होता हुआ भी अव्यवहित पूर्ववर्त्ती ज्ञान होनेके नियमसे प्रतिनियत होरहा है। अर्थात्—अनादिकालीन वासनाओंसे उत्पन्न होकर अव्यवहित पूर्वसमयोंमें संख्याका ज्ञान अपने उपादान कारणवश यहां ही उसी समय संख्याको जतावेगा। सर्वत्र सर्वदा नहीं। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि प्रतिनियत

संख्यासे बाहर यह ज्ञान प्रतीत होरहा है अथवा परिगणित पदार्थोंमें प्रतिनियत हो रही और संख्यावान्से कथंचित् बहिर्भूत संख्याकी प्रतीति हो रही है। लोक इसका साक्षी है। कोई मिथ्या वासनाओं द्वारा मनगढन्त नहीं है।

वासनामात्रहेतुश्चेत्सा मिथ्याकल्पनात्मिका।
वस्तुसापेक्षिकत्वेन स्थविष्ठत्वादिधर्मवत् ॥ १६ ॥
नीरूपेषु शशाश्वादिविषाणेष्वपि किं न सा।
तत्कल्पनासु सत्यासु स्वरूपेण तु सांजसा ॥ १७ ॥

जैसे कि बेरकी अपेक्षा बिल्व (बेल) स्थूल है और बिल्वसे नारियल मोटा है तथा अंगुलीसे लेखनी और लेखनीसे बेत लम्बा है, इस प्रकार ये स्थूलपन, लम्बापन, आदि धर्म जैसे अन्य वस्तुओंकी अपेक्षासहितवाले होनेके कारण मिथ्या कल्पनास्वरूप हैं, वैसे ही दो, तीन, चार आदि संख्याओंके ज्ञान भी केवल झूंठी वासनाओंको कारण मानकर उत्पन्न हुये हैं। अतः मिथ्या कल्पना स्वरूप हैं, वास्तविक नहीं हैं। यदि वस्तुभूत होते तो दूसरोंकी अपेक्षा नहीं करते, जैसे रूप, रस, सुख आदि पदार्थ किसीकी अपेक्षा नहीं करते हैं। किन्तु द्वित्व, त्रित्व, आदिक संख्यायें तो अन्योंकी अपेक्षा रखती हैं। जो अन्यापेक्ष है वह मनगढन्त है। परमार्थभूत नहीं है, इस प्रकार बौद्धोंके कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि यों तो स्वरूपरहित शशशृंग या अश्वशृंग आदिमें भी वह मिथ्याकल्पना स्वरूप संख्या क्यों न होजावेगी। यदि यों कहो कि उनकी कल्पनाओंमें है ही, तब तो वस्तुभूत कल्पनाओंमें स्वरूपसे मान ली गयी संख्या स्पष्ट ही वास्तविक रूपसहित समझी जायगी मनगढन्त नहीं।

बहिर्वस्तुषु संख्याध्यवसीयमाना वासनामात्रहेतुका मिथ्याकल्पनात्मिकैवापेक्षिकत्वादिधर्मवदिति चेन्न, नीरूपेषु शशादिविषाणेष्वपि तत्प्रसंगात्। तत्कल्पना स्वस्त्येवेति चेत् तर्हि ताः कल्पनाः स्वरूपेण सत्याः किं वा न सत्याः? न तावदुत्तरः पक्षः स्वमतविरोधात्। कथमिदानीं स्वरूपेण सत्यासु कल्पनासु संख्या परमार्थतो न स्यात्, तास्वपि कल्पनांतरारोपितापेक्षिकत्वाविशेषात् बहिर्वस्तुष्विवेति चेत्, स्यादेवं यदि हि कल्पनारोपितत्वेनापेक्षिकं व्याप्तं सिध्येत्।

घट, पट, आदि बहिरंग वस्तुओंमें निर्णीत की जा रही संख्या केवल वासनाको कारण मानकर उत्पन्न हुई है। अतः अपेक्षासे होनेवाले या व्यवहारसे यों ही गढलिये गये स्थूलत्व, परत्व, अपरत्व, सूक्ष्मत्व, आदि धर्मोके समान द्वित्व, त्रित्व संख्या भी मिथ्याकल्पना स्वरूप ही है। जैसे कि गोल चकलीके चाहे जिस छेदमें दूसरापन, बीसवांपन, सौमापन ये धर्म अपेक्षाओंसे रह जाते हैं, तैसे ही चाहे जिन पदार्थोंमें दोपना, बीसपना आदि अनियत संख्यायें अपेक्षा बुद्धिसे गढ की जाती

हैं। वे वस्तुभूत नहीं हैं। निर्विकल्पक ज्ञान तो सत्य हैं। हां, निश्चयात्मकज्ञान असत्य हैं, निरालम्बन हैं। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि यों तो सर्वथा स्वरूप रहित शश, मनुष्य, मत्स्य आदि सम्बन्धी विषाणों (सींगों) में भी आपेक्षिक धर्मोंके और उस संख्याके रहनेका प्रसंग होगा। यदि तुम बौद्ध यों कहो कि उनकी कल्पना बुद्धियोंमें संख्या विद्यमान है ही, ऐसा कहनेपर तो हम पूंछते हैं कि क्या वे कल्पनायें स्वरूपसे सत्य हैं ? अथवा क्या वे स्वरूपसे सत्य नहीं हैं ? बताओ ? तिन दो पक्षोंमें पिछला पक्ष तो अपने मतसे विरोध होनेके कारण ठीक न पडेगा। बौद्धोंने कल्पनाको अपने कल्पनारूप शरीर करके तो सत्य ही माना है। अन्यथा कल्पना कल्पनारूप न ठहर सकेगी, वस्तुभूत बन बैठेगी। प्रथमपक्षके अनुसार कल्पनाओंको यदि सत्य माना जायगा तब तो स्वरूपसे सत्य कल्पनाओंमें ठहरी हुई संख्या भला अब परमार्थ रूपसे क्यों न हो सकेगी ? यदि पुनः बौद्ध यों कहें कि बहिरंग वस्तुओंके समान उन स्वरूप सत्य कल्पनाओंमें भी दूसरी अन्य कल्पनाओंसे आरोपा गया आपेक्षिकपना अन्तररहित होकर वर्त्तता है, अतः वे कल्पनायें कल्पित हैं और कल्पनासे आरोपी गयी द्वित्व, आदि संख्या भी आपेक्षिक है। वस्तुभूत नहीं है, ऐसा कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तब हो सकता था कि यदि कल्पना द्वारा आरोपितपने करके आपेक्षिकपना व्याप्तसिद्ध हो जाता। किन्तु कल्पितपनेसे व्याप्त हो रहा आपेक्षिकपना सिद्ध नहीं हुआ है। अर्थात्—जो जो आपेक्षिक है वे वे झूंठी कल्पनाओंसे आरोपित हैं, यह व्याप्ति ठीक नहीं है। दुग्ध, घृत, द्राक्षा, गुड, शर्करा आदिमें माधुर्य तारतम्य रूपसे आपेक्षिक है। किन्तु कल्पित नहीं है। रस गुणकी माधुर्य पर्यायके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी न्यूनता और अधिकतासे हुआ मीठापन वस्तुभूत है। इसी प्रकार स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व भी अकल्पित होते हुये आपेक्षिक हैं। अतः आपेक्षिक होती हुई भी संख्या पारमार्थिक है।

न चापेक्षिकता व्याप्ता नीरूपत्वेन गम्यते।
वस्तुसत्स्वपि नीलादिरूपेष्वस्याः प्रसिद्धितः॥ १८॥

और आपेक्षिकपना निःस्वरूपपनेसे व्याप्त हो रहा नहीं जाना जा रहा है। क्योंकि वास्तविक रूपसे सत्स्वरूप भी नील, बढिया नील, बहुत अच्छा नील, आदि रूपोंमें इस आपेक्षिकपनेकी प्रसिद्धि हो रही है। किन्तु वे नील, नीलतर, नीलतम, आदि रंग गगनकुसुमके समान निःस्वरूप तो नहीं हैं।

नीलनीलांतरयोर्हि रूपो यथा नीलापेक्षं नीलांतररूपं तथा नीलांतरापेक्षं नीलमिति नीलादिरूपेषु वस्तुसत्स्वपि भावादपेक्षिकताया न कल्पनारोपितत्वेन व्याप्तिरवगम्यते यतः संख्यांतरया बहिरंतर्नीरूपत्वं।

नीले पुष्प और दूसरे अधिक नीले पुष्पमें रंग है, जिस प्रकार नीलकी अपेक्षा रखता हुआ दूसरा अधिक नील रंग है, तिसी प्रकार दूसरे अधिक नीलेकी अपेक्षा रखता हुआ पहिला थोडा नीला रंग है। इस प्रकार परमार्थरूपसे सद्भूत नील आदिक रंगोंमें भी आपेक्षिकपना विद्यमान है। अतः व्यभिचार दोष होनेके कारण आपेक्षिकपने हेतुकी कल्पनासे आरोपेगयेपन साध्यके साथ व्याप्ति नहीं जानी जाती है, जिससे कि कल्पनाओंसे आरोपी गयी अन्तरंग, बहिरंग, पदार्थोंमें रहनेवाली संख्याको निःस्वरूपपना हो जाय। अथवा अन्य पदार्थोंमें ठहरी हुई दूसरी संख्यासे प्रकृत संख्याको बाहर भीतर स्वरूपरहितपना प्राप्त हो जाय। भावार्थ—आपेक्षिक भी संख्या वस्तुभूत है स्वरूपशून्य नहीं है।

यदि पुनरस्पष्टावभासित्वे सत्यपेक्षिकत्वादिति हेतुस्तदा साधनविकलो दृष्टांतः, स्थविष्ठत्वादिधर्माणां स्पष्टावभासित्वात्। तत्र भ्रांतमिति चेन्न, बाधकाभावात्। स्थविष्ठत्वादिधर्मप्रतिभासो न स्पष्टो विकल्पत्वादनुमानादिविकल्पवदित्यनुमानं तद्बाधकमिति चेन्न, पुरोवर्तिनि वस्तुनींद्रियजविकल्पेन स्पष्टेन व्यभिचारात्।

फिर बौद्ध यदि यों कहें कि हम केवल आपेक्षिकपने हेतुसे कल्पनासे आरोपितपनेकी सिद्धि नहीं करते हैं, किन्तु कल्पनारोपितपनेको साधनेमें अस्पष्ट रूपसे प्रतिभासवाले होते सन्ते आपेक्षिकपना इतना हेतु कहते हैं, तब तो हम जैन कहते हैं कि आप बौद्धोंका माना गया दृष्टान्त साधनसे रहित होगया। क्योंकि स्थूलपना, छोटापना, लम्बापन, आदि धर्मोके भी स्पष्ट प्रकाशित होनापन विद्यमान है। अतः हेतुका विशेषण अस्पष्ट प्रकाशीपन न रहनेसे दृष्टान्तमें हेतु न रहसका। इस पर आप बौद्ध यदि यों कहें कि उन स्थूलपना आदि धर्मोमें स्पष्ट प्रकाशितपना तो भ्रमयुक्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि स्थूलपन आदिको बाधा देनेवाले प्रमाणका अभाव है। सीपमें हुये चांदीके ज्ञानका " यह चांदी नहीं है " इस आकारवाला बाधकप्रमाण होरहा है। अतः वह भ्रान्त कहा जाता है। किन्तु यहां तो कोई बाधक नहीं है। यदि आप यह बाधक प्रमाण उठावें कि बेर, आमला, अमरूद, आदिमें स्थूलपन, आदि धर्मोका प्रतिभास होना (पक्ष) स्पष्ट नहीं है (साध्य) विकल्पज्ञान होनेसे (हेतु) जैसे कि अनुमान, स्मृति, आदिक सविकल्पकज्ञान स्पष्टरूपसे जाननेवाले नहीं है (दृष्टान्त)। अतः सविकल्पकज्ञान भ्रान्त हैं। यह अनुमान उस स्थूलत्वादि धर्मोके स्पष्ट प्रकाशितपनका बाधक है, ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि आपके दिये हुये बाधक अनुमानका सन्मुख रखी हुई वस्तुमें स्पष्टरूपसे हुये इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञानसे व्यभिचार आता है। अर्थात्—आंखोंके आगे रखे हुये घट, पट, पुस्तक आदिमें इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञान स्पष्ट रूपसे प्रवर्त रहा है। किन्तु वहां स्पष्टपनेका अभावरूप साध्य नहीं है। अतः बाधक अनुमानका हेतु व्यभिचारी है। प्रमाणज्ञानका बाधक झूंठा ज्ञान नहीं होसकता है।

तस्यापि पक्षीकरणादव्यभिचार इति चेत्तर्हि संभाव्यव्यभिचारी हेतुः स्पष्टत्वेन विकल्पत्वस्य विरोधासिद्धेः कचिद्विकल्पत्वस्यास्पष्टत्वेन दर्शनात् स्पष्टत्वेन विरोधे चंद्रद्वयप्रतिभासत्वस्य सत्यत्वेनादर्शनात् स्वसंवित्प्रतिभासत्वस्यापि सत्यत्वं माभूत् तथा तद्विरोधसिद्धेरविशेषात् । अथ प्रतिभासत्वाविशेषेपि स्वसंवित्प्रतिभासः सत्यः शशिद्वयप्रतिभासश्चासत्यः संवादादसंवादाच्चोच्यते तर्हि विकल्पत्वाविशेषेपींद्रियजविकल्पः स्पष्टः साक्षादर्थग्राहकत्वात् नानुमानादिविकल्पोऽसाक्षादर्थग्राहकत्वादित्यनुमन्यतां । तथा चेंद्रियजविकल्पे व्यभिचार एव ।

यदि बौद्ध उस इन्द्रियजन्य विकल्पको भी पक्षकोटिमें कर देनेसे व्यभिचार होना नहीं मानेंगे अर्थात्–स्थूलपन आदि धर्मोंके प्रतिभास समान इन्द्रियजन्य विकल्प भी स्पष्ट नहीं है । अतः हेतुमान्में साध्यके भी वर्त्तजानेसे व्यभिचार नहीं है, इस प्रकार कहनेपर तो हम कहेंगे कि तुम्हारा हेतु सम्भाव्य व्यभिचारी है। क्योंकि विकल्पज्ञानपनेका स्पष्टपनेके साथ कोई विरोध सिद्ध नहीं है । विकल्पज्ञान भी होकर स्पष्ट होसकता है । हां, विरोध होता तो व्यभिचार नहीं हो सकता था । किन्तु जब विकल्पपना होते हुये भी स्पष्टपना रक्षित रह सकता है तो ऐसी दशामें अस्पष्टपना साधनेके लिये कहा गया विकल्पपन हेतुके व्यभिचार दोषकी सम्भावना (सन्देह) अवश्य है, किसी किसी स्मृति या तर्कज्ञानमें विकल्पपना अस्पष्टपनेके साथ देखा जाता है । अतः विकल्पपनेका स्पष्टपनेके साथ विरोध माना जायगा तब तो नीचेके पलकमें कुछ अंगुली गढाकर आंखसे देखनेपर एक चन्द्रमामें हुये दो चन्द्रोंका प्रतिभासपना भी सत्यज्ञानपनेसे नहीं देखा जाता है । इस कारण स्वसंवेदनके प्रतिभासको भी सत्यपना नहीं हो सकेगा । क्योंकि प्रतिभासपनका उस सत्यपनके साथ विरोधकी सिद्धि होनेका कोई अन्तर नहीं है । एकसा है । इसपर यदि आप बौद्ध यों कहें कि सामान्य रूपसे प्रतिभासपनेके विशेषतारहित होते हुये भी स्वसंवेदनज्ञानका प्रतिभास होना तो संवाद हो जानेसे सत्य है और दो चन्द्रमाओंका प्रतिभास तो प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्ति या सफलप्रवृत्तिको पैदा करनारूप संवाद न होनेसे असत्य है । ऐसा कहे जानेपर तब तो हम भी कहते हैं कि विकल्पपनका विशेष न होते हुये भी इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञान स्पष्ट है । क्योंकि वह विशदरूपसे अर्थका ग्राहक है । किन्तु अनुमान, स्मृति, तर्क आदि विकल्पज्ञान तो अविशदरूपसे अर्थके ग्राहक होनेके कारण स्पष्ट नहीं हैं । यह हमारी सम्मति मान लीजिये और तैसा होनेपर इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञानमें स्पष्टपना ठहर जानेके कारण व्यभिचार दोष ही तदवस्थ रहा अर्थात्–आप बौद्धोंके द्वारा कहे गये बाधक अनुमानका हेतु व्यभिचारी हुआ ।

निर्विकल्पत्वादिंद्रियजस्य ज्ञानस्यानिंद्रियजो विकल्पोस्तीति चेन्न, तस्याग्रे व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात् ततो नावस्पष्टावभासित्वं दृष्टान्तेस्तीति साधनवैकल्यमेव ।

बौद्ध यदि यों कहें कि इन्द्रियजन्य ज्ञान तो विकल्पोंसे रहित होकर निर्विकल्पक है। अतः विकल्पज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। ऐसी दशामें हमारी ओरसे दिये हुये बाधक अनुमान प्रमाणका हेतु व्यभिचारी नहीं है। हेतुके न रहते हुये साध्यके रह जानेपर व्यभिचार होता है किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञानमें तो विकल्पपना हेतु नहीं ठहरा है। ऐसी दशामें साध्य भी न रहो, कोई क्षति नहीं है। इसपर आचार्य कहते हैं कि सो तो न कहना। क्योंकि एकदेशसे विशद जाननेवाला वह इन्द्रियजन्य ज्ञान विकल्पस्वरूप है। इसकी आगे भविष्यग्रन्थमें व्यवस्था करदी जायगी। विश्वास रखिये। तिस कारण विशदरूपसे प्रकाशित हो रहे स्थूलपन आदि दृष्टान्तमें अस्पष्टावभासी पन वह हेतुका सत्यन्तदृष्ट नहीं ठहर पाया। तिस कारण बौद्धोंका दिया हुआ दृष्टान्त हेतु विफल ही है।

सर्वत्र संख्यायां च तन्नास्तीति पक्षाव्यापको हेतुर्वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत्। न हि स्पष्टावभासिष्वर्थेष्वस्पष्टावभासित्वं संख्यायाः प्रसिद्धं। न च तत्र स्पष्टसंख्यानुभवाभावे तदनुसारी विकल्पः पाश्चात्यो युक्तः पीतानुभवाभावे पीतविकल्पवत्।

दूसरी बात यह है कि संख्याको नीरूपत्व सिद्ध करनेमें दिया गया वह विशदप्रकाशित नहीं होते हुए आपेक्षिकपना हेतु सम्पूर्ण संख्याओंमें नहीं रहता है। इस कारण पक्षमें व्यापकरूपसे न ठहरनेवाला होता हुआ भागासिद्ध है। जैसे कि वनस्पतियोंके चेतनपना सिद्ध करनेमें दिया गया स्वाप (शयन) हेतु, सर्व वनस्पतियोंमें न वर्त्तनेके कारण भागासिद्ध है। कतिपय वनस्पतियां सोती हैं और अनेक वनस्पतियां निद्राकर्मका उदय होते हुए भी अस्मदादिकोंके स्थूलज्ञानसे जानने योग्य स्वरूपको नहीं प्राप्त होती हैं। अतः " ये वनस्पतियां चैतन्ययुक्त हैं, स्वाप होनेसे " इस अनुमानका हेतु भागासिद्ध है, वैसे ही सभी दो, चार, दस, आदि संख्याओंमें अस्पष्ट प्रतिभासीपन नहीं है। स्पष्टरूपसे प्रकाशित हो रहे घोडे हाथी, आदि पदार्थोंमें रहनेवाली दो, चार, छह आदि संख्याका अस्पष्ट प्रकाशितपना प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात्—यहां संख्या स्पष्टरूपसे जानी जारही है। यदि वहां स्पष्टरूपसे संख्याका अनुभव होनेका अभाव माना जायगा तो उस अनुभवके अनुसार होनेवाला पिछला विकल्पज्ञान उत्पन्न होना भला कैसे युक्त होगा, जैसे कि पीतका स्पष्ट अनुभव किये बिना पीछेसे पीतका विकल्पज्ञान नहीं हो पाता है। भावार्थ—बौद्धोंने निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञानके अनुसार पीछे विकल्पज्ञानोंकी प्रवृत्ति होना माना है जिसको स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष जान लेता है उसी विषयमें विकल्पज्ञान पीछेसे प्रवर्त्तता है। पीछेसे संख्याका विकल्पज्ञान होना बौद्धोंने माना है। अतः पूर्वमें संख्याका स्पष्टज्ञान अवश्य हो चुका कहना ही पडेगा।

तदभिलापविकल्पे वासना तत्त्वाद्युक्त एवेति चेत् तर्हि पीतादिविकल्पोपि तत एवेति न पीताद्याकारोऽवास्तवोर्थेषु संख्यावदिति नीरूपत्वं। सत्येंद्रियज्ञानेवभासनात् पीताद्या-

कारो वास्तव एवेति चेत् तत एव संख्या वास्तवी किं न स्यात्। नहि सा तत्र नावभासते, तदवभासाभावात् कस्यचित्तदक्षव्यापारानन्तरं तदनिश्चयात् तद्विज्ञाने न तस्याः प्रतिभासनमिति चेत्, ततएव पीताद्याकारस्य तत्र तन्माभूत्।

बौद्ध कहते हैं कि थोडीसी निर्विकल्पकज्ञानकी भित्तिको पाकर मिथ्यावासनाओंके वश अण्ट, सण्ट, अनेक अवस्तुभूत पदार्थोंके विकल्प ज्ञान हो जाया करते हैं। प्रकृतमें भी उस संख्याकी अभिलाषाके विकल्पमें अथवा शब्दयोजनापूर्वक हुये विकल्पमें वासना लगरही थी। उससे अवस्तुभूतसंख्याका विकल्पज्ञान उत्पन्न हो जाना युक्त ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहोगे तब तो हमारा जैनोंका यह आक्षेप है कि तिस ही झूंठी वासनाओंके वशसे पीत, नील, आदिका विकल्पज्ञान भी उत्पन्न हो जाओ। इस प्रकार स्वलक्षण अर्थोंमें आपका माना गया पीत आदिक आकार वास्तविक न होसकेगा जैसे कि पदार्थोंमें संख्या वास्तविक आप नहीं मान रहे हैं। इस ढंगसे पीत आदिक आकार भी निःस्वरूप हो जावेंगे अथवा पीत, नील, आदि आकारोंसे रहित वह स्वलक्षण निःस्वरूप हो जायगा। जो कि आप बौद्धोंको इष्ट नहीं है। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि इन्द्रियोंसे जन्य सत्यज्ञानमें प्रकाशित होनेके कारण पीत, नील, आदि आकार वास्तविक ही हैं, ऐसा कहनेपर तो उसी सत्य इन्द्रियजन्य ज्ञानमें प्रकाश रही होनेके कारण संख्या भी वस्तुभूत क्यों न हो जावेगी। वह संख्या उस सत्य इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें नहीं प्रकाश रही है, सो नहीं समझना। अन्यथा बालगोपालमें प्रसिद्ध हो रहे उस संख्याके प्रतिभासका अभाव हो जावेगा। फिर भी बौद्ध यदि यों कहें कि किसी किसी पुरुषके इन्द्रिय व्यापारके अव्यवहित उत्तरकालमें संख्याका निश्चय नहीं हो पाता है। दूरसे वृक्ष या ताराओंके दीख जानेपर भी उनकी संख्याका निर्णय नहीं हो पाता है। इस कारण उस इन्द्रियजन्य ज्ञानमें उस संख्याका प्रतिभास होना नहीं माना जाता है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारण यानी किसी किसी भोले मनुष्यको इन्द्रियव्यापारके पीछे झटिति घोडे, बैल, आदिमें पीत आदिकका निश्चय नहीं होने पाता है। अतः उन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंमें वह पीत आदिकका प्रकाश भी मत होओ। जो पीत आदिक आकारोंको वस्तुभूत माना जायगा तो पदार्थोंकी संख्या भी वस्तुभूत हो जायगी। कोई रोकनेवाला नहीं है।

यदि पुनरभ्यासादिसाकल्ये सर्वस्याक्षव्यापारानंतरं पीताद्याकारेषु निश्चयोत्पत्तेस्तद्वेदने तत्प्रतिभासनमिति मतं तदा संख्याप्रतिभासनमपि तत एवानुमन्यतां। न हि तदभ्यासादिप्रत्ययसाकल्ये सर्वस्याक्षव्यापारान्निश्चयः संख्यायामसिद्ध इति कश्चित् पीताद्याकाराद्विशेषः।

यदि फिर बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि अनेक वार प्रवृत्ति होचुकना रूप अभ्यास और प्रकरण आदि कारणोंकी सम्पूर्णता होनेपर भोले, भद्र, चतुर, आदि सभी जीवोंके इन्द्रिय व्यापारके

अनन्तर पीत, नील, आदि आकारोंमें निश्चय उत्पन्न हो जाता है । अतः उस इन्द्रियजन्य ज्ञानमें उन वस्तुभूत पीत आदि आकारोंका प्रतिभास है । ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो तिस ही कारण यानी अभ्यास आदि सामग्रीकी पूर्णता होनेपर संख्याका निश्चय हो जानेसे संख्याकी ज्ञप्ति भी इन्द्रियजन्य ज्ञानमें मानलो। उस संख्याके अभ्यास आदि कारणोंकी सम्पूर्णता होनेपर सभी जीवोंके अक्षव्यापार द्वारा संख्यामें निर्णय होना असिद्ध नहीं है। इस प्रकार पीत आदि आकारोंसे संख्यामें कोई भी विशेषता नहीं दीखती है अर्थात्–पीत आदि आकारोंके समान संख्या भी वस्तुभूत है ।

संख्यावत्पीताद्याकाराणामपि वस्तुन्यभाव एवेति चायुक्तं, सकलाकाररहितस्य वस्तुनोऽप्रतिभासनात् पुरुषाद्वैतवत् । विधूतसकलकल्पनाकलापं स्वसंवेदनमेव स्वतः प्रतिभासमानं सकलाकाररहितं वस्तु मतमिति चेत् तदेव ब्रह्मतत्त्वमस्तु न च तत्प्रतिभासते कस्यचिन्नानैकात्मन एव सर्वदा प्रतीतेः ।

संख्याके समान पीत आदि आकारोंका भी वस्तुभूत पदार्थोंमें अभाव ही है, इस प्रकार वैभाषिक बौद्धोंका कहना तो युक्तिरहित है। क्योंकि सम्पूर्ण आकारोंसे रहित रीती वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता है, जैसे कि आप बौद्धोंने सभी आकारोंसे रहित ब्रह्माद्वैतका ज्ञान होना नहीं माना है। यदि बौद्धोंका यह मत होय कि सम्पूर्ण कल्पनाओंके समुदायसे विशेषरूप करके धुल गया (रहित) स्वसंवेदन ज्ञान ही स्वयं अपने आपसे सम्पूर्ण आकारोंसे रहित होकर प्रतिभास रहा वस्तुभूत है, स्वलक्षण, पीत आकार, नील आकार, संख्या, आदि कोई पदार्थ वास्तविक नहीं है, इस प्रकार युक्तिरहित बौद्धोंके कहनेपर तो वही अद्वैतवादियोंका परमब्रह्मतत्त्व मान लिया गया समझो और वह परमब्रह्मतत्त्व तो किसीको भी नहीं प्रतिभास रहा है। अनेक और एकस्वरूप ही पदार्थोंकी सदा सबको प्रतीति हो रही है ।

सर्वस्य प्रतीत्यनुसारेण तत्त्वव्यवस्थायां बहिरंतश्च वस्तुभेदस्य सिद्धेः । कथं पीताद्याकारवत् संख्यायाः प्रतिक्षेपः । प्रतीत्यतिक्रमे कुतः स्वेष्टसिद्धिरित्युक्तप्रायं । ततः—

सभी प्रामाणिक पुरुषोंकी प्रतीति होनेके अनुसार तत्त्वोंकी व्यवस्था माननेपर तो बहिरंग और अंतरंग वस्तुओंके भेदोंकी सिद्धि हो रही है। इस कारण पीत, नील, आदि आकारोंके समान भला संख्याका खण्डन कैसे कर सकते हो ? अर्थात् नहीं। यदि प्रतीतियोंका अतिक्रमण किया जायगा तब तो बौद्धोंके यहां अपने अभीष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि कैसे हो सकेगी ? इसको हम बहुलतासे पूर्वमें कह चुके हैं। तिस कारण यह सिद्धान्त किया जाता है कि—

सा चैकत्वादिसंख्येयं सर्वेष्वर्थेषु वास्तवी ।
विद्यमानापि निर्णीतिं कुर्याद्धेतोः कुतश्चन ॥ १९ ॥

प्रतिक्षणविनाशादि बहिरंतर्यथास्थिते।
स्वावृत्त्यपायवैचित्र्याद्बोधवैचित्र्यनिष्ठितेः ॥ २० ॥

सो यह प्रसिद्ध हो रहीं एकत्व द्वित्व, आदिक संख्यायें सम्पूर्ण अर्थोंमें वास्तविक रूपसे विद्यमान हो रहीं भी किसी विशिष्ट ज्ञानरूप कारणके वश अपना निर्णय कराती हैं। जैसे कि बहिरंग और अंतरंग सभी पदार्थोंमें आप बौद्धोंके मन्तव्य अनुसार प्रत्येक क्षणमें नष्ट होजानापन-वर्तमान ही है। फिर भी घट, पट, दुःख, दरिद्रोंकी अभिलाषा आदि पदार्थोंमें स्थित हो रहा, क्षणिकपना विशिष्ट ज्ञानसे ही जाना जाता है। क्योंकि ज्ञानके अपने आवरण कर्मोंके क्षयोपशमरूप नाशकी विचित्रतासे ज्ञानकी विचित्रता होना प्रतिष्ठित हो रहा है। भावार्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे प्रत्येकमें अनेक संख्यायें विद्यमान रहती हैं। किन्तु उनका जान लेना विशिष्ट क्षयोपशमसे होने-वाले ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। अतः ज्ञानविशेष न होनेके कारण किसी मन्दमतीको संख्याका ज्ञान न होय तो हम क्या करें! ज्ञानका दोष वस्तुभूत संख्याके सिर क्यों मढा जाता है।

न हि प्रमेयस्य सत्त्वैव प्रमातुर्निश्चये हेतुः सर्वस्य सर्वदा सर्वनिश्चयप्रसंगात्। नापींद्रियादिसामग्रीमात्रं व्यभिचारात्। स्वावरणविगमाभावे तत्सद्भावेपि प्रतिक्षण-विनाशादिषु बहिरंतश्च निश्चयानुत्पत्तेः, स्वावरणविगमविशेषवैचित्र्यादेव निश्चयवैचित्र्य-सिद्धेरन्यथानुपपत्तेः। तथा सति नियतमेकत्वाद्यशेषं संख्या सर्वेष्वर्थेषु विद्यमानापि निश्चयकारणस्य क्षयोपशमलक्षणस्याभावे निश्चयं न जनयति तद्भाव एव कस्यचित्तन्निश्चयात्।

जगत्में प्रमेय पदार्थोंका विद्यमान होनापन ही सर्वज्ञसे अतिरिक्त प्रमाताओंके निश्चय करा-देनेमें कारण नहीं है। यों तो संपूर्ण छद्मस्थोंको सदा ही सम्पूर्ण विद्यमान पदार्थोंके निश्चय होनेका प्रसंग हो जायगा। तथा केवल इन्द्रियप्रकाश, मन, योग्यदेश, अवस्थिति, आदि सामग्री भी आत्माको चाहे जिस विद्यमान, पदार्थके ज्ञान करानेमें कारण नहीं है। क्योंकि इसमें व्यभिचार दोष है। क्वचित् इन्द्रियादि सामग्रीके होनेपर भी सूक्ष्म आदि विद्यमान पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो पाता है। तथा अन्यत्र क्षयोपशम हो जानेपर इन्द्रिय आदिकके विना भी विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। यह अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार हुआ। हां, अपने ज्ञानके आवरणोंका अपगम हुये विना उन इन्द्रिय आदिके विद्यमान होनेपर भी प्रत्येक क्षणमें विनाश होजाना आदिक बहिरंग, अन्तरंग, पदार्थोंमें निश्चय होना नहीं बनता है अथवा घट आदि बहिरंग और सुख आदि अन्तरंग पदार्थोंके प्रतिक्षणवर्ती विनाश होने, असाधारणपन आदि में ज्ञान नहीं हो पाता है। अतः अपने अपने आवरण कर्मोंके विशेष क्षयोपशमकी विचित्रतासे ही निश्चय होनेकी विचित्रतायें सिद्ध होरहीं हैं। अन्यथा यानी क्षयोपशमकी विशेषताको माने विना किसीके मन्दज्ञप्ति, अन्यके मन्दतर, मन्दतम या तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतमज्ञान होनेकी अनेक जातीयता

नहीं बन सकती है और तिस प्रकार क्षयोपशमके अनुसार ज्ञान होनेकी व्यवस्था हो चुकनेपर पदार्थोंमें नियत होरही एकत्व, आदिक सम्पूर्ण संख्यायें सम्पूर्ण अर्थोमें विद्यमान हो रहीं भी निश्चयके कारणस्वरूप क्षयोपशमके न होनेपर निश्चयको नहीं उत्पन्न कराती हैं और उस क्षयोपशमके होनेपर ही किसी किसी व्यक्तिको उस संख्याका निश्चय हो जाता है। यह मार्ग अतीव प्रशंसनीय है।

यत्रैकत्वं कथं तत्र द्वित्वादेरपि संभवः।
परस्परविरोधाच्चेत्तयोर्नैवं प्रतीतितः ॥ २१ ॥

यदि कोई यों आक्षेप करे कि जिस पदार्थमें एकत्वसंख्या विद्यमान है वहां द्वित्व त्रित्व, आदिका भी ठहरना कैसे सम्भव होगा? क्योंकि उनका परस्परमें विरोध है। जो दो, तीन हैं वे एक नहीं। और जो एक है वह दो तीन नहीं। आचार्य कहते हैं कि सो इस प्रकार आक्षेप नहीं करना। क्योंकि तैसी प्रामाणिकोंको प्रतीति हो रही है। प्रतीतिसे सिद्ध हुये पदार्थमें विरोध नहीं हुआ करता है। " दृष्टे कानुपपत्तिता "

प्रतीते हि वस्तुन्येकत्वसंख्या द्वितीयाद्यपेक्षायां द्वित्वादिसंख्या चानेकस्थत्वात्तस्यास्ततो न विरोधः।

प्रमाणसे निर्णीत कर ली गयी एक वस्तुमें एकत्व संख्या है और दूसरे, तीसरे, आदि पदार्थोंकी अपेक्षा होनेपर द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें भी हैं। वे द्वित्व आदि संख्यायें अनेकमें ठहरती हैं तिस कारण कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—प्रत्येकमें ठहरी हुई एकत्व संख्याके साथ दो, तीन, चार, आदि संख्यायें भी अन्योंकी अपेक्षासे ठहर जाती हैं। इस प्रकार प्रतीतियोंसे उपलम्भ हो जानेपर अनुपलम्भसे साधागया विरोध भला कहां ठहर सकता है? वैशेषिकोंने भी समवाय सम्बन्धसे एकमें एकत्व, द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें मानी हैं और पर्याप्ति सम्बन्धसे दोनोंमें द्वित्व और तीनोंमें एक त्रित्व संख्या व्यापकर रहती मानी है। अपेक्षा बुद्धिके नाशसे उन द्वित्व आदिक संख्याओंका नाश स्वीकार किया है।

वस्तुन्येकत्र दृष्टस्य परस्परविरोधिनः।
वृत्तिर्धर्मकलापस्य नोपालंभाय कल्पते ॥ २२ ॥
स्याद्वादविद्विषामेव विरोधप्रतिपादनात्।
यथैकत्वं पदार्थस्य तथा द्वित्वादि वांछताम् ॥ २३ ॥

शंकाकारके विचार अनुसार परस्पर विरोधी किन्तु वस्तुतः परस्परमें अविरोधसे ठहरे हुये देखे गये धर्मोंके समुदायका एक वस्तुमें वर्तजाना हमें उलाहना देनेके लिये समर्थ नहीं होता है। प्रत्युत स्याद्वादसिद्धान्तके साथ अनुचित विशेष द्वेष करनेवाले वादियोंके यहां ही विरोध होना कहा

गया है । वे द्वेषीजन जिस ही प्रकारसे यानी केवल अपने डीलसे पदार्थका एकपना मानते हैं उस ही प्रकारसे दोपन, तीनपन, आदि संख्याओंका सद्भाव चाह रहे हैं । किन्तु स्याद्वादियोंके यहां तो भिन्न भिन्न निरूपक स्वभावोंसे एकत्व, द्वित्व, आदि संख्याओंकी न्यारी न्यारी वृत्ति मान ली गयी है । अतः विरोध नहीं है ।

ये खलु पदार्थस्य येन रूपेणैकत्वं तेनैव द्वित्वादि वांछंति तेषामेव स्याद्वादविद्विषां विरोधस्य प्रतिपादनात् । " विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां " इति वचनात् न स्याद्वादिनामेकत्वादिधर्मकलापस्य परस्परं प्रतिपक्षभूतस्य वृत्तिरेकत्रैकदा विरुध्यते तथा दृष्टत्वात् । ततो नोपालंभः प्रकल्पनीयः ।

जो वादी नियमसे पदार्थोंका जिस स्वरूपसे एकपना है उस ही स्वरूपसे दोपन, तीनपन, आदि संख्याकी वांछा करते हैं, उन्हीं स्याद्वादोंसे विद्वेष करनेवालोंके यहां विरोधदोष होना कहा जाता है । श्रीसमन्तभद्राचार्यने देवागममें यह कथन किया है कि स्याद्वादन्यायके साथ विद्वेष करनेवाले वादियोंके यहां विरोध होनेके कारण नित्यत्व अनित्यत्व, पृथक्भाव अपृथक्पना, एकत्व अनेकत्व, आदि उभयधर्मोंका एकात्मकपना नहीं बनता है । किन्तु स्याद्वादियोंका सिद्धान्त अनुसार परस्परमें प्रतिपक्षी भी हो रहे एकत्व आदि धर्मोंके समूहकी एक पदार्थमें एक समय वृत्ति होना विरुद्ध नहीं है । क्योंकि तिस प्रकार होता हुआ देखा जा रहा है । तिस कारण स्याद्वादियोंके ऊपर विरोध आदि दोषोंका उलाहना देना नहीं कल्पित किया जा सकता है ।

स्याद्वादिनां कथं न विरुद्धता उभयैकात्म्याविशेषादिति चेत् ।

यदि कोई यों कहें कि दो प्रतिपक्षी धर्मोंका एक आत्मकपना जैसे हमारे यहां नहीं बनता है, वैसे ही विशेषतारहित होनेके कारण स्याद्वादियोंके यहां भी एक अधिकरणमें अनेक धर्मोंका एकात्मकपना नहीं बनेगा तो फिर अनेकान्तवादियोंके मतमें भी विरुद्धपनेका उलाहना क्यों न दिया जाय ? इस प्रकार कहनेपर तो ग्रन्थकारका यह उत्तर है कि—

येनैकत्वं स्वरूपेण तेन द्वित्वादि कथ्यते ।
नैवानंतात्मनोऽर्थस्येत्यस्तु केयं विरुद्धता ॥ २४ ॥

हम स्याद्वादियोंने अनन्तधर्मस्वरूप अर्थका जिस ही स्वरूपसे एकपना है उस ही स्वरूप करके उसके द्वित्व, त्रित्व, आदिक धर्म नहीं कहे हैं । इस कारण एक पदार्थमें अन्योंकी अपेक्षा द्वित्व आदि भी ठहर जाओ । ऐसी दशामें यह विचारी विरुद्धता कहां रही ? अर्थात् नहीं रही ।

द्वितीयाद्यनपेक्षेण हि रूपेणार्थस्यैकत्वं तदपेक्षेण द्वित्वादिकमिति दूरोत्सारितैव विरुद्धताऽनयोः स्वरूपभेदः पुनरनंतात्मकत्वात्तस्य तत्त्वतो व्यवतिष्ठते कल्पनारोपितस्य तस्य निराकरणात् ।

कारण कि द्वितीय, तृतीय, आदिकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले स्वरूप करके पदार्थका एकपना है और उन द्वितीय आदिकी अपेक्षा रखनेवाले स्वरूप करके अर्थकी द्वित्व, त्रित्व आदि संख्यायें हैं, इस कारण विरुद्धता तो दूर ही भगा दी गयी समझ लेनी चाहिये। हां फिर इन एकत्व और द्वित्व, आदिके अपने अपने स्वरूपोंका भेद तो है ही, तभी तो उस धर्मी पदार्थको अनन्तधर्मोके साथ तदात्मकपना है। जब वे धर्म अपने स्वरूपमें न्यारे न्यारे होंगे तभी तो अनन्त हो सकेंगे। इस कारण वास्तविक रूपसे इन धर्मोका अपने अपने रूपमें परस्परभेद व्यवस्थित हो रहा है। कल्पनासे आरोपे गये उस धर्मीका निराकरण कर दिया है। इस कारण वस्तुभूत एक धर्मीमें वास्तविक अनेक धर्म अविरुद्ध होते हुये एक समय ठहर जाते हैं।

भवत्वेकत्वादीनामेकत्र सर्वथाप्यसतां विरोधः स्यात्सतां वा। किं चातः।

अस्तुतोषन्यायसे एकत्व, द्वित्व, आदि धर्मोका एक पदार्थमें विरोध होना मान भी लिया जाय तो आप एकान्तवादी यह बताओ कि सभी प्रकारोंसे असत् हो रहे धर्मोका परस्परमें विरोध होगा ? अथवा सभी प्रकारोंसे सत्भूत धर्मोका विरोध होगा ? इसपर एकान्तवादी कहते हैं कि ऐसा प्रश्न करनेसे तुम जैन भला क्या अपना प्रयोजन सिद्ध करोगे, तुम्ही बताओ ? अब आचार्य कहते हैं कि—

सर्वथैवासतां नास्ति विरोधः कूर्मरोमवत्।
सतामपि यथा दृष्टस्वेष्टतत्त्वविशेषवत् ॥ २५ ॥

कच्छपके रोंगटे समान सभी प्रकार असत् पदार्थोका तो विरोध होता नहीं है और जैसे देखे गये तदनुसार सत् पदार्थोका भी मिथः विरोध नहीं है। जैसे कि अपने अपने अभीष्ट तत्त्वोंके विशेषोंका विरोध किसीने नहीं माना है।

न सर्वथाप्यसतां विरोधो नापि यथादृष्टसतां। किं तर्हि, सहैकत्रादृष्टानामिति चेत् कथमिदानीमेकत्वादीनामेकत्र सकृदुपलभ्यमानानां विरोधः सिध्येत् ? मूर्तत्वादीनामेव तत्त्वतो भेदनयात्तत्सिद्धेः ॥

पूर्वपक्षी कहते हैं कि सभी प्रकारोंसे असत् हो रहे पदार्थोका विरोध नहीं है। और जिस तिस प्रकार देखे जा चुके सत्भूतपदार्थोका भी विरोध हम नहीं मानते हैं, तो किनका विरोध है ? इस प्रश्नपर हमारा यह कहना है कि एक अर्थमें साथ नहीं दीखरहे धर्मोका विरोध है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि अब एकधर्मीमें एक ही समय देखी जारहीं एकत्व, द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्याओंका विरोध भला कैसे सिद्ध होगा ? हां, मूर्तत्व अमूर्तत्व या चेतनत्व व अचेतनत्व आदिका ही वास्तविकरूपसे भेदनयकी अपेक्षा वह विरोध सिद्ध होता है। वे एक स्थलपर नहीं दीखरहे हैं।

नतु च यथैकस्यार्थस्य सर्वसंख्यात्मकत्वं तथा सर्वार्थात्मकत्वमस्तु तत्कारणत्वा-दन्यथा तदयोगात् ।

यहां किसीकी शंका है कि जैसे एक अर्थको सम्पूर्ण संख्याओंके साथ तदात्मकपना सिद्ध माना है, तिसी प्रकार एक अर्थका सम्पूर्ण अर्थोके साथ तदात्मकपना हो जाओ । क्योंकि उन पौद्गलिक कार्योंके कारण सभी पुद्गल हो सकते हैं । अन्यथा यानी तदात्मकपना यदि न माना जायगा तो उस कारणपनेका अयोग होगा अर्थात्–परस्परके नियत कार्यकारण भावका भंग हो जायगा । अथवा अनेक पदार्थोंमें ठहरती हुई और उनकी ओरसे आयी हुई त्रित्व आदि संख्या जब प्रकृत एक अर्थस्वरूप हो जाती है तो जिनकी अपेक्षासे तत्स्वरूप द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि संख्यायें प्राप्त हुई हैं, उन पदार्थोंसे तदात्मक प्रकृत अर्थ हो जाना चाहिये । अन्यथा उन अनेक संख्याओंके तदात्मक होनेका भी प्रकृत अर्थमें योग नहीं बन सकेगा अर्थात् जैसे कि घट और पटमें द्वित्वसंख्या है, द्वित्व संख्या जब दोनोंसे अभिन्न है तो अभिन्न संख्यावाले घट, पट भी अभिन्न हो जाने चाहिये । यह कटाक्ष है ।

सर्वं सर्वात्मकं सिध्येदेवमित्यतिसाकुलम् ।
सर्वकार्योद्भवे सत्त्वस्यार्थस्येदृक्षशक्तितः ॥ २६ ॥

इस प्रकार शंकाकारके कथन अनुसार सभी पदार्थ अपने अपनेसे न्यारे सभी दूसरे पदार्थोंके साथ तदात्मक सिद्ध हो जावेंगे । क्यों जी ? इस ढंगसे तो अतीव व्याकुलता हो जायगी । किसी भी वादी विद्वान्को ऐसी पदार्थोंकी संकरता इष्ट नहीं हो सकेगी । दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण कार्योंके उत्पन्न करानेमें द्रव्यदृष्टिसे सत्त्व अर्थके इस प्रकारकी शक्तियां मानी गयी हैं । पर संग्रहनय तो सर्व-जड, चेतन, पदार्थोंको एकम एक कह रही है । सभी सर्वस्वरूप हैं ।

भवदपि हि सर्वं सर्वकार्योद्भवे शक्तं सर्वकार्योद्भावनशक्त्यात्मकं सिध्येद्यथा सर्व-संख्याप्रत्ययविषयभूतं सर्वसंख्यात्मकमिति शक्त्यात्मना सर्वं सर्वात्मकत्वमिष्टमेव ।

सम्पूर्ण पदार्थ सम्पूर्ण कार्योंको उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हुये भी सम्पूर्ण कार्योंके उद्भावन शक्तिसे तदात्मक होरहे सिद्ध हो सकेंगे, जैसे कि सम्पूर्ण संख्याज्ञानोंके विषयभूत हो रहे पदार्थ सम्पूर्ण संख्याओंसे तदात्मक हैं । इस प्रकार सम्पूर्णपदार्थ शक्तिस्वरूप करके सर्वके साथ तदात्मक पनेसे इष्ट किये गये हैं, कोई क्षति नहीं है । भावार्थ—जैन सिद्धान्तमें पौद्गलिक पदार्थ तो सभी पुद्गलोंसे शक्तिरूप करके तदात्मक हैं ही । किन्तु जड और चेतन, या पुद्गल और जीव तथा मूर्त, अमूर्त, आदि विरोधी पदार्थ भी द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें अस्तित्व, द्रव्यत्व, आदि धर्मोंकी अपेक्षासे तदात्मक हो रहे हैं । किसी भी अपेक्षासे एकता मिलानेपर अर्थोंमें तादात्म्य मान लिया जाता है । " तौ ते वा आत्मानो यस्य स तदात्मा तस्य भावस्तादात्म्यं " इस निरुक्तिसे अनेक पदार्थोंका

भी कथंचित् तादात्म्य बन बैठता है। स्याद्वादसिद्धान्तका मर्म जाननेवाले विद्वान् सुलभतासे इस तत्त्वको समझलेते हैं।

व्यक्त्यात्मना तु भावस्य सर्वात्मत्वं न युज्यते।
सांकर्यप्रत्ययापत्तेरव्यवस्थानुषंगतः ॥ २७ ॥

शक्तिरूपसे सभी पदार्थ सर्व आत्मक हो जाते हैं, किन्तु व्यक्तिरूपसे तो पदार्थोंको सर्वात्मकपना युक्त नहीं है। क्योंकि यों तो संकरपनेसे ज्ञान हो जानेकी आपत्ति होनेके कारण सभी पदार्थोंकी अव्यवस्था हो जानेका प्रसंग हो जायगा। अर्थात्—अष्टसहस्रीमें कहा है कि "चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति" दहीको खाओकी प्रेरणा करनेपर वह प्रेरित पुरुष ऊंटको पकडनेके लिये दौड पडेगा, महान् संकर हो जानेके कारण किसी भी पदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी।

न हि सर्वथा शक्तिव्यक्त्योरभेदो येन व्यक्त्यात्मनापि सर्वस्य सर्वात्मकत्वे सांकर्येण प्रत्ययस्यापत्तेर्भावस्याव्यवस्थानुषज्यते कथंचिद्भेदात्। पर्यायार्थतो हि शक्तेर्व्यक्तिर्भिन्ना तदप्रत्यक्षत्वेपि प्रत्यक्षादभेदेन तदघटनात्।

शक्ति और व्यक्तियोंका सभी प्रकार एकान्तसे अभेद नहीं माना गया है, जिससे कि शक्ति स्वरूपके समान व्यक्ति आत्मकपनेसे भी सब पदार्थोंको सर्वात्मकपना होते सन्ते संकरपने करके ज्ञान होनेकी आपत्ति होजाय और इस कारण पदार्थोंकी नियत व्यवस्था न बन सकनेका प्रसंग हो जाय। वस्तुतः यह मार्ग है कि शक्ति और व्यक्तियोंका भी परस्परमें कथंचित् भेद है। ऊपरका कथन द्रव्य दृष्टिसे है। पर्यायार्थिकनय करके तो शक्तिसे व्यक्ति भिन्न है। क्योंकि उन शक्तियोंका छद्मस्थोंको प्रत्यक्षज्ञान न होते हुये भी व्यक्तियोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। अभेद करके तो वह प्रत्यक्ष होना नहीं घटित होगा। या तो दोनोंका प्रत्यक्ष होगा अथवा दोनोंका अप्रत्यक्ष ही होगा।

ननु च यथा प्रत्ययनियमाद्व्यक्तयः परस्परं न संकीर्यंते तथा शक्तयोपि तत एवेति कथं शक्त्यात्मकं सर्वं स्यात्। न हि दहनस्य दहनशक्तावनुमानप्रत्ययः स एवोद्यानशक्तौ यतस्तत्र प्रत्ययप्रतिनियमो न भवेदिति कश्चित्, सोप्युक्तानभिज्ञ एव। न हि वयं शक्तीनां संकरं ब्रूमो व्यक्तीनामिव तासां कथंचित्परस्परमसांकर्यात्। किं तर्हि, भावस्यैकस्य यावंति कार्याणि कालत्रयेपि साक्षात्पारंपर्येण वा तावंत्यः शक्तयः संभाव्यंत इत्यभिदध्महे। प्रत्येकं सर्वभावानां कथंचिदनुकार्यस्य कस्यचिदभावात्।

यहां और किसीकी शंका है कि जिस प्रकार प्रतिनियत ज्ञान होनेके नियमसे व्यक्तियां परस्परमें संकीर्ण (एकम एक) नहीं हो रही हैं, तैसे ही शक्तियां भी तिस ही ज्ञानके नियमसे संकीर्ण नहीं होवेंगी। ऐसी दशामें सबको शक्तिरूपसे सर्वात्मकपना कैसे होवेगा ? बताओ। देखिये, अग्निकी दाह करने रूप शक्तिमें जो अनुमानज्ञान उत्पन्न होता है वही अनुमान ज्ञान अग्निकी

निःसरण या ऊर्ध्वज्वलन शक्तिमें ज्ञापक नहीं है। पाचकत्व, स्फोटकत्व, शोषकत्व, शक्तिका भी ज्ञापक नहीं है जिससे कि वहां ज्ञानके होनेका प्रतिनियम न हो होवे अर्थात् भिन्न भिन्न शक्तियोंमें जब न्यारे न्यारे ज्ञान हो रहे हैं तो शक्तिरूपसे सब शक्तियोंको सर्वात्मकपना क्यों इष्ट किया जाता है ? ऐसा कोई भेदवादी वैशेषिक या बौद्ध कह रहा है, वह भी हमारे कहे हुये अभिप्रायको नहीं समझ सका है। हम शक्तियोंका भी परस्परमें संकर होजाना नहीं कह रहे हैं। व्यक्तियोंके समान इन शक्तियोंका भी परस्परमें कथंचित् असंकरपनेसे परस्परमें भेदभाव है, तो हम जैन क्या कहते हैं सो सुनो। एक पदार्थके तीनों कालमें भी अव्यवहितरूप या परंपरारूपसे जितने भी कार्य हुये हैं, होरहे हैं और होयेंगे उतनी ही शक्तियां उस पदार्थको सम्भावित होती हैं। इस प्रकार हम कह रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ सम्पूर्ण पदार्थोंका कथंचित् अनुकरण करने योग्य कार्य होय ऐसे किसी भी पदार्थका सद्भाव नहीं माना गया है। अर्थात् सभी कार्योंमेंसे कोई भी एक कार्य (पर्याय) सम्पूर्ण भावोंका अनुकरण करें ऐसा जैनसिद्धान्त नहीं है। हां, जो कोई भी धर्मी पदार्थ उत्पन्न होता है वह अपने कारणोंसे अनन्त शक्तिस्वरूपोंको धारता हुआ ही आत्मलाभ करता है।

सर्वं कृतकमेकांततस्तथा स्यादिति चेन्न, सर्वथा सर्वेण सर्वस्योपकार्यत्वासिद्धेः। द्रव्यार्थतः कस्यचित्केनचिदनुपकरणात्। न चोपकार्यत्वानुपकार्यत्वयोरेकत्र विरोधः, संविदि वेद्यवेदकाकारवत् प्रत्यक्षेतरस्वसंविद्वेद्याकारविवेकवद्वा निर्बाधनात्प्रत्ययात्तथा सिद्धेः। अन्यथा कस्यचित्तत्त्वनिष्ठानासंभवात्।

फिर शंकाकार बौद्ध कहता है कि तिस प्रकार तो एकान्तरूपसे सम्पूर्ण पदार्थ कृतक ही होजायेंगे, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि सभी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों करके सम्पूर्ण भावोंका उपकार करने योग्यपना असिद्ध है, अनादि अनन्त द्रव्य अर्थसे किसीका भी किसी भी करके उपकार नहीं होता है। द्रव्य अपने पूरे शरीरसे तीनों कालमें अकृत्रिम होकर नित्य वर्त रही है। हां, पर्यायदृष्टिसे नियतपदार्थोंका नियतपदार्थों करके उपकार हो रहा है। एक भावमें पर्यायरूपसे उपकार्यपन और द्रव्यरूपसे अनुपकार्यपनका विरोध नहीं है। बौद्धोंने जैसे एक संवेदनमें वेद्याकार और वेदकाकार दोनों अविरोध रूपसे ठहरे हुये माने हैं अथवा वेद्य, वेदक आकारोंसे रहित शुद्ध संवेदनको माननेवाले बौद्धोंने ज्ञानमें स्वसंवेदन अंश प्रत्यक्षरूप माना है और वेद्य, वेदक, संवित्ति आदि आकारोंके पृथक्पनेको परोक्षरूप माना है। इनके समान बाधारहित ज्ञानसे तिस प्रकार उपकार्य अनुपकार्यपनेकी एक पदार्थमें सिद्धि हो रही है। अन्यथा यानी बाधारहित ज्ञानसे पदार्थोंकी व्यवस्था न मानकर दूसरे प्रकार मानी जायगी तो किसी भी वादीके यहां अपने अभीष्ट तत्त्वोंका प्रतिष्ठित होना असम्भव है।

नन्वेवं सर्वत्र सर्वसंख्यया संप्रत्ययासत्त्वात्। कथमेकत्वादिसंख्या सर्वा सर्वत्र व्यवतिष्ठते अतिप्रसक्तेरिति चेन्न, एकत्रैकप्रत्ययवद्द्वितीयाद्यपेक्षया द्वित्वादिप्रत्ययानामनुभ-

वात् । सकृत्सर्वसंख्यायाः प्रत्ययो नानुभूयत एवेति चेत्, सत्यं । क्रमादभिव्यक्तिः क्वचिद्द्वित्वसंख्या हि द्वितीयाभिव्यक्ता द्वित्वप्रत्ययविज्ञेया, तृतीयाद्यपेक्षया तु त्रित्वादि संख्याभिव्यक्ता त्रित्वादिप्रत्ययवेद्या । तथानभिव्यक्तायास्तस्याः तत्प्रत्ययाविषयत्वादसकृत्सर्वसंख्यासंप्रत्ययः ।

पुनः शंका है कि इसी प्रकार सभी पदार्थोंमें सम्पूर्ण संख्याओंके अच्छे ज्ञान (निर्बाध) होनेका सद्भाव नहीं है तो फिर एकत्व, द्वित्व आदि सभी संख्यायें सभी पदार्थोंमें कैसे व्यवस्थित हो जाती हैं ? तुम जैन ही बताओ ? यदि समीचीन ज्ञानके विना भी चाहे जिसको चाहे जहां धर दिया जायगा, तब तो अतिप्रसंग हो जायगा । आकाशमें भी ज्ञान, रूप, रस आदि पदार्थोंके ठहर जानेकी व्यवस्था बन बैठेगी । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका न करना । क्योंकि एक ही पदार्थमें एकपनेके ज्ञान समान दूसरे, तीसरे आदि पदार्थोंकी अपेक्षासे होते हुये द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याओंके ज्ञानोंका बालकोंतकको अनुभव हो रहा है । इसपर शंकाकार यदि यों कहें कि एक ही समय सम्पूर्ण संख्याओंका ज्ञान होना तो नहीं अनुभवमें आ रहा है, आचार्य कहते हैं कि हां, शंकाकारका यह कहना तो ठीक है, हम संख्याओंका क्रमसे प्रकट होना मानते हैं, किसी एक पदार्थमें दूसरे पदार्थसे प्रकट हुई द्वित्वसंख्या द्वित्व ज्ञानसे जानने योग्य है और कहीं तृतीय, चतुर्थ, आदि पदार्थोंकी अपेक्षासे अभिव्यक्त हुई त्रित्व, चतुष्ट्व आदि संख्यायें तो त्रित्व आदिके ज्ञानसे जानने योग्य हैं । अतः तिस प्रकार नहीं प्रगट हुई उन संख्याओंको उन उन ज्ञानोंका नहीं विषयपना होनेके कारण एकबार ही सम्पूर्ण संख्याओंका समीचीन ज्ञान नहीं हो पाता है । यथायोग्य शनैः शनैः उपज रही या प्रकट हो रही सर्व संख्याओंका ज्ञान क्रमसे ही होगा ।

ननु संख्याभिव्यक्तेः प्राक्कुतस्तनी कुतः सिद्धा ? सदा तत्प्रत्ययस्यासंभवात् । तत्संभवे वा कथं नाभिव्यक्ता ? यदि पुनरसती तदा कुतोऽभिव्यक्तिस्तस्याः मंडूकशिखावदित्येकांतवादिनामुपालंभः न स्याद्वादिनां सदसदेकांतानभ्युपगमात् । सा हि शक्तिरूपतया प्राक्कुतस्तनी परापेक्षातः पश्चादभिव्यक्त्यन्यथानुपपत्त्या सिद्धा व्यक्तिरूपतया त्वसती साक्षात्स्वप्रत्ययाविषयत्वादिति द्रव्यार्थप्राधान्यादुपेयते । पर्यायार्थप्राधान्यात्तु सापेक्षा कार्या तद्भावभावात् । न ह्यसत्यामपेक्षायां द्वित्वादि संख्योत्पद्यत इति न भावस्य व्यक्तसंख्यापेक्षया सर्वसंख्यात्मकत्वं यतस्तद्वत् सर्वं सर्वात्मकत्वं यतस्तद्रूपमसज्यते । तत्प्रसंग एव च सर्वत्र सर्वसंख्याप्रत्ययस्य यथासंभवमनुभूयमानस्य बाधकः स्यात्, तद्बाधिताच्च संख्याप्रत्ययात् सिद्धा वास्तवी संख्या ।

पुनः एकान्तवादियोंका नर्म पूर्वक आक्षेप है कि अभिव्यक्ति उस पदार्थकी मानी जाती है

जिसकी कि ज्ञानके पहिले भी वहां सत्ता सिद्ध की जा सके, जैसे कि अन्धकारमें पहिलेसे रखा हुआ घट प्रदीपसे व्यक्त हो जाता है अथवा धूलसे ढका हुआ रुपया आवारकके हट जानेपर प्रगट हो जाता है, अब आप जैन यह बतलाइये ! कि दूसरे तीसरे आदि अर्थोंसे प्रगट हुई संख्या अपनी अभिव्यक्तिसे पहिले किन पदार्थोंसे निष्पन्न होती हुई, किस प्रमाणसे सिद्ध की जा सकती है ! क्योंकि उस समयके पहिले तो उस संख्याके ज्ञानका असम्भव है। यदि पहिले समयोंमें भी उस संख्याके ज्ञानका सम्भव स्वीकार किया जायगा तो वह प्रथमसे ही प्रगट हो रही क्यों नहीं कही गयी, अब दूसरे आदि अर्थोंकी अपेक्षासे प्रकट होती हुई क्यों कही जाती है ? यदि फिर जैनोंका यह विचार होय कि अभिव्यक्तिके पहिले वहां पदार्थोंमें संख्या विद्यमान नहीं थी तब तो हम शंकाकार कहते हैं कि तब फिर उसकी अभिव्यक्ति कहांसे हुई बताओ ! जैसे कि सर्वथा असत्‌रूपा मेंडककी चोटीकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार यह एकान्त वादियोंका उलाहना उन्हींके ऊपर गिरता है। सर्वथा सत्‌पक्षको लेनेवाले असत् पक्षवालेको उलाहना देवें और सर्वथा असत् पक्षका अवलम्ब लेनेवाले सत्‌पक्षवादीकी भर्त्सना भले ही करें, किन्तु कथंचित् सत् और कथंचित् असत्‌के अनेकान्तपक्षको स्वीकार करनेवाले स्याद्वादियोंके ऊपर कोई उलाहना नहीं आता है। क्योंकि जैनोंने सर्वथा सत्‌के एकान्त और सर्वथा असत्‌के एकान्तको स्वीकार नहीं किया है। उस संख्याकी पीछे कालमें दूसरोंकी अपेक्षासे अभिव्यक्ति होना अन्यथा नहीं बनता है। इस कारण किसी न किसी हेतुसे बनी हुई पहिले भी शक्तिरूप करके वह संख्या विद्यमान थी, यह सिद्ध है। हां, व्यक्तिरूपसे तो वह संख्या पहिले विद्यमान नहीं थी। क्योंकि साक्षात् यानी अव्यवहितरूपसे अपने संख्याज्ञानमें वह विषयभूत नहीं हुई थी। इस प्रकार तीनों कालमें अन्वित रहनेवाले द्रव्यरूप अर्थकी प्रधानतासे संख्याको नित्य हम जैन स्वीकार करते हैं और अल्पकाल रहनेवाले पर्यायरूप अर्थकी प्रधानतासे तो वह संख्या कारणोंकी अपेक्षा रखनेवाली है। अतः कार्य है। क्योंकि उन द्वितीय, तृतीय, आदि पदार्थोंके होनेपर द्वित्व, त्रित्व, संख्याकी उत्पत्ति होना देखा जाता है। अपेक्षाके सर्वथा न होनेपर द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्या कभी नहीं उत्पन्न होती हैं। इस कारण भावोंका व्यक्त हुई संख्याओंकी अपेक्षासे सम्पूर्ण संख्याओंके साथ तदात्मकपना नहीं है। जिससे कि उस शक्तिरूपपनेके समान व्यक्तिरूपसे भी सभी पदार्थोंको सर्वस्वरूप हो जानेपनेका प्रसंग हो जाता और सम्पूर्ण पदार्थोंमें यथायोग्य सम्भव होकर अनुभव किये जारहे सम्पूर्ण संख्याओंके ज्ञानका वह प्रसंग ही बाधक हो जाता अर्थात्—वह प्रसंग न हुआ। अतः सभीमें सर्व संख्या ज्ञानका बाधक न हो सका। तिस कारण बाधारहित संख्याज्ञानसे वास्तविक संख्या ज्ञानसे वास्तविक संख्या सिद्ध हो जाती है। वैशेषिकोंने " द्वित्वादयः परार्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः । अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः " इस प्रकार द्वित्व आदि संख्याको सर्वथा अनित्य माना है और कापिलोंने संख्याको सर्व प्रकार नित्य ही माना है। जैनसिद्धान्त अनुसार संख्या कथंचित् नित्य अनित्य आत्मक है।

ततो निर्बाधनादेव प्रत्ययाचत्त्वनिष्ठितौ ।
संख्यासंप्रत्ययात्संख्या तात्त्विकीति व्यवस्थितम् ॥ २८ ॥

तिस प्रकार बाधारहित प्रमाण ज्ञानोंसे ही यदि तत्त्वोंकी व्यवस्था होना माना जायगा तो संख्याके समीचीन ज्ञानसे संख्या भी वास्तविक होती हुई सिद्ध हो जाती है । इस प्रकार संख्याद्वारा तत्त्वोंका प्ररूपण करना व्यवस्थित हुआ ।

यत्र निर्बाधः प्रत्ययस्तत्तात्त्विकं यथोभयप्रसिद्धं वस्तुरूपं, निर्बाधप्रत्ययश्च संख्यायामिति सा तात्त्विकी सिद्धा ।

जिस विषयमें बाधारहित प्रमाणज्ञान प्रवर्त्त रहा है, वह पदार्थ वास्तविक है । जैसे कि वादी और प्रतिवादी दोनोंके यहां प्रसिद्ध होरहा वस्तुस्वरूप वास्तविक है । (घट, परमाणु, आदि दृष्टान्त) बाधाओंसे रहित ज्ञान संख्या विषयमें होरहा है । इस कारण वह संख्या भी परमार्थभूत सिद्ध होजाती है । ढंगसे व्याप्तिको बनाते हुये पञ्च अवयववाले अनुमानसे संख्याकी सिद्धि कर दी है ।

सा नैव तत्त्वतो येषां तेषां द्रव्यमसंख्यकम् ।
संख्यातोत्यन्तभिन्नत्वाद्गुणकर्मादिवन्न किम् ॥ २९ ॥
समवायवशादेवं व्यपदेशो न युज्यते ।
तस्यैकरूपताभीष्टे नियमाकारणत्वतः ॥ ३० ॥

जिन वैशेषिकोंके यहां वह संख्या वस्तुसे तदात्मक होती हुई न मानी जाकर भिन्न ही मानी गई है, उनके यहां संख्यासे अत्यन्त भिन्न होनेके कारण तो गुण, कर्म, सामान्य, आदिके समान द्रव्यसंख्यारहित क्यों नहीं हो जायगा ? भावार्थ—वैशेषिकोंके यहां संख्या नामका गुण द्रव्यमें रहता हुआ माना गया है । गुण, कर्म, आदिक छःमें गुण नहीं रहते हैं । " गुणादिर्निर्गुणक्रियः " । जब कि गुण, कर्म, आदिकोंसे सर्वथा भिन्न पडी हुई संख्या गुण, आदिकको संख्यावान् नहीं बना सकती है, उसीके समान द्रव्यसे सर्वथा भिन्न पडी हुई संख्या भी द्रव्यको संख्यासहित न बना सकेगी । ऐसी दशामें द्रव्य संख्यारहित होकर असंख्य हो जायगा । यदि वैशेषिक यों कहें कि द्रव्यमें गुणका समवाय है । गुणमें गुणकी समवायसे वृत्ति नहीं है । अतः समवाय सम्बन्धके वशसे संख्यावाले द्रव्यका इस प्रकार व्यवहार हो जावेगा सो यह उनका कहना युक्त नहीं है । क्योंकि वैशेषिकोंने उस समवायको एकस्वरूपपना अभीष्ट किया है । " एक एव समवायस्तत्त्वं भावेन " ऐसा कणाद सूत्र है । ऐसी दशामें वह समवाय भी अनेक स्थानोंपर नियमित व्यवहारोंका कारण नहीं होसकता । अतः सर्वथा भिन्न पदार्थोंसे सहितपनेका कहीं कहीं व्यपदेश होना विचारे भिन्न पडे हुये समवायसे नहीं सिद्ध होता है ।

संख्या तद्वतो भिन्नैव भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविंध्यवदित्येके, तेषां द्रव्यमसंख्यं स्यात् संख्यातोत्यंतभिन्नत्वाद्गुणादिवत्। तत्र संख्यासमवायात्ससंख्यमेव तदिति चेत् न, तद्वशादेवं व्यपदेशस्यायोगात्।

संख्यावाले द्रव्यसे संख्यागुण भिन्न ही है। क्योंकि उन संख्या और संख्यावान्‌का भिन्न भिन्न प्रतिभास हो रहा है, जैसे कि भारत (हिन्दुस्तान) के दक्षिणमें सह्यपर्वत और उत्तरमें विन्ध्य पर्वतका न्यारा न्यारा ज्ञान होनेसे वे दो पर्वत भिन्न माने जाते हैं, इस प्रकार कोई एक वैशेषिक कह रहे हैं। सो उनके यहां ऐसा माननेपर संख्यासे अत्यन्त भिन्न होनेके कारण गुण आदिकके समान द्रव्य भी संख्यारहित हो जायगा। यदि वैशेषिक यों कहें कि गुण आदिकमें तो संख्याका समवाय सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उस द्रव्यमें संख्याके समवाय हो जानेसे वह द्रव्य संख्यासहित ही हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस समवायके वशसे इस प्रकार ससंख्यपनेका व्यपदेश नहीं हो सकेगा। " ज्ञानवान् " और " ज्ञ " में अन्तर है। समवाय सम्बन्धसे ज्ञानवान् आत्मा है, यह व्यवहार भेदको दिखलाते हुये हो रहा है। किन्तु आत्मा ज्ञ है यह व्यवहार तो ज्ञानका आत्माके साथ तादात्म्य माननेपर ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार ससंख्य द्रव्य और संख्यावान् द्रव्य इन व्यवहारोंमें भी तादात्म्य और समवाय सम्बन्धके द्वारा विशेषता है तादात्म्यके माननेपर ही कथंचित् भेद शोभा देता है।

न समवायः संख्यावद्द्रव्यमिति व्यपदेशनिमित्तं नियमाकारणत्वात्। प्रतिनियमाकारणं समवायः सर्वसमवायिसाधारणैकरूपत्वात्। सामान्यादिमत्सु द्रव्यमिति प्रतिनियतव्यपदेशनिमित्तं समवाय इत्यप्यनेनापास्तं।

तथा नियम करनेका कारण न हो सकनेसे समवायसम्बन्ध "संख्यावान् द्रव्य है" इस व्यपदेशका निमित्त नहीं हो सकता है। इस हेतुको साध्य बनाकर पुष्ट करते हैं कि समवायसम्बन्ध (पक्ष) भिन्न पड़े हुये पदार्थोंको नियत स्थल पदार्थमें ही निक्षिप्त कर देनेके प्रतिनियमका कारण नहीं है (साध्य) क्योंकि प्रतियोगिता और अनुयोगिता सम्बन्धसे समवायवाले सम्पूर्ण द्रव्य आदि पांचोंमें साधारणरूपसे ठहरता हुआ वह समवाय एकरूप है (हेतु) जो एकरूप है वह न्यारे पदार्थोंका न्यारे न्यारे अधिकरणोंमें धरनेका नियामक नहीं हो सकता है। सामान्य (जाति) गुण, कर्म, आदिसे सहित घट, पट, आदि पदार्थोंमें द्रव्य हैं, इस प्रकार प्रतिनियत हुये व्यवहारका कारण समवाय हो जाता है। अथवा द्रव्य और गुण या द्रव्य और कर्म एवं सामान्य और सामान्यवान् इत्यादिकोंके सम्बन्ध व्यवहारका निमित्त समवाय है। यह वैशेषिकोंका कहना भी इस उक्त कथनसे खण्डित हो जाता है।

केनचिदंदशेन कश्चिन्नियमहेतुः समवाय इति चेन्न, तस्य सावयवत्वप्रसक्तेः स्वसिद्धांतविरोधात्। निरंश एव समवायस्तथा शक्तिविशेषान्नियमहेतुरित्ययुक्तं, अनुमानविरोधात्।

सर्वत्र एकरूपसे व्यापक हो रहा भी समवाय अपने किसी किसी विवक्षित एक अंश करके किसी किसी वस्तुमें नियम करनेका निमित्त हो जाता है, यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यों तो समवायको अवयव सहितपनेका प्रसंग होगा और इस ढंगसे वैशेषिकोंको अपने सिद्धान्तसे विरोध करना लागू होगा। वैशेषिकोंने अवयवोंसे जन्यपन या अवयवोंके साथ वर्तनारूप सावयवपना समवायमें इष्ट नहीं किया है। फिर वैशेषिक यों कहें कि अवयवरूप अंशोंसे रहित होता हुआ ही समवायसम्बन्ध तिस प्रकारकी शक्तिविशेषसे तैसे संख्यावान् आदि व्यवहारोंके नियम करनेका हेतु बन जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उनका यह कहना तो युक्तिरहित है। क्योंकि इस वक्ष्यमाण अनुमानसे वैशेषिकोंके इस कथनका विरोध है। सो सुनिये।

समवायो न संख्यादि तद्वतां घटने प्रभुः।
निरंशत्वाद्यथैवैकः परमाणुः सकृत्तव ॥ ३१ ॥

संख्या, क्रिया, सामान्य, आदिक पदार्थ और उससे सहित किये जानेवाले द्रव्य आदि पदार्थोंका सम्बन्ध करानेमें एक समवायसम्बन्ध तो समर्थ नहीं है। क्योंकि वह समवाय अंशरहित है। जैसे कि तुम वैशेषिकोंके यहां मानी गयी एक परमाणु अंशरहित होनेके कारण संख्या और संख्यावान् अथवा घट पट, आदिकोंके परस्पर सम्मेलन करानेमें समर्थ नहीं है।

न हि निरंशः सकृदेकः परमाणुः संख्यादितद्वतां परस्परमिष्टव्यपदेशनघटने समर्थः सिद्धः तद्वत्समवायोपि विशेषाभावात्।

अन्य अनेक अंशोंसे रहित एक निरवयव परमाणु एक ही समय संख्या आदि और तद्विशिष्ट माने गये पदार्थोंकी परस्पर घटना करानेमें समर्थ हुआ सिद्ध नहीं माना है। आकाशमें एकत्व संख्या है। एक पुरुषके हाथोंमें द्वित्व संख्या है। अंगुलियोंमें पंचत्व संख्या है। इस प्रकार अभीष्ट व्यवहारोंके घटित करनेमें परमाणु समर्थ नहीं है। उसीके समान समवाय भी नियत संख्यासे नियत पदार्थको विशिष्ट करनेके व्यवहार करानेमें समर्थ नहीं है। एक निरंशपरमाणु और समवायमें सम्बन्ध करने और व्यवहार करनेकी सामर्थ्य अपेक्षासे कोई अन्तर नहीं है।

शक्तिविशेषयोगात् समवायस्तत्र परिदृढ इति चेत्, परमाणुस्तथास्तु। सर्वगतत्वात्स तत्र समर्थ इति चेन्न, निरंशस्य तदयोगात् परमाणुवत्।

एक भी समवाय पदार्थविशेष शक्तियोंके सम्बन्धसे इस नियत पदार्थोंकी घटनाके व्यवहारमें भले प्रकार दृढ है। ऐसा वैशेषिकोंके कहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि यों तो एक अंशरहित परमाणु भी तिस प्रकार गुणगुणी आदिके परस्पर सम्बन्ध करानेमें दृढ हो जाओ। उसपर यदि वैशेषिक यों कहें कि वह समवाय तो सर्वत्र व्यापक होनेके कारण उस सम्बन्धको करानेमें समर्थ है। परमाणु तो व्यापक नहीं है। अतः सर्वत्र सम्बन्धोंका नियामक नहीं बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि

यह तो न कहना। क्योंकि परमाणुके समान समवाय भी अंशोंसे रहित है। निरंश पदार्थ भिन्न भिन्न स्थानोंपर न्यारी न्यारी घटनाओंको नहीं घटा सकता है। अनेक खम्भोंपर लम्बा रखा हुआ दश हाथका बांस अंशसहित होता हुआ ऊपरके न्यारे न्यारे बोझोंको झेल रहा है। शरीर, आकाश, केश आदि सांश होकर ही न्यारे न्यारे देशोंमें अनेक घटनायें करा रहे हैं। वैशेषिकोंके द्वारा माना हुआ निरंश समवाय भले ही आकाशसे भी बडा व्यापक कह दिया जाय। फिर भी निरंश परमाणुसे उसकी अधिक शक्ति नहीं हो सकती। अनेक शक्तियां, या स्वभाव मानने पर तो समवाय सांश हो जायगा। बात यह है कि परमाणुका पुनः दूसरा छोटा अवयव न होनेसे परमाणु निरंश कह दी जाती है। किन्तु अनेक शक्तियां गुण, पर्यायें आदिके विद्यमान होनेसे जैनसिद्धांतमें परमाणुको भी सांश माना है। " एय पदेसो वि अणु णाणा खंधप्पदेसदो होदि। बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु " यह द्रव्यसंग्रहमें कहा है।

ननु निरंशोपि समवायो यदा यत्र ययोः समवायिनोर्विशेषणं तदा तत्र तयोः प्रतिनियतव्यपदेशहेतुर्विशेषणविशेष्यभावात् प्रतिनियामकात् स्वयं तस्य प्रतिनियतत्वादिति चेन्न, असिद्धत्वात्।

फिर वैशेषिकोंका स्वमत स्थापनके लिये अवधारण है कि निरंश होता हुआ भी समवायसम्बन्ध जिस समय जहां जिन समवायियोंका विशेषण हो जायगा, उस समय वहां उन प्रतियोगी अनुयोगीरूप समवायियोंके प्रतिनियत व्यवहारका कारण माना जायगा। हम वैशेषिकोंने समवाय और अभावका तद्वानोंके साथ विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना है। आत्मामें समवाय सम्बन्धसे ज्ञान है। यहां ज्ञान और आत्मा इन दोमें रहनेवाला समवायसम्बन्ध विशेषण है तथा प्रतियोगिता सम्बन्धसे समवायवाला ज्ञान और अनुयोगिता सम्बन्धसे समवायवाला आत्मा ये दो विशेष्य हैं। मध्यवर्ती होकर समवाय और समवायियोंकी योजना करानेवाला विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध प्रत्येक समवायियोंका नियत हो रहा है। अतः प्रतिनियम करनेवाले मध्यवर्ती विशेष्यविशेषण भाव सम्बन्धसे वह समवायसम्बन्ध स्वयं प्रतिनियत हो रहा है। इस कारण निरंश भी समवायकी परमाणुसे विशेषता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि आप वैशेषिकोंका उक्त कथन सिद्ध नहीं है। समवाय और समवायियोंका विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध भी अनवस्था होनेके कारण सिद्ध नहीं हो पाता है। अथवा हमारे कारिकामें कहे गये अनुमानको बिगाडनेके लिये दिया गया वैशेषिकोंके इस अनुमानका प्रतिनियतत्व हेतु पक्षमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्वाभास है।

युगपन्न विशेष्यंते तेनैव समवायिनः।
भिन्नदेशादिवृत्तित्वादन्यथातिप्रसंगतः॥ ३२ ॥

न चाकाशादिभिरनेकान्तस्तेषां सांशत्वसिद्धयात् ।
निरंशत्वे प्रमाभावाद्व्यापित्वस्य विरोधतः ॥ ३४ ॥
विशेषणविशेष्यत्वं संबंधः समवायिभिः ।
समवायस्य सिध्येत द्वौ वः प्रतिनियामकः ॥३५॥

उस एक विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्धकरके समवायवाले अनेक पदार्थ एक ही समयमें एकसाथ तो विशिष्ट नहीं किये जासकते हैं। क्योंकि भिन्न भिन्न देश भिन्न भिन्न काल, आदिमें पदार्थ वर्त रहे हैं। अन्यथा यानी एक ही विशेष्य विशेषण भावसे अनेक भिन्नदेशवाले और भिन्नकालवाले पदार्थोंका गुण आदिसे सहित हो जानापन यदि मान लिया जायगा तो अतिप्रसंग हो जायगा। चाहे जहां और चाहे जब चाहे जिसके साथ कोई भी सहित बन बैठेगा। यदि वैशेषिक आकाश, दिशा, देश, आदिकसे व्यभिचार दें कि ये निरंश या एक होते हुए भी भिन्न भिन्न देश आदिमें वर्त रहे हैं। किन्तु इन करके पदार्थ विशिष्ट हो रहे हैं, सो यह व्यभिचारदोष हम जैनोंके यहां लागू नहीं होता है। क्योंकि उन आकाश, दिशा, आदिकोंको अंशसहितपनेका निश्चय हो रहा है। बम्बई, कलकत्ता, यूरुप अमेरिका, नन्दीश्वरद्वीप, नरकस्थान, स्वर्ग, आदिक स्थानोंमें ठहरे हुये आकाशके प्रदेश न्यारे न्यारे हैं। मेरुकी जडसे छओं दिशाओंमें मानीं गयीं आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीरूप दिशायें भी प्रत्येक स्थानोंकी अपेक्षा सांश हैं। यदि आकाश आदिकोंको वैशेषिकोंके मत अनुसार निरंशपना माना जायगा तो उन उन स्थानोंमें नहीं समाजानेके कारण आकाश आदिके व्यापकपनेका विरोध होगा। जो सांश होता हुआ अनेक देशोंमें फैला हुआ है वही व्यापक हो सकता है। निरंश पदार्थ तो एक प्रदेशके अतिरिक्त दो में भी ठहर नहीं सकता है। कुछ अंशसे एक प्रदेशपर और दूसरे कुछ अंशसे अन्य प्रदेशपर ठहरनेसे तो सांशता हो जावेगी। तथा समवायियोंके साथ समवायका विशेष्य विशेषण सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं सिद्ध हो पावेगा, जो कि तुम वैशेषिकोंके यहां प्रत्येक समवायीका नियामक हो सके। अतः ज्ञान, आत्मा, आदिकोंमें भिन्न पडा हुआ समवाय और उनके भी बीचमें पडा हुआ माना गया विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध ये दोनों भी नियत सम्बन्धियोंकी व्यवस्था नहीं करा सकते हैं। जो बिचारे स्वयं नियत होकर कहीं व्यवस्थित नहीं हैं, वे दूसरोंकी क्या व्यवस्था करेंगे! जो पंडिताभास स्वयं त्रियोगसे बहिरंगमें चारित्रभ्रष्ट है वह अन्यको सदाचार मार्गपर नहीं लगा सकता है।

न हि भेदैकान्ते समवायसमवायिनां विशेषणविशेष्यभावः प्रतिनियतः संभवति, यतः समवायस्य क्वचिन्नियमहेतुत्वे प्रतिनियामकः स्यात् ।

समवाय और समवायियोंके सर्वथा एकान्तसे भेद माननेपर उनका माना गया विशेष्य

विशेषणभाव सम्बन्ध भी प्रतिनियत नहीं सम्भवता है। जिससे कि कहीं ही समवायका नियम करानेके हेतुपनकी व्यवस्था करनेमें नियामक हो जाता। अर्थात्—भिन्न पडे हुये विशेष्यविशेषण सम्बन्धके द्वारा न्यारे पडे हुये समवायकी नियत व्यवस्था नहीं है और सर्वथा न्यारे समवाय द्वारा ज्ञान, आत्मा, संख्या संख्यावान्, आदिके संयोजनकी नियति नहीं बन सकती है।

सन्नप्ययं ततस्तावन्नाभिन्नः स्वमतक्षतेः।
भिन्नश्चेत्स्व स्वसंबंधिसंबंधोन्योस्य कल्पनात् ॥ ३५ ॥
सोपि तद्भिन्नरूपश्चेदनवस्थोपवर्णिता।
तादात्म्यपरिणामस्य समवायस्य तु स्थितिः ॥ ३६ ॥

अस्तु परितोषन्यायसे यह विशेष्यविशेषणभाव सद्रूप भी माना जाय तो भी उन अपने सम्बन्धियोंसे अभिन्न ही होता हुआ तो न माना जायगा। क्योंकि ऐसा माननेपर सम्बन्धिओंसे सम्बन्धके भेदका आग्रह करनेवाले वैशेषिकोंको अपने मतकी क्षति होना सहना पडेगा। यदि अपने सम्बन्धियोंसे विशेष्यविशेषणभाव-सम्बन्ध भिन्न माना जायगा तो पुनः इस विशेष्यविशेषणभावका अपने सम्बन्धियोंके साथ योजना करनेवाला दूसरा न्यारा सम्बन्ध कल्पना करना पडेगा और यह भी सम्बन्ध अपने उन सम्बन्धियोंसे भिन्न स्वरूप होगा। अतः उसकी अपने सम्बन्धियोंके साथ योजना करानेवाला तीसरा सम्बन्ध मानना पडेगा। न्यारा पडा हुआ सम्बन्ध तो दो सम्बन्धिओंको जोड नहीं सकता है। अतः उसका उनके साथ सम्बन्ध मानो और तीसरा भी अपने सम्बन्धियोंमें न्यारा होता हुआ, चौथे सम्बन्धसे सम्बन्धित होकर वर्तेगा। इस ढंगसे अनवस्था दोष वैशेषिकोंके ऊपर कह दिया जायगा। जैन सिद्धान्तके अनुसार तो तादात्म्य परिणामरूप समवायकी स्थिति मानी गयी है, यह निर्दोष पन्था है। अतः सर्वथा भेदमें होनेवाले दोष कथंचित् तदात्मकपनेमें लागू नहीं होते हैं।

सुदूरमपि गत्वा विशेषणविशेष्यभावस्य स्वसंबंधिभ्यां कथंचिदनन्यत्वोपगमे समवायस्य स्वसमवायिभ्यामनन्यत्वसिद्धेः सिद्धः कथंचित्तादात्म्यपरिणामः समवाय इति संख्या तद्वतः कथंचिदन्या।

उन भिन्न सम्बन्धोंको अपने अपने सम्बन्धियोंमें जोडनेके लिये तीसरे, चौथे, सौमें सहस्रमें आदि सम्बन्धोंकी कल्पना करते हुये बहुत दूर भी जाकर समवायको दोमें ठहरानेके योजक विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्धका यदि अपने सम्बन्धियोंके साथ कथंचित् अभेद स्वीकार किया जायगा, तब तो उसीके समान समवाय सम्बन्धका भी अपने आधार समवायियोंके साथ अभिन्नपना सिद्ध होजाता है। इस कारण सम्बन्धियोंका कथंचित् तदात्मकपन रूपसे परिणमन होना ही समवाय सम्बन्ध सिद्ध हुआ। इस कारण संख्या उस संख्याविशिष्ट पदार्थसे कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है।

कथंचित् भेद होनेसे संख्यावान् द्रव्योंकी संख्या है, यह भेदनिर्देश बन जाता है और कथंचित् अभेद होनेसे संख्यावान् द्रव्योंकी विशेष परिणति संख्या होजाती है। यह स्याद्वादसिद्धान्त स्थित रहा।

गणनामात्ररूपेयं संख्योक्तातः कथंचन।
भिन्ना विधानतो भेदगणनालक्षणादिह ॥ ३७ ॥

सत्संख्या आदि सूत्रमें यह केवल गिनती करना रूप संख्या कही गयी है। इस कारण भेदोंकी गिनती करना स्वरूप विधानसे यहां संख्या किसी अपेक्षा भिन्न है, सर्वथा भेद तो जड और चेतनमें भी नहीं है। सत्त्व, द्रव्यत्वरूपसे जड और चेतनका अभेद है।

निर्देशादिसूत्रे विधानस्य वचनादिह संख्योपदेशो न युक्तः पुनरुक्तत्वाद्विधानस्य संख्यारूपत्वादिति न चोद्यं, तस्य ततः कथंचिद्भेदप्रसिद्धेः। संख्या हि गणनामात्ररूपा व्यापिनी, विधानं तु प्रकारगणनारूपं ततः प्रतिविशिष्टमेवेति युक्तः संख्योपदेशस्तत्त्वार्थाधिगमे हेतुः।

निर्देश, स्वामित्व, आदि सातवें सूत्रमें भेदगणना रूप विधानका कथन होचुका है, अतः इस सूत्रमें संख्याका उपदेश करना पुनरुक्त दोष होनेके कारण युक्त नहीं है। क्योंकि विधान तो संख्या स्वरूप कहा ही जाचुका है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कुतर्क नहीं करना। क्योंकि उस विधानका तिस संख्यासे कथंचित् भेद होना प्रसिद्ध होरहा है। एक या दोको आदि लेकर अनन्तानन्त संख्यापर्यन्त केवल गिनती करना रूप संख्याव्यापक ही है और विधान तो प्रकारोंकी गिनतीस्वरूप होता हुआ उस संख्यासे व्याप्य होरहा विशिष्ट ही है। भावार्थ—संख्या सर्वत्र वर्तती हुई व्यापक है और कतिपय नियत हुये भेदोंकी गिनती करना रूप विधान तो कुछ विशिष्ट पदार्थोंमें रहता हुआ व्याप्य है। इस कारण विधानसे अतिरिक्त संख्याका उपदेश करना इस सूत्रमें युक्त होता हुआ तत्त्वार्थोंके विशदरूपसे अधिगम करानेमें निमित्त कारण होजाता है। यहांतक संख्याका व्याख्यान कर दिया गया। अब क्षेत्रका प्ररूपण करते हैं।

निवासलक्षणं क्षेत्रं पदार्थानां न वास्तवम्।
स्वस्वभावव्यवस्थानादित्येके तदपेशलम् ॥ ३८ ॥
राज्ञः सति कुरुक्षेत्रे तन्निवासस्य दर्शनात्।
तस्मिन्नसति चादृष्टे वास्तवस्याप्रबाधनात् ॥ ३९ ॥

पदार्थोंका निवासस्थानस्वरूप क्षेत्र वास्तविक नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वभावोंमें व्यवस्थित हो रहे हैं। इस प्रकार कोई एक बौद्ध विद्वान् कह रहे हैं। सो यह कहना भी चातुर्यसे रहित है। क्योंकि वास्तविक कुरुक्षेत्रके होते सन्ते राजाका वहां निवास करना देखा जाता है और उस कुरुक्षेत्रके न होनेपर निवास करना नहीं देखा जाता है। इस कारण क्षेत्रके वास्तविक-

पनेकी कोई भी प्रकृष्टबाधा नहीं आती है। निश्चय नयसे हम जैन भी क्षेत्रक्षेत्रीयभाव नहीं मानते हैं। सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्थित हैं। अतः बाधामें प्रशब्दका योग सार्थक है।

नन्वेवं राज्ञः कुरुक्षेत्रं कारणमेव तत्र निवसनस्वभावस्य तस्य तेन जन्यमानत्वादिति चेत् किमनिष्टं, कारणविशेषस्य क्षेत्रत्वोपगमात् कारणमात्रस्य क्षेत्रत्वेऽतिप्रसंगः।

यहां बौद्ध अधिकरणमें की गयी शंकाके समान पुनः शंका उठाते हैं कि इस प्रकारका कुरुक्षेत्र तो राजाका कारण ही है। क्योंकि वहां कुरुक्षेत्रमें उस राजाके निवास करनारूप स्वभावकी तिस क्षेत्र करके उत्पत्ति हुई है, अतः राजाके क्षेत्रमें आजानेपर क्षेत्रस्थित राजाकी परिणतिका उत्पादक वह क्षेत्र तो कारण है। कारणसे अतिरिक्त क्षेत्र कोई वस्तुभूत नहीं है, इस प्रकार कहनेपर तो हम जैनोंको भला क्या अनिष्ट होसकता है ? यानी कोई अनिष्ट नहीं है। कारणविशेषको क्षेत्रपनसे हमने स्वीकार किया है। हां, सम्पूर्ण ही कारणोंको क्षेत्रपना होनेपर अतिप्रसंग हो जायगा भावार्थ—किसी भी पदार्थके किसी भी स्थानपर ठहरनेसे एक न्यारा परिणाम होने लग जाता है। एक केलाके वृक्षपर, हाथमें, कसैडीमें, मुखमें और पेटमें भरजानेसे न्यारी न्यारी परिणतियां हुई हैं, एक ही औषधिको शर्बत, दूध, जल, काढा आदिका भिन्न आश्रय मिलने पर भिन्न भिन्न परिणतियां होते हुये उसमें भिन्न भिन्न रोगोंका उपशम करानेकी शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। अतः पदार्थके कथंचित् कारणविशेषको क्षेत्र कहना हमको अभीष्ट है। गर्भस्थ—पुत्रका कारण भी होकर माता अधिकरण है। ज्ञानका कारण आत्मा ज्ञानका अधिकरण भी है। किन्तु सभी कारणोंको क्षेत्र नहीं मानते हैं। यदि सभी कारणोंको क्षेत्र माना जायगा तो घटके कारण दण्ड, कुलाल, अदृष्ट, डोरा, आदि भी उसके अधिकरण बन बैठेंगे। प्रासादको बनानेवाला कारीगर हवेलीका निवासस्थान बन जायगा जो कि इष्ट नहीं है।

प्रमाणगोचरस्यास्य नावस्तुत्वं स्वतत्त्ववत्।
नानुमागोचरस्यापि वस्तुत्वं न व्यवस्थितम् ॥ ४० ॥

समीचीन ज्ञानके विषय हो रहे इस क्षेत्रको अवस्तुभूतपना नहीं है, जैसे कि अपने अभीष्ट तत्त्वोंको अवस्तुपन नहीं है और अनुमान प्रमाणके विषय भी हो रहे क्षेत्रको वस्तुपना व्यवस्थित न होय सो न समझना अर्थात्—प्रमाणोंसे जान लिया गया क्षेत्र पारमार्थिक है। कल्पित या अवस्तु नहीं।

न वास्तवं क्षेत्रमापेक्षिकत्वात् स्थौल्यादिवदित्ययुक्तं, तस्य प्रमाणगोचरत्वात् स्वतत्त्ववत्। न ह्यापेक्षिकमप्रमाणगोचरः सुखनीलतरादेः प्रमाणविषयत्वसिद्धेः। संविन्मात्रवादिनस्तस्यापि तदविषयत्वमिति चेन्न तस्या निरस्तत्वात्।

निवासस्थानरूप क्षेत्र (पक्ष) वस्तुभूत नहीं है (साध्य) क्योंकि वह क्षेत्र अपेक्षासे कल्पित कर लिया जाता है, जैसे कि मोटापन, पतलापन, दूरपन, नगीचपन, उरलीपार, परलीपार

आदि धर्म अपेक्षासे गढ लिये गये पदार्थ हैं, इस प्रकार बौद्धोंका अनुमान युक्तिरहित है। क्योंकि उस क्षेत्रको वस्तुभूतपना है। प्रमाणका गोचर होनेसे जैसे कि अपने अपने अभीष्ट तत्त्व वास्तविक हैं। अतः इस प्रतिपक्षको साधनेवाले अनुमानके होनेसे पहिले अनुमानका हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। तथा अपेक्षासे मान लिया गया पदार्थ प्रमाणका विषय न होय सो नहीं समझना। देखिये! सुख, ततः अधिक सुख, और सबसे अधिक सुख, तथा थोडे नीले रंग और अधिक नीले रंगसे युक्त हुये नील, नीलतर, नीलतम इसी प्रकार दूध, दाख, मिश्री, आदिके माधुर्यमें तरतमभाव आपेक्षिक हो रहा है। किन्तु ये सब प्रमाणके विषय होते हुये वास्तविक हैं। दूधमें वर्त्त रहे मीठेपनकी अपेक्षासे दाखके रसमें मधुरताके अविभाग प्रतिच्छेदोंके आधिक्य होनेपर वास्तविक परिणति अनुसार आपेक्षिकपना है। कोरा यों ही नहीं गढ लिया गया है। अतः आपेक्षिकपन हेतुका अवास्तविकपन साध्यके साथ ठीक व्याप्ति न बननेसे व्यभिचारदोष भी है। यदि यहां कोई यों कहे कि केवल शुद्ध संवेदनको कहनेवाले वैभाषिक बौद्धोंके यहां उन सुख, अधिक सुख अथवा नील, नीलतर, मिष्ट, मिष्टतर आदिको भी प्रमाणका विषयपना नहीं है। सौत्रान्तिकोंके यहां भले ही होय, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि ग्राह्यग्राहकभाव आदिसे रहित शुद्धसंवेदन अद्वैतका हम अभी निरास कर चुके हैं। कब्रमें गाडे जा चुके मुर्दोंका उठाना उचित नहीं।

ननु च क्षेत्रत्वं कस्य प्रमाणस्य विषयः स्यात्? न तावत्प्रत्यक्षस्य तत्र तस्यानवभासनात्। न हि प्रत्यक्षभूभागमात्रप्रतिभासमाने कारणविशेषरूपे क्षेत्रत्वमाभासते कार्यदर्शनात्त्वनुमीयमानं कथं वास्तवमनुमानस्यावस्तुविषयत्वादिति कश्चित्, सोप्ययुक्तवादी। वस्तुविषयत्वादनुमितेरन्यथा प्रमाणतानुपपत्तेरिति वक्ष्यमाणत्वात्।

और भी किसीकी शंका है कि आप जैनोंने कहा था कि यह क्षेत्र प्रमाणसे जाना हुआ विषय है, सो बताओ कि भूतल आदिकोंका क्षेत्रपना भला किस प्रमाणका विषय हो सकेगा? सबसे पहिले प्रत्यक्ष प्रमाणका तो वह जानने योग्य विषय नहीं है। क्योंकि उस प्रत्यक्षमें उस क्षेत्रका प्रतिभास ही नहीं होता है। प्रत्यक्षज्ञान अविचारक है जैसे कि प्रभु और सेवक अथवा गुरु और शिष्य व्यक्तियोंके प्रत्यक्ष होनेपर भी यह गुरु है और यह शिष्य है एवं यह व्यक्ति स्वामी है और यह पुरुष इसका आज्ञाकारी नौकर है, इन बातोंको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है। स्याद्वादियोंने भी यह कार्य विचार करनेवाले श्रुतज्ञानके अधिकारमें रखा है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानसे केवल भूभागके प्रतिभास जाननेपर विशेष कारण स्वरूपमें क्षेत्रपना नहीं प्रतिभासता है। हां, कार्यके देखनेसे कारणविशेषरूप क्षेत्र तो सामान्यरूपसे अनुमानका विषय होता हुआ भला वास्तविक कैसे हो सकेगा। क्योंकि हम बौद्धोंने सामान्यको जाननेवाले अनुमानका विषय अवस्तु माना है। इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहा है। सिद्धान्ती कहते हैं कि वह भी युक्तिरहित कहनेकी टेव रखनेवाला है।

क्योंकि अनुमान प्रमाण वास्तविक अर्थको विषय करता है। अन्यथा अनुमानको प्रमाणपना नहीं बन सकेगा। इसका अग्रिम ग्रन्थमें हम स्पष्टरूपसे व्याख्यान कर देवेंगे।

ननु निर्देशादिसूत्रेधिकरणवचनादिह क्षेत्रस्य वचनं पुनरुक्तं तयोरेकत्वादिति शंकामपनुदन्नाह।

शंकाकार कहता है कि निर्देश स्वामित्व, आदि सातवें सूत्रमें अधिकरणका कथन कर दिया गया है। अतः पुनः इस सत्संख्या आदि सूत्रमें क्षेत्रका परिभाषण करना पुनरुक्त दोषसे ग्रसित है। क्योंकि वे अधिकरण और क्षेत्र दोनों एक हैं। इस प्रकार शंकाको दूर करते हुये विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं कि—

सामीप्यादिपरित्यागाद्व्यापकस्य परिग्रहात्।
शरीरे जीव इत्यादिकरणं क्षेत्रमन्यथा ॥ ४१ ॥

"ग्रामे वृक्षाः" गांवमें वृक्ष हैं, गंगायां घोषः, गंगामें घर है, ऐसे समीपपन, तीरपन, आदिके परित्याग करनेसे और व्यापक आधारके परिग्रहण करनेसे शरीरमें जीव है, यह अधिकरण समझना चाहिये और दूसरे प्रकार समीपपन आदिके सम्बन्धसे क्षेत्रकी व्यवस्था है।

शरीरे जीव इत्यधिकरणं व्यापकाधाररूपमुक्तं, सामीप्याद्यात्मकाधाररूपं तु क्षेत्र-मिहोच्यते ततोन्यदेवेति न पुनरुक्तता क्षेत्रानुयोगस्य।

शरीरमें जीव है, तिलमें तैल है, दूधमें घृत है इत्यादिक व्यापक आधारस्वरूप तो अधिकरण कह दिया गया है और यहां समीपता, अन्तराल अभाव आदि आत्मक आधारस्वरूप तो क्षेत्र कहा जारहा है, जोकि उस अधिकरणसे दूसरे ही प्रकारका है। इस कारण सत्संख्या सूत्रमें क्षेत्रके अनुयोगकी प्ररूपणाको पुनरुक्तपना नहीं है। अधिकरणसे क्षेत्रका पेट बडा है। क्षेत्रमें प्रकृत आधेयके अतिरिक्त अन्य भी अनेक पदार्थ ठहर जाते हैं। कचित् क्षेत्र और अधिकरणका सांकर्य भी अभीष्ट है। मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना, इस ढंगसे अनेक जातिकी बुद्धिको धारनेवाले शिष्योंको प्रतिपत्ति करानेके लिये न्यारे न्यारे उपाय हैं।

त्रिकालविषयार्थोपश्लेषणं स्पर्शनं मतम्।
क्षेत्रादन्यत्वभाग्वर्तमानार्थश्लेषलक्षणात् ॥ ४२ ॥

भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्, तीनों कालोंमें पदार्थका आधेयपनेसे संसर्ग रखनारूप स्पर्शन माना गया है, जो कि वर्त्तमान कालमें ही पदार्थका श्लेष रखना क्षेत्रसे भिन्नपनेको धारण करता है।

त्रिकालविषयोपश्लेषणं स्पर्शनं, वर्तमानार्थोपश्लेषणात् क्षेत्रादन्यदेव कथंचिदवसेयं। सर्वस्यार्थस्य वर्तमानरूपत्वात्स्पर्शनमसदेवेति चेन्न, तस्य द्रव्यतोऽनादिपर्यंतरूपत्वेन त्रिकालविषयोपपत्तेः।

वर्तमान कालमें अपेक्षा घुपटाये रखनारूप क्षेत्रसे तीनों कालोंमें संसर्ग रखनारूप स्पर्शन कथंचित् भिन्न ही समझना चाहिये। बौद्ध संपूर्ण पदार्थोंका वर्तमान एक क्षणमें ठहरना स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि सम्पूर्ण पदार्थ वर्तमान कालमें ही होनेवाले परिणामस्वरूप हैं। इस कारण तीनों कालमें कहीं ठहरनारूप स्पर्शन असत् ही है, सो यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उन संपूर्ण पदार्थोंको नित्य अन्वित रहनेवाले द्रव्यरूपसे अनादि अनन्तकालतक स्थिर रहना स्वरूप होनेके कारण तीनों कालोंमें ठहरना बन जाता है। सप्तमी विभक्तिका अर्थ विषय भी है।

नन्विदमयुक्तं वर्तते वस्तु त्रिकालविषयरूपमनाद्यनंतं चेति । तद्धि यद्यतीतरूपं कथमनंतं ? विरोधात् । तथा यद्यनागतं कथमनादि ? ततो न त्रिकालवर्तीति ।

पुनः बौद्ध शंकापूर्वक अपने क्षणिक पक्षके अवधारण करनेका प्रयत्न करते हैं कि जैनोंका इस प्रकार यह कहना अयुक्त हो रहा है कि तीनों कालोंमें अधिकरणस्वरूप वस्तु अनादिसे अनन्तकालतक ठहरती हुई उन परिणामोंसे तदात्मक हो रही है। आप जैन विचारिये कि वह वस्तु नियमसे यदि अपने अतीत परिणामस्वरूप है तो भला वह अनन्त कैसे हो गयी ? क्योंकि विरोध है। पहिले हो चुका रावण भविष्यमें होनेवाले शंख चक्रवर्तीस्वरूप नहीं हो सकता है। अतीत कालका भविष्यकालसे अभेद करना मानो अधोलोकको ऊर्ध्व लोकके स्थानमें बैठा देना है। तथा यदि वस्तुको भविष्य परिणामोंके साथ तदात्मक स्वरूप माना जायगा तो वह अनादि कैसे हो सकती है। मुक्तजीव पुनः संसारी बननेके लिये नहीं लौटते हैं। तिस कारण तीनों कालमें वर्तनेवाली वस्तु नहीं हो सकती है। यहांतक क्षणिकवादीका कहना है। अब आचार्य समाधान करते हैं।

द्रव्यतोऽनादिपर्यंते सिद्धे वस्तुन्यबाधिते ।
स्पर्शनस्य प्रतिक्षेपस्त्रिकालस्य न युज्यते ॥ ४३ ॥

नित्य, अन्वयी, द्रव्यरूपकरके अनादिसे अनन्तकालतक ठहरनेवाली वस्तुके बाधारहित सिद्ध हो जानेपर त्रिकालवर्ती स्पर्शनका खण्डन करना कैसे भी युक्त नहीं है।

न हि येनात्मनातीतमनागतं वा तेनानंतमनादि वा वस्तु ब्रूमहे, यतो विरोधः स्यात् । नापि स तदात्मा वस्तुनो भिन्न एव, येन तस्यातीतत्वेऽनागतत्वे च वस्तुनोऽनंतत्वमनादित्वं च कथंचिन्न सिध्येत् । ततोऽनाद्यनंतवस्तुनः कथंचित्त्रिकालविषयत्वं न प्रतिक्षेपार्हमविरुद्धत्वादिति श्रेयांस्तल्लक्षणः स्पर्शनोपदेशः ।

हम स्याद्वादी जिस परिणामस्वरूपसे वस्तु अतीत है, उसी परिणामस्वरूपसे अनागत (भविष्य) अथवा जिस स्वरूपसे वस्तु अनन्तकालतक ठहरेगी उसी स्वरूपसे अनादिकालसे ठहरी चली आई है, यह नहीं कहते हैं, जिससे कि विरोध हो जावे। और वह अतीत,अनागत,परिणामोंसे

तदात्मकपना वस्तुमें भिन्न ही है, यह भी नहीं बखानते हैं, जिससे कि उन उन परिणामोंको अतीतपना होनेपर और भविष्यपना होनेपर वस्तुको कथंचित् अनन्तपन और अनादिपन नहीं सिद्ध हो पाता। तिस कारण अनादिसे अनन्तकालतक ठहरी हुयी वस्तुका किसी अपेक्षा तीनों कालोंमें गोचरपना खण्डन करने योग्य नहीं है। उद्गमस्थानसे लेकर समुद्रपर्यंत अखण्ड गंगाकी धारके समान अतीत, वर्तमान, भविष्यत्, कालके परिणामोंसे अविरुद्ध होकर तदात्मक होता हुआ वस्तु है। इस कारण तीनों कालमें श्लेष होना रूप अंश उस वस्तुका स्वरूप है और ऐसे श्लेष (स्वरूप) स्पर्शनका उपदेश दिया गया है। यहांतक स्पर्शनका निरूपण कर अब कालका विवरण करते हैं।

स्थितिमत्सु पदार्थेषु योवधिं दर्शयत्यसौ।
कालः प्रचक्ष्यते मुख्यस्तदन्यः स्वास्थितेः परः ॥ ४४ ॥

एक समय या अधिक समयोंतक ठहरनेवाले पदार्थोंमें जो अवधिको दिखलाता है, वह काल बखाना जाता है। उस व्यवहारकालसे काल परमाणुरूप मुख्यकाल भिन्न है। निर्देश आदि सूत्रमें कही गयी पदार्थोंकी अपनी अपनी स्थितिसे यह सत्संख्या सूत्रमें कहा गया काल निराला है।

न हि स्थितिरेव प्रचक्ष्यमाणः कालः स्थितिमत्सु पदार्थेष्ववधिदर्शनहेतोः कालत्वात्। स्थानक्रियैव व्यवहारकालो नातोऽन्यो मुख्य इति चेन्न, तदभावे तदनुपपत्तेः। तथा हि:—

कुछ कालतक स्थित रहना ही भविष्य पांचवें अध्यायमें प्रकृष्ट रूपसे व्याख्यान किया जानेवाला कालपदार्थ नहीं है। क्योंकि स्थितिवाले पदार्थोंमें मर्यादाको दिखलानेवाले कारणको कालपन व्यवस्थित है। अर्थात्—पदार्थोंके कुछ समयतक ठहरनेको स्थिति कहते हैं और स्थितिमान् अर्थका एक समय, एक दिन, सौ वर्ष, आदि अवधिके परिणामको काल कहते हैं। यहां श्वेताम्बर जैन कहते हैं कि पदार्थोंका एक समय, गोदोहनवेला, अस्तसमय, वर्ष, आदि व्यवहार कालोंमें ठहरनारूप क्रिया ही व्यवहारकाल है। इस व्यवहार कालसे अन्य कोई मुख्यकाल नहीं है। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि उस मुख्यकालका अभाव माननेपर उस व्यवहार कालकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जैसे कि मुख्य सिंहके विना शूरवीरतायुक्त मनुष्यमें सिंहपनेका व्यवहार नहीं बनता है। लोकाकाशके प्रदेशों बराबर असंख्यात काल परमाणु शुद्ध द्रव्योंके होनेपर ही पुद्गलद्रव्योंसे अनन्तगुण व्यवहारकाल बन जाते हैं। अन्यथा नहीं। श्रीविद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा तिसी प्रकार स्पष्ट कर दिखलाते हैं।

न क्रियामात्रकं कालो व्यवहारप्रयोजनः।
मुख्यकालादृते सिद्ध्येद्वर्तनालक्षणात्क्वचित् ॥ ४५ ॥

समय, आवलि, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, पल्य, सागर, आदि व्यवहार करना है प्रयोजन जिसका, ऐसा काल केवल क्रियारूप ही है। अर्थात्—परमाणुका एक प्रदेशसे दूसरे आकाश प्रदेशपर मन्दगतिसे गमनरूप–क्रिया तो समय है। गौओंकी दोहनारूपक्रिया गोदोहन वेला है। चन्द्रमाका पन्द्रह गलियोंमें घूमकर पुनः उसी गलीपर आजानारूप क्रिया चान्द्र-मास है। सूर्यका एक सौ चौरासी गलियोंमें भ्रमण कर पुनः उसी वीथीपर गमन करनारूप क्रिया सौरवर्ष है। इत्यादि क्रियारूप व्यवहार काल कहीं भी नवीनसे जीर्ण करनास्वरूप वर्तनालक्षण-वाले मुख्यकालके विना सिद्ध न हो सकेगा।

न हि व्यावहारिकोपि कालः क्रियामात्रं समकालस्थितिरिति कालविशेषणायाः स्थितेरभावप्रसंगात्। परमः सूक्ष्मः कालो हि समयः सकलतादृशक्रियाविशेषणतामात्मसात् कुर्वंस्ततोऽन्य एव व्यवहारकालस्यावलिकादेर्मूलमुन्नीयते। स च मुख्यकालं वर्तनालक्षण-माक्षिपति तस्मादृते क्वचित्तदघटनात्। न हि किंचिद्गौणं मुख्यादृते दृष्टं येनातस्तस्यासाधनं।

और व्यवहाररूप प्रयोजनको साधनेवाला काल भी केवल क्रियारूप ही नहीं है। क्योंकि इन पदार्थोंकी समान कालमें स्थिति है, इस प्रकार काल है विशेषण जिसका ऐसी स्थितिके अभावका प्रसंग होगा। विशेषणसे विशेष्य भिन्न होना चाहिये। छोटा होते होते सबसे अन्तमें जाकर परम सूक्ष्मकाल समय है और वह तिस प्रकारकी सम्पूर्ण क्रियाओंके विशेषणपनको अपने अधीन करता हुआ उपस्थितिसे न्यारा ही होकर आवलि, मुहूर्त, आदि व्यवहारकालोंका मूलकारण उपरिष्टात् समझ लिया जाता है और वह व्यवहारकाल प्रत्येक द्रव्यकी एक समयमें होनेवाली स्वसत्ता अनु-भूतिरूप वर्तना है लक्षण जिसका, ऐसे मुख्यकालका आक्षेप (अनुमान) कर लेता है। क्योंकि उस मुख्य कालके विना कहीं भी वह व्यवहारकाल घटित नहीं होपाता है। कोई भी गौण पदार्थ मुख्यके विना होता हुआ नहीं देखा गया है। जिससे कि इस व्यवहारकालसे उस मुख्यकालका साधन नहीं किया जा सके। भावार्थ—" अग्निर्माणवकः " " गौर्वाहीकः " " अन्नं वै प्राणाः " आदि स्थलोंमें मुख्यके होनेपर ही उसकी कल्पना अन्यत्र कर ली जाती है। इसीके समान समय, आवलि, आदिक व्यवहारकालसे वर्तनालक्षण मुख्य असंख्यातकाल द्रव्योंका अनुमान द्वारा साधन हो जाता है। कालाणुकी समयपर्याय वास्तविक है। पुनः उसके समुदायसे आवलि, श्वास, आदि व्यवहारकाल बन जाते हैं।

परत्वमपरत्वं च समदिग्गतयोः सतोः।
समानगुणयोः सिद्धं तादृक्कालनिबंधनं ॥ ४६ ॥
परापरादिकालस्य तत्त्वं हेत्वंतरान्न हि।
यतोऽनवस्थितिस्तत्राप्यन्यहेतुप्रकल्पनात् ॥ ४७ ॥

स्वतस्तत्त्वं तथात्वे च सर्वार्थानां न तद्भवेत् ।
व्याप्त्यसिद्धेर्मनीषादेरमूर्तत्वादिधर्मवत् ॥ ४८ ॥
यथाप्रतीतिभावानां स्वभावस्य व्यवस्थितौ ।
काले परापरादित्वं स्वतोस्त्वन्यत्र तत्कृतम् ॥ ४९ ॥

कुछ अमर्यादित कालतक ठहरनारूप स्थितिसे ज्येष्ठ, कनिष्ठपना, निर्णीत नहीं हो जाता है । सहारनपुरसे पटनाकी अपेक्षा बनारस अपर है और कलकत्ता पर है, ये दिशाके द्वारा किये गये परत्व अपरत्व हैं, किन्तु समानगुणवाले और समान दिशामें प्राप्त हुये ऐसे एक क्षेत्रमें स्थित हुये छोटी उम्र बडी उम्रके विद्यमान पदार्थोंमें परत्व और अपरत्व तो तिस प्रकारके व्यवहारकालको कारण मानकर ही सिद्ध होते हैं । दिशाकी अपेक्षा नहीं बनपाते हैं । बडी उमरके जेठे पुरुषमें कालकृत परत्व है और थोडी उमरके कनिष्ठ भ्रातामें कालकृत अपरत्व है । छोटी उम्रके ब्राह्मणसे बुड्ढाभंगी पर है । यहां तर्क है कि इस प्रकार कालमें भी वह परत्व और अपरत्व दूसरे हेतुओंसे प्राप्त होगा और उन दूसरोंमें भी तीसरे कारणसे परत्व, अपरत्व, आवेगा । आचार्य कहते हैं कि सो यह नहीं समझना । जिससे कि वहां भी अन्य अन्य हेतुओंकी कल्पना करनेसे अनवस्था दोष हो जाय । वस्तुतः देखा जाय तो जैसे अन्य पदार्थोंका प्रकाश दीपक या सूर्यसे होता है और दीपक सूर्यका प्रकाश स्वतः हो जाता है, अग्नि स्वयं उष्ण होती हुई अन्य पदार्थोंको उष्ण कर देती है । इसी प्रकार ज्येष्ठ,कनिष्ठ, बूढे, बालक आदिमें परत्व, अपरत्व तो व्यवहारकालसे हैं । और कालमें परत्व, अपरत्व, स्वतः हैं । अन्य हेतुओंसे नहीं आये हैं । व्यवहारकालमें वह परत्व अपरत्व स्वतः है । अतः उसीके समान सभी युवा, वृद्ध आदिक पदार्थोंका वह परत्व, अपरत्व, भी तिस प्रकार होनेपर स्वतः नहीं हो सकेगा । क्योंकि कोई ऐसी व्याप्ति सिद्ध नहीं है । जैसे कि विचारशालिनी बुद्धि, उदारता, आदिके अमूर्तत्व आदिक धर्म हैं । वे धर्म घट, पट, आदिके नहीं हो सकते हैं । स्वपर दोनोंकी ज्ञप्ति करना ज्ञानका स्वभाव है । वह घटका स्वभाव नहीं हो सकता है । स्वभावमें तर्कणा नहीं चलती । जिस प्रकार प्रमाणोंसे प्रतीतियां हो रही हैं उनके अनुसार पदार्थोंके स्वभावोंकी व्यवस्था माननेपर तो व्यवहारकालमें परत्व,अपरत्व,परिणाम, आदिक स्वतः हैं और अन्य पदार्थोंमें उस व्यवहारकाल द्वारा किये गये समझने चाहिये । प्रत्यक्ष और युक्ति द्वारा समझा दिये गये स्वभावोंमें व्यर्थ कुतर्क उठाना अच्छा नहीं ।

कान्यथा व्यवतिष्ठंते धर्माधर्मनभांस्यपि ।
गत्यादिहेतुतापत्तेर्जीवपुद्गलयोः स्वतः ॥ ५० ॥
शरीरवाङ्मनःप्राणापानादीनपि पुद्गलाः ।
प्राणिनामुपकुर्युर्न स्वतस्तेषां हि देहिनः ॥ ५१ ॥

जीवा वा चेतना न स्युः कायाः संतु स्वकास्तथा ।
निंबादिर्मधुरस्तिक्तो गुडादिः कालविद्विषाम् ॥ ५२ ॥

अन्यथा यानी प्रामाणिक प्रतीतिके अनुसार यदि भावोंके स्वभावोंकी व्यवस्था न मानी जायगी तो जीव और पुद्गलकी गतिके उदासीन कारण धर्म तथा स्थितिके उदासीन कारण अधर्म द्रव्य तथा अवगाहके कारण आकाशद्रव्य भी कहां व्यवस्थित हो सकेंगे ? जीव और पुद्गलकी गति, स्थिति, अवगाहनाके कारणपनेका प्रसंग स्वयं जीव पुद्गलको ही प्राप्त हो जावेगा, जैसे कि आकाश स्वयं अपना अवगाह कर लेता है । तथा पुद्गल द्रव्य भी प्राणियोंके शरीर, वचन, मन, प्राण, अपान, सुख, दुःख, आदिक उपकारोंको न कर सकेंगे । इसी प्रकार शरीरधारी प्राणी भी स्वतः उन पुद्गलोंका प्रक्षालन, मार्जन, रचनाविशेष, आदि द्वारा नियमसे उपकार न कर सकेंगे । अपना अपना स्वतः ही उपकार किया जा सकेगा । प्रत्यक्षसिद्ध या प्रमाणसिद्ध पदार्थोंके स्वभावोंकी यदि प्रतीतिके अनुसार व्यवस्था नहीं मानी जायगी तो भारी गोटाला मच जायगा । जीव पदार्थ चेतनस्वरूप न हो सकेंगे, तिसी प्रकार अपने जडशरीर चेतना बन बैठेंगे । निम्ब, नींबू, कुटकी, करेला, आदि पदार्थ मीठे बन जायेंगे । और पौंडा, मिश्री, आदिक कडवे हो जायेंगे । कालद्रव्यसे द्वेष करनेवाले वादियोंके यहां किसी भी तत्त्वकी ठीक व्यवस्था न हो सकेगी । हां, कालको माननेवाले स्याद्वादियोंके यहां तो मुख्यकाल द्वारा पदार्थोंकी वर्त्तना होती हुई व्यवहार कालसे परिणाम, परत्व, अपरत्व, क्रिया, ये सब बन जाते हैं और प्रतीतिके अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीवके द्वारा नियत करे गये कार्य भी सम्हल जाते हैं । कोरी तर्कणा करने वाले तो " घृताधारं पात्रं पात्राधारम्वा घृतं " बर्तनमें घी है या घीमें बर्तन है ऐसे निरर्थक विकल्पोंमें पडकर अपने लिये अनिष्ट कर बैठते हैं ।

एकत्रार्थे हि दृष्टस्य स्वभावस्य कुतश्चन ।
कल्पना तद्विजातीये स्वेष्टतत्त्वविघातिनी ॥ ५३ ॥
तस्माज्जीवादिभावानां स्वतो वृत्तिमतां सदा ।
कालः साधारणो हेतुर्वर्तनालक्षणः स्वतः ॥ ५४ ॥

एक अर्थमें देखे हुये स्वभावका किसी भी कारणसे यदि उस विजातीय पदार्थमें उस स्वभावकी कल्पना की जायगी तब तो अपने अभीष्ट तत्त्वोंका विघात करनेवाली वह समझी जायगी इचिनीके पक्वानको छिरिया झेल नहीं सकती है । सूर्यका स्वपरप्रकाशकपना स्वभाव घडेमें नहीं माना जासकता है । तिस कारण सर्वदा स्वयं अपने स्वरूपसे वर्त्तनाको प्राप्त हो रहे जीव, पुद्गल, आदि

पदार्थोंका साधारण कारण काल है, जो कि स्वतः वर्त्तनास्वरूप है। यानी अन्योंकी वर्त्तना कराता है और अपनी भी वर्त्तना करता है। मिरच स्वयं चरपरी है और भोजन (तरकारी) को भी चरपरा करदेती है। ऐसे ही लवण, गोंद, तखरी, सुगुरु, जल, नाव, दीपक, घोडा आदिमें भी लगालेना।

न हि जीवादीनां वृत्तिरसाधारणादेव कारणादिति युक्तं, साधारणकारणाद्विना कस्यचित्कार्यस्यासंभवात् करणज्ञानवत्। तत्र हि मनःप्रभृति साधारणं कारणं चक्षुराद्यसाधारणमन्यतरापाये तदनुपपत्तेः। तद्वत्सकलवृत्तिमतां वृत्तौ कालः साधारणं निमित्तथोपादानमसाधारणमिति युक्तं पश्यामः। खादि तन्निमित्तं साधारणमितिचेन्न, तस्यान्यनिमित्तत्वेन प्रसिद्धेः। केनचिदात्मना तत्तन्निमित्तत्वमपीति चेत्, स एवात्मा काल इति न तदभावः। तथा सति कालो द्रव्यं न स्यादिति चेन्न, तस्य द्रव्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

जीव, पुद्गल आदिकोंकी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप वर्त्तना केवल असाधारण कारणसे ही हो जाय, इस प्रकार नैयायिक, श्वेताम्बर आदि वादियोंका कहना युक्त नहीं है। क्योंकि साधारण कारणके विना किसी भी कार्यका उत्पाद होना असम्भव है। जैसे कि प्रमाणरूप करणज्ञानका। देखिये, उस करण ज्ञानमें मनइन्द्रिय, आत्मा, आदि तो साधारण कारण हैं और चक्षु, विशिष्टक्षयोपशम, आदिक असाधारण कारण हैं। इन दोनों कारणोंमेंसे एकके भी न होनेपर उस इन्द्रियप्रत्यक्षकी उत्पत्ति होना नहीं बनता है। तिसीके समान सम्पूर्ण वर्त्तनावाले पदार्थोंकी परिणति होनेमें कालद्रव्य साधारण कारण है तथा निमित्तकारण और उपादान कारण ये सब असाधारण कारण हैं। इस सिद्धान्तको हम युक्त देख रहे हैं (समझ रहे हैं)। कोई कहे कि आकाश आदिक ही उस वर्त्तनाके साधारण कारण हो जायेंगे, आचार्य कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि उन आकाश आदिकोंकी अन्य अवगाह आदि कार्योंके निमित्तपनेसे प्रसिद्धि हो रही है। अपने किसी एक स्वरूपसे वह आकाश उस वर्त्तनाका भी निमित्त हो जायगा, इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि वह स्वरूप ही तो कालद्रव्य है। एक आकाशमें दो द्रव्योंके स्वभाव नहीं ठहर सकते हैं। इस कारण उस कालद्रव्यका अभाव नहीं हुआ। यदि कोई कहे कि तिस प्रकार होते हुये भी काल पदार्थ द्रव्य तो नहीं सिद्ध हो सकेगा? वह तो एक नियत आकाशद्रव्यका स्वभाव माना गया। सिद्धान्ती कहते हैं कि यह न कहना। क्योंकि उस मुख्यकालको द्रव्यपने करके भविष्य पांचवें अध्यायमें स्पष्ट रूपसे कह दिया जावेगा। अर्थात्—गुणपर्यायवान् होनेसे काल भी द्रव्य साध दिया जायगा। यहांतक कालका प्ररूपण हुआ। अब अन्तरको कहते हैं।

स्वहेतोर्जायमानस्य कुतश्चिद्विनिवर्तने।
पुनः प्रसूतितः पूर्वं विरहोंतरमिष्यते॥ ५५॥

काल एव स चेदिष्टं विशिष्टत्वान्न भेदतः ।
सूचनं तस्य सूत्रेऽस्मिन् कथंचिन्न विरुध्यते ॥ ५६ ॥

अपने अंतरंग बहिरंग कारणोंसे उत्पन्न होरहे पदार्थकी किसी भी विनाशक कारणसे विशेष निवृत्ति होजाने पर पुनः कालान्तरमें उसकी उत्पत्ति होजानेसे तबतक पूर्वका व्यवहित समय अन्तर माना जाता है। इस पर कोई यों कहे कि इस प्रकार किसी उत्पन्न पदार्थके नष्ट होजाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति होनेतकके व्यवधान कालको यदि अन्तर कहा जायगा, तब तो यह अन्तर काल ही हुआ। फिर सूत्रमें कालसे न्यारे अन्तरका निरूपण करना व्यर्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्यों कि सामान्यकालसे अन्तरकालमें विशिष्टता होनेसे उसका न्यारा कथन करना हमने इष्ट किया है। इस कारण इस सूत्रमें उस अन्तरका सामान्य कालकी अपेक्षा कथंचित् भेदसे सूचना करना विरुद्ध नहीं पडता है। सामान्यके कहे जानेपर भी विशेष प्रतिपत्तिके प्रयोजन वश विशेषका उपादान करना न्याय है। " ब्राह्मणाः समायाताः, सूरिसेनोपि "।

ननु न केवलं विरहकालोंतरं। किं तर्हि छिद्रं मध्यं वा अंतरशब्दस्यानेकार्थवृत्ते- श्छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमग्रहणमिति वचनात्। न चेदं वचनमयुक्तं कालव्यवधानवत्क्षेत्रस्य व्यवधायकस्य भागस्य च पदार्थेषु भावादिति कश्चित्।

किसीकी शंका है कि मध्यवर्ती विरह (कालव्यवधान) को करनेवाला केवल काल ही अन्तर नहीं है, तो क्या है? इसपर यह कहना है कि छिद्र अथवा मध्य भी अन्तर है। राजवार्तिक ग्रन्थमें श्री अकलंकदेवका यह वचन है कि अन्तर शद्बकी अनेक अर्थोंमें वृत्ति है। कहीं छेद अर्थमें वर्तता है, जैसे कि यह काठ सान्तर है, यानी छेदसहित है, कहीं भेद अर्थको कहता है, जैसे कि द्रव्य द्रव्यान्तरोंको बनाते हैं। इस वाक्यमें अन्तर शद्बका दूसरा भिन्न अर्थ वैशेषिकोंको अभिप्रेत है। कहीं विशेष अर्थमें अन्तर शद्ब प्रयुक्त होता है। जैसे कि घोडे घोडेमें अन्तर है। एक क्लेशित करने- वाला घोडा (टट्टुआ) दस रुपयेमें आता है, दूसरा गुणी शुभशकुनरूप अश्व दस सहस्र रुपयोंमें आता है। अतः घोडे घोडेमें विशेषता है। ऐसे ही लोहा, स्त्री, पुरुष, वसन, आम, चावल, आदिमें व्यक्ति रूपसे विशेषतायें हैं। कहीं बहिर्योगमें अन्तर शब्द बोल दिया जाता है। जैसे कि गांवके अन्तरमें कुये हैं। अर्थात्—गांवसे बाहर कुये हैं। आदि तिन अनेक अनेक अर्थोंमें यहां छिद्र, मध्य और विरहकाल इनमेंसे चाहे जिस एकका ग्रहण समझना चाहिये। तथा यह भट्टाकलंक देवका वचन युक्तिरहित नहीं है। क्योंकि पदार्थोंमें जैसे कालकृत व्यवधान हो रहा है, उसी प्रकार व्यवधान करनेवाले क्षेत्रका भाग भी पदार्थोंमें विद्यमान है। अतः अन्तर शब्दसे विशेषकाल ही क्यों पकडा जाता है? छिद्र और मध्य भी पकडने चाहिये, जो कि श्रीअकलंकदेव भी मानते हैं। यह कोई कह रहा है।

सोपि यदि मुख्यमंतरं छिद्रं मध्यं ब्रूयात् तदानुपहतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरुद्भूतिदर्शनात्तद्वचनमिति विरुध्यते विरहकालाख्यस्यांतरस्यानेन समर्थनात् अथाप्रधानं तदिष्टमेव ।

अब आचार्य कहते हैं कि वह शंकाकार भी छिद्र अथवा मध्यको यदि मुख्यरूपसे अन्तर कहेगा तब तो श्री अकलंकदेवके-उस वार्तिकसे अगली इस वार्तिकद्वारा उसका विरोध प्राप्त होगा कि नहीं नष्ट हुई है शक्ति जिसकी, ऐसे द्रव्यका निमित्त कारणवश किसी पर्यायके तिरोभाव हो जानेपर फिर अन्यनिमित्तोंसे उसी ही पर्यायका प्रकट होना देखा जाता है । अतः उस सूत्रमें अंतर का वचन किया है । इस वार्तिकमें भगवान अकलंकदेवने विरहकाल नामके अंतरका समर्थन(पुष्टि) किया है । अर्थात्–मुख्यरूपसे विरहकालको अन्तर माना है । छिद्र और मध्य यदि मुख्य अंतर समझे जावेंगे तो शंकाकारके कथनका दूसरी वार्तिकसे विरोध हो जाता है । हां; जब यदि उन छिद्र और मध्यको अन्तरका गौण अर्थ मानते हो सो तो हमको इष्ट ही है । कालप्ररूपणसे न्यारी अन्तर प्ररूपणाको करनेमें प्रत्युत इससे और सहायता प्राप्त हो जाती है ।

सांतरं काष्ठं सच्छिद्रमिति प्रतीतेर्मुख्यं छिद्रमिति चेन्न, तत्रापि विरहस्य तथाभिधानात् । द्रव्यविरहः छिद्रं न कालविरह इति चेन्न, द्रव्यविरहस्य पदार्थप्ररूपणानंगत्वात् । क्षेत्रं व्यवधायकं छिद्रमिति चायुक्तं तस्य मध्यव्यपदेशप्रसंगात् । भागो व्यवधायको मध्यमिति चायुक्तिकं हिमवत्सागरांतरमित्यादिषु मध्यस्यांतरस्य व्यवधायकभागस्याप्रतीतेः । पूर्वापरादिभागविरहोंतरालभागो मध्यमिति चेत्, तर्हि सर्व एव क्षेत्रविरहोंतरालरूपः छिद्रं इति विरह एवांतरं न्याय्यं, तत्र छिद्रमध्ययोः कथंचिद्विरहकालादनन्यत्वेपि जीवतत्त्वाधिगमानंगत्वादिहानधिकारादवचनं । विरहकालस्य तु तदंगत्वादुपदेश इति युक्तं । पुद्गलतत्त्वनिरूपणायां तु छिद्रमध्ययोरपि वचनं वार्तिककारस्य सिद्धम् ।

पुनः शंकाकार कहता है कि काठ सान्तर है । अर्थात्–छेदसहित है । इस प्रकार प्रतीति होनेके कारण अन्तरशब्दका मुख्य अर्थ छिद्र हो रहा है । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वहां भी तिस प्रकार विरह [व्यवधान] का कथन किया गया है । इसपर शंकाकारका कहना है कि विरह अर्थ भले ही सही, किन्तु छेदसहित काठमें द्रव्यका विरहरूप छेद लिया गया है । कालका विरह तो छेद नहीं है । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना । क्योंकि द्रव्यका विरह पड जाना पदार्थकी प्ररूपणाका उपयोगी अंग नहीं है और व्यवधान करनेवाला क्षेत्र छिद्र है, इस प्रकार कहना भी अयुक्त है । क्योंकि यों तो उस छेदको मध्यपनेके व्यवहारका प्रसंग होगा । यानी वह छेद मध्य हो जावेगा । किन्तु शंकाकारने छेदको मध्यसे न्यारा माना है । तथा व्यवधान करनेवाला भाग (हिस्सा) मध्य है । इस प्रकार मध्यको छेदसे भिन्न निरूपण करना भी युक्तिशून्य है । क्योंकि " हिमवत्सागरान्तरं " इत्यादि प्रयोगोंमें अन्तर शब्दका मध्य अर्थ अभीष्ट है । किन्तु समुद्रके मध्यमें हिमवान् पर्वतके रहनेका व्यवधान करानेवाला भाग तो

नहीं प्रतीत हो रहा है। अतः व्यवधान करानेवाला भाग मध्य नहीं है। यदि पूर्व, पश्चिम, आदि मध्योंका विरहस्वरूप मध्यवर्ती अन्तराल भागको मध्य कहा जायगा, तब तो सर्व ही मध्य हो जायेंगे। ऐसी दशामें अन्तरालस्वरूप क्षेत्रविरहको छिद्रपना कहां रहा ? इस कारण यहां विरहको ही अन्तर कहना न्याययुक्त है। उन अन्तरोंमें छिद्र और मध्यका विरहकालसे कथंचित् अभेद होनेपर भी जीवतत्त्वकी अधिगतिमें उपयोगी अंग न होनेके कारण यहां प्रकरणमें अधिकार नहीं है। अतः छिद्र और मध्यका वचन नहीं किया गया है और विरहकाल तो उस जीवतत्त्वके ज्ञानमें उपयोगी अंग है। अतः उमास्वामी महाराजद्वारा विरहकालका उपदेश देना यह युक्त है। हां, पुद्गल तत्त्वका निरूपण करनेमें तो छिद्र और मध्यका भी वचन उपयोगी है। अतः राजवार्तिकको बनानेवाले श्री अकलंकदेवका वचन सिद्ध हो जाता है। भावार्थ—पुद्गल तत्त्वकी अधिगति करानेमें छिद्र और मध्यरूप अन्तर भी हम अभीष्ट कर लेते हैं। यह अन्तरका निरूपण कर दिया है। अब भावको दिखलाते हैं।

अत्रौपशमिकादीनां भावानां प्रतिपत्तये ।
भावो नामादिसूत्रोक्तोप्युक्तस्तत्त्वानुयुक्तये ॥ ५७ ॥

यद्यपि " नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः " इस सूत्रमें वस्तुकी वर्तमान पर्यायरूप भावका कथन हो चुका है। फिर भी इस सत्संख्या आदि सूत्रमें औपशमिक, क्षायिक आदि भावोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये भावका निरूपण किया है। शिष्योंके विशदरूपसे तत्त्वोंका अनुयोग करानेके लिये परोपकारी महर्षियोंका यह उद्योग आदरणीय है। धन्यास्ते ऋषयो जयन्तु ! नमोऽस्तु तेभ्यः।

नामादिषु भावग्रहणात्पुनर्भावग्रहणमयुक्तमिति न चोद्यं, अत्रौपशमिकादिभावापेक्षत्वात्तद्ग्रहणस्य विनेयाशयवशो वा तत्त्वाधिगमहेतुविकल्पः सर्वोऽयमित्यनुपालंभः।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपकोंमें भावका ग्रहण होजानेसे फिर यहां भावका ग्रहण करना अयुक्त है, इस प्रकारका अभियोग जैनोंके ऊपर नहीं लगेगा। क्योंकि इस सूत्रमें जीवके औपशमिक, औदयिक, आदि भावोंकी अपेक्षा रखनेके कारण उस भावका ग्रहण करना सार्थक है अथवा जैसा जैसा विनीत शिष्योंका अभिप्राय है, उसके अधीन हुये सूत्रकार आचार्य महाराजने तत्त्वोंके अधिगम करानेवाले हेतुओंकी उक्त चारों सूत्रोंमें यह सब विकल्पना की है। इस कारण जैनोंके ऊपर निन्दाकारक कोई उलाहना नहीं आता है। अर्थात्—भिन्न भिन्न अभिप्रायवाले शिष्योंको व्युत्पत्ति करानेके लिये तत्त्वार्थाधिगमके न्यारे न्यारे उपाय बताय दिये हैं। लोकमें भी श्रोताके अभिप्राय अनुसार वक्ता द्वारा व्याख्यान किया जाना देखा जाता है। अतः क्षेत्र, अधिकरण, स्थितिकाल, मात्र-भाव, आदिको न्यारा न्यारा कहनेमें कोई दोष नहीं आता है।

एतेल्पे बहवश्चैतेऽमीभ्योऽर्थातिविविक्तये ।
कथ्यतेल्पबहुत्वं तत्संख्यातो भिन्नसंख्यया ॥ ५८ ॥
प्रत्येकं संख्यया पूर्वं निश्चितार्थेपि पिंडतः ।
कथ्यतेल्पबहुत्वं यत्ततः किं न भिद्यते ॥ ५९ ॥

अब अल्पबहुत्वको कहते हैं । ये समीपमें विद्यमान होरहे पदार्थ उन पदार्थोंसे अल्प संख्यावाले हैं और ये असमीपवर्ती गहरे दूर परोक्ष पदार्थोंसे संख्यामें बहुत हैं । इस प्रकार पदार्थोंके विशेषरूपसे पृथग्भाव करानेके लिये सूत्रमें अल्पबहुत्व कहा जाता है । वह भिन्न भिन्न संख्या करके हुई संख्या प्ररूपणासे न्यारा है । प्रत्येक पदार्थ पहिले संख्या द्वारा निश्चित हो भी चुका है,उस अर्थमें भी समुदित पिण्डरूपसे गिनानेके लिये अल्पबहुत्व कहा जाता है । जब कि वह अल्पबहुत्व ऐसा है,तिस कारण संख्यासे भिन्न क्यों न होगा ? अर्थात्——प्रत्येकको गिननेवाली संख्यासे पिण्डरूपसे मिले हुये अनेक पदार्थोंकी अपेक्षा न्यूनता, अधिकतारूप अल्पबहुत्व नामका उपाय तो भिन्न है ।

ननु यथा विशेषतोऽर्थानां गणना संख्या तथा पिंडतोपि ततो न संख्यातोल्पबहुत्वं भिन्नमिति चेन्न, कथंचिद्भेदस्य त्वयैवाभिधानात् । न हि सर्वथा ततस्तद्भेदविशेषे संख्यापिंडं संख्येति वक्तुं शक्यम् ।

यहां शंका है कि जैसे विशेष विशेषरूपसे पदार्थोंकी गिनती करना संख्या है उसी प्रकार पिण्डरूपसे अर्थोंके थोडे बहुत पनका गिनना भी संख्या ही है । तिस कारण संख्यासे अल्पबहुत्व भिन्न नहीं है । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि तुम शंकाकारने ही कण्ठोक्त अपने मुख करके उनके किसी अपेक्षासे भेदको कह दिया है । हम समाधान करनेका परिश्रम क्यों उठावें, सभी प्रकार उस संख्यासे उस अल्पबहुत्वका यदि विशेषभेद नहीं माना जायगा तो यह संख्याका पिंड है और यह संख्या है इस प्रकार भेदरूपसे कहनेके लिये समर्थ नहीं हो सकोगे । रुपये, पैसेकी विशेष गिनती होनेपर भी उनके थोडे बहुतपनकी ज्ञप्तिके लिये पिंड संख्या कही जाती है । अतः संख्याका विशेष होते हुये भी अल्पबहुत्वका विशिष्ट अधिगम करानेके वश न्यारा ग्रहण सूत्रमें किया है ।

इति प्रपंचतः सर्वभावाधिगतिहेतवः ।
सदादयोनुयोगाः स्युस्ते स्याद्वादनयात्मकाः ॥ ६० ॥

इस प्रकार भेद, प्रभेदके विस्तारसे सम्पूर्ण भावोंकी ज्ञप्तिके कारण सत्, संख्या, आदिक आठ अनुयोग हो जाते हैं, वे सब स्याद्वाद प्रमाणरूप और नयस्वरूप हैं । जगत्‌के सम्पूर्ण अधिगतिके उपाय प्रमाण और नयसे कोई बहिर्भूत नहीं हैं ।

सकलं हि वस्तुसत्त्वादयोऽनुयुंजानाः स्याद्वादात्मका एव विकल्पयंतु नयात्मका एवेति न प्रमाणनयेभ्यो भिद्यंते । तत्प्रभेदास्तु प्रपंचतः सर्वे तत्त्वार्थाधिगमहेतवोऽनुवेदितव्याः ।

वस्तुओंके सम्पूर्ण सत्, संख्या, आदिक धर्म अनुयोगको प्राप्त हो रहे स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) स्वरूप ही समझो और एकदेशसे विवक्षित हुये सत्त्व आदिकोंको नयस्वरूप ही की विकल्पना करो। इस प्रकार वे सत् आदिक प्ररूपित किये गये उपाय तो प्रमाण और नयोंसे भिन्न नहीं हैं। उन प्रमाण और नयोंके सम्पूर्ण भेद प्रभेद तो विस्तारसे कहे गये हुये तत्त्वार्थोंकी अधिगतिके कारण आम्नाय अनुसार समझ लेने चाहिये। नाम आदि, निर्देश आदि, तथा सत्संख्या एवं अन्य भी नैगम आदि ये सब प्रमाणनयोंका ही कुटुम्ब है।

सत्त्वेन निश्चिता भावा गम्यंते संख्यया बुधैः।
संख्यातः क्षेत्रतो ज्ञेयाः स्पर्शनेन च कालतः ॥ ६१ ॥
तथांतराच्च भावेभ्यो ज्ञायंतेल्पबहुत्वतः ।
क्रमादिति तथैतेषां निर्देशो व्यवतिष्ठते ॥ ६२ ॥
प्रश्नक्रमवशाद्वापि विनेयानामसंशयम् ।
नोपालंभमवाप्नोति प्रत्युत्तरवचःक्रमः ॥ ६३ ॥

प्रथम ही विद्यमान सत्पनेसे निर्णीत किये गये भाव ही पीछे विद्वानों करके संख्या द्वारा निश्चित किये जाते हैं। संख्यासे अनन्तर क्षेत्रसे समझे जाते हैं और स्पर्शन करके तथा कालसे भी ठीक तौरपर जान लिये जाते हैं तथा अन्तर और भावोंसे भी जाने जाते हैं। अल्प बहुत्वसे भी पदार्थोंका तलस्पर्शी ज्ञान हो जाता है। इस कारण इन पदार्थोंका क्रमसे निर्देश करना तिस ढंगसे व्यवस्थित हो रहा है अर्थात्—इस उक्त क्रमसे पदार्थोंको समझनेवाला ज्ञाता ठोस, निर्णयपर शीघ्र ही पहुंच जायेगा अथवा विनीत शिष्योंके प्रश्नोंके क्रमवशसे भी प्रत्युत्तरोंके वचनोंका क्रम है। प्रश्नोंके अनुसार उत्तर देनेसे ही श्रोताको संशयरहित ज्ञप्ति हो जाती है। अतः सूत्रमें कहे गये सत् आदिक अनुयोगोंका क्रम किसी भी उलाहनेको प्राप्त नहीं होता है।

ततो युक्त एव सूत्रे सदादिपाठक्रमः शब्दार्थन्यायाविरोधात् ।

तिस कारण सूत्रमें शब्दसम्बन्धी और अर्थसम्बन्धी न्यायके अविरोध हो जानेसे सत्संख्या आदिके पढनेका क्रम युक्त ही है अर्थात्—शब्द शास्त्रकी दृष्टिसे शिष्योंकी व्युत्पत्तिको बढानेका लक्ष्य रखकर उमास्वामी महाराजने सूत्रमें सत्संख्या आदिका क्रम ठीक रखा है अथवा अर्थ समझनेवाले शिष्योंके प्रश्नों अनुसार उत्तर देनेके लिये सूत्र पढा गया है। प्रश्नोंका क्रम भी सुलभतासे वस्तुके अन्तस्तलपर पहुंचनेके लिये अच्छे ही ढंगसे किया गया है। गुरुजीको शिष्य भी अच्छा मिला है।

सामान्येनाधिगम्यंते विशेषेण च ते यथा ।
जीवादयस्तथा ज्ञेया व्यासेनान्यत्र कीर्तिताः ॥ ६४ ॥

वे जीव आदिक पदार्थ सामान्य और विशेषरूप करके जिस प्रकार समझ लिये जाते हैं तिस ही प्रकार अन्य धवल, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार, सिद्धान्त आदि ग्रन्थोंमें विस्तारसे बखाने गये समझ लेने चाहिये । यहां युक्तिप्रधान ग्रन्थमें उनको गुणस्थान चौदहों और मार्गणाओं द्वारा कहनेसे बहुत बडा गौरव हो जाता । क्योंकि आगमोक्त परोक्ष विषयोंको भी वादिओंके सन्मुख युक्तिसे समझा चुकनेपर ही आगे चलना होता ।

जीवस्तत्र संसारी मुक्तश्च, संसारी स्थावरश्च त्रसश्च, स्थावरः पृथिवीकायिकादिरेकेंद्रियः सूक्ष्मो बादरश्च, सूक्ष्मः पर्याप्तकोपर्याप्तकश्च, तथा बादरोपि, त्रसः पुनर्द्वीन्द्रियादिः पर्याप्तकोऽपर्याप्तकश्चेति सामान्येन विशेषेण च यथासत्त्वेनाधिगम्यंते संख्यादिभिश्च तथा संक्षेपेणाजीवादयोपीहैव । व्यासेन तु गत्यादिमार्गणासु सामान्यतो विशेषतश्च जीववदजीवादयोऽन्यत्र कीर्तिता विज्ञातव्याः ।

तिन सात तत्त्वोंमें जीवतत्त्व सामान्यरूपसे एक है। उसके भेद संसारी और मुक्त दो हैं । तथा संसारी जीव त्रस और स्थावररूप हैं । तिनमें स्थावरजीव पृथ्वी कायिक, जलकायिक आदि प्रभेदोंसे युक्त होकर सूक्ष्म और बादररूप एकेन्द्रिय है । सूक्ष्मके भी पर्याप्त और अपर्याप्त नामक नामकर्मके उदयसे पर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक दो भेद हैं । तिसी प्रकार बादर जीव भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक दो प्रकार हैं । फिर त्रसजीव तो द्वीन्द्रिय आदि भेदोंसे युक्त होकर पर्याप्त और अपर्याप्त विकल्पोंमें विभक्त है । निर्वृत्त्यपर्याप्तकभेद भी इन्हींमें गर्भित हो जाता है । इस प्रकार सामान्य और विशेषरूपसे जैसे जीव सत्पनेसे जाने जाते हैं, वैसे ही संख्याक्षेत्र आदिकों करके भी निर्णीत किये जाते हैं । तथा संक्षेप करके अजीव आदिक तत्त्व भी इस दशाध्यायी सूत्रमें ही कह दिये जावेंगे । अथवा इसी सूत्रद्वारा अजीव आस्रव, आदि तत्त्वोंकी सत्संख्या आदिको यहां ही लगा लेना । हां, विस्तारसे तो गुणस्थानोंके अनुसार गति, इन्द्रिय, आदि मार्गणाओंमें सामान्यरूप और विशेषरूप जीव पदार्थके समान अजीव, आस्रव आदि भी अन्य धवल, आदि ग्रन्थोंमें व्याख्यान किये गये हुये वहांसे विशद ढंगपर समझ लेने चाहिये ।

इत्युद्दिष्टो व्यात्मके मुक्तिमार्गे सम्यग्दृष्टेर्लक्षणोत्पत्तिहेतून् ।
तत्त्वन्यासौ गोचरस्याधिगंतुं हेतुर्नानानीतिकश्चानुयोगः ॥ १ ॥

इस उक्त प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, इन तीन स्वरूप मोक्षमार्गका उद्देश कर चुकनेपर पुनः सम्यग्दर्शनके लक्षण और उत्पत्तिके कारणोंका प्रदर्शन करनेवाले दो सूत्रोंका प्रतिपादन कर सात तत्त्व और उनके निक्षेपोंके प्रतिपादक दो सूत्र बनाये। पश्चात् रत्नत्रयके विषयोंको समझानेके लिये कारणभूत और लौकिक शास्त्रीय अनेक नीतियोंसे युक्त यह अनुयोग तीन सूत्रों करके कहा गया है। यह उमास्वामी महाराजके आठ सूत्रोंका संक्षिप्त वर्णन है। सूत्रोंकी संगतिका संदर्भ प्रशंसनीय है।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

इसप्रकार श्रीमहर्षि विद्यानंद स्वामिके द्वारा विरचित
तत्त्वार्थ–श्लोकवार्तिकालंकार नामके महान् ग्रंथमें
पहिले अध्यायका दूसरा आन्हिक
समाप्त हुआ।

———o———

आठवें सूत्रका सारांश

प्रथम ही तत्त्वार्थोंकी अधिगतिके अर्थ तीसरे विस्तृत ढंगके उपायोंको बतानेके लिये ग्रंथकारने सूत्रका अवतार कर सत्संख्या आदिको प्रमाणनयस्वरूप और शब्दरूप बताया है। शून्यवाद या चार्वाक आदिके निषेधार्थ सत्प्ररूपणा आवश्यक है। वैशेषिकोंकी मानी गयी एक सत्ता ठीक नहीं है। शून्यवादमें स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण नहीं बन पाते हैं। शुद्धसंवेदनको माननेवाले बौद्धोंके यहां भी तत्त्वव्यवस्था नहीं बनती है। ग्राह्यग्राहक भाव आदि मानना अनिवार्य है। पहिले सूत्रमें कहे गये निर्देशसे सत्ताप्ररूपणा न्यारी है। असत्ता तुच्छ पदार्थ नहीं है। किन्तु अन्य पदार्थकी सत्तारूप है। निर्देश और सत्ताके व्याप्य और व्यापक भावपर अच्छा विचार किया है। सर्वार्थसिद्धि, सिद्धान्त आदि ग्रन्थोंमें इस सूत्र उक्त प्रमेयका विशद व्याख्यान है। बौद्ध लोगोंके सन्मुख अन्य आपेक्षिक धर्मोंके समान संख्याको वस्तुभूत साधा है। यहां अनुमानोंसे आपेक्षिक धर्मोंको परमार्थरूप बताया है। मिथ्यावासनाओंसे यथार्थ कार्य नहीं बनता है। ब्रह्माद्वैतके समान शुद्ध संवेदन भी नहीं दीख रहा है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे द्वैत सिद्ध हो रहा है। सम्पूर्ण पदार्थोंमें विद्यमान भी हो रही, संख्या अपने अपने क्षयोपशम अनुसार जान ली जाती है। एक वस्तुमें एकत्व, द्वित्व, आदि अनेक संख्यायें अविरोध रूपसे ठहर जाती हैं। स्याद्वादियोंके ऊपर कोई उलाहना नहीं है। जब कि अवच्छेदक धर्म न्यारे न्यारे माने गये हैं। सत् या असत् पदार्थोंका कथमपि विरोध नहीं है। शक्तिकी अपेक्षा योग्यतानुसार सबको सर्वात्मक होना इष्ट है। व्यक्तिकी अपेक्षा नहीं। द्वितीय आदिकी अपेक्षासे द्वित्व आदि संख्यायें प्रगट हो जाती हैं। द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा सम्पूर्ण पदार्थ नित्य, अनित्यस्वरूप हैं। संख्या वास्तविक है कल्पित नहीं है। वैशेषिकों द्वारा संख्या और संख्यावानोंका सर्वथा भेद मानना अनुचित है। समवाय सम्बन्ध बिचारा निरंश होकर उनकी योजना क्या करा सकता है? समवाय सम्बन्धका दोनोंमें ठहरना अन्य सम्बन्धोंसे ही होगा। इस प्रकार भेदपक्षमें अनवस्था हो जाती है। विधानसे संख्या न्यारी है। इसके आगे क्षेत्रका वर्णन किया है। निश्चय नयके अनुसार बौद्धोंकी मानी गयी स्वमात्र व्यवस्थितिके एकान्तका निवारण कर प्रमाणोंसे क्षेत्र क्षेत्रीभावका समर्थन किया है। पूर्व सूत्रमें कहे गये अधिकरणसे यह क्षेत्रनिरूपण न्यारा है। क्षेत्रानुयोगके पश्चात् स्पर्शनका व्याख्यान है। अनादिसे अनन्तकालतक ठहरने वाली द्रव्यको माननेवाले वादी करके स्पर्शन मानना आवश्यक है। पीछे स्थितिमान् किये जा चुके पदार्थोंमें मर्यादाको दिखानेवाले कालका निरूपण किया गया है। कालके व्यवहारकाल और मुख्यकाल दो भेद हैं। वर्तना परिणाम आदि उनके कार्य हैं। असाधारण कारणोंके समान साधारण कारण भी महती शक्तिको लिये हुये हैं। उदासीन कारण आकाश और कालको माने विना परमस्वतंत्र श्रीसिद्ध भगवान्

भी सिद्ध लोकमें ठहर नहीं सकते हैं और वर्तना नहीं कर सकते हैं। जीवको निगोदसे व्यवहार राशिमें लानेके लिये कालपरमाणुयें ही उदासीन कारण होकर परम उपकारी हुई हैं। इन्हींके निमित्तसे कषायोंकी किंचित् मन्दपरिणति होजाने पर यह जीव झट व्यवहार राशिमें उछल आता है। अन्य कारणोंकी वहां योग्यता नहीं है। अक्षरके अनन्तमें भाग केवल स्पर्शनइन्द्रियजन्य ज्ञान होनेसे अन्य वे शुभकारण किसी कामके नहीं हैं जो कि संज्ञीजीवोंकी सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध आदिके नियतकारण हो जाते हैं। इसके पीछे अन्तरालरूप विरहकालका वर्णन है। अन्तरके अर्थ छिद्र, मध्य भी क्वचित् ले लिये जाते हैं। औपशमिक आदि भावोंको समझानेके लिये भावप्ररूपणा है। अल्पबहुत्वपन भी पदार्थोंकी विशेष ज्ञप्ति करानेके लिये ये विशेष उपयोगी हैं। अन्तमें उपसंहार करते हुये विद्यानन्द स्वामीने सूत्रमें कहे गये सत् आदिके पाठक्रमका भले प्रकार साधन कर विस्तारपूर्वक ज्ञप्तिके लिये अन्य ग्रन्थोंके व्याख्यानोंका देखना पथ्य बताया है। सत्संख्या यह सूत्र सामान्यको कथन करनेवाला है और निर्देशस्वामित्व यह विशेष प्रतिपादक है जैसे कि सत्का विशेष निर्देश है संख्याका विशेष विधान है, क्षेत्रका विशेष अधिकरण है आदि समझ लेना। यहांतक कहे गये उमास्वामी महाराजके आठ सूत्रोंकी शालिनी पद्य द्वारा संगति दिखलाकर श्लोकवार्तिक ग्रन्थके प्रथम अध्याय सम्बन्धी द्वितीय आह्निकको सहर्ष परिपूर्ण किया है। ॐ शान्तिनाथाय नमः।

गाहध्वं सुधियश्चतुर्दशगुणस्थानाम्बुभृन्मार्गणा-
वीच्यावर्तविजृम्भितं यदभवैकान्त्यज्ञकाशोषितं ।
सिञ्चन्तं निखिलार्थविधिरसिकान् शब्दप्रमाणात्मकैः।
सत्संख्यादिकवीकरैर्गुणनिधिं तत्त्वार्थशास्त्राम्बुधिं ॥ १ ॥

— इति भद्रं भूयात् —